❀ शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश ❀

उग्र तपस्वी, चारित्र-विभूषण, तपोनिधि

श्री १०८ श्री विवेकसागरजी महाराज

द्वारा संकलित

सपादक :—

पं० विद्याकुमार सेठी न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ

प्रधानाध्यापक :—

*** श्री दिगम्बर जैन विद्यालय ***

कुचामन सिटी (राजस्थान)

प्रकाशक —

श्री दिगम्बर जैन समाज

मारोठ (राजस्थान)

द्वितीयावृत्ति ७५० प्रति]

[मूल्य · स्वाध्याय

श्री महावीराय नमः ॥

卐

इस ग्रन्थ की ७५० प्रतियों के प्रकाशन में निम्न प्रकार खर्च लगा:—

५२८०)०० कागज
४०००)०० छपाई
२००)०० कवर व आर्ट पेपर
२२५०)०० बाईन्डिंग
२७१)०० पैकिंग आदि खर्च

१२००१)०० कुल योग

मुद्रक —
लालचन्द जैन (पांड्या)
श्री पदम जैन प्रिन्टिंग प्रेस,
कुचामन सिटी (राजस्थान)

परमपूज्य चारित्र-विभूषण-

श्री १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

आशीर्वचन

मोक्ष-मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुणलब्धये ॥

बडे हर्ष की बात है कि (१) रत्नकरण्ड श्रावकाचार (माधोराजपुरा) (२) सहज सुख साधन (फुलेरा) (३) धर्म-ध्यान प्रकाश (कुचामन सिटी) (४) शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश (मारोठ-प्रथमावृत्ति एवं पुनः द्वितीयावृत्ति) (५) चारित्र धर्म-प्रकाश (सीकर) (६) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय तथा पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण (कुचामन-सिटी) (७) तीन लोक मंडल पूजा विधान प० टेकचन्दजी कृत (मंदसोर) (८) आत्म-सुप्रबोध (बडनगर) आदि ग्रन्थो का प्रकाशन एवं निःशुल्क वितरण हुआ है उन नगर वासियो का सहयोग श्लाघनीय रहा है। उन ग्रथों का सदुपयोग भी भारत के सभी प्रान्तो मे सज्जनो के द्वारा किया गया है, यद्यपि सभी ग्रंथो की माग साधु समाज के द्वारा, व्यक्तिगत महानुभावो के द्वारा, वाचनालय, पुस्तकालयों द्वारा, मन्दिरजी के प्रबन्धकर्त्ताओ के द्वारा, भिन्न २ स्थानो से आज भी की जा रही है। शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश की तो मांग बहुत ही थी। मारोठ निवासी धर्म-प्रेमी उदार सज्जनो ने उसकी प्रथमावृत्ति तो प्रकाशित कराई ही थी उन्होने ही इस ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति की भी स्वीकृति दे दी थी किन्तु प्रेस वालो की लापरवाही से उसमे लगभग ३ साल का व्यर्थ ही विलम्ब हो गया।

मुझे बडा आश्चर्य है कि आचार्यों ने जब सभी तरह के शुद्ध, अचित्त एवम् प्रासुक द्रव्यों के प्रयोगों पर अधिक लक्ष्य दिया है और अहिंसा को ही प्रधान धर्म बतलाया है और यह शक्यानुष्ठान भी है अर्थात् हम सभी बिना किसी विशेष आरम्भ के सरल रूप से कर सकते हैं फिर भी लोकरूढि या परम्परा के भय से सत्य मार्ग का अनुसरण क्यो नहीं करते हैं ? आचार्य एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों की रक्षा का सदा उपदेश देने का ध्यान रखते है। वे बडे कृपालु एवम् निष्पक्षपात होते है। हमने इस ग्रंथ की प्रथमावृत्ति में भी इस बात को पूरी तरह से स्पष्ट किया था कि यह ग्रंथ "संयम प्रकाश" का ही रूपान्तरण है, हमारा इसमे कुछ भी नहीं है। फिर भी लोग हठात् न्याय-मार्ग का पालन करने मे सङ्कोच करते हैं।

दूसरे श्रावकाचारो से इस ग्रन्थ में विलक्षणतायें देखकर कुछ लोग चकित होते हैं पर उन्हें गम्भीरता पूर्वक विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि हमे वीतरागता की ओर बढना है; लौकिक प्रपञ्चों से हटना है और थोडे ही समय में अपना आत्म-बल बढाकर मनुष्य भव को सार्थक करना है। कही ४८ मनुष्य के भवो में यह हमारा अन्तिम भव ही न हो और फिर २००० सागर के लिये त्रस पर्याय भी दुर्लभ हो जाय। अत बहुत सावधानी के साथ श्रावक धर्म का निरतिचार पूर्वक पालन करते हुये, मोक्ष के साक्षात् मार्ग रूप भाव लिंगी श्रमण के आदर्श पद को प्राप्त करें।

भट्टारको के या अन्य हिन्दू समाज के प्रभाव से हमारे यहा भी कई प्रकार की सचित्त प्रणाली का प्रचार हो गया था; हमने निर्दोष एवं अहिंसा मार्ग को पोषण करने वाली पद्धतियो पर ही जैन आगमानुसार विचार करने पर जोर दिया है, जैसे-यदि कोई द्वितीय प्रतिमा धारण करने के बाद ही सवारी का त्याग करदे तो उसने क्या बुराई का कार्य किया ? अपनी तृष्णाओ को तथा आरंभ को कम ही किया है तथा आगे के मार्ग को बहुत सरल बनाने का प्रयत्न किया है। नीची प्रतिमा लेकर ऊ चा काम करने मे तो लाभ ही लाभ है, लोक-प्रशसा भी है। पर ऊँचा पद लेकर नीचा काम करने में हानि ही हानि है, लोक में भी निंदा होती है। इसी प्रकार अन्य मार्गों पर भी शाति एव निष्पक्षपात दृष्टि से यदि हम विचार करें तो यह ग्र थ हमें बडी सहायता पहुचावेगा।

इस शुद्ध श्रावक धर्म ग्रन्थमे सभी विषयो पर शास्त्रीय प्रमाण बहुत खोज २ कर लिखे गये है। उन पर गभीर विचार कर अपनी परिपाटियो में सुधार करने का कष्ट करें और उनमें आर्षमार्ग तथा अहिंसा के रक्षण और वीतरागता के भावो की वृद्धि पर पूर्ण ध्यान रक्खें। यदि कोई बात इस ग्रन्थ की अपनें को नही जचती हो तो उस बात को बाहर अपवाद की दृष्टि से प्रकट नहीं करें।

जिन सज्जनो ने इस ग्रथ-प्रकाशन मे प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता दी है उनके प्रति हमारा शुभाशीर्वाद है। इसी तरह अन्य ग्रथो की आवृत्ति की मांग पर भी हम यथोचित विचार कर रहे हैं। प्रसन्नता है कि कुकणवाली समाज ने भी (२०) लघु परमात्म प्रकाश नामक ग्रन्थ प्रेस मे छपने के लिये दे दिया है। आशा है यह ग्रथ भी शीघ्र ही प्रकाशित होकर नि शुल्क वितरण द्वारा स्वाध्याय प्रेमियो को लाभ पहुचावेगा। इस ग्रथ के अन्त में प्रकाशित मैंने मेरे स्वतन्त्र विचारों को प्रकट किया है उन्हें आप लोग गभीरता पूर्व पढकर अपने पक्षपात को छोडेंगे ऐसी आशा है। मेरा यही शुभाशीर्वाद है कि धार्मिक समाज प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के प्रकाशन मे सदा सहयोग देकर जिनवाणी का सतत प्रचार करता रहे।

मुनि विवेकसागर
एकादश वर्षायोग
कुकणवाली
(कुचामन सिटी के पास)

आश्विन कृष्णा प्रतिपदा
वीर निर्वाण सवत् २५०५

मेरे हार्दिक उद्गार

परम-ज्ञान वाराणसि, घाति कर्म-प्रघातिन ।
महा-धर्म-प्रकर्त्तार वंदेऽहमादि-नायकं ।।

हे शारदा-मात कल्याणकारी कलंकापहारी भवाम्बोधि-तारी ।
प्रपद्ये शरण्यं जरा-मरण-हारी सुसद्-ज्ञान-दात्री च पापापहारी ।।

प्रियवर बन्धुओ—आज भारतवर्ष मे किंवा आधुनिक जगत् मे कथित ज्ञान का प्रचार अधिक है पर वह आत्मकल्याण हेतु नही बल्कि भौतिक चमत्कार उपलब्धि हेतु है, जिस पर अपार मेहनत की जा रही है। पर जो ज्ञान सम्यक् न हो, साथ ही नेक आचरण युक्त न हो तो वह ज्ञान फलदाता नही होता । यथा—

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्,
तरोश्छायायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्ट-दृष्टिभि' ।

आज हमारे दिगम्बर जैन साधर्मी जन, ज्ञान एव क्रिया से अनभिज्ञ हो रहे है । अध व्यामोह वश रूढि का पालन येन केन प्रकारेण करना ही अपनी शान समझ बैठे हैं । अभिषेकार्थ जलादि एव पूजनार्थ अष्ट द्रव्यादि शुद्ध प्रासुक होने चाहिये । पुजारी का अपना मन दया, क्षमा, अहिंसा भावना से परिपूर्ण होना चाहिये । घडी दो घडी समय जो पूजन आदि मे लगाना है उस समय मे ईर्ष्या, हठ, दुराग्रह, हिंसा भाव, अदया का सामर्थ्यत त्यागकर भगवद्भक्ति से अभिषेक पूजन करना चाहिये । यह ध्यान रहे कम से कम आरम्भ हो, प्रत्येक द्रव्य प्रासुक मर्यादित शुद्ध हो । वरना बिना इस शुद्धाचरण के जैसे अन्धे पुरुष को वृक्ष की शीतल छाया एव फल प्राप्त नहीं हो सकते, उसी प्रकार शुद्धाचरण युक्त सद् ज्ञान पूर्वक अभिषेक पूजन की क्रियाये ही जन्म जन्म के पापो को नष्ट करने में समर्थ है । अत हे बन्धुओ ! तप:पूत, सरल हृदय, अहर्निशि ज्ञान ध्यान तपोरक्त श्री १०८ विवेकसागर महाराज के सदुपदेशो को हृदयगम कर तदनुकूल आचरण करे तो शीघ्र सर्व सुखाधिकारी बन रत्नत्रयधारी पद को प्राप्त होवेंगे । हमे मनुष्यभव का सुफल पाना है तो आत्म निरीक्षण करना होगा । तभी अनन्तकाल के कुसस्कार जो रागद्वेष अह कषायादि रूप परिणाम हैं, हमारे मनसे कम से कम धार्मिक कार्यकलापो के प्रति शुद्ध रह सकेंगे । जैन समाज मे मंदिर व पचायतो के कार्यों मे, पूजन प्रक्षाल या शास्त्र प्रवचन आदि मे एव मुनिराजो के चतुर्मासो मे, आहारादि दानादि क्रियाओ मे ,पूर्व के रखे आपसी कषाय परिणामो को इन धार्मिक प्रसगो में तेरह बीस या अन्य प्रकारान्तरो से लाकर मतभेद बल्कि मनभेद उत्पन्न कर देते हैं, तब हमारी (समाज की आगामी पीढी की) प्रगति अवरुद्ध हो जाती है । भावी पीढी (नव किशोर नव युवक) भी हमारे हठ एव दुराग्रह का पोषण जैसे महापाप को करने को सकल्पत कटिबद्ध हो जाते है । उन्हे गहरा धर्म ज्ञान तो होता नही कुछ इधर उधर की सुनकर पाडित्य जताकर मिथ्यामार्ग का पोषण करते हैं, फिर समझाये नही समझते । फलत समाज का सगठन, वात्सल्य भाव नष्ट होता जा रहा है । चेतो चेतो ! सम्भलकर कदम रक्खो, सम्भल कर मुख से वाक्य निकालो । शास्त्रोक्त शुद्धाचरण को करो, करवावो । जिन–मुद्रा (निर्ग्रंथ) सर्वथा सर्वकाल वदनीय आदरणीय है ।

आशा है आप सब पाठकगण स्वय एव अपने २ मित्रो को सन्मार्ग दर्शन करेंगे एव करायेंगे । अकलक और अभेद रूप जैन–धर्म एव मोक्षमार्ग (सागार अनगार रूप) मे भेद फूट नही होने देंगे । बोलिये "णमो लोये सव्वसाहूण ।

भगवत कल्याण करिष्यन्ते, स्वस्ति भद्र चास्तु ।

भवदीय परमेष्ठी चरण चचरीक
डा० यतीन्द्रकुमार जैन शास्त्री
सागरा

धारण कर सघ मे रह रही है, ये भी सरल एव शात परिणाम रखने वाली है। साथ मे बिजलपुर (इन्दोर) के निवासी, शुरू से कृषिकार्य को ईमानदारी से करने वाले, परिश्रमी, दृढ सकल्प, स्वतन्त्र एव निर्भीक तथा निर्लोभी ब्रह्मचारी श्री ज्ञानानन्दजी हैं। कहने का प्राशय यह है कि यह सघ छोटा है, किन्तु अपनी मर्यादा मे पूर्ण है और इस वष कुचामन, मारोठ आदि के स्थानो को छोडकर कुकणवाली ग्राम मे वर्षायोग व्यतीत कर रह रहा है। इस चातुर्मास मे श्री शातिनाथ दि० जैन विद्यालय की स्थापना कराके विद्वान् पडित डा० यतीन्द्रकुमार जैन शास्त्री प्रतिष्ठाचाय की देखरेख मे सरक्षण कराने के अतिरिक्त कुली खाचरियावास पहुच कर महाराज श्री ने १०८ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी श्री विजयसागरजी महाराज के भयकर रोग के समय समाधि-साधना मे बडा भारी स्तुत्य कार्य किया। महाराज की आहार विधि की दृढता की प्रशसा तो प्राय सभी करते है किन्तु प्रत्येक रात्रि के १॥–२ बजे से ७॥ बजे तक एक आसन से आत्म-चिन्तन करना एक विशेष प्रेरणाकारक सत्कार्य है। प्रात जब आप ध्यान से उठते हैं तब अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा मे दिखाई पडते हैं। दो तीन बार आप से प्रश्न करने पर एक ही बात सुनने को मिली कि उस समय हम पच परमेष्ठी का, बारह भावना का और अपनी वर्त्तमान पर्याय का ध्यान करते हैं, यह आनद का समय बहुत थोडे ही काल मे व्यतीत होजाता है। शौच के समय मैं स्वय जगल मे साथ जाता हू और उस समय कई बातें बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं, यह विशेषता मैंने आप मे ही देखी है, मैं अन्य साधर्मी भाइयो से भी नम्र निवेदन करता हूँ कि वे भी महाराज के सान्निध्य मे आकर प्रत्यक्ष दर्शन का लाभ उठावें और उनसे इस ग्रथ के विषय में मुमुक्षु एव धर्म प्रेमी बनकर अपनी शङ्काओ को दूर करें। मैने तो केवल ग्रथ की छपाई आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध मे पूज्य महाराज श्री की आज्ञा का पालन मात्र किया है। ग्रथ के अन्दर आये हुये विषयो का उत्तरदायित्व मुझ पर कुछ भी नही है, एक आदर्श एव निर्भीक महात्मा की इच्छानुसार चलना ही श्रावक का परम कर्त्तव्य है। मैं महाराज की दिन चर्या एवं रात्रि के समय का असाधारण रूप से सदुपयोग करने पर शतबार नतमस्तक हू।

पुस्तक प्रकाशन में सहयोगी

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे जिन २ महानुभावो ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, उन्हे हार्दिक धन्यवाद अर्पित करते हुए उनकी नामावली प्रकाशित की जा रही है।

१५५५) श्री फूलचन्दजी चिरञ्जीलालजी गोधा
११११) ,, रामचन्द्रजी सोहनलालजी रारा
५५५) ,, पारसमलजी माणकचन्दजी विनायक्या
५५५) ,, मदनलालजी माणकचन्दजी गगवाल
३३३) ,, रतनलालजी सोभागमलजी गोधा
५५५) ,, घीसालालजी प्रकाशचन्दजी छावडा
३३३) ,, नथमलजी पवनकुमारजी चौधरी
२२२) ,, भागचन्दजी कन्हैयालालजी चौधरी
१११) ,, रतनलालजी माणकचन्दजी चौधरी
१११) ,, रूपचन्दजी गगवाल मदनगज
१११) ,, सीतारामजी सोहनलालजी छावडा मदनगज
१११) ,, कपूरचन्दजी मूलचन्दजी छावडा
१११) ,, सुरजमलजी महावीरप्रसादजी छावडा कलकत्ता
१११) ,, चान्दमलजी काला गया
२२२) ,, सीकरचन्दजी कमलकुमारजी सघी सीकर
२२२) ,, महेन्द्रकुमारजी गया
५१) ,, सोहनलालजी चम्पालालजी नागपुर
५५) ,, शिवमुखरायजी जैन शास्त्री
५५) ,, जगन्नाथजी गोधा मन्डा
५१) ,, मनोहरलालजी शाह
५१) ,, शान्तिलालजी बडजात्या
२२२) ,, भागचन्दजी महावीरप्रसादजी शाह
१११) ,, मदनलालजी हरिश्चन्दजी छावडा
५१) ,, गुलाबचन्दजी छावडा
५१) ,, माणकचन्दजी प्रकाशचन्दजी गोधा

१११) श्री कुन्दनमलजी रिषभचन्दजी लूणवा
५१) ,, रतनलालजी शाह
१०४१) ,, दिगम्बर जैन महिला मण्डल मारोठ
१११) ,, मोहनलालजी महेन्द्रकुमारजी गोधा नरायना
५५) ,, कवरीलालजी पाटनी नरायना
५१) ,, राजेन्द्रकुमारजी लुहाडिया नरायना
३३३) ,, फूलचन्दजी हरकचन्दजी सोगानी छप्या
५५) ,, रतनलालजी उम्मेदमलजी सोगानी, छप्या
५५) ,, चन्दनमलजी गोपीचन्दजी काला, दूदू
५५) ,, सुरजमलजी महावीरप्रसादजी गगवाल छप्या
३३३) ,, भवरलालजी कपूरचदजी काला, दूदू
१११) ,, गोगराजजी पारसमलजी काला दूदू
१२१) ,, रामपालजी पदमचदजी सोसी, दूदू
३३३) ,, चिरञ्जीलालजी भागचदजी जैन
२२२) ,, पाचूलालजी विरदीचन्दजी जैन
२२२) ,, मोतीलालजी छीतरमलजी जैन
१०४) ,, गुप्तदान दूदू
१२१) . जम्बूलालजी मीठालालजी पचेवर
१५१) ,, सोहनलालजी साह पचेवर
५१) ,, विरधीचन्दजी अग्रवाल की पत्नी
१०१) ,, गोविन्दरामजी अगरवाल पचेवर

१०८२३)
११७८) गुप्तदान

१२००१) योग

।। श्री वीतरागायनमः ।।

卐 शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश 卐

पाक्षिक श्रावक के आचार का अधिकार

नमः श्री वर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ।।१।।

मै सम्पूर्ण पापो को नष्ट करने वाले श्री वर्धमानस्वामी को त्रियोगशुद्धिपूर्वक नमस्कार करके इस मगलमयी कार्य का पुनः प्रकाशन करवाना चाहता हूँ। इस ग्रथ का नाम शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश इसलिये रक्खा गया है कि 'श्र' का अर्थ श्रद्धावान् 'व' का अर्थ विवेकवान् तथा 'क' का अर्थ क्रियावान् होने से वही सच्चा श्रावक है किन्तु आजकल श्रावक अपनी क्रिया मे शिथिल होते जा रहे है, वे सयमियो की तो आलोचना करते है; उन्हे अपने स्वय के पद का पता नही है इसके लिये परम पूज्य श्री १०८ श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज ने भी पहले "सयम प्रकाश" के द्वारा विस्तृत विवेचन बड़े सुदर रूप से किया है उन्ही के आधार से यह "शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश" ग्रथ द्वितीय सस्करण प्रकाशित कराया जा रहा है उसको प्रिय धर्मबन्धु श्रावकगण पढकर लाभ उठावेगे ऐसी आशा है।

❋ धर्म और उसका फल ❋

"दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्यसुखमीप्सितम्"

अर्थात्:—ससार के समस्त प्राणी दु खो से डरते है तथा सुख की अभिलाषा करते है। कोई भी प्राणी भूख प्यास आदि सहज दु.ख वात, पित्त और कफ की विषमता से

होने वाले बुखार, गलगण्डादिक शारीरिक दु ख, अति वृष्टि—(अत्यन्त वर्षा) अनावृष्टि—(बिलकुल वर्षा न होना) आदि आगन्तुक दु ख, तथा मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य-भक्षण से होने वाले, अथवा मिथ्यात्व, अज्ञान और असयम से होने वाले ससार रूपी कारावास के आवागमन आदि के अन्तरङ्ग दु खो से दु.खी नही होना चाहता। सभी की इच्छा वास्तविक सुख प्राप्ति की है। उस वास्तविक सुख की प्राप्ति धर्म रूपी अमोघ औषधि के सेवन से हो सकती है। उस धर्म के विषय मे आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है —

"धर्मात् किलैषजन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः"
किं रूपः किं भेदः किमुपायः किं फलश्च जायेत ॥१॥ [यशस्तिलक ६ आश्वास]

अर्थ.—हे पूज्य! धर्म के अनुष्ठान से प्राणी को वास्तविक सुख प्राप्त होता है। अत कृपया उस धर्म का स्वरूप, भेद, उपाय और फल कहिये।— उत्तर सुनिए—

यस्मादभ्युदयः पुंसां, निःश्रेयसफलाश्रय । वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरय ॥१॥
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचर । प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥२॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्र,त्रयं मोक्षस्य कारणं । संसारस्य च मीमांस्यं,मिथ्यात्वादि चतुष्टयम्॥३॥
सम्यक्त्वभावनामाहु, युक्तियुक्तेषु वस्तुषु । मोहसन्देहविभ्रान्ति, वर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥४॥
कर्मादाननिमित्ताया, क्रियाया परमंशमम् । चारित्रोचितचातुर्या, श्चारुचारित्रमुच्चिरे॥५॥

अर्थ—जिन कर्तव्यो के अनुष्ठान से मनुष्यो को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो उसे शास्त्रकार धर्माचार्यो ने धर्म कहा है। वह प्रवृत्ति निवृत्तिरूप–धर्म श्रावक और मुनियो द्वारा पालन किया जाता है। अर्थात् मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र मे प्रवृत्ति करना ससार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, एवं मिथ्याचारित्र से निवृत्त होना ही धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की प्राप्ति ही मोक्ष का मार्ग है, और मिथ्यात्वादि चतुष्टय ससार के कारण है। तत्वार्थ सूत्र मे भी कहा है–'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.'। युक्ति से सिद्ध-परमार्थ रूप-जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वो का यथार्थ-जैसे का तैसा [हेय, उपादेय और ज्ञेय रूप से] श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तथा उक्त जीवादि सप्त तत्वो को सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जैसे का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। चारित्र पालने मे निपुण ऋपियों ने सम्यग्ज्ञानी का ज्ञानावरण आदि कर्मो के ग्रहण करने मे निमित्त योग और कषायादि रूप क्रियाओ से निवृत्ति-दूर होना-उसे सम्यक् चारित्र कहा है।

सम्यक् चारित्र के भेद :–

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्। अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्।

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशल और परिग्रह आदि के त्याग रूप सम्यक् चारित्र के दो भेद कहे गये है [१] सकल चारित्र [२] और विकल चारित्र। सर्व परिग्रह त्यागी मुनियो के सकल चारित्र होता है और परिग्रही श्रावको के विकल चारित्र। अब श्रावको के विकल चारित्र की विस्तृत व्याख्या की जाती है।

श्रावक का स्वरूप :—

'सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, प्रत्यासन्नामृत' प्रभु.' सस्याच्छ्रावकधर्मार्हो, धर्म स त्रिविधो भवेत् ।१।

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से युक्त हो और जिसकी ससार की स्थिति निकट हो वही पुरुष श्रावक धर्म ग्रहण करने के योग्य होता है।

श्रावक धर्म के तीन भेद :—

"पक्षचर्यासाधनञ्च, त्रिधाधर्मविदुर्बुधा" तद्योगात् पाक्षिकः श्राद्धो, नैष्ठिकः साधकस्तथा।२।

अर्थ—महर्षियो ने पक्ष, चर्या और साधन इन भेदो से धर्म के तीन भेद किये है। इन तीनो के धारण करने वाले क्रम से पाक्षिक, नैष्ठिक ओर श्रावक के भी तीन भेद हो जाते है।

पक्ष और पाक्षिक का स्वरूप :—

"मैत्र्यादिभावनाबद्धं, त्रसप्राणिवधोज्झनम्" हिंस्यामहं न धर्मादौ,पक्ष स्यादिति तेषु च।३।
सम्यग्दृष्टि सातिचारमूलाणुव्रतपालक । अर्चादिनिरतस्त्वग्र, पद कांक्षीह पाक्षिकः ।।४।।

अर्थ—अब विस्तार के साथ धर्मो का वर्णन किया जाता है। क्रम प्राप्त प्रथम पाक्षिक श्रावक का स्वरूप कहते है। ससार के प्राणियो मे मैत्री भाव रखना, वे सब सुखी रहे ऐसा चिन्तन करना, गुणवानो को देखकर प्रमोद-हर्ष प्रकट करना और दु खी प्राणियो को देखकर दया भाव रखना एव धर्म से विपरीत चलने वालो मे माध्यस्थ्य भाव रखना, रागद्वेष न करना, उक्त चारो भावनाओ से चारित्र सयम धर्म की वृद्धि करने को, एव दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय रूप त्रस जीवो की सकल्पी हिंसा के त्याग करने को, तथा धर्म आदि के निमित्त जीव हिसा न करने को पक्ष करते है। अर्थात् उक्त प्रकार के सयम धर्म के पालन की प्रवृत्ति को पक्ष कहते है। जो सम्यग्दृष्टि हो अर्थात् सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का, ३ मूढता, ६ अनायतन, ८ मद और शकादि आठ दोषो से रहित, तथा नि शङ्कित आदि आठ अङ्ग सहित, यथार्थ श्रद्धा करने वाला हो तथा अतिचार सहित आठ मूल गुण एव पाच अणुव्रतो १ अहिसाणुव्रत २ सत्याणुव्रत ३ अचौर्याणुव्रत ४ ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणाणुव्रत का जो पालन करने वाला हो और देव शास्त्र तथा गुरु की पूजन का अनुरागी हो, तथा आगे प्रतिमा रूप सयम धर्म पालने का इच्छुक हो, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

होने वाले बुखार, गलगण्डादिक शारीरिक दु ख, अति वृष्टि—(अत्यन्त वर्षा) अनावृष्टि—(बिलकुल वर्षा न होना) आदि आगन्तुक दु ख, तथा मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य-भक्षण से होने वाले, अथवा मिथ्यात्व, अज्ञान और असयम से होने वाले ससार रूपी कारावास के आवागमन आदि के अन्तरङ्ग दु खो से दु:खी नही होना चाहता। सभी की इच्छा वास्तविक सुख प्राप्ति की है। उस वास्तविक सुख की प्राप्ति धर्म रूपी अमोघ औषधि के सेवन से हो सकती है। उस धर्म के विषय मे आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है —

"धर्मात् किलैषजन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः"
किं रूपः किं भेदः किमुपायः किं फलश्च जायेत ॥१॥ [यशस्तिलक ६ आश्वास]

अर्थ —हे पूज्य! धर्म के अनुष्ठान से प्राणी को वास्तविक सुख प्राप्त होता है। अत कृपया उस धर्म का स्वरूप, भेद, उपाय और फल कहिये।— उत्तर सुनिए—

यस्मादभ्युदयः पुंसां, निःश्रेयसफलाश्रय । वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरय ॥१॥
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचर । प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥२॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्र,त्रयं मोक्षस्य कारणं । संसारस्य च मीमांस्यं,मिथ्यात्वादि चतुष्टयम्॥३॥
सम्यक्त्वमावनामाहु, र्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु । मोहसन्देहविभ्रान्ति, र्वर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥४॥
कर्मादाननिमित्ताया , क्रियाया परमंशमम् । चारित्रोचितचातुर्या, श्चारुचारित्रमुच्चिरे॥५॥

अर्थ—जिन कर्तव्यो के अनुष्ठान से मनुष्यो को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो उसे शास्त्रकार धर्माचार्यो ने धर्म कहा है। वह प्रवृत्ति निवृत्तिरूप–धर्म श्रावक और मुनियो द्वारा पालन किया जाता है। अर्थात् मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्-चारित्र मे प्रवृत्ति करना ससार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, एव मिथ्याचारित्र से निवृत्त होना ही धर्म हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनो की प्राप्ति ही मोक्ष का मार्ग है, और मिथ्यात्वादि चतुष्टय ससार के कारण है। तत्वार्थ सूत्र मे भी कहा है–'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग '। युक्ति से सिद्ध-परमार्थ रूप-जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वो का यथार्थ-जैसे का तैसा [हेय, उपादेय और ज्ञेय रूप से] श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तथा उक्त जीवादि सप्त तत्वो को सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित जैसे का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। चारित्र पालने मे निपुण ऋषियो ने सम्यग्ज्ञानी का ज्ञानावरण आदि कर्मो के ग्रहण करने में निमित्त योग और कषायादि रूप क्रियाओ से निवृत्ति-दूर होना-उसे सम्यक् चारित्र कहा है।

सम्यक् चारित्र के भेद :–

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्। अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्।

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशल और परिग्रह आदि के त्याग रूप सम्यक् चारित्र के दो भेद कहे गये है [१] सकल चारित्र [२] और विकल चारित्र । सर्व परिग्रह त्यागी मुनियो के सकल चारित्र होता है और परिग्रही श्रावकों के विकल चारित्र । अब श्रावकों के विकल चारित्र की विस्तृत व्याख्या की जाती है ।

श्रावक का स्वरूप :—

'सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, प्रत्यासन्नामृतः प्रभु' सस्याच्छ्रावकधर्मार्हो, धर्म स त्रिविधो भवेत् ।१।

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से युक्त हो और जिसकी ससार की स्थिति निकट हो वही पुरुष श्रावक धर्म ग्रहण करने के योग्य होता है ।

श्रावक धर्म के तीन भेद :—

"पक्षचर्यासाधनञ्च, त्रिधाधर्मविदुर्बुधा." तद्योगात् पाक्षिकः श्राद्धो, नैष्ठिकः साधकस्तथा।२।

अर्थ—महर्षियो ने पक्ष, चर्या और साधन इन भेदो से धर्म के तीन भेद किये है। इन तीनो के धारण करने वाले क्रम से पाक्षिक, नैष्ठिक और श्रावक के भी तीन भेद हो जाते है।

पक्ष और पाक्षिक का स्वरूप :—

"मैत्र्यादिभावनाबद्ध', त्रसप्राणिवधोज्झनम्" हिंस्यामहं न धर्मादौ,पक्ष स्यादिति तेषु च।३।
सम्यग्दृष्टि. सातिचारमूलाणुव्रतपालक । अर्चादिनिरतस्त्वग्र, पद कांक्षीह पाक्षिकः ॥४॥

अर्थ—अब विस्तार के साथ धर्मो का वर्णन किया जाता है । क्रम प्राप्त प्रथम पाक्षिक श्रावक का स्वरूप कहते है । ससार के प्राणियो मे मैत्री भाव रखना, वे सब सुखी रहे ऐसा चिन्तन करना, गुणवानो को देखकर प्रमोद-हर्ष प्रकट करना और दु:खी प्राणियों को देखकर दया भाव रखना एव धर्म से विपरीत चलने वालो मे माध्यस्थ्य भाव रखना, रागद्वेष न करना, उक्त चारो भावनाओ से चारित्र सयम धर्म की वृद्धि करने को, एव दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय रूप त्रस जीवो की सकल्पी हिंसा के त्याग करने को, तथा धर्म आदि के निमित्त जीव हिंसा न करने को पक्ष करते है । अर्थात् उक्त प्रकार के सयम धर्म के पालन की प्रवृत्ति को पक्ष कहते है । जो सम्यग्दृष्टि हो अर्थात् सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का, ३ मूढता, ६ अनायतन, ८ मद और शकादि आठ दोषो से रहित, तथा नि शङ्कित आदि आठ अङ्ग सहित, यथार्थ श्रद्धा करने वाला हो तथा अतिचार सहित आठ मूल गुण एव पाच अणुव्रतो १ अहिंसाणुव्रत २ सत्याणुव्रत ३ अचौर्याणुव्रत ४ ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणाणुव्रत का जो पालन करने वाला हो और देव शास्त्र तथा गुरु की पूजन का अनुरागी हो, तथा आगे प्रतिमा रूप सयम धर्म पालने का इच्छुक हो, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है ।

नैष्ठिक श्रावक का लक्षण :—

"दोषं संशोध्य संजातं,पुत्रेन्यस्य निजान्वयम्'। त्यजत' सद्म' चर्यास्यान्निष्ठावान्नाम भेदत ।।५।।
दृष्टयादिदशधर्माणां, निष्ठानिर्वहणं मता। तपाचरति य स स्यान्नैष्ठिक' साधकोत्सुक.।।६।।

अर्थ—खेती व्यापार आदि आरम्भ के कार्यो से जो दोप उत्पन्न हुए है; उन्हे पायश्चित विधि से सशोधन करके अपने कुटुम्ब के भार को पुत्र को सौपकर अथवा यदि पुत्र न-हो तो किसी योग्य उत्तराधिकारी को सौपकर गृह त्याग करने वाले के चर्यानैष्ठिक-धर्म उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र रूप धर्म का, तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मो के एक देश का पालन करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहा गया है। वह साधक के उच्च पद का इच्छुक होता है।

साधन और साधक श्रावक का लक्षण

स्यादन्तेऽन्नेह कायाना, मुज्झनादध्यानशुद्धिता। आत्मन शोधनं ज्ञेयं, साधनं धर्ममुत्तमम्।।७।।
ज्ञानानन्दमयात्मानं, साधयत्येष साधक । श्रितापवादलिंगेन, रागादिक्षयत स्वयुक् ।।८।।

अर्थ—मरण समय मे अन्न और शरीरादिक से ममत्व छोड कर ध्यान की शुद्धि से आत्मा के शुद्ध करने को 'साधन' नाम का धर्म समझना चाहिये। अर्थात् अपवाद दृष्टि से रागद्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के नाश हो जाने से और वास्तविक दृष्टि से राजमार्ग दृष्टि से-अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ के विशिष्ट क्षयोपशम हो जाने से, जिसने अपवाद लिङ्ग-नग्नमुनिमुद्रा को धारण कर ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा का साधन किया है, उसको 'साधक श्रावक' कहते है। श्रावक के गृहस्थ धर्म के पालने की योग्यता निम्न प्रकार के सत्कर्त्तव्यो से होती है— [सागार धर्मामृत]

यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गभज-न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी,स्थानालयोह्रमय ,
युक्ताहारविहारआर्यसमिति प्राज्ञ कृतज्ञो वशी,शृण्वन्धर्मविधिं दयालुरघभी सागर धर्मंचरेत्।११

अर्थ—१ जो पुरुष न्याय से वाणिज्य, कृषि आदि उपायो द्वारा द्रव्य कमाता है, २ सद्गुण और पूज्य माता पिता आदि हितैषियो का विनय करता है, ३ सत्य एव मीठे वचन बोलता है, ४ धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थों का परस्पर विरोध रहित सेवन करता है, ५ ऊपर कहे हुए तीनो पुरुषार्थो के पालन मे सहयोग देने वाली धर्म पत्नी से युक्त है, ६. जो लज्जा सहित है, ७ योग्य रीति से आहार और विहार करता है, ८. सज्जनो की सत्सगति करता है, ९ विचार शील एव ज्ञानवान् है, १० कृतज्ञ—किये हुए उपकार को मानने वाला-है, ११ जितेन्द्रिय—इन्द्रियो को वश मे करने वाला-है, १२ धर्म विधि को सुनता रहता है, १३ दयालु है, पापों—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह,

मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, विश्वासघात, परनिन्दा, आत्म-प्रशसा, कृतघ्नता आदि से जो भय, करने वाला है, ऐसा पुरुष गृहस्थ धर्म सेवन का अधिकारी है।

भावार्थ—नीति युक्त—स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, चोरी, आदि अन्याय से रहित, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र, इन वर्णों के अनुकूल वाणिज्य आदि न्याय रूप जीविका के उपायों से धन कमाने वाला श्रावक ही गृहस्थ धर्म का अधिकारी है। क्योकि जो अन्याय से धन कमाता है उसे राजा भी दण्ड देता है, और उसका लोक मे भी अपमान होता है। इसलिये न्याय युक्त जीविका से धन कमाना गृहस्थ का मुख्यकर्त्तव्य है, बिना धन के गृहस्थधर्म चल नही सकता। आगे बताते है कि निम्न प्रकार के पुरुषो के पास धन नही रहता है—

तादात्विकमूलहरकदर्येषु नासुलभ प्रत्यवाय. ।।६।।
य किमप्यसचिंन्त्योत्पन्नमर्थ व्ययति स तादात्विक ।।७।।
य पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहर. ।।८।।
यो भृत्यात्मपीडाभ्यामर्थं संचिनोति स कदर्थ ।।९।।
तादात्विकमूलहरयोरापत्यां नास्ति कल्याण ।।१०।।
कदर्यस्यार्थसंग्रहो राजदायादतस्कारागामन्यतमस्य निधि ।।११।। [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—तादात्विक, मूलहर और कदर्य इन तीनो के पास धन नही रहता। १ जो बिना विचारे कमाये हुए धन को खर्च करता है, अर्थात् आमदनी से भी ज्यादा खर्च करता है उसे तादात्विक कहते है। २ जो अपने पिता तथा दादा की सचित कमाई को केवल खाता है—खर्च करता है, नया कुछ नही कमाता उसे मूलहर कहते है। ३. जो नौकर पात्रो तथा अपने कुटुम्ब को कष्ट पहुचा कर धन को जमीन में गाड देता है उसे कदर्य—लोभी कहते है। इनमे तादात्विक और मूलहर का भविष्य मे कल्याण नही हो सकता, क्योकि वह दरिद्रता के कारण कष्ट उठावेगा। लोभी का धन, राजा या कुटुम्बी एव चोर इन में से किसी एक के हाथ लगेगा। इससे न्याययुक्त आजीविका से जो श्रावक धन कमाता है वही श्रावक धर्म का अधिकारी है। ससार मे गृहस्थ के लिए धन की अनिवार्य आवश्यकता है। उस के बिना मनुष्य दरिद्र कहलाता है। दरिद्र के दु.खों का पार नही है। कहा भी है—

"दारिद्रयादपरं नास्ति, प्राणिनामरुन्तुदम्। अत्यक्तं मरणं प्राणैं, प्राणिनां हि-दरिद्रता ।।६।।

अर्थ—मनुष्यो को दरिद्रता से बढकर दूसरा कोई दु:ख देने वाला नही है। निश्चय से दरिद्रता प्राणो के बिना निकले मरण है। और भी कहा है—

रिक्तस्य हि न जागर्ति,कीर्तनीयोऽखिलो गुण। हन्त किं तेन विद्यापि,विद्यमाना न शोभते ।।७।।
स्यादकिञ्चित्करः सोऽयमाकिञ्चन्येन वञ्चित। अलमन्यै. स साकूतं,धन्यवक्रं च पश्यति ।।८।।

संपल्लाभफलं पुंसां,सज्जनानां हि पोषणम्, काकार्थफलनिम्बोऽपि,श्लाघ्यते न हि चूतवत्।।६।।

अर्थ—निर्धन मनुष्य के प्रशसनीय गुण भी प्रकाशित नही होते है। खेद है कि और तो क्या कहा जावे, दरिद्र पुरुष की विद्या भी शोभा को प्राप्त नही होती है। वह सदा धनवानो के मुह की ओर ताकता रहता है, किन्तु मनुष्यो का धन पाना तब ही सफल एव सुखदायक हो सकता है जब उस धन के द्वारा सज्जन धर्म पात्रो की सेवा की जावे। निश्चय से नीम का वृक्ष जिसका फल केवल कौवे के लिए है आम्र के बृक्ष के समान प्रशसनीय नही होता है। और भी कहा है—

सखलु विभवो मनुष्याणां य परोपभोग्य न तु स्वस्यैवोपभोग्यो व्याधिरिव [नीति वाक्यामृत]

अर्थ—वही धन मनुष्यो का धन है जो कि परोपकार-दूसरो की भलाई मे लगाया जावे अर्थात् जो दूसरो से भी भोग्य है। और जो स्वार्थी लोभी पुरुषो का धन स्वय केवल अपने आप भोगा जाता है वह रोग के समान है। क्योकि उस धन से उसका भविष्य मे कल्याण नही हो सकता। अतः न्याय युक्त धन ही परोपकार मे व्यय होता है एव न्याय से उपार्जन करने वाला धनी पुरुष ही धर्म का पात्र पूर्ण रूप से होने योग्य है।

(२) यजन् गुण गुरून्

अपने तथा दूसरो के उपकार करने वाले, सदाचार, सज्जनता, परोपकार, चतुरता, नम्रता आदि सद्गुणो को 'गुण' कहते है। सत्कार और प्रशसा आदि से उन गुणो को पूज्य मानना गुण पूजा है। माता, पिता, विद्या गुरु और आचार्य को गुरु कहते हैं। इनको प्रणाम करना, इनकी आज्ञा मानना तथा सेवा भक्ति करने को गुरु पूजा कहते है। अथवा जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तथा तप आदि आत्मिक गुणो मे बड़े हो, पूज्य हो उनको 'गुण गुरु' कहते है। ऐसे पुरुषो की सेवा–भक्ति करना गुण गुरुओ की पूजा कहलाती है। उक्त गुरुओ तथा गुण–गुरुओ की भक्ति पूजा करने वाला ही गृहस्थ धर्म का अधिकारी है। कहा भी है—

"व्रतविद्यावयोचितेषु नीचैराचरणं विनय पुण्यावाप्ति. शास्त्ररहस्यस्य–परिज्ञानं सत्पुरुषाधिगम्यत्वं च विनयफलम्" [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि व्रतो को पालने वाले त्यागी व्रती साधु आदि धर्मात्माओ तथा शास्त्र के ज्ञाता विद्वानो एव माता-पिता आदि हितैषियो की सेवा भक्ति करना विनय कहलाती है। चरित्रवानो का विनय करने से पुण्य की प्राप्ति, विद्वानो का विनय करने से शास्त्रो के रहस्य का ज्ञान और माता-पिता आदि हितैषियो का विनय करने से सज्जनता, कुलीनता का परिचय आदि सब, विनय करने का फल है। कहा भी है–

गुरुद्रुहां गुण.को वा,कृतघ्नानां न नश्यति । विद्याऽपि विद्यु दाभा स्या,दमूलस्य कुत: स्थिति ।३३।
गुरुद्रुहो न हि क्वापि विश्वास्या विश्वघातिन.। अबिभ्यतां गुरुद्रोहा,दन्यद्रोहात् कुतोभयम् ।३४।

अर्थ—माता, पिता और गुरु जनो से वैर विरोध करने वालो का कौनसा गुण नष्ट नही होता है ? अर्थात् सभी गुण नष्ट हो जाते है । उन लोगो की विद्या भी बिजली के समान क्षणस्थायी होती है । ठीक ही है कि जड रहित वृक्ष या महल की स्थिति कैसे हो सकती है ? तात्पर्य यह है गुरु विद्या का कारण है उससे द्रोह करने पर विद्या रूप कार्य की निष्पत्ति नही हो सकती । माता, पिता और गुरुजनो से वैर विरोध करने वाले कृतघ्न सम्पूर्ण ससार के नाश करने वाले है अर्थात् उनकी ससार मे प्रतीति नही रहती, अत उनका कही पर भी विश्वास नही करना चाहिये, क्योकि जो गुरुओ तक से द्रोह करने मे नही चूकते वे लोग अन्यो के साथ विरोध करने से भयभीत होगे—यह बात असम्भव है । और भी कहा है—

"क्वचिदपि कर्मणि पितुराज्ञा न लंघयेत् किं नु खलु राम. ।
क्रमेण विक्रमेण वा हीनो य पितुराज्ञया बनमाविवेश" । नीतिवाक्यामृत ।

अर्थ—पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह माता पिता की कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करे, उसे उस आज्ञा के पालन करने मे कितना ही स्वार्थ त्याग करना पडे, वह उसकी जरा भी उपेक्षा न करे, परन्तु उसमे उसके नीति और धर्म की सुरक्षा रहनी आवश्यक है । क्या राजकुमार रामचन्द्र राजनैतिक शक्ति, सेना, कोष व पराक्रम से कम थे ? जिन्होने अपने पिता राजा दशरथ की आज्ञा से वनवास स्वीकार किया । रामचन्द्र ने शक्तिशाली होते हुए भी अपने पिता राजा दशरथ की कठोरतम आज्ञा (वनवास को जाने) का पालन किया, उसमे उन्हे अनेक कष्ट सहने पडे । उन कष्टो की उन्होने जरा भी परवाह नही की । राज्य सम्पत्ति को छोडकर वनवास को प्राप्त हुए । हमारे जन्म लेने के समय हमारे माता पिता जो दु ख और क्लेश सहन करते है । यदि उसका कोई बदला चुकाना चाहे तो वह उनकी सौ वर्ष तक सेवा करने पर भी नही चुका सकता । इसलिये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि गुणो से युक्त तथा हितैषी मात पिता आदि की आज्ञा मान कर उनकी भक्ति सेवा करने वाला ही गृहस्थ धर्म का अधिकारी है ।

(२) सद्गी :–

जो हितमित और मधुर वचन बोलता है और जो पुरुष किसी की निन्दा तथा अपनी प्रशसा नही करता वह पुरुष ही सद्गृहस्थ के धर्म को ग्रहण करने योग्य समझा गया है । कहा भी है—

परमर्मस्पर्शकरमश्रद्धे यमतिमात्रं च न भाषेत (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—मनुष्यो को दूसरो के हृदय को चोट पहुचाने वाले, विश्वास से रहित, अधिक वचन नही बोलने चाहिये ।

(४) अन्योन्यानुगुणं त्रिवर्ग भजन्–

जो धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थो को परस्पर बाधा–रहित सेवन करता है वही गृहस्थ धर्म का पात्र है । जिन कर्तव्यो से अभ्युदय अर्थात् देवेन्द्र, नागेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के पद एव परम्परा से निश्रेयस–मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे धर्म कहते है । जिससे लौकिक समस्त कार्यो की सिद्धि हो उसे अर्थ कहते हैं । इसी को द्रव्य, धन, सम्पत्ति और जायदाद भी कहते है । पचेन्द्रियों के स्पर्श रसादि विषयो मे जो प्रीति है, उसे काम कहते है इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थो को त्रिवर्ग कहते है । इनके विना मनुष्य जीवन व्यर्थ प्राय है । इन पुरुषार्थो को इस प्रकार सेवन किया जावे कि एक दूसरे मे बाधा उपस्थित न हो ।

परस्पराविरोधेन, त्रिवर्गो यदि सेव्यते । अनर्गलमतः सौख्य, मपवर्गोऽप्यनुक्रमात् ।।१६।।

अर्थ—यदि एक दूसरे के विरोध बिना धर्म, अर्थ और काम ये तीनो पुरुषार्थ सेवन किये जावे तो विना किसी प्रतिबन्ध के सुख मिल सकता है । और क्रम से मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है । इसलिये उक्त तीनो पुरुषार्थो मे परस्पर बाधा नही होनी चाहिये । जो मानव धर्म और अर्थ मे बाधा कर केवल काम पुरुषार्थ का सेवन करता है वह गृहस्थ धर्म को प्राप्त नही कर सकता क्योकि काम की प्राप्ति धन से होती है और उसका कारण धर्म है, इसलिये उक्त पुरुषार्थो को परस्पर बाधा रहित सेवन करने वाला ही श्रावक धर्म पालन कर सकता है ।

(५) तदर्हगृहिणीस्थानालय :–

गृहस्थ के लिये उक्त त्रिवर्ग सेवन करने योग्य धर्मपत्नी, गाव एव नगर तथा मकान होना आवश्यक है । तभी वह श्रावक धर्म पालन कर सकेगा । जो अपनी जाति की हो तथा पच माता पिता गुरु और सभ्यजनो की साक्षी से जिसके साथ विवाह संस्कार हुआ हो । ऐसी सुशील, सदा चारिणी धर्मपत्नी को गृहिणी कहते हैं ।

आगे यह बतलाते है स्त्री का क्या कर्तव्य है–

'शुश्रूषस्व गुरून्,कुरु प्रियसखी,वृत्ति सपत्नीजने,भर्तु विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गम ।।
भूयिष्ट भव दक्षिणा परिजने,भोगेष्वनुत्सेकिनी। यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो,वामा कुलस्याधय ।

अर्थ—शकुन्तला को ससुराल जाते समय कण्व उसके पिता ने निम्न प्रकार से पत्नी धर्म का उपदेश दिया है—हे पुत्रि! सासू, श्वसुर आदि की सेवा करना, सपत्नी स्त्रियों मे प्यारी सहेलियो जैसा बर्ताव रखना, अर्थात् उनसे प्रेम का व्यवहार रखना, पति के नाराज होने पर भी तुम उसके विरुद्ध मत चलना तथा पचेन्द्रियो के अच्छे २ भोगो को प्राप्त करके भी अभिमान मत करना, धर्म को मत भूलना, इस प्रकार के धर्म को अर्थात् पातिव्रत्य स्त्री धर्म को पालन करने वाली स्त्रिया सच्ची गृहिणी एव धर्म पत्नी कहलाती है और उक्त कथनो से जो विरुद्ध चलने वाली है वे कुल की बीमारी है उक्त कर्तव्य परायण धर्म पत्नी के होने से श्रावक धर्म की पालना होती है; इसी प्रकार गृहस्थ के लिये ऐसे गाव एव नगर मे रहना चाहिये जहां पर धर्म साधन हो सके तथा न्याय युक्त वाणिज्य आदि से निर्वाह कर सके; इसी प्रकार घर भी अच्छे मोहल्ले एव सत्सग में होना आवश्यक है ।

(६) ह्रीमय :—

अर्थात् लज्जा करने वाला । जो निर्लज्ज-बेशर्म होगा वह अपने देश जाति और धर्म से विरुद्ध आचरण करने मे नही डरेगा; अतएव श्रावक धर्म मे लज्जाशाली की आवश्यकता है ।

(७) युक्ताहारविहार :—

जिसके आहार—भोजन, और विहार—स्थान, योग्य शास्त्रानुकूल हो । आचार शास्त्र मे जिन पदार्थो के खाने का निषेध किया गया है, उनको नही खाना चाहिये, क्योकि अभक्ष्य भक्षण से हमारे रत्नत्रयरूप धर्म की हानि होती है, साथ मे हमारा शारीरिक स्वास्थ्य भी खराब होता है ; इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र मे जो पदार्थ प्रकृति—वात पित्त और कफ, एव ऋतु के विरुद्ध बताये गये है उन्हे नही खाना चाहिये, क्योकि ऐसा करने से अनेक शारीरिक रोग ग्रसित होने के कारण वह व्यक्ति पुरुषार्थत्रय के अनुष्ठान का अधिकारी नही रहेगा ।

(८) आर्यसमिति :—

गृहस्थ को सदाचारी सज्जन पुरुषो की सगति करनी चाहिये । जुआरी, धूर्त्त व्यभिचारी, मिथ्यात्वी, भाड, मायावी और नट आदि अशिष्ट पुरुषों की सगति नही करनी चाहिये । कहा भी है—

शिष्टजनसंसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुष—
चरितोत्थिताभिश्च कथाभिराहार्यं व्यसनं प्रतिबध्नीयात् ॥४॥ [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—सज्जनो को सगति करके दुष्टो की सगति का त्याग कर तथा पूज्य महा

पुरुषो-त्रेसठ शलाका के पूज्य महा पुरुषों-२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रति नारायण, और ९ बलभद्र के चरित्र-प्रथमानुयोग के शास्त्रो को पढकर या सुनकर, कुसंग से उत्पन्न हुए व्यसनो–खोटी आदतों को छोडे। कहा भी है—

अनधीयानोऽपि विशिष्टजनससर्गात् परां व्युत्पत्तिमवाप्नोति ॥१॥
अन्यैव खलु काचिच्छायोपजलतरूणाम् ॥२॥
असुगन्धमपि सूत्रं कुसुमसंयोगात् किं नारोहति देवशिरसि ॥३॥
महद्भि पुरुषै प्रतिष्ठितोऽश्मापि भवति देव किं पुनर्मनुष्य ॥४॥
तथा चानुश्रूयते विष्णुगुप्तानुग्रहादनधिकृतोऽपि किल चन्द्रगुप्त साम्राज्यपदमवापेति ॥५॥

अर्थ—मूर्ख मनुष्य भी विद्वानो की सगति से विद्वान् हो जाता है जल के पास नदी कुए आदि के किनारे वृक्षो की छाया अन्य ही होती अर्थात् जल की समीपता से शीतलता अवश्य उसमे पाई जाती है। निर्गन्ध भी सूत-धागा, फूलो की सगति से माला बन जाने पर क्या राजा आदि बडे पुरुषो के मस्तक पर आरूढ़ नही होता ? अवश्य सद्गुणो का सचार होगा। चन्द्रगुप्त मौर्य राज्य का अधिकारी न होने पर भी तथा उस समय उसके पास नन्द राजा से लोहा लेने के लिये प्रचुर सैनिक शक्ति तथा खजाना नही था तथापि चाणक्य नामक राजनीति के महाधुरधर विद्वान् की सगति से राज्य लक्ष्मी को प्राप्त हुआ। यह सब सत्सगति का माहात्म्य था। अत सज्जन पुरुषो की सगति करने वाला श्रावक धर्म को ग्रहण करने का विशेष रूप से पात्र है।

(६) प्राज्ञ --

अर्थात जो हेय-छोडने योग्य, उपादेय-ग्रहण करने योग्य कार्य को जानकर द्रव्य, क्षेत्र काल, आदि का तथा भविष्य का विचार करके चलता है उसे 'प्राज्ञ' कहते है अथवा बुद्धिमान् विद्वान् भी कहते है। कहा भी है—

हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद्व्यर्थ श्रुतौ श्रम । [क्षत्र चूडामणि]

अर्थ—जिसे हेय–छोडने योग्य, उपादेय–ग्रहण करने योग्य वस्तु का ज्ञान आदि यदि उत्पन्न नही हुआ तो शास्त्रो मे परिश्रम करना व्यर्थ है। और भी कहा है—

"सत्यं तपोज्ञानमहिंसता च, विद्वत्प्रणामं च सुशीलता च ।
एतानि यो धारयते स विद्वान्, न केवलं य पठते स विद्वान्" ।

अर्थ—सत्य, तप, दया, नम्रता, सज्जनता इत्यादि सद्गुणो को जो धारण करता है, उसे प्राज्ञ एव विद्वान् कहते है। जो केवल पढ लेता है वह विद्वान् नही है। और भी कहा है—

"गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ॥
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाक ॥१॥ (भर्तृहरि शतक)

अर्थ—गुणयुक्त-अच्छा, अवगुणयुक्त–बुरा कार्य करने से प्रथम विद्वान् मनुष्य उस को फल एव परिणाम का अवश्य विचार कर लेना चाहिये अर्थात् विचार कर लेने पर यदि उसका फल भविष्य मे उत्तम प्रतीत हो तो करना चाहिये अन्यथा नही करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि श्रावक को यह विचार कर लेना चाहिये कि इस कार्य के करने से मेरे सम्यक्त्व की तो हानि नही होगी, क्योकि जो कार्य बिना विचारे उतावली से कर लिये जाते है और उसका परिणाम जब बुरा निकलता है तो हृदय मे दाह पैदा करने वाला एव कील के समान चुभने वाला उसका दु ख बहुत सताता है एव अखरता है और फिर पश्चात्ताप होता है। और भी कहा है—

"सहसा विदधीत न क्रिया, मविवेक परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धा स्वयमेव संपद ॥ [किरातार्जुनीय द्वि०सर्ग]

अर्थ—मनुष्य को कोई भी कार्य उतावली से बिना विचारे नही करना चाहिये। कार्य करते समय उसका भविष्य फल न सोचने से मनुष्य को बहुत आपत्तियां भोगनी पडती है और विचार पूर्वक काम करने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को गुणो मे लुभाने वाली सम्पत्तिया, स्वय प्राप्त हो जाती है, इसलिये कार्य करते समय ऊहापोह ज्ञान से उसका भविष्य फल सोच कर कार्य करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति ही श्रावक धर्म का अधिकारी है।

(१०) कृतज्ञः—

जो दूसरे के उपकार को मानता है तथा उपकार करने वाले के हित और कुशल की कामना कर प्रत्युपकार करता है या इच्छा रखता है उसे कृतज्ञ कहते है। ऐसा धार्मिक व्यक्ति सबको प्रिय लगता है और समय पर लोग उसकी सहायता करते है। जो कृतघ्न, (गुणमेटा) उपकार के बदले मे अपकार करता है वह श्रावक धर्म के योग्य नही है। सबसे प्रथम श्रावक तीर्थङ्कर जिनेन्द्र देव और धर्माचार्यो का ऋणी है, इसलिये उसे उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करनी चाहिये। कहा भी है—

"अभिमतफलसिद्धे रभ्युपायः सुबोध, प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ॥
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धचै। न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥१॥

अर्थ—मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्ज्ञान से होती है और वह सम्यग्ज्ञान शास्त्रों-(प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग) के पढने से प्राप्त होता है। वह शास्त्र प्रधान रूप से भगवान् तीर्थङ्कर से, तथा गौणरूप से गणधरादिक धर्माचार्यो से उत्पन्न हुआ है; इसलिये वे तीर्थङ्कर भगवान् और धर्माचार्य हमारे पूज्य है। सज्जन पुरुष किये हुए उपकार को कभी नही भूलते है। कहा भी है—

विधित्सुरेनं यदिहात्मवश्यं, कृतज्ञताया समुपैहि पारम् ।
गुणैरुपेतोप्यखिलैः कृतघ्न; समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ।।१।।(चन्द्रप्रभचरित)

अर्थ—यदि तू इस परिवार को और समस्त लोगो को अपने वश करना चाहता है, तो कृतज्ञता का पारगामी हो, कृतज्ञ बन, कृतघ्न मत हो, क्योकि कृतघ्न मनुष्य भले ही सम्पूर्ण गुणो से परिपूर्ण हो जावे तथापि सब लोगो को क्षुब्ध कर देता है, सब लोग उससे प्रीति छोड देते है ।

(११) वशी-जितेन्द्रिय.-

जो समस्त इन्द्रियो को विकारो से रोकने वाला हो तथा काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष इन ६ अन्तरङ्ग शत्रुओ का निग्रह करने वाला हो उसे जितेन्द्रिय कहते है । कहा भी है—

"इष्टेऽर्थेनासक्तिविरुद्धे चाप्रवृत्तिरिन्द्रियजः अर्थशास्त्राध्ययनं वा ८.६. (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—इष्ट, अनुकूल—प्रिय पदार्थों मे अधिक आसक्ति न होने से और विरुद्ध अप्रिय पदार्थो मे प्रवृत्ति न करने से, जितेन्द्रियत्व गुण प्राप्त होता है तथा नीति शास्त्र के अध्ययन करने से भी जितेन्द्रियत्व गुण प्राप्त होता है ।

"नाजितेन्द्रियाणाँ कार्ऽपि कार्यसिद्धिरस्ति ।।१।।
हस्तिस्नानमिवसर्वमनुष्ठानमनियमितेन्द्रियमनोवृत्तीनां।२। (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—जिनकी इन्द्रिया वश मे नही है उन्हे किसी भी कार्य मे सफलता प्राप्त नही होती; जिनकी चक्षु आदिक इन्द्रिया और मन वश मे नही है उनके समस्त धार्मिक अनुष्ठान हाथी के स्नान के समान निष्फल हैं अर्थात् जिस प्रकार हाथी को स्नान करा दिया जाय परन्तु उसका स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपने शरीर पर धूलि डाल लेता है; इसलिये उसका स्नान व्यर्थ है, इसी प्रकार जिनके इन्द्रियां और मन चञ्चल है वे कुछ भी दिखाऊ धार्मिक अनुष्ठान करे तथापि उनका कोई फल नही होता; क्योंकि उनकी आत्मिक परिणति दूषित है; अत वे पापास्रव करते है, इसलिये सुखाभिलाषी श्रावक को जितेन्द्रिय होना चाहिये । वह निम्न प्रकार से अन्तरङ्ग शत्रुओ पर जब विजय प्राप्त करेगा तब वास्तविक जितेन्द्रिय समझा जावेगा । कहा भी है—

परपरिगृहीतास्वनूढ़ासु च स्त्रीषु दुरभिसन्धि काम ।।१।।
अविचार्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतु क्रोध ।।२।।
दानार्हेषु स्वधनाप्रदानं परधनग्रहणं वा लोभ ।।३।।
दुरभिनिवेशामोक्षो यथोक्ताग्रहणं वा मानः ।।४।।
कुलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहंकारकरणं परप्रकर्षनिबन्धनं वा मदः ।।५।।

निर्निमित्तमन्स्य दुःखोत्पादनेन स्वस्यार्थ संचयेन वा मनः प्रतिरञ्जनो वा हर्षः ।६।नीतिवाक्यामृत

अर्थ—स्वस्त्री में अधिक आसक्त रहना एव विवाहित या परस्त्री की अभिलाषा करना १. काम है। अपनी तथा दूसरे की हानि का विचार न करके नाश का कारण क्रोध करना २. क्रोध है। सत्पात्र को दान न देना तथा चोरी वगैरह अन्यायों से दूसरे के धन को ग्रहण करना ३. लोभ है। दुराग्रह व हठ को न छोडना तथा न्याययुक्त बात को न मानना एव घमड करना ४. मान है। कुल शक्ति, ऐश्वर्य, सुन्दर रूप, विद्या आदि से उन्मत्त हो जाना तथा दूसरो की वृद्धि को रोकने की इच्छा करना ५. मद है। बिना कारण किसी दूसरे प्राणी को कष्ट देना तथा अपने धन के सचय से प्रसन्न होना ६ हर्ष है। इन छहो अन्तरङ्ग शत्रुओ को सदा वश मे रखने वाला ही 'वशी-जितेन्द्रिय' कहलाता है।

(१२) धर्मविधि :-

स्वर्ग और मोक्ष के सुखो को प्राप्त करने वाले सत्कर्तव्यो को 'धर्म' कहते हैं। उन कर्तव्यो का निर्देश-कथन, प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग शास्त्रों मे किया गया है, उसे धर्म-विधि या धर्म-शास्त्र कहते है, उनको सुनने वाला गृहस्थ श्रावक धर्म का अधिकारी है क्योकि बिना सत्कर्तव्यो के सुने, उनमे प्रवृत्ति किस प्रकार होगी ? और बिना सत्प्रवृत्ति के कल्याण भी नही हो सकता; इसलिये धर्म शास्त्रो का बहुश्रुत विद्वानो के मुख से सुनना आवश्यक कर्तव्य है।

(१३) दयालु :-

दु खी प्राणियो के दु खो को दूर करने की इच्छा वाले को दयालु कहते है। दयामूलो धम्मो—अर्थात् दया धर्म का मूल है। जिस के दया नही है वह जैन धर्म का धारक नही हो सकता। यदि शत्रु भी हो तो भी उस पर दया का बर्ताव करना चाहिये। दयालु के हृदय मे अन्य धर्म स्वय प्राप्त हो जाते है। कहा भी है—

"दयानदीमहातीरे सर्वे धर्मास्तृणांकुराः तस्याशोषमुपेतायां कियन्नन्दन्ति ते चिरम् ।।१।।"

अर्थ—दयारूपी महानदी के किनारे तमाम धर्म के उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच आदि अवान्तर भेद घास फूस के समान उत्पन्न हो जाते है और दयारूपी महानदी के सूख जाने पर बाकी धर्म स्वय स्थिर नही रहते नष्ट होजाते हैं कहा भी है—

न खलु भूतद्रुहां काऽपि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि ।।५।।

परत्राजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चित्तं स्वर्गाय जायते ।।६।। (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—निर्दयी मनुष्यो के कोई भी धार्मिक अनुष्ठान कल्याण करने वाले नही होते। प्राणियो की दया करने वाले दूसरे धर्म के भेदो को नही भी पालने वाले स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। और कहा भी है—

सर्वसत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम् ।।३।। (नीतिर्वाक्यामृत)

अर्थ—समस्त प्राणियो पर दया करना, धार्मिक कर्तव्यो मे प्रधान कर्तव्य है। और

सततविषयसेवाविह्वलीभूतचित्तः । शिवसुखफलदातृप्राण्यहिंसांविहाय ।।
श्रयति पशुबधादिं यो नरो धर्ममज्ञ । प्रपिबति विषमुग्रं सोऽमृत वै विहाय ।।७३।।
पशुबधपरयोषित्मद्यमांसादि सेवा । वितरति यदिधर्मं सर्वकल्याणमूलं ।।
निगदत मतिमन्तो जायते केन पुंसां । विविधजनितदु खाश्वभ्रभू निंदनीया ।।७४।।
विचलित गिरिराजो जायते शीतलोऽग्नि स्तरति पयसि शैल स्याच्छशीतलोतीव्रतेजा ।।
उदयति दिशि भानुः पश्चिमायां कदाचित्, नतु भवति कदाचित् जीवघातेन धर्म ।।७५।।

अर्थ—निरन्तर पचेन्द्रियो के विषयो के सेवन से व्याकुल चित्तवाला जो मनुष्य, मोक्ष सुख देनेवाली प्राणियो की अहिसा दया को छोड़कर जीव हिंसा को धर्म समझ कर उसमे प्रवृत होता है, वह मूर्ख अमृत को छोडकर विष जहर, पीता है। पशुबध, परस्त्री सेवन, शराब पीना, और मास खाना आदि दुष्कृत्य यदि सर्व कल्याण कारक धार्मिक अनुष्ठान कहे जावे, तो हम उनसे पूछते हैं कि मनुष्यो को नाना प्रकार के भयकर दु ख देने वाली निन्दनीय नरक पर्याय किस कारण प्राप्त होती है। एक बार कभी सुमेरु पर्वत भी चलायमान हो जावे, आग भी ठडी हो जावे, पत्थर भी पानी मे तैरने लगे, चन्द्रमा भी गरम होजाय, सूर्य भी पश्चिम दिशा मे उगने लगे, अर्थात् वे असम्भव बाते भी कदाचित् कभी एक वार हो भी जावें, किन्तु कभी भी त्रिकाल मे जीव हिसा से धर्म नही हो सकता

श्रूयतां धर्मसर्वस्वंश्रुत्वा चैवावधार्यताम् । आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।१।।

अर्थ—धर्म का सार यही है, इसे सुनकर निश्चय करो। हिंसा, विश्वासघात, धोखेबाजी, निन्दा, चुगली, असत्य भाषण आदि जिन कार्यो को अपने लिये कष्ट देने वाले समझते हो वे कार्य दूसरो के साथ मत करो, यही दयालु धर्मात्मा का लक्षण है।

दया-अनुकम्पा का लक्षण :--

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्वेष्वनुग्रह । मैत्री भावोऽयमाध्यस्थं नै. शल्यं वैरवर्जनात् ।४४६।
समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्रसा। अर्थत स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवर्जनात् ।।४५०।।

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियो मे उपकार वुद्धि रखना, अनुकम्पा दया कहलाती है। सम्पूर्ण जीवो मे मैत्री भाव रखना भी दया है द्वेप वुद्धि को छोड कर मध्यम वृत्ति धारण करना भी दया है। शत्रुता छोड देने से सम्पूर्ण जीवो मे शल्य रहित हो जाना निष्कषाय भाव हो जाना भी अनुकम्पा ही है। अनुकम्पा दो प्रकार की है। एक परानुकम्पा। दूसरी स्वानुकम्पा, समग्र जीवो मे समता भाव धारण करना पर मे अनुकम्पा कहलाती है और कांटे की तरह चुभने वाली शल्य माया मिथ्यात्व निदान का त्याग कर देना स्वानुकम्पा

कहलाती हैं। वास्तव में स्वानुकम्पा ही प्रधान है प्रधान क्यों है ? इसमें कारण का निर्देश

रागाद्यशुद्धभावानांसद्भावे बन्ध एव हि। न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेयाकृपात्मनि ।।४५१।।

अर्थ—रागादि अशुद्ध भावों के रहते हुए बन्ध ही निश्चय से होता है और उन भावो के नही होने पर बन्ध नही होता। इसलिए ऐसी कृपा आत्मा मे अवश्य करनी चाहिये। इस प्रकार कृपा एव दया जब आत्मा मे उत्पन्न हो जाती है तब उसका संसार निकट रह जाता है। इसलिए मुमुक्षु जीवो को दयालु होना अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि बिना दया के उसमे श्रावक धर्म की पात्रता नही होती है।

(१४) अघभी :—

अर्थात्—पाप भीरु। जो हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, जुआ, मास-भक्षण, मदिरापान, शिकार प्रभृति, बुरे कामो से डरता है उसे पाप भीरु व पापों से डरने वाला कहते है। जिसे यह निश्चय है कि—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्, दु खमेव वा [मोक्षशास्त्र ७ अध्याय]

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापो से इस लोक में राजदण्ड, समाजदण्ड, निन्दा आदि के कष्ट तथा परलोक में नरक निगोद गति सम्बन्धी भयानक कष्ट भोगने पड़ते है। हिसादिक पाप दु ख ही है। क्योकि इनसे भविष्य मे दु.ख होता है इसलिये दु खो के कारण होने से उपचार से दुःख रूप कहा है। इसलिये जो व्यक्ति पाप से भीरु है वह ही श्रावक धर्म का अधिकारी है।

—: श्रावकों के मूल भेद और अवान्तर भेद :—

श्रावकस्य त्रयो भेदाः पाक्षिको नैष्ठिकस्तथा, साधकस्तु तृतीय स्यात् प्रत्येकं भवति त्रिधा ।१।
पाक्षिकस्य त्रयो भेदा ब्रुवन्ति सर्वदर्शिनः, उत्तमोमध्यमश्चापि, जघन्यः पाक्षिकोमतः ।२।
जघन्य पाक्षिकश्चायं धत्ते मूलगुणाष्टकम्, जहाति सर्वमिथ्यात्वं दुर्गतिदु खदायकम् ।।३।।
श्रद्धा धत्ते जिनेन्द्रेषु, सर्वदर्शिषु पाक्षिकः, ग्रन्थेषु तत्प्रणीतेषु निर्ग्रन्थेषु सुसाधुषु ।।४।।

अर्थ—श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद हैं। इन भेदो का पहले भी उल्लेख कर आये है और प्रत्येक के उत्तम, मध्यम और जघन्य ये ३ भेद हैं। जैसे उत्तम पाक्षिक, मध्यम पाक्षिक, और जघन्य पाक्षिक आदि। अतएव ३×३=९ ये नव भेद चारित्र पालन की दृष्टि से श्रावक के सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवान् ने कहे है। इनमे जघन्य पाक्षिक उसे कहते हैं जो कि श्रावको के ८ मूल गुणो—(पाच उदम्बर फलो का तथा मद्य, माँस और मधु के त्यागने को) धारण करता है तथा दुर्गति के दु.ख देने वाले मिथ्यात्व को छोड़ देता है। तथा वीतराग, सर्वज्ञ, तीर्थङ्करो में एवं उनके बताए हुए प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप शास्त्रों में तथा बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह

रहित साधु गुरुओ में श्रद्धा रखता है। अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि होकर अष्ट मूल गुणों को धारण कर समस्त मिथ्यात्व विषय का त्याग करता है उसे जघन्य पाक्षिक कहते है।

श्रावकों के आठ मूल गुण :--

"मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चका । अष्टावेतेगृहस्थानामुक्ता मूलगुणा श्रुते ॥१॥
सर्वदोषोदयोमद्यान्महामोहकृतेर्मते । सर्वेषां पातकानां च पुर सरतया स्थित ॥२॥
हिताहितविमोहेन देहिन किं न पातकम् । कुर्यु संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥३॥
मद्येन यादवाः नष्टा नष्टा. द्यूतेन पाण्डवा, इति सर्वत्रलोकेऽस्मिन् सुप्रसिद्धं कथानकम्।४।
समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकश किल । मद्यी भवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥५॥
मद्यैकविण्दुसम्पन्ना. प्राणिन प्रचरंति चेत् । पूरयेयु न संदेहं समस्तमपि विष्टपम् ॥६॥
मनोमोहस्यहेतुत्वान्निदानत्वाच्चदुर्गते, मद्यं सद्भि सदात्याज्यमिहामुत्र चदोषकृत्।७।य ७आ.

अर्थ—मद्यत्याग—शराब का छोडना मासत्याग, मधुत्याग—शहदत्याग तथा ५ उदम्बर-फलो का त्याग,—अर्थात् बड, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर इन ५ उदम्बर फलो का त्याग–ये श्रावको के ८ मूल गुण है अर्थात् मुख्य गुण है। शराव पीने से बुद्धि पलट जाती है, अत शराबी मे तमाम अवगुण पैदा होजाते हैं। यह तमाम पापो मे महान् पाप हैं। शराबी मनुष्य के हित और अहित का ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण वे लोग संसार रूपी वन मे भ्रमण कराने वाले कौन २ से पापो में प्रवृत्त नही होते ? अर्थात् सभी पापो में प्रवृत्त हो जाते है। शराब पीने से यदुवशी नष्ट हुए और जुआ खेलने से पाण्डव लोग नष्ट हुए, यह इतिहास सर्वत्र लोक मे प्रसिद्ध है। अनेक त्रसजीव शराव मे उत्पन्न होते है और नष्ट होते रहते है और शराव रूप हो जाते हैं। वह शराव पीने से कुछ समय पश्चात् मन को विक्षिप्त कर देती है। शराव की एक बिन्दु मे उत्पन्न हुए जीव निकल कर यदि उडने लगे तो उनसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ये तीनो भर जाय, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नही। शराब मन को विक्षिप्त करने वाली और दुर्गति-नरक, निगोद मे ले जाने वाली है। इसलिये सत्पुरुषो को शराब पीना छोड़ देना चाहिये। क्योकि उसके पीने से दोनो लोक बिगडते हैं। अर्थात् इस लोक और परलोक दोनो लोको मे शरावी को महा भयकर कष्ट उठाने पड़ते है। कहा भी है—

पानशौण्डश्चित्तभ्रमात् मातरमप्यभिगच्छति [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—शरावी मनुष्य मानसिक भ्रम के कारण अपनी माता को भी सेवन करनें मे तत्पर हो जाता है। अर्थात् शरावी चित्त भ्रम के कारण जब माता तक को भी नही छोडता, तो परस्त्री आदि मे रमण करना तो उसके लिये साधारण सी बात है। कहा है—

"पीतेयत्र रसांगजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः,कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च।
तन्मद्यं व्रतयन्नधूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदम् तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति।५।

अर्थ—जिस शराब के पीने के बाद ही उस मद्य के रस मे पैदा हुए अनेक जीवो के समूह उसी समय मर जाते हैं तथा काम, क्रोध, भय, भ्रम अर्थात् मिथ्याज्ञान अथवा चक्र के सदृश शरीर का घूमना, अभिमान, हास्य, अरति, शोक आदि, निन्द्य एव पाप बढाने वाले परिणाम उत्पन्न हो जाते है। जो इस शराब का त्याग करता है 'वह धूर्तिल' नामक चोर के समान विपत्ति को प्राप्त नही होता और जो इसे पीता है वह 'एकपाद' नामक सन्यासी के समान अनेक दुराचारो मे फस कर नरकादिक दुर्गतियो मे डूब जाता है। उसके पीने वाले **एकपाद संन्यासी** के समान कष्ट पाते है। उसकी कथा इस प्रकार है। चक्रपुर नामक नगर मे एकपाद नाम का एक सन्यासी रहता था। वह वहा से गङ्गा में स्नान करने के लिये जा रहा था। वह चलते २ विन्ध्याटवी समीपवर्ती एक ऐसे स्थान मे पहुच गया जहा सस्त्रीक मास भक्षी एव मद्य पायी बहुत से भील रहते थे। उन भीलो ने इस सन्यासी को बाध कर आग्रह पूवक कहा, कि तुम शराब, मास, या परस्त्री इनमे से किसी एक का सेवन करो, अन्यथा मौत के घाट उतार दिये जाओगे। गुड, पानी, मउआ आदि वस्तुओ से शराब तैयार की जाती है सो यह चीज विशुद्ध ही है। ऐसा विचार कर अत्याग्रह करने पर उसने शराब पीली उसके पीने पर उसका मन ठिकाने न रहा। उसने लगोटी को भी छोड दिया और नगा होकर खूब नाचने कूदने लगा। तथा भूखे होने के कारण मास भी खा लिया। और फिर काम पीडित उसने चाण्डालिनी का भी सेवन कर लिया। ऐसा करने से उसे नरक जाना पड़ा एव घोर यातना (कष्ट) सहने पडे। इसी प्रकार जो शराब पीना छोड़ देता है वह **धूर्तिल** नामक चोर के समान सुखी हो जाता है। उसकी कथा इस प्रकार है—वलभी नाम की नगरी मे धूर्तिल, करवाल, शारद, कुकलास आदि ५ महा भयङ्कर चौरकलापारङ्गत चोर रहते थे। एक दिन अमावस्या की रात में बड़ी भारी वर्षा हो रही थी। उस समय इन सभी ने उक्त नगरी में खूब धन चुराया। और उसका बटवारा गाव के बाहर करने बैठे। इन्होने खूब शराब पी रखी थी जिससे बुद्धि बिगड़ी, अतएव आपस में धन के लिये खूब लट्ठालट्ठी, मुक्कामुक्की, मारा मारी हुई जिससे धूर्तिल को छोड़ कर सब मर गये। धूर्तिल ने वन मे ध्यानस्थ एक मुनिराज के दर्शन किये। ध्यान करने के पश्चात् मुनिराज ने उपदेश दिया। उनके पास धूर्तिल ने शराब पीना छोड़ दिया। उक्त व्रत के ग्रहण करने से उसकी बुद्धि ठिकाने आगई जिससे वह सासारिक विषय छोड़कर मुनि हो गया और तपश्चर्या के द्वारा कर्म समूह को दग्ध कर शिव पद पाया। कहा भी है—

"चित्तभ्रमेणमत्तोऽसौ कान्यकार्याणि नादरेत्" [धर्म सग्रह श्रावकाचार]

अर्थ—शराबी उन्मत्त पुरुष चित्त की भ्रांति से किन २ अनर्थों में नहीं फंसता ? इसलिये सुख के इच्छुक व्यक्ति को, समस्त अनर्थो की मूल शराब अवश्य त्याग देनी चाहिये।

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्, मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।६३।

अर्थ—शराब पीने से घमड, डर, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध, आदि जो कि हिसा के नामान्तर है उत्पन्न हो जाते है। उल्लिखित ये सब मदिरा के साथी ही हैं।

मद्यं मोहति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्, विस्मृतधर्माजीवो हिंसामावशङ्कमाचरति।६२।

अर्थ—शराब मन को बेहोश एव मोहित कर देती है और विक्षिप्त मन वाला व्यक्ति धर्म को भूल जाता है और धर्म को भूला हुआ जीव, निडर होकर हिंसा मे प्रवृत हो जाता है। और भी कहा है—

विह्वल स जननीयति प्रियां, मानसेन जननीं प्रियीयति ।
किंकरीयति निरीक्ष्य पार्थिवं, पार्थिवीयति कुधी स किंकरम् ।।३।।
मंक्षु मूर्च्छति विभेति कंपते, पूत्करोति रुदिति प्रच्छर्दति ।
खिद्यते स्खलति वीक्षते दिशो, रोदिति स्वपिति जक्षितीर्ष्यति ।।५।।
गायति भ्रमति वक्ति गद्गद, रौति धावति विगाहते क्लमं ।
हन्ति हृष्यति च बुध्यते हित, मद्यमोहितमतिविषीदति ।।८।।
तोतुदीति भविन सुरारतो, वावदीति वचनं विनिंदितम् ।
मोमुषीति परवित्तमस्तधी, बोंभुजीति परकीयकामिनीम् ।।६।।
नानटीति कृतचित्रचेष्टितो, ननमीति पुरतो जनं जन ।
लोलुठीति भुविरासभोपभी रारटीति सुरया विमोहितः ।।१०।। (अ० श्रा० अ ५)

अर्थ—शरावी पुरुष विह्वल हुआ स्त्री को माता के समान, और माता को स्त्री के समान मानता है। और राजा को नौकर के समान, तथा नौकर को राजा के समान मानता है ।३। शरावी शीघ्र ही वेहोश हो जाता है, डरता है कापता है, पूत्कार करता है, रोता है, उल्टी कर देता है, दु खी होता है, लडखडाता है और चारो तरफ दिशाओ को देखता है। कभी रोता है, कभी हसता है तथा कभी दूसरो से ईर्ष्या करने लगता है ।५। कभी गाता है, घूमता है, एव अस्पष्ट वकवाद करता है, चिल्लाता है, भागता है, कादे मे फस जाता है, मारता है, खुश होता है, अपने भले को नही समझता, और विषाद को प्राप्त होता है ।८। शरावी ससारी जीवो को कष्ट पहुचाता है और निन्द्य वचन वोलता है दूसरो के धन को चुराता है और परस्त्री का सेवन करता है ।६। शरीर से अनेक प्रकार की कुचेष्टाएं बनाकर नाचता है, हर एक आदमी के पैरो मे वार २ धोक देता है। मिट्टी तथा [illegible] लोट जाता है और अनेक प्रकार के शव्द करता है तथा चिल्लाता है ।१०।

—: आगे मद्य निषेधक जैनेतर प्रमाण :—

गौडो पेष्टि च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमै ।९४।
यस्यकायगत ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् । तस्यव्यपैति ब्रह्मण्यं शूद्रत्वं च गच्छति।९७।म.११अ.

अर्थ—गौडी, पेष्टी और माध्वी तीन प्रकार की सुरा जाननी चाहिये, और इन तीनो मे जैसी एक तैसी सब । इसलिये द्विजोत्तमो को नही पीनी चाहिये । जिस ब्राह्मण के देह मे जीवात्मा एक बार भी मद्य से भीगता है (अर्थात् जो ब्राह्मण एक बार भी मद्य पीता है) उसका ब्राह्मणत्व जाता रहता है और वह शूद्र हो जाता है । और भी कहा है—

विक्रीणन्मद्यमांसानि ह्यभक्षस्य च भक्षणम् । कुर्वन्नगम्यागमनं शूद्रः पतति तत्क्षणात् ।।७३।।

अर्थ—शूद्र भी यदि मद्य मास को बेचता हो, अभक्ष्य पदार्थो को खाता हो और निषिद्ध स्त्रियो का सेवन करता हो तो वह भी पतित हो जाता है । और भी कहा है—

ब्रह्महा च सुरापायी, स्तेयी च गुरुतल्पगः । महान्ति पातकान्याहुस्तत्संसर्गी च पंचमः ।।७२।।

अर्थ—ब्रह्म का घात करने वाला, मदिरा पीने वाला, चोरी करने वाला और गुरु स्त्री से सभोग करने वाला, ये चारो महा पातकी हैं और जो इनसे ससर्ग करता है वह पाचवा भी महापापी है । और भी कहा है—

"मूलं समस्तदोषाणां मद्यं यस्मादुदीरितम् । तस्मान्मद्यं न पातव्य धार्मिकेण विशेषतः ।।"

अर्थ—मदिरा समस्त दोषो की जड है, इसलिये धर्मात्माओ को मद्य कदापि नही पीना चाहिये ।

(२) मांस भक्षण निषेध :—

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् । मासं भजतस्तस्मात्प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ।
यदपि किल भवति मांसं, स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादिः ।
तत्रापि भवति हिंसा, तद । श्रितनिगोदनिर्मथनात् ।।६६।। [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—द्वीन्द्रियादि त्रस जीवो के घात हुये बिना मास उत्पन्न नही होता, अतः जो मास भक्षी होगा वह मास के लिये त्रस जीव को अवश्य मारेगा । यदि यहा पर यह पूछा जावे कि जो किसी जीव को न मारकर बिकता हुआ मास खरीद लावे अथवा कोई बैल, भैसा आदि जीव स्वय ही मर गया हो तो उसके खाने मे क्या दोष है ? इसका उत्तर यह है कि मोल लाये हुए या स्वय मरे हुए भैसे आदि के माँस मे, मास की कच्ची व पक्की [अग्नि मे पकाई] तथा पकी हुई पेशियो [बोटियो] में भी जिस जीव का वह मांस है उसी जाति के वैसे ही आकार और उतनी इन्द्रियो के धारक बहुत सूक्ष्म-छोटे, आकार वाले सम्मूर्छन निगोदो (कीटो व कीड़ो) की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है । इसलिये किसी प्रकार के भी मास खाने में हिंसा का बचाव नही हो सकता । यदि यह शङ्का की

जावे कि हर एक जीव के शरीर को ही मास कहते है तो व्रती श्रावक वृक्षो के आम्र, निम्बू आदि फलो व अन्नो एव हरे सागो को क्यो खाते है ? इसका समाधान करते है—

:- फलादि में मांस भक्षण का दोष नहीं -

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्नवा मांसम् । यद्वन्निम्बोवृक्षो वृक्षस्तु भवेन्नवानिम्ब ।। य प पृ

अर्थ—जो मास होता है वह तो जीव का शरीर ही होता है, परन्तु जीव का शरीर मास होता भी है और नही भी होता है । जैसे कि जो नीम है वह तो वृक्ष अवश्य है किन्तु सब वृक्ष निम्ब (नीम) ही हो ऐसा नही है। वृक्ष नीम से भिन्न भी हो सकते है ।

भावार्थ—नीम और वृक्ष के परस्पर व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है, जो व्यापक होता है वह सब व्याप्यो मे रहता है इसलिये वृक्ष पना नीम मे ही नही किन्तु केला, सन्तरा, बड, पीपल, आम्रादि सब मे रहता है, और नीम वृक्ष होकर भी नीम मे ही रहता है । इसी तरह जीव शरीर तो व्यापक होने से सबमे रहता है और मास शब्द का व्यवहार केवल त्रस जीव के शरीर मे ही रहता है । इसलिये स्थावर एकेन्द्रिय वनस्पति रूप शरीर में मास शब्द का व्यवहार एव मास भक्षण का दोष नही है । अत त्रस जीव से रहित आम्र, केलादि के भक्षण मे श्रावको को मास भक्षण का दोष नही लगता है । यहा पर कोई शङ्का करता है कि श्रावको को दूध भी नही पीना चाहिये क्योकि यह दूध गाय भैसादि के शरीर मे निकलता है । उसका समाधान करते है—

हेयं पलं पय पेयं समे सत्यपि कारणे । विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ।। य च,पृ ३,३१।।

अर्थ—यद्यपि मास और दूध एक ही गाय भैसादि के शरीर मे घास आदि के खाने से पैदा होता है, तथापि दूध तो खाने योग्य है और मास नही । जैसे धतूरे की जड़ तो शरीर की रक्षक है और धतूरे के पत्र को कोई खावे तो वह मरण को प्राप्त हो जाता है । जैन शास्त्रो मे जो मांस भक्षण की निन्दा भरी हुई है वह स्वाध्याय करने वाले व शास्त्र श्रवण करने वालो से छिपी हुई नही है ।

:-- जैनेतर शास्त्रो द्वारा मांस निषेध --

यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत । तावद्वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातका ।।१।। वि पु.

अर्थ—हे राजन् ! जो मनुष्य जिस पशु को मारता है वह उस मरे हुए पशु के शरीर मे जितने रोम हैं उतने ही हजार वर्ष पर्यन्त नरक मे दु ख भोगता है और भी है

सर्वमासानि यो राजन् ?यावज्जीव न भक्षयेत् । स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नैव संशय.।।२।।
चतुर्दश्यष्टमी चैव तथा मावाय पूर्णिमा । पवर्णयेतानि राजेन्द्र! सूर्यसङ्क्रान्तिरेव च ।।३।।
तैलस्त्रीमाससंभोगी सर्वेष्वेतेषु वै पुमान् । विण्मूत्रभोजनं नाम प्रयाति नरकं मृत ।।४।।
कि जाप्यहोमनियमैस्तीर्थस्नानै. शुभाशुभम् । यदि खादन्ति मांसानि, सर्वमेतन्निरर्थकम् ।।५।।

अर्थ—हे राजन् ! जो किसी भी जीव के मास को जीवन पर्यन्त नही खाता वह नि:सन्देह स्वर्ग मे ऊचे दर्जे का देव होता है । दो चतुर्दशी, दो अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा और सूर्य की संक्रान्ति ये सात पर्व दिवस है, इनमे जो कोई मनुष्य शरीर मे तेल की मालिश करता है, तथा स्त्री सम्भोग करता है अथवा मास भक्षण करता है वह मर कर नरक मे जाता है । विण्मूत्र-भोजन नामक नरक मे जाता है अर्थात् ऐसे नरक मे जाता है जहा विष्टा और मूत्र खाने और पीने को मिलता है ।। ३–४ ।। जो पुरुष मास खाते है, उनका जाप जपना, होम करना, नियम धारण करना, तीर्थ स्नान करना आदि शुभ कार्य करना निरर्थक है अर्थात् मास भक्षी का सब धर्माचरण निष्फल है । ५ ।

—: आगे महाभारत के प्रमाण देते हैं :—

यदि चेद्खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत् । घातक खादकार्थाय तद् घातयति वै नर· ।१।
हिसा प्रवर्तकं मांस, मधर्मस्य च वर्द्धकम् । दु खस्योत्पादक मांसं तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ।२।
शुक्रशोणितसम्भूतं, यो मासं खादते नर । जलेन कुरुते शौचं, हसन्ति तत्र देवता: ।।३।।
किं वेषलिङ्गग्रहणै, किं शिरोमुण्डनैरपि । यदि खादन्ति मांसानि, सर्वमेतन्निरर्थकम् ।।४।।
सुरा मत्स्या पशोर्मांसं, द्विजादीना बलिस्तथा । धूर्तैं प्रवर्तितं ह्येयं, तन्न वेदेषु कथ्यते ।५।

अर्थ—यदि कोई मास खाने वाला न हो तो कोई भी किसी बकरे मछली आदि को न मारे । मास खाने वाले के ही लिये घातक (धोवर–खटीक–कषायी) आदि पशु पक्षियो को मारता है । इस कारण मास भक्षण करने वाला ही विशेष रूप से हिंसा पाप के फल को भोगता है । १ । मास भक्षण जीव की हिसा कराने वाला है, अधर्म (पाप) को बढाने वाला है और दुर्गतियो मे ले जाकर नाना प्रकार के दु खो को देने वाला है । इस कारण मास नही खाना चाहिये ।२। जो माता पिता के रज से उत्पन्न हुए महा अपवित्र मास को खाता है और फिर जल आदि से स्नान करके पवित्र बनना चाहता है, उसे देखकर देव उसकी हसी करते है अर्थात् उसकी मूर्खता पर देवो को हसी आती है ।३। नाना प्रकार के वेषो को धारण करने से तथा अनेक लिग धारण करने से और मूड मुडाने से कुछ भी प्रयोजन नही, क्योकि मास खाने वालो को इन वेष आदि को धारण करना व्यर्थ है ।४। भावार्थ–मास भक्षी का साधु व तपस्वी होना व्यर्थ है । मदिरा पीना, मछली खाना, पशु का मांस खाना और देवो को बलिदान करना, इत्यादि बाते धूर्तो ने चलाई है । वेदो मे ऐसा कभी भी नही कहा है । ५ । **आगे मनुस्मृति के प्रमाण देते हैं**

मांस भक्षयिताऽमूत्र,यस्यमांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं,प्रवदन्ति मनीषिण: ।५५।

अर्थ—जिसका मास मैं यहा खाता हू वह परलोक मे मुझे खायगा । इस प्रकार

ज्ञानी पुरुष मांस शब्द का आशय प्रगट करते है। भावार्थ—'मां' मुझको 'स:' वह खाता है यह मांस शब्द का शब्दार्थ है।

—: मधु निषेध व मधु की उत्पत्ति :—

मधु मक्षिका (शहद पैदा करने वाली मोहल की मक्खिया) अपने रहने के लिये छत्ता बनाती हैं, वे सारे दिन इधर से उधर वृक्षो के फूल, पत्ते, मिष्टान्न, विष्टा, रुधिर, मास आदि में से रस चूस २ कर छत्ते मे आती है। और उस पीये हुए रस को मुख मे से उगलती हैं और इसी छत्ते मे टट्टी, पेशाब करती है। तथा इसी छत्ते मे हजारो लाखों छोटी२ नई पैदा होने वाली मक्खियो के समूर्छन शरीर के परमाणु जिन्हे लोग अंडे कहते है, और इन्ही मे से उत्पन्न हुई छोटी २ मक्खिया भी इसी छत्ते मे रहती है। शहद निकालने वाले भीलादि हिंसक जीव इन मक्खियो के छत्ते को धुवा वगैरह देकर के तोड लेते है। फिर उस छत्ते को गाढे कपडे मे रख कर खूब मरोडी देकर निचोड़ लेते है। जो रस निकलता है वह तो शहद कहलाता है। और जो कपडे मे कस रह जाता है उसका मोम हो जाता है। ऐसा करने से मक्खियों और जीवो की जो हिंसा होती है वह तो प्रत्यक्ष ही है। परन्तु जैसे मदिरा मे रसज जीवो की उत्पत्ति होती रहती है उसी प्रकार इस मधु मे भी असख्यात सूक्ष्म त्रस जीव समय २ मे पैदा होते रहते हैं और मरते रहते है। अत शहद के बनने और बने हुए शहद के लिये मास मदिरा के समान इसके खाने आदि का पूर्ण रूप से निषेध किया है। इसके लिए अनेक ग्रन्थो मे प्रमाण—

मक्षिकागर्भसंभूत, बालाण्डनिपीडनात्। जात मधु कथ सन्त, सेवन्ते कललाकृति ॥

अर्थ—मक्खियो के बीच मे पैदा हुए छोटे २ बच्चो और अडो के निचोड़ने से पैदा हुए और कलल (वीर्य और रुधिर के मैल से जो शरीर बनने के लिये उपादान कारण रुप द्रव पदार्थ स्त्री के गर्भाशय मे बनता है उसे कलल कहते है) उसके समान मधु को आश्चर्य है कि न मालुम जैनेतर कुल वाले भी समझदार मनुष्य कैसे खाते है? उनके धर्म ग्रन्थो मे भी तो निषेध ही किया है। आगे और भी कहते है—

दट्ठूण असणमज्झे, पडिय जइ मच्छियंपि णिठिवई।
कह मच्छियड याणं, णिज्जास णिग्घिणो पिवच ॥ ८१ ॥ (व० श्रा०)

अर्थ—जिस भोजन मे मक्खी पड़ी हुई है उस भोजन को अच्छे मनुष्य छोड देते है। और हजारो लाखो मक्खियो के अण्डो से निचोड कर निकाले हुए मधु को न मालूम लोग विना घृणा (ग्लानि) के कैसे पीते है।? और भी कहा है—

लोगे विसुप्पसिद्धं, वारह गामाई जो दहई अदऊ।
तत्तो सो अहियपरो, पाविट्ठो जो महुं हणई॥ ८३ ॥ [व० श्रा०]

अर्थ—लोक में भी यह बात खूब प्रसिद्ध है कि जो निर्दयी बारह गाँवो को जलाता है उससे भी अधिक पापी वह है जो शहद के छत्ते को तोडता है ।

म्लेच्छलोकमुखलालयाविलं, मद्यमांसचितभाजनस्थितम् ।
सारघं गतघृणस्य खादत., कीदृशं भवति शौचमुच्यताम् ।।२६।।
योऽस्ति नाम मधुभेषजेच्छया, सोऽपि याति लघुदु खमुलवणम् ।
किं न नाशयति जीवितेच्छया भक्षितं झटिति जीवितं विषम् ।।३२।। [अ श्रा ५ सर्ग.]

अर्थ—चाण्डाल भीलादि के मुखो की लाला सहित तथा मदिरा व मास खाने के पात्रो में धरे हुए शहद को जो मनुष्य ग्लानि रहित होकर खाते है, उनके बताओ कौनसा शौच, पवित्रपना है । जो मनुष्य औषधि के अनुपान मे भी जरा सा शहद खाता है वह भी परलोक मे घोर दु ख पाता है । क्या जीवन के लिये खाया हुआ जहर झटपट जीवन को नष्ट नही करता ? **जैनेतर शास्त्रों से मधु का निषेध—**

यो ददाति मधु श्राद्धे मोहितेधर्मलिप्सया, स याति नरक घोर, खादकै सह लम्पटै ।१।म०

अर्थ—जो कोई अज्ञानी पुण्य होने की इच्छा से श्राद्ध मे ब्राह्मणो को मधु देता है अर्थात् शहद खिलाता है वह जिह्वा लोलुपी खाने वालो के साथ नरक मे जाता है ।

मेदमूत्रपुरीषाद्यै: रसाद्यैर्वधित मधु । छर्दिलालामुखस्रावै. भक्ष्यते ब्राह्मणै. कथम् ।२। ना०

अर्थ—मक्खियो ने जिस मधु को चर्बी, मूत्र, विष्टा, फूल आदि के रस को चूस २ कर वमन आदि से पैदा किया है और बढाया है ऐसे अपवित्र मधु को ब्राह्मण लोग कैसे खा सकते है ? और भी कहा है—

सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते, तत्पाप जायते जन्तो, मंधु विन्द्वेकभक्षणात् ।३।ना.

अर्थ—सात ग्रामो के जलाने मे जितना पाप लगता है, उतना पाप शहद की एक बूंद के खाने मे लगता है ।

मधुमांसाँजन श्राद्धं, गीतं नृतं च वर्जयेत् । हिंसां परापवादं च, स्त्रीलीलां च विशेषत. ।१३।

अर्थ—मधु (शहद अधिक मीठा पदार्थ व मदिरा) मास, अजन, श्राद्ध का भोजन, गान, नाच, परनिन्दा, और विशेष कर स्त्रियो की लीला को त्याग देना चाहिये ।

वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च । भूस्तृणां शिग्रूकं चैव श्लेष्मांतकफलानि च ।१४।

अर्थ—मधु, मांस, कवक (साप की छत्री) भूस्तृण (एक घास) सहजना और श्लेष्मातक (ल्हिसोडे) इन सबको न खावे । **उदुम्बरादि पाँच फलो का त्याग :—**

पिप्पलोदुम्बरप्लक्ष,वटफल्गुफलान्यदन्, हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्का,ण्यपि स्वं रागयोगत.।१३।सा

अर्थ—जो पुरुष पीपल, उदम्बर, (गूलर) वट (बड) प्लक्ष (पिलखन) और फल्गु-अजीर, इन पाच वृक्षो के हरे पक्के फलो को खाता है वह तो त्रस जीवो का घात

करता है और जो सूखे फलो को खाता है वह अभक्ष्य पदार्थ में राग होने के कारण हिंसा द्वारा अपना घात करता है। यदि इनमे से किसी के पक्के फल को तोड कर ध्यान से देखा जावे तो सैकडो व हजारो सूक्ष्म त्रस जीव उडते हुए दृष्टिगल होगे। त्रस जीव के कलेवर की मांस सज्ञा है। और इन फलो मे नियम से त्रस जीव रहते है। इसलिये आचार्यो ने मास त्याग के साथ २ इन पाँचो फलो का भी त्याग कराया है। अन्य बहुत से हरे फल, पुष्पादि जिनमे त्रस जीव न हो व साधारण हों तो भी सूख जाने से प्रासुक व भक्ष्य बन जाते हैं। परन्तु उक्त पाचो फलो को तो सूखे हुए खाने का भी निषेध है। और कहा है—

यानि तु पुनर्भवेयु, कालोच्छन्नत्रसानि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा, विशिष्टरागादि रूपा स्यात् ॥७३॥ (पु० सि०)

अर्थ—जिन उदम्बरादि पच फलो मे से कभी काल पाकर कुछ त्रस जीव उड जावे और वे फल सूख भी जावे तो भी उनके खाने मे तीव्र हिसा होती है।

"**स्थूला सूक्ष्मास्तथा जीवा, सन्त्युदम्बरमध्यगा। तन्निमित्तंजिनैरुक्तं, पंचोदुम्बरवर्जनम्।१।**

अर्थ—पाच उदम्बर फलो का बड पीपल पाकड उम्बर कटूम्बर-अजीर और गूलर यह पांचो ही फल एक समान जाति वाले है अर्थात् दोष की अपेक्षा समान है। इनमे चक्षु से दृष्टिगत होने वाले त्रस जीव रहते है अतः सबसे प्रथम इनको त्यागना चाहिये। क्योकि उनके खाने मे मास भक्षण का दोष है और मास भक्षी जैन नही हो सकता। इस कारण जिनेन्द्र देव ने सर्व प्रथम इनका त्याग बताया है। और भी कहा है—

—: पंचोदुम्बरो में भ्रम :—

कही २ भाषा शास्त्रो मे ऊमर, कठूमर, बड, पीपल, ये पाच नाम दिये हुए है। परन्तु कठूमर शब्द का अर्थ कोई २ जैन काठ फोड कर निकाला हुआ फल करते है। किन्तु सस्कृत प्राकृत शास्त्रो मे कही भी ऐसा कथन नही मिला। फल्गुका कोटुम्बिरका मजुल मलयू जघने फला, इन शब्दो को सस्कृत के कोषो और वैद्यक के निघटुओ मे देखा तो ये सब अजीर के ही नाम मिले, अंजीर के वृक्षो मे दूध भी होता है। इसलिये अजीर को ही उदम्बरादि पाच फलो मे समझना चाहिये ये अजीर हरे तो बाजार मे बाग के माली बेचा करते है। और पसारियो कठालियो के यहा मेवा की चीजो मे रस्सी मे पुए हुए माला की तरह रहते है। हकीम व वैद्य पौष्टिक ताकत की तथा जुलाव दस्तावर की दवाइयो मे इनको देते है और स्वरूप समझे विना, जैन लोग इनको खाते है। सस्कृत मे काकोदुम्बरिका काकोदुम्बर शब्द का काष्टोदुम्बर और काष्टोदुम्बर का बिगड़ कर अपभ्रंश रूप कठूमर बन गया है। और कठूमर शब्द का भाषावालो ने अटकल पच्चू काठ फोड कर निकलने वाला अर्थ कर लिया है। परन्तु ये सब भ्रम है हमने बहुत छान बीन

करही उदुम्बरादि ५ फलों में अंजीर को शामिल किया है। प्लक्ष इस संस्कृत शब्द का अपभ्रंश रूप पिलखन शब्द बनता है। तथा पर्कटी शब्द से पाखर बनता है, असल में सस्कृत मे इस वृक्ष के प्लक्ष, पर्कटी और जटा ये तीन नाम है। पिलखन का वृक्ष पीपल जैसा ही बडा होता है, और इसके पत्ते जामुन वृक्ष के पत्ते जैसे लम्बे और कुछ चौडे होते है। सहारनपुर आदि स्थानों मे इसके वृक्ष है, इसमें पीपल की तरह दूध निकलता है। और इसके फल भी पीपल के फल जैसे गोल और छोटे होते है जो पीपल के फल की भीतरी हालत है वही इस पिलखन के फल मे है। अत. पच उदम्बरादि फलों के त्यागियों को नि·सन्देह बड के फल (बड वाले) पीपल के फल (गोल) उदुम्बर (गूलर) काकोदुम्बर (अजीर) और प्लक्ष (पिलखन या पाखर) इन पाचो वृक्षो के फलो का ही त्याग करना चाहिये। कितने ही श्रावक जिन वृक्षो मे दूध होता है उन वृक्षो का फल खिरनी, करोंदा, अरण्ड काकडी, आदि को पचोदुम्बरो मे गिनती कर बैठते है। परन्तु सस्कृत श्रावकाचारों मे कही भी ऐसा नही लिखा है। कहा भी है—

तत्रादौ श्रद्दधज्जैनी, माज्ञा हिंसामपासितु । मद्यमांसमधून्युज्भेत् पंचक्षीरफलानि च ।२।

अर्थ—इस सागार धर्मामृत के श्लोक की टीका मे पण्डित आशाधरजी ने लिखा है कि देशव्रत को धारण करने के लिये सन्मुख हुआ श्रावक मद्य, मास, मधु और दूध वाले पीपल आदि पाच उदुम्बर फलो को तथा च शब्द से नवनीत (मर्यादा के बाहर लूणिया) रात्रि भोजन और बिना छाना पानी आदि का त्याग कर देवे, यहा पर दूध वाले समस्त वृक्षो का ग्रहण न करके केवल वट पीपल आदि ५ वृक्षो का ही नाम लिया है। क्योकि जिनमे नियम से उत्पत्ति के साथ त्रस जीव होते है। ऐसे अभक्ष्य तो केवल पाच ही फल है अन्य नही है। इसी प्रकार कितने ही श्रावक कठूमर शब्द काठ फोड कर निकलने वाला अर्थ करके काठ फोड कर निकलने वाले कटहल आदि के फलो को भी ग्रहण करते है। सो यह भी भ्रम है क्योकि कठूमर का अर्थ अजीर ही है। यदि काठ फोड कर निकलने वाले सभी फल अभक्ष्य माने जावे तो आवला भी अभक्ष्य हो जावेगा, क्योकि इसके फल नही आते है और ये फल टहनियो की लकडी में से ही निकलते है, और आवले को कभी भी अभक्ष्य नही माना, और पक्के हुए आवले मे साधारणता त्रस सयुक्तता का कोई भी लक्षण नही मिलता है। आगे जैनेतर शास्त्रो से उदुम्बर का निषेध बताते है—

उदुम्बरं कपित्थ च, तथा दन्तशठ च यत् । एवमादीनि देवाय, न देयानि कदाचन ॥१॥

अर्थ—गूलर का फल, कपित्थ (कैथ) का फल और दन्त शठ (जससे दांत सठिया जावे) ऐसी कोई वस्तु ये सब श्रीकृष्ण के भोग में कभी न देवे। कहा भी है—

"उदुम्बरमलाबू च जग्ध्वा पतित वै द्विज" (कर्मपुराण)

अर्थ—उदुम्बर (गूलर) और अलाबू (तूंबी व घिया) को खाकर ब्राह्मण पतित हो जाता है अर्थात् शूद्र सदृश बन जाता है। आगे जैन शास्त्रो में मद्य मांसादि की निन्दा दिखाते हैं—

कांक्षाकृन्नवनीतमक्षमदसृण्मांसं प्रसङ्गप्रदं। मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यद्यच्च चत्वार्यपि ।।
सम्मूर्छालसवर्णजतुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रियां।
हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकै ।।२८।। (अ० ध० अ० ७)

अर्थ—नवनीत खाने से विषय सेवन की बार २ इच्छा होती है। मास भक्षण से पाचो इन्द्रियो मे मद (बल) की वृद्धि होती है। मदिरा पान से मनुष्य पुन पुन स्त्री सेवन अथवा अगम्य-निषिद्ध, स्त्रियो मे गमन करता है। और मधु खाने से मधु के रस के खाने की इच्छा रूप इन्द्रियसयम और रसज जीवो की हिंसा रूप प्राण सयम होता है। ये चारो सम्मूर्छन एव नवनीतादि जैसे ही वर्ण वाले त्रस जीवो से भरे हुए है, और मन मे अनेक प्रकार के विकारो को उत्पन्न करने के कारण महाविकृति रूप है। अत धार्मिक पुरुषो को ये चारो ही त्यागने योग्य है।

—: जैनेतर ग्रन्थो से मद्य मांसादि का निषेध :—

लाक्षालवणसंमिश्रं, कुसुम्भं क्षीरसर्पिष। विक्रेता मधु मांसानां, स विप्र. शूद्र उच्यते ।।

अर्थ—जो लाख, लवण, कसूमा, दूध, घी, शहत, और मास का बेचने वाला ब्राह्मण है वह शूद्र कहलाता है।

मद्ये मांसे मधूनि, च नवनीते बहिर्गते। उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते, असंख्या जीवराशयः।। नाग.

अर्थ—मदिरा, मास, शहद और छाछ (मट्ठे) मे से निकाले हुए नवनीत (लूणिया वा मक्खन) मे असख्यात जीवो का समूह उत्पन्न हो होकर मरता रहता है। कहा है—

न ग्राह्याणि न देयानि, षड्वस्तूनि सुपण्डितै। अग्निमधु विषं शस्त्रं, मद्यं मांस तथैव च ।।

अर्थ—विद्वानो को उचित है कि वे अग्नि, शहद, जहर शस्त्र (हथियार) मदिरा और मास ये छ प्रकार की चीजे न किसी से लेवे, और न किसी को देवें। उक्त प्रकार से मद्य, मास, मधु और उदुम्बरादि ५ फलो के त्याग रूप आठ मूल गुणो का वर्णन करके अब जो अष्ट मूल गुणो मे आचार्यो का मत भेद विवक्षा कृत है उसे दिखाते हैं—

—: आठ मूल गुणो मे मतभेद :—

मद्यमांसमधुत्यागैः, महाणुव्रतपञ्चकम्। अष्टौ मूलगुणान्याहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमा ।।६६।।

अर्थ—मद्य, मास और मधु के त्याग के साथ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसतोष, और परिग्रह परिमाण इन पांच अणुव्रतो को धारण करना। इस प्रकार गृहस्थो के आठ मूल गुण आचार्यों ने बतलाये है।

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।

द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरति गृहिणोऽष्टसंत्यमी मूलगुणा ।। (आदि पुराण)

अर्थ—भगवज्जिनसेनाचार्य उक्त श्लोक द्वारा यह कथन करते है कि स्थूल हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाच पापो और द्यूत–जूआ खेलने तथा मांस खाने एव मदिरा पीने के त्याग करने रूप श्रावक के आठ मूल गुण है। इनमे मधु को मास में गर्भित करके उसकी जगह द्यूत का ग्रहण किया है।

मद्योदुम्बरपञ्चकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिना ।

नक्तं भुक्तिविमुक्तिराप्तविनुतिस्तोयं सुवस्त्रस्रुतम् ।।

एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरै रागारिणां कीर्तिता ।

एकेनाप्यमुना विना यदि भवेद् भूतो न गेहाश्रमी ।।१।। (सा ध टी.श्लो.१३अ २)

अर्थ—उक्त श्लोकानुसार मद्य, मास, मधु और उदुम्बर पचक के त्याग रूप ४ मूल गुणो मे जीवो की दया करना, रात्रि भोजन त्याग करना, मजबूत गाढे वस्त्र से छना हुआ जल पीना, और सर्वज्ञ देव वीतराग को नमस्कार करना, इन चार गुणो को मिलाकर श्रावक के ८ मूल गुण बताये है। यदि कोई पुरुष इन आठ मूल गुणो मे से १ गुण को न पालता हो तो वह पुरुष श्री जिनोक्त गृहस्थ धर्म का पालक नही है।

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं, क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।

कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधा, स्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ।।१।। (अ०श्रा०५परि)

अर्थ—इस श्लोक द्वारा यह कहा गया है कि जो ज्ञानी व्रतो को धारण करना चाहता है वह पहले मद्य, मास, मधु, रात्रि भोजन और उदुम्बरादि पाच फलों का मन, वचन और काय से त्याग करे। क्योकि इनका त्याग करने से व्रतो की पुष्टि होती है अर्थात् अहिसादि पाच अणुव्रत पाले जा सकते है। श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आदि पुराण, चारित्रसारादि कुछ ग्रन्थो मे तो अहिसादि पाच अणुव्रतो को मूल गुणो मे लिया है और वसुनन्दी उपासकाध्ययन, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, यशस्तिलक, उपासकाचार, अमितगति श्रावकाचार, लाटी सहिता आदि मे गृहस्थ धर्म का कथन करने वाले अधिकाश शास्त्रो में पाच अणुव्रतो के स्थान मे उदुम्बरादि पाच फलो का त्याग कराया गया है श्री प० आशाधरजी ने सब आचार्यो के मतो को दिखा कर किसी भी मत का खण्डन व मण्डन न करके यही कहा है कि प्रतिपाद्य के अनुरोध से अर्थात् जो श्रावक जैसे मूल गुणों के धारण करने की योग्यता रखते हो उनको वैसा ही उपदेश देना, इस दृष्टि से आचार्यों के अनेक प्रकार के उपदेश है, तथापि उसमे सूत्र से व आगम से कोई भी विरोध नही है, क्योकि जो हेय वस्तु है उसी का सबने त्याग कराया है, ऐसा कह कर मध्यस्थता धारण की है। सो ठीक

ही है क्योकि मान्य आचार्यो के उपदेश मे किसी को प्रमाण तथा किसी को अप्रमाण कह देना छद्मस्थ की बुद्धि के बाहर की बात है । आगे श्रावक के शुद्ध सम्यग्दृष्टि नामक भेद को ११ भेदों (श्रेणियो) से पृथक माना है—उसको सप्रमाण दिखाते हैं ।

तेणु व इट्ठो धम्मो संगा सत्ताण तह असंगाणं पढ़मो बारह भेयो दस भेओ भासिओ विदिओ।

—: विवरण .—

श्री सर्वज्ञदेव ने गृहस्थ और निर्ग्रन्थो का जो धर्म कहा है, उसमे पहिला श्रावक धर्म तो १२ प्रकार का है और दूसरा मुनि धर्म १० प्रकार का है । इस गाथा के आगे जो श्रावक के १२ भेद दिखलाये है उनमे ११ भेद तो प्रतिमा रूप हैं, और दर्शन प्रतिमा के पहले एक भेद शुद्ध सम्यग्दृष्टि को जुदा माना है, जिसमे २५ दोष रहित सम्यग्दर्शन पालने की मुख्यता दिखलाई है । पं० आशाधरजी ने पक्ष, चर्या, और साधक, ये तीन भेद दिखला कर, अहिंसा रूप पक्ष के धारक को पाक्षिक, ११ प्रतिमाओ मे चर्या (प्रवृत्ति) करने वाले को नैष्ठिक, और सल्लेखना के धारक को साधक श्रावक माना है । स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका में लिखा है कि गृहस्थो को जो हिंसा होती है, उसका वे पक्ष, चर्या, और साधकत्व इन तीनो उपायो से निराकरण करते हैं । उक्त प्रमाणो से यह सिद्ध होता है कि प्रथम दर्शन प्रतिमा के पहिले एक ऐसा भी श्रावक है, जो कि सम्यग्दर्शन का धारक होने से चतुर्थ—गुणस्थानवर्ती तो है, परन्तु अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से उसके प्रतिज्ञा वद्ध होकर मद्य मासादि का त्याग नही हुआ है । किन्तु सम्यग्दर्शन होने से जो अनुकम्पा गुण प्रगट हो गया है उसके प्रभाव से अथवा जैन कुल मे होने के कारण कुलाचार पालन करने रूप अपने कर्तव्य के अनुसार ही मांस भक्षणादि रूप प्रवृत्ति नही करता है । श्रावक के चतुर्थ गुणस्थानवर्ती होने के विषय मे कहा है कि—

दर्शनप्रतिमा नास्य,गुणस्थान न पञ्चमम्, केवल पाक्षिक· स. स्याद् गुणस्थानादसंयत: ।१३१।

अर्थ—इस श्रावक के न तो पहिली दर्शन प्रतिमा है और न पांचवा गुणस्थान ही है, यह केवल पाक्षिक श्रावक ही है, और असंयत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती ही है। श्रावक कुल मे जन्म लेने वाले सभी जैन, सम्यग्दर्शन के धारक हों ऐसा नियम नही, क्योकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना कोई साधारण बात नही । आज कल तो हजारों जैनो मे भी २५ दोप रहित व्यवहार सम्यग्दर्शन का पालने वाला कोई बिरला ही दृष्टि-गोचर होता है, फिर निश्चय सम्यग्दर्शन के धारक की दुर्लभता का तो कहना ही क्या है । अतः जो सम्यग्दृष्टि न होकर केवल जैन कुल मे जन्म लेने से जैन कहलाते है, उनको भी "आचारः प्रथमो धर्म " सदाचार का पालन करना गृहस्थ का सबका पहिला धर्म है अतः आवश्यक कहा है । कहा भी है—

आज्ञा सर्वविद. सैव, क्रियावान् श्रावकोमत', कश्चित्सर्वनिकृष्टोऽपि, न त्यजेत्स कुलक्रिया ।४६

अर्थ—सर्वज्ञ की यह ही आज्ञा है कि जो क्रिया का धारक होता है, वही श्रावक माना गया है । अतः जो कोई अन्य गुणों में सबसे निकृष्ट श्रावक है वह भी कुलाचार को नही छोडता है । इस लाटी सहिता के कथनानुसार कषाय का तीव्रता के कारण भावों से प्रतिज्ञा रूप त्याग न होने पर भी श्रावक को कुल परम्परा से चली आई कुछ क्रियाओं का पालन करना ही जरूरी है । इस कुलाचार की तरफ लक्ष्य रख कर (ध्यान देकर) ही वसुनन्दी आदि आचार्यो ने समस्त जैन धर्म धारको के वश मे उत्पन्न हुए स्त्री पुरुषो को साधारण रूप से पालन करने योग्य मद्य, मास मधु व उदुम्बरादि ५ फलों के त्याग रूप आठ मूल गुणो का कथन किया है । और भी कहा है—

मद्यमांसमधुत्याग, संयुक्ताणुव्रतानि नु,अष्टौ मूलगुणा पंचोदुम्बरैश्चार्यकेष्वपि ।।१६।। र मा.

अर्थ—मद्य माम और मधु के त्याग सहित पाच अणुव्रतो के पालन रूप आठ मूल गुण तो उत्कृष्टता की अपेक्षा से है, और पचोदुम्बर सहित मद्य मांस मधु के त्याग रूप ८ मूल गुण तो बालको को भी धारण कराये जाते हैं अर्थात् जब किसी जैन के बालक का जन्म होता है तब उसे १।। माह के बाद श्री जिनमन्दिरजी मे ले जाकर उसे पच नमस्कार मन्त्र सुनाया जाता है, और पचोदुम्बरादि त्याग रूप आठ मूल गुण भी धारण करा कर कुलाचार से जैन बनाया जाता है । प्रसङ्गवश यह भी समझ लेना चाहिये कि बालक को आठ वर्ष की अवस्था तक मद्य मासादि भक्षण से बचाये रहने की जिम्मेदारी उसके पालक व रक्षक माता पिता के ऊपर है । अत यदि अबोध बालक को इनका भक्षण कराया जावेगा, तो उसके माता पितादि ही विशेष पाप के भागी होगे । दूसरे बालक के संरक्षकों का यह भी खास कर्तव्य है, कि इस अवस्था मे बालक को इतना धार्मिक ज्ञान भी अवश्य करा देना चाहिये कि जिससे वह समझदार होने पर अधिक नही तो कम से कम कुलाचार के विरुद्ध मास भक्षणादि मे प्रवृत्ति तो न कर सके । अन्यथा यदि कुशिक्षा के प्रभाव से सतान कुमार्गगामिनी बन जावे तो इसमे भी सरक्षक दोष के भागी होते है । कहा भी है—

मद्यं मासं क्षौद्रं, पचोदुम्बरफलानि यत्नेन । हिंसाव्युपरतकामै, र्मोक्तव्यानि प्रथममेव ।।६१।।

इस शास्त्रोक्त स्पष्टीकरण से यह निश्चय तो हो ही गया है कि पचाणुव्रत के धारण कराने वाले मूल गुण तो प्रतिमा धारी श्रावको के लिये है । और पचाणुव्रत के स्थान मे पाच उदुम्बरादि फलो के त्याग रूप आठ मूल गुण पाक्षिक श्रावक अथवा जो जैन कुल मे जन्म लेने वाले स्त्री पुरुष है उन सबके लिये है । इनमे से अणुव्रत सहित मूल गुणो को उत्कृष्ट रूप से और जघन्य की अपेक्षा से पचोदुम्बर सहित मद्य माँस मधु के त्याग रूप मूल गुणो को माने जावे तो कोई आपत्ति नही है । रहे 'मद्योदुम्बरपचकामिष' इत्यादि श्लोकोक्त

मूल गुण, सोमध्यम श्रेणी के समझ लेने चाहिये। यहां पर इतना ही बता देना पर्याप्त है कि एक आचार्य का मन्तव्य दूसरे आचार्य से भिन्न है।

मद्यमलमधुनिशाशन, पंचफलीविरति पंचफलकाप्तनुति।

जीवदया जलगालन, मिति च क्वचिदष्ट मूलगुणा. ॥१८॥ (सा० २ अ.)

अर्थ—मद्य १ मास २ मधु ३ रात्रि भोजन त्याग ४ पचोदुम्बर फलो का त्याग ५ पंच परमेष्ठी की स्तुति ६ जीवो की दया पालना ७ और पानी छान कर पीना ८ ये आठ मूल गुण कही पर कहे हैं। यह आशाधर जी का अभिमत है। स्वामी समन्तभद्र १ जिनसेन २ सोमदेव ३ आचार्यो का जो मन्तव्य है उसको पर कह कर अरुचि प्रकट की है। इस प्रकार श्रावक के मूल गुणों का वर्णन किया। परन्तु सब आचार्यों का मन्तव्य एकसा नही मिलता, कोई अणुव्रत सहित अष्ट मूल गुण बताते है, कोई रात्रि भोजन त्याग रूप बताते है, कोई द्यूत (जूआ) त्याग रूप बताते हैं। इस प्रकार फेर फार सब मे है। परन्तु अहिंसा की पूर्ति सबका उद्देश्य है। जिस समय जिस गुण की आवश्यकता होती है वैसा ही मूलगुण वर्णन कर देते है। अहिंसा के उद्देश्य मे बाधा नही आने देते। अत. जो भी मूलगुण बताये है वे सब पूर्वाचार्यो के मन्तव्य के अनुसार ही हैं। यहा तक मूलगुणो का सामान्य रूप वर्णन किया। अब आगे अष्ट मूलगुणो के अतिचारो का वर्णन करते है—**पचोदुम्बर के अतिचार**—

सर्वं फलमविज्ञातं वार्ताकादित्वदारितम्। तद्वद्भूलादिसिम्बीश्च खादेन्नोदुम्बरव्रती ॥१४॥

अर्थ—पाच उदुम्बर के त्यागी दार्शनिक श्रावक को कोई भी अजान फल नही खाना चाहिये। विदारे बिना, भटा, कचरिया, और सुपारी आदि भी नही खाना चाहिये। तथा सेम की फली आदि को भी विना फोडे नही खाना चाहिये।

भावार्थ—त्रस जीवो से भरे हुये फलो का त्याग कर देना चाहिये। तुच्छ फलो को त्यागना, गले हुए, घुने हुए, त्रस जीवो से भरे हुए और विना जाने फलो का त्याग कर देना चाहिये। जिन फलो में छिद्र हो ऐसे फलो को भी छोड देना चाहिये। और साबुत फल (विना फोडे) जैसे नारियल, सुपारी, गोला, बेर, जामुन. और भी जैसे अजानफल, विना छना पानी, पहले छना हो फिर दो घडी पीछे विना छना नही पीना चाहिये। इन सब को देख भाल कर लेना चाहिये अन्यथा अतिचार लगेगा। — **मद्यव्रत के अतिचार** —

सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधि तक्रं द्व्यहोषितम्। काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोन्यथा ॥११॥

अर्थ—सब प्रकार के आचार मुरब्बो का दार्शनिक प्रतिमा वाले एव मद्यव्रती को त्याग कर देना चाहिये। तथा जिसे दो दिन तथा रात व्यतीत हो चुकी है ऐसे दही, मठा और जिस पर फूल आ गये हो ऐसी काजी को भी छोड देना चाहिये।

भावार्थ—मद्यव्रती को नशीले पदार्थ जैसे तम्बाखू, अफीम, गांजा, भाग, कोकीन

आसव, अरिष्ट, कोदों का रस, कांजी, संधान (आचार) मुरब्बे मर्यादा से बाहर के दही छाछ, फुई वाली चीजें, सडा हुआ माड, ताड व खजूर का रस, मद्य के पात्रो का भोजन, यथा मद्यपायी के हाथ का भोजन, एव मद्य का व्यापार भी त्याग देना चाहिये अन्यथा अतिचार लगेगा ।

— मांस के अतिचार —

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च, हिंग्वसंहृतचर्म च । सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं, दोष स्यादामिषव्रते ।१२।

अर्थ—चमडे के पात्रों मे रखा हुआ घी, जल, और तेल आदि तथा चमडे से आच्छादित अथवा सम्बन्ध रखने वाली हीग एव स्वाद से चलित भोजन का उपयोग मांस त्यागी को नही करना चाहिये अन्यथा अतिचार लगता हैं ।

भावार्थ— चर्म के बर्तनो में रखा जैसे घी, तेल, जल, हीग, चमडे से ढका हुआ नमक, चमडे की चालनी, सूपडा, उसका छना आटा आदि, चमडे से ढका दूध दही छाछ, माँस खाने के बरतन या उनका बनाया एव लाया हुआ भोजन, बीधा अनाज तथा और भी इस प्रकार के पदार्थ त्याज्य है; अन्यथा मास भक्षण का अतिचार लगता है ।

—: मधु के अतिचार :—

प्राय पुष्पाणि नाश्नीयात् मधुव्रतविशुद्धये। बस्त्यादिष्वपि मध्वादि, प्रयोगं नार्हति व्रती ।१३।

अर्थ—मधु त्याग व्रत को पालन करने के लिये प्राय: करके फूलों को नहीं खावे । और व्रती पुरुष वस्त्यादि कर्मों मे भी मधु आदि का उपयोग न करे ।

भावार्थ—रोग की शान्ति के लिए प्राण त्याग होने पर भी शहद नही खाना चाहिये । शहद खाने से अहिंसा धर्म रह ही नही सकता । इससे दुर्गति की प्राप्ति होती है । जिन पुष्पो से त्रसजीव अलग नही किये जावे । ऐसे पुष्पों को त्याग देना चाहिये । जैसे गोभी, कचनार, निम्ब, केवड़ा, केतकी आदि । शहद को आजना भी नही चाहिये; अन्यथा अतिचार आजाता है ।

—: मिथ्यात्व का वर्णन :—

मिथ्यात्व के कारण मिथ्यांदृष्टि जीव को समीचीन धर्म अच्छा नही लगता, जैसे पित्त ज्वरी को मिष्ट दूध भी नही रुचता ।

मिथ्यात्वसदृशं पापं, सम्यक्त्वेन समं वृषं । न भूत भुवने चापि, नास्ति नाग्रे भविष्यति ।१।
नीचदेवरतो जीवो, मूढ़ः कुगुरुसेवकः । कुज्ञानतपसा युक्त, कुधर्मा कुगतिं व्रजेत् ।।२।।
वरं सर्पमुखे वासो, वरं च विषभक्षणम् । अचलाग्निजले पातो, मिथ्यात्वेन च जीवितं ।।३।।
सकलदुरितमूलं पापवृक्षस्य बीजं, नरकगृहप्रवेशं, स्वर्गमोक्षैकशत्रुं ।
त्रिभुवनपतिनिन्द्य मूढलोकैर्गृहीतं, त्यज सकलमसारं त्वं च मिथ्यात्वबीजं ।।४।। (सु०)

अर्थ—मिथ्यात्व के समान पाप और सम्यग्दर्शन के समान पुण्य तीनों लोकों मे न हुआ है और न होगा, क्योकि मिथ्यात्व के कारण आत्मा चतुर्गति रूप संसार मे घूमता है ।

मिथ्यादृष्टि जीव, जघन्य कोटि के रागी द्वेषी देवो की तथा खोटे गुरुओं की सेवा करता है। इसलिये खोटे ज्ञान और खोटे तप के कारण कुधर्म को प्राप्त होकर खोटी गति में जाता है। इसलिये सर्प के मुख मे प्रवेश करना, विष का भक्षण करना दावानल अग्नि मे जल जाना, तथा समुद्र मे डूब कर मर जाना, किसी प्रकार अच्छा है, किन्तु मिथ्यात्व सहित जीवन कदापि अच्छा नही। क्योकि उक्त सर्प आदि द्वारा एक ही पर्याय नष्ट होती है और मिथ्यात्व के कारण अनेक पर्याये नष्ट होती हैं। इस कारण हे भव्य जीवो! समस्त पापो का मूल, पाप रूपी वृक्ष का बीज, नरक मे प्रवेश कराने वाला, स्वर्ग मोक्ष का शत्रु जिनेन्द्र देव द्वारा निन्दनीय, मूर्खों से गाह्य और असार मिथ्यात्व को छोडो। कहा भी है—

कुदेवगुरुशास्त्राणां, भक्तिर्मिथ्यात्ववर्धिनी। कुर्वन्ति मनुजा ये वै, ते स्यु नरकगामिन ॥

अर्थ—कुदेव, कुगुरु, और कुशास्त्र की भक्ति मिथ्यात्व को बढाने वाली है। जो मनुष्य इनकी भक्ति करते हैं वे नरक के गामी होते है। —. कुदेवो का स्वरूप :—

मज्जे धम्मो मसे धम्मो जीवहिंसाई धम्मो। राई देवो दोसी देवो माय सुण्णं पि देवो।१८४।

अर्थ—मद्य मे, मास भक्षण एव जीवो की हिंसा मे, धर्म को कहने वाले, रोगी, द्वेषी, मायाचारी, स्त्रियो के बहकाने वाले, अनेक प्रकार के उपद्रव करने वाले, खोटी चेष्टा के धारक कुदेव होते है। आज लोग झूठे चमत्कार के पीछे पड कर चाहे जिसे देवता मान बैठते है, पर उन्हे सोचना चाहिये कि वह व्यक्ति कभी देवता नही हो सकता जिसके विषय कषाय नही घटी हैं। जो पुरुष विषय वासना मे लिप्त है वह 'भगवान्' इस पद से अलकृत नही हो सकता। क्योकि विषयी होकर भी मोक्ष मार्ग का नेता हो ये दोनो कार्य एक स्थान मे नही हो सकते। कहा भी है—

क्रोधी मानी मायावी च लोभी शाश्वतसूपक। रागद्वेषभयाशाभाक् ईश्वरो न भविष्यति ॥ सु

अर्थ—जिस प्राणी की आत्मा राग द्वेष युक्त हो, जैसे किसी को मारना, किसी को बचाना, किसी को वरदान देना, किसी से पूजा भेट चाहना, किसी पर क्रोध करना, किसी पर प्रसन्न होना, किसी को अपना लेना, किसी को छोड देना, इस प्रकार की जितनी भी क्रिया हो, सो सब संसारी जीवो मे घटित होती है। कारण कि जिनको देखते ही भय लगे उनसे ससारी जीव अपना कैसे कल्याण कर सकते हैं, ऊपर जितना भी कार्य बताया है सो सब कुदेवो मे घटित होता है। यदि किसी को विशेष समझना हो तो मिथ्यात्व खण्डन रत्नाकर, आप्त परीक्षा, आप्त मीमासा, या अष्टसहस्त्री से समझ लेना चाहिये। और भी है—

ये शस्त्रादिभृतो रौद्रा, द्वेषाद्यै परिवर्तिता। शापप्रसादसरभा, न ते देवा भवापहा ॥प्र.

अर्थ—जो त्रिशूलादिक हथियारो को धारण करने वाले क्रूर, रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, मायावी, और लोभी, अर्थात् कषाय से व्याप्त, रुष्ट होने पर शाप देने वाले

अनुकूल होने पर प्रसन्न होने वाले एव आरम्भी है वे कुदेव [खोटे देव] है। उनकी भक्ति से ससार समुद्र मे डूबना ही होगा, पार नही हो सकते। जिनमें अहिसा रूप धर्म के लक्षण घटित नही होते वे कुदेव हुआ करते है। देव वह ही हो सकता है जिसके सामने सदैव अनुकम्पा का समुद्र बहता रहे।

—: कुशास्त्र का लक्षण :—

पूर्वापरविरोधाद्यै, रद्वैतादिनयैस्तथा। विरुद्ध यद्भवेत्तत्वं, तन्न तत्वं सतां मतं ॥१॥प्रबोध.

अर्थ—जिनमे पूर्वापर विरोध पाया जाता है–कहीं पर हिसा को अधर्म बताया है और कही पर अर्थात् यज्ञादिक मे प्राणि–हिसा को धर्म बताया है, एव जिनमे सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, एकान्त धर्म का निरूपण है, और प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणो से विरोध है वे सब कुशास्त्र समझने चाहिये। जिनमे राजकथा,भोजनकथा,चोरकथा,श्रृ गारकथा, नटकथा, भटकथा, लडाईकथा, शिकारकथा, गीत नृत्यवादित्रकथा एव सासारिक कथा हो, और जिनमे मास, मदिरा भक्षण का कथन हो, जीवो के मारने के उपाय बताये गये हों, एव यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रादिक बताये गये हो, इस प्रकार के कथन करने वाले सब कुशास्त्र है, दूसरे शब्दो मे उनको शस्त्र कहना चाहिये क्योकि इनसे प्राणियो का अहित होता है।

—: कुगुरुओ का स्वरूप :—

सर्वसावद्यसम्पन्ना , ससारारम्भवर्तिनः। सलोभा समदा सेर्ष्याः, समाना यतयो न ते ॥१॥

अर्थ—जो समस्त हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाप कार्य मे प्रवृत्त है तथा ससार को बढाने वाले कार्य करते है,–जैसे, व्यापार करना, भोजन बनाना, कृषि करना आदि आरम्भ करना, लोभ, मद, ईर्ष्या, और अभिमान जिनमे पाया जावे, वे गुरु कहलाने योग्य नही है, क्योकि उनका आचरण साधारण मनुष्य जैसा है; और भी कहा है-

लीना कहा जोग जोलों भोगसों न मुंह मोरचो। लोक को रिझायवे को धूम्र पान गटकें,
कोहू शीस धारे, जटा कोहू तो उखारे लटा। काहू कनफटो कोहू क्रिया ही में अटका।
कोहू मठवासी, कोहू होय के सन्यासी। कोहू होय के उदासी, परतीर्थ में भटका,
आत्मा (ब्रह्म)को चीन्हो नाहीं, मन वश कीनो नाही। एते पर होत कहा, थोथे कान पटका।१।

तात्पर्य—इस प्रकार की क्रियाओ के करने से कुगुरु ही कहला सकते है न कि सुगुरु।

—: कुधर्म का स्वरूप :—

'मिथ्याबुद्धिभिराम्नातो, हिंसाद्यं विपदास्पदम्। धर्मधर्मेति नाम्नैव, न धर्मोऽयं सतां मत.।१।'

अर्थ—जो मिथ्यादृष्टियो द्वारा कहा गया हो, और जिसमे हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह का विधान हो, भले ही उसे भोले पुरुष धर्म कहे, किन्तु केवल नाम का ही धर्म है। वास्तव मे वह अधर्म है, सज्जनो से माननीय नही है, ऐसा कुधर्म प्राणियो को

ससार रूपी समुद्र मे डुबाने वाला है। अब सम्यग्दर्शन का सामान्य लक्षण बतला कर सच्चे देव और सच्चे गुरु का लक्षण बतलाते हैं—

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धान कारणद्वयात् । मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादि भाक् ।।१।।

—: देव का स्वरूप :—

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् । सर्वसत्वहित प्राहु, राप्तमाप्तमतोचिता: ।।२।।

—: अठारह दोष :—

क्षुत्पिपासा भयं द्वेषश्चिन्तन मूढतागम । रागो जरा रुजा मृत्यु क्रोधः खेदो मदो रतिः।।३।।
विस्मयो जननं निद्रा, विषादोऽष्टादश ध्रुवा । त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषा साधारणा इमे।।४।।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्त सोऽयमाप्तो निरञ्जन । स एव हेतु सूक्तीना केवलज्ञानलोचन ।।५।।

अर्थ—सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, और सच्चे जीवादि सप्त तत्वों का, ३ मूढता, ६ अनायतन, ८ मद, और शङ्कादिक ८ दोष इन २५ दोषो मे रहित और ८ अङ्ग सहित जैसे का तैसा श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन के होने पर आत्मा मे (१) प्रशम अर्थात् कषायो की मन्दता होना (२) सवेग-ससार के पदार्थों से भयभीत होना (३) अनुकम्पा-प्राणियो पर दया करना, और (४) आस्तिक्य-परलोक स्वर्ग नरक मोक्ष आत्मा आदि सूक्ष्म पदार्थों के अस्तित्व मे विश्वास करना. ये चार बाते होती है। जो क्षुधा, तृषा आदि १८ दोषों से रहित हो, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ४ घातिया कर्मो का जिसने सर्वथा क्षय कर दिया हो अर्थात् वीतरागी हो, ससार की समस्त वस्तुओ को एक काल मे प्रत्यक्ष जानने वाला हो अर्थात् सर्वज्ञ हो; समस्त ससार का स्वामी हो, समस्त प्राणियो को मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाला हो, हितोपदेशी हो; ऐसे तीर्थङ्कर भगवान को गणधरादिक ने सच्चा देव कहा है। भूख प्यास, भय राग, द्वेष, चिन्ता, अज्ञान, बुढापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, विस्मय, जन्म निद्रा, और विषाद ये १८ दोष हैं। ये ससार के प्राणियो मे साधारण तौर से पाये जाते हैं। इन १८ दोषो से जो रहित हो— वह निरजन, पाप कर्मो से रहित केवल ज्ञान, रूपी नेत्रो वाला आप्त—सच्चा देव है। वह (१) प्रथमानुयोग (२) चरणानुयोग (३) करणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग रूप शास्त्रो का निर्माता एव मोक्षमार्ग का नेता है।

— सच्चे शास्त्र का लक्षण :—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य, मदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्वोपदेशकृत्सार्वं,शास्त्र कापथघट्टनम्।।६।।रत्न.श्रा

अर्थ—जो तीर्थङ्कर भगवान् का कहा हुआ हो, वादियों के द्वारा खण्डनीय न हो, प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणो से जिसमे विरोध न हो, वास्तविक जीवादिक ७ पदार्थों का स्वरूप बतलाने वाला हो, समस्त प्राणियो का हित करने वाला हो और जो मिथ्या मार्ग का खण्डन करने वाला हो उसे सच्चा शास्त्र कहते हैं। —सच्चे पदार्थ का स्वरूप—

"तत्वं प्रमाणनयाधीनं, निर्दोषार्हत्प्रभाषितं" (प्रबोधसार)

अर्थ—जिनका स्वरूप प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणो से तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो से जाना जावे, एव जो निर्दोष सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहे गये हो, ऐसे अनेक धर्मो वाले, जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन७को तत्व पदार्थ कहते हैं।

सच्चे गुरु का लक्षण:—

विषयाशावशातीतो,निरारम्भोऽपरिग्रहः ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१॥ रत्न श्रा.
सर्वसत्वहिता' शान्ता.,स्वदेहेऽपि हि निस्पृहा । यतयो ब्रह्मतत्वस्था,यथार्थपरिवादिन ।१।प्र.

अर्थ—जो विषयो की आकांक्षा से रहित हो, खेती व्यापार आदि आरम्भो तथा बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहो से रहित हो, तथा जो ज्ञान ध्यान और तप मे लीन हो उसे सच्चा गुरु कहते है। समस्त प्राणियो के हित करने वाले, शात स्वभावी–अर्थात् जिनके कषायो की मन्दता है, अपने शरीर मे भी ममत्व न रखने वाले, और जब अपने शरीर से भी ममत्व नही है तो फिर बाह्य धन, धान्य, वस्त्र आदि परिग्रह के पूर्ण त्यागी; यथार्थ आगम के अनुकूल भाषण करने वाले और आत्मा के ज्ञान और ध्यान मे सर्वदा लीन रहने वाले ही यति, मुनि अथवा सच्चे गुरु है। इस प्रकार पाक्षिक श्रावक मिथ्यात्व को त्याग कर सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु और जीवादि ७ तत्वो का श्रद्धान करने वाला होता है।

जघन्य पाक्षिक श्रावक का संस्कार :—

"असंस्काराज्जायते शूद्र , संस्काराज्जायते द्विज" (आदि पुराण)

अर्थ—बिना सस्कार के रहने वालो की शूद्र सज्ञा होती है और सस्कारों से उत्तम ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो की द्विज सज्ञा होती है, इस आर्ष प्रमाण के अनुसार ही जैनो में बच्चे के सस्कार की प्रथा चली आ रही है। **भावार्थ**—जब गृहस्थ के घर में बच्चा पैदा होता है तो उस दिन से लगा कर दश दिन तक सूतक माना जाता है और इसके ३५ दिन बाद वह बच्चा श्री जिन मन्दिर मे लेजाया जाता है; इस प्रकार की प्रथा जैनियों में परम्परा से चली आ रही है, इसका कारण यह है कि ४५ दिन के बाद वह बच्चा जघन्य पाक्षिक श्रावको के सस्कारो से सुसस्कृत किया जाता है अर्थात् उसके कुटुम्बी जन उस बालक पर जैन धर्म का सस्कार करते है अर्थात् यह कहते है कि हे बच्चे ? तुझे इस ससार मे जैन-धर्म-प्राप्त हुआ है या नही? यह हम नही जानते; परन्तु आज हम लोग तुझे जैन बनाते है; क्योकि तू हमारे कुल मे पैदा हुआ है; ऐसा कहकर उस बालक को श्री जिन बिम्ब के सम्मुख लेटाते हैं; पश्चात् उसके कानों मे पञ्च परमेष्ठी का स्मरण रूप णमोकार मन्त्र सुनाते है और बाह्य व्रतो मे उसके लिये उपचार मात्र से पांच उदम्बर फल और तीन मकार के त्याग रूप आठ मूल गुणो का धारी, कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु

के सेवन का त्यागी, एवं सच्चे गुरु तथा सच्चे शास्त्र का भक्त बनाते है; इस प्रकार उस बालक मे पक्षिक श्रावक के सस्कार स्थापित किये जाते है; जब तक उस बालक की आयु ८ वर्ष की न होजावे तब तक उसके व्रतो की रक्षा उसके माता पिता करते है; उसी समय से वह बच्चा पाक्षिक श्रावक पद का धारी कहलाता है और एक देश गुणधारी जघन्य पाक्षिक होता है। स्थूल रूप से बताये गये जैसे पाच उदुम्बर फल का त्याग, तीन मकार का त्याग तथा कुगुरु और कुशास्त्र का त्याग इस प्रकार ग्यारह पदार्थ हुए। (कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र के त्याग से सुदेव–सुगुरु और सुशास्त्र का ग्रहण कर लेना चाहिये) ११ गुणो का धारक ४५ दिनो का बालक होता है। इन ग्यारह प्रकार के लक्षणो का वह उपचार से धारक कहलाता है। यथार्थ मे ८ वर्ष तक उसके माता पिता के प्रमाद से वह व्रतो का भङ्ग करता है तो उसके पाप के भागी उसके सरक्षक–माता–पिता ही होते हैं।

— मध्यम् पाक्षिक का स्वरूप —

"प्रपाल्य वै मूलगुणाष्टकं सदा, संसेव्य देवान्ननु शास्त्रपूजकः।
करोति सेवां सुगुरोस्तपस्विन , जहाति सर्वं व्यसन हि मध्यम ॥"

अर्थ—जो जघन्य पाक्षिक के गुणो से युक्त होकर, समस्त प्रकार के मुख्य रूप से सप्त व्यसनो को त्याग कर देता है उसे मध्यम पाक्षिक श्रावक कहते है। **भावार्थ**—ऊपर जो जघन्य पाक्षिक श्रावक के–पञ्च उदुम्बर फल और ३ मकार के त्याग तथा सच्चे देव शास्त्र गुरु की भक्ति ये ग्यारह गुण कहे गये हैं उन सहित ७ सप्त व्यसनो का त्याग होता है। अर्थात् मध्यम पाक्षिक के ११+७ योग १८ गुण हुए; इनमे से मास और मदिरा का ग्रहण तो तीन मकार मे हो चुका है और सप्त व्यसनो मे भी उनका वर्णन आया है, अत उन दोनो को पृथक् करने से १६ क्रियाए एव सद्गुण मध्यम पाक्षिक के रह जाते है।

—: पाक्षिक श्रावक के अन्य मुख्य कर्तव्य :—

"धेयं सदा श्रीजिनदेवदर्शनं, पेयं सुपाथ पटगालितं सदा।
हेयं निशायां खलु भोजन हृदा, एतानि चिह्नानि भवन्तिश्रावके ॥"

'जल छानन तजि अशप निशि,श्रावक चिह्न जु तीन,नितप्रति जो दर्शन करे सौ जैनी परवीन।'

(१) प्रति दिन जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करना (२) जल छान कर पीना और (३) रात्रि समय मे भोजन न करना, ये तीन श्रावक के चिन्ह हैं। इनसे जैन पहचाना जाता है। आगे क्रमश इनका पृथक २ विस्तार से वर्णन करते हैं।

—: नित्य प्रति देव दर्शन करना-जिन-भक्ति :—

देवगुरुणाभत्ता णिव्वेय परम्परा विचिंतिञ्ज। झाणरया सुचरिता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।८२।

अर्थ—जो अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों परमेष्ठियों की भक्ति करते हैं और वैराग्य का चिन्तवन करते है तथा ध्यान मे रत है अर्थात् परमात्मा व निज आत्मा के ध्यान से तत्पर हैं और सदाचार के धारक है, वे ही मोक्ष मार्ग के पथिक माने गये है। और भी कहा है—

"पुण्यं जिनेन्द्रचरणार्चनसाध्यमाद्यं, पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमेतत्।
पुण्य व्रतानुचरणादुपवासयोगात्, पुण्यर्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम्" ॥१॥

अर्थ—(१) श्री जिनेन्द्र देव के चरणारविन्दो की पूजा करने से (२) उत्तम पात्रों को दान देने से (३) अहिंसादि व्रतो को पालन करने से (४) उपवास करने से पुण्य होता है, इसलिये पुण्य की इच्छा वाले गृहस्थो को उचित है कि वे इन चारो उपायो द्वारा पुण्य का सचय करे। और भी कहा है—

अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च। यो भुञ्जीत गृहस्थ· सन् स भुञ्जीत परतम. ॥

अर्थ—गृहस्थावस्था मे जो पुरुष दर्शन स्तुति पूजनादि के द्वारा श्री जिनेन्द्र देव की पूजा न करके और आहारदान वैयावृत्त्यादि के द्वारा निर्ग्रन्थ मुनियो की सेवा आदि न करके भोजन करता है वह भोजन नही करता किन्तु महा पाप बन्ध का आहार करता है अर्थात् महा पाप का बध करता है। और भी कहा है—

जो जिणवरिंदपूअ, कुणई ससत्तीए सो महापुरिसो।
तिलोय पूअणीओ, अप्पेणय सो नरो होइ ॥१३८॥ [धर्मरसायण]

अर्थ—जो उत्तम पुरुष निज शक्ति के अनुसार श्री जिनेन्द्र देव की पूजन करता है वह अल्प काल मे ही तीनो लोको के जीवो द्वारा पूज्य हो जाता है। और भी कहा है—

व्रतं शील तपोदानं सयमोऽर्हत्प्रपूजनम्। दु खविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ॥३२२॥

अर्थ—श्री जैनागमो मे जो व्रतग्रहण, शीलपालन, तपश्चरण, दान करना, सयम धारण, और जिन पूजन का उपदेश दिया गया है वह सब संसार परिभ्रमण जनित दु.ख का नाश करने वाला है, इसमे किसी प्रकार का सशय नही है। और भी कहा है—

"यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न, स्मर्यते नार्च्यते।
न स्तूयते न दीयते मुनिजने, दानं च भक्त्या परम्" ॥
सामर्थ्ये सति तद् गृहाश्रमपदं, पाषाणनावा समं।
तत्रस्था भवसागरेति विषमे, मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥२२५॥ (पद्मनन्दि पंच०)

अर्थ—जो गृहस्थ प्रति दिन श्री जिनेन्द्र देव का दर्शन नही करते हैं तथा श्री जिनराज के गुणो का स्मरण नही करते है और न श्री जिनेन्द्र देव की पूजा एवं स्तुति ही करते है तथा सामर्थ्य होने पर भी परम भक्ति के साथ श्री मुनिराज को दान नहीं

देते है, उन मनुष्यो का गृहस्थाश्रम मे रहना, पत्थर की नाव के समान है, क्योंकि वे गृहस्थ मनुष्य अत्यन्त गहरे व भयङ्कर ससार समुद्र मे डूबते है और नष्ट होते है । और कहा है—

"ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न, निष्फलं जीवन तेषा,तेषा धिक् च गृहाश्रमम्।"

अर्थ—जो प्रति दिन श्री जिनेन्द्र का दर्शन और स्तवन नही करते उनका जीवन निष्फल है, और उनके गृहस्थपने को भी धिक्कार है । और भी कहा है—

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय, द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु ।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रम्, त्रैलोक्यमङ्गलनिकेतनमीक्षणीयम् ।। (भूपाल चतु०)

अर्थ—हे नाथ ! यदि किसी को सोकर उठते ही, मङ्गल जनक पदार्थ देखना हो तो वह अन्य सबको न देख कर तीन लोक के समस्त मङ्गल कारक पदार्थो का स्थान भूत (सर्वोत्कृष्ट कल्याण के कर्त्ता) आपके ही मुख का दर्शन करे । और भी कहा है—

जिनबिम्बं जिनाकारं, जिनपूजा जिनस्तुतिम् य करोति जनस्तस्य,न किञ्चित् दुर्लभ भवेत् ।२१३

अर्थ—जो पुरुष श्री जिनेन्द्र देव से आकार वाला जिन बिम्ब—बनवा कर स्थापित करता है, श्री जिनेन्द्र देव की पूजा व स्तुति करता है; उस सज्जन के कोई भी सुख सामग्री दुर्लभ नही होती । और भी कहा है—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं । राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयं ।।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं । लब्ध्वा शिव च जिनभक्तिरुपैति भव्य ।। (रत्नकरण्ड)

अर्थ—श्री जिनेन्द्र का भक्त भव्य जीव अपार महिमा के धारक इन्द्रपने को, सब भूपालो से पूज्य चक्रवर्ती पद को और त्रिभुवन को नम्रीभूत बनाने वाले तीर्थङ्कर पद को क्रमशः प्राप्त करके सिद्ध पद की प्राप्ति करता है । और भी कहा है—

करजुअलकमलमुअले भालत्थे तुह पुरो करावसई ।
सग्गा पवग्गा कमला थुणति ततेण सप्पुरिसा ।।
वियलइ मोहणधुली तुह पुरओ मोहठग्गपरिठविया ।।
परविय मोसाण त ओपणविय सीसा वुहा होंति ।। (पद्मनन्दि पचविशतिका)

अर्थ—हे भगवन् ! जो सत्पुरुष दोनो हाथो को कमल डोडी के समान मुकुलितकर और उनको मस्तक पर धारण करके आपके सामने खडे होते हैं उनको स्वर्ग-मोक्ष-लक्ष्मी मिलती है । अतएव सज्जन जन आपकी स्तुति करते है । आपके आगे खडे हुए भक्त पुरुषो पर मोह रूपी ठग के द्वारा गेरी हुई जो मोहन धूली (बेहोश बनाने वाली मिट्टी की भुरकी) है वह नष्ट हो जाती है अर्थात् अनादि काल से मोहनीय कर्म के द्वारा बेहोश हुआ जो आत्मा निज स्वरूप को भूल कर पर पदार्थो मे ममत्व का धारक बन रहा था वह निज शान्त स्वरूप को पहिचानने लगता है, अतएव ज्ञानी पुरुष आपको नमस्कार करते

हैं । आगे आचार्यों के कथन का सार बताते है—

एकापि समर्थेयं,जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं, पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिन ।।

अर्थ—यदि कोई चारित्र मोहनीय के उदय से अणुव्रतादि का धारण एव तपश्चरणादि न कर सके और मन, वचन, काय से जिनेन्द्र देव की भक्ति ही करे तो उसको दुर्गति में जाने से रोकने में, पुण्य का भरपूर सचय कराने मे और मुक्ति लक्ष्मी को देने मे यह केवल जिन भक्ति ही सामर्थ्य रखती है; व्रतादि रहित भी जिन भक्ति से दुर्गति के पतन से बचा कर स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति करता हुआ परम्परा से शीघ्र ही मोक्ष का भागी हो जाना है । **शंका**—यहा यदि यह शङ्का की जावे कि राग द्वेष से रहित श्री जिनेन्द्र देव के द्वारा हमारा कल्याण कैसे हो सकता है ? क्या वे हमारी भक्ति से प्रसन्न होकर हमें स्वर्गादि का सुख देतें है और जो उनकी निन्दा करता है उसे नरकादिक के दुःख भुगताते है ? इस शङ्का का समाधान स्वामी समन्तभद्र इस प्रकार देते है कि—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्य ।। (स्वयभू स्तोत्र)

अर्थ—हे नाथ ! आप वीतराग है; इसलिये आपको अपनी पूजा कराने से कुछ प्रयोजन नही है तथा आप द्वेष भाव से रहित है अत· कोई निन्दा करें तो उससे भी आपको कोई मतलब नही है; तथापि आपके पवित्र गुणों की स्मृति हमारे चित्त को पाप रूपी मैल से पवित्र करती है । **भावार्थ**—आप सेवक वा निन्दक दोनों मे समभाव के धारक है, अत. किसी को सुख दु ख नही देते तो भी जिस समय हम आपके गुणो को याद करते है; उस समय हमारे भावो मे ऐसी निर्मलता आ जाती है कि जिसके द्वारा सचित हुए पुण्य से हमे स्वयमेव स्वर्गादिक सुखो की प्राप्ति हो जाती है और निन्दा करने से स्वय कुगतियो का दु.ख उठाना पडता है; यह उस किये हुए कर्तव्य की स्वय ऐसी शक्ति है सो बिना मिलाये ही ऐसे फल स्वयं मिल जाते है । **शंका**—यहा पर पुनः यदि ऐसी शङ्का की जावे कि जब भगवान् के गुणो का स्मरण करने से ही पुण्य वध होता है, तो गुणो का चितवन तो बिना प्रतिमा के भी हो सकता है, फिर प्रतिमा के दर्शन की क्या आवश्यकता है । इसका उत्तर यह है कि—गुणो का स्मरण करना मन का काम है और यह तभी हो सकता है जब कि अन्तरङ्ग मे राग द्वेष जनित सङ्कल्प विकल्प या वासनाओ से और बाहर कुटुम्बादि परिवार के पालन पोषण सम्बन्धी व खान पानादि सम्बन्धी तथा व्यापारादि सम्बन्धी लौकिक झझटो से मन को हटाया जावे; क्योकि जव तक चित्त की एकाग्रता न हो, तब तक परमात्मा के गुणों का स्मरण होना असम्भव है । भगवान् की प्रतिमा के समक्ष चित्त की एकाग्रता अच्छी तरह हो सकती है और तब परमात्मा के

गुणो का स्मरण अपने आप ही होने लगता है । इस सम्बन्ध में किसी कवि ने कहा है—

"तेरी छवि है अटि झटपट लखै न कोय । जब मन की खटपट मिटै चटपट दर्शन होय ।।१।।
जब लग या मन सदन में प्रभु किह आवे वाट । निपट विकट जबलों जुड़े खुलै न कपट कपाट ।२।

आज कल के मोह जाल मे फसे हुए गृहस्थो के परिणामो के विषय मे कहा है ।

धिग् दु,खमाकाल रात्रि,यत्र शास्त्रदृशामपि । चैत्यालोकाद्विना नस्यात,प्रायो देवविशामतिः।३६।

अर्थ—जैपे आखो वाला मनुष्य भी गहरी अधेरी रात्रि मे दीपक के प्रकाश के बिना अपने मनोवाछित विकट स्थान मे नही जा सकता, उसी प्रकार इस पञ्चम (कलि) काल रूप रात्रि मे मोहान्धकार ग्रसित शास्त्रज्ञ पुरुष भी जब तक श्री जिन प्रतिमा के दर्शन न करे, तव तक उनके चित्त मे भक्ति भाव उत्पन्न नही हो सकता है । जैन प्रतिमाओ का इतिहास बहुत पुराना है । प्रचलित सन् सम्वतो से भी हजारो वर्ष प्रथम भारत के ही नही किन्तु अरब फारस यूनान आदि विदेशो के स्त्री पुरुष जो मूर्ति पूजक ही थे और जहा २ जैन धर्म का प्रचार था वहा के जैन जन अवश्यमेव जिन प्रतिमा की पूजन किया करते थे । वुत परस्तो (मूर्ति पूजको) को काफिर समझने वाले इसलाम धर्म के मानने वालो का जव भारत मे राज्य होने लगा तो उन्होने राज्य की वृद्धि के साथ २ ही अपने धर्म की जन सख्या वढाने के लिये स्थान २ पर मन्दिरो व प्रतिमाओ को तोड फोड कर भोली भाली जनता को दिखलाया कि जब तुम्हारे माने हुए ईश्वर वा देव की प्रतिमा अपनी व अपने निवास स्थान की रक्षा नही कर सकती है तो वह तुम्हारा भला क्या कर सकेगी । ऐसे उपदेशो से कितनो ही का मूर्ति पूजा पर से विश्वास उठने लगा किन्तु फिर भी मूर्ति पूजा निर्वाध चलती रही । वि स. १५०८ तक जैन समाज मे कोई भी मूर्ति पूजा का प्रकट रूप से विरोध नही था परन्तु ऐसे ही अवसर को पाकर सबसे पहिले एक श्वेताम्वरीय जैन गृहस्थ लूका नामक लेखक ने कषाय वश लू का गच्छ स्थापित किया; इसी मे से वाद मे वाइस टोला हो गये जो स्थानकवासी कहलाने लगे; इन स्थानकवासियो मे से भी कुछ भीषम पथी होकर तेरह पथी कहलाने लगे । वर्तमान श्वेताम्बर जैन समाज में मूर्ति पूजको की सख्या ही अधिक है, तथापि स्थानकवासी और तेरह पथी ये दोनो मूर्ति पूजा को नही मानते है । श्वेताम्वरो की देखा देखी दिगम्बर जैन समाज मे विक्रय सवत् १५८३ मे मूर्ति पूजा को न मानने वाले एक तारण तरण नामक त्यागी हुए और उन्होने अपने नाम का तारण पथ स्थापित कर दिया । इस पथ मे चलने वाले प्रतिमा को न पूज कर जैन शास्त्रो को पूजा करते है । जी आई पी रेल्वे के बीना जक्शन के पास ग्वालियर राज्य का एक मुगावली कसवा है, उससे थोडी दूर पर सेमर खेडी ग्राम मे इस पंथ मे [illegible] का स्थान है परन्तु ये वहुत थोडी सख्या मे हैं और वुंदेलखड मे ही प्रायः

इनका अधिक निवास है, इनके सिवाय जैन समाज यद्यपि मूर्त्ति पूजक है तथापि वर्त्तमान में देखा जा रहा है कि धर्म शून्य व धर्म विरुद्ध शिक्षा द्वारा शिक्षित होने के कारण एवं धर्मोपदेश रहित चारित्र उपन्यास व समाचार पत्रादि के निरन्तर पढने से तथा धार्मिक भाव से रहित देशोन्नति चाहने वाले राष्ट्रवादियो एव मूर्त्ति पूजा के विरोधी दयानन्दियों आदि के उपदेश के सुनने से और असदाचारियो व व्यसनियो की सङ्गति के प्रभाव से बहुत से युवक व उनकी देखा देखी नवयुवतियां तथा कितने ही बालक भी धर्म के स्वरूप को न पहिचान कर एव कुलाचार को भी एक प्रकार का ढोंग समझ कर जिनेन्द्र की प्रतिमा का दर्शन करना तो दूर रहा, मन्दिर में जाना भी फैशन के विरुद्ध समझते है; इनमे से जो कुछ थोडा बहुत जैन धर्म के महत्व को जानते है तथा जिनकी धार्मिक उन्नति की तरह कुछ रुचि है वे मूर्त्ति पूजन को उपयोगी एवं अत्यावश्यक नही समझने लगे है । यदि ऐसे जैन कुल मे जन्म लेने वालों को सत्पथ मे लाने की चेष्टा न की जावेगी तो सम्भावना है कि थोडे ही वर्षो मे या तो मन्दिर के ताले जुड जावेगे या मन्दिरो की सम्पत्ति तथा सुन्दर इमारतो आदि का निजी व राष्ट्रीय कार्यों मे उपयोग होने लगेगा; अतएव हमें सजग होना चाहिये । यहां मूर्त्ति पूजन के समर्थन मे कुछ लिखा जाता है —

-: मूर्ति पूजा का सर्वत्र अस्तित्व :-

मूर्त्ति पूजको मे ही नही, मूर्ति पूजा निषेधको मे भी मूर्त्ति का आदर किया जाता है।

(१) **ईसाई मजहब वाले**—क्रास पर चढाई हुई ईसा की तसवीर को देख कर सिर झुकाते है । योरप के युद्ध मे मारे हुए ईसाई देश भक्तो की हर जगह मूर्त्तियां बनी हुई है और हर एक देश भक्त मनुष्य उनको पूज्य दृष्टि से देखता है तथा उनका सन्मान करता है। (२) **मुसलमान**—(१) कब्रो पर चादर-फूल माला व मिठाई चढाते है और लोबान खेते है (२)ताजियो की जियारत करते है(३)मक्के मे जाकर वहां के जम कुए का पानी पीते हैं तथा उसको पवित्र मान कर साथ मे लाते है (४) मक्के के मन्दिर की प्रदक्षिणा करते है और वहा के अवसद नामक काले पत्थर को सात बार चूमते हैं (५)काबा तुल्ला मन्दिर की तरफ मुख करके नमाज पढते हैं (६)और कुरान को गले मे लटका कर उसको विनय से रखते है यह भी तो तसवीर अथवा मूर्त्ति ही है। (३) **आर्य समाज**—दयानन्द जी के फोटुओ को जडा कर अपने कमरो मे उच्च स्थान पर लगाते हैं ये मूर्त्ति पूजक नहीं हैं तब भी मूर्त्ति को मानते है। (४) **सिक्ख लोग**—अपने गुरुओ के चित्र को हाथी पर विराजमान कर शान के साथ उसका जुलूस निकालते हैं। (५) **अपने को देश भक्त कहलाने वाले मनुष्य**—महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, प तिलक, प. मदनमोहनजी मालवीय, महात्मा गाधी, प नेहरू आदि पुरुषो की तसवीरो को अपनी बैठक के कमरे में

लगाते हैं और सभा सम्मेलन व जयन्ती आदि के उत्सवो मे इनके फोटुओं को विराजमान कर उन्हे पुष्प मालाओ से सुसज्जित करते है। (६) **प्रेमीजन**—इष्ट मित्रों व प्रेम पात्र स्त्रियो के फोटू अपने शयनागार मे लगा कर उन्हे स्नेह दृष्टि से देखते रहते है। (७) **गुरु भक्त सज्जन**—अपने माता पिता अध्यापक आदि के चित्रो को खास स्थानो पर लगाते है और उन्हे भक्ति भाव से निरखते है। (८) **दशहरे के दिन**—क्षत्रिय जन खड्ग तलवार आदि शस्त्रों की और दीपमालिका के दिन वैश्य लोग दवात कलम की पूजा करते है। (९) स्त्रिया देहली व मूसल की और किसान हल आदि की पूजा करते है। इत्यादि दृष्टान्तो से यह सहज में जाना जा सकता है कि जो जिसको अपना उपकारक समझता है वह उसका व उसकी मूर्त्ति का सम्मान यथायोग्य अवश्य करता है असली के अभाव मे मूर्त्ति का समादर करने वाले उस जड मूर्त्ति का सत्कार नही करते किन्तु उसके द्वारा उस पूजनीय व्यक्ति का अथवा उसके गुणो का आदर सत्कार करते है। यही नही किन्तु यदि कोई दुष्ट व्यक्ति किसी जन समूह की मानी हुई मूर्त्ति आदि का निरादर करता है तो उस पर मुकद्दमा दायर हो जाता है तथा वह कानून से दण्ड पाता है।

—: जड़ (अचेतन) मूर्तियो तथा आकारो से लाभ :—

१ किसी बालक के सामने हाथी का शिकार करते हुए नाहर की रङ्गीन तसवीर रखकर उसे नाहर के अङ्ग प्रत्यगो से असली नाहर का बोध कराया जा सकता है। २ भूगोल आदि का नक्शा विद्यार्थियो को शहरो आदि की दिशा व दूर का ज्ञान करता है। जगत् का बहुत सा व्यवहार स्थापना निक्षेप से चलता है। न बोलने पर भी चित्र के आकार को देख कर समझदार बच्चे प्रसन्न होते हैं और भयकर चित्र से डरने लगते है। ३ अपने मन के विचारो को लिख कर दिखलाने के लिये मनुष्यो के नियत किये हुए साकेतिक आकार रूप अक्षर जड होकर भी चेतन का सा काम करते हैं अर्थात् लिखने वाला जो पढने वाले को समझाना चाहता है वह अक्षर समझा देते हैं। ४. बादशाहो, राजा महाराजाओं एव हाकिमो के हस्ताक्षरो अथवा उनके दफ्तरो की मुहरो सहित हुकुम अहकामो के कागज आदि से वैसा ही काम होता है जैसा कि कोई खुद खडा होकर कराता है। ५ अधिकारी पुरुषो द्वारा निर्मित और प्रामाणिकता मे आये हुए कोर्ट स्टाम्प, पोस्टेज, रेलवे टिकट, नोट, हुडी, चैक, सिक्के से तमाम दुनिया का व्यवहार चल रहा है।

— जिन मूर्ति पर द्वेष का विषय :—

अपने शिक्षाप्रद आदर्श रूप से ससारी जीवो का उपकार करने वाली जिन प्रतिमा मे द्वेष रखकर स्वार्थी लोगो ने जो "**हस्तिना ताड्यमानोऽपि बाध्यमानोऽपि भूभुजा ॥ न** पठेद्यावनीं भाषा न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ॥१॥" अर्थात् हस्ती से ताडित होने पर तथा राजा

के द्वारा बाधित किये जाने पर जैन मन्दिर को न जावे तथा म्लेच्छ भाषा को न पढे। ऐसा घड़ कर जनता को बहकाने का प्रयत्न किया है उस पर किसी आचार्य ने कहा है—

प्रशान्तदृष्टिं स्थिरसन्निवेशां, विकारहीनामतिसुप्रसन्नां ।
न नाथ मुद्रामपि तीर्थिकास्ते, नु कुर्वते कान्यगुणप्रवृत्तिम् ॥१॥

अर्थ—हे नाथ ! शान्त दृष्टि वाली, स्थिरता की धारक, रागद्वेषादि जनित विकारो से रहित और अत्यन्त प्रसन्न ऐसी आपकी सूरत का भी दूसरे लोग अनुकरण नही करते अर्थात् उससे द्वेष करते है । ऐसे लोग आपके वीतरागत्व आदि लोकोत्तर गुणो को अच्छे समझकर उन्हे धारण ही कैसे करेगे ?

"हितार्थपरिपन्थिभिःप्रबलरागमोहादिभि । कलङ्कितमना जनो यदभिवीक्ष्य स शुद्ध्यते।३४।
पुनातु भगवज्जिन्नेद्र तवरूपमन्धीकृतं । जगत्सकलमन्यतीर्थगुरुरूपदोपोदयै ॥३५॥"

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आत्म कल्याण को न होने देने वाले ऐसे तीव्र रागद्वेष, मोह आदि दोषो से मलीन मनुष्य भी जिस आपके शान्त रूप को देखकर अपने मन को शुद्ध कर लेते है, वही आपके शरीर का सौम्य नग्न आकार कुगुरुओ के उपदेश से अधे हुए इस समस्त जगत् के मनुष्यो को पवित्र करे । जिन-मूर्त्ति से द्वेष रखने वाले भोले जीवों को जिन-मुद्रा का महत्व समझाने के लिये जैन मत मे ही नही किन्तु अन्य मत के पुराणों आदि में भी बहुत कुछ लिखा हुआ है, उसमे से यहा प्रसङ्गवश एक दो प्रमाण दिये जाते है । श्रीमद्भागवत मे श्री वृषभदेव (प्रथम तीर्थ कर श्री आदिनाथ) को अवतार मान कर पञ्चम स्कन्द मे उनका चारित्र लिखा है और स्वय वेद व्यासजी ने कहा है ।

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः, श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य य करुणया भयमात्मलोक, माख्यन्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥१९॥

अर्थ—जो निज आत्मा स्वरूप की प्राप्ति से तृष्णा रहित हो गये हैं, जिन्होंने आत्म कल्याण के करने के लिये उल्टे मार्ग से चलने वाले, चिरकाल से बुद्धि रहित, ऐसे मनुष्यो को करुणा भाव से अपने निज लोक (मोक्ष) का उपदेश दिया है उन श्री ऋशभनाथ भगवान् को मेरा नमस्कार हो । योग वसिष्ठ के मुमुक्षु प्रकरण मे कहा है —

नाहं रामो न मे वांछा विषयेषु न मे मन । शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

अर्थ—मै पहले वाला राम अब नही हूं, न मेरे कुछ इच्छा है, न मेरा मन विषयो में जा रहा है, अब तो मैं जिन देव के समान निज आत्मा मे ही मग्न होकर शान्ति की प्राप्ति करना चाहता हू; विचारना चाहिये कि श्रीरामचन्द्रजी और वेदव्यासजी भी जिन तीर्थ करों को पूज्य समझते है, उनकी प्रतिमा दर्शन के योग्य न समझी जावे यह कैसे हो सकता है ? कदापि नही हो सकता । जो मूर्ख नग्न प्रतिमा को देखना अमङ्गल समझते हैं, उनको

भी निम्न लिखित श्लोकों पर विचार करना परमावश्यक है। जिस समय महाभारत का युद्ध करने के लिये श्री अर्जुन जाने लगे उस समय कही से निर्ग्रन्थ मुनि उधर आ निकले उनको देखते ही श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा—

"आरोह स्यन्दनं पार्थ, गाण्डीवं च करे कुरु। निर्जितां मेदिनीं मन्ये, निर्ग्रन्था यदि सम्मुखा॥

अर्थ—हे अर्जुन! खडा होकर रथ मे बैठ और गाण्डीव व धनुष को अपने हाथ में धारण कर, क्योंकि इस समय निर्ग्रन्थ मुनि सामने आगये है, यह ऐसा शुभ शकुन है कि मैं पृथ्वी को जीती हुई मानता हू अर्थात् इस समय प्रस्थान करने से तुझको अपना राज्य प्राप्त हो जायेगा। और भी कहा है—

पद्मिनी राजहंसाश्च, निर्ग्रन्थाश्च तपोधना। यं देशमुपसर्पन्ति, सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत्॥

अर्थ—पद्मिनी स्त्री, राज हस, और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) मुनि जिस देश की तरफ गमन करते है उस देश मे सुभिक्ष होता है; अब कहिये जहा श्री कृष्ण अवतार और ज्योतिषाचार्य भी नग्न मुनियो के दर्शन और विहार को कल्याण करने वाले मान रहे है वहा इन प्रमाणो के सामने ही "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" इस श्लोक का क्या मूल्य है?

"धिकारे विदुषा द्वेषो, विकारं नानुकुर्वत। तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे, को नाम द्वेषकल्मष॥

अर्थ—ज्ञानीजन जो विकारी मनुष्य होता है उसी से द्वेष रखते है, निर्विकार पुरुष के साथ विद्वानो का द्वेष नही होता है, अत काम विकार को पूर्ण रूप से जीत चुकने पर जो महात्मा स्वाभाविक नग्नपने को धारण करता हो उसके प्रति किसी को क्यो द्वेष करना चाहिये? "सर्व पश्यत वादिनो जगदिद जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम्" (अकलङ्क) सब मत वाले देखे कि भूमडल के समस्त जीवो पर श्री जिनेन्द्र की मूर्ति की ही छाप लगी हुई है। श्री भट्टाकलङ्क देव के कथनानुसार वास्तव मे देखा जावे तो इस भूमडल के पशु पक्षी मनुष्यादि सभी विना वस्त्र के नग्न होते है और शिक्षित लज्जावाले सभ्य स्त्री पुरुषो के सिवाय सभी मरण पर्यन्त नग्न रहते हैं। स्त्री पुरुषो को अपनी सुन्दरता बढाने के लिये तो वस्त्र पहनने की इतनी आवश्यकता नही है जितनी उस अवयव [हिस्से] को ढकने की जिसमे कि वात विकार का पता चलता है। देखा जाता है कि जब तक बालक के मन में काम उत्पन्न नही होता और उसकी उत्पत्ति से उसके शरीर के बाहरी अवयवो मे विकार नहीं होता तब तक वह नगा भी फिरा डोला करता है किसी को बुरा नही लगता। कोई कोई छोटे २ बालक तो जैसे नगे प्यारे लगते वैसे कपडे पहने हुए नही लगते; क्योकि वस्त्र से उनका स्वाभाविक सौन्दर्य नष्ट हो जाता है परन्तु जब काम विकार उत्पन्न होने लगता है तो भिखारी के लडके और लडकियो को भी शरम आने लगती है और फटा

पुराना मैला वस्त्र ही किसी से मांग कर उससे अपने लज्जोत्पादक शरीर के भाग को ढकते है; इसलिये स्वाभाविक निर्विकार नग्न स्वरूप से द्वेष रखना और उसको अमङ्गलकारी समझना कितनी भूल है।

मूर्ति का प्रभाव—

जैसे अस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित योद्धा पुरुष के फोटू के देखने से कायर लोगों को शरवीरता (बहादुरी) का जोश आ जाता है, स्वप्न मे भी यदि कोई डरावनी सूरत देखने मे आजावे तो मारे भय के दिल दहल उठता है उसी प्रकार निर्विकार मूर्ति के देखने से शांति प्राप्त होती है। कहा भी है—

पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम्, अपि वीक्ष्य वपु स्त्रीणां,,मुह्यत्यङ्गी न सशय·।१५।

अर्थ—मिट्टी पाषाण लकडी मे बनाये हुये तथा चित्र आदि मे लिखे हुए स्त्रियो के सुन्दर शरीर को देख कर भी मनुष्य नि.संदेह मोहवश होकर काम विकार से ग्रसित हो जाता है। ज्ञानार्णव के कथनानुसार वस्त्राभूषणो से अलकृत रूपवती सुन्दरी स्त्री को देख कर मनुष्यो के चित्त मे काम विकार उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार यह मानना ही होगा कि रागद्वेषादि जनित सङ्कल्प विकल्पो मे चक्कर लगाने से थका हुआ मनुष्य का मन भी श्रीजिनेन्द्र देव की वीतराग शान्त छवि के दर्शन से अवश्यमेव स्थिरता व शान्ति को प्राप्त होता है। भगवान् की वीतराग मुद्रा के विषय मे कहा है —

निराभरणभासुरं, विगतरागवेगोदया- न्निरम्बरमनोहरं, प्रकृतिरूपनिर्दोषतः ॥
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्, निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात् ॥३२॥
अताम्रनयनोत्पल सकलकोपवह्नेर्जयात्। कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकत ॥
विषादमदहानित प्रहसितायमान सदा। मुखं कथयतीव ते, हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम् ॥३३॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र! राग भाव के उदय से रहित होने के कारण बिना आभूषण पहने ही देदीप्यमान, स्वाभाविक नग्नरूपमे किसी प्रकार का दोष न होने से वस्त्र धारण बिना ही मनोहर, किसी भी जीव की हिंसा करने का भाव न होने से आयुध (शस्त्र) रहित; किसी की भी आपके प्रति शत्रुता न होने से निर्भय, रोगादि जनित पीडाओ के न होने से नीरोग, मास भक्षण के विना ही तृप्ति धारक, समस्त क्रोध रूपी अग्नि को जीत लेने से ललाई रहित नेत्रो वाले, काम विकार से रहित होने के कारण कटाक्ष रहित, सौम्यदृष्टि धारक और विषाद (खेद) एव मद के अभाव से सदा हर्षित, ऐसा जो आपका मुख है वही दर्शको के लिये आपके हृदय की अत्यन्त निर्मलता को कह रहा है। उक्त कथन से प्रकट हो जाता है कि जिन प्रतिमा के दर्शन से श्री जिनेन्द्र के गुणो का ज्ञान होता है। यदि यहा पर यह शङ्का की जावे कि जिनेन्द्र के गुणों का ज्ञान कराने से क्या प्रयोजन है? तो इस शङ्का का यह समाधान है कि उनके गुणो की ज्ञान से दर्शको के भी यह इच्छा होती है कि

यात्रा महोत्व करा दूंगा, इत्यादि । कहां तक लिखा जावे, जिमको जिस बात की जरूरत होती है, वह प्रतिमाजी से मागने लगता है । मानो अचेतन (जड) पाषाणादि मय मूर्त्ति मे इन भक्तों से अपनी भक्ति व पूजा आदि कराने के लिये मोक्ष मे पधारे हुए भगवान् आ विराजे है और भक्तो का कहा कर डालते है । आगे भक्तो की ओर से प्रश्न दिखाये जाते है—

१ प्रतिमा मे यदि असली भगवान् नही विराजते है ? तो भक्ति किसकी की जाती है ! २. भगवान् भक्ति से प्रसन्न नही होते है तो स्वयभू और भक्तामर आदि स्तोत्रों के रचने वाले भक्तो का सकट कैसे दूर हुआ ? ३ तीर्थकरादि भक्ति से स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति तथा उनकी निन्दा से नरकादि में गमन कैसे होता है ? ४ यदि भक्ति का फल मिलता है तो कैसे मिलता है तथा कौन देता है ? ५ यदि भक्ति का फल नही मिलता है तो भक्ति क्यो की जाती है ? ६ भक्ति से धन, पुत्र, नीरोगता आदि न मागें तो क्या मागे ? ७ क्या भगवान् भक्त को अपने समान कर सकते है ? इन सातो प्रश्नो का उत्तर नीचे दिया जाता है—

१—२ प्रश्न का उत्तर —

यद्यपि जिन प्रतिमाये साक्षात् तीर्थकर भगवान् नही है तथापि उनमे अर्हन्त की स्थापना है और वे अरिहन्त अवस्था के चित्र है, इसलिये हम जब उन्हे साक्षात् अर्हन्त भगवान् की तरह मानेगे, तब ही हमारी आत्मा मे वीतराग विज्ञानता आदि श्रेयस्कर सद्-गुणो का आविर्भाव होगा, अन्यथा नही । भक्त के हृदय मे जिन मन्दिर और जिन प्रतिमा के दर्शन के समय निम्न प्रकार के भाव होने चाहिये ।

सेयमास्थायिका, सोऽय जिनस्तेऽमी सभासद ।
चिन्तयन्निति तत्रोच्चै,रनुमोदेत धार्मिकान् ॥१०॥ (सागर धर्मामृत अध्याय ६)

अर्थ—यह जिन मन्दिर की भूमि है सो समवसरण की भूमि ही है । ये प्रतिमा में स्थापना किये हुए जिनेन्द्र देव, जिनागम मे प्रसिद्ध, अष्ट प्रातिहार्य और अनन्त चतुष्टय अनतदर्शन, अनतज्ञान-अनतसुख और अनतवीर्य आदि विभूतियो एव आत्मिक सद्गुणों से विभूषित श्री तीर्थकर अरिहत देव ही हैं और ये श्री जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वाले, भव्य पुरुष, साक्षात् अरिहंत देव को सेवा करने वाले समवसरण की १२ सभाओ से सुशो-भित, ऐसे शास्त्रो मे प्रसिद्ध मुनि आर्यिका, श्रावक और श्राविका आदि सभासद है । इस प्रकार चितवन कर धर्मानुष्ठान करने वाले भक्त पुरुषो की सराहना-प्रशसा करनी चाहिये । तब ही आत्मा मे वीनराग विज्ञानता आदि सद्गुणो का सञ्चार होगा जैसे, नाटक मे सीता और राम का पार्ट खेलने वाले नटों को (चाहे वे जघन्य व्यक्ति क्यों न हों) दर्शक लोग जब साक्षात् सीता और राम समभते है तब ही उनके हृदय मे सीता और राम के समान सद्गुण-भक्ति, माता-पिता गुरु आदि पूज्य पुरुषों की कठोर से कठोर आज्ञा के

पालन करने में भयङ्कर कष्टों को परवाह न करना भ्रातृ प्रेम आदि नैतिक धार्मिक सद्गुणो का संचार होता है; अन्यथा नही। उसी प्रकार जिन प्रतिमाओ को भी ऊपर लिखे अनुसार साक्षादर्हन्त तीर्थङ्कर सदृश मानने मे ही भक्ति करने वालों का कल्याण होता है अन्यथा नही अर्थात् उन्हे वास्तविक तीर्थङ्कर भगवान् समझ कर भक्ति स्तुति करने से आत्मा की प्रवृत्ति अशुभ पाप रूप विषय कषाय मे हट कर शुभ पुण्य की ओर होती है। अतएव तत्काल पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य बन्ध होने से इष्ट चाही हुई वस्तु की प्राप्ति और अनिष्ट अशुभ का परिहार हो जाता है। भक्तामर स्तोत्र के रचयिता श्री मान-तुङ्गाचार्य को जिस समय राजा भोज ने हाथो मे हथकडी और पैरो मे वेडी डाल कर कारावास की अडतालीस कोठरियो के भीतर बन्द कर दिया था उस समय उन्होने सम्यग् ज्ञान पूर्वक निष्कपट भाव से भक्तामर स्तोत्र द्वारा आदिनाथ तीर्थ कर भगवान् की स्तुति की थी, उस समय उनकी आत्मिक प्रवृत्ति अशुभ से हट कर वेडियो वगैरह से होने वाले कष्टो की तरफ न जाकर भगवज्जिनेन्द्र की दृढ भक्ति रूप शुभ प्रवृत्ति मे आकृष्ट हुई, उस समय उन्हे सातिशय पुण्य बध हुआ; ऐसा होने से तत्काल उनका वेडी आदि वन्धनो से छुटकारा हुआ और देवायु का बंध हुआ ; इसी प्रकार विक्रम की २ री शताव्दी मे वहु-श्रुत विद्वान्, दर्शन शास्त्र के समुद्र, आचार्य समन्त भद्र को, मुनि अवस्था मे जव भस्मक रोग होगया, तब उन्होने अपने आचार्य से समाधिमरण करने की आज्ञा मागी, परन्तु आचार्य ने कहा कि तुम बहुश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् हो , जैन धर्म रूपी सूर्य को आच्छादित करने वाले, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य आदि एकान्तवादि प्रचण्ड मेघो को तितर बितर करने मे, खण्डन करने मे तुम्हारी प्रतिभा प्रचण्ड वायु के समान अप्रतिम है, इसलिये आपके द्वारा जैन धर्म रूपी सूर्य उग्र तेज से चमक कर भव्य प्राणियो के हृदय कमलो को प्रफुल्लित करेगा अर्थात् तुम्हारे द्वारा जैन शासन को स्थायी उन्नति होगी , इसलिये हम तुम्हे समाधि मरण करने की आज्ञा नही देते है, किन्तु कुछ समय के लिये मुनि दीक्षा का छेद किये देते हैं, क्योकि जैनेश्वरी दीक्षा मे अनर्गल प्रवृत्तिका निषेध है, ऐसा होने पर वे काशी मे दडी त्रिदण्डी का वेष बनाकर शिवजी के मन्दिर मे गये। वहा बारह मन से भी अधिक नैवेद्य मिष्टान्न लड्डू चढाया जाता था ये छिपकर मिष्टान्न खाने लगे। कुछ दिन वाद जब भस्मक रोग चला गया, तब शिवजी का नैवेद्य बाकी बचने लगा, तब राजा को पुजारियो के द्वारा सन्देह हुआ, अतएव पुलिस का पहरा लगाया गया; फिर उसके जरिये उनका पता पड गया, तब राजा ने इन्हे शिवजी को नमस्कार करने का आग्रह किया, नमस्कार न करने पर दण्ड का भय बताया, तब इन्होने स्वयभू स्तोत्र द्वारा भक्ति की गङ्गा बहाई। चन्द्रप्रभ तीर्थ कर भगवान् की स्तुति करने के समय शिवलिङ्ग से चन्द्र-

प्रभ भगवान् की प्रतिमा निकली; तब इन्होंने राजा और प्रजा के समक्ष जैन धर्म का स्वरूप एवं नमस्कार करने योग्य तीर्थ करो का स्वरूप समझाया। शिव कोटि राजा की जैन धर्म पर अगाढ श्रद्धा हुई और उन्होने जैन धर्म को धारण किया। तथा अनेक प्रजा के लोगो ने भी जैन धर्म धारण किया; इसलिये भक्ति का अनन्त माहात्म्य है, जिस प्रकार पारस पाषाण के ससग से लोहा सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार श्रीमज्जिनेन्द्र तीर्थ कर भगवान् की भक्ति के सङ्ग से यह ससारी आत्मा भी मोक्ष मार्गी हो जाता है। आगे देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति के फल बतलाते है:—

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्ति सदाऽस्तु मे। सम्यक्त्वमेव संसारवारण मोक्षकारणम्॥१॥
श्रुते भक्ति श्रुते भक्ति श्रुते भक्तिः सदास्तु मे। सज्ज्ञानमेव ससारवारणं मोक्षकारणम्॥२॥
गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्ति सदाऽस्तु मे। चारित्रमेव ससारवारण मोक्षकारणम्॥३॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति, सदा मेरे हृदय मे उत्पन्न हो जिसके द्वारा ससार को नाश करने वाले और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सम्यगदर्शन की प्राप्ति होती है। भगवान् तोर्थकर के द्वारा निरुपित (१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग रुप द्वादशाग शास्त्रो की भक्ति हमारे हृदय मे उत्पन्न हो जिसके द्वारा ससार को नाश करने वाले और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। निर्ग्रन्थ वीतराग गुरुओ की भक्ति, सदा मेरे हृदय मे उत्पन्न हो, जिसके द्वारा ससार को नाश करने वाले और मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सम्यक् चारित्र का प्राप्ति होती है। निष्कर्ष यह कि जिन प्रतिमा को आदर्श मानकर उनकी भक्ति करने से, हमारी आत्मिक प्रवृत्ति, अशुभ, मिथ्वात्व, अन्याय और अभक्ष्य से हटकर, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे प्रवृत्त होती है जो कि स्वर्ग एव मोक्ष के कारण है।

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते, द्विषन् त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि, प्रभोः परं चित्रमिद तवेहितम् ॥६९॥ (स्वयभूस्तोत्र)

अर्थ—हे प्रभो! जो आपकी भक्ति स्तुति करता है उसको स्वर्ग की लक्ष्मी अपने आप प्राप्त हो जाती है और जो आपसे द्वेष कर निन्दा गर्हा करता है वह व्याकरण के क्विप प्रत्यय के समान नष्ट हो जाता है और नरक निगोद का पात्र होता है; किंतु आप दोनो से ही अत्यन्त उदासीन है; यह बडे आश्चर्य की बात है। **भावार्थ**—आपकी भक्ति करने वाला भक्त पुरुष, आपके गुणो-वीतराग-विज्ञानता आदि को देखकर, प्राप्त कर, स्वय स्वर्ग लक्ष्मी के सुखो को प्राप्त हो जाता है। जब कि आपकी निदा करने वाला पापी, मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य मे फसा रहने के कारण; नरक निगोद भयंकर दुःख भोगता है, यह सब शुभ और अशुभ परिणति होने से स्वयं प्राप्त होता है किंतु

हे प्रभो! आप दोनो से ही उदासीन रहते है। आपकी चेष्टा आश्चर्य जनक है। कहा भी है—

"देवान् गुरून् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमति स्यात् (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—सच्चे देव, सच्चे गुरु और दयामयी धर्म की भक्ति करने वाला कभी दु:खी नही होता। इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार सच्ची भक्ति का फल स्वर्गादि सुखो की प्राप्ति स्वय हो जाती है।

५वें प्रश्न का उत्तर —

निष्कपट भाव से सम्यग्ज्ञान पूर्वक, भगवज्जिनेन्द्र के स्वरूप को समझकर की जाने वाली भक्ति का फल अवश्य मिलता है। सच्ची भक्ति कदापि निरर्थक नही होती, किन्तु वह सच्ची और सच्चेपन से होनी चाहिये। कहा भी है — (कल्याण मन्दिर)

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि। नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ॥
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दु ख पात्र। यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भाव शून्या ॥३८॥

हे भगवन्! यद्यपि मैने अनेक बार अपके पवित्र दर्शन किये एव आपके पवित्र सद्गुणो को सुना, तथा पूजा भी की; किन्तु मैंने सच्ची भक्ति से अपने हृदय मन्दिर मे आपको विराजमान नही किया, इसी कारण हे प्राणियो केबन्धु! भगवन्! मैं दु खी रहा; क्योकि सच्चे निष्कपट भावो के बिना धार्मिक अनुष्ठान सफली भूत नही होते।

अर्हच्चरणसपर्या, महानुभाव महात्मनामवदत्।
भेक प्रमोदमत्त, कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥ (रत्नकरण्ड)

अर्थ—एक मेढक प्रसन्न होकर फूल की पाखुडी को मुह मे दबा कर राजगृही नगरी मे विपुलाचल पर्वत पर आये हुए श्री वीर प्रभु के समवसरण मे आया। उसने सब महापुरुषो के समक्ष पूजा की एव भक्ति का माहात्म्य प्रगट किया; इसलिये भक्ति सच्चे भावो से की जानी चाहिये तभी सफल होता है। झूठी-मायाचार पूर्वक दिखावटी तथा अज्ञान पूर्वक भक्ति कदापि सफल नही होती। कहा भी है—

"ध्यातोगरुड़वोधेन न हि हन्ति विषं वक" (क्षत्र चूडामणि)

भावार्थ—सर्प का विष उतारने के लिये विषवैद्य गरुड का ध्यान करते है तबही विष उतरता है। यदि विषवैद्य वगुले को गरुड़ मान कर मन्त्र पढे तो कदापि विष नही उतरता; उसी प्रकार यदि हम कुदेवादि को सच्चा देवादि मान कर भक्ति करे तो दु ख ही प्राप्त होगा, सुख की प्राप्ति नही हो सकती।

६ठे प्रश्न का उत्तर :—

भव्य जीवो को भगवान् की भक्ति के माहात्म्य से जब सातिशय पुण्य बन्ध होकर स्वर्ग लक्ष्मी और परम्परा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तो सासारिक इष्ट सामग्री पुत्र धनादिक की प्राप्ति साधारण वात है – जैसे, कृषक केवल धान्य की इच्छा से बीज बोता है, भूसा वगैरह स्वय मिल जाते है, उसी प्रकार ऐहिक लाभ की इच्छा के बिना भक्ति

करने से मुख्य स्वर्गादि की प्राप्ति है और ऐहिक पुत्र धनादिक की प्राप्ति साधारण बात है।

७वें प्रश्न का उत्तर —भक्त भगवान् के वास्तविक स्वरूप को समझ कर तदनुकूल कर्तव्य पालन कर कालान्तर मे भगवान् के समान हो जाते हैं। कहा भी है—

नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ।, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभीष्टुवन्त ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा, भूत्याश्रितं य इह नाथ ! सम करोति।।१०।।भक्तामर

अर्थ—हे पृथिवी के रत्न ? प्रभो ? आपके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि सद्गुणों से आपकी स्तुति भक्ति करने वाले प्राणी आपके समान हो जाते है, इसमे कोई आश्चर्य नही? ठीक ही है ससार मे ऐसे स्वामियो से क्या लाभ! जो अपने आश्रितो को अपने समान न कर सके; इसलिये हे प्रभो! आप तीन लोक के स्वामी हो। आपके भक्त अवश्य भक्ति करने से आपके समान हो जाते है। **जल छानने का विधान** —

श्रावक को जल छान कर ही पीने आदि के काम मे लाना चाहिए; इसलिए अब यहां जल छानने की विधि बतलाते है। पुद्गल परमाणुओ से जल बनने के साथ ही उसमे जल रूप शरीर के धारक एकेन्द्रिय स्थावर जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो कि जल कायिक कहलाते है; एव जो जल है वह भी जल काय के जीवो का शरीर कहलाता है। गृहस्थावस्था मे स्थावर काय के जीवो की हिसा से पूर्ण रूप बचना असम्भव है अत पहिली प्रतिमा के धारक श्रावक ऐसे जल को पीने वगैरह के काम मे लेते हैं; परन्तु इतना अवश्य है कि वह इन स्थावर जीवो की हिंसा से बचने के लिये जहा तक हो सके वहा तक उस जल से अपनी आवश्यकता को ही पूर्ण करते है, बिना विचारे व्यर्थ जल को नही ढोलते:- जैसे, जल मे जल काय के स्थावर जीव है उसी प्रकार एक २ जल की बूद में अगणित त्रसजीव भी हैं। एकेन्द्रिय जल कायिक जीव तो इतने सूक्ष्म दर्शक यंत्र (खुर्दबीन) से भी नही देखे जा सकते, परन्तु जल के त्रसजीवो को (कीटाणुओ) को आजकल वैज्ञानिक लोगो ने खुर्दबीन से पूरी तौर से नही तो कुछ २ देख लिया है और उनका चित्र भी ले लिया है। अत त्रसजीवो के बचाव के लिये जल का छानना अत्यावश्वक बताया है। जल छानने के वस्त्र का परिमाण बतलाते हुए कहा है कि—

षट्त्रिंशदंगुल वस्त्रं, चतुर्विंशतिविस्तृतं। तद्वस्त्र द्विगुणी कृत्य, तोयं तेन तु गालयेत् ।।१।।
(पीयूषवर्ष श्रावकाचार)

अर्थ—३६ अगुल लम्बा तथा २४ अगुल चौडा वस्त्र लेकर उसे दोहरा करे और उससे छना हुआ जल पावे और भी कहा है —

वस्त्रेणातिसुपीनेन, गालितं तत्पिबेज्जलम्। अहिंसाव्रतरक्षायै, मांसदोषापनोदने ।।३४।।
अम्बुगालितशेषं, तन्न क्षिपेत्क्वचिदन्यतः। तथा कूपजलं नद्यां, तज्जलं कूपवारिणि।।३५।।
धर्म स श्रावकाचार अ ६

अर्थ—अत्यन्त गाढे (जिसमे सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई न दे) ऐसे दोहरे नातने

(कपडे) से छना हुआ जल पीना चाहिये। ऐसा करने से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है अर्थात् त्रसजीव उस कपड़े में रह जाते है और छना हुआ जल त्रसजीव रहित समझा जाता है। त्रसजीवो के भक्षण न करने से माँस भक्षण के दोष से बच जाता है।

भावार्थ—जिन कुए वा जलाशय से वह जल लाया गया हो उसको वही पहुंचाना चाहिये। एक जगह की जिवाणी दूसरी जगह पहुंचाने पर भी जीव मर जाते है; क्योकि वह स्थान उनकी प्रकृति के विरुद्ध होता है। जिवाणी को कुए पर ले जाकर ऊपर से डालने मे जल की टक्कर से जल के जीव मर जाते है, इसलिये जिवाणी को कडीदार बालटी भवर कडी की बालटी से कुए मे भेजना चाहिये। जो जल दोहरे छन्ने से छाना जा चुका है उसके विषय मे भी कहा है कि—

मुहूर्त्त गालितं तोयं, प्रासुकं प्रहरद्वयम्। उष्णोदकमहोरात्रं, तत. संमूर्छितं भवेत्।६१।(शिवरत्न)

अर्थ—छना हुआ जल एक मुहूर्त्त तक, तथा प्रासुक किया हुआ दोपहर तक, और उकाला हुआ जल ८ प्रहर तक त्रसजीवो से रहित होता है; इसके पीछे फिर उसमे त्रस-जीव उत्पन्न हो जाते है; इसके अनुसार छने हुए जल मे एक मुहूर्त २ घडी ४८ मिनट के पश्चात् फिर त्रसजीव उत्पन्न हो जाते हैं; इस कारण इतने समय के जल को फिर से छान कर पीना चाहिये। जिस तरह से छना हुआ जल पीने के काम मे लिया जाता है उसी तरह छने हुए जल से ही स्नान शौच आदि सब कार्य करने चाहिये; क्योकि बिना छने हुए जल से स्नानादि करने मे पीने से भी अधिक हिंसा ही है, क्योकि एक बार पीने मे तो थोडा ही जल काम मे आता है किन्तु स्नान करने में तो मनो जल का दुरुपयोग किया जा सकता है। कहा भी है—

एकबिंदुद्भवा जीवा., पारावतसमं यदि। भूत्वा चरन्ति चेज्जम्बूद्वीपोऽपि पूर्यते च तं ॥१६॥

—: हिन्दी पद्यानुवाद :—

एकबूंद बिलछाणी मांहि, जीव असंख जिनेन्द्रबतांहि।
जो होवे कापोत समान, भरै भरत भाखै भगवान् ॥१॥

अर्थ—श्लोक और इस दोहे के अनुसार बिन छाने जल की एक बूंद मे इतने असंख्य जीव है कि वे कबूतर जितने बडे होकर उडे तो उनमे सारा भरत क्षेत्र अथवा जम्बू-द्वीप भर जावे। अत. धर्मात्माओ को चाहिये कि वे छने हुए जल को भी बहुत विचारकर, खर्च करें; क्योकि उसमे त्रसजीवो की हिंसा न हो तो भी जल काय के जीवो की हिंसा तो होती ही है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक केप्टेन स्कवोसेबी महोदय ने खुर्दबीन से एक जल बिन्दु मे ३६४५० जानवर त्रसजीव देखे है। गवर्नमेंट इलाहाबाद मे छपी हुई इनकी बनाई हुई सिद्ध पदार्थ विज्ञान नामक पुस्तक मे उन जीवो का चित्र छपा हुआ है। जो लोग

सर्वज्ञ कथित आगमो की आज्ञा पर विश्वास न करके केवल प्रत्यक्ष देखी हुई बात पर ही विश्वास करते है उनको उक्त बात पर विश्वास करना चाहिए और यह भी विचारना चाहिये कि जब जड स्वरूप यन्त्र खुर्दबीन द्वारा ही इतने जीव दिखलाई दे रहे है, तब आत्म शक्ति द्वारा उत्पन्न हुए दिव्यज्ञान से तो इससे भी अधिक जीव दिखलाई देते होगे। इसमे कुछ भी शका नही है; इसीलिए शास्त्र मे कहा है कि—

एगम्मि उदगबिंदुमि, जे जीवा जिणवरेंहि पण्णत्ता। ते जइ सरिस व मित जम्बूदीवे ण मायंति।

अर्थ—एक जल विन्दु मे चलते फिरते इतने जीव है कि सरसो के दाने के बराबर हो जावे तो इस जम्बू द्वीप मे न समावे, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। अत. जैनियों का एव जीव दया पालने वालो का यह धर्म है कि कठ गत प्राण होते हुए भी जल को विना छना हुआ कार्य मे नही लावे। विना छाने जल पीने का जैनेतर शास्त्रो से भी निषेध दिखाते है—

दृष्टिपूत न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जल पिवेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं, मन पूतं समाचरेत् ॥४६॥

(१) पृथ्वी पर आखो से देख कर पग धरना चाहिये (२) वस्त्र से छान कर जल पीना चाहिये (३) सत्यता से पवित्र वचन बोलना उचित है और (४) जो कार्य निज मन मे उत्तम हो वही करना योग्य है। और भी कहा है—

संवत्सरेण यत्पाप कुरुते मत्स्यवेधक। एकाहेन तदाप्नोति, अपूतजलसंगृही॥ (लिङ्गपुराण)

अर्थ—मच्छी मारने वाला धीवर १ वर्ष भर मे जितना पाप करता है, उतना पाप विना छने हुए जल को काम लेने पीने आदि कार्य मे खर्च करने वाले को एक दिन में होता है। उत्तरमीमासा मे लिखा है कि—

लूताभ्य तन्तुगलिते ये, विन्दौ सन्ति जन्तव। सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते, नैव मान्ति त्रिविष्टपे॥

अर्थ—मकडी के मुख से निकले हुए जल से भरी हुई बूद मे इतने सूक्ष्म जीव हैं कि यदि वे भौरे जितने बडे होकर उडे तो तीन लोक मे नही समावे। और भी कहा है—

जलके एक ही बिदु मे, रहते जीव असख्य। बिन छाने मत बापरो, होवे पाप निसंख्य॥
बिन छाना जल जो पीवे, वे नर पापी होय। त्रस हिंसा के पाप से, जावे नरके सोय॥
-जीते रहो जीने दो जीते ही सुख होय। जीने मे बाधा करे ते नर पापी होय॥
वर्तन मुख से तीगुना छत्तीस चौवीस होय। पानी उससे छानिये जीव घात नही होय॥
"त्रिशदगुलप्रमाण, त्रिशत्यंगुलमायत। तद्वस्त्र द्विगुणीकृत्य गालयेच्चोदक पिबेत्॥"
तस्मिन् वस्त्रे स्थिता जीवा स्थापयेज्जलमध्यतः। एव कृत्वा पिबेत्तोयं स याति परमां गतिम्॥

अर्थ—तीस अगुल लम्बा और बीस अगुल चौडा वस्त्र लेकर उसे दोहरा करके उससे छान कर जल पीवे और उस वस्त्र मे जो जीव है उनको उसी जलाशय मे जहा से

कि जल आया हो वहा पर स्थापित कर देना चाहिये। इस प्रकार से जो मनुष्य जल पीता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है। आगे रात्रि भोजन का निषेध दिखाते है—

मद्यपलमधुनिशाशन, पञ्चफलिविरतिपञ्चकाप्तनुती।

जीवदयाजलगालन, मति क्वचिदष्टमूलगुणा ॥१८॥ (सागर धर्मामृत २ अ.)

अर्थ—मद्य, मास, मधु रात्रि भोजन, ५ उदुम्बरादि त्याग, पञ्च परमेष्ठियो को नमस्कार करना जल छान कर काम मे लाना, और जीवो पर दया करना, ये आठ मूल गुण बतलाये है। इनमे रात्रि भोजन का त्याग आठ मूल गुणो मे शामिल किया है। और भी कहा है—

एयादसेसुपढमं, विजदो निसि भोजणं कुणंतस्स।

ठाणं न ठाइ तम्हा, णिसि भुत्तं परिहरे णियमा ॥३१४॥ (वसुनन्दी उपासकाध्ययन)

अर्थ—रात्रि मे भोजन करने वाले श्रावक को ग्यारह प्रतिमाओ मे से पहली प्रतिमा भी नही है, इसलिये रात्रि भोजन का अवश्य त्याग करना चाहिये। इस गाथा मे पाक्षिकावस्था मे ही रात्रि भोजन का त्याग करना आवश्यक बतलाया है। जैन धर्म के धारण करने वालो के घरो मे वश परम्परा से रात्रि मे भोजन बनाने व खाने की निषेध रूप प्रवृत्ति चली आ रही है। और भी कहा है—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं, मूलव्रतविशुद्धये। निशाया वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दु खदाम ॥२३४॥

अहिंसा व्रत की रक्षा और आठ मूल गुणो की निर्मलता के लिये एव मास त्याग गुण मे दोष न लगने पावे इसलिये और इस लोक सम्बन्धी रोगादि दु खो से बचने के लिये तथा परलोक सम्बन्धी दुर्गति आदि दु खो से बचने के लिये, रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिये, यह रात्रि भोजन त्याग अष्ट मूल गुणो का पोषक है, अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो जैन नाम के धारक है, उनके लिये रात्रि भोजन करना मना है। अन्न मे (चावल, मूग, जौ, गेहूँ आदि) पान मे (जल दूध आदि) चर्व्य मे (सुपारी इलायची आदि) और लेह्य मे (चाटने योग्य रबडी मलाई आदि) ये चार प्रकार की चीजे हैं, इन सबका मन, वचन, काय, व कृत, कारित, अनुमोदना से उत्सर्ग रूप पूर्ण त्याग तो दूसरी प्रतिमा मे होता है, और इसका साधक अपवाद रूप त्याग अभ्यास के लिये नीचे की अवस्था मे होता है। अत पाक्षिक श्रावक को यथाशक्ति इसका त्याग अवश्य करना चाहिये। न करने से कुछ करना तो अच्छा है, इस नीति को सदा ध्यान मे रखना चाहिये। सूर्यास्त के होने पर अन्धकार फैल जाता है। अत अधेरे में जब भोजन की चीजो मे पडी हुई मक्खी भी देखने मे नही आती, तब मच्छर वालुकी कीडी आदि सूक्ष्म जीव तो देखे ही कैसे जा सकते हैं ? यदि दीपक आदि का प्रकाश किया जावे तो प्रकाश के पास दूर २ से

पतङ्ग आदि त्रसजीव उड २ कर आजाते हैं, खुले दीपक में तो लालटेन (कंडील) के गरम काच से टकरा २ कर झुलस जाते है। बहुत से मच्छर जीते ही भोजन मे गिर पड़ते हैं। अगर बिजली के प्रकाश में भोजन किया जावे तो भी एक तो दिन जैसा उजेला नहीं होता, दूसरे अनेक प्रकार उडने वाले कीडों की हिंसा तो उसमें और भी अधिक होती है। अत दीपक आदि के प्रकाश में भोजन करने वाले न तो त्रसजीवो की हिसा से बच सकते है, और न जीते वा मरे हुए त्रसजीवों के खाने मे पूर्ण रूप से मांस के त्यागी ही हो सकते है। यदि कोई त्यागी हुई वस्तु थाली में परोस दी जावे तो वह भी खाने में आजाती है। अतः प्रतिज्ञा भङ्ग का दोष भी लगता है। रात्रि भोजन बनाने मे आटे दाल वगैरह में लट, ईली, कीड़ी, सुलसुली आदि सूक्ष्म त्रसजीव नही दिखाई पडते है। चौथे मच्छरादि भोजन मे भी गिर जाते है। इस रात्रि का बना हुआ भोजन दिन में खाने से भी त्रस हिसा का बचाव नही हो सकता, यदि रात्रि मे भोजन बनाकर रात्रि में खाया जावे तो द्विगुण पाप का भागी होना पडता है, अत· दिन का बनाया हुआ रात्रि में और रात्रि का बनाया हुआ दिन मे नही खाना चाहिये अर्थात् दोनो तरह का भोजन त्याग कर देना चाहिये कारण कि रात्रि भोजी किसी भी दशा मे मांस भक्षण के दूशण से नही बच सकता है। रात्रि के समय बहुत से शुभ कार्य करना भी वर्जित है, क्योकि भूत पिशाचादि का सञ्चार हो जाता है, जैसे देव पूजन, पात्र दान आदि धार्मिक कार्य भी रात्रि मे नही किये जाते, तथा भोजन करना भी एक शुभ कृत्य है। अतः इस अपेक्षा से भी रात्रि भोजन त्याज्य है रात्रि के अन्धकार में खान पान करने से सूक्ष्म त्रसजीवो का घात ही नही होता, किन्तु निज शरीर मे भी अनेक प्रकार के रोग हो जाते है; जैसे, कहा भी है—

कीड़ी बुद्धि बल हरै, कंपगद करै कसारी। मकडी कारण पाप कोढ़, उपजे अतिभारी॥
जुआ जलोदर करै, फांस गल बिथाबढावै, बाल करै स्वर भंग, वमन मक्खी उपजावै॥२॥
तालु छिद्र बिच्छु भखत, और व्याधि बहु करहि थल।
यह गट प्रदोष निशि अशनामें, परभव दोष परोक्ष फल॥३॥ (यशस्तिलकआश्वास)

देवार्चा भोजनं निद्रामाकाशे न प्रकल्पयेत्। नान्धकारे न सध्यायां, नाविताने न निकेतने॥

अर्थ—देव पूजन, भोजन करना, और निद्रा लेना, ये तीनो कार्य आकाश ऊपर से खुले हुए स्थान मे, अन्धेरे मे, सन्ध्या काल मे और ऐसे मकान मे जिसकी छत के नीचे वस्त्र, चदोवा नही लगा हो, न करे। जहां पर दिन मे भी अधेरा हो वहा पर भोजन करना निषेध बतलाया गया है, अतः इससे बिना कहे ही रात्रि भोजन का निषेध हो जाता है। प्रातः काल तारे मिटने लगे जबसे, आधा सूर्य नही निकले तब तक और सायकाल को आधा सूर्य अस्त होने के समय से नक्षत्र दिखलाई देने लगे तब तक सन्ध्या काल समझा

जाता है। यह दिन और रात्रि के बीच का काल है और प्राय सभी मत वालों ने इसको ध्यान करने के लिये बचाया है। जैन शास्त्रो के पठन पाठन के लिये भी निषिध बतलाया है, परन्तु देखा जाता है कि बहुत से रात्रि भोजन त्यागी जैन सायकाल को इसी समय मे भोजन करना अच्छा समझने लगे है और विशेष कार्य न हो तब भी सूर्यास्त के समय भोजन करते है, यह धर्म-शास्त्र, नीति तथा लोक व्यवहार से विरुद्ध है; अत इस काल को बचा कर ही भोजन करना चाहिये और भी कहा है—

ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा।
भुञ्जते जितहृषीकवाजिनस्ते भवन्ति भवभारवर्जिता ॥४७॥(अमितगति श्रावकाचार अ ५)

अर्थ—इन्द्रिय रूपी घोडो को जीतने वाले जो जितेन्द्रिय पुरुष दिन के आदि और अन्त की दो २ घडियो को छोड कर भोजन करते है वे मोह रूपी अन्धकार का नाश करके शीघ्र ही महोदय (केवल ज्ञान रूपी प्रकाश) को प्राप्त करते हैं। चारित्रसारादि ग्रथो मे रात्रि भोजन त्याग को छठा अणुव्रत भी माना है इसका खुलासा आगे व्रत प्रतिमा मे किया जायगा। जब जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपने आत्म—कल्याण का इच्छुक होता है, तब वह श्रावक बनना चाहता है, क्योकि आचार्यो ने कर्म के आवेश को रोकने के वास्ते चारित्र ही एक अमोघ बाण समझा है। बिना चारित्र के न तो किसी के कर्म कटे और न किसी की किसी प्रकार से सिद्धि हुई, अतः वह सम्यग्दृष्टि पुरुष श्रावक बनने के लिये व्रत की प्रथम पाक्षिक अवस्था को ग्रहण करता है तो पाक्षिक मे उस को सबसे पहले अष्टमूल गुणव्रत धारण करना पडता है। **रात्रि भोजन त्याग छठा अणुव्रत है:—**

हिंसादिक पाच पापो की एक देशत निवृत्ति (स्थूल रूप से त्याग) का नाम अणुव्रत और सर्वत निवृति का नाम महाव्रत है। वास्तव मे सावद्य योग को व्रत कहते हैं; परन्तु यहा पर आपेक्षिक कथन है; वह निवृत्ति किंचित् होने से अणुव्रत और सर्व प्रकार त्याग होने से महाव्रत कहलाती है। गृहस्थ लोग समस्त सावद्य योग का (हिंसा कर्मो का) पूरी तौर से त्याग नही कर सकते, अत उनके लिए आचार्यो ने अणु रूप से व्रतो का विधान किया है। जिनकी संख्या और विषय सम्बन्ध मे कुछ आचार्यो के परस्पर मतभेद है; उनको यहा दिखाते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे, भगवान् कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड मे, उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में, सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक में, वसुनन्दी आचार्य ने अपने श्रावकाचार मे, आचार्य अमित गति मुनि ने उपासकाचार मे, तथा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने योग शास्त्र मे, अणुव्रतो की संख्या पाच ही बतलाई है। जिनके नाम आदि इस प्रकार है। १ अहिंसा २. सत्य ३ अचौर्य ४ ब्रह्मचर्य, ५. परिग्रह परिमाण ये पाच प्रकार से इन अपने प्रतिपक्षी स्थूल हिंसादिक पापो से विरति रूप वर्णन किये हैं।

श्वेताम्बरों के भी उपासक दशाग सूत्र मे इन्ही का उल्लेख है तथा इन्ही का श्रावक प्रज्ञप्ति नाम का ग्रन्थ भी विधान करता है, परन्तु ऐसे विद्वान् व आचार्य भी हुए हैं जिन्होने रात्रि भोजन विरति नाम के एक छठे अणुव्रत का भी विधान किया है। कहा भी है–

"अस्य अणुव्रतस्य पंचधात्व बहुमतादिष्यते क्कवचित्तु रात्र्यभोजनमत्यणुव्रतमुच्यते" सा.ध टीका

प० आशाधरजी जो कि तेरहवी शताब्दी के विद्वान् है, वे इस प्रकार इन वाक्यो द्वारा बतलाते है, कि अणुव्रतो की यह पाच सख्या बहुमत की अपेक्षा से है। कुछ आचार्यों के मत से रात्रि भोजन विरति भी एक अणुव्रत है, सो वह अणुव्रत ठीक ही है। कहा भी है–

"व्रतत्राणाय कर्तव्यं, रात्रि भोजनवर्जनम्। सर्वथान्नान्निवृतेस्तत् प्रोक्त षष्ठमणुव्रतम्"।७०।

यह वाक्य श्री वीर नन्दी आचार्य का है जो आजसे ८०० वर्ष पूर्व विक्रम की १२ वी शताब्दो मे होगये है। इसमे कहा गया है, कि अहिसादि व्रतो की रक्षा के लिये रात्रि भोजन का त्याग भी आवश्यक है और यह सब प्रकार की अन्न निवृत्ति से छठा अणुव्रत कहा है। **भावार्थ**—यह है कि श्रावक को अहिसाव्रत आदि व्रतो को पालन करने के लिये रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत भी अवश्य पालन करना चाहिये। रात्रि भोजन के त्याग बिना अहिसादि पाच शेष व्रतो की रक्षा नही हो सकती; क्योकि रात्रि भोजन मे पूर्ण हिसा की सम्भावना रहती है, और जब अहिसा व्रत भी नही पला तो व्यर्थ है अथवा वे भी नही पल सकते क्योकि अहिसा व्रत एक धान्य के समान मुख्य है और शेष व्रत उसकी रक्षा के लिये बाड स्वरूप है। यदि खेत का मुख्य फल रूप धान्य विनष्ट हो जावे और बाड बनी रहे तो उससे क्या लाभ हो सकता है? यहा पर मुनियो के व्रतादि के वर्णन के प्रकरण मे यह रात्रि भोजन त्याग का लक्ष्य गृहस्थियो के लिये ही है। मुनियो का तो आहार गृहस्थी के घर ही होता है, और गोचरी दिन मे ही होती है, अत रात्रि भोजन उनके लिये सम्भव न होने से त्याग स्वत सिद्ध है। दूसरे मूल पद्य मे"षष्ठमणुव्रतम्" यह शब्द दिया है अत छठा अणुव्रत ही हो सकता है। महाव्रत पाच ही रहेगे। क्योकि महाव्रती मुनियो की चर्या इस प्रकार नियम बद्ध है कि जिससे रात्रि भोजन त्याग स्वत सम्पन्न हो जाता है, किन्तु भोले जीव रात्रि भोजन करके हम अणुव्रती हैं–ऐसा समझ कर त्रसजीवो के हिसा के पाप के भागी न बने, तथा अहिसाणुव्रत पर पूर्ण ध्यान हो जावे, अत बहुत से आचार्यो ने इसको छठा व्रत कह दिया है, किन्तु साथ मे यह पद जो लगाया है कि 'व्रतत्राणाय" अर्थात् व्रतो की रक्षा के लिये सो स्पष्टीकरण करता है कि यह"रात्रि भोजन त्याग" अहिसाणुव्रत मे गर्भित है एव उसका एक अङ्ग है तथा परमावश्यक है और विशेष एव प्रधान अहिसा का अग होने से ही रात्रि भोजन त्याग पर आचार्यो ने जोर देकर अल्पज्ञो को स्पष्ट करने के लिये छठा अङ्ग तक बतला दिया है। सूक्ष्म-दर्शी, कुशाग्र

बुद्धि, मितभाषी समन्तभद्र स्वामी ने अहिंसाणुव्रत मे इसका अन्तर्भाव होने मे ही पृथक् उल्लेख नही किया है ऐसा प्रतीत होता है। "सर्वथान्ननिवृत्ते" इस शब्द से सब प्रकार भक्षणीय पदार्थो की प्रतीति होती है। क्योकि यदि अन्ननिवृत्ति मात्र ही अभिमत होता तो "अन्ननिवृत्ते" इस शब्द मे अन्न मात्र एवं सब अन्नो की निवृत्ति हो सकती थी। यहा पर सर्वथा शब्द से सूचित होता है कि अन्न शब्द यहा पर व्युत्पत्त्यात्मक है अर्थात् अभक्षणीय से क्त प्रत्यय होने पर बना है, अत यावत् भक्षणीय पदार्थो का बोधक है इस कारण "खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य, चर्व्य" सबही की निवृत्ति समझनी चाहिये। सर्वथा शब्द इस बात का अभिव्यञ्जक है। यहा पर मुनियो का प्रकरण होते हुए भी "सर्वथा" शब्द उनके लिये नही आया है, क्योकि मुनि धर्म तो 'षष्ठमणुव्रतम्" कथन मात्र मे विभक्त सा हो जाता है और रात्रि भोजन त्याग मुनियो की चर्या मात्र से ही हो जाता है और भी कहा है 'एतावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्वानुकम्पयाविरमणंरात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम् 'बधादसत्याच्चौर्याच्च,कामाद्ग्रंथान्निवर्तनम्।पचधाणुव्रत रात्र्यभुक्ति षष्ठमणुव्रतम्"।।चारित्र

ये वचन श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य चामुण्डराय के है जो आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले विक्रम की ११ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे हो गये है। यहा पर यह स्पष्ट रूप से बतलाया है, कि रात्रि भोजन त्याग को छठा अणुव्रत कहते हैं। यह उन पाच प्रकार के अणुव्रतो से भिन्न बताया गया है जो हिंसाविरति आदि नामो से कहे गये हैं। यहा पर इतना विशेष अवश्य है कि वीरनन्दी आचार्य ने तो केवल अन्न शब्द का प्रयोग किया है और इन्होने स्पष्ट "अन्न पान खाद्य लेह्य" इस प्रकार चार शब्दो से चार प्रकार के आहार के त्याग को छठा अणुव्रत माना है। भगवान् पूज्यपाद स्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थ के सातवे अध्याय मे प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए 'रात्रि भोजन विरमण" नामक छठे अणुव्रत का उल्लेख इस प्रकार किया है —

"ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमण तदिहोपसख्यातव्यं, न भावना स्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते, तत्रालोकितपानभावनाकार्योति" ।। सर्वार्थसिद्धि ७ अध्याय

पूज्यपाद स्वामी का अस्तित्व काल विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध माना गया है। उस समय रात्रि भोजन विरमण नाम का छठा अणुव्रत प्रचलित था। परन्तु उमा स्वामी आचार्य ने तत्वार्थ सूत्र मे इस छठे अणुव्रत का विधान नही किया, इसलिये प्रतीत होता है कि उस समय यह छठे व्रत रूप मे प्रचलित न होगा। अकलङ्क स्वामी ने भी अपने राजवार्तिक मे पूज्यपाद के वाक्यो का प्राय अनुसरण और उद्धरण करते हुए रात्रि भोजन विरति को छठा अणुव्रत प्रकट किया है। [तदपि षष्ठमणुव्रतम्; और उसके विषय मे उन्होने ही विकल्प उठाकर उसे आलोकित पान भोजन नाम की भावना मे अन्तर्भूत

किया है। यहा यह विचारणीय है कि वीतराग महात्माओं के उपदेश मे भी समय के अनुकूल फेरफार हुआ करता है; यहा तक कि सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् ने भी अपने समय के साधु वर्ग को समयानुसार उपदेश दिया है सो नीचे बताया जाता है।

बावीस तित्थयरा सामाइय संजमं उवदिसतिछेदोवट्ठावणियं पुन भयव उसहोय वीरोय।३२।७

अर्थ—उस समय मुख्यता से उनके उपदेश मे फेरफार हो जाता था किन्तु उद्देश्य मे भेद न था—जैसे, भगवान् आदिनाथ स्वामी ने और भगवान् महावीर स्वामी ने अपने समय मे छेदोपस्थापना चारित्र का उपदेश दिया और भगवान् अजितनाथ स्वामी के समय से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक जो २२ तीर्थङ्करो का समय था उसमें उन्होने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया। **प्रश्न**—आदि अन्तिम तीर्थङ्कर ने तो छेदोपस्थापना का उपदेश किया और मध्यवर्ती २२ तीर्थङ्करो ने सामायिक चारित्र का उपदेश दिया इसमे क्या कारण है? **उत्तर**—प्रथम आदिनाथ स्वामी के समय जो शिष्य वर्ग थे वे सरल परिणामी थे अत भूल जाते इस कारण से प्रथम तीर्थङ्कर ने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया और अन्तिम तीर्थङ्कर के समय की जनता मे मायाचार की मात्रा थी अत वक्र परिणामी थे, उनके हित के लिये छेदोपस्थापना का उपदेश कार्यकारी था। शेष बाईस तीर्थङ्कर के जमाने मे शिष्य वर्ग साधुओ मे न तो भोलापन ही था और न वे वक्र परिणामी एव मायाचारी ही थे। अत उन्हे सामायिक चारित्र का उपदेश दिया। बात यह है जिस समय जैसी आवश्यकता होती है उस समय वैसा ही प्रतिपादन किया जाता है। जैसे आदिनाथ पुराण मे यज्ञोपवीत का कथन कर दिया सो मान्य ही है। इसके अतिरिक्त देश मे जब जैनेतर का बहुत जोर होगया और जैन मन्दिरो की रक्षा करना अत्यन्त कठिन जान पडा, उस समय इन भट्टारक लोगो ने मन्दिरो मे क्षेत्र पालादि विराजमान करना उचित समझा. इसके उपरान्त इस देश मे जब यवन लोगो का शासन रहा, तब मन्दिरो मे मसजिद बनवाकर धर्म के नेता लोग धर्मायतनो की रक्षा करते थे, किन्तु इस समय जैसा धर्म मे ढोग न था। जो उपादेय नही हैं उसे हेय समझना तथा हेय को उपादेय समझने से केवल जैन धर्म का ही नही, आत्मा का भी अत्यन्त अनिष्ट हो जाता है। आजकल जैनो मे भी रात्रि भोजन करने की प्रथा बहुत चल रही है, इस कुप्रथा को छोडने की अत्यावश्यकता है जिसने पचोदुम्बर और तीन मकार का त्याग किया है उसको रात्रि भोजन का त्याग भी सर्व प्रथम उपादेय है। अन्यथा मास भक्षण का दूषण आजाता है। यह प्रथा शीघ्र दूर करके रात्रि भोजन का त्याग कर अहिंसा व्रत पालना चाहिये। रात्रि भोजन त्याग व्रत के समर्थन मे जैनेतर ग्रन्थों के भी अनेक स्थलो के, प्रमाणो का दिग्दर्शन कराते है—**जैनेतर शास्त्रो मे रात्रि भोजन का त्याग**—

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत, राक्षसी कीर्तिता हि सा। संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्येचैवाचिरोदिते।२८०।

अर्थ—रात्रि राक्षसी मानी जाती है, अत रात्रि के समय में दोनो सन्ध्याओ मे और सूर्य के उदय हुए थोडी देर हुई हो तब श्राद्ध न करे। और भी कहा है-(महाभारत)

ये रात्रौ सर्वदाहार, वर्जयन्ति सुमेधस । तेषां पक्षोपवासस्य, फल मासेन जायते ॥ १ ॥
नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर। तपस्विना विशेषेण, गृहिणां च विवेकिना ॥ २ ॥

अर्थ—जो उत्तम बुद्धि के धारक मनुष्य है वे रात्रि मे सदा सर्व प्रकार के आहारो का त्याग रखते है, उनके एक मास मे पन्द्रह दिन के उपवासो का फल होता है; हे युधिष्ठिर! जो तपस्वी है, अथवा हेयोपादेय का ज्ञाता गृहस्थ है, उसे रात्रि के समय खास तौर पर जल पान भी नही करना चाहिये। और भी कहा है— (पद्मपुराण)

मद्यमांसाशनं रात्रौ, भोजनं कन्दभक्षणम् । ये कुर्वन्ति वृथा तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तप ॥१॥

अर्थ—जो मनुष्य मद्य पीते है व मास खाते है रात्रि को भोजन करते हैं, तथा जमीकन्द खाते है, उनका सब जप तीर्थ यात्रादि करना वृथा निष्फल है। जैनो के यहा और भी कहा गया है—

कुगुरु कुवृष, की सेवा, अनर्थ दण्ड, अधम व्यापार,
जुआ, मास, मद्य, वेश्या, चोरी, परतिय हिंसन, दान शिकार ।
त्रस की हिंसा स्थूल असत्य, अरु, विन छानो जल, निशि आहार,
यह सत्रह अनर्थ जग मांहि, यावज्जीव करो परिहार ॥ १ ॥

अर्थ—मध्यम पाक्षिक श्रावक को निम्न प्रकार सत्रह दुर्गुण जन्म पर्यन्त छोड देना चाहिये, तभी वह मध्यम पाक्षिक श्रावक की कोटि मे गिना जा सकेगा, अन्यथा नही।

१. कुगुरु—परिग्रह रखने वाले रागी द्वेषी व्यक्ति की सेवा २. कुदेव—रागी, द्वेषी, मानी, देवताओ की उपासना। ३ कुवृष-खोटे धर्म-जिसमे जीव हिंसा का वर्णन हो, उसे पालन करना। ४ बिना प्रयोजन के पाप कार्यो मे प्रवृत्ति होना। ५. दुष्ट व्यापार-सावद्य क्रियाओं से जीविका करना अर्थात् ऐसा व्यापार करना जिसमे त्रस जीवो की विशेष विराधना हिंसा होती है:-जैसे, जङ्गल कटवाना, अग्नि से जीविका करना, बैल गाडी या ऊट गाडी को जोत कर व्यापार करना, आतिशवाजी या बारूद बेचना, कोल्हू वगैरह से तेल निकाल कर बेचना, तालाब को सुखा, कर उसमे गेहूँ आदि बोना, विष को या लाख को बेचना, हाथी दात या शेर वगैरह के नखो को बेचना, पशु आदि को बेचना, मक्खन बेचना या शहद, चर्बी, मद्य बेचना, इत्यादि अनेक प्रकार की पाप कियाओ को करके जीविका करना इसे दुष्ट व्यापार कहते है। ६ जूआ खेलना ७ मास भक्षण करना ८ मद्य (शराब) पीना ६ वेश्या सेवन १० चोरी करना या चोर की सङ्गति करना ११ परस्त्री सेवन करना १२. फरसा, कृपाण, कुल्हाड़ी आदि हिंसा के साधनो को देना १३. शिकार

खेलना १४ त्रसजीवो की हिसा करना १५. झूठ बोलना, दूसरों को पीडा कारक, अप्रिय तथा झूठे वचन बोलना १६ बिना छना जल पीना १७ रात्रि भोजन करना ये मध्यम पाक्षिक को सर्वत प्रथम छोडना चाहिये, तभी वह मध्यम पाक्षिक श्रावक कहला सकेगा।

—— मध्यम पाक्षिकी श्रावक की पात्रता :——

जब तक लडका ८ वर्ष का न हो जावे, उसके पहिले उस बच्चे को पहिले निरूपण किये हुये जघन्य पाक्षिक श्रावक के व्रत दिये जाते है; इसलिये उन व्रतो की रक्षा करने वाले उसके माता पिता है और जब वह ८ वर्ष का होजाय, तब उसके माता पिता उस बच्चे को श्री जिन मन्दिर मे लेजावे; वहा पर उसे इस प्रकार समझावे कि "अब तुम ८ वर्ष के हो गये हो, इसलिये जैन सिद्धान्त के अनुसार अपने व्रतो की रक्षा स्वय करो" उस समय वह बच्चा स्वय अपने व्रतो को स्वीकार कर लेता है। वे व्रत ये है —आठ मूल गुणो को धारण करना; मिथ्यात्व को छोड कर सच्चे देव शास्त्र गुरु, और धर्म की भक्ति रना, एव सप्त व्यसन का त्याग, तथा स्थूल हिसा, झूठ, चोरी, कुशोल और परिग्रह का त्याग, वह बालक इन व्रतो के सिवाय जो २ व्रत आगे बतलाये जावेगे उन व्रतो को भी धारण कर मध्यम पाक्षिक श्रावक के श्रेयस्कर पद से विभूषित हो जाता है। मध्यम पाक्षिक के लिए समस्त व्यसनो का त्याग शास्त्रकारों ने निर्दिष्ट किया है।

—— यज्ञोपवीत धारण विधि एवं आचरण :——

श्रावक को सुसस्कृत होने के लिये निम्नलिखित मत्र पढकर यज्ञोपवीत (जनेऊ) जिनेन्द्रदेव या गुरु के समक्ष ही धारण करनी चाहिये।

१— ॐ णमो अरिहताण, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।। ६ बार जपना चाहिये।

२— ॐ नम सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रेभ्यो यज्ञोपवीतं धारयामीति स्वाहा ।।

३— ॐ नम परमशाताय शातिकराय पवित्रीकृतार्ह रत्नत्रयस्वरूपं यज्ञोपवीत
दधामि, मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नम स्वाहा।

※ यज्ञोपवीत धारण करने वालो के आचार ※

१ प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन करना, २ कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को नमस्कार न करना, ३ छना हुआ पानी पीना, ५. रात्रि मे अन्न का भोजन नही करना, ५ उदम्बरफल (जो वृक्ष के काठ को फोड कर निकले) गूलर या ऊमर, बट या बड, प्लक्ष या पाकर, कठूमर या अजीर, और पीपल नही खाना, ६ मास, मदिरा (शराव), मधु (शहद) नही खाना। इन पाच उदम्बर फलो मे हिलने, चलने एव उडने मे सैकडो जीव आखो से दिखाई देते है अत. इन्हे खाना हेय है क्योकि इनके खाने से जीव हिसा होती है। जिस प्रकार

मांस भक्षी को दया नही, मदिरापान वाले को पवित्रता नही है ठीक उसी प्रकार पच उदम्बर फलों के खाने वाले के अहिसा धर्म नही पल सकता है। सूखे उदम्बर फल भी नही खाने चाहिये क्योकि त्रस जीव इनमे भर जाते है; अत उनके मरे हुए शरीरों के भीतर रहने से मास भक्षण का दोष लगता है तथा ऐसे हिसामय एव मृत प्राणी प्रचुर फलो का भक्षण राग भाव की तीव्रता के बिना नही होता है एतावता इनके खाने मे भाव हिसा भी है। इसलिये ये भी अनुपसेव्य है। **शिक्षा.**—१. पेशाब, टट्टी आदि शौच कर्म के समय जनेऊ को उच्च स्थान पद (कर्ण पर) लगाना चाहिये। भूल जाने पर नव बार णमोकार मत्र जपने से शुद्धि हो जाती है। २ जनेऊ टूटने पर, सूतक पातक होने पर अशुद्ध हो जाती है अत नवीन जनेऊ पहनना व पुरानी को नदी या कूये मे क्षेपण कर देना चाहिये या ऊंचे स्थान पर रख देना चाहिये। ३. यज्ञोपवीत सस्कार नही होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्यवर्ण वाली जाति के मानव शूद्र समान माने जाते है। बिना जनेऊ के भगवान् की पूजा और पात्र दान करने का अधिकार नही है। ४. जनेऊ पहन कर महाव्रत धारण करने के पहले उतार देने से मिथ्यात्व और प्रतिज्ञा भग दोष से पाप का बध होता है। परमपूज्य १००८ भगवान् आदिनाथ स्वामी ने भी कठ मे जनेऊ पहना था।

कंठे हार लतां बिभ्रन्, कटिसूत्रं कटितटे। ब्रह्मसूत्रोपवीताङ्ग, सगांगौघमिवाद्रिराट् ॥

भगवज्जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि जिस समय भगवान् आदिनाथ गृहस्थ थे उस समय आपके गले मे हार था, कमर मे करधनी थी और उनके शरीर पर यज्ञोपवीत सुशोभित था। **प्रमाण** — (आदिपुराण पत्र १३४८)

द्विजतिर्गाहि द्विजन्मेष्ठ, क्रियातोगर्भतश्चय। क्रियामन्त्रविहीनस्तु, केवलं नाम धारक ॥

अर्थात् जो मानव द्विजन्मा हो वही मोक्ष पाने का अधिकारी है। गर्भ से तो जन्म सभी का होता है लेकिन यज्ञोपवीत आदि क्रियाये उच्च वर्ग वालो के ही होती है अत. जो क्रिया, मत्र आदि से रहित है वे नाम मात्र के जैन है। **यज्ञोपवीत किसको नहीं होता है-**

अदीक्षार्हकुलेजाता, विद्याशिल्पोपजीविन। एतेषामुपवीतेत्यादि, सस्कारो नाभि सम्मत ॥

जो मनुष्य दीक्षा के अयोग्य कुल में पैदा हुआ हो उसका जनेऊ सस्कार नही होता है जो उच्च वर्ग मे दिगम्बर दीक्षा धारण करने योग्य हो वही जनेऊ धारण कर सकता है।

सुसंस्कारविहीनस्य कर्मणि नाधिकारिता।

जो जाति सस्कार से रहित है वह पुण्य कार्य अर्थात् दानादि नही कर सकता है।

यज्ञे दान देव पूजा, कर्मणि धृतं उपवीतं ।ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं ब्रह्मसूत्रं ॥—इत्यमरः

१ उत्तर पुराण पृष्ठ २३४ पर्व ६३—क्षेमकर महाराज ने गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद आदि समस्त सस्कार उस बालक वज्रायुध के किये, इस प्रकार

त्रिदेहक्षेत्र मे यज्ञोपवीत सस्कार सब्र कोई नियम पूर्वक करते हैं। २ श्रीपाल नरेश ने पुण्डरीकिणी नगरी मे यज्ञोपवीत पहना था। (आदिपुराण पृष्ठ १७१९ श्लोक ।।४१।।)
मनोपनयनोग्राहि, व्रत गुरुभिरर्पितम् । मुक्त्वा गुरु जनादीनां, स्वीकरोमिन चापरां ।।४२।।

३ युवराज मेघराज के पिता मेघरथ तीर्थङ्कर ने पूर्व विदेह क्षेत्र मे युवराज को उपदेश दिया। (उत्तरपुराण पत्र २५८२ श्लोक २८८ से २९२ तक) इस प्रकार विदेह-क्षेत्र मे भी यज्ञोपवीत सस्कारो की प्रवृत्ति निरतर है। इसके अलावा श्री अरहनाथजी एव मुनिमुव्रननाथ जी तीर्थङ्करो के समय मे विदेह क्षेत्र मे यज्ञोपवीत सस्कारो का वर्णन है। ४ भगवान् आदिनाथ ने विदेह क्षेत्र की स्थिति का प्रचार एव प्रसार किया वहा वर्णव्यवस्था एव गर्भाधानादि सस्कार तथा गृहस्थो के समस्त कर्तव्य बताये। (आ पु प ५२७श्लो १४३)
पूर्वापरविदेहेषु, या स्थिति समर्वर्णिता । साद्य प्रवर्त्तनीयात्र, ततो जीवन्त्ययमूप्रजा ।।

अर्थात् समस्त सस्कार भगवान् आदिनाथ ने भरत महाराज के कराये थे। ५. जीवधरकुमार के सब सस्कार सेठ गधोत्कट ने किये थे —उत्तरपुराण ६५०—
तस्यान्याद्या वणिग्वर्य कृत मगल सत्क्रिय, अन्नप्राशन पर्यन्ता, व्यधात् जीवंधराभिधम् ।

— यज्ञोपवीत के बारे मे और भी प्रमाण :—

स्वायभुवात्मुखाज्जाता, स्ततोदेव द्विजावयम् व्रतचिन्हं च सूत्रं च, पवित्रं सूत्रदर्शितम् । शरीर जन्म सस्कार, जन्म चेति द्विधा मतम—आदिपुराण पत्र १४५ श्लोक १८०,—
जाति सैव कुलं तच्च, सोस्मियोहि प्राक्तन । तथापि देवतात्मान, मात्मानं मन्यते भवान् ।।

भगवान् आदिनाथ के श्री मुख से सुन कर व्रत चिन्ह का प्रतीक यह जनेऊ लिया है यह पवित्र है इसे धारण कर आज हम देवो के समान द्विज बन गये है। हमारी वही पावन जाति है, वही उच्च कुल है, वही मैं हूँ लेकिन आज जनेऊ धारण करने से देवता के समान माना जाता हू। **और भी प्रमाण देखिये** —जब आचार्य श्रावकों को मुनि दीक्षा देते है उस समय मत्र सहित जनेऊ उतार दिया जाता है। –क्रिया कलाप पृ ३३५- इस प्रकार यदि यज्ञोपवीत कधे पर नही होता तो आचार्य उसे उतारने को क्यो कहते ? अत मानना पडेगा कि जनेऊ का पहनना अनादिकाल से चला आ रहा है, कोई नवीन प्रथा नही है। **जनेऊ धारण करने का फल** —

बाल्यएव ततो ऽभ्यस्येत, द्विजन्मौपासिकीं श्रुतिम् स तथा प्राप्त संस्कार, स्वपरोत्तारको भवेत्।

आचार्य कहते है कि जो मानव बाल्यकाल से ही जनेऊ को धारण करता है वह उपासकाचार, सूत्रानुसार, संस्कार सहित धार्मिक क्रियाओ को करता हुआ स्वपर कल्याण करता है और मोक्षश्री को प्राप्त करता है अतएव आत्म हितैषी को यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिये।

-: श्रावक की तरेपन क्रियाएं -

गुण वय तव सम पडिमा, दाणं जलगालणं च अणत्थि मियं ।
दंसण णाण चरित्त, किरिया तेवण्ण सावयाणं च ।। १ ।। (लाटी संहिता)

इस गाथा में श्रावक के लिये करने योग्य तरेपन क्रियाओ का वर्णन किया गया है । वे इस प्रकार हैं :–मूल गुण ८, वय-व्रत १२, तप-१२ प्रकार, समता १, प्रतिमा ११, दान ४, जल गालन विधि १, रात्रि भोजन और दिवा मैथुन का त्याग १, दर्शन १, ज्ञान १, और चारित्र १, ये श्रावक की तरेपन क्रिया हैं । **गुण-**अष्ट मूल गुण-मद्य, मांस, मधु बड फल, पीपरफल, पाकर फल, उदुम्बर, कठूम्बर इनके त्याग रूप आठ मूल गुण हैं । **वय** (व्रत)-५ अणुव्रत -अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील और परिग्रह प्रमाण, तीन गुणुव्रत दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थ दण्ड त्याग; चार शिक्षाव्रत-सामायिक, भोगोपभोग परिमाण, प्रोषधोपवास-अतिथिसविभाग ये बाहर व्रत है । **तव तप** –१ अनशन २ ऊनोदर ३ व्रत परिसंख्यान ४ रस परित्याग ५ कायक्लेश ६ विविक्तशय्यासन ७ प्रायश्चित ८ विनय ९ वैयावृत्य १० स्वाध्याय ११ व्युत्सर्ग और १२ ध्यान ये बारह तप हैं । **समता-**सामायिक करना, रागद्वेष छोडना सब प्राणियो पर अर्थात् शत्रु और मित्र दोनो पर सामायिक के समय समान भाव रखना । **पडिमा-प्रतिमा**––दर्शन १ व्रत २ सामायिक ३ प्रोषध ४ सचित्त त्याग ५ रात्रि भोजन त्याग तथा दिवा मैथुन त्याग ६ ब्रह्मचर्य ७ आरम्भ त्याग ८ परिग्रह त्याग ९ अनुमति त्याग १० और उद्दिष्ट त्याग ११ ये ग्यारह प्रतिमाये हैं । **दाण-**औषधि दान १ आहार दान २ शास्त्र दान ३ और अभय दान ४ **जल गालन**-दुहेरे छन्ने से जल छान कर विल छानी स्थान पर पहुँचाना । **अणत्थिमियं**–रात्रि भोजन और दिवा मैथुन का त्याग । **दंसण**–सच्चे देव–शास्त्र और गुरुओ का श्रद्धान करना । **णाण**–सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान का अभ्यास करना । **चरित**–आत्मा की भावना भाते हुए अहिंसा रूप आचरण, करना; इस प्रकार तरेपन क्रिया का सामान्य स्वरूप नाम निर्देश द्वारा कहा । आगे सप्त व्यसन का वर्णन करते हैं––

–-:सप्त व्यसन --

आदौ दर्शनमुन्नतंव्रतमित., सामायिकं प्रोषधस्त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि, दिवा भक्तं तथाब्रह्मच
नारम्भो न परिग्रहोऽननुमति, र्नोद्दिष्टमेकादश ।
स्थानानीति गृहिव्रते व्यसनिता, त्यागस्तदाध स्मृत ।।१४।। (पद्मानदि श्रावकाचार)

इस पद्य द्वारा आचार्य प्रवर श्री पद्मनन्दी ने श्रावको के ११ स्थान (प्रतिमाओ) का नाम निर्देश करते हुए वतलाया है कि सात व्यसनो का त्याग करना पहली प्रतिमा है; यही बात आचार्य वसुनन्दी ने अपने उपासकाध्ययन मे भी कही कि––

पचुवर-सहिताइ सत्तवि विसणाइं जो विवज्जेइ । समत्तविसुद्धमई सो, दंसण सावओ भणिओ।।

जो शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक पुरुष, पच उदुम्बरादि फलों सहित सात व्यसनो को त्यागता है, वह दर्शन प्रतिमा का धारक श्रावक कहा गया है। यहा प्रथम ही व्यसन सामान्य की निरुक्ति बतलाते है। "व्यस्यति प्रत्यावर्तयति पुरुषात् श्रेयस इति व्यसनम्" जो मनुष्य को आत्म-कल्याण से विमुख कर देवे उसको व्यसन कहते है। उसके सात प्रकार है उनका निर्देश नीचे करते है। (लाटी सहिता अ. २)

द्यूत-खेट-सुरा-वेश्या, ऽऽखेट-चौर्य-पराङ्गना। महापापानि सप्तैते,व्यसनानि त्यजेद्बुध ।११३।

अर्थ—बुद्धिमान् को चाहिये कि वह १ द्यूत (जूआ),२ मास भक्षण,३ मदिरापान, ४ वेश्यागमन, ५ शिकार खेलना, ६ चोरी करना, और ७ परस्त्री सेवन, इन सात महा पापो को त्याग दे। आगे यह निर्दिष्ट करते है कि एक व्यसन के सेवन से भी लोग कैसी दुर्दशा को प्राप्त हुए है — (पद्मनन्दि पच विंशतिका १)

द्यूताद् धर्मसुत पलादिह्बको,मद्याद्यदोर्नन्दना ,चारु कामुकया मृगान्तकतया,सब्रह्मदत्तोनृप।।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनिता-दोषाद्धशास्योहठा-देकैकव्सनाद् हताइतिजना ,सर्वैर्नको नश्यति।

अर्थ—जुआ खेलने से महाराज युधिष्ठिर, मास भक्षण करने से बक नाम का राजा मद्यपान से यदुवशीय कुमार, वेश्या सेवन से चारुदत्त नाम का सेठ, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, चोरी करने से शिवभूति और परस्त्री की अभिलाषा से रावण जैसे पुरुष भी विनाश को प्राप्त हुए हैं। जब व्यसन के कारण ही उक्त पुरुषो ने आत्यन्तिक कष्ट प्राप्त किया तो जो पुरुष सातो को अथवा एक से अधिक व्यसन को सेवन करे तो उसकी कितनी दुर्दशा होगी, यह-स्वय विचार कर लेना चाहिये। अब क्रम प्राप्त द्यूत का लक्षण कहते है:—

अक्षपाशादिनिक्षिप्त वित्ताज्जयपराजयम्। क्रियायां विद्यते यत्र,सर्वं द्यूतमितिस्मृतम् ।।११४।।

अर्थ—जिस क्रिया मे पासा आदि गेरने के द्वारा धन की हार जीत का सङ्कल्प किया जाता है वह द्यूत एव जूआ खेलना कहलाता है। **विशेषार्थ**-पुराने जमाने मे तो पासा डाल कर केवल चौपड खेली जाती थी और इस खेल की हार-जीत मे रत्न, दीनार,(सोने का सिक्का) रुपया आदि द्रव्य, घर, दुकान, ग्राम, खेत, आदि तथा जायदाद एव दासी दास हाथी घोडा आदि प्राणियो के लेन देन का दाव, होढ शर्त या पण बाधा जाता था। और कुछ द्रव्यादि न रहने पर जुआरी अपनी स्त्री तक को दाव पर लगा देते थे। इसलिये इस जुए को अक्षरमण कहते थे। किन्तु आज कल पासे से चौपड़ का खेल ही नही, बल्कि अन्य भी अनेक प्रकार के खेल व व्यापार निकल गये है जिनमे द्रव्य की हार जीत को जाती है। जैसे कोडियो से चौपड खेलना, पासे के बिना ही शतरज, तास आदि खेलना, चूडी फैकना, फिचर व लाटरी लगाना आदि २। रूई, अलसी, गेहूँ, आदि धान्य सोना चादी

तथा शेयर, सटन ग्रादि की भी तेजी मदी लगा कर हार जीत करना एवं घुड दौड ग्रादिक द्यूत चल पडे हैं। शास्त्रीय नियमानुसार सट्टा भी जुग्रा ही है, क्योकि जैसे द्रव्य व भाव हिसा पासे से चौपड खेलने मे होती है वैसे ही इसमे भी होती है। परन्तु ग्राजकल बहुत से धर्मात्मा कहलाने वाले जैन भी सट्टे को सट्टा व जूग्रा न समझ कर ग्रन्य व्यापारो के समान ही व्यापार समझते है। किन्तु ऐसा समझना गलत है। द्यूत से कैसी दुर्दशा होती है उसका दिग्दर्शन कराते है।

द्यूतनाशितसमस्तभूतिको, बम्भ्रमीति सकलां भुवं नरः।
जीर्णवस्त्रकृतदेहसंहतिर्मस्तकाहितकरः क्षुधातुरः ।। ६३६ ।।
याचते नटति याति दीनतां लज्जते न कुरुते विडम्बनां।
सेवते नमति याति दासतां, द्यूतसेवनपरो नरोऽधम ।।६३७।। (सुभाषित रत्नसदोह)

ग्रर्थ—जुए मे धन को नष्ट करने वाला पुरुष, फटे पुराने वस्त्रो को धारण किये हुए माथे पर हाथ रख कर, बुभुक्षित, सारी पृथ्वी पर चक्कर लगाता रहता है, भिक्षावृत्ति करने लग जाता है, नाचता है, दीनता को प्राप्त हो जाता है, लज्जा रहित होकर विडम्बित होने लगता है, सेवा वृत्ति स्वीकार कर लेता है ग्रौर दासता को प्राप्त होकर मस्तक झुका कर नमस्कार करने लगता है। मनुष्यो मे नीच जुग्रारी क्या २ कृत्य नही करता ?

सत्यशौचशमर्मवर्जिता, धर्मकामधनतो बहिष्कृता ।
द्यूतदोषमलिना विचेतना, क न दोषमुपचिन्वते जना ।।६२३।।(सुभाषितरत्नसदोह)

ग्रर्थ—जुए के दोष से दूषित ग्रपने ग्रापे मे रहने वाले जुग्रारी सत्यता, पवित्रता, शान्ति, ग्रौर सुख से भी रहित होकर धर्म, काम ग्रौर धन से रहित किस २ दोष को प्राप्त हो जाते है। जूग्रा सातो व्यसनो मे प्रधान है इसको किसी कवि ने निम्न निर्दिष्ट भिक्षुक दृष्टान्त से बडे रोचक भाव से समझाया है।

"भिक्षो ? कथा श्लथा ते नहि सफरवधे, जालमश्नासि मत्स्यान् ।
तेऽमी मद्योपदंशा, पिबसि मधुसमं, वैश्यया यासि वेश्यां ।।
दत्वांऽघ्रिमूर्धन्यरीणां, तव किमु रिपवो, भित्तिभेत्ताऽस्मि येषां ।
चौरोऽसि द्यूतहेतोस्त्वयि सकलमिद, नास्तिनष्टे विचार. ।।"

एक भक्षुक के कधे पर जाल को कथा समझ कर कोई भक्त पूछता है कि हे-भिक्षो? ग्रापकी कथ (गुदड़ी) ढीली दिखाई पडती है ? भिक्षुक इसका उत्तर देता है :—
यह कथा नही है; यह तो सफरी (मछली) पकड़ने का जाल है। भक्त फिर प्रश्न करता है कि "क्या ग्राप मछली खाते है ?" तो वह उत्तर देता है – "हा मदिरा की घूंट के साथ २"। भक्त फिर पूछता है "तो क्या ग्राप मद्य भी पीते हैं" तो साधूजी महाराज

कहते है "भाई वेश्या सेवन के कारण मद्य पीना पडता है" । इस पर फिर भक्त पूछता है "क्या ? महाराज ? आप वेश्यागामी भी है" तो वे उत्तर देते है कि 'हा शत्रुओ से जो द्रव्य मिलता है उससे मै वेश्या सेवन भी कर लिया करता हू ।"भक्त कहता है "भगवन्? आप तो भिक्षुक है फिर शत्रुओ का प्रादुर्भाव कहां से होगया" ? तब भिक्षुक महाराज कहते है:– "जिसके घर मे सेध लगा कर मैं चोरी करता हू वे मेरे शत्रु हैं और उनका मैं भी शत्रु हू ।" फिर वह भक्त पूछता है महाराज ? आप चोरी क्यो करते हो ? तब साधु उत्तर देते है "हे भक्त ! जूए के लिये कभी कभी चोरी भी करनी पड जाती है" तब उस भक्त पथिक ने कहा अहो! विवेक (विचार) नष्ट होने पर सभी बुराइये आजाती है।

भावार्थ — यह है कि जूए से सातो व्यसन लग जाते है और मनुष्य विवेक-शून्य हो जाता है । अर्थात् द्यूत ही सातो व्यसनो का मूल है । जुआरी के यहा कभी भी धन नही होता है । यदि कदाचित् हो भी जाय तो वह उसके पास नही ठहरता । कहा भी है कि-"**सर्वं लब्धं द्यूतेनैव, सर्वं नष्टं द्यूतेनैव**" जूए से ही सब कुछ पाया और जूए से ही सब कुछ खोया । बडे २ करोड पतियो का दिवाला इस सट्टे बाजी से निकलता हुआ देखा गया है । जुआरी अपने बाप दादो की सचित सारी सम्पदा खोकर लखपति से फकीर बन कर, फटे कपडे पहने दर दर भीख मागते देखे गये हैं । कहा तक कहा जाय, जुआरी लोग आपस मे हारने वाले जीतने वाले को दुर्वचन–बुरी गाली सुनाते और अवसर मिलने पर नाक कान तक भी काट डालते है । सरकारी न्यायालयो–अदालतो मे जुआरी के लेने अर्थात् बाकी रकम के दावे की, सुनाई भी नही होती है । जुआरी का कोई विश्वास भी नही करता है और न वह कही आदर सत्कार ही पाता है । जुआरी अपने हितैषी माता-पिता गुरु-मित्र आदि की शिक्षा नही मानता और सारे धर्म-कर्म-विवेक को भूल कर आत्मा का भारी बिगाड करता है, उसकी आत्मा पतित बन जाती है । –अमित. श्रा. अ १२—

विषाद कलहो राटिः, कोपो मान श्रमो भ्रम., पैशून्य मत्सर शोकः, सर्वे द्यूतस्य बान्धवा. ।५५।

अर्थ — विषाद (रज) कलह, राड-लडाई-झगड़ा, क्रोध, मान, श्रम, थकान, भ्रम [चित की विकलता] पैशून्य, चुगली, मत्सर, ईर्षा भाव, और शोक ये सब द्यूत के बाधव है अर्थात् जूए के साथ ये सब दुर्गुण लगे हुए है; क्योकि हार होने पर खेद होना जीता हुआ धन हाथ न लगने पर कलह और लडाई मार पीट होना, जीत होने पर घमड होना जूए के अड्डो की खोज मे डोलते रहने पर श्रम होना, धन के नाश मे बुद्धि का भ्रम, दूसरो को जीत पर चुगली और डाह तथा अनेक प्रकार की चिन्ताये होना स्वाभाविक है । जुआरी का आत्मा इतना पतित हो जाता है कि वह देव, शास्त्र, गुरु, धर्म की स्तुति वंदना और श्रद्धा छोड कर मिथ्यात्वी, ढोंगी, मायाचारी, सन्यासी, पाखडी साधुओ को ढूढता

फिरता है। पीर, ज्योतिषी, रमल फेकने वालो की सेवा सुश्रूषा करता और अपना धन लुटाता है। जो कही जूए से धन मिल भी गया तो मुफ्त मे हाथ लगे हुए धन को पाकर वेश्या–परस्त्री–सेवन, मदिरा पान आदि पापो मे खरच देता है। चारित्रसार मे कहा भी है–"कितवस्य सदा रागद्वेषमोहवचनानृतानि प्रजायन्तेऽर्थक्षयोऽपि भवति जनेष्वविश्वसनीयश्च सप्तव्यसनेषु प्रधान द्यूतं तस्मात् तत् परिहर्तव्यम्।" **अर्थ**—जुआरी के परिणाम राग, द्वेष और मोह रूप तथा वचन असत्य रूप होजाते है। धन का भी नाश होजाता है जिसमे जुआरी का मनुष्यो मे से विश्वास उठ जाता है। उसकी कोई पैठ नही रहती। जुआ हो सातो व्यसनो मे प्रधान है। अत· छोडने योग्य है। (२) **मांस भक्षण**—मास भक्षण का त्याग आठ मूल गुणो मे भी है और यहा पर भी है। दो दो जगह एक ही वस्तु के त्याग करने मे जो शब्द भेद से विशेषता है उसका लाटी सहिता मे निम्नलिखित स्पष्टीकरण किया गया है —

प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्रमासक्ति व्यसनं महत्। त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ, काकथासक्तिवर्जने॥

अर्थ—मास भक्षण करना तो प्रवृत्ति कहलाती है और मास भक्षण मे अत्यन्त अनुरागता से उसका बारम्बार भक्षण करने रूप जो आसक्ति है वह व्यसन कहलाता है। मूल गुणो मे जब मास भक्षण रूप प्रवृत्ति का ही त्याग कराया गया है तो उसमे आसक्ति रूप व्यसन का त्याग तो प्रवृत्ति के त्याग से भी पहले हो जाता है, क्योकि मास भक्षण से भी मास भक्षण व्यसन मे अधिक पाप का बन्ध होता है। एक वस्तु का शब्द भेद से भी दुबारा त्याग न कराने के लिये वसुनन्दी उपासकाध्ययन तो पाच उदुम्बरादि फलो और सात व्यसनो के त्याग का ही दर्शन प्रतिमा मे विधान करता है अर्थात् वसुनन्दी आचार्य ने तो मधु को मास मे और मास को मास भक्षण व्यसन मे एव मदिरा पान रूप व्यसन मे ही गर्भित कर लिया है। मांस की उत्पत्ति व निषिद्धता आदि के विषय मे पहले लिखा जा चुका है। अत. यह पुनरुक्ति दोष से बचकर केवल इतना ही लिखा जाता है कि जैनेतर धर्म शास्त्रो मे पापी पुरुषो को प्रसन्न करने के लिये कुछ लौकिक स्वार्थी विद्वानो ने लिखा है **'प्रोक्षितं भक्षयेन्मासम्'** देवान् पितृन् चार्चयित्वा खादन् मास न दुष्यति मनु (मनुस्मृति) अ: ५।३२ **असस्कृतान् पशून्मन्त्रै, र्नाद्याद्विप्र. कदाचन। मन्त्रैस्तु सस्कृता, नाद्याच्छाश्वतं विधिमास्थित।३६**

'मत्रो से प्रोक्षित मास को खा लेवे' देवो और पितृ जनो की मास से पूजा करके यदि मास खा लिया जावे तो उसमे कोई दोष नही है।" "ब्राह्मण को चाहिये कि मन्त्रो से बिना पवित्र किये पशुओ को कभी न खाय, सनातन विधि मे आस्था रख कर मत्रो से प्रोक्षण किये गए पशुओ को खाय।" इत्यादि रूप से धर्म शास्त्रो मे अमृत की जगह विष मिला दिया है। और अनेक स्थलो पर भी इसी प्रकार के विधान इन जिह्वा के लोलुपी

स्वार्थी प्राणियो ने लिख मारे है । जैसे मुसलमान कलमा पढकर मारे हुए जीव को हलाल किया हुआ समझ कर उसके खाने मे कोई पाप नही मानते, उसी प्रकार इतर धर्मानुयायी कहते है कि देव मन्त्रों से पशु मारा जावे तो उसके खाने मे पाप नही है । हमे तो शक है कि पीछे से स्वार्थियो ने ग्रन्थो मे यह सब जोड दिया हो । क्योकि अनेक ग्रन्थो मे वैष्णव सम्प्रदाय मे भी मास भक्षण का निषेध देखा जाता है फिर परस्पर मे विरोध क्यो-भागवत मे लिखा है कि— (भागवत स्कन्ध १ प्र' अ ७)

स्वप्राणान्य.,परप्राणै ,प्रपुष्णात्यघृणः खल' । तद्वधस्तस्यहि श्रेयो,यद् दोषाद्यात्यव पुमान्।३७

अर्थ—जो नीचे दुर्जन दूसरे जीवो के पापो से अर्थात् पशु आदि जीवो को मार कर उनके मास से अपने प्राणो शरीरादि को बलवान चाहता है तो उसे चाहिये कि वह अपने भले के लिये अपना ही वध करवा लेवे, क्योकि अन्य जीवो की हिसा करने से जो नरक मे गमन होता है उससे तो वह बच जावेगा । तात्पर्य यह है कि मास भक्षण से अपने शरीर का बल बढाना नरक मे ले जाने वाला है । अतः किसी भी जीव का भक्षण आदि के लिये हिसा नही करनी चाहिये । कहा भी है—

तनूद्भवं मांसमदन्नमेध्य, कृम्यालयं साधुजनप्रनिन्द्यं ।
निस्त्रिंशचित्तो विनिकृष्टगन्ध, शुनीविशेषं लभते कथं न ।। ५१४ ।।
येऽन्नाशिन स्थावरजन्तुघातात्, मांसाशिना येऽत्र सजीवघातात् ।
दोषस्तयो स्यात् परमाणुमेर्वोर्यथान्तरं बुद्धिमतेति वेद्यम् ।। ५३० ।।
अन्नाशने स्यात्परमाणुमात्र , प्रशक्यते शोधयितुं तपोभि ।
मासाशने पर्वतराजमात्रो, नोशक्यते शोधयितु महत्वात् ।। ५३१ ।।
करोति मांसं बलमिन्द्रियाणां, ततोऽभिवृद्धि मदनस्य तस्मात् ।
करोत्ययुक्ति प्रविचिन्त्य बुद्धया,त्यजन्ति मांसं त्रिविधेन सन्त ।।५३५।।(सुभाषितरत्न संदोह)

अर्थ—जो पुरुष प्राणियो के शरीरोत्पन्न, अपवित्र, कृमियो के स्थान भूत, साधुजनो से निन्दनीय, दुर्गन्धित, मास को दया रहित होकर भक्षण करता है उसमे और कुत्ते मे कोई विशेषता नही है । ५२४ । अन्न भक्षण वालो को भी स्थावर जीवो के घात से उत्पन्न हुई हिसा लगती है और मास भक्षण करने वालो को भी त्रस पचेन्द्रिय घात जन्य हिसा लगती है, अतः हिंसा दोनो मे ही लगती है । ऐसा कह कर जो अन्न तथा मास भक्षण मे समानता करते है उनकी बडी भारी भूल है क्योकि अन्नाशन से परमाणु के समान, तो मास भक्षण मे सुमेरु पर्वत के समान पाप है इसकी हिसा मे और मास भक्षण की हिंसा मे बडा भारी अन्तर है । अन्न भक्षण करने मे जो परमाणु के समान हिसा होती है वह तपो द्वारा दूर हो सकती है किन्तु पर्वत के समान जो प्राणी वध मे हिसा

होती है वह तपस्याओं से भी एक साथ दूर नही हो सकती। अतः मांस भक्षण नहीं करना चाहिये । मास भक्षण तथा अन्न भक्षण में महान् अन्तर है। ५३०—५३१ ।
"आगोपालादि यत् सिद्धं मांसं धान्य पृथक् पृथक्" अर्थात् बच्चे से लेकर वृद्ध तक मांस और धान्य पृथक् पृथक् वस्तु है, यह जानते है । क्योकि **"धान्यमानय इत्युक्ते न कश्चिन्मांसमानयेत्"** अर्थात् धान्य मागने पर कोई मास नही लाकर देता । अत धान्य और मास मे बडा अन्तर है । मांस इन्द्रियो में बल देता है उससे काम वासना की वृद्धि होती है, उससे पुरुष अयोग्य कार्यो मे प्रवृत्ति करने लग जाता है । अत सज्जन तथा बुद्धिमान् पुरुष इस मास को मन, वचन और काय से छोड़ देते है।५३५। अन्य सम्प्रदाय-मे भी कहा है—
"तिलसर्षपमात्रं नु मांस भक्षयन्ति ये द्विजा । नरकान्ननिवर्तन्ते यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।।
आकाशगामिनोविप्रा पतिता मांसभक्षणात्, विप्राणां पतनं दृष्ट्वा, तस्मान्मांसं न भक्षयेत्।।

अर्थ—तिल और सरसो के बराबर भी जो ब्राह्मण मांस भक्षण कर लेते हैं, उनको जब तक सूर्य और चन्द्रमा है तब तक नरक मे रहना पड़ता है अर्थात् सदा के लिये नरक मे वास करना पडता है जो विप्र विद्या के प्रभाव से आकाश में गमन करते हैं वे मास भक्षण के कारण पतित होगये अर्थात् उनकी विद्या नष्ट हो गई । अत मास भक्षण नही करना चाहिये । (क्षेपक युग्मम्)

"पक्केसु अ आमेसु अ,विपच्चमाणासु मंसपेसीसु, संततियमुववादो, तज्जादीणं णिगोदाण।१८।
जो पक्कमपक्कं वा, पेसीमंसस्स खादि फासादि वा ।
सो किल णिहणदि पिंड, जोवाणमणेग कोडीणं ।। १९" ।।

अर्थ—मास की पेशी अर्थात् डली मे चाहे वह पक्व हो या अपक्व हो जिस जाति के जीव का वह मास है उसी जाति के निगोदिया जीव पैदा हो जाते है । इस प्रकार से घृणास्पद मास को जो जीव भक्षण करते है या स्पर्श भी करते हैं वे जीव महान् हिसा के भागी होते हैं । एवं अनन्त प्राणियो का घात करते है । **मद्य पान निषेधः**—
पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहा , क्षिप्र म्रियन्तेऽखिला , कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतय ,सावद्यमुद्यन्तिच।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदं, तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचार चरन् मज्जति।५

अर्थ—जिस मद्य के पीने के वाद उस मद्य के रस मे उत्पन्न हुए अनेक जीवो के समूह जो मद्य के अङ्ग भूत हैं मर जाते हैं, और जो काम, क्रोध, भय, तथा भ्रम को एव अभिमानादिक को उत्पन्न कर देती है और पाप की वृद्धि करती है और जिसके त्याग से मनुष्य धूर्तिल चोर के समान विपत्तियों से मुक्त हो जाता है तथा पीने से एकपाद सन्यासी के समान नष्ट हो जाता है । वह मदिरा सर्वथा त्याज्य है । और भी कहा है—
यदेकविन्दो प्रचरन्ति जीवा चेत्तद् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति ।

यद्विक्लवाश्चेममुं च लोकं, यास्यन्ति तत् कश्यमवश्यमस्येत् ।।४।। (सा ध)

अर्थ—मद्य मे इतने जीव है कि उसकी एक बूद मे उत्पन्न हुये जीव निकल कर यदि उडने लगे तो उनसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक ये तीनो ही लोक भर जाय। इसके सिवाय उसके पीने से मोहित जीव इस भव और परभव दोनो लोको का सुख नष्ट कर देते है एव दोनो भवो को दुःख रूप बना लेते हैं। अपने आत्मा का हित चाहने वाले पुरुष को मद्य न पीने का दृढ नियम ले लेना चाहिये। और भी कहा है—

भवति मद्यवशेन मनोभ्रमो, भजति कर्ममनो भ्रमतो यत ।
व्रजति कर्मवशेन च दुर्गति, त्यजत मद्यमतस्त्रिविधेन भो ।। ४९८ ।।
हसति नृत्यति गायति वल्गति भ्रमति धावति मूछति शोचति ।
पतति रोदिति जल्पति गद्गदं, धमति धाम्यति मद्यमदातुर ।। ४९९ ।।
स्वसृसुताजननीरपिमानवो, व्रजति सेवितुमस्तगतिर्यत ।
सगुणलोकविनिन्दितमद्यत किमपर खलु कष्टतरं तत ।।५००।। (सु.र.स)

अर्थ—मद्य पीने से मन मे भ्रम हो जाता है और जब मनोभ्रम (बुद्धि विनाश) हो जाता है तब कुबुद्धि से पाप का बन्धन होने लगता है और पाप बन्धन से उसे दुर्गति मे जाना पडता है। इसलिये इस मद्य को मन, वचन एव काय से सेवन करना छोडदो। ४९८। मद्य पीने वाला पुरुष हसता है नाचने लगता है, कभी गाने लगता है, कभी चिल्लाने लगता है, और कभी घूमने लगता है, कभी दौडने लगता है, कभी मूर्छित हो जाता है, कभी शोक करने लगता है, कभी गिर पडता है, कभी रोने लगता है, कभी बकवाद करने लगता है, कभी धौकने लगता है, एव बुद्धि से भ्रष्ट होकर बहिन–पुत्री और माता से भी भोग करने के लिये तत्पर हो जाता है। यह मद्य सज्जन लोगो से विनिन्दनीय है और अत्यन्त दु.ख दायिनी है। ४९९–५००।

निपतितो वदते धरणीतल, वमति सर्वजनेन विनिन्द्यते ।
श्वशिशुभिर्वदने परिचुम्ब्यते वत सुरासुरस्तत्र मूत्र्यते ।। ५०६ ।।

अर्थ—मद्यपी पृथ्वी पर गिर पडता है और बकवाद करने लगता है, वमन कर देता है एव जनो से निन्दनीय होता है, कुत्ते मुख चूमते है एव उसके मुख मे पेशाब कर देते है। **वेश्यागमन निषेध**:—प्रथम ही यह बताया जाता है कि वेश्याये किस प्रकार पुरुषो को निर्धन बना कर दुर्दशा करती है।

"पत्नीव कुर्यादनुवृत्तिपूर्वं, पूर्वं महार्थस्य वरोपचारम् ।
द्रव्यैस्त्वया मन्त्रजपादिभिर्वा, वशीकृताऽस्मीति वदेच्च सर्वम् ।।७०।।
तस्माच्च पुत्रार्थमनोरथा स्यात्, प्राणात्यय तद्विरहे वदेच्च ।

इत्यादिभि स्वीकरणाद्यु पायै, निबद्धबुद्धेर्द्रविणं लभेत ।। ७४ ।।
तावच्च तूर्ण धनमाहरेत्, यावत् स रागेण विनष्टसंज्ञ ।
प्रशान्तरागानलशीतलस्तु, सलोह पिण्डीकठिनत्वमेति ।। ७५ ।।
याचेत सर्वं सुरतार्तिकाले, तमूरुबन्धेन निरुद्धकायम् ।
प्रायेण तृप्ताय न रोचते हि, विनम्रशाखापरिपक्वमाम्रम् ।। ७६ ।।
सधारयेत्तं च विशेषवित्तं, योवन्न नि शेषधनत्वमेति ।
पुन पुन स्नेहलवार्द्र वक्त्रा, दीपं यथा दीपकदीपवर्ति ।। ७७ ।।
निष्पीतसार विरतोपकारं, क्षुण्णेक्षुशलकप्रतिमं त्यजेत्तम् ।
लब्धाधिवासक्षयकारिशुष्कं, पुष्पं त्यजत्येव हि केशपाश ।। ७८ ।।
हेमन्तमार्जार इवातिलीन , सचेन्ननिर्याति निरस्यमानः ।
तदेष कार्यस्तनुमर्मभेदी, प्रवर्धमान परुषोपचार ।। ७९ ।।
शय्यावहारैर्वचनप्रहारं , कोपप्रकारैर्जननीविकारै ।
कौटिल्यसारैर्विविधप्रसारै, विपद्विचारैर्गणितापचारैः ।।८०।।
मुहु प्रवासै कलहोपवासै , मायानिवासै कटुकाधिवासै ।
सभ्रू विलासैर्व्यसनोपवासै, निष्कासनीय स पृथुप्रयासै, ।। ८२ ।।"

अर्थ—जो पुरुष धनी है उसके लिये ये वेश्याये प्रथम ही पत्नी के समान वर्ताव करती हैं और कहती हैं कि तुमने द्रव्यो के द्वारा अथवा मन्त्र जपादि के द्वारा मुझे ऐसा वना लिया है कि मै सर्वथा तुम्हारे आधीन होगई हूँ और मेरी यह अभिलाषा है कि तुम्हारे द्वारा एक पुत्र की प्राप्ति हो जावे। वह उसके विरह मे प्राण विनाश को प्रकट करती है और भी ऐसे ही उपाय करती है और जिससे वह अपनी तरफ आकर्षित होजावे और जिस प्रकार से भी हो धन का हरण हो सके। जब तक वह अनुराग मे पागल रहे तव तक उससे सव धन का आहरण करलेती है अन्यथा जब तक उसकी राग रूपी आग शान्त होजावेगी तव वह लोह के पिण्ड के समान कठिन होजावेगा अर्थात् जब उसका राग विनष्ट होजायगा तव वह द्रव्य नही देगा। इस कारण जब तक वह राग के वशीभूत रहता है तव तक ही उससे धन लेलेती है। उससे सव कुछ रति के समय याचना कर लेती है। क्योकि प्राय. तृप्त पुरुष के लिये झुकी हुई शाखा का पका हुआ आम भी अच्छा नही लगता है जिसके पास अधिक धन हो उस पुरुष को भी तब तक वेश्या अपने अधीन वनाये रखती है जब तक उसका धन नि शेष नही हो जाता। उसके धन को इस प्रकार आकर्षण करती है जिस प्रकार स्नेह (तेल) एव प्रेम के खण्ड से आर्द्र (गीले) मुख वाली दीप वर्त्ती, दीपक मे रहने वाले तेल का आकर्षण कर लेती है। जव उसका सव

सार भूत खिच आता है और कुछ काम नही निकलता है तब उसे पेले हुये गन्ने के छिनके के समान छोड देती है, क्योकि केश पाश (माग) अपने पास मे रहने वाले शुष्क पुष्प को छोड ही देता है और जब शीत पीडित बिलाव के समान अत्यन्त आसक्त वह अपने सामीप्य को नही छोडता है तो उसको कष्ट देने वाले कटुक वचनो के प्रयोग द्वारा बाहर निकाल देती है सोने के लिये सेज नही देती, वचनो का प्रहार करती है, अनेक प्रकार के कोप दिखाती है, अपनी माता का रोष प्रकट करती है, अनेक प्रकार की कुटिलता करती है और विपत्तियो का आरोपण करती है, कलहो के द्वारा उपवास कराती है, अनेक माया पूर्ण कटुता दिखाती टेडी भौ के द्वारा एव व्यसन (आपत्ति) लगा कर उपवास करा २ के अनेक प्रयत्नो से उसे अपने घर से निकाल देती है। कहा भी है – (क्षे स का ५ समय)

प्रक्षीण वित्तेन निरुद्यमेन, किं रूपयुक्तेन करोति वेश्या।
विछिन्नदुग्धा न पुन सगर्भा, सा कस्य गौश्चारुतयोपयुक्ता ।। ८६ ।।

अर्थ—वेश्या, धन रहित, निरुद्यमी, रूप युक्त को भी नही चाहती है, जिस प्रकार दुग्ध रहित गर्भिणी गाय भी लोगो के उपयोग मे नही आती है। **भावार्थ**—तब तक वेश्या प्रेम करती है जब तक पुरुष के पास धन रहता है, वह पुरुष चाहे कितना भी सुन्दर क्यो न हो किन्तु धन रहित होने पर उसके पास नही जाती, जिस प्रकार दुग्ध रहित गाय का कोई आदर नही करता। कहा भी है—

धन कारन पापनी प्रीति करै, नहिं तोरत नेह जथा तिन कौ।
लव चाखत नीचन के मुख की, शुचिता सब जाय छियें जिनकौ ।।
मद मास व जारनि खाय सदा, अधले विसनी न करे घिनको
गनिका सग जे शठ लीन भये, धिक् है धिक् है धिक् है तिनको ।। जैन शतक पद्य ५४

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो, विश्वासयन्ति पुरुष न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, वेश्या श्मसानसुमन इव वर्जनीया ।।१४।। (मृ.क ४अङ्क)

अर्थ—ये वेश्याये जो कुछ रोदन या प्रमोद करती है वह सब द्रव्य के लिये ही करती है। पुरुष को ऐसा पिघला देती है जिससे वह इनका विश्वास करने लगता है, किन्तु स्वय किसी का विश्वास नही करती। इस कारण वेश्याओ को कुल और शील से युक्त पुरुष श्मसान के पुष्प के समान छोड देवे और भी कहा है :—(मृच्छकटिक चतुर्थाङ्क)

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति, न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।
यवा प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो, न वेशजाता. शुचयस्तथाङ्गना ।। १७ ।।

अर्थ—जिस प्रकार पर्वत पर कमलिनी नही उगती और जैसे गधे घोड़े के धुरे को नही वहन करते एव जैसे जौ बोये जावे तो चावल उत्पन्न नहीं होते, इसी प्रकार वेश्यायें

कभी पवित्र नही हो सकती । अन्यत्र भी कहा है — (सुभाषित रत्न संदोह अ)

यार्थसंग्रहपरातिनिकृष्टा, सत्यशौचशमधर्मबहिष्ठा ।
सर्वदोषनिलयातिनिकृष्टा, तां श्रयन्ति गणिकां किमु शिष्टा ॥ ६०५ ॥

अर्थ—जो वेश्या सदा धन के संग्रह मे लगी हुई, अत्यन्त नीच, सत्य-शौच-शान्ति और धर्म से बाह्य है और सारे दोषो की स्थानभूत है उस अत्यन्त निकृष्ट वेश्या का सज्जन लोग क्या सेवन करेगे ? (सुभाषित रत्नसंदोह अमितगति)

"मन्यते न धनसौख्यविनाशं, नाभ्युपैति गुरुसज्जनवाक्यं ।
नेक्षते भवसमुद्रमपार, दारिकार्पितमना गतबुद्धि." ॥ ६०६ ॥

अर्थ—जिस पुरुष का मन वेश्या मे आसक्त हो जाता है उस पुरुष की बुद्धि इतनी विनष्ट हो जाती है कि न तो वह धन के सुख के विनाश को विचारता है और न गुरु तथा सज्जनो के वाक्य को ही मानता है और न अपार संसार समुद्र को ही देखता है । अत वेश्या का संगम सर्वथा त्याज्य है, भद्र पुरुषो को कभी नही करना चाहिये । **आखेट-शिकार** किसी विनाश अथवा अस्त्र के द्वारा दीन हरिण आदि पशुओ को या कबूतर जलमुर्गावी आदि पक्षियो को एवं मगर मछली आदि जल जन्तुओ (जलचर—स्थलचर या नभचर किसी प्रकार के) जीवो के मारने का नाम शिकार है । शिकार खेलने से यथा इधर उधर घूम घाम कर उदर पूर्त्ति करने वाले निपट भोले निरपराध जीव मारे जाते हैं । उन दीन प्राणियो की व्यर्थ हत्या होती है । कोई स्त्री जाति का जीव यदि शस्त्रादि का लक्ष्य बन जाता है और उसके बच्चे छोटे २ होते है तो बड़े दु.खी होकर मा के बिना तडफ २ कर मर जाते हैं उनका कितना करुणा जनक दृश्य होता है । बिचारे भोले भाले हरिण आदि जो तृणादि चर कर अपना पेट भरते है किसी को कोई कष्ट नही देते है, वन मे छिपे रहते है, जो मनुष्य के आहट से ही भयभीत होकर भाग जाते है, उन दीन हीन निःसहाय निर्बल पशुओ को मारने के लिये वनो मे भ्रमण करना पडता है । अपने प्राणो के भय से छिपे हुए को अस्त्रादि का लक्ष्य बनाया जाता है । हा ! यह आखेट भी क्या मानव का धर्म हो सकता है ? कदापि नही । निरपराधियो पर इतना अत्याचार करने के लिये किसी भी विचारशील मनुष्य का हृदय साक्षी नही दे सकता । इस घोर अत्याचार पर तो एक दफे अचेतन पत्थर के समान चण्डाल प्रकृति मानव का मानस भी पिघल जाता है । शिकार करने वाला इस जन्म मे जनता मे निन्द्य-अत्याचारी दया विहीन कहलाता और परभव मे नरको के घोर दु:खो को भोगता है । शिकार खेलने वाला शुभ गति का पात्र नही हो सकता है । क्योंकि शुभ गति पुण्याश्रव से होती है, उसके पाप का बन्ध होता है और या परम रत्नत्रय रूपी सम्यग्दर्शन उससे विनष्ट हो जाता है । अत नरकादि मे जाकर घोर

कष्ट सहन करने पडते है। कहा भी है— (वसुनन्दि श्रावकाचार)

सम्मत्तस्स पहाणो, अणुकंबा वण्णिऊजह्मा। पारद्धिरमणसील, सम्मत्तविराहऊतह्मा॥४०॥

अर्थ—सम्यक्त्व का प्रधान कारण दया है और शिकारी के दया नही रहती, अत शिकारी के सम्यक्त्व नाश हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व के विनाश के कारण और पाप बन्ध के कारण उसे दुर्गतियो मे जाकर घोर कष्ट चिरकाल तक भोगने पडते है। क्रिया कोष मे भी कहा है—

त्यागी अहेहा दुष्ट जु कर्मा, ह्वै दयाल सेवौ जिनधर्मा।
करे अहेरा तेजु अहेरी, लहैं नर्क मे आपद ढेरी॥ २३९॥ (क्रियाकोष)

तात्पर्य—शिकार का परित्याग कर दया पूर्ण जिन धर्म की सेवा करो अर्थात् जिन धर्म दया पूर्ण है। जो पुरुष शिकार करता है उसको नरक मे घोर आपत्तिये उठानी पडती है। और भी कहा है— (प्रश्नोत्तर श्रावकाकार १२ वा परिच्छेद)

जीवहिंसाकरं पाप दु खदुर्गतिदायकं। बंधवधकर दक्ष, आखेटं दूरत त्यजेत्॥ ४२॥

अर्थ—चतुर पुरुष को चाहिये कि वह शिकार खेलना सर्वथा त्याग देवे क्योकि शिकार खेलने से अनेक जीवो की हिसा होती है और हिसा से पाप दु ख एव दुर्गतिया प्राप्त होती हैं और फिर अनेक वार बध और बधन आदिक के कष्ट सहन करने पडते है। कोई ऐसा कहते है कि शिकार खेलना क्षत्रियो का धर्म है। यह कहना उनकी भूल है क्योकि क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही दया करना एव निर्बल प्राणियो की रक्षा करना है। कहा है—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्र, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृते, प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥ २५॥ रघुवश द्वि. स.

अर्थ—निश्चय करके जो दु खो से प्राणियो को बचावे उसको क्षत्रिय कहते है। जो क्षत्रिय दूसरो को दुःख से नही छुडा सकते है वह क्षत्रिय कहलाने के अधिकारी नही है। जो क्षत्रिय धर्म से विपरीत वृत्ति से राज्य करता है उसका राज्य करना व्यर्थ है। तथा निन्दा से मलीन प्राणो का धारण करना भी व्यर्थ है। इससे स्पष्ट है कि राजाओ का एव क्षत्रिय शब्द का अर्थ एव कार्य रक्षा करना प्रधान है जो ऐसा नही करते उससे विपरीत शिकार आदि अत्याचार करते है वह क्षत्रिय कहलाने के पात्र नही है। कहा है—

क्षत्री को इह होय न कर्मा, क्षत्री को है उत्तम धर्मा।
क्षत कहिये पीरा को नामा, परपीराहर जिनका कामा॥ २९४॥
क्षत्री दुबल को किम मारै, क्षत्री तो परपीरा टारै।
मांस खाय सो क्षत्री कैसो, वह तो दुष्ट अहेरी जैसो॥ २९५॥
अर जु अहेरी तजै अहेरा, दया पाल ह्वै जिन मत हेरा।

तौ वह पावै उत्तम लोका, सबको जीव दया सुख थोका ।। २६६ ।। (क्रियाकोष)

—: शिकारी ब्रह्मदत्त नृप की कथा :—

उज्जैन नगरी को शासन करने वाला एक ब्रह्मदत्त नाम का राजा था। उसको शिकार खेलने का ऐसा व्यसन था कि वह बिना शिकार के एक दिन भी नही रह सकता था। एक समय यह राजा शिकार के लिये एक वन मे गया। वहा पर एक शिला पर मुनि महाराज तपस्या कर रहे थे, उनके प्रभाव से इसको तीन दिन तक लगातार शिकार नही मिली। राजा के मन मे बडा दु ख हुआ।और मुनीश्वर के ऊपर कुपित होकर उनके बैठने की शिला को अग्नि से खूब तपवादी। मुनि महाराज आहार के लिये नगर मे गये थे। आकर उसी तप्त शिला पर तपस्या करने लगे और उपसर्ग समझ कर सब सहन किया। उस शिला से मुनि महाराज का शरीर जल कर भस्म होने लगा तथापि मुनि महाराज ध्यान से न चिगे। उनको केवल ज्ञान होगया तथा मुक्ति पद मिल गया। इधर राजा सातवे दिन ही कोढी होगया और शरीर से दुर्गन्ध आने लगी, प्रजा तथा कुटुम्बी उस दुर्गन्ध को सहन न कर सके राजा को वन मे रहना पडा। अन्त मे कष्ट पूर्वक मर कर सप्तम नरक गया और वहा घोर यातना भोग कर आयु की स्थिति पूर्ण होने पर धीवर के यहा अतिशय दुर्गन्ध काय को धारण करने वाली कन्या पर्याय धारण की। माता-पिताओ ने दुर्गन्ध के असह्य होने से उसको वन मे छुडवा दिया। वन मे किसी आर्यिका के दर्शन हुए, आर्यिका ने उसे धर्म का स्वरूप समझा कर श्रावक व्रत दे दिये। पूर्व पापोदय से उसे सिंह ने भक्षण कर लिया, फिर मर कर कुबेरदत्त के घर पुत्री हुई। किन्तु शरीर में दुर्गन्ध फिर भी आती थी। सेठ ने किसी मुनीश्वर से इसके शरीर से दुर्गन्ध आने का कारण पूछा, तब उन्होने पूर्व भव सम्बन्धी शिकार तथा मुनि शरीर जलाने का वृत्तान्त कहा। तात्पर्य यह है कि शिकार खेलने से ३३ सागर की लम्बी स्थिति वाले नरक के अवर्णनीय घोर दु ख भोगे और इसके बाद अनेक पर्यायो मे भी घोर यातनाये उठानी पडी। इस कारण चाण्डालो से भी निन्द्य दयाविहीन, आत्म धर्म विनाशक, सम्यक्त्व को नाश करने वाला अनेक पर्यायो मे घोर दुःख देने वाला शिकार कभी नही खेलना चाहिये।

— चोरी :—

ससार मे धन—एवं सम्पत्ति को भी प्राणी प्राणो से अधिक प्यारी समझता है जिस प्रकार प्राण त्याग मे कष्ट समझता है वैसे ही अथवा उससे भी कुछ अधिक द्रव्य के विनाश मे कष्ट मानता है। चोर दूसरो की पडी हुई, एकान्त मे रखी हुई, बिना दी हुई वस्तु को उठा लेता है। एव मकानो मे सेध लगा कर उसके प्राण से अधिक प्रिय धन को ले जाता है। जिसका धन जाता है वह प्राणी उस सम्पत्ति के वियोग मे कितना सतप्त

होता है– वह वचनातीत है । इत्यादि कारणो से चोरी के बराबर अन्य अन्याय एव पातक दूसरा नही हो सकता । इस लोक मे राज दण्ड तथा जनता मे निन्दा को प्राप्त करता है। और परलोक मे दुर्गति प्राप्त करता है । चोरी करने से राज मान्य पुरुष भी तिरस्कृत और अविश्वसनीय तथा राज दण्ड का पात्र होता है । चोरी करने वाला सदा भयभीत बना रहता है । एव चोरी का माल मोरी मे अर्थात् अनर्थ वेश्यादिक मे जाता है । अधिकतर जुवारी तथा वेश्या सेवी लोग अधिक चौर कर्म मे प्रवृत्त होते है । चोर का हृदय सदा शङ्कित एव भयभोत रहता है । मृच्छ कटिक मे शर्विलक चोर अपनी दशा का वर्णन करता हुआ कहता है । (चतुर्थाङ्क)

य कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मा, संभ्रान्तं द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा ।
त सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा, स्वैर्दोषैर्भवतिशंकितो मनुष्य ॥ २ ॥

जो कोई भी जल्दी २ चल कर मुझ सभ्रान्त (भौचक्के) को आकर देखता है अथवा मेरे पास से जाता है उसी को देख कर यह दूषित मेरा अन्तरात्मा शङ्कित हो जाता है । ठीक है ससार मे मनुष्य अपने दोषो से ही शङ्कित होता है । इस चोरी को इस लोक मे अङ्ग-छेदादिक राज दण्ड की प्राप्ति तथा लोक निन्दा एव परलोक मे दुर्गति का कारण समझ कर सर्वथा छोड देना चाहिये । प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे कहा भी है—

बधाङ्गच्छेदबन्धादि, दु खदारिद्र्यकारणम् । परपीड़ाकर वत्स, चौर्याख्यं व्यसनं त्यजेत् ।४३।

अर्थ—हे वत्स ? वध, अङ्ग–छेद और बन्धादिक तथा दु ख एव दारिद्र्य के कारण तथा दूसरे के लिए पीडा कारक चौर्य नाम के व्यसन को छोड दे । **परस्त्री-गमन-निषेध**

कन्यादूषणगान्धर्व, विवाहादि विवर्जयेत् । परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया।२३।सा.ध तृ.

अर्थ—परस्त्री त्यागी को कन्या के साथ विषय करना अथवा उसके दोष प्रकट करना, माता पिता की आज्ञा बिना कन्या तथा अपनी इच्छा से विवाह करना अथवा कन्या आहरण आदि करना वर्जनीय है । वह सब परस्त्री सेवन मे ही माना है । इस ससार मे जो स्त्री अग्नि तथा मन्त्र आदि की साक्षी से अपनी धर्म पत्नी बन चुकी है उसको छोड कर अन्य स्त्रियो से रमण करना बडा भारी पाप है परस्त्री सेवन से अनेक रोगो की उत्पत्ति हो जाती है । कीर्ति का विनाश हो जाता है । अपमान पूर्वक द्रव्य का भी विनाश हो जाती है । लोको से छिप कर परस्त्री रमण करना पडता है । किसी समय पाप का घडा फूट जाता है तो ससार मे घोर निन्दा तथा तिरस्कार प्राप्त होता है एव राज दण्ड भी प्राप्त करना पडता है अपनी जाति के लोग भी दण्ड देते है । ये प्रत्यक्ष मे इसके बुरे परिणाम इस लोक मे ही देखे जाते है और भविष्य में परलोक मे भी दुर्गति प्राप्त करनी पडती है । जो मनुष्य एक बार भी सेवन करता है वह सदाचार भ्रष्ट होकर महान् पाप का भागी होता

है। जिस समय प्राणी अपने हृदय मे परस्त्री का विचार करने लगता है उसी समय उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। धर्मभाव एव सदाचरण हृदय से कूच कर जाता है शरीर एव हृदय व्याकुल हो उठना है हृदय मे विचार आने पर वचनो मे कालिमा आजाती है। शरीर की चेष्टये हार्दिक विकृति से विकारी हो जाती है। कहा तक लिखे अच्छे विचार भी हृदय से निकल जाते है। कहा भी है— (सुभाषित र. स)

यौ रागद्वेषमोहा, ज्जनयति हरते, चारुचारित्ररत्नं।
भिन्ते मानोच्चशैल, मलिनयति कुल, कीर्तिवल्ली लुनीते॥
तस्या ते यान्ति नार्या, मुपहृतमनसा, शक्तिमत्यन्तमूढा।
देवाः कन्दर्पतप्ता, ददति तनुमतां, ते कथं मोक्षलक्ष्मीम्॥ ६५०॥

अर्थ—जो स्त्री रागद्वेष और मोह को उत्पन्न करने वाली है, तथा सुन्दर चारित्र रूपी रत्न को आहरण करने वाली है एव सन्मान रूपी ऊचे पर्वत को भेदन करने वाली तथा कुल को मलिन करने वाली और कीर्त्ति रूपी लता को छेदन करने वाली है, ऐसी स्त्री के समीप विचार शून्य काम से सतप्त होकर जाते है। तात्पर्य यह है कि स्त्रियो के विषय सम्बन्धी विचार मात्र से पुरुषो का आत्मा इतना पतित हो जाता है कि वह आपे मे नही रहता, फिर जो परस्त्री रमण करते है उनकी बुद्धि भ्रष्टता के साथ धन का विनाश चारित्र का विनाश, शारीरिक स्वास्थ्य का विनाश, जो भी विनाश हो जावे थोडा है। अपयश प्राप्ति के साथ राज दण्डादिक सभी दण्ड सम्भव है। इस व्यसन के सेवी अनेक व्यक्ति अपने धन-यश और शारीरिक बल को भी नष्ट कर धन जन एवं परिवार से रहित होकर भिक्षुक होकर दर २ टुकडे के लिये भटकने लगे है। अपनी घर की सम्पत्ति नष्ट कर घर २ भीख मागते है। जिन मनुष्यो ने इस व्यसन का सेवन किया है-उन्होने अपने सुखो को लात मार कर अपने चारित्र को कुचल कर विपत्ति मात्र के पात्र बनने के लिये एक भयकर विघ्न कोप प्राप्त किया है। मनुष्य परस्त्री सेवन करने के लिये अनेक प्रकार के अन्याय अत्याचार करने पर उतारू हो जाता है। इस परस्त्री के कारण "कीचक" सरीखे अनेक राजाओ ने प्राण तक गवा दिये। रावण जैसे बलिष्ठ और सम्पत्ति शाली नरपतियो ने भी अपनी सम्पत्ति तथा राज्य पाट एव प्राणो तक का इस अग्नि मे हवन कर दिया। महाभारत के समान अनेक युद्ध परस्त्री सेवन पर हुए। अगणित प्राणियो का विनाश परस्त्री के ग्रहण करने की इच्छा मात्र पर हो जाता है। सुलोचना-जब जयकुमार के गले मे वरमाला डाल कर उसकी पत्नी बन चुकी थी तब अर्ककीर्ति की उसके ग्रहण करने की इच्छा मात्र मे युक्त होने पर घोर युद्ध हुआ। अनेक प्राणियो का सहार हुआ। अन्त मे जयकुमार की विजय हुई। अर्ककीर्ति की पराजय और अपकीर्ति हुई। सदा सदा-

चारी को विजय होती है, परस्त्री गामी की विजय नही देखी गई है। कहा भी है—

कुगति बहन गुनगहन, दहन दावानलसी है। सुजस चन्द्र घनघटा, देह कृश करन खई है।।
धनसर सोखन धूप, धरम दिन सांझ समानी। विपत्ति भुजङ्गनि वास, बाबई वेद बखानी।।
इह विधि अनेक औगुन भरी प्रान हरन फासी प्रबल।
मत करहु मित्र यह जान जिय, पर वनिता सो प्रीतिपल ।। ३९ ।। (जैन शतक)

दत्तस्तेन जगत्यकीर्तिपटहो, गोत्रे मषीकूर्चक ।
चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानल ।।
निसकेत सकलापदा, शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः ।
शील येन निजं विलुप्तमखिल, त्रैलोक्यचिन्तामणि ।। ३९ ।। (सूक्तिमुक्तावली)

अर्थ—जिस पुरुप ने तीन लोक मे चिन्तामणि के समान शील रत्न को विनष्ट कर दिया उस पुरुप ने ससार मे अपने अपकीर्ति के ढिढोरे को पिटवा दिया, अपने कुल मे श्याही (काजल) की कूची फेर दी, चारित्र को विदा कर दिया, गुणो के समूह के बाग को अग्नि मे दग्ध कर दिया, सम्पूर्ण आपत्तियो को बुला लिया और शिवपुरी का द्वार बन्द कर दिया। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष परस्त्री गामी होता है उसका शील एव सदाचार विनष्ट हो जाता है और फिर उसका ससार मे कोई आदर नही रहता, अकीर्ति फैल जाती है, कुल भी कलङ्कित हो जाता है। उसका आचार विचार एव शुद्ध चरित्र नही रहता, जो गुण भी होते है वे भी विनष्ट हो जाते हैं तथा गुणो से भी आदर प्राप्त न करके अनादरणीय हो जाता है। अनेक प्रकार की आपत्तिया आकर उसे घेर लेती है और चारित्र के विनाश होने के कारण वह शिवपुरी के गमन का अधिकारी नही होता है। अत शील रूपी रत्न को कभी विनष्ट नही होने देना चाहिये। कुलीन बुद्धिमान् मनुष्य का कर्तव्य है कि वह शील को मदा सुरक्षित रखे शील की रक्षा से जो दु साध्य कार्य है वह भी हो जाते है। स्वय तो कदाचित् परस्त्री की वाछा करनी ही नही चाहिये। यदि कोई स्त्री भी अपने को शील से डिगावे तो नही डिगना चाहिये। जो पुरुष या स्त्री शील से नही डिगते वे सदा अनेक विपत्तियो पर विजय प्राप्त करते है एव अन्त मे कीर्ति सम्पत्ति तथा सयम रत्न की प्राप्ति से मुक्ति रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करते है। प्रद्युम्नकुमार ने अनेक विपत्तियो के आने पर भी कनकमाला से अपने शील को नही नष्ट होने दिया एव अनेक विपत्तियो को सहन कर अन्त मे विजय प्राप्त की तथा अनेक विपुल सम्पत्तियो एव कीर्ति का भाजन हुआ। इसी प्रकार सीता सती आदि ने अपने शील की रक्षा की तो अन्त मे अमर कीर्ति प्राप्त की तथा देवो के द्वारा स्तुत्य हुई। ससार मे शील से बढ कर कोई चीज नही है और शील से ही सयम की स्थिति रह सकती है। दशलक्षण पूजन में कहा है कि—

"संयम रतन संभाल विषय चोर बहु फिरत है" तात्पर्य यह है मनुष्य की इन्द्रियां तथा मन बडा चञ्चल होता है । इन इन्द्रियो को विषय अपनी तरफ अत्यन्त शीघ्र आकर्षित कर लेते है अत ज्ञानी पुरुष को अपनी इन्द्रियो को अपने वश मे रखना चाहिये जिससे ये विषय रूपी चोर इस पुरुष के संयम रूपी रत्न को अपहरण करके दीन और रङ्क न बना सके । आत्मा के पास सबसे बडी भारी सम्पत्ति सयम रूपी रत्न ही है यदि यह नष्ट हो गया तो फिर यह निर्धन एवं दीन की तरह हो जावेगा । आत्म बल सयम रक्षा पर ही निर्भर है– और सयम शील की रक्षा पर अवलम्बित है । कहा भी है—

"शील बड़ा ससार मे सब रत्नों की खानि । तीन लोक की सम्पदा रही शील में आनि ।।"

–: द्यूत व्यसन त्याग के अतिचार :–

होडक्रीडा न कर्तव्या सट्टादिक्रीड़नं तथा । चौसरं गुण्डगञ्जीफा क्रीड़नं मानभगकृत् ।। १ ।।
अतितीव्रतरद्वेष, रागोत्पादकक्रीडनम् । होड़ाचित्तविनोदार्थं, क्रीड़न वाथ तादृशम् ।। २ ।।
द्यूतक्रीडनकं त्याज्यं, रागद्वेषप्रवर्द्धकम् । क्लेशदं दु खद सर्वं, तत्क्रीड़ां होड़नं त्यजेत् ।। ३ ।।

अर्थ—जिन्होने जुआ खेलने का त्याग कर दिया है उनको शर्त–तथा सट्टा चौसर (चोपड) ताश शतरज आदि खेल नही खेलने चाहिये ये मान भङ्ग कराने वाले है तथा तीव्र रागद्वेष को पुष्ट करने वाले हैं । अत इनको चित्त की प्रसन्नता के लिएभी नही खेलना चाहिये, क्योकि ये क्लेश और दु ख देने वाले है । इसलिये द्यूत के त्यागियो को ये अतिचार त्याग देने चाहिये ।

– मांस त्याग के अतिचार –

"गालितं पुष्पितं विद्ध त्रसजीवसमन्वितम् । त्यक्तमर्यादकं चान्नं घुणकीटादिसंयुतम् ।। १ ।।
चर्मस्थं च पयो हिगुतैल सर्पिजलादिकम् । आर्द्रं च वस्तुमात्रं वा, मासस्यागी त्यजेत्सदा।।२।।

अर्थ—मास त्यागी पुरुषो को जो अन्न गल गया हो, सड कर फूल गया हो, घुन गया हो या जिसमे त्रसजीव पैदा होगये हो, ओर जो मर्यादा रहित होगये हो, हीग हीगडा चमडे के पात्रो मे रखा हुआ पदार्थ, गीला पदार्थ, तथा सड़ा पदार्थ, इन सब का सर्व प्रकार त्याग कर देना चाहिये ।

–: मदिरा त्याग के अतिचारो –

"तमालमहिफेनं वा कोकमं विजयादिकम् । आसवं पुष्पित कोद्रादिरसं काञ्जिक तथा ।।१।।
प्रकृष्टोन्मादकर्त्तारं रसं वृक्षस्य तादृशम् । बुद्धिभ्रष्टकर सर्वं मद्यत्यागी त्यजेत्सदा ।। २ ।।

अर्थ—मद्य त्यागी सज्जनो को चाहिये कि वे इन पदार्थों को जैसे तमाखू, अफीम, कोकीन, गाजा, भाग ऐसा आसव जिसमे फफू दे आगये हो, कोदो का रस, काजी, सडने के कारण जिन पर सफेदी आजाती है, तथा बुद्धि को भ्रष्ट कर देने वाला ताडी का रस व खजूर का रस आदि सर्व प्रकार से त्याग करदे, कारण इनसे पाप बध के सिवाय और

कुछ नही होता। मदिरा त्याग के अतिचारो मे चाय के सेवन को भी समझना चाहिये क्योकि श्री आचार्यों ने जैनागममे सात व्यसन बताकर उनको छोडने का उपदेश दिया है उनको तो गृहस्थ श्रावक छोडने की कोशिश करते है परन्तु वर्त्तमान मे एक नया व्यसन २०–२५ वर्ष से चाय का लग गया है। यह छोडना बहुत मुश्किल हो रहा है। घर घर मे इसका प्रचार हो गया है। गरीब से लेकर अमीर तक कोई भी घर इस दुर्व्यसन से नही बचा है धीरे २ इस पिशाचिनी ने तमाम घरो मे अपना अड्डा जमा लिया है जन्मते बच्चे से लेकर मरण शय्या पर पडे हुये व्यक्ति तक का भी यह पिशाचिनी पिन्ड नही छोडती है। इस चाय ने तमाम भारत देश की बरबादी करदी है। धर्म कर्म आचार विचार सब नष्ट हो गये है यह चाय विष का कार्य करने वाली है जिसको लोगो ने अमृत मान लिया है। यह महान् भूल है। मैने बहुत से चाय पीने वालो से पूछा कि आप चाय क्यो पीते है इसमे क्या २ गुण है तो सबका यही उत्तर मिलता है कि महाराज इस समय मे दूध नही मिलता है इसलिये चाय पीना पडता है। चाय पीये बिना हमारे से काम नही होता है। सिर मे दर्द हो जाता है। उठना बैठना भी मुश्किल हो जाता है। चाय पीने पर शरीर मे चचलाहट आजाती है इसके सिवाय और कोई फायदा नही है। इस जरा से फायदे के लिये कितना दु ख उठाना पडता है। इस को देखिये १ चाय पीने से सर्व प्रथम धन की हानि होती है जिस घर मे १० व्यक्ति होतो एक समय की चाय मे करीब दो रुपये खर्च हो जाते है अगर दिन मे तीन दफा चाय बनजावे तो छ रुपया रोज का खर्च हो जाता है। मेहमानो के आने पर चोथी टाइम भी बनानी पडती है इसतरह साधारण गृहस्थ के दोसो रुपया माहवार का फालतू खर्चा होता है २. चाय पीने की आदत पड जाती है इसके लिये होटलो मे जाना पडता है वहा पर धर्म तथा धन दोनो का नुकसान होता है जगत् का झूंठा पीना पडता है। होटलो मे दूध किस २ का आता है इसका कोई पता नही सब जातियो का दूध होटलो मे आता है। बनाने वालो की जाति धर्म का पता नही लगता किसके हाथ का पानी कौन चाय बनाने वाला है। प्याला तस्तरी को धोने के लिये दो कुड बना रखे है एक गगा एक जमना, गगा मे धोकर जमना मे खखोल कर टेबल पर लाकर रख देते है। उसका पानी भी नही पूछा जाता है और उसी मे चाय डाल दी जाती है जिसे लोग बडे चाव से पीते है दिन भर सब का झूठा पानी उसमे जमा होता रहता है। उसमे भगी, चमार, नाई, धोबी व नाना प्रकार के बिमारियो वालो के झूठा पीना पड़ता है। उससे पीने वाले के शरीर मे बिमारिया बढती रहती है। आचार विचार धर्म कर्म सब नष्ट हो जाते है। होटल की चाय पीने वालो की ग्लानि मिट जाती है बुद्धि भ्रष्ट हो जाती अगर २–४ साथी साथ हो जाते है तो२–४रुपयो का खर्च हो जाना मामूली बात है क्योकि

चाय पीने के बाद पान भी खाते है । सिगरेट भी पीते है सिनेमा भी देखते है इस तरह चाय से और भी कई नये २ व्यसन लगजाते है ३. चाय पीने की आदत पड जाती है उस व्यक्ति से व्रत उपवास सयम आदि नही पलते हैं ४ चाय भूख कम करती है। शरीर को सुखा देती है । शक्ति कम हो जाती है मादक वस्तु होने से काम वासना अधिक बढ जाती है । हरतरह की बिमारिया पैदा करती है । घर २ मे बिमारी बढती जारही है डाक्टरो को रोज २ घर मे बुलाना पडता है डाक्टर वैद्य भी चाय पीने का निषेध करते है । ५– भारत वर्ष मे घी तथा दूध का मिलना दुर्लभ होगया है इसका कारण यह है कि दूध सब होटलो मे दिया जा रहा है तथा चाय पीने वालो के घरो मे जा रहा है । घी का दर्शन होना मुश्किल हो गया है आज २०-२५ रुपये किलो मे शुद्ध घी नही मिलता इसका कारण चाय है । ६ आचार्यो ने श्रावक धर्म मे आठ मूलगुणो का पालन करना आवश्यक बताया है इस मे तीन मकारो मे मद्य के अतिचार मे नशीली वस्तुये काम मे लेने से दोष आता है । चाय भी मादक वस्तु है इसमे अमल सरीखा मीठा नशा है इसका नशा लोगो को मालुम नही पडता लेकिन इसका नशा आता है इसलिये चाय पीने मे बडा भारी दोष है। ७ चाय पीने की आदत पड जाती है । चाय पीये बिना प्रात बिस्तर पर से नही उठा जाता है। पहले चाय पीने पर ही शौचादि से निवृत्त होता है । चाय पीये बिना टट्टी भी नही लगती चाय मिलने पर ही उठना होगा नही तो मरे मुर्दे के समान बिस्तर पर पडा रहेगा । कोई भी नशा हो उसका व्यमन पड जाने से मुश्किल से छूटता है । समय पर नशा न मिले तो नशा बाजो की तबियत खराब हो जाती है यह चाय के नशा होने का सबसे बडा सबूत है । चाय नशा है तबभी लोग इसे नशा नही समझते है यही इस चुडेल के जादू की करामात है । झूंठी आशा है, जिस चाय की पत्ती पर मनुष्य प्राण देता उस चाय की पत्ती को गाय बैल बकरी आदि पशु भी खाना तो दूर रहा सूंघते भी नही यह चाय के विषैले होने का प्रबल प्रमाण है । चाय आम तौर से गर्म २ ही पी जाती है यह बहुत बुरा है क्योकि गर्म चाय जब उदर मे प्रवेश करती है तो उदर कोष की भित्तियो को हानि पहुँचाती है । चाय पीने से दातो का रोग हो जाता है तथा दात युवावस्था मे ही मैले कुचैले हो कर हिलने लगते है और अत मे गिर जाते है जिससे चेहरे की सुन्दरता नष्ट हो जाती है । साथ ही अन्य रोग जैसे दातो का कैसर तथा आखो की बिमारिया आदि हो जाती है । चाय मे पाये जाने वाले एक नही, बल्कि अनेक तीव्र विषो का पता वैज्ञानिको ने लगाया है । इन विषो मे खास बात यह है कि इनका प्रभाव शरीर पर एकाएक नही पडता बल्कि इनका विषवत् प्रभाव शरीर पर के भीतरी अवयवो को धीरे २ और चौर की भाँति आक्रात करता रहता है इतना धीरे २ और स्थायी रूप से कि मनुष्य को बहुत

दिनो तक पता नही चलता कि चाय से उसको किमी प्रकार की हानि हो रही है । उसकी आखे तो तब खुलती है जब चुडैल चाय उसकी जीवन सगिनी बन चुकी होती है और जब उसका स्वास्थ्य का दिवाला पिट चुका होता है । इस प्रकार ऊपर बताये गये दोषो को समझ कर अपने हृदय में विचार करे चाय पिशाचिनी से पिड छुडा कर घर को सुखी बनावे और धर्म व धन की तथा आचार विचार की रक्षा करे चाय व्यसन छोडे बिना श्रावक धर्म नही पलेगा यह सोच कर चाय व्यसन का त्याग करे। **वेश्या त्याग के अतिचार–**

"रागभावेन वा तीव्रमदनासक्तचेतसा । नृत्यं गानं च वेश्यास्तादृशाया न कारयेत् ।। १ ।।
पश्येत्तासां न चाङ्गानि कामोद्रिक्तेन चेतसा । हर्षशोकौ न वेश्याया कारयेदवलोकने।।२।।

अर्थ—वेश्या त्यागी पुरुषो को राग भाव से वा चित्त मे तीव्र काम की लालसा होने पर वेश्या का या इसके समान अन्य स्त्री का नृत्य या गान नही करना या देखना चाहिये । और इनके अङ्ग उपागो को भी भाव से नही देखना चाहिये । न व्यभिचारी, लम्पट पुरुषो की सङ्गति करना चाहिये, तथा दुख देने वाले व काम की तीव्रता को उत्पन्न करने वाले ऐसे शास्त्रो को भी नही पढना चाहिये । तथा ऐसे भड वचन भी नही बोलना चाहिए जिनके सुनने से काम जागृत होजावे न ऐसी शरीर को चेष्टा करनी चाहिये, न हसी मजाक करनी चाहिये जिससे व्रत भग हो जावे । **आखेट (शिकार) त्याग के अतिचार**

"जीवहिसाकुभावेन, चित्रं लेपादिक मृदम् । नरतिर्यक्समाकारं, जीवं मृत्वा न घातयेत्।।१।।
अङ्गोपाङ्गो हि तेषा हि, नैवच्छिन्द्यात्कुभावत. । मृगयाविरतो धीमान्हिसापापनिवृत्तये।।२।।

अर्थ— शिकार के त्यागी पुरुषो को जीवो की हिसा के विचार से मिट्टी व रग के बने हुए मनुष्य व तिर्तचो के चित्रो का बध (नाश) नही करना चाहिये। तथा इन चित्रो के अग उपागो का खण्डन भी नही करना चाहिये । किसी प्रकार से छेदन भेदन नही करना चहिये ।

—: अचौर्य के अतिचार —

'परद्रव्यादिक वस्तु वञ्चन ग्रहणं हठात् । चौर्यार्थग्रहणं चौर्यादिप्रयोगप्रदर्शनम् ।। १ ।।
क्रयविक्रयके वापि न्यूनाधिकप्रवर्तनम् । अचौर्यव्रतिकोऽतीचारानन्यानपि संत्यजेत् ।। २ ।।

अर्थ—चोरी का त्याग करने वालो को दूसरे के धन को ठगना, विना दिये अन्य के धन को लेना तथा चोरी के प्रयोग बताना, माल को लेने देने के लिये तोलने नापने के साधन बाट व गजादिक कम व अधिक रखना, आदि सबका त्याग करना चाहिए ।

—: परस्त्री त्याग के अतिचार :—

"कुमारीरमणं रण्डाश्च संयोजनादिकम् । गुदादिमैथुनं हस्तक्रीड़ा वा कामसेवनम् ।। १ ।।
कामतीव्राभिलाषं वा इत्वरिकादिसेवनम् । परस्त्रीविरतो मुंचेद् गान्धर्वादिविवाहकम् ।२।

अर्थ—पर स्त्री त्यागी के लिए कुमारी से रमण करना, विधवा से सबध करना,

गुदा-मैथुन, हस्त-मैथुन, काम-तीव्राभिलाष, इत्वरिका-गमन, माता पिता की आज्ञा के बिना विवाह आदि सभी अतिचार कहलाते है। इसलिये मन वचन काय से इनका त्याग करे।

— उत्तम पाक्षिक श्रावक का स्वरूप —

व्यसनाभक्ष्यरहिता वसुमूलगुणैर्युता। व्यपेतमूढता जैना उत्तमा पाक्षिका मताः ॥१॥

जिसके पाच उदुम्बर, तीन मकार, सप्तव्यसन तथा कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र को मानने व पूजने का त्याग हो और जिन वचन रूपी अमृत को पीने वाला एव धर्म का परिशीलन करने वाला हो, वह उत्तम पाक्षिक श्रावक होता है। व्यसनो का वर्णन कर चुके हैं अब अभक्ष्य का वर्णन करते है।

— **अभक्ष्य वर्णन** :—

जैनो के दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनो सम्प्रदायो में ही अभक्ष्य माने गये हैं, किन्तु शैली पृथक् २ है। उन दोनो का यहां दिग्दर्शन करते है—अभक्ष्य के विषय मे प्रथम ही दिगम्बर सम्प्रदाय का मन्तव्य बतलाते है—

अल्पफलबहुविघाता, न्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येमवमहेयम्।
यदनिष्टं तद्व्रतये, द्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।
अभिसंधिकृताविरति, विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति ॥ ८६ ॥ (रत्न०)

अभक्ष्य को ५ निम्न लिखित श्रेणियो मे विभक्त किया है—१—**अल्पफलबहुविघात** जिसके सेवन से फल तो अल्प हो और जीवो का घात अधिक हो अर्थात् जो फलादि एव पुष्पादि बहुत जीवो के योनि भूत स्थान हो जिनके थोडे से भाग मे अनेक एव अनन्त जोव रहते हो, जैसे—अदरख, मूली, गीली हल्दी, निम्ब के फूल, एव केतकी तथा अर्जुन वृक्ष के फूल आदि ये सब अल्प फल बहुविघात के कारण है। अत जिन मार्गाश्रयी को ये सर्वथा त्याज्य हैं। २ **प्रमाद**—जिस वस्तु के सेवन करने से कार्य एव अकार्य का विवेक न रहे। जो प्रमाद को पैदा करने वाली हो जैसे शराब वगैरह। ये प्रमाद के कारण होने से त्याज्य है। ३ **त्रसघात**—जिनके सेवन करने से त्रस जीवों का घात होता हो उसको अर्थात् मास मधु आदि को छोड देना चाहिये। ४ **अनिष्ट**—जितने पदार्थो की आवश्यकता हो उतने ही रखना, शेष से निवृत्ति करना अनिष्ट निवृत्ति है। जैसे जितनी सब्जी अपने को इष्ट है एव सवारी वाहन आदि जितने की अपने को आवश्यकता है उतने हो रखना शेष का परित्याग कर देना चाहिये। ५. **अनुपसेव्य**—जो वस्तु बिल्कुल सेवन करने योग्य न हो उसे अनुपसेव्य कहते हैं। उसकी निवृत्ति कर देना अनुपसेव्य निवृत्ति है। उल्लिखित दोनो पद्य श्री समन्तभद्र स्वामी के है और रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे भोगपरिसंख्यान प्रकरण मे आये है। ये सभी चीजे अभक्ष्य है इसलिये इनका त्याग करना चाहिये। अब आगे श्वेताम्बर सम्प्रदाय से अभिमत २२ अभक्ष्य बताते है—

पंचुबरि चउविगई विस करगे असव्वमट्टी अ। राई भोयणगचिय, बहुंबीअ अणंतसंधाणा ।१

घोलवडा वायंगण, अमुणि अनामाइं पुप्फफलाइ ।

तुच्छफलं चलिअरसं, वज्जे बज्जाणि बावीसं ।। २ ।।

कवित्त :— ओरा, घोरबरा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैगन, संधान ।

पीपर, बर, ऊम्मर कट्ठूम्मर, पाकरफल, जो होइ अजान ।।

कंद मूल, मांटी, विष, आमिष, मधु, माखन और मदिरापान ।

फल अति तुच्छ तुसार, चलितरस, जिनमत ये बाईस बखान ।।

अर्थ—१ ओला २ द्विदल ३ रात्रि भोजन ४ बहुबीजा ५ बेगन ६ अथाना-मुरब्बा ७ पीपल ८ बडफल ९ ऊमर १० कठूमर ११ पाकरफल १२ अजानफल १३ कंदमूल १४ माटी १५ विष १६ मास १७ शहद १८ मक्खन १९ शराब २० अति सूक्ष्म फल २१ बर्फ और २२ चलितरस ये बाईस अभक्ष्य जिनमत में माने गये है। १. **ओला**-वर्षा मे जो ओले बरसते है वे अभक्ष्य है, उन्हे खाने के काम मे नही लेने चाहिये। वे अनन्तकाय रूप जीवों के उत्पत्ति स्थान है उनके भक्षण से अनन्त जीवो की हिसा होती है। २. **घोरबड़ा**-इसका कथन आगे भोजन मर्यादा मे करेगे। ३. **निशिभोजन**-इसका कथन पहले कर आये हैं। ४. **बहुबीजा**-जिन फलो मे खडी धारी तो हो और आडी धारी न हो वे बहुबीजा कहलाते है। जैसे पोस्त, अरण्ड ककडी (हजार ककडी) बिलकुल छोटे केले तथा बहुत बडे केले, जिनमे काली धारी होती है, (सत्यानाशी) इत्यादि फल बहुबीजा है। कहा भी है-

अंड पपीता केला पोस्त, इन सबको कर त्याग उदोत ।

जिन बहु बीजों के घर नाहि, ते सब बहुत बीजा कहलाहि ।। १ ।।

अर्थ—अड पपीता, कोई अफीम के दाने को बहुबीजा कहते है। जिनके दाने तो अनेक हों और घर एक हो वे बहुबीजे कहलाते हैं। ५. **बैगन**-इसको कही कही भट्टा, और बटाटे, बैगन, एव रीगने आदि नाम से कहते है। इनमे प्रत्यक्ष मे दो इन्द्रिय जीव चलते फिरते देखे जाते है। इसलिये ये त्याज्य है। साराश यह है कि इनके भक्षण से बहुत जीवों की हिसा होती है ६। **सधान**-इसको आचार, अथाना और मुरब्बा कहते है। यह आम, निम्बू, मिरची, आंवला, करोदा, कमरख आदि का नमक, मिरची, हल्दी, जीरा, कलोजी, तैल आदि डाल कर बनाया जाता है। इसकी मर्यादा चार प्रहर की है। कोई कोई आचार्य आठ प्रहर की मर्यादा बताते है। उसके उपरान्त अभक्ष्य है। (७-११) **पच उदुम्बर**-बड़, पीपल, उम्बर, कठूम्बर और पाकर फल ये पांच उदुम्बर कहलाते हैं, इनका पहले अष्ट मूल गुणो मे वर्णन कर आये हैं। १२. **अजानफल**-जिन फलो को स्वयं न जाने वे फल अभक्ष्य है। १३. **कन्दमूल**-ये जमीन के अन्दर रहते है इनके ऊपर सूर्य

की घाम नही पडती, अत इन पदार्थों को तामसी वृत्ति हो जाती है । दूसरे ये पदार्थ अनन्त काय है जैसे–आलू, रतालू, अरबी, घुइया, शकर कन्द, हल्दी, अदरख, गाजर, मूली आदि अनेक है । इनमे अदरख से बनी हुई सोंठ, कच्ची हल्दी से बनी हुई पक्की हल्दी, और मू गफली ये तीनो चीजे काष्टादिक बतलाई गई है । न कि जमीकन्द । इनके भक्षण करने से अनन्तर काय का दूषण नही लगता है । कन्दमूल का भक्षण सर्वथा त्याज्य है, इसके भक्षण से बहुत से भयङ्कर रोग भी हो जाते है । १४. **मिट्टी**–यह पृथ्वी काय अनन्त काय रूप सचित्त अनन्त जीवो का पिण्ड है, इसको काम मे लेने से अनन्त जीवो की हिसा होती है, इसके सम्बन्ध से त्रस काय रूप जीवो की भी हिसा हो जाती है । इस कारण इसे अभक्ष्य माना हैं । १५ **विष**–यह अपने नाम से ही प्रसिद्ध है । सखिया, विष, हालाहल आदि इसही के प्रकार एव नाम है । इसके भक्षण से प्राणी के आर्त्तरौद्र परिणाम होकर प्राण निकल जाते हैं । और दुष्परिणाम के कारण उसको नरक मे जाना पडता है । कदाचित् विष भक्षण करने वाला यदि जीवित भी रह जावे तो राज दण्ड पाता है । इससे इसको त्याग देना चाहिये । १६. **आमिष**–मास इसका कथन मूल गुणो मे तथा सप्तव्यसन में कर चुके है । १७. **मधु**–शहद इसका वर्णन भी अष्ट मूल गुणो मे किया जा चुका है । १८ **मक्खन**—इसका कथन आगे भोजन कथन प्रकरण में करेंगे । १६.–**मदिरा**–इसका कथन भी अष्ट मूल गुण तथा सप्तव्यसन प्रकरण से जान लेना चाहिये । २०. **तुच्छ फल**–तुच्छ फल उसको कहते हैं, जो फल अपक्क अवस्था मे हो । जिसमे धारी, रेखा, रुह, सिरि, सधि पैदा नही पैदा नही हुए हो उसको तुच्छ फल–तथा अनन्त कायिक भी कहते है । इसके तोडने पर इसमें तन्तु नही लगे रहते ज्योही चाकू मे तोडते है त्यों ही टूट जाता है । जो अभी पूरा बढ नही पाया हो जैसे आम की अमिया (केरी) मे जब तक जाली नही पड़ी हो तब तक वह तुच्छ फल है सामान्यतया सिद्धान्तो मे इसका ऐसा ही स्वरूप कहा है । २१. **तुषार**–जब शीत काल (सरदी का समय) आता है एव शीत अधिक पड़ता है, तब जल से भरी हुई तल्लैया भी जम जाती है, बर्तन मे भरा जल भी जम जाया करता है उसे ही तुषार कहते है । इसके अतिरिक्त शीत काल मे ओस पडती है । और शीत काल मे भी गर्मी के ओलो के समान अर्थात् छोटे २ बर्फ के कण रात्रि को बरसते है, उनको भी तुषार कहते है, गर्मी मे बरसने वाले ओले कहलाते है और सर्दी के कण तुषार कहलाते है । ये अभक्ष्य है इसमें अनन्त जीव राशि रहती है । २२.–**चलितरस**–जो पदार्थ मर्यादा से एक समय भी उपरान्त है, वह चलित रस है, चाहे उसके स्वाद की विकृति का रसना इन्द्रिय द्वारा ज्ञान हो या न हो । चलित रस मर्यादा उपरान्त होता है । जिस पदार्थ की जितनी मर्यादा है उतने समय से पहले वह चलित रस

नही है। क्योकि मर्यादा के उपरान्त ही जीवो की उत्पत्ति होती है। मर्यादा के उपरान्त उसमे जीव पैदा हो २ कर मरते है अत वह चलित रस है। इस प्रकार के मर्यादा से बाहर के पदार्थो के भक्षण करने के लिये आयुर्वेदज्ञो ने भी निषेध किया है। तथा ऐसे मर्यादा बाह्य पदार्थो के भक्षण से असाध्य रोगो की उत्पत्ति मानी है। मर्यादा के बाहर चलित रस हुए पदार्थों के खाने से अनेक जीवो का घात होता है और उससे जो पाप बन्ध होता है उससे नरक निगोद मे जाकर घोर दु ख उठाने पडते है। अत चलित रस पदार्थ कदापि भक्षण नही करने चाहिये। इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे २२ अभक्ष्य माने है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी ये बाईस अभक्ष्य माने गये है किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय मे २२ ही नही, इनके सदृश अन्य भी बहुत से अभक्ष्य माने है। विस्तार भय से उनका वर्णन यहा नही किया गया है सो जानना। जैसा कि पहले कहा गया है समन्तभद्र स्वामी ने जो भोग परिसख्यान के पाच निम्न लिखित भेद बताये है वे अभक्ष्य पदार्थ के भी प्रकार है। वे ये है १ अल्प विघात २ प्रमाद ३ त्रसघात ४ अनिष्ट ५ और अनुपसेव्य। इनका सक्षिप्त स्वरूप पहले दिया ही गया है।

—: पाक्षिक श्रावक के अन्य कर्त्तव्य (ऋतुमती स्त्री) :—

अब पाक्षिक श्रावक के कुछ अन्य कर्तव्यो का भी यहा दिग्दर्शन कराते है। उनमें स्त्रियो के मासिक धर्म का विवेचन करते है। ऋतु, रज, पुष्प ये ऋतु के ही वाचक शब्द है। स्त्रियो के यह ऋतु-रज स्राव दो तरह से होता है। एक स्वाभाविक दूसरा रोगादिक विकार से। स्त्रियो के स्वाभाविक ऋतु-रज (खून) का निकलना, महीने २ पीछे हुआ करता है। और किसी गरम वस्तु के खा लेने से, अथवा किसी रोगादिक के हो जाने से जो महीने के भीतर ही रज स्राव होने लगे उसे विकृत या विकार जन्य कहते है। तरुण अवस्था के प्राप्त होने पर प्रतिमास गर्भाशय से रज स्त्राव होने का नाम मासिक धर्म-या रजोदर्शन है। ऐसी अवस्था मे स्त्री की पुष्पवती सज्ञा होती है। यही गर्भ—धारण की योग्यता है। मासिक धर्म होने से स्त्री स्वस्थ और नीरोग रहती है। जिन स्त्रियो के यथा समय मासिक धर्म नही होता वे बीमार रहती है। उनकी आखो आदि पर बडा बुरा प्रभाव पडता है। ऋतु काल की तीन या चार रात्रिये सर्वथा त्यागने योग्य है। कहा भी है—

निशां षोड़शनारीणामुक्त स्यात्तासु चादिमा।

तिस्त्रः सर्वैरपि त्याज्या., प्रोक्तास्तुर्यापि केनचित् ॥ १ ॥ (पु सि.पा.टि)

अर्थ—स्त्रियो का पुष्पकाल, ऋतुकाल सोलह दिन का माना गया है, अर्थात् १६ दिन तक गर्भाशय का मुख खुला रहता है; उनमे से प्रारभ से तीन रात्रि अर्थात् (रजस्वला-का समय) शास्त्रकारो ने त्याज्य बताया है अर्थात् उन दिनो मे स्त्री ससर्ग करने का निषेध

किया गया है। भावार्थ–जिस दिन से स्त्री को रजो दर्शन होता है। उस समय से लेकर सोलह रात्रितक गर्भ धारण हो सकता है; जिस में प्रारभ की तीन रात्रियो मे स्त्री से ससर्ग करने का निषेध है। शेष तेरह रात्रियो मे गर्भ धारण हो जावे तो हो जाय अन्यथा फिर नही होता अर्थात् १६ सोलह रात्रि पश्चात् गर्भाशय का मुख बन्द हो जाता है। जीव उस गर्भ मे यातो उसी समय आजाता है यदि उस समय आवे तो गर्भ काल के मध्य मे या अन्त तक आसकता है। वह समय शास्त्र कारो ने दश दिन का माना है। इस अवधि में जीव गर्भ मे न आवे तो दश दिन पश्चात् वह गर्भ ठहर नही सकता, पात हो जावेगा- ऐसा नियम है।

— मासिक धर्म के समय स्त्रियों का कर्त्तव्य —

अब स्त्रियो को मासिक धर्म के समय के कर्तव्यो का दिग्दर्शन कराते हैं — स्त्रियों को मासिक धर्म के दिनो मे तीन रात्रि तक एकान्त स्थान मे रहना चाहिये, जहा पर किसी अन्य पुरुष का आगमन न होवे, किसी प्रकार पुरुष या स्त्री से स्पर्श न करे। तीन दिन तक ब्रह्मचर्य पालन करे मौन धारण करे। देव चर्चा भी उच्चस्वर से न करे। गोरस-दूध दही न खावे। अंजन न लगावे। उबटन न करे, गले मे माला न पहिने। चन्दनादिक न लगावे। अलकार न पहिने। देव, गुरु और राजा का दर्शन भी दूर से करे। अपना मुख दर्पण में न देखे। किसी कुदेव को न देखे। अपना मुख न दूसरे को दिखावे न अन्य काही स्वयं मुख देखे। सोने बैठने के कपड़े, बिछौना और उपकरण आदि तथा भोजन के पात्र वगैरह अलग होने चाहिये। भोजन के पात्र तावे के या पीतल के होने चाहियें। अन्यथा पातल मे जीमे या मृत्तिका के पात्र मे भोजन कर उन पात्रो को तुरत फेंक देवे। पीतल और तावे के पात्रो को पीछे अग्नि मे सतप्तकर शुद्ध कर लेवे। अग्नि से इतने तपावे कि उन पात्रो का सुर्ख वर्ण हो जावे। इन दिनो मे किसी स्त्री या पुरुष का मुख भी नही देखना चाहिये; क्योकि ऐसा करने से दूषण लगता है। इस समय के लिये शास्त्रकारो ने कहा कि केमरे मे जैसा अवस पडता हे, वैसा ही फोटो उतर जाता है उसी तरह मासिक धर्म मे स्त्री जिस पुरुप या स्त्री जिस पुरुष या स्त्री का मुख देखेगी उसी प्रकार की उसके सन्तान पैदा होगी। अत: अन्य के मुख देखने का निषेध किया गया है। मासिक धर्म के समय तीन रात्रि तक अशौच पालना चाहिये। इन तीन दिनो मे स्त्री का भोजन बनाना, झाड़ू बुहारी देना, लीपना, पोतना, बर्तन माजना, कपडे धोना, पीसना, कूटना, पानी भरना आदि गृहस्थोचित कार्य नही करना चाहिये। चौथे दिन चौथा स्नो कर प्रथम ही अपने पति का मुख देखे। पीछे दूसरा कार्य करे। यदि पति घर पर न हो तो दर्पण मे अपनाही मुख देख लेवे। पाचवे दिन स्नान कर जिनेन्द्र दर्शन कर-वा पूजन कर, फिर गृहस्थी के कार्य (भोजन बना आदि) करने चाहिये। किन्ही स्त्रियो ने इ

दिनो के सिवाय भी रज स्राव (खून का निकलना) होना रहता है वह बीमारी है। यदि इस प्रकार का विकृत रजस्राव १७ दिन के पहले किसी स्त्री को हो जाय तो १ दिन में शुद्धि होती है और १८ दिन के पश्चात् होवे तो अशौच पूरा पालना चाहिये। इस समय हृदय मे पच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करना चाहिये, इन दिनो ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये क्योकि ब्रह्मचर्य के भग करने से नाना प्रकार की व्याधिया (रोग) हो जाती है। जिनमे दम्पति (स्त्री और पुरुष दोनो ही) कष्ट मे पड जाते है। मासिक धर्म के समय, स्त्री के शरीर के परमाणु बिल्कुल अपवित्र दूषित हो जाते है। इसका दूसरे पदार्थो पर बड़ा भयकर प्रभाव पडता है जैसे, पापड़ या बडी आदि चीजे, यदि रजस्वला स्त्री देख-लेवे तो उनका रग बदल जाता है और स्वाद भी बदल जाता है। रजस्वला स्त्री के दृष्टि गोचर होने से प्रथम यदि आखे कुछ खराब हो तो उसके देखने पर विशेष खराब हो जाती है। मोती झरे और शीतला के रोगी को रजस्वला स्त्री से दूर रखना चाहिये। अन्यथा उक्त रोग इसके सम्पर्क से विगड जाते है। यह बात सर्वविदित है। जिसके ऊपर रजोदर्शन का प्रभाव पड चुका है वह मलिन होने के कारण व्रत और चारित्र मे शिथिल हो जाती है। और व्रतो मे शिथिलता आजाने से अनेक प्रकार के दुष्कर्मो की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। उनसे महा पाप का बन्ध होता है। और उस पाप बन्ध से दुर्गति के भयानक कष्ट भोगने पडते है। मासिक धर्म के समय तीन रात्रि पर्यन्त अशौच का पालन करे, उस समय शक्ति हो तो उपवास या एकाशन या रस का परित्याग करे। चौथे दिन स्नान करने पर शुद्ध हो जाती है उस समय मन मे जप करे। इन दिनो मे गाना नही गावे, रोदन नही करे, झाडना बुहारना आदि लौकिक कार्य भी नही करे। अपनी बुद्धि से धार्मिक कार्य मे करने योग्य न करने योग्य विचार कर करे। अपनी जाति एव पद के अनुकूल गुरु के पास जाकर, सरल परिणामो से युक्त होकर, प्रायश्चित्त लेवे और गुरु बताये वैसा उसका साधन रूप कार्य करे भूले नही। **प्रश्न**—मासिक धर्म के समय स्त्रियों के शारीरिक पर-माणुओ मे ऐसी कौन सी विकृति आजाती है जिससे उस काल मे लौकिक एव धार्मिक कार्य करने के लिये शास्त्रकारो ने हेय तथा उपादेय विचार पूर्वक कार्य करना कहा है जिससे लौकिक प्रवृत्ति नही बिगडे। **उत्तर**—ऋषियो का कहना है कि निमित्त कारण के योग से परमाणुओ मे विकृति आजाती है—जैसे, सूर्य का निमित्त पाकर परमाणु तप जाते है और वे ही परमाणु चन्द्र का निमित्त पाकर शीतल हो जाते है, साप की वामी के पास की औषधिया क्यो दवाई मे नही ली जाती, क्योकि उन मे सर्प की वामी के कारण विषका प्रभाव पड चुका है। इसी प्रकार रजस्वला स्त्री के परमाणु भी काल आदि के निमित्त को पाकर ऐसे विकृत होते है, जिससे कि उसे धामिक एव लौकिक क्रियाये

सिद्धान्तानुकूल करना कहा है। इसलिये स्त्रियो को चाहिये कि इन दिनो मे अपना आचरण ठीक रखे ताकि स्वस्थ नीरोगी रहकर ऐसी सन्तान को उत्पन्न करे जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ के पालने के योग्य हो। रजस्वला स्त्री के लिये शास्त्रो के ज्ञाताओ ने निम्न प्रकार सजाये देकर अशुचिता का निर्देश किया है—

"प्रथमेऽह्नि तु चाण्डाली, द्वितीये ब्रह्मघातिनी। तृतीये रजकी प्रोक्ता, चतुर्थेऽह्नि हि शुद्धयति॥

अर्थ—स्त्री जिस दिन रजस्वला होती है उस दिन वह चाण्डालिनी के सदृश अपवित्र मानी गई है। दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी हत्यारी के समान कही है। पापी के समान अपवित्र है। तीसरे दिन धोबिन के समान अस्पृश्य है। चौथे दिन शुद्ध होती है। चौथे दिन की शुद्धि का कथन आर्यिका या व्रती श्राविकाओ के लिये है, गृहस्थ स्त्रियो को चाहिये कि वे अपने गृह का कार्य पांचवे दिन ही करे। जो इसका पालन नही करते वे हीन कुली हैं। अत इसका पालन करना प्रत्येक गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य है। निर्बल और बलवान् भेद से निमित्त कारण दो प्रकार के है। निर्बल कारण के सयोग होने पर कार्य होता भी है और नही भी होता है; परन्तु बलवान् कारण के होने पर तो कार्य हो ही जाता है —उदारणार्थ–आयु कर्म बलवान् निमित्त कारण तथा गतिनाम कर्म दुर्बल कारण है।–जैसे, किसी मनुष्य ने बध्यमान(भविष्य की) देवायु का बन्ध कर लिया है तो वह देव पर्याय मे उत्पन्न होकर देवगति नामा नाम कर्म का अनुभव करेगा। आयु कर्म टल नही सकता। अगर उसने पहले देवायु कर्म का बन्ध नही किया तो वह कदापि देवायु के बिना देव पर्याय मे उत्पन्न नही हो सकता। चाहे उसने देवगति का बध ही क्यो न कर लिया हो क्योकि गति नाम कर्म की प्रकृति बलवान् कारण नही है। आयु कर्म को छोडकर सात कर्मो का बन्ध हर समय होता है और गति यह नाम कर्म का भेद है। इसलिये चारो गतियो का बन्ध सदा होता ही रहता है किन्तु भविष्य की आयु का त्रिभाग मे जो बन्ध किया होगा, आयु के साथ वही गति रह जायगी, बाकी गतिया छुट जायेगी, इसलिये गति बलवान् कारण नही है। उसी प्रकार रजस्वला स्त्री रूप बलवान् कारण के निमित्त से विकृत भाव तो हो ही जाते है, इसलिये रजस्वला स्त्री बहुत सावधानी से रहे। वह लौकिक एव धार्मिक कार्य करने के लिये विवेक पूर्वक शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चले, रजोदर्शन काल मे कोई भी लौकिक (रसोई बनाना आदि) एव धार्मिक कार्य पूजनादिक न करे ऐसी शास्त्र आज्ञा है। शुभा–शुभ कर्म बन्ध हमारे भावो से होता हैं। उसका कारण उपादान निमित्त है इसीलिए यहा निमित्त पर जोर दिया गया है। — **कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है:—**

"जो खलुसंसारत्थो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।

परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदि सुगदि ।। १२८ ।।
गदिमधिगदस्सदेहो, देहादो इंदियाणि जायंते ।ते हिं दुविसयागहणं, तत्तोरामोय दोसो वा ।।
जायदि जीवस्सेव भावो, ससारचक्क कालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो वा ।। १३०।। प०

अर्थ—निश्चय कर ससारी जीवो के परिणाम कारण के मिलने पर उसी रूप परिणमन को प्राप्त हो जाते है । और शुभ और अशुभ परिणामों के कारण से अच्छे बुरे कर्मो का आस्त्रव करता है । तदनुसार सुगति अच्छी गति, दुर्गति–खोटी गतिका बन्ध करता है उस गति से इसके शरीर उत्पन्न होता है शरीर से इन्द्रिया होती है इन्द्रिया अपने स्वभाव के अनुसार विषयो को ग्रहण करती है इससे आत्मा मे राग द्वेष उत्पन्न होते है जब तक यह जीव राग द्वेष से युक्त रहता है,तब तक चतुर्गति रूप ससार मे कष्ट उठाता है इसलिये निमित्त कारणो को जिनके द्वारा यह प्राणी सासारिक दु ख उठाता है हटाना चाहिये-१२९-१३० क्योकि निकृष्ट पचम काल मे उत्तम कुल, उत्तम शरीर, उत्तम धर्म, निरोगी शरीर, आदि साधनो की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, अत. स्त्रियो को मासिक धर्म के समय अशौच का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है । —. **सौर, सूतक पातक का विवेचन :—**

जन्म सम्बन्धी अशौच को सौर कहते है, वह तीन प्रकार का है । स्राव सम्बन्धी पात सम्बन्धी और जन्म सम्बन्धी । तीसरे और चौथे महिने तक के गर्भ गिर जाने को स्राव कहते है और पाचवे या छठे महिने तक गर्भ गिर जाने को 'पात' कहते है । सातवे आठवे, नौवे या दशवे महिने मे जो प्रसूति होती है, उसे जन्म सम्बन्धी अशौच कहते है ।

गर्भस्राव सम्बन्धी अशौच (सूतक) यदि स्राव ३ रे महिने मे हो तो माता को तीन दिन का, यदि चोथे महिने मे हो तो चार दिन का मानना चाहिये । पिता और कुटुम्बी जन केवल स्नान कर लेने से ही शुद्ध हो जाते है, उन्हे ३ या ४ दिन का अशौच-सूतक नही होता । गर्भ पात का सूतक माता को, यदि पात पाचवे महिने मे हो तो पाच दिन का, यदि छठे महिने मे पात हो तो ६ दिन का अशौच सूतक माना है । पिता और कुटुम्बी जनो को देश दिन का सूतक मानना कहा है । यदि प्रसूति हो, तो माता पिता और कुटुम्बी जनो को दश दिन का सूतक होता है । यही सूतक क्षत्रियो को बारह दिन का और शूद्र को १५ दिन का मानना चाहिये । यदि पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो माता को दश दिन का तो ऐसा सूतक लगता है जिससे दश दिन तक उसका कोई मुख न देख सके ; इसके सिवाय ३५ दिन का अनधिकार सूतक उसे लगा करता है अनधिकार सूतक मे भी उसे देव पूजा, शास्त्र स्वाध्याय, कुटुम्ब के वास्ते भोजन आदि बनाने का अधिकार नही है, यदि कन्या हुई हो तो भी उक्त प्रकार जन्म सम्बन्धी अशौच डेढ़ माह तक मानना चाहिये । **प्रश्न**–

सौर–सूतक–पातक के समय पर गृहस्थो को भगवान् की पूजन प्रक्षाल करने का अधिकार है या नही ? उत्तर–यह बात परम्परा आश्रित है। जहा जैसी परम्परा हो वहा उसका वैसा ही पालन करना चाहिये। इन परम्पराओ को तोडने से कोई लाभ भी नही है। फिर भी यह बात जरूर है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपेक्षा इन मे परिवर्तन होता रहता है। इस विषय मे भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देखिए। जिस समय राजा सभा मे बैठे थे, उस समय एक द्वारपाल ने आकर कहा कि महाराज के पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है। दूसरे द्वारपाल ने आकर कहा कि आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है। तीसरे आदमी ने आकर कहा कि प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ देवको त्रैलोक्यवर्ती अनन्तानन्त पदार्थो का एक साथ जिसमे प्रतिबिम्ब पडता है ऐसा केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है। ये तीनो खबरे भरतजी के पास राज सभा मे बैठे ही बैठे आगई। अत उन्होने प्रथम ही समवसरण मे जाकर भगवान् आदि नाथ तीर्थङ्कर के केवल ज्ञान कल्याणक की पूजन की। पश्चात् आकर चक्र रत्न की पूजन की (सो भी अरहन्त भगवान् की) तत्पश्चात् पुत्र रत्न का उत्सव किया। कहने का तात्पर्य यह निकला कि राजाओ को सूतक पातक आदि नही होते है। यदि होते तो समवसरण मे जाकर भगवान् की पूजा कैसे करते ? यदि अनुचित होता, तो दिव्यध्वनि मे या गणधरो के द्वारा उसका उसी समय निषेध हो जाता। किन्तु ऐसा नही हुआ। ऐसा कथन प्रथमानुयोग के ग्रन्थो मे कई जगह है। ऐसा भी लिखा है कि जिनदत्त राज सेठ के यहा जब पुत्र–रत्न की प्रप्ति हुई तब उन्होने चैत्यालय मे शोभा कराई, देवाधिदेव का अभिषेक तथा पूजन कराया। ऐसा कथन आदिपुराण मे भी है।

– सौर तथा सूतक के अन्य उदाहरण –

अवंति देश मे उज्जैनी नगरी मे राजा वृषभाक के राज मे सुरेन्द्रदत्त नामा सेठ ताके यशोभद्रा सेठानी थी जब इस सेठानी के पुत्र उत्पत्ति भई तब इस सेठानी ने जिनेन्द्र भगवान् के मन्दिर विषै पूजन प्रभावना खूब कराई उल्लिखित कथन सुकुमाल चरित्र के सप्तमाध्याय का है पद्म पुराण, विमल पुराण, सभव पुराण, और मुनिसुव्रत पुराण तथा अन्य ग्रन्थो मे भी ऐसे लेख है – जैसे, सेठ अरहदास के पुत्रोत्पत्ति के समय भगवान् जिनेन्द्र के मन्दिर मे पूजन कराई और उत्सव कराया। आज कल भी देखा जाता है कि जब किसी गृहस्थ के घर मे कोई पुरुष या स्त्री मर जाती है तब लोग तीसरे दिन श्री मन्दिरजी मे उठावना लेकर जाते है और पचो की साक्षी से गृहस्थ अपने घर से कोई द्रव्य लेजा कर श्री मन्दिरजी मे चढाते है। इससे सिद्ध होता है कि जन्म के सौर मे भगवान् की पूजा करना लिखा ही है और मरण के सूतक मे द्रव्य चढाना अप्रत्यक्ष मे है ही। प्रश्न–तो आज कल द्रव्य चढाने को क्यो रोका जाता है? उत्तर इस दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी ऐसा हुआ कि विक्रम की १३ वी

शताब्दी से भट्टारक मार्ग चला । तब इनको पण्डित रखने की तथा शिष्य बनाने की आवश्यकता पडी । इसके लिए तब इनको किसी ब्राह्मण का लडका मिला उसको इन्होने पण्डित या भट्टारक बना लिया । पश्चात् उसके जो भाव थे उसके अनुकूल ग्रन्थ बनाकर या बनवाकर ऐसा कथन कर दिया और जनता मे इस बात की भावना उपदेश देदेकर भरदी कि सौर सूतक मे द्रव्य मत चढाओ और भगवान् की आरती, गोमय, सरसो आदि द्रव्यो से करो तथा प्रतिमा की शुद्धि मे गो मूत्र डालो, श्राद्ध करो, तर्पण करो, आचमन करो, केशर पुष्प चढाओ, भगवान् के गले मे माला तथा सिर पर पुष्पो का मुकुट लगाओ । दुग्ध के कुण्ड मे भगवान् को रात भर रखो । भगवान् को भी आचमन कराओ । क्षेत्रपाल, पद्मावती, चडी, मुंडो, यक्ष, राक्षस आदि की पाक्षिक श्रावक आराधना कर सकता है । ग्रहण, सोमवती, अमावस्या, व्यतिपात मे ब्राह्मणो को दान करो । कहा तक कहा जावे जो कुछ इन्होने करना चाहा वह कहा जैन धर्म के कुल मे या ग्रन्थो मे सब बाते भरदी । इनको कोई रोकने वाला नही मिला, क्योकि यह जादू मंत्र तन्त्र यंत्र करते थे सो लोगो को इनका डर लगता था इस वास्ते जैनियो के यहा भी ये सब बाते चल पडी । वास्तव मे यह जैन धर्म के अनकूल नही है । अब इस समय की मान्यता के अनुसार सौर का वर्णन करते है—

सूतक वृद्धिहानिभ्या, दिनानि दश द्वादश । प्रसूतिस्थानमासैकं, स्नानमात्रं च गोत्रिणाम् ।।"

अर्थ—सौरि सूतक वृद्धि हानि युक्त होता है । वह दस दिन तथा बारह दिन का होता है । अर्थात् सौर तो दश दिन का तथा मरण बारह दिन का होता है । प्रसूति स्थान की पवित्रता एक मास से होती है, गोत्री जनो की शुद्धि एक दिन के बाद हो जाती है । अन्य स्थानो मे जो गोत्रो लोगो को पाच दिन का सूतक कहा है सो सिद्धान्तो से बनता ही नही है । अत एक दिन का समझना चाहिये ; क्योकि गोत्र तो बडा होता है । अतः यह कथन योग्य प्रतीत नही होता । क्योकि पीढियो मे तो दश पीढी तक ही सौर सूतक बतलाया गया है । प्रसूता स्त्री डेढ माह के बाद जिनेन्द्रदेव-पूजन, दर्शन, स्वाध्याय, पात्र दान आदि के योग्य होती है । सौरि का दोष ११ वे दिन तथा मरण का १३ वे दिन शुद्ध होता है । कहा भी है—

'यदिगर्भविपत्ति स्यात्, स्त्रवणं चापि योषिताम् । यावन्मासास्थिती गर्भस्तावद्दिनानि सूतकम् ।।'

अर्थ—जितने माह का गर्भ पात हुआ हो, उतने ही दिन का सौर मानना चाहिये । यदि गर्भ एक माह के पूर्व गिर जावे तो भी सौर एक दिन का मानना चाहिये । पूर्ण सौर दश दिन का होता है । और भी कहा है—

"अश्वी च महिषी चेटी, गौ प्रसूता गृहाङ्गणे । सूतकं दिनमेकं स्यात् गृहबाह्ये न सूतकम् ।।

दासीदासस्तथा कन्या, जायते म्रियते यदि । त्रिरात्रं सूतक ज्ञेय, गृहमध्ये तु दूषरणम् ।।४।"

अर्थ—घोडी, भैस, दासी और गाय, जो घर के आगन मे ब्यावे तो एक दिन का सौर मानो और घर के बाहर ब्याहने मे सौर नही होता । जो घर दासी दास (जैसे राजा लोगो को दहेज मे दासी दास दिये जाते है) तथा कन्या की प्रसूति होवे या मरण हो तो तीन रात्रि का सूतक होता है । सो भी घर हो तो मानना चाहिये अन्यथा नही। और भी कहा है—

कुटुम्बिनां सूतके जाते, गते द्वादशके दिने । जिनाभिषेकपूजाभ्यां, पात्रदानेन शुद्धयति ।।१।।

अर्थ—कुटुम्बी जनो के सूतक की शुद्धि बारह दिन बाद होती है । उसके बाद भगवान् का अभिषेक पूजन तथा पात्र दान कर सकता है । **भावार्थ**–तीन पीढ़ी तक जन्म का तथा मरण का सौरि सूतक दश दिन तथा बारह दिन का होता है । अत इन दिनो के बाद जिन बिम्ब का अभिषेक पूजन तथा पात्र दान कर सकता है। और भी कहा है—

चतुर्थे दशरात्रि स्यात्, षट् रात्रिः पुंसि पचमे। षष्ठे चतुरहः शुद्धि सप्तमे च दिनत्रयम्।।
अष्टमे पुंस्यहो रात्रं, नवमे प्रहरद्वयम् । दशमे स्नानमात्रं स्यादेतत् गोत्रस्य सूतकम् ।। २ ।।

अर्थ—सौर सूतक तीन पीढी तक तो ऊपर कह दिया । अब रहा मरण का सूतक सो चोथी पीढ़ी मे १० दिन, पाचवी मे ६ दिन छठी पीढी मे ४ दिन सातवी मे ३ दिन, आठवी मे एक दिन रात, नवमी मे दो प्रहर, और दशमी पीढी मे स्नान मात्र से शुद्धि होती है । तीन दिन के बच्चे की मृत्यु का सूतक १ दिन, चौथे दिन से लगा कर ८ वर्ष पर्यन्त मृत्यु का सूतक ३ दिन होता है । उसके बाद का सूतक पूरा १२ दिन का होता है।

—: सूतक की विशेषता :—

प्रव्रजिते मृते बाले, देशान्तरमृते रणे । सन्यासे मरणे चैव, दिनैक सूतकं भवेत् ।। १ ।।

अर्थ—अपने कुल मे से जिसने मुनिव्रत, या उत्कृष्ट श्रावक व्रत, त्यागी का व्रत लिया हो, जिसका देशान्तर मे मरण हुआ हो, युद्ध मे तथा सन्यास मे जिसका मरण हो, तथा तीन दिन के बालक का मरण हो गया हो तो उनका सूतक एक दिन का माना गया है। **विशेषार्थ**—जो अपने घर की स्त्री या पुरुष विदेश मे रहते हो उनका मरण हो जाय तो १२ दिन का सूनक, अगर बारह दिन के पहले खबर मिले तो जितने दिन बाकी होवे, उतने दिन का सूतक मानना चाहिये अगर १२ दिन पूर्ण हो गए हो तो एक दिन का सूतक, अगर चौथी पीढी से लगाकर दशमी पीढी तक का होवे तो, स्नान मात्र से सूतक की शुद्धि होती है ।

— पातक का वर्णन :—

"सतीनां सूतकं हत्या, पापं षाण्मासिकं भवेत् । अन्यासामात्महत्यानां, यथापापं प्रकाशयेत् ।।

अर्थ—अपघात मरण को ही पातक कहते है । जैसे सती का होना, क्रोध के वश

से कुए में गिर कर मर जाना, नदी मे डूब कर मर जाना, छत पर से गिरना, विष खाना, फासी लगाना, या शरीर मे तेल डाल कर आग लगाना, गर्भपात करना आदि को अपघात कहते है इन कार्यो के करने वाले उपदेशको को या मदद गारो को ६ माह तक जिनेन्द्र देव का अभिषेक नही करना चाहिए। सभा मे बैठ कर शास्त्र बाचना, एव पठन पाठन करने का स्वाध्याय करने का निषेध नही है। यही बात पूजन के सम्बन्ध मे है, दूर से पूजन तो जिनेन्द्र देव की सब कर सकते है, चाण्डाल को रोक टोक नही है। फिर इसके लिये रोक टोक कैसे हो सकती है ? शास्त्र मे या उपदेश मे धर्म कार्यो में इसको रोक टोक नही है। शास्त्रानुकूल प्रायश्चित से ऐसे पापो की शुद्धि होती है।

– भोजन के पदार्थो की मर्यादा :–

जैन धर्म मे आचार शास्त्र के प्रकरण मे तीन ऋतुए मानी है। प्रत्येक ऋतु का प्रारम्भ अष्टाह्निका की पूर्णिमा से होता है। सो चार मास तक रहता है। ये ही पूर्वाचार्यो का सिद्धान्त है। १. **शीतल ऋतु** –अगहन (मार्गशीर्ष) बदी १ से फाल्गुण सुदी १५ पूर्णिमा तक होती है। २. **ग्रीष्म ऋतु** –चैत्र कृष्णा १ से आषाढ शुक्ला १५ तक रहती है। ३. **वर्षा ऋतु** –श्रावण बदी १ से कार्तिक शुक्ला १५ तक रहती है। इन ऋतुओ के अनुसार आटे वगैरह की भिन्न २ मर्यादा होती है। **– दूध की मर्यादा .–**

महिष्या पाक्षिक क्षीर, गौक्षीर च दशोदितम्। अष्टमे दिवसेऽजाया क्षीरं शुद्ध न चान्यथा॥

अर्थ—प्रसव के बाद भैस का दूध १५ दिन, गाय का १० दिन, बकरी का ८ दिन के बाद शुद्ध होता है। इसके पहले अशुद्ध होता है, इसके पहले अशुद्ध होने के कारण पीने के योग्य नही है, इसमे ऋतु के अनुसार मर्यादा की आवश्यकता नही है किन्तु गाय, भैस, और बकरी के थनो को प्रासुक जल से धोकर दूध दुहाना चाहिये; क्योकि गाय या बकरी अथवा भैस का बच्चा अपनी माता के थनो को चूंसता है तो उसके थन झूठे हो जाते है, इसलिये उनको प्रासुक जल से धोना आचार शास्त्र की आज्ञा है। दूध दुहने के बाद २ घडी ४८ मिनट के भीतर उसे छान कर गर्म कर लेना चाहिये, अन्यथा वह दूध अभक्ष्य हो जाता है; क्योकि दो घडी के बाद उसमे जिसका वह दूध है उसके आकार के सम्मूर्छन पचेन्द्रिय सैनी जीव पैदा हो जाते है, इस प्रकार दूध को खूब गरम करने पर यहा तक कि उसमे ऊपर थर (सडी-मलाई) आजावे; उस दूध की मर्यादा ८ प्रहर की है। तथा कम गरम किये हुए दूध की मर्यादा चार प्रहर की है। कभी २ आठ प्रहर की मर्यादा का दूध भी चार प्रहर मे बिगड़ जाता है। अत यत्न पूर्वक कार्य करना चाहिये। ऐसे अवसर पर चलित हो जाने के पूर्व उसे उपयोग मे ले लेना चाहिये। सब काम अपनी देख रेख मे करना चाहिये। कहा भी है—

गृहकार्याणि सर्वाणि, दृष्टिपूतानि कारयेत्। द्रवद्रव्याणि सर्वाणि, पटपूतानि योजयेत् ॥१॥

अर्थ—घर के काम, चक्की पीसना, झाड़ू लगाना, जल भरना, आदि देख भाल कर करने चाहिये। जल दूध और तेल आदि जितने भी द्रव पदार्थ है, उनको वस्त्र से छान कर काम मे लेना चाहिये। — **एक अन्तर्मुहूर्त (दो घड़ी) की मर्यादा :-**

—: नमक की मर्यादा :—

नमक कई प्रकार का होता है। जैसे साभरा नमक, सैंधा नमक आदि। साभर का नमक अभक्ष्य है; क्योंकि यह बिना छने जल का उपयोग कर जमाया जाता है। इस कारण इसमे त्रस राशि का कलेवर रहता है। इसके अतिरिक्त इसमे और भी अनेक दोष है। जो वस्तु जीव या अजीव, पवित्र या अपवित्र, हड्डी आदि इसमें गिर जाती है वह सब नमक रूप मे परिणत हो जाती है। दूसरे जब तालाब मे खाचि बनाते हैं तब उसमे हड्डी गाढते है। जिससे खारा पन अधिक होता है। कहां तक कहे यह साभर का बिना छने जल से बनाया गया नमक तो श्रावक के खाने योग्य नही-ही है। श्रावको के खाने योग्य नमक सैंधा लाहौरी है, क्योकि यह पत्थर की तरह पहाड़ से निकाला जाता है अर्थात् इसको खोद कर निकालते है; इसमे त्रस राशि का कलेवर मिश्रित नही है इसी कारण श्रावकों के खाने योग्य सैंधा नमक ही है। पीसने के बाद एक मुहूर्त ४८ मिनट तक नमक की मर्यादा है। इसके बाद अपने हाथ का पिसा हुआ भी अभक्ष्य है, क्योकि मर्यादा के बाद उस मे त्रस जीवो की उत्पत्ति हाना शुरू हो जाता है। यह भगवान् तीर्थङ्कर प्रभु ने अपने केवल ज्ञान चक्षु से स्पष्ट देखा है, जो ध्रुव सत्य है। इसमे सन्देह को जरा भी स्थान नही है। यदि नमक लाल मिर्च तथा काली मिर्च के साथ पीस लिया जावे तो उसकी मर्यादा ६ घन्टे की हो जाती हैं। इसमे आगे नही रख सकते, न मर्यादा उपरान्त खा सकते है जल के समान ही इस नमक की मर्यादा है किन्तु जल तो दो घडी के बाद अनछना हो जाता है तथापि उसे फिर छान कर पी सकते है; या काम मे ला सकते है। किन्तु नमक की मर्यादा बीत जाने पर उसके उपरान्त उसे पुन २ काम मे नही ला सकते। नमक छहो रसो मे शामिल है, तथापि इसको रात्रि मे खाने का निषेध किया है नमक अप्रासुक भी है। कहा भी है—

हरितांकुरबीजांबुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्। जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठ, सचित्तविरतः स्मृत ॥ ८ ॥

इसमे पं आशाधरजी ने नमक को अप्रासुक बतलाया है और पाचवी प्रतिमा धारी के लिए उसे त्याज्य बतलाया है। **नवनीत की अभक्ष्यता—**

दही को बिलो कर जो छाछ मे से घी निकाला जाता है वह जब तक अग्नि से तपाया नही जावे तब तक लूणिया कहलाता है। यह लूणिया उत्पत्ति मे अभक्ष्य नही हैं।

क्योंकि यदि अभक्ष्य ही होता तो आठ मूल गुणों में अन्य मद्यादि के एवं उदुम्बरादि के त्याग के साथ इसको भी शामिल किया जाता और अभक्ष्य लूणिया से निकाला हुआ घी भी अभक्ष्य समझा जाता । कहा भी है–

अन्तर्मूहूर्तात् परत', सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।

यत्र मूर्छन्ति नाद्य' तत्, नवनीतं विवेकिभिः ।। १३ ।। (टिप्पणी स. ध -अ २)

सागार धर्मामृत की टिप्पणी मे दिये हुए श्लोक से सिद्ध होता है कि अन्तर्मुहूर्त्त के पीछे अत्यन्त सूक्ष्म त्रस जीवो की उत्पति हो जाने से वह मर्यादा के बाहर का नवनीत ज्ञानी पुरुषो के खाने योग्य नही है । और भी कहा है– (उमास्वामि श्रावकाचार)

अन्तर्मुहूर्ततो यत्र, विचित्रा सत्वसन्तति । सम्पद्यते न तद्भक्ष्यं, नवनीतं विचक्षणै ।।

अर्थ—जिसमे अन्तर्मुहूर्त्त से परे नाना प्रकार के त्रस जीव पैदा हो जाते है वह नवनीत धर्मज्ञ पुरुषो को नही खाना चाहिए । जिस तरह छाछ, मठ्ठा या दही को बिलोकर उसमे से नवनीत निकाला जाता है, उसी प्रकार कही२ पर कच्चे दूध को बिलोकर उसमे से घी निकाला जाता है । परन्तु लोग इसको लूणिया न कहकर मक्खन या माखन कहते है । यह भी नवनीत के समान अभक्ष्य ही है । और भी कहा है—

"लूण्यो निकसै तत्काल अवटावे सोदरहाल" ।। ८१ ।। (किशनसिह क्रिलाकोष पृष्ठ ७०)

अर्थ—लूणिया को छाछ या दूध मे से निकालते ही अग्नि पर धर कर खूब गरम कर लेना (अर्थात् औटा लेना) चाहिए, और घी बना लेना चाहिए । और भी कहा है—

"काचौ माखन अति ही सदोष, भखिया करै सव्वै शुभ सोख ।। ४२२ ।।)प दोलत क्रि ६)

अर्थ—कच्चा लूणिया व मक्खन अत्यन्त अभक्ष्य है इसलिये खाने से पुण्य का नाश अर्थात् पाप बन्ध होता है । यहा पर यह प्रश्न होता है कि जब लूणिया मे अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् जीवोत्पत्ति होती है तो फिर मर्यादा के भीतर लूणिया या मक्खन को खाने का निषेध क्यो किया जाता है? इसका उत्तर–यद्यपि मर्यादा के भीतर नवनीत भक्षण मे असख्य त्रस जीवो के घात रूप द्रव्य हिसा तो बच जाती है परन्तु नवनीत के खाने से विषय सेवन की तीव्र इच्छा होती है; उससे यह भाव हिसा का प्रबल कारण माना गया है और मन मे काम विकारादि उत्पन्न करने के कारण ही इसको मद्यादि के समान चार महा विकृतियो मे शामिल किया गया है ।

चत्तारि महा विपडिय, होति णवणीदमज्जमंसमधू ।

कंखा पसंगदप्पा, संजमकारी ओ एरा ओ ।। १५५ ।। (मूलाचार वट्टकेर स्वामी)

अर्थ—लोनी घी, मदिरा, मास, और शहद ये चार महा विकृतियां है । ये काम, मद (अभिमान) और हिसा को उपार्जन कराती है । अत. यह श्रावक के त्यागने योग्य

ही है अत: इसको मर्यादा के भीतर ही तपा छान कर ताजे घी के रूप मे ही खाना योग्य है। कच्चा खाना शास्त्राज्ञा के विरुद्ध है, इसकी अन्तर्मुहूर्त्त की जो मर्यादा है वह घी वनाने के लिये हैं। खाने के लिये नही है। वहुत से लोग आठ २ दिन तक काचा लूणिया इकट्ठा करते रहते हैं और इकट्ठा तपा कर फिर उस घी को खाते है। बाजार मे जो घी विकने के लिये आता है वह तो प्राय ऐसा ही होता है। मर्यादा के बाहर के लूणिया को तपा कर जो घी निकाला जाता है, वह अभक्ष्य है, और त्यागी श्रावक के खाने योग्य नही है; क्योकि इसमे त्रस जीवो की उत्पत्ति व मरण होने से सदोष है, अत त्यागी धर्मात्माओ को ऐसा घी ही खाना चाहिये कि जो मर्यादा के भीतर तपाये हुए लूणिया का हो।

– शीत ऋतु में मर्यादा :–

आटा, वेसन, मसाला, तथा पिसी हुई चीजो की मर्यादा शीत ऋतु मे ७ दिन की है। वैसे ही आटा या वेसन मे घी तथा खाड डाल कर मगद वना लेने पर उसकी मर्यादा ७ दिन की ही है। वूरा की मर्यादा १ माह की है। इसके वाद वस्तु चलित रस हो जाती है।

–: ग्रीष्म ऋतु मे :–

आटा, वेसन, मसाला, तथा पिसी चीजो की मर्यादा ५ दिन, वूरे की १५ दिन, और मगद की ५ दिन की है।

– वर्षा ऋतु में :–

आटा, वेसन, मसाला, आदि पिसी चीजो की मर्यादा ३ दिन तथा वूरे की ७ दिन की है।

–: दही की मर्यादा :–

अत्यन्त गर्म किये हुए ८ प्रहर की मर्यादा वाले दूध मे, जव से जामन दिया गया है तभी से दही की ८ प्रहर की मर्यादा समझनी चाहिये। प्रासुक दूधमे ही गर्म चादी का रुपया, नीवू, अमचूर, इमली, छेवले का पत्ता, या दही की मगोडी का जामन देकर दही जमाना चाहिये। मगोडी मर्यादित दही की मुखा कर बनानी चाहिये। मगोडी मर्यादित दही की मुखा कर बनानी चाहिये। उसकी मर्यादा ऋतु के अनुसार ही है। दही की जो ८ प्रहर की मर्यादा बताई गई है उसी भीतर दही को बिलो कर घी निकाल लेना चाहिये या दही को उपयोग मे ले लेना चाहिये, अन्यथा अभक्ष्य हो जावेगा। उस लूनी मे १ मुहूर्त्त पहिले घी बना लेना चाहिये; इसे ही मर्यादा का घी कहते है।

–: छाछ की मर्यादा :–

दही की मर्यादा आठ प्रहर की है उस मर्यादा के भीतर ही छाछ बना लेनी चाहिये। क्योंकि मर्यादा उपरान्त दही जब अभक्ष्य है तो उसकी बनी हुई छाछ भी अभक्ष्य है। इसलिये मर्यादा वाले दही में भात उबालना जैसा अत्यन्त गर्म जल डाल कर छाछ बनानी चाहिये, फिर उसमें कच्चा जल या मक्खन यदि न मिलाया जावे, तो उस छाछ की

मर्यादा ८ प्रहर की है और थाडे गरम किये हुए जल से बनी हुई छाछ की मर्यादा चार पहर की है और यदि उसमें ऊपर से कच्चा जल मिल जावे तो उस छाछ की मर्यादा दो पहर की होती है और कच्चे छने हुए जल से बनी हुई छाछ की मर्यादा दो पहर की है इसके उपरान्त अभक्ष्य है।

– घी की मर्यादा –

मर्यादा वाले प्रासुक दूध मे मर्यादा का जामन डाल दही जमाया हो उसे मर्यादा के भीतर बिलो कर नैनू (लूनी) निकाल अन्तर्मुहूर्त्त मे तपा कर घी बना लिया जावे, तो वह घी भक्षरण योग्य है। ऐसा घी जब तक चलित रस न हो, तब तक कार्य मे लेना चाहिये, अर्थात् उक्त घी जब तक गन्ध न बदले, तब तक कार्य में लेना चाहिये, गन्ध बदलने पर या चलित रस हो जाने पर अभक्ष्य हो जाता है।

–: तेल की मर्यादा –

तिल्ली, रमेली, सरसो, खोपरा, मूगफली, इनको अच्छी तरह से देख भाल-शोध करके, हिन्दू तेली की घानी को प्रासुक जल से धोकर तेल पिलाना चाहिये; यह कार्य सब दिन मे होना चाहिये; ताकि जीवो की विराधना न हो। पेलने वाला मनुष्य विश्वस्त होना चाहिये। इस तेल की मर्यादा गन्ध बदलने तक की है। चलित रस या गन्ध बदल जाने पर अभक्ष्य है। होली पीछे तिल्लो नही पिलवानी चाहिये। होली पीछे तिल्ली मे असख्याते जीव पैदा हो जाते है। अत वर्जनीय है।

– सिघाड़े की मर्यादा –

गीले और सूखे दोनो प्रकार के सिघाड़ो की मर्यादा फाल्गुण सुदी १५ तक की है, बाद को अभक्ष्य है।

– साबू दाने की मर्यादा –

यह वृक्ष के रस को सुखा कर बनाया जाता है। पर यह ज्ञात नही कि यह किसी वृक्ष से कैसे बनाया जाता है; अतएव अभक्ष्य जान त्याग देना चाहिये। इस प्रकार गोद भी अभक्ष्य है।

– दही मे मेवा मिष्टान्न मिलाने की मर्यादा :–

दही मे गुड शक्कर मिला कर रखे तो उसकी मर्यादा एक मुहूर्त्त की है। इसके उपरान्त चलित रस हो जाता है और चलित रस होने पर भी भक्षरण करने से मदिरा (शराव) सेवन का दूषरण लगता है। विशेष रखने से इसमे सम्मूर्छन पचेन्द्रिय जीवो की उत्पत्ति हो जाती है; इसलिये मर्यादा के उपरान्त इसका भक्षरण करने से तीव्र हिसा का पाप लगता है। कहा भी है—

इक्खुद हिस जुत्त, भवयंती संमूच्छिमा जीवा, अंतर महुत्त मज्झे, तुम्हा भरणंति जिरणरणाहो।

इसका भाव ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है।

–: जल की मर्यादा एवं छानने की विधि :–

शास्त्रकारो ने कुआ, वावड़ी, तालाव, नदी आदि के जल को छान कर उपयोग मे

लाने के लिये २ घडी की मर्यादा बताई है। इसके बाद उसमे त्रसजीव अत्पन्न हो जाते है, इसलिये उसे फिर से छान कर उपयोग मे लाना चाहिए। छना हुआ जल अचित नही है। पाचवी प्रतिमा का धारी अचित्त बना कर ही उसका उपयोग कर सकता है। छने हुए जल को गरम न करे तो उसकी दो घडी तक की मर्यादा है। सामान्य गर्म जल की मर्यादा चार प्रहर अर्थात् १२ घन्टे की है। खूब गर्म भात उकाले जल की मर्यादा आठ प्रहर की है। जल दूसरे प्रकार से भी प्रासुक होता है। जल के अन्दर तीक्ष्ण द्रव्य हर्र, लौग, आवला, इमली, अमचूर आदि को डाल कर छने हुए जल को प्रासुक किया जाता है। परन्तु उक्त द्रव्यो का चूर्ण इतनी मात्रा में डालना चाहिए, ताकि जल का रुप, रस, गन्ध आदि बदल जावे। इस प्रकार के प्रासुक जल की मर्यादा ६ घन्टे की है। छने हुए जल को प्रासुक मान लेना उचित नही है। प्रासुक तो गर्म करने या तिक्त द्रव्यो के मिलाने से ही होता है। छने हुए जल को प्रासुक मानना बडी भारी गलती है। भगवती आराधना मे जल के चार भेद बतलाये है जैसे— १ **जल**-साधारण अर्थात् सामान्य जो आगे के तीनो भेदो का कारण है अर्थात् आगे के सभी भेदो मे पाया जाता हो और जो सूक्ष्म और बादर दोनो रूप हो। २ **जल जीव**-विग्रह गति मे जो अन्य गति से चयकर जल शरीर को धारण करने वाले हो, ठहरा हुआ हो। ३ **जल कायिक**-जो जल कायिक जीव सहित हो, जैसे कुए का जल,न दी का जल, बावडी का जल, तालाब का जल, वर्षा का जल, बर्फ का जल यह सब जल कायिक कहलाता है। ४ **जल काय**-जिसे जल कायिक जीव छोड चुका हो अर्थात् जल कायिक का शरीर। जैसे प्रासुक किया हुआ जल, गर्म किया हुआ जल, यन्त्र से पेला हुआ जल, यह सब जल काय है। इस प्रकार के जल के चार भेद माने गये है। जैसे सूखे हुए अनाज मे योनिभूतपना है। वैसे ही जल मे भी योनिभूतपना है; परन्तु जल योनि भूत और सचित्त दोनो प्रकार का है। अत एव जल छान लेने पर भी उसका योनिभूतपना और सचित्तपना नही मिटता। सिर्फ छान लेने पर वादर और त्रसजीव निकल जाते है। भगवतो आराधना की बडी टीका गाथा ४८७ पृष्ट ७०६ पर लिखा है कि जब तप योग मे वर्षा ऋतु मे साधु लोग वृक्ष मूल मे योग धारण करते है, तव वर्षा के जल कण (बिन्दु) साधुओ के शरीर पर पडते है, तव वे उन्हे पिच्छिका से पोछ नही सकते, क्योकि उनमे जीव है। कदाचित् पोछ लेवे तो उनके चारित्र मे अतिचार लगता है। अत जल को योनिभूत और सचित्त मानना शास्त्र विहित मार्ग है। फिर भी गृहस्थ सचित्त किये विना छने हुए जल का उपयोग कर सकता है और यह उसकी पद मर्यादा है। कहा भी है—

"जितनी उपशमत कषाया, उतना व्रत त्याग बताया"

-: छन्ना (नातना) का प्रमाण -

"षट् त्रिंशदगुलं वस्त्र, तावदेव च विस्तृत । निश्छिद्रं द्विगुणीकृत्य, तोयं तेन तु गालयेत् ।।

अर्थ—जल के छानने का छन्ना–नातना, ३६ अगुल लम्बा, और उतना ही चौडा हो, छिद्र रहित हो मोटा हो, जिसे दोहडा करने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब नजर न आवे, फटा न हो, पुराना न हो, रङ्गीन न हो, ऐसे वस्त्र को दो परता (दोहरा) करके यत्नाचार पूर्वक जल छानना चाहिए । पश्चात् जीवानी को कडी दार बाल्टी से जल के स्थान पर पहु चा देना चाहिए । ऐसे जल को छना हुआ जल कहते है । जीवानी को कुए के भीतर, ऊपर से नही डालना चाहिए, क्योकि ऊपर से डालने से जीव मर जाते है; जिससे हिसा का पाप लगता है; ऊपर से विल छानी डालने से हवा से उसके जीव मर जाते है दूसरे यह जल जब ऊपर से कुए मे गिरता है तब इसकी टक्कर से वहा के जल कायिक जीव भी नष्ट हो जाते है, अत जिवानी को जिस स्थान से जल आया होवे, वहा पर भिजा देना चाहिए ; यह जैनियो का प्रथम कर्त्तव्य है ।

"मुहूर्तं गालित तोयं, प्रासुक प्रहरद्वयम् । कोष्ण चतुष्कायमं च, विशेषोष्णं तथाऽष्टकम् ।।"

अर्थ–वस्त्र से छना हुवा जल, एक मुहूर्त्त मात्र, चतुर्थ प्रतिमाधारी पर्यन्त पीने योग्य है । अन्य के नही । अगर हरडो आदि के चूर्ण से जिसका रूप रस गन्ध बदल गया हो तो वह जल दो प्रहर तक प्रासुक रहता है; कुछ गरम किया हुआ जल चार प्रहर, और खूब गरम किया हुआ जल आठ प्रहर तक प्रासुक रहता है; इनमे छने हुए जल को छोड कर बाकी तीनो प्रकार के प्रासुक जल को मर्यादा के अन्दर ही समाप्त कर लेना चाहिये, क्योकि मर्यादा के बाद उसमे अनन्त सम्मूर्छन निगोदिया जीव पैदा हो जाते है , इससे वह जल जमीन पर भी ढोलने योग्य नही है और रखने योग्य भी नही है क्योकि ढोलने से अनन्त जीवो की हिसा और रखने से अनन्त जीवो की उत्पत्ति होती है, अतएव उसे मर्यादा से पहले ही खर्च कर लेना चाहिए । यह तीन प्रकार का जल गृहस्थो एव मुनियो के ग्रहण करने योग्य होता है यहा पर इतना और जानना आवश्यक है कि वस्त्र से छना हुआ जल, सचित्त त्यागी श्रावको एव महाव्रती मुनियो के उपयोग लायक नही है, इसे दो घडी प्रथम ही तीक्ष्ण द्रव्यो के चूर्ण मिला कर, या गर्म किया जाने पर ५मी प्रतिमाधारी श्रावक या मुनिराज के लेने योग्य हो सकता है । छना हुआ जल सचित्त है न कि प्रासुक जो लोग"मुहूर्तात् गालित तोयम् प्रासुकम्" इसके आधार से प्रासुक बताते है वे गलती पर है—आगम मे यह श्लोक निम्न प्रकार से है—

मुहूर्ताल् गालितं तोय, प्रासुकं प्रहरद्वयम् । उष्णोदकमहोरात्रं, ततः संमूर्छितं भवेत् ।। १ ।।

अर्थ—इसका अर्थ यह है कि छने हुए जल की मर्यादा एक मुहूर्त्त तक की है और

प्रासुक जल लवङ्गादिक से जलकायिक एकेन्द्रिय जीव रहित हो चुका है वह दो प्रहर तक त्रस जीव से रहित है। तथा गरम जल रात दिन अर्थात् ८ पहर तक त्रस तथा स्थावर जीवों से रहित है। इसके बाद उसमे त्रस जीव हो जावेगे। आगे छने हुए जल को निम्न लिखित प्रमाणो से सचित्त सिद्ध करते है—

अनग्निपक्वमन्यद्वा, चेतनादि गुणान्वितं। सचित्तविरतैर्धीरैं, नदियं प्रतिमाप्तये ॥ १ ॥
अत्यक्तात्मीयसद्वर्ण, संस्पर्शादिकमञ्जसा। अप्रासुकमथातप्त, नीरं त्याज्यंव्रतान्वितै ॥२॥

अर्थ—जो छना हुआ जल चेतनादि गुणो से युक्त है तथा जो अपने रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श को नही छोडने से एवं नही तपाया जाने से, अप्रासुक है, एकेन्द्रिय जीव युक्त है उसे व्रती पुरुषो को नही पीना चाहिए। आगे कैसा जल व्रती श्रावक के पीने योग्य है इस बात को निम्न प्रमाण द्वारा बतलाते है—

नीरमात्मीयवर्णादि, त्यक्तं द्रव्यादियोगतः। तप्त वाग्निनाऽदेयं, नयनाभ्यां परीक्ष्य भो ॥१॥

अर्थ—जिस जल का लवंगादि द्रव्य के योग से अथवा अग्नि द्वारा कर्म करने से रूप, रस, वर्ण स्पर्शादि बदल गया हो, उस जल को आँखो से भली भाति देख कर पीना चाहिये तभी जीव दया पलेगी। शास्त्रकारो ने कहा भी है—

सचित्तं नात्ति यो धीमान्, सर्वप्राणिसमायुतं। दयामूर्तेर्भवेत्तस्य, सफलं जीवितं भुवि ॥१॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवो से युक्त सचित्त को जो बुद्धिमान् नही खाता है उस दया मूर्त्ति का जीवन ससार मे सफल है, और भी कहा है—

"छाण्यो काचो नीर एकेन्द्रिय जानिये" (दौलतरामजी क्रियाकोष)

इससे सिद्ध है, कि कच्चा छना हुआ जल एकेन्द्रिय जीव युक्त हैं राजवार्तिककार अकलङ्क स्वामी ने भी जो जल के चार भेद निम्न लिखित निर्दिष्ट किये हैं (१) जल (२) जल काय (३) जल कायिक और (४) जल जीव, उनमे पुद्गल परमाणुओ के स्वाभाविक परिणमन से उत्पन्न हुआ जल रूप प्रथम भेद अचेतन बतलाया है, फिर अथवा शब्द से भी सूचित किया है, कि जल काय, जल कायिक और जल जीव इन तीनो विशेषणो मे रहने के कारण यहा जल रूप प्रथम भेद सामान्य है। कहा भी है—

पुढवी आऊ तेऊ, वाऊ कम्मोदयेण तत्थेय, णियवण्ण च उक्कस्स, जुदाताणं देहो हवे णियमा।

उक्त गाथा की सस्कृत टीका मे कहा गया है कि जल कायिक रूप पर्याय धारण करने के लिये विग्रह गति मे आता हुआ जीव तो जल जीव है और जो जल रूप शरीर को जल कायिक जोव छोड चुका है। वह जल काय है इस प्रकार जल के तीन भेद ही किये है। राजवार्तिक मे कहा हुआ जल रूप प्रथम भेद गोमटसार मे छोड दिया गया है, परन्तु इस गाथा की भाषा वचनिका मे श्री टोडरमलजी ने बहुरि अन्य ग्रन्थनि मे चार भेदकहे

है, तहां ये तीनो भेद जिस विषै गर्भित होय सो सामान्य जल ऐसा एक भेद जानना जाते पूर्वोक्त तीन भेद जल के ही है ऐसा लिख कर राजवार्तिक मे अथवा शब्द से जो कुछ कहा गया है; उसे भी स्पष्ट किया है । श्री मूलाचार में जल के जल, जल काय, जल कायिक, और जल जीव ये ४ भेद बतला कर, जल और जल काय को अचेतन माना है । श्री सर्वार्थसिद्धि वा श्लोकवार्त्तिक में भी राजवार्त्तिक के अनुसार चार भेद माने है । कहा भी है–

ओसाय हिमगमहिमाहरदणु सुद्धोदगे धणुदगे य ।
तेजाण आउ जीवा, जाणित्ता परिहरे दव्वा ।। १ ।।
इंगाल जाल अच्छी, मुम्मुरसुद भागणीय अगणीय ।
तेजाण तेउ जीवा, जाणित्ता परिहरे दव्वा ।।२।। (मु० प०)

इन गाथाओ की श्री वसुनन्दी सिद्धान्ती विरचित सस्कृत टीका में ओस, पाला,वा बरफ कुहरे का धूमाकार, जल मोटी वा सूक्ष्म बिन्दु का जल, चन्द्रकान्त मणि से उपत्न्न शुद्ध जल, निर्भरणे आदि से उत्पन्न सामान्य जल, समुद्र, ह्रद, घनवात आदि से उत्पन्न घन कार शुद्ध जल इत्यादि सब प्रकार के जल,–जल कायिक, और अगार (जलता हुआ निर्धूम कोयला) आदिक, अग्नि की ज्वाला, अर्चि (दीपक आदि की लो), मुर्मुर (छाणे की आग) बिजली, सूर्यकान्त मणि आदि से उत्पन्न शुद्धाग्नि तथा धूम सहित, सामान्य आग, इत्यादि सब अग्निया अग्नि–कायिक है, ऐसा बतलाया गया है अत· यह निश्चित होता है कि जैसे दियासलाई से दीपक जलते ही उसकी लो अग्नि काय के धारक जीवो से सहित बनकर सचित्त ही व्यवहार मे आती है, वैसे ही पुद्गल परमाणुओ से निष्पन्न जल भी अपनी उत्पत्ति के साथ ही जल काय के जीवो का आधार बनकर जल कायिक रूप से सचित्त होकर ही व्यवहार मे आता है । कहा भी है–

मार्गोपमर्दिता धूलि , पृथ्वी प्रोच्यते बुधै । निर्जीवइष्टकादिश्च, पृथ्वीकायो मत श्रुते ।।१।
जलमान्दोलितं लोके, सकर्दमं तथा भवेत् । उष्णोदकञ्च निर्जीव, मन्यद्वाप्काय उच्यते ।।२।
भस्मनाऽऽच्छादितं तेजो, मात्र तेज प्ररूप्यते । जीवोज्झित च भस्मादि, तेजकाय इहोच्यते ।।
रज पुञ्जमयो वायु, भ्रमन् वायु जिनै स्मृत । जीवातीतो मरुत्पुद्गलो,वायुकाय इतीरितः।।
छिन्नं भिन्न तृणादिश्च, वनस्पतिरिहोच्यते । जीवभुक्ततृणादिश्च, वनस्पतिवपु स्मृत ।५।

अर्थ—मनुष्यादि से खूदी हुई धूलि, पृथ्वी, और जीव रहित एव अग्नि मे पकी हुई ईंटे आदि पृथ्वीकाय है । मनुष्यादिक से इधर उधर हिलाया हुआ कर्दम सहित जल आप (जल) और गर्म किया हुआ व प्रासुक करने योग्य द्रव्यो के सयोग से निर्जीव किया हुआ जल अपकाय है । भस्म से ढकी हुई आग तेज (अग्नि), और जीव रहित भस्म आदि अग्निकाय है । धूलि पुञ्ज सहित भ्रमण करता हुआ पवन वायु है और जीव रहित वायु

पुद्गल स्वरूप वायुकाय है। छेदे हुए या काटे हुए घासादि वनस्पति और जीव रहित तृणादि वनस्पतिकाय है। इस प्रकार प्रथम वा द्वितीय भेद के उदाहरण दिये गये है।

एतेषां प्राक्तनो भेद , किंचित्प्राणाश्रितो मत । पृथव्यादीनां द्वितीयस्तु, केवल जीव दूरग ॥

अर्थ—इन पृथ्वी आदि प्रथम पृथ्वी आदि रूप भेद कुछ जीव सहित है और दूसरा भेद सर्वथा जीव रहित है। इस श्लोक से प्रथम भेद को सचित्ताचित्त मिश्र, और द्वितीय भेद को अचित्त बतलाया है। (सर्वार्थसिद्धि पूज्यपादस्वामी)

पुढवी पुढवीकायो, पुढवी काओ य पुढवीजीवोय, साहारणोय मुक्को,सरीरगहिदो भवंतरिदो।

अर्थ—साधारण पृथिवी पृथ्वी, जीव रहित पृथ्वी पृथ्वी काय; जीव सहित पृथ्वी-पृथ्वी कायिक, और पृथ्वी रूप शरीर धारण करने के लिये विग्रह गति से आता हुआ जीव पृथ्वी जीव है। इस गाथा मे प्रथम भेद को साधारण बतलाया है। साधारण उसे कहते है जो भिन्न भिन्न दो पदार्थो में समान रूप से है। अत यही सिद्ध होता है जल के छानने से मोटे त्रस जीवो की रक्षा होती है, न कि जल कायिको की और उनकी रक्षा के लिये ही मुनि प्रासुक जल पान करते है। **'मुहूर्त्त गालित तोय'** इत्यादि श्लोक मे छने हुए जल **में एक मुहूर्त्त तक,** प्रासुक मे दोपहर तक, और उष्ण जल मे आठ पहर तक जीव नही होते, ऐसा विधान है, सो भी त्रस जीवो की अपेक्षा से है। हरीतक्यादि योग से प्रासुक वा उष्ण जल मे तो वर्ण रसादि द्वारा जल स्वभाव मे परिवर्तन होने के कारण से जल कायिक जीव नही पडते, गालित जल मे तो होते भी रहते है। मुनिराज वर्षा के पानी वा उस पानी से गीली जमीन में गमन नही करते है; क्योकि वह पृथ्वी जल के कारण सचित्त है। कहा भी है— (आचारसार पचमाध्याय)

"सार्द्रा कर्दमशैवालजलपुष्पफलाविलाम्। इलां त्यक्त्वा कुरानीकप्राणीबीजव्रजाकुलाम् ७३।

अर्थ—मुनिराज गीली भूमि, कर्दम, शैवाल, जलपुष्प और फलों से तथा अकुरो के समूह त्रस जीव तथा बीजो के समूह से व्याप्त हुई पृथ्वी को छोडकर गमन करे भगवती आराधना के ईर्यासमिति के प्रकरण मे ११९१ की टीका मे निम्न लिखित पक्ति है— "परिहृतवुसतुपमसीभस्मार्द्र गोमयतृणानिचयजालोपलफलक बीजांकुरतृणरहितपत्रजलकर्दमादिरहितत्वम्" तथा एषणा समिति के प्रकरण मे १२०६ की गाथा की टीका मे निम्न पक्ति है। "अकर्दमेन अनुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना" जो वाक्यदिये है उनसे भी कर्दम वा जल सहित भूमि मे गमन का निषेध किया गया है। यहा पर शास्त्राधार से यही निश्चय होता है कि इस योनिभूत दोष का सम्बन्ध, वनस्पति के और उसमें भी केवल उगने की शक्ति के धारक बीज से ही है न कि जल से। मूलाचार पंचाचाराधिकार गाथा १३ की टीका मे यह स्पष्ट किया है, कि "सरित्सागरहृदकूपनिर्भरघनोद्भवाकाशजहिमरूपधूमरूप-

भूम्युद्भवचन्द्रकान्तजघनवाताद्यपकायिका अत्रैवान्तर्भवंतीति" अर्थात् इन वाक्यों से नदी समुद्र, तालाब, कुआ, निर्झरना, आदि के सब जलों को जल जीव बतला कर उनकी रक्षा का उपदेश दिया गया है। इन सब प्रमाणो से यह भली भाति सिद्ध है कि जल को छानने से भी वह सचित्त ही रहता है। गृहस्थ अपने पद के अनुसार उसको उपयोग मे लाते है, किन्तु यह उक्त शास्त्रीय प्रमाणो से निश्चित है कि छना हुआ पानी कदापि अचित्त नही है, किन्तु सचित्त ही है। उसमे योनिभूतपना भी नही है, क्योकि योनिभूतपना का सम्बन्ध वनस्पति के तथा उसमे भी केवल उगने की शक्ति के धारक बीज से ही है, जल से नही। कहा भी है— (गोम्मटसार जीवकाड)

"बीजे जोणीभूदे,जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा,जे विय मूलादीया,ते पत्तेया पढमपाए"१८६

अर्थ—जिस योनिभूत बीज मे वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो, वह और मूलादिक प्रथम अवस्था मे अप्रतिष्ठित प्रत्येक होते है। **भावार्थ**—वे बीज जिनकी कि अकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट नही हुई है और जिनमे या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो, जो पहिले उसमे था, या कोई दूसरा जीव कही अन्यत्र से मर कर आकर उत्पन्न हो और इसी प्रकार मूलकन्द आदि जिनको कि पहिले सप्रतिष्ठित कहा है वे भी अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो रहते हैं। उक्त कथन से स्पष्ट है कि योनिभूतपने का सम्बन्ध वनस्पति से है न कि जल से। अतएव छना हुआ जल भी सचित्त ही है। **वनस्पतिकाय का वर्णन** —जिस जीव के वनस्पति नामक कर्म का उदय होता है वही जीव वनस्पति शरीर मे जाकर जन्म लेता है। इसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। सस्थान नाम कर्म के उदय से सस्थान होता है; परन्तु इसके सहनन नाम कर्म का उदय नही होने के कारण सहनन नही होता। शङ्का–वनस्पति कायिक जीव के सहनन क्यो नही होता ? उत्तर–जिस जीव के स्थावर नाम कर्म के भेद वनस्पति नाम कर्म का उदय रहता है उसके संहनन नाम कर्म का उदय नही रहता। क्योंकि स्थावर नाम कर्म और संहनन नाम कर्म के परस्पर शीतोष्ण की तरह विरोध है। सहनन नाम कर्म के उदय से हड्डी, खून, कफ, मज्जा, मास आदि हुआ करते है। अतएव सहनन नाम कर्म का उदय त्रस जीवो के होता है न कि स्थावर जीवो के। त्रस जाति के जीवो के शरीर भक्षण करने योग्य इसलिये नही हैं कि उनके शरीर मे मास होता है; इसका विशेष कथन गोम्मटसार से जानना चाहिये। स्थावर जीवो का शरीर जब प्रासुक हो जाता है तब भक्षण करने योग्य है ; क्योकि उसकी मास सज्ञा नही होती , फिर भी जो श्रावक कुल मे उत्पन्न हुए है एव जिन्हे धर्म मे रुचि है जो परलोक के दुःखो से भय–भीत है वे वनस्पति कायिक जीवो की रक्षा का विचार जरूर करते है और जिस वन–

स्पति काय मे जीवो की हिसा कम हो उसी को काम में लाते है। वे विशेष हिसा वाली नित्य साधारण प्रतिष्ठित वनस्पति को त्याग देते है। इसका त्याग क्यो किया जाता है यह कथन श्री आदिपुराण के पर्व ३८ मे निम्न श्लोको द्वारा स्पष्ट किया है —

प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणं। न कल्पतेऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहां ।।१७।।
सन्त्येवानन्तशो जीवा ,हरितेष्वंकुरादिषु, निगोता इति सार्वज्ञं,देवास्माभि श्रुतं वच ।।१८।।
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमद्यत्वेत्वद् गृहाङ्गणं, कृतोपहारमार्द्रार्द्रैं ,फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ।१६।।
इतितद्वचनात् सर्वान्,सोऽभिनन्द्य दृढ़व्रतान्, पूजयामास लक्ष्मीवान्,दानमानादिसत्कृतै ।।२०।।

अर्थ—आज पर्व के दिन नये कोपल पत्ते तथा पुष्पादिको का घात हम लोग नही कर सकते और अपना कुछ बिगाड न करने वाले ऐसे उन पत्तो तथा फूलो मे उत्पन्न हुए जीवो का घात भी नही कर सकते ।।१७।। हे देव! अंकुरे आदि हरित काय मे निगोद राशि के अनन्त जीव रहते है। इस प्रकार भगवान् सर्वज्ञ देव के वचन हमने सुने हैं ।१८। इसलिये अत्यन्त गीले ऐसे फल पुष्प और अ कुरे आदि से सुशोभित ऐसा आपके घर का आंगन, आज हम लोगो ने नही खू दा अर्थात् उसके हम ऊपर होकर नही आये, कारण कि आज पर्व का दिन था ।।१६।। इस प्रकार उनके वचन सुनकर ऐश्वर्यशाली राजा भरत ने जो चक्रवर्ती थे व्रतो मे दृढ रहने वाले उनकी प्रशंसा की और दान मान आदि सत्कार करके उन्हे सम्मानित किया ।।२०।। और भी कहा है— (कल्याणालोचना)

"फल फुल्लछल्लिवल्लि, अणगलण्हाण च धोवणादीहिं"
जे जे विराहिया खलु, मिच्छा मे दुक्कडं हुज्ज ।। १८ ।।
कंदफलमूलवीया,सचित्तरयणीय भोयणाहार,अण्णाणे जेविकिया मिच्छा मे दुक्कड हुज्ज।२०

अर्थ—फल, पुष्प, छाल, लता आदि को काम मे लाने मे लाने मे विराधना हुई हो तथा बिना छाने जल से स्नान करने मे विराधना हुई हो और बिना छाने पानी से वस्त्रादि धोने मे जो जीवो की विराधना हुई हो उन सबसे होने वाले मेरे सब पाप मिथ्या हो ।१८। यदि मैने अपने अज्ञान से कन्द, मूल और बीज खाये हो, या अन्य उचित पदार्थो का भक्षण किया हो, या रात्रि मे भोजन किया हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या होवे इस प्रकार आचार्यो ने वर्णन किया है। मूलाचार प्रदीप मे कहा है— (अ० ८)

तृणपत्रधवादीनां,हरिताऽङ्कुरजन्मिनां। कन्दबीजफलादिनां, वनस्पत्यखिलाङ्गिनाम् ।।५१।।
पादाद्यैर्मर्दन नून, खेदनं वातिपीडनम्। स्पर्शनं वा न कुर्वन्ति, कारयन्ति न संयता ।।५२।।

अर्थ—सयमी चरित्रवान् मुनिराज, तृण, घास, पत्ते, पेड़, तथा हरे अङ्कुरो को उत्पन्न करने वाले, कन्द बीज, और फलादि सब प्रकार के वनस्पति कायिक जीवो को पैरो से नही कुचलते और न छेदन करते हैं एवं यन्त्र वगैरह मे नही पेलते, यहा तक कि वे उसे

स्पर्श तक नही करते, और न ऊपर लिखे कार्य किसी दूसरे से कराते हैं। वनस्पति में जीव है यह बिना जीव के नही होती इस बात का शास्त्रों के प्रमाण द्वारा समर्थन करते है—

"वियफलकदमूला, छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति" (मूलाचार पिण्ड ४८४)

अर्थ—अकुर होने योग्य गेहूँ वगैरह बीज, आम्र आदि फल और कन्द मूल ये सचित्त है। जो कि १४ मल दोषो में आये है। (वीरनन्दिकृत आचारसार अध्याय ८)

सचित्तपद्मपत्रादौ, क्षिप्त निक्षिप्तसज्ञितं, सचित्तेनाब्जपत्रादि, नाऽवृत्तं पिहिताशन ॥४७॥

अर्थ—तोडा हुआ कमल का पत्र सचित्त है, इस पर भोजन रखना या ढकना यह सचित्त निक्षेप नामक अतिथिसविभाग व्रत का अतिचार है, अत सिद्ध है कि फल पुष्प और पत्रादि सचित्त है। कहा भी है—

"हरितांकुरबीजाम्बुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन्" (सागार धर्मामृत ७ अध्याय)

अर्थ—पचम प्रतिमाधारी दयालु श्रावक अग्नि में पके हुए हरे अकुर जो बोने से पैदा हो सके ऐसे हरे बीज गेहू आदि, पानी और नमक आदि शब्द से कन्द, मूल, फल, पत्र करीर आदि पदार्थो का त्याग करता है अर्थात् अप्रासुक हरे पदार्थो को नही खाता वही सचित्त व्रत श्रावक कहलाता है। कहा भी है— (भावसग्रह)

फलमूलाम्बुपत्राद्यं, नाश्नात्यप्राशुकं सदा। सचित्तविरतो गेही, दयामूर्त्तिर्भवत्यसौ ॥५३७॥

अर्थ—जो श्रावक सचित्त, फल, मूल, जल, पत्र, शाक आदि नही खाता वही सचित्त विरत पाचवी प्रतिमा वाला समझना चाहिये। और भी कहा है— (मूलाचार]

फलवन्दमूलबीयं,अणग्गिपक्कं तु आमकं किंचि णच्चा अणेसणीय,णविय पड़िच्छति ते धीरा

अर्थ—अग्नि से नही पके, ऐसे कन्द, मूल, बीज, फल तथा अन्य भी जो कच्चे पदार्थ है उन्हे अभक्ष्य जान कर धीर वीर मुनिराज खाने की इच्छा नही करते। और भी कहा है— लाटी सहिता द्वि० अधि०

मूलाबीजा यथा प्रोक्ता, फलकाद्यार्द्रकादय।
न भक्ष्याः दैवयोगाद्वा, रोगिणामप्यौषधिच्छलात् ॥ ८० ॥

तद्भक्षणे महापाप, प्राणिसन्दोहपीड़नात्। सर्वज्ञाज्ञाबलादेतद्, दर्शनीयं दृगङ्गिभि ॥८१॥

अर्थ—मूल, बीज, फल, और अदरख आदि वस्तु सचित्त कच्चे नही खाने चाहिये। जो कदाचित् दैव योग से बीमार हो जावे और वैद्य औषधि मे बतावे तब भी नही भक्षण करे क्योंकि उसके खाने से महान् पाप बन्ध होता है, जीवो के समूह की हिंसा होती है। सर्वज्ञ भगवान् की आज्ञा का भग होता है; कारण कि भगवान् ने कहा है कि कच्चे फलों तथा बीजो मे अनेक निगोदियो की राशि रहती है; अत. एव उनके खाने से सर्वज्ञ की आज्ञा भग करने का भी महान् पाप बन्ध होता है और भी कहा है—प्र. श्रा अ. २०

आम्रनारंगखर्जूर, कदल्यादि भवं फलं । सर्वक्षीरादिजं पुष्पं, निम्बादिप्रभवं तथा ।।६४।।
गोधूमतिलसच्छालि,मुग्दसच्चणकादिकम् । एलाजीरादिजंबीजं,पृथक् जीवसमन्वितम् ।।६५।।
शृङ्गवेरादिजं कन्द, मूल वृक्षादिसंभवम् । आर्द्रांतरुत्वक् शाखां, कोपलादिकमेव च ।।६६।
नागवल्यादिजं पत्रं, सर्वजीवसमाकुलं । सचित्तं वर्जयेद्धीमान्, सचित्तविरतो गृही ।।६७।।
अग्ननिपक्वमन्यद्वा चेतनादिगुणान्वितं । सचित्तविरतैर्धीरै, र्नादेय प्रतिमाप्तये ।।६८।।
अत्यक्तात्मीयसद्वर्ण, स्पर्शातिकमंजसा । अप्रासुकमथातप्त, नीरत्याज्य व्रतान्वितैः ।।६९।।
वारिआत्मायवर्णादि,त्यक्तं द्रव्यादियोगत ।तप्तवाचाग्निनाऽदेय,नयनाभ्यां परीक्ष्य भो ।।७०।।
अपक्वमर्द्ध पक्ववा, कन्दबीजफलादिक । सचित्तंनास्ति यस्तस्य, पचमीप्रतिमाभवेत् ।।७१।।
सचित्त नास्ति योधीमान्, सर्वप्राणिसमायुत । दयामूर्तेर्भवेत्तस्य, सफल जीवित भुवि ।।७२।।
सचित्तंजीवसयुक्त ,ज्ञात्वा योऽश्नाति दुष्टधीः।स्वजिह्वालंपटात् कि स. स्व वेत्ति मरणच्युत७३
अश्नात्येवसचित्त , यस्तस्य स्यान्निर्दयं मन । मनोनिर्दयत पाप, जायते स्वभ्रसाधकम्।।७४।।

तात्पर्य यह है कि वनस्पति मे जीव है । अप्रासुक वनस्पति को खाना महा पाप बन्ध का कारण है और उसके भक्षण का त्यागी सचित्त त्याग प्रतिमावाला कहलाता है। "सचितव्रतो दयामूर्तिर्मूलफलशाखाकरीरकन्दपुष्पबीजादीनि न भक्षयत्यस्योपभोगपरिभोग-परिमाणशीलव्रतातिचारो व्रत भवतीति" (चारित्रसार चामुण्डराय कृत)

तातर्य—फल फूल जीव सहित होता है ; और भी कहा है—

दयार्द्रचित्तो जिनवाक्यवेदी, न वल्भते किंचन य. सचित्तम् ।
अनन्यसाधारणधर्मपोषी, सचित्तमोची सकषायमोची ।।७१।। (अ० श्रा० ७ वां प रि०)

अर्थ—दया कर भीगा है चित्त जाका, जिनेन्द्र के वचननि का जानने वाला, ऐसा पुरुष कछु भी सचित्त को न खाय है । (स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

सचित्त पत्रफल छल्ली, मूलं च किसलयबीज ।
जो ण य भक्खदि णाणी, सचित्तविरओ हवे सोऽवि ।। ३७९ ।।

अर्थ—जीवकर सहित होय ताको सचित्त कहिये । सो पत्र, फल, छाली, मूल, बीज, कोपल इत्यादि हरित वनस्पति सचित्त कूं न खाय सो सचित्त विरत प्रतिमा का धारक श्रावक होय है। (सुभाषितरत्नसंदोह)

न भक्षयति योऽपक्व, कन्दमूलफलादिक । सयमासक्तचेतस्क', सचित्तात् स परांमुख. ।८३७।

उक्त ग्रन्थ मे भी कच्चे फलो को जीव सहित माना गया है ।

शाकबीजफलाम्बूनि,लवणाद्यप्रासुक त्यजेत्, जाग्रद्दयोऽङ्गिपञ्चत्व,भीत:सयमवान् भवेत्।१५।
हरितेष्वकुराद्येषु.सन्त्येवानन्तशोऽङ्गिन । निगोता इति सार्वज्ञं, वच. प्रमाणयन् सुधी ।१७।
पदाऽपि संस्पृशंस्तानि,कदाचित् गाढतोऽर्थत ।योऽस्ति सक्लिश्यते प्राण,नाशेऽप्येष किमत्स्यति।

अर्थ—जिसके हृदय मे दया है, जो जीवो की हिमा से भयभीत है उसे शाक, बीज, फल, जल, लवण आदि अप्रासुक वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिये । १५ । जो भव्यात्मा हरित अकुरादिक मे निगोदिया अनन्ते जीव है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान् के वचनो को प्रमाण करता हुआ अपने चरण मात्र से भी अ कुरो का स्पर्श करता हुआ अत्यन्त दुखी रहता है वह पुण्यशाली पुरुष उन्हे किस प्रकार भक्षण करेगा ? कदापि नही ।

"फलपलासपल्लवकुसुमादिकायं स्वीकृत्य त्रोटनभक्षणमर्दनपेषणदहनादिभिस्तथा गुल्मलता–पादपादिकं तनूकृत्य छेदनेन भेदनेनोत्पाटनेन, रोहणेन, दहनेनच, क्लेशभाजनतामुपयातौ–ऽस्मि" (भगवती आराधना गाथा १९८ विजयोदयटीका पेज ४१४)

अर्थ—जब मैंने अग्नि शरीर को छोड कर फल, पुष्प, पत्र, कोपल आदि को शरीर रूप से धारण किया । तब तोडना, खाना, मर्दन करना, दांतो से चबाना, अग्नि पर भू जना, इत्यादि प्रकारों से मुझे, जनता ने दु ख दिया । जब मैं झाड, लता, छोटे पेड इत्यादि रूप से जन्मा तब छेदन करना, भेदन करना, उखाडना, एक जगह से उठा कर दूसरे स्थान में रोपना, जलाना, इत्यदि के जो दु ख भोगने पडे उन का वर्णन करना मेरी शक्ति के बाहर है । इस प्रकार से टूटे हुए पत्र, फल, पुष्पो, बेल, लता, वगैरह तथा अकुरो मे जीव होते है । यह बात जैनाचार्यो ने अनेक ग्रथो मे स्वीकार की है । (आदिपुराण अ० ३८)

हरितैरङ्कुरै. पुष्पै , फलैश्चाकीर्णमंगणं । सम्राऽचीकरत्तेषां, परीक्षायै स्ववेश्मनि ।।११।।
तेष्वव्रता विनासंगात्, प्राविक्षन् नृपमन्दिरं । तानेकत समुत्सार्य, शेषानाह्वाययत् प्रभु ।।१२।।
ते तु स्वव्रतसिद्धयर्थ, मीहमानाः महान्वयाः । नैषुः प्रवेशनं तावद्या, वदार्द्राकुंरा पथि ।।१३।।

अर्थ—इधर राजा भरत ने उन सब की परीक्षा करने के लिये अपने घर मे आगन को हरे अ कुरे, पुष्प और फलो से खूब भर दिया जो लोग अव्रती थे, वे विना कुछ सोच विचार किये उन्ही हरे अंकुरो पर होकर राजा के महल मे घुस गये । परन्तु भरत ने उन सबको एक ओर निकाल कर जो लोग नही आये थे, बाहर खडे थे उन्हे बुलाया ।१२। परन्तु बडे २ कुलो मे उत्पन्न हुवे और अपनी व्रतों की सिद्धि की पूर्ण रूप से चेष्टा करते हुए उन लोगो ने जब तक मार्ग मे हरे अंकुरे रहे तब तक प्रवेश करने की इच्छा नही की । यह कथन आदि पुराण के ३८ वे पर्व का है कि भरत चक्रवर्त्ती ने आगन मे हरित काय फैलादी । उस समय दयावान् पुरुष नही आये थे । इसे ही स्पष्ट किया गया है । जैसा कि पहले कहा गया है कि राजवार्तिककार अकलकस्वामी ने बतलाया है कि (१) वनस्पति (२) वनस्पति काय (३) वनस्पति कायिक और (४) वनस्पति जीव ये ४ भेद किये हैं ।

"काय शरीर वनस्पतिकायिकजीवपरित्यक्तः वनस्पतिकाय. मृतमनुष्यादिकायवत्"

अर्थ—मनुष्य को कायवत् माना है, अर्थात् मनुष्य की काय मे जब पञ्चेन्द्रिय

मनुष्य का जीव रहता है। तत्पश्चात् आयु क्षय होने पर मृतक मनुष्य के शरीर में अनन्त सैनी पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते है और होते रहते हैं; अत. टूटी हुई वनस्पति चाहे साधारण हो या अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो या सप्रतिष्ठित प्रत्येक हो उसमे जीव है अर्थात् जब तक वह हरी है, तब तक उसमें जीव है। सूखे बिना, या पकाये बिना, उसमे से जीव नही जाते। आगे वनस्पति का स्पष्ट विवेचन किया जाता है अर्थात् उसके भेद प्रभेदो की व्याख्या करते हैं।

वनस्पति के भेद—

वनस्पति नामा नाम कर्म के उदय से जो जीव ससार मे वनस्पति शरीर को धारण करता है उसे वनस्पति कायिक कहा गया है। वनस्पति के दो भेद हैं— १. साधारण २ प्रत्येक। **१-साधारण वनस्पति**—इसके दो भेद है १. बादर २ सूक्ष्म। इन दोनो भेदो मे निगोदिया जीव हुआ करते हैं। सूक्ष्म साधारण निगोदिया जीव तो घी के घडे के समान समस्त ससार में ठसाठस भरे हुए है। कही भी जगह खाली नही है। बादर साधारण वनस्पति काय चित्रा पृथ्वी से सुमेरु पृथ्वी के नीचे ७ राजू आकाश है, जिसमे ६ राजू मे तो ७ सात नरक है फिर एक राजू के नीचे स्थान मे यह बादर साधारण निगोद है जो कि ठसाठस भरे हुये है। भगवान् सर्वज्ञ देव ने इनकी सख्या अक्षयानन्त बतलाई है। वहाँ भी वनस्पति कायिक वृक्ष उत्पन्न होते है तथा उगने के बाद या जल वगैरह का सम्बन्ध मिलने पर वैसो लक्षण वाली वनस्पति बहुतायत से पैदा होती है—(गो जी काड)

एयणिगोदसरीरे जीवा,दव्वपमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहि अणतगुणा,सव्वेण विणीतकालेण१९५
साहारणमाहारो,साहारणमाणपाणगहणं च,साहारणजीवाणं साहारणलक्खण भणियं१९१
जत्थेक मरई जीवो,तत्थ दुमरण हवे अणंताणं,चंकमइ जत्थइक्को, चंक्कमणं तत्थणंताण१९२

अर्थ—एक साधारण वनस्पति निगोदिया के शरीर के आश्रित, सिद्ध राशि से अनन्तगुणे, या भूतकाल के जितने समय व्यतीत होगये हो उनसे भी अनन्त गुणे जीव हैं। उन जीवो का आहार, श्वासोच्छ्वास, जीवन मरण, एकसा है अर्थात् एक जीव के जीवन या मरणादि कार्य होने पर उसके आश्रय रहने वाले अनन्त जीवो का जीवन एव मरणादि कार्य होता है। यही साधारण निगोदिया जीवो का लक्षण है। प्रत्येक वनस्पति कायिक के १ सप्रतिष्ठित २ अप्रतिष्ठित, ये दो भेद जीव काण्ड गोमटसार मे निर्दिष्ट किये है।

— सप्रतिष्ठित वनस्पति का विवेचन —

मूलग्गपोरबीजा खंदा तहखदबीजबीजरुहा, सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाऽणंत कायाय१८५।
गूढसिरसंधिपव्वं,समभगमहीरुह च छिण्णरुह। साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं१८६।
मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे, समभगे सदि णता असमे सदिहोतिपत्तेया१८७।
कदस्स व मूलस्स व सालाखदस्स वाविबहुलतरी छल्लीसाणतजिया पत्तेय जिया तु तणु कदरी

बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णोवा, जो विय मूलादीया ते पत्ते या पढमदाए१८९।

अर्थ--जिन वनस्पतियो का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द अथवा स्कन्ध है, अथवा जो बीज से ही उत्पन्न होती है तथा सम्मूर्च्छन है, वे सभी वनस्पतिया सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दो प्रकार की होती है । **भावार्थ**--वनस्पति अनेक प्रकार की होती है । कोई तो मूल से उत्पन्न होती है जैसे अदरख हल्दी आदि । कोई अग्र से उत्पन्न होती है जैसे गुलाब । कोई पर्व (पगोली) से उत्पन्न होती है जैसे ईख, वेत आदि । कोई कन्द से उत्पन्न होती है जैसे ढाक । कोई अपने २ बीज से उत्पन्न होती है--जैसे, गेहू चना आदि । कोई मिट्टी जल आदि के सम्बन्ध से ही उत्पन्न हो जाती है–जैसे, घास आदि । परन्तु ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनो प्रकार की होती है । १८५ । जिनका सिरा, सधि, पर्व अप्रकट हो और जिसका भग करने पर समान भग हो और दोनो भगो मे परस्पर तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर भी जिस की पुन वृद्धि हो जावे, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक और इससे विपरीत को अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है । १८६ । जिन वनस्पतियो के मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल (नवीन कोपल) क्षुद्रशाखा (टहनी) पत्र, फूल, तथा बीजो को तोड़ने से समान भग हो, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है, और जिनका भग समान हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है । १८७ । जिस वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्र शाखा, या स्कन्ध की छाल मोटी हो उसको अनन्त जीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते है । १८८ । जिस योनिभूत जीव मे वही जीव, या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूलादिक प्रथम अवस्था मे अप्रतिष्ठित प्रत्येक होता है । १८९ । इन गाथाओ से सिद्ध है कि प्रत्येक वनस्पति के दो भेद है । १. सप्रतिष्ठित प्रत्येक २ अप्रतिष्ठित प्रत्येक । "तहा प्रत्येक वनस्पति के शरीर, बादर निगोद जीवनिकरि आश्रित सयुक्त होय, ते सप्रतिष्ठित प्रत्येक जानने, जे बादर निगोद के आश्रय रहित होइ ते अप्रतिष्ठित प्रत्येक जानने" (प० टोडरमलजी कृत गोम्मट सार भाषा) आगे प० टोडरमलजी की भाषा टीका के आधार से इसकी विशद व्याख्या करते है--१-जिनकी मूल जो जड सोई बीज होई, ते अदरख हल्दी आदि मूल बीज जानने । जिसको पूर्व स्पष्ट किया है । वे मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज आदि वनस्पति ऐसे ये कहे, सर्व ही प्रत्येक वनस्पति है ते अनन्त जे निगोद जीव तिनके काय कहिये शरीर जिन विषे पाइये ऐसे अनन्त काय कहिये प्रतिष्ठित प्रत्येक है, बहुरि चकार इस गाथा मे आया है तासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक है । ऐसे प्रतिष्ठित कहिये साधारण शरीरनिकरि आश्रित है प्रत्येक शरीर जिनका ते प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर है; बहुरि तिनिकरि आश्रित नाही है प्रत्येक शरीर जिनका ते अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं; ऐसे यह मूलबीज आदि संमूर्छित पर्यन्त सर्व दोय दोय अवस्था

लिये जानना । ते ऊपर कहे सर्व ही प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर जीव सम्मूर्छन जन्म वाले है। "बहुरि प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनागुल के असख्यात भाग मात्र ही है । ताते पूर्वोक्त आदा अदरख को आदि देकर एक २ स्कन्धविषै असख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर पाईये है । कैसे ? घनागुल को दोयवार पल्य का असख्यात वा भाग, अर नव वार सख्यात का भाग दिये जो प्रमाण हुई तितने क्षेत्र विपै जो एक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होई, तो संख्यात घनागुल प्रमाण आदा मूलादिक स्कन्धविषै केतेक पाइये ? यह कथन बहुत सूक्ष्म है, समझ मे आयेगा नही, ताते बढा कर नही लिखो । बहुरि एक स्कन्ध विषै अप्रतिष्ठित वनस्पति जीवनि के शरीर यथा सभव असख्यात भी होय वा सख्यात भी होय, बहुरि जेते प्रत्येक शरीर रहे तितने ही तहा प्रत्येक वनस्पति जीव जानने, जाते तहा एक २ शरीर प्रति एक २ ही जीव होने का नियम है"। (मूलाचार पचमाध्याय)

मूलग्गपोरबीजा कदा तह खधबीजबीजरुहा । सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणतकायाय।१६।
कदामूला छल्ली खध पत्तं पवाल पुप्फफल । गुच्छा गुलमावल्ली तणाणि तह पव्वकायाय।१७।

अर्थ—वनस्पति के दो भेद है । प्रत्येक और साधारण । एक शरीर मे एक जीव है । उसे प्रत्येक वनस्पति कहते है और जिसमे एक शरीर मे अनन्त जीव है, वह साधारण वनस्पति है । साधारण को ही निगोद कहते है और अनन्त काय भी कहते है। हल्दी आदि मूलबीज, मल्लिका आदि अग्रबीज, ईख बेत आदि पर्वबीज, पिंडालू आदि कदबीज है । पलास आदि समूर्छन जीव ये सब प्रत्येक वनस्पति और अनन्त काय साधारण वनस्पति होती हैं । सूरण आदि कद, अदरख आदि मूल, छालि, स्कन्ध, पत्ता, कोपल, पुष्प, फल, गुच्छा, करजा आदि, गुल्म, वेल, तिनके और बेत आदि ये सम्मूर्छन प्रत्येक अथवा अनन्त कायिक है । और भी कहा है— (मूलाचार पर्याप्ति अधिकार)

गूढसिरसधिपव्वं समभगमहीरुह च छिण्णरुह । साहारणं सरीर तव्विवरीय च पत्तेय।१६।
होदि वणप्फदीवल्ली रुक्खतणादि तहेव ए इदी । ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरे दव्वा।

अर्थ—जिनकी नसे नही दिखती, बधन वा गाठ नही दिखती, जिनके टुकडे समान हो जाते है, जो बलि रहित सीधे है और भिन्न करने पर भी जो उगते हैं ऐसे सब साधारण शरीर कहलाते है, इनसे जो विपरीत होवे वे प्रत्येक शरीर है । वनस्पति, वेल, वृक्ष, तृण इत्यादि स्वरूप है; ये एकेन्द्रिय है। ये सब प्रत्येक और साधारण हरितकाय है। ऐसा जान कर इनकी हिंसा का त्याग करना चाहिए ।

भागमसखेज्जदिम जं देह अंगुलस्स त देह । ए इदियादि पचेदियं तं देहं जहण्णेण ।।१०६६।।

अर्थ—वनस्पति कायिक के शरीर की अवगाहना घनागुल के असख्यातवे भाग प्रमाण ही है । सो भी प्रतिष्ठित प्रत्येक की है । सो जानना । आगे इन जीवो के आश्रित

जीवो की संख्या बतलाते हैं-- (गोम्मटसार)

खंधा असंखलोगा अडर आवास पुल वि देहावि ।
हेट्ठिल्लजोणिगा ओ असंखलोगेण गुणिदकमा ।। १९३ ।।

अर्थ—वनस्पति काय के स्कन्ध मे स्कन्धो का प्रमाण असख्यात लोक प्रमाण है और अडर, आवास, पुलवि, तथा देह ये क्रम से उत्तरोत्तर असख्यात लोक गुणित है। यहां जंबूद्वीपका दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। एक आम्र या ककडी या और किसी प्रकार के फल को लीजिये। एक आम्र रूप फल स्कन्ध मे कितने जीव रहते है ? सो देखे। जैसे आम्र स्कन्ध मे (जबूद्वीप मे) अडर मे भरत क्षेत्र मे आवास में कौशल देश मे पुलवी साकेत नगर मे उसमे देह जैसे साकेत नगरी अयोध्या के घरो की गिनती होवे वैसे ही एक आम्ररूपफल मे असख्याते देह होते है। जिस प्रकार जबूद्वीप आदि एक २ द्वीप मे भरत आदि अनेक क्षेत्र एक २ भरतादिक्षेत्र मे कौशल आदि अनेक देश, एक २ देश मे अयोध्या आदि अनेक नगरी, और एक २ नगरी मे अनेक घर होते है। उसी प्रकार एक २ स्कन्ध मे, असख्यात लोकप्रमाण अडर, एक २ अडर मे असंख्यात लोक प्रमाण? आवास, एक २ आवास मे असख्यात लोक प्रमाण पुलवी और एक २ पुलवी मे असख्यात लोक प्रमाण निगोदिया जीवो के शरीर होते है; इसी दृष्टान्त के द्वारा वनस्पति काय का स्वरूप फलो मे आम्र हो, या जामुन हो, नारंगी हो या ककडी हो, भिडी, तुरैया, टीडसी, खरबूजा, सेव, नासपाती, निम्बु, मिर्च, अनार, अमरूद, अगूर आदि कोई भी जाति का स्कन्ध हो, उसमे संख्याते, असंख्याते, वा अनन्त जीवों का शरीर है; इसलिए शास्त्रकारो ने वनस्पति कायिक फलो को स्पर्श करना,दाबना, तोडना, राधना, पीसना, कूटना, आदि जो भी किया जावे उसमे हिसा मानी है; इसी कारण गृहस्थ लोग पूर्ण सयमी नही हो सकते। सयम के विचार करने वाले होते है; क्योकि गृहस्थ अवस्था मे श्रावको को कई प्रकार की आपत्तिया हुआ करती है; इसलिए यदि पूर्ण रूप से संयम न पाला जावे, तो चार पर्व-दो अष्टमी दो चतुर्दशी के दिन मे तो, अपनी शक्ति अनुसार संयम पालना, यही आत्मा की उन्नति का, एव पुण्य बध का कारण है; इसलिए ससार के दु खो से छुटकारा पाकर, आत्मा के सद्गुणो की वृद्धि करना हो तो जीव रक्षा का उपाय करो। कहा है—

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणिश्रृंगवेराणि, नवनीतनिम्बकुसुम कैतकमित्येवमवहेयम्।८५।

अर्थ—जिस वनस्पति को कार्य में लेने से, फल तो थोड़ा हो और बहुत स्थावर जीवो की हिसा हो, ऐसे गीले सचित्त अदरख, मूली, गाजर, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल, इत्यादि वस्तुए जिनमे फल थोडा और हिसा ज्यादा है, त्यागने योग्य है; क्योकि जरा सा जिह्वा का स्वाद और असख्यात गुणी हिसा होने से, दुर्गति का बन्ध होता है।

और कहा भी है— सागारधर्मामृत अध्याय ५

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादिवर्जयेत् । आजन्मतद्भु जां ह्यल्पं फलघातश्च भूयसाम् ।१६।

अर्थ—धर्मात्मा पुरुषो को नाली (कमल की नाल), सूरण, कालिन्द, तरबूज, द्रोण पुष्प (द्रोण वृक्ष का फूल) और आदि शब्द से मूली, अदरख, नीम के फूल, केतकी के फूल, आदि पदार्थो का जीवन पर्यन्त त्याग कर देना चाहिए; क्योकि इन पदार्थो के खाने वालो को एक क्षण भर के लिए जिह्वा इन्द्रिय को सतुष्ट करने मात्र का थोडा सा फल मिलता है, परन्तु उसके खाने से उन पदार्थो के आश्रित रहने वाले अनेक जीवो का घात होता है और यह व्रत भङ्ग कर ससारताप को बढाने वाला है, इसलिए ऐसे पदार्थो का जीवन पर्यन्त त्याग कर देना चाहिए। फल पत्र स्वरूप वनस्पति कोई अभक्ष्य नही है, परन्तु इनमे जीवो की बहुत प्रचुरता रहती है, इसलिए इनके भक्षण मे जीव हिसा का पाप लगता है, विशेप कर वर्षा ऋतु मे हरी वनस्पति को त्यागना ही उचित है। गोभी कचनार के पुष्पो में बहुत जीव होते हैं, इनमे स्थावर जीवो की अपेक्षा त्रस जीवो की अधिक हिसा होती है। पोदीना की पत्ती, पत्ते वाले, शाक, पालक की शाक; मूली के पत्ते, नोनिया के पत्ते; गवार पाठा और उसकी फली आदिका भक्षण नही करना चाहिये। पत्ते वाले शाक का पत्ता मोटा होने से उसमे अनन्त काय जीव रहते हैं। अत त्यागने योग्य है। **—स्थावर जीवों के घात का त्याग आवश्यक** — (पुरुपार्थसिद्धयुपाय)

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ।। ७७ ।।

अर्थ—इन्द्रियो के विषयो की न्याय पूर्वक सेवा करने वाले श्रावको को, अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त शेष स्थावर जीवो के मारने का त्याग भी अवश्यमेव करने योग्य है।

पृथिव्यादि चार भेद — (लाटी सहिता)

प्रत्येक तस्यभेदा स्युश्चत्वारोऽपि च तद्यथा । शुद्धभूर्भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिक ।६८।
शुद्धा प्राणोज्झिता भूमिर्यथास्याद् दग्धमृत्तिका, भूजीवोऽद्यैव भूमौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरात्।
भूरेव यस्य कायोऽस्ति यद्दानन्यगतिर्भुव । भूशरीरस्तदात्वेऽस्य स भूकाय इत्युच्यते ।७०।
भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुक , स समुद्घातावस्थायां भूकायिक इति स्मृत ।७१।
एवमग्निजलादीनां भेदाश्चत्वार एव ते । प्रत्येक चापि ज्ञातव्या सर्वज्ञज्ञानातिक्रमात् ।७२।

अर्थ—१ भू २ भूकाय ३ भूजीव ४ भूकायिक इस प्रकार पृथ्वी के चार भेद है। इसी प्रकार पाचो स्थावरो के जानना। प्राणो से रहित पृथ्वी जीव मरकर अन्यत्र चला गया हो उसे शुद्ध पृथिवी कहते है जैसे, जली हुई मिट्टी। जो जीव आजही अन्य पर्याय से आकर पृथ्वी पर्याय मे जन्म धारण करेगा, ऐसे विग्रह गति वाले जीव को पृथ्वी

जीव कहा गया है । ६८-६६ । जिसका शरीर पृथ्वी है, अथवा जिसने अन्य गति में न जाकर भूमि को ही अपना शरीर बना रखा है; इस पृथिवी कायिक जीव के द्वारा छोडे हुए शरीर को पृथ्वी कायिक कहते है । ७० । भूमिकायिक जीव को, जो कि वर्त्तमान समय में भूमि में रहा है, परन्तु दूसरी गति में जाने को तत्पर है, ऐसे मारणान्तिक समुद्घात मे रहने वाले जीव भी पृथ्वी कायिक है ।७१। इसी प्रकार अग्नि, जल, वायु और वनस्पति के भी ४ भेद सर्वज्ञ भगवान् ने कहे है ।७२। **—पृथिव्यादि, तीन भेद भी माने है—**
गोमट्टसार जीव काण्ड मे पृष्ठ ४१६ में जीव प्रबोधिनी टीका मे तीन भेद ही माने है—
पृथ्वीकायिकपर्यायाभिमुखो विग्रहगतौ वर्त्त मानः पृथिवीजीव , गृहितपृथिवीशरीर , पृथिवीकायिक । तत्त्यक्तदेहो पृथ्वीकाय. । तथैव अब्जीव', अप्कायिक', अप्काय । तेजोजीव., तेजस्कायिकः ,तेजस्काय. । वायुजीवः, वायुकायिक , वायुकाय इतित्रिविधत्वं ज्ञातव्यम् । विग्रहगतौ वर्त्त मान पृथिवीत्वविशिष्टस्थावरनामकर्मोदयं वृत्तपर्याय' पृथ्वीजीव । गृहिततच्छरीरोजीव' पृथिवीकायिक. । तेनत्यक्तदेह. पृथ्वीकाय । एवमेव अब्जीव , अप्कायिकः, अप्काय इत्यादि त्रिधा व्यवस्था ।

अर्थ—विग्रहगति मे वर्तमान पृथिवी नामक स्थावर नाम कर्म के उदय से युक्त जीव पृथिवी जीव है । जिसने पृथिवी शरीर को ग्रहण कर लिया है वह पृथिवी कायिक है और उस जीव से छोडा हुआ शरीर पृथिवी काय कहलाता है । इसी प्रकार हरेक के तीन २ भेद जानना । [अमितगति श्रावकाचार]

भेदास्तत्रत्रय पृथ्व्या' कायकायिकतद्भुवाः । निर्मुक्तस्वीकृतागामिरूपा एव परेष्वपि ।।६।।

अर्थ—पृथ्वी के ३ भेद है । पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक, पृथ्वीजीव । पृथ्वीकायिक जीव से त्यागे हुए शरीर को पृथ्वीकाय, पृथिवी शरीर को धारण करने वाले जीव को पृथिवीकायिक और जो जीव पृथिवीकायिक होने वाला है, वह विग्रह गति मे पृथ्वी जीव है । इसी प्रकार जलादि मे भी जानना । **भिन्न २ आचार्यो के द्वारा सचित्त का स्वरूप—**
"दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसम्बन्धमिश्रयो." यशस्तिलक चम्पू पृ. ४०३
"सचित्तभत्तपाण गिद्धीदप्पेणऽधीपभुत्तूण" पत्तोसितिव्व दुक्खं अणाइ कालेण त चित्तं।१००। कद मूलं वीयं पुप्फ पत्तादि किंचि सच्चित्त । असि ऊणमाणगव्वे भमिओसि अणतससारे।१०१ "फलाणि जम्बाम्राम्बाड़क फलाणि मूला. पृ. ३८० **सचित्ते न पिहितमप्रासुकेन पिहित । "अपक्काऽप्रासुकास्तथाहरितकाया पत्रपुष्पफलादयः"** मूलाचार गा ५३ पृ ३६७
सचित्तेनाप्रासुकेन वर्तते इति सचित्त । अनगार पृ ५६६ **"सचित्त विद्यमान जीवकम्" आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्त, सहचित्तेन वर्तते इति सचित्त ।** स सि सू.३२पृ १०३
"सचित्ते पद्मपत्रादौ" स.सि.अ ७सू.३६ **"सहचित्तेन वर्तते इति सचित्त चित्त**

विज्ञान सहवर्तते इति सचित्तं चेतनावद् द्रव्यमित्यर्थ"। राजवार्तिक पत्र १६१
"सचित्त चेतनावद्द्रव्यं हरितकायं फलपुष्पादिक। सागारधर्मामृत अध्याय ५ पृ १३६
"हरितमम्लानावस्थ पर्णतृणादिसचित्तानि सजीवानि अप्रासुकानि वा" अन ध पृ ३५३
"चित्तेन चैतन्येन आत्मना जीवेन सह वर्तमानं सचित्तम् अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीव-शरीराणि यथा सम्भवमसंख्यातानि सख्यातानि वा भवन्ति। यावन्ति प्रत्येकशरीराणि तावन्त एव प्रत्येकवनस्पतिजीवास्तत्र प्रतिशरीरमैकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात्। १८६।
रुक्खाण असंखजिया मूला कदातथा य खधाय। सालावहा पवाला पुढ़ो पुढा हु ति णायव्वा।

अर्थ—वृक्ष असख्यात जीव वाले है, मूल, तना, कन्द, छोटी टहनी, बडी टहनिया पत्रादिक मे पृथक् जीव होते है। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्याय २२ में भी श्लोक ६४ से ७६ तक सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप दिया गया है। उन श्लोको को तथा उसके विशद विवरण एव अर्थ को पीछे दिया जा चुका है। अत यहा नही लिखा है।

"अवयविरूपंव्याख्यायावयवभेदप्रतिपादनार्थमाह अथवा वनस्पतिजातिर्द्विप्रकारा भवतीति, बीजोद्भवा सम्मूर्छिमा च, तत्रबीजोद्भवा मूलादिरूपेणव्याख्याता। सम्मूर्छिमाया स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—
कदा मूला छल्ली खध पत्तं पवाल पुप्फफल, गुम्मा गुच्छावल्ली तणाणि तह पव्वकायाय।१७
संस्कृतटीका—कन्दा कन्दक सूरणपद्म कन्दकादि। मूला मूल पिण्डाध प्ररोहकं हरिद्रकार्द्र-कादिक। छल्ली—त्वक् वृक्षादिवहिर्वल्कलशेलयुतकादिकं च। खंधं—स्कन्ध पिण्डशाखयोर-न्तर्भाग पालिमद्रादिक। पत्तं पत्रम् अकुरोर्ध्वावस्था। पवाल—प्रवाल पल्लवं पत्राणा पूर्वावस्था। पुप्फ—पुष्पं फलकारणं। फलं पुष्प कार्यं पूगफलतालफलादिकम् इत्यादि। अथवा मूलकायावयव. इत्यादि पूर्वाणां बीजमुपादान कारणमेतेषां पुन. पृथिवीसलिलादि-कमुपादानकारण तथा च दृश्यते शृङ्गाच्छर गोमयाच्छाल्कम् इत्यादि।

मूलाचार पचाचाराधिकार गाथा १७ पृ १८५

अर्थ—अवयवी को वतलाकर अवयवो के भेद वताते है। गाथा का अर्थ—सूरण आदि कंद, अदरख आदि मूल; छालि, स्कन्ध, पत्ता, कोपला, पुष्प, गुच्छा, करजा, आदि गुल्म, वेल, तिनका और वेत आदि सम्मूर्छन प्रत्येक अथवा अनन्त कायिक है। यहा दृष्टान्त द्वारा प्रकृत वस्तु का समर्थन करते है जैसे, किसी तालाव, कुए, नदी, या बावडी मे एक लोटा जल निकाल लिया जाय, तव भी उस पानी मे छाने विना असख्यात जीव है। ऐसे ही किसी विशाल अग्नि पिण्ड मे एक खण्ड तोड लिया जावे, तो उसमे असख्यात अग्नि-कायिक जीव है। यह वात प्रत्यक्ष देखी जाती है। ऐसे ही वनस्पति मे समझिये कि वृक्ष से फल पुष्पादि तोड लिये जाते है उनमे भी अग्नि और जल की तरह असख्याते जीव

रहते है । कारण कि स्थावरो की प्रकृति एक सदृश रहती है, न कि त्रस जीवो की ।

—: फलों में सजीवता पर शास्त्रीय प्रमाण :—

"प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीरस्य सर्वोत्कृष्टावगाहनमपि घनांगुलासख्येयभागमात्रमेवेति। पूर्वोक्तार्द्रकादिस्कन्धेषुएकैकस्मिस्तानि असख्यानि सन्ति । यद्येतावत् क्षेत्रस्यैकं प्रतिष्ठित-प्रत्येकशरीराणि स्युरिति । त्रैराशिकलब्धानि, एकैकार्द्रकादिस्कन्धसंभवानि प्रतिष्ठितप्रत्येक-शरीराणि स्यु । अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीराणि यथासंभवम् असख्यातानि सख्यातानि वा भवन्ति यावन्ति प्रत्येकशरीराणि तावन्त एव प्रत्येकवनस्पति जीवास्तत्र प्रतिशरीरमेकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात् ।

अर्थ—प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुल के असंख्यात में भाग मात्र ही है, अत पूर्वोक्त अदरख आदि को लेकर एक २ स्कन्ध मे असख्यात प्रति-ष्ठित प्रत्येक शरीर पाये जाते है जैसे, घनागुल को दो वार पल्य को असख्यात का भाग और नव वार सख्यात का भाग दिये जो प्रमाण होय तितने क्षेत्र विषै एक प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर होय, तो सख्यात घनागुल प्रमाण अदरख, मूली आदि स्कन्ध विषै केते पाइये ? ऐसे त्रैराशिक किये लब्ध राशि दो बार पल्य का असख्यातवा भाग, दश वार सख्यात माडि परस्पर गुणे । जितना प्रमाण होय तितने एक२ अदरख आदि स्कन्ध विषै प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर पाईये । एक स्कन्ध विषै अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवनि के शरीर यथा सभव सख्यात भी होय और असख्यात भी होय । जे ते प्रत्येक शरीर है तितने ही तहा वनस्पति जीव जानना । जाते तहा एक शरीर प्रति एक ही जीव होने का नियम है—

साहिय सहस्समेक वार कोसूणमेकमेकञ्च । जोयण सहस्सदीह पम्मे विपुले महामच्छे ।६५।

अर्थ—कमल, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय महामच्छ इनके शरीर की अवगाहना क्रम से कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीन कोश, एक योजन और एक हजार योजन लम्बी समझना चाहिए । घनागुल के असख्यातवे भाग जो उत्कृष्ट अवगाहना बतलाई है वह वनस्पतिकायिक जीव के एक शरीर की है और उक्त अव-गाहना सारे कमल की है, न कि एक जीव के शरीर की । इस कमल के अन्दर अनेको वनस्पति कायिक जीव रहते है । जो एक हजार योजन कमल की अवगाहना बतलाई है, सो वृक्ष की ऊचाई है, न कि वनस्पति जीव के शरीर की । इसके शरीर की अवगाहना तो उत्कृष्ट अंगुल के असख्यातवे भाग मात्र ही है ।

उदये दु वणप्फदि कम्मस्सय जीवा वणप्फदीहोति, पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरोत्ति पत्तेय । वनस्पतिविशिष्टस्थावरनामकर्मोत्तरोत्तरप्रकृत्युदये तु पुन जीवा वनस्पतिकायिका. भवति ।

अर्थ—वनस्पति विशिष्टनाम कर्म की उत्तरोत्तर प्रकृति के उदय होने पर वनस्पति

कायिक होते हैं। अब धवल सिद्धान्त ग्रन्थ में इस विषय को निम्न प्रकार शका समाधान द्वारा स्पष्ट किया गया है।

एत्थपुढवीकाओशरीरं जोसि ते पुढवी कायात्तिणवत्तव्वं, विग्गहमईए वट्टमाणाणं जीवाणम काइत्तत्पसंगादो। पुणो कध बुच्चदे? पुढविकाइय णामकम्मोदयवतो जीवा पुढविकाइयाति वुच्चंति। पुढविकाइयणामकम्मेण कहिं वि वुत्तमिदि चेद्ण। तस्स एइंदियजादिणाम कम्मतब्भूदत्तादो। एव सदि कम्माणं संखाणियमो सुत्तसिद्धोण घडदित्ति वुत्तो वुच्चदे। ण सुत्तो कम्माणि अट्ठेव अट्ठेदाल सयमेवेत्ति संस्वंतरपडिसेह विधाय य एवकाराभावादो। पुणोकेत्तियाणि कम्माणि होति? हयगयवियफुल्लं धुवसलहमवकुणुद्धेहि गामिदादीणि जेत्तियाणि कम्मफलाणि लोगे उवलब्भति कम्माणि वितत्तियाणिचेव। (षट् पृ ३३०)

अर्थ—पृथ्वीकाय शरीर जिनका है वे जीव पृथिवी कायिक कहलाते है। शका-ऐसा मत कहो, क्योकि ऐसा कहने से विग्रह गति में रहने वाले जीवो को पृथ्वी कायिक कैसे कहेगे? **उत्तर**-पृथ्वी नाम कर्म के उदय से जीव पृथिवी कायिक कहलाते है और उसका उदय विग्रह गति मे भी पाया जाता है। **शंका**-पृथ्वी कायिक नाम कर्म आपने इस का नया आविष्कार किया है? **उत्तर**-ऐसा नही कहना, क्योंकि एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म का वह अवान्तर भेद है। **शंका**-ऐसा होने पर तो कर्मो की संख्या का सूत्र आगम प्रसिद्ध नियम न बन सकेगा? **उत्तर**-सूत्र मे कर्म आठ या एकसो अडतालिस ही होते है अन्य नही, ऐसा नियम नही, क्योकि निषेध को सूचित करने वाले एवकारका अभाव है। एवकार (ही) द्वारा अवधारण करने से ही अन्य सख्या का निषेध होता है। **शका**-फिर कितने प्रकार के कर्म होते है? **उत्तर**-अश्व, गज आदि तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रियो के जितने जाति भेद गोचर होते है, तथा फूल पत्ते, वेल, फल, वृक्ष, जल आदि एकेन्द्रिय जीवो के जाति भेद, तथा पतङ्ग खटमल आदि एकेन्द्रिय जीवो के जाति भेद तथा पतङ्ग, खटमल आदि विकलत्रय के जाति भेद रूप जितने प्रकार के कर्म विपाक लोक मे देखे जाते हैं उतने ही प्रकार के कर्म हैं। **आगे और भी प्रमाण देते हैं:—** (धवलसिद्धान्त पृ)

साहारणवणप्फदिकाइया दुविहा णिच्चणिगोदा चदुगदिणिगोदा तेविदुविहा बादरसुहुमभेदादो।

भावार्थ—समान को ही सामान्य कहते है, जिन अनेक जीवो का सामान्य (एक) शरीर है, उन्हे सामान्य शरीर या साधारण शरीर कहते है। वे साधारण जीव दो प्रकार के है। १. नित्य निगोद २. चतुर्गति निगोद (इतर निगोद) इनके बादर और सूक्ष्म ऐसे दो भेद है। (लाटीसहिता)

शाका साधारणा, केचित् केचित् प्रत्येक मूर्तय.।
वल्लय साधारणा. काश्चित् काश्चित्. प्रत्येकका. स्फुटम् ॥ ६८ ॥

तत्स्वरूप परिज्ञाय कर्तव्या विरतिस्तत. । उत्सर्गात् सर्वतस्त्यागो यथाशक्त्यपवादत ।६६।

इसी प्रकार पद्मपुराण द्वितीय खण्ड अध्याय ४१ पेज २११ मे है ।

खर्जूरैरिंगुदैराम्रै: नारिकेलै रसान्वितै । बादरामलकाद्यैश्च वैदेह्या सुप्रसाधितै ।।२६।।
आहार्यैविविधै शास्त्रदृष्टिशुद्धिसमन्वितै. । पारणा चक्रतुर्गृद्धया सबन्धोज्झितचेतसौ ।।२७।।

अर्थ––सीताजी के द्वारा भले प्रकार राधे गये, खजूर हिगोटा, आम्र, नारियल, वेर आवला आदि नाना प्रकार के द्रव्यो से जो शास्त्रीय और लौकिक दृष्टि से शुद्ध थे उनसे लालसा रहित वे चारण मुनिराज पारणा करते भये । आगे टूटे फलो मे सचित्तता है, इस बात को श्री अकलङ्कदेव कृत राजवार्तिक २६१ मे स्पष्ट करते है ।

सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेप प्रकरणात् सचित्तेनापिधानमावरण सचित्तापिधान । सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा । तत्प्रतीकारविधाने स्यात् पापलेप । अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति ।

अर्थ––श्रावक न तो सचित्त कमल पत्रादि मे भोज्यद्रव्यरख कर दे सकता है और न मुनिराज ले ही सकते है, यह ऊपर के प्रमाण से सिद्ध है ।

प्रश्न––वादर निगोद जीव से आश्रित प्रतिष्ठित जीव कई आगम ग्रन्थो मे सुने जाते है, उनका ग्रहण कहा करना ? **उत्तर**––प्रत्येक वनस्पति मे उनका ग्रहण होता है । **प्रश्न**––वे प्रत्येक वनस्पति कौन हैं ? **उत्तर**––थूहर, अदरख, मूला आदि वनस्पतिया, जोकि मूल, अग्र, पोर, कन्द, स्कन्ध, टहनी, बीज और अकुर से पैदा हो, अथवा सम्मूर्छिम हो, उन्हे प्रत्येक और अनन्त काय कहते है । **प्रश्न**––प्रत्येक और अनन्त काय साधारण शरीर से भिन्न बादर निगोद प्रतिष्ठित जीव राशि तीसरी कौनसी है ? **उत्तर**––प्रत्येक और साधारण से भिन्न तीसरी राशि वनस्पति कायिक जीवो मे नही है, परन्तु प्रत्येक वनस्पति दो प्रकार की है १ बादर निगोद जीवो के योनि भूत शरीर वाली जिसमे बादर निगोद जीव पैदा होते है । २ इससे विपरित शरीर वाली जिसमे बादर निगोद जीव पैदा नही हुए है अथवा वर्त्तमान मे नही हो रहे है । उसमे जो राशि प्रत्येक वनस्पति बादर निगोद जीवो की योनि भूत शरीर वाली है उसे बादर निगोद प्रतिष्ठित या सप्रतिष्ठित कहते है जैसे मूला, गिलोय, सूरण आदि अनन्त काय कही जाने वाली वनस्पतिया है, इसी को पुरातन आचार्यो ने इस प्रकार कहा है कि मूल से बीज पर्यन्त समस्त योनि भूत जिसमे अकुर नही रहते, पत्येक वनस्पति के आश्रित रहते है, और कोई भी वनस्पति ऐसी नही है जिसमे केवल साधारण जीवो का ही निवास हो, प्रत्येक जीवो का न हो । हा, यह अवश्य है कि कोई २ प्रत्येक वनस्पतिया ऐसी अवश्य है, जो उत्पत्ति के प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त मे अप्रतिष्ठित रहकर बाद उनमे बादर निगोद जीव आकर अपना आश्रय (आधार) बना लेते है । तबसे वे प्रतिष्ठित हो जाती है और वे सूखने या अग्नि पक्व होने से पहिले

प्रतिष्ठित नही होती; उन्हे हम मुख्य साधारण कह सकते हैं। जो वनस्पतियां शिरासधि पर्व वगैरह के नही दिखने तक साधारण तथा उनके दिखने पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाती है, अथवा समभंग, महीरुह ततु टूटने पर लगा रहे, काटने आदि पर उगे सो साधारण, विपरित असाधारण अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। उपचार से साधारण कही जा सकती है क्योकि इनके भीतर साधारण पन के जो चिन्ह बतलाये जाते है वे जब तक पाये जायेंगे तब तक तो वे साधारण कहलायगी बाद मे अप्रतिष्ठित, अतएव जिन वनस्पतियो मे अप्रतिष्ठित पूर्व सप्रतिष्टित उत्तर रूप, दो भग पाये जाय, वे मुख्य अनत काय या साधारण मानना चाहिए और जिनमे १ अप्रतिष्ठित २. सप्रतिष्ठित ३ अप्रतिष्ठित रूप तीन भङ्ग पाये जाय वे उपचरित अनन्त काय है; इसी भाव को हृदय मे रखकर महा पण्डित आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत के चौथे अध्याय २२ श्लोक की टीका मे अनन्त काय शब्द के मुख्य और उपचरित इस तरह दो अर्थ किये हैं और उन दोनो के भिन्न २ दो उदाहरण दिये है। मुख्य अर्थ मे लिखा है कि "अनन्त काय अनन्त साधारण कायो येषाते साधारणागा स्नुहीगुडूच्यादय:" और उपचरित अर्थ मे लिखा है कि अनन्तनिगोदाश्रितत्वादनन्तकाय येषा तेऽनन्तकाया मूलकादय प्रतिष्ठितागा प्रत्येकभेदा" उक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनन्तकाय वनस्पति दो प्रकार की है। और उनका अवस्थान भी दो प्रकार का भिन्न २ है। स्नुहि (थूहर) गुडूची (नीमगिलोय) आदि साधारण अनन्तकाय है। पणक, किण्व, कवक और कुहण आदि भी इसी भेद के अन्तर्भूत हैं।

पणक—गीली ईट, मिट्टी, दिवाल पर हरे आदि रग की उत्पन्न होती है, उन्हे पणक कहते है। **किण्व**—वर्षाकाल मे जो छत्राकार वनस्पतिया होती है उनको किण्व कहते हैं। **कवक**—श्रृङ्ग से उत्पन्न हुए जटाकार अकुरों को कवक कहते है। **कुहण**—आहार काजी आदि के ऊपर जो सफेदी फूलन आ जाती है उसे कुहण (उलण) कहते है।

ये सब वनस्पति के सप्रतिष्ठित प्रत्येक रूप या मुख्य साधारण रूप भेद है।

नैव पुष्पं द्विधा कुर्यात् न छिन्द्यात् कलिकामपि। चम्पकोत्पन्नभेदेन यतिहत्यासमफलम्।१३०।

अर्थ—फूल के दो टुकडे कभी नही करने चाहिये तथा कली को भी नही मोडना चाहिये। कली के दो टुकडे नही करने चाहिये चम्पा, कमल आदि की कली के दो टुकडे करने से मुनि हत्या के समान पाप लगता है, उक्त प्रमाण से सिद्ध होता है, कि यदि टुटे हुए फल पुष्पादि अचित्त होते तो उमास्वामि श्रावकाचार मे उक्त श्लोक के द्वारा फूल की एक कली को तोडने मे मुनि हत्या का पाप क्यो बताया जाता है? इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि टूटे फल पुष्पादि सचित्त हैं। सार चतुर्विशतिका मे सचित्त त्याग प्रतिमा को धारण करने वाले का स्वरूप लिखा है कि— (अध्याय ४)

यो नात्ति कृपया सर्वं सचित्तं जीवसकुलं । स दयापरिणामेन मोक्षदं धर्ममाचरेत् ।।२२।।
इति ज्ञात्वा बुधैस्त्याज्यं हलाहलमिवानिश । कृत्वा जिह्वावशे कृत्स्न सचित्तं स्वकृपाश्रये ।२३।

अर्थ—जो दया से अनन्तजीव सहित सभी सचित्तकाय जलादि को भक्षण नही करता वह दयामय परिणामो से मोक्ष को देने वाले धर्म का आचरण करता है । इस प्रकार निश्चय कर जिह्वा इन्द्रिय को वश मे करके अपने ऊपर दया करने के लिये समस्त जीव सहित वस्तु (वनस्पति या जलादि) को विष के समान जान कर त्याग देवे । हरित-काय वनस्पति जो वृक्ष से तोडी हुई है या काटी हुई, बनारी हुई है, उस हरित काय नाम वनस्पति मे अनन्त जीवो की सभावना बहु ज्ञानियो ने बतलाई है। यह वनस्पति सकल पाप के बन्ध को करने की खान, महा पाप के सग्रह की एक मोह पाश, अनन्त जीवोके घात रूप ससार को बढाने वाली है इस हरित काय वनस्पति के दो भेद है । जैसे साधारण और प्रत्येक जिसमे साधारण तो कार्य मे नही आती प्रत्येक के दो भेद है । १ सप्रतिष्ठित २ अप्रतिष्ठित । जिस एक शरीर का स्वामी एक हो वह तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक है । और जिस शरीर के आधार मे असख्यात तथा अनन्त जोव रहे वह सप्रतिष्ठित है ऐसा समझ कर उसकी दया पाले वही दया मूर्त्ति श्रावक कहलाता है । **दृष्टान्त द्वारा सचित्त विचार** — पद्मपुराण के ६४ वे पर्व मे बताया गया है मेघकूटपुर का राजा द्रोणमेघ था उसकी अनग-कुसुमा नाम की पुत्री को एक विद्याधर हर कर लेगया । कारण पाकर वह उस कन्या को एक ऐसे अरण्य (जगल) मे छोड गया जिसकी खबर उसके पिता चक्रवर्ती को तीन हजार वर्ष तक भी नही मिली । तब उस कन्या ने अपने जीवन की आशा छोड कर ऐसा घोर तप किया कि उस अरण्य मे सूखे फल और पत्र खाकर तीन हजार वर्ष तप किया, अन्त मे समाधिमरण कर वह राजा द्रोणमेघ के विशल्या नाम की सुपुत्री हुई, जो कदाचित् हरित काय मे तोडने पर जीव नही रहते तो वह सूखे फल और पत्र भक्षण करके क्यो तप करती ? इससे यह ही सिद्ध होता है कि हरित काय को तोडने मरोडने काटने पर भी जीवो का सम्बन्ध नही मिटता है । पद्मपुराण नामा ग्रन्थ से त्रिलोक मण्डन हाथी का कथा-नक भी उद्धृत करते है । भरत को त्रिलोक मण्डन हाथी को देख कर जातिस्मरण होगया, उसने श्रावक के व्रत धारण कर लिये तथा वह शुष्क पत्र और डोला हुआ पानी ही ग्रहण करने लगा । जो हरे पत्तो मे टूटने पर जीव राशि न होती तो वह तिर्यञ्च हरे पत्तो को छोड कर शुष्क पत्र क्यो खाता ? इससे यही ज्ञात होता है कि वनस्पति तोडी हुई और बिना तोडी हुई सब जीव सहित है । कहा तक दृष्टात दिया जावे वनस्पति मे एकेन्द्रिय स्थावर जीव है ही । **अष्टम्यादि पर्व के दिनो मे हरित का त्याग** —इस हरितकाय के सम्बन्ध मे लोक व्यवहार मे जैनियो के वास्ते इस प्रकार की न मालूम कितने काल से रीति

चली आई है कि आज जैनियों के अष्टमी और चतुर्दशी नाम की तिथियां पर्व रूप मानी जाती हैं। इस दिन जैन लोग प्राण जाते हुए भी हरित, शाक, तरकारी, भाजी, पाला आदिक भक्षण नही करते। इससे राज दरबार मे पच-पचायत मे इस प्रकार के आचरण मे लोक कितनी उच्चता की दृष्टि से देखे जाते थे। और ऐसे जैनियो की जाति की, पूर्व मे सत्यता समझते थे कि जैनी लोग इन पर्व तिथियो मे एकेन्द्रिय जीव को भी नही सताते हैं तो फिर दोइन्द्रिय आदि पञ्चेन्द्रिय जीवो को कैसे सतावेगे ? ऐसी ससार भर के प्राणियों में जैनियो के प्रति श्रद्धा थी। किन्तु आज कल के संयमियो तक मे भी कतिपय पुरुषो मे ऐसी शिथिलाचारिता आगई है कि जो अपनी जिह्वाइन्द्रिय की लोलुपता मे आकर सभा मे ऐसा उपदेश देने लग गये है कि वृक्ष से फल पुष्प तोड लिये गये पश्चात् हरित मे जीव नही है। इस उपदेश को सुन कर लोगों मे जो पचासो वर्ष से जिनके त्याग व्रत था उन लोगों ने ऐसे वेष धारी मुनियो के वचनो को सुनकर व्रत त्याग तोड दिया। उन वेषधारी त्यागियो ने गृहस्थो के त्याग को पूर्ण रीति से प्रयत्न कर तुड़वा दिया। और ऊपर से ऐसी साक्षी दी कि इसमें जितना भी दूषण पाप होगा सो हमारे सिर पर है इस प्रकार सुदृढ वचनो से गृहस्थ लोगो ने ऐसे वेषधारी मुनियो को सच्चे मुनि समझ कर जो धर्म रूपी त्याग मर्यादा थी वो सब तोड़दी।

अभक्ष्य वनस्पति —

प्रश्न—शास्त्रो मे इस प्रकार का लेख मिलता है कि निम्न लिखित वस्तुएं अभक्ष्य है ? सो इनका स्पष्टीकरण कीजियेगा। १ तरबूज (मतीरा) २ कोहला (काशीफल-कुमडा-कद्दू) ३. सोडावाटर (लेमन) ४ बिस्कुट ५ गढेलू (लोकी, केदार, तुमडी, घीया) ६ वाजरी के सिट्टे ७ जुवार के भुट्टे ८ पत्ती का शाक ९. सेम १०. भिण्डी ११. पाल के आम १२ मक्की के भुट्टे (पत्ते रख कर सिके हुए) १३ वेर मकोए १४. जामुन १५. अचार १६ मिर्ची मिश्रित कोहला आदि का रायता १७ कलोंजी या हल्दी मिश्रित आचार।

उत्तर—१ तरबूज को केवल प० आशाधरजी ने जो कि पीत और लाल वर्ण का है परिणामो में घृणित विकल्पो के आने के कारण अभक्ष्य बताया है। श्वेत के विषय मे कोई निषेध नही किया है। २ कोहला अत्यन्त उष्ण है अत सफेद धव्वे की सम्भावना से तथा बडे फल को पूर्ण न खाने के कारण से प्रति दिन सडते रहने के कारण अभक्ष्य कहा है। वस्तुत खटाई डाल कर साग बना कर खाया जावे तो कोई दोष नही है ऐसा रसायन सार वैद्यक की पुस्तक मे लिखा है। ३-४ सोड़ावाटर- बिस्कुट (चाय दूध पानी-भोजन आदि भी जो कि होटल आदि मे मिलते है) तथा स्टेशन पर खोमचे आदि के पदार्थ है ये भी सब शुद्ध रीति से न बनाये जाने से अभक्ष्य हैं। इनके खाने से लौकिक निंदा तथा कर्म बन्ध भी होता है अत त्याज्य हैं। ५ लोकी के गूदे मे रूखापन है अत

अभक्ष्य है। ६-७ वाजरी तथा जुवार के सिट्टों पर सेकते समय चतुरिन्द्रिय जीव चलते फिरते और उडते दृष्टिगत होते है। उनके सेकने मे बहु संख्यक त्रस जीवो का घात होता है अत त्याज्य एव अभक्ष्य है। ८. पत्ती के शाक के विषय मे चतुर्मास मे सर्वथा अभक्ष्य माना है, प० आशाधरजी ने तथा क्रिया कोष मे भी अभक्ष्य लिखा है, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार मे अभक्ष्य कहा है, किन्तु जिसका पत्ता जाडा हो उसे अभक्ष्य कहा है जैसे पालक, लूणिया, मूली के पत्ते, थूवर के पत्ते, पोदीने के पत्ते आदि। जाडे पत्ते होने के निमित्त से चलते फिरते जीवो का सम्बन्ध रहता है। अत· दयामयी जैनो को त्याज्य ही है। ९-१० सेम और भिण्डी सचिक्कण तथा पौष्टिक है इसके आश्रित कोई जीव हो तो मर सकता है, अतः खूब सोध कर खा सकते है। ११ आम पाले मे विशेष गर्मी देकर जो पकाये जाते हैं उनमे गर्मी तथा वर्षात के कारण अनेक जीवो की उत्पत्ति हो जाती है अत अभक्ष्य है। १२ पत्ते रख कर सिके हुए मक्का के भुट्टो मे जीव हिसा होती है। अत पत्तो से सिके भुट्टे अभक्ष्य हैं। १३-१४-१५. वोर-मकोए-जामुन आचार ये पदार्थ भी अनन्त जीवो के पिण्ड रूप होने से अभक्ष्य है। १६. मिर्च के बीज दो फड़े होते है अत दही के साथ विदल हो जाता है अत वह रायता आदि अभक्ष्य है १७ आचार मे कलोजी और हरी हल्दी डालने से अभक्ष्यता आजाती है और अनन्त जीवो की भी उत्पत्ति हो जाती है। अत अभक्ष्य है। **प्रश्न**—पर्वणी मे (अष्टमी—चतुर्दशी) हरित वस्तु क्यो नही खाते ? उत्तर— जैन धर्माचार्यो ने इस पर्वणी के विषय मे जो महत्व बतलाया है उसको बतलाते हैं-

—: अष्टम्यादी पर्व का महत्व :— प्र श्रा अ १६

य पर्वण्ययुपवास हि विधत्ते भावपूर्वक। नाकराज्यं च संप्राप्य मुक्तिनारी वरीष्यति २७॥
प्रोषध नियमेनैव चतुर्दश्या करोति यः। चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् २८॥

अर्थ—जो पुरुष पर्व के दिनो मे भाव पूर्वक उपवास धारण करते है, वे स्वग के राज्य का उपभोग करके अन्त मे अवश्य मुक्ति रूप स्त्री के स्वामी होते है। जो चतुर्दशी के दिन नियम पूर्वक प्रोषधोपवास करता है वह चौदह गुण स्थानो को पारकर मोक्ष मे जा विराजमान होता है। प्रश्नो श्रा अ. १६

अष्टम्यामुपवास हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमा। हत्वा कर्माष्टक तेऽपि यान्ति मुक्ति सुदृष्टय ३३॥
अष्टमे दिवसे सारे य कुर्वत्प्रोषधं वरम्। इन्द्रराज्यपदं प्राप्य, क्रमाद्याति स निर्वृतिम् ३४॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि उत्तम पुरुष अष्टमी के दिन उपवास करते है, वे आठो कर्मो को नष्ट कर मोक्ष मे जा विराजमान होते है। अष्टमी का दिन सबमे सार भूत है, उस दिन जो उत्तम प्रोषधोपवास करता है, वह इन्द्र का साम्राज्य पाकर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करता है। इन अष्टमी और चतुर्दशी पर्वो का माहात्म्य शास्त्रकारो ने वहुत ही महत्वपूर्ण

बताया है और भी वैसा ही। अगर ऐसा नही होता तो जैनाचार्य में शास्त्रों में कदापि नहीं कहते। इनसे यह ही सिद्ध होता है गृहस्थो को सदा पर्वो मे उपवास ही करना चाहिये।

प्रश्न—जब जैनाचार्यो ने अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करना ही गृहस्थो के लिए कहा है किन्तु ये लोग उपवास करने मे दुर्बलता दिखाकर अष्टमी और चतुर्दशी को हरितकाय का परित्याग करने लग गये, फिर उसको भी इन्होने क्यो छोड दिया ?

उत्तर—गृहस्थो ने यह जो उपवास करना छोड़ दिया वह अपनी नासमझी से छोडा किन्तु उसके बदले मे पर्वणी मे हरितकाय का परित्याग किया यह भी अच्छी ही बात थी, उसके करने मे भी इनकी कीर्त्ति थी कि जैन पर्वणी मे एकेन्द्रिय जीव तक को नही सताते है। इससे इनकी जैनेतर समाजपर छाप थी किन्तु आजकल जैनों मे बहुतसे ऐसे लोग हो गये, जो कहने लग गये कि अष्टमी और चतुर्दशी से प्रथम तो हरित में जीव नही था अष्टमी और चतुर्दशी मे कहा से आगये। उनको यह पता नही है कि भगवान् आदीश्वर ने क्या उपदेश दिया है—— (आदिनाथ पुराण पर्व ३८)

हरितैरंकुरै पुष्पै फलैश्चाकीर्णमङ्गरण। सम्राडवोकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ॥११॥

अर्थ—यहा भरत ने उन सब आये हुए जैनो की परीक्षा करने के लिये अपने घर मे आगन को हरे अकुरे पुष्प और फलो से खूब भर दिया। (आदि पु. प. ३८)

ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थमीहमाना महान्वया। नैषु प्रवेशनं तावद्यावदार्द्रांकुरा पथि ॥१३॥

अर्थ—वह बड े २ कुलो मे उत्पन्न हुए और अपने व्रतो की सिद्धि की पूर्ण रूप से चेष्टा करते हुए जब तक मार्ग मे हरे अंकुरे थे तब तक उन्होने उसमे प्रवेश करने की चेष्टा नही की। (आदि ५, ३८)

सधान्यैर्हरितै कोर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणं। निश्चक्रमु कृपालुत्वात् केचित् सावद्यभीरव ।१४।
प्रवालपत्रपुष्पादे पर्वणिव्यपरोपण। न कल्पते ऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम् ।१७।

अर्थ—पापो से डरने वाले कितने ही दयालु लोग जो राजा का आगन हरेधान्यो से भरा हुवा था, उसे बिना उल्लघन किये ही वापिस लौटने लगे। तब फिर अत्यन्त आग्रह करने पर दूसरे प्रासुक मार्ग से राजा के आगन को उलघ कर चक्रवर्ती के पास पहुंचे तब चक्रवर्त्ती ने उनसे पूछा कि आप लोग किस कारण से पहले नही आये थे। तब वे चक्रवती से बोले कि आज पर्व के दिन (अष्टमी या चतुर्दशी मे) नये कोमल पत्ते और पुष्पादिको का घात नही कर सकते और अपना कुछ बिगाड़ नही करने वाले ऐसे पत्ते फूलो मे उत्पन्न हुए जीवो का घात नही कर सकते। (आदि ५, ३८)

सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु। निगोता इति सार्वज्ञ देवास्माभि श्रुत वच ।१८।
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमद्यत्वेत्वद्गृहाङ्गणं। कृतोपहारमार्द्रार्द्रै फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ।१९।

अर्थ—हे देव ! अंकुरे आदि हरितकाय में निगोद राशि के अनन्त जीव रहते हैं, इस प्रकार सर्वज्ञदेव के वचन हमने सुने है इसलिये अत्यन्त गीले ऐसे फल पुष्प और अकुरे आदि से सुशोभित ऐसा आपके घर का आंगन आज हम लोगो ने नही खूदा अर्थात् उसके ऊपर होकर हम लोग नही आये। इस प्रकार जैन धर्म के आदर्श रूप भगवान् परमदेव आदिनाथ स्वामी के वचन है कि जब तक हरितकाय मे गीलापन है तब तक वह सचित्त (सजीव) है। इसलिये जैनो को चाहिए कि पूर्वजो के वचनो को आदर्श दृष्टि से देखकर तदनुकूल आचरण करे और उनकी आज्ञा का उल्लंघन न कर शिथिलाचारी एव पापी न बने, जिससे धर्म के बदले अधर्म न हो। **प्रश्न**–इन बातो मे जो सिद्धान्तो मे बताई है, इतना परिवर्त्तन इतने से वर्षों में ही नही हुआ है। सुनते है कि पंचमकाल का आधा समय व्यतीत हो चुका तब इतनी विपरीतता फैली है–यह कहा तक ठीक है ? और हरी शाक तथा वनस्पति के खाने से ऐसी कौनसी हानि होगई है जिससे आप इतना कह रहे है ? **उत्तर**–अष्टमी और चतुर्दशी को जो जैन लोग हरित वनस्पति आदि खाने लगे है उससे बडी भारी हानि हुई है। प्रथम तो हानि यह हुई है कि जैन समाज को जो अन्य समाज दयालु और सत्यवादी समझता था अब प्रतिज्ञा तोडने से वे लोग उसे असत्यवादी तथा दयाविहीन समझने लगे है। दूसरी सिद्धात दृष्टि से यह हानि है कि जो एक माह मे कम से कम ४ दिन सयम पल जाता था वह नही पलता, पुण्य लाभ के बदले पाप ही होता है और आज कल पचम काल के माहात्म्य से जो सयमी साधु कहलाते है वे ही असयमी हैं जो सयम से लोगो को च्युत करके स्वय भी संयम च्युत होते है। अधिक क्या लिखें ? यह पचम काल का माहात्म्य है कि सिद्धात विपरीत सयम तुडाने के आचरण करने वाले भी सयमी माने जाते है तथा जैन लोग फिर भी उनके भक्त ही बने हुए है। **प्रश्न**—इस पचम काल ने साधुओ को भी इतना क्यो ग्रसित कर लिया ! सुनते है कि अभी तो पंचमकाल के २५०० वर्ष भी पूरे नही हुए है ! **उत्तर**–तुम्हारा कहना ठीक है ! परन्तु सिद्धान्त ही यह बताता है कि इस पंचम काल मे जो महात्मा पुरुष कहलाने वाले है वे ही विपरीत आचरण करेगे इसके प्रमाण मे राजा चन्द्रगुप्त मौर्य ने जो १५वां स्वप्न देखा था तथा भद्रबाहु स्वामी ने उसका फल सुनाया था वह नीचे लिखा जाता है—

'राशिरत्न ढकी पाशु से, याको मुनिवर अर्थ बताय, यतिवर झगडा करे परस्पर, महानीति मार्ग ठहराय। तो यह बात कैसे असत्य हो सकती थी !

—: चौका (भोजनालय) सम्बन्धी विचार :—

वर्त्तमान मे चौके के सम्बन्ध मे बहुत गडबडी फैली हुई है। शुद्धाशुद्धि का वास्तविक ज्ञान न होने से बहुतो ने तो चौके की शुद्धता के विचार को ही उठा दिया है और

बहुतो ने अनावश्यक पोगापंथी अपना रखी है। व्यर्थ के आडम्बरों से भी लोग चौके की बात को बकवाद सी समझने लग गये है। ठीक यह है कि हम शुद्धाशुद्धि का सही विचार करे और शास्त्रानुकूल आचरण करे। चौके से स्वास्थ्य का घनिष्ट सम्बन्ध है और शास्त्रो मे स्वास्थ्य की दृष्टि को रखते हुए पूर्ण विचार किया है। उसके अनुकूल आचरण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। यहां संक्षिप्त सा विवेचन किया जारहा है।

चौका—जहा पर शुद्धता पूर्वक निर्विघ्न रूप से रसोई बनाई जासके उसका नाम 'चौका' है। इस चौके मे आचार शास्त्र के अनुसार १ द्रव्यशुद्धि २ क्षेत्रशुद्धि ३ कालशुद्धि और ४ भाव शुद्धि की आवश्यकता है चारों शुद्धियो की स्थिति में चौका वास्तविक चौका है अन्यथा नही। १ **द्रव्य शुद्धि**—जितनी वस्तुएँ भोजन सामग्री की चौके में लेजाई जावे उन्हे अपने हाथ से लाये हुए शुद्ध जल से धो लेना चाहिये और पहनने के कपडे भी शुद्ध होने चाहिये। बिना धुली हुई चीज चौके मे नही लेजानी चाहिये तथा अनाज नमक, हल्दी धनिया, मिर्च, दाल, दिन का पिसा हुआ आटा, बेसन, मर्यादा युक्त मसाला, पापड, मगोडी शाक आदि सभी शुद्ध होने चाहिये। चूल्हे मे बीधी (घुनी) लकडी नही जलानी चाहिये। और कडे चौके मे नही लेजाने चाहिये। क्योकि गोबर शुद्ध नही होता है। वह केवल बाह्य शुद्धि मे काम दे सकता है परन्तु रसोई में लेजाने योग्य नही है, अत आचार शास्त्र की दृष्टि से निषेध किया गया है और बीधी (घुनी) लकडियो के जलाने से त्रस जीवो की हिंसा जन्य महा पाप लगता है। साराश यह है कि भोजन शाला मे भोजन बनाने के लिये जो भी सामग्री काम मे लाई जावे वह सब श्रावक सम्प्रदाय के आचार शास्त्रानुकूल मर्यादित तथा शुद्ध होनी चाहिये। २. **क्षेत्र शुद्धि**—जहा पर रसोई बनाने का विचार हो वहा पर इन बातो का विचार होना आवश्यक है। १ रसोई घर मे चदोवा बन्धा हो। २ हड्डी, मास, चमडा, मृत प्राणी के शरीर, मल एवं मूत्रादि न हो। ३. नीच लोग वेश्या डोम आदि का आवास न हो। ४. लडाई झगडा, मारो काटो आदि शब्द न सुनाई पडते हो। तात्पर्य यह है कि रसोई के क्षेत्रमे सब प्रकार से देखभाल कर रसोई बनानी चाहिए। चौके मे बिना पैर धोये नही घुसना चाहिये क्योकि गली आदि मे मल, मूत्र आदि के पडे रहने से अपवित्रता आजाती है अर्थात् शारीरिक अशुद्धि हो जाती है इसलिये पैर धोने से बाह्य शुद्धि होती है तथा ऐसा होने से क्षेत्र भी (रसोई का स्थान भी) शुद्ध रहता है। रसोई घर मे अच्छा प्रकाश होना आवश्यक है क्योकि अन्धकार होने से स्पष्ट दिखाई नही पडता जीवो की उत्पत्ति विशेष होती है इसलिये दिन मे भी रात्रि भोजन का दोष लगता है एवं चौके की भूमि गोबर से न लीपी जावे, इसका ध्यान रखना चाहिये प्राचीन आचार्यों ने श्रावको को गोबर से चौका लीपना नही बताया है कहा भी है— (पद्म पु ४३)

चन्दनादिभिरालिप्ते, भूतले दर्पणप्रभे । पुष्पोपकारसम्पन्ने, नलिनीपत्रशोभिनि ।। १३३ ।।

भावार्थ—जब रावण सीताजी को हर कर लेगया तब लका मे सीताजी ने पति के समाचार सुनने पर्यन्त, अन्न जल का त्याग कर दिया, पश्चात् जब उन्हे हनुमानजी के द्वारा रामचन्द्रजी की खबर मिली, तब उसने लका के महेन्द्रोदय उद्यान के मध्यगत चौके में रसोई बनाई, उस समय उसने चौके को चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यो के जल से लीपा एव शुद्ध किया । इससे यह बात प्रमाणित होती है कि श्रावक लोग चौके को गोबर से कदापि न लीपे । इसी प्रकार त्रिवर्णाचार मे तो यहा तक लिखा है कि जहा पर गोबर पडा हो, वहा पर मुनि कदापि भोजन नही करे । रसोई यदि चौडे मैदान मे बनाई जावे तो वहा पर चदोवे की आवश्यकता नही है किन्तु जहा पर वृक्ष की छाया या मकान हो वहा पर चदोवा अवश्य होना चाहिये, ऐसी आचार शास्त्र की आज्ञा है । चौके की मर्यादा होनी चाहिये । बिना मर्यादा का चौका नही हो सकता । अत चौके के प्रमाण का होना आवश्यक है । **३. काल शुद्धि**—जबसे सूर्योदय हो और अस्त न हो, तब तक अर्थात् सूर्योदय के दो घडी ४८ मिनट बाद और सूर्य डूबने से २ घडी पहिले का समय का काल शुद्धि है । यही बात गृहस्थो के लिये उपयोगी है । रात्रि मे भोजन सम्बन्धी कोई कार्य नही करना चाहिये । जिससे जीवो का घात या उनको बाधा न पहुचे । दूध दुहाना, गर्म करना, कूटना, पीसना, छाछ बिलोना, पानी भरना आदि आरभ जनित कार्य कदापि नही करना चाहिये । **४. भाव शुद्धि**—भोजन बनाते समय परिणाम सक्लेश रूप, आर्त्त रौद्ररूप नही होने चाहिये, क्योकि भोजन बनाते समय यदि इस प्रकार सक्लेश परिणाम रहेगे, तो उस भोजन से न तो शारीरिक शक्ति की वृद्धि होगी, और न आत्मा की शक्ति ही, बल्कि उल्टा असर आत्मा पर पडेगा, एव जिन स्त्री पुरुषो के ससर्ग से आत्मिक परिणाम मलिन या सक्लेश रूप होते है उनके ससर्ग का त्याग कर देना चाहिये । कहा भी है—

दीपो भक्षयते ध्वान्त, कज्जलं च प्रसूयते । यदन्नं भक्षयेन्नित्य तादृशी जायते च धी ।१।

अर्थ—जैसे दीपक अन्धकार को खाता है, और कज्जल को उत्पन्न करता है उसी प्रकार जैसा अन्न खाया जाता है, उसी प्रकार की बुद्धि हो जाती है । **भावार्थ**—जैसे दीपक अन्धकार को खाता है, और कज्जल को उत्पन्न करता है उसी प्रकार जैसा जिसका खाद्य होता है, उसको तदनुकूल ही फल होता है । जब दीपक जलता है, तव प्रकाश होने से अन्धकार उससे भक्षित हो जाता है अत उसने पहिले अन्धकार को खा लिया था । फिर वैसा ही उसने काजल उगल दिया । सार यह निकलता है कि जैसा अन्न खाया जाता है वैसा फल होता है । लोक मे भी प्रसिद्ध है कि —

"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन्न । जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी ।। १ ।।"

इससे स्पष्ट है कि यदि भोजन में विकृत खोटे परिणाम वाले और खोटे संस्कार वान् पुरुषो का संसर्ग सोजावे, तो उस भोजन का प्रभाव आत्मा पर अवश्य पड़ता है इसी कारण शास्त्रकारो ने भाव शुद्धि का उल्लेख किया है। वर्षा ऋतु मे गुड, खारक, दाख, पिण्ड खजूर आदि में त्रस कायिक जीवो की विशेष उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त और भी जिन वस्तुओ में जाले पड़ गये हो, उनको भी अभक्ष्य माना है क्योकि इसमे त्रस जीव राशि उत्पन्न हो जाती है। इसलिये इनके भक्षण से महान् हिंसा का पाप लगता है।

—: वस्त्र शुद्धि :—

सिद्धान्त सार प्रदीप के ५वे अध्याय के श्लोक न० ३१ मे अर्हन्त भगवान् की पूजा के प्रकरण मे वस्त्र के विषय मे निम्न प्रकार विवेचन किया है :—

चौके के अन्दर गीले कपडे नही लेजाने चाहिये। क्योकि आचार्यो ने उनको चमड़े के समान बताया है। उनमें शरीर की गर्मी तथा बाहर की हवा की सर्दी लगने से अन्तर्मुहूर्त्त मे अनन्त समूर्छन निगोदिया जीव उत्पन्न होते रहते हैं और वे श्वास के १८वे भाग मे उत्पन्न होकर मरते है; अत. अधिक हिंसा का पाप लगता है। इस कारण चौके मे कभी गीला कपडा पहन कर नही जाना चाहिये। इसी प्रकार विलायनी रग से रगा हुआ कपडा भी चौके मे नही पहनना चाहिये कारण कि रग अपवित्र है, परन्तु केशर हल्दी दाडिम के रग से रगा हुआ कपडा चौके मे लेजाने का निषेध नही है। केसूला के पुष्प से भी रग सकते है। सार यह है कि वस्त्र शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए।

—: टूँटी के जल का निषेध :—

जिस टूँटी से अन्य लोग पानी भरते या पीते है, उसीसे हमे भी पानी पीना या भरना पड़ता है। नल के पानी मे अनन्त काय जीवो का कलेवर होने से वह चलित रस भी हो जाता है, क्योकि नल मे चढते समय पानी ठडा और गर्म दोनो रूप से रहता है। इसलिये ठडे और गर्म मे मिश्रित रहने के कारण जीवोत्पत्ति मानी गई है। यही कारण है कि नल के जल का त्याग कराया जाता है। इसलिये ऐसा अपवित्र जल चौके मे ले जाने के अयोग्य है। इस जल का उपयोग आचार शास्त्र के प्रतिकूल होने के कारण पाप बन्ध का कारण है। नदी, तालाव, कुआ, झरना, सोते का जल पीने योग्य है, क्योकि उसकी जीवानी वापिस भेजी जा सकती है। जिस जलमे गन्ध आने लगे वह जल पीने योग्य नही है। यदि दुर्गन्ध आने लगे तो समझ लेना चाहिये कि उसमे जीवोका कलेवर सड़ गया है। खुले जलाशयो मे पत्ते आदि गिरने से त्रस जीवो की उत्पत्ति मानी जाती है, अतएव दुर्गन्ध रहित, साफ एव छना हुआ प्रासुक जल काम मे लाना चाहिये। प्राकृतिक रूप से मिलने वाला जल ही पेय है। नल की टूटी मे बधा हुआ पानी आता है, उसकी प्राकृतिकता

नष्ट हो जाती है । पराधीनता तो रहती ही है । टूँटी के जल मे और भी बहुत से दोष हैं । टूंटीके जल को लोग छानते है, वह कैसे छानते है टूटी के मुँह से कपडे की थैली को बांध देते है । पानी तो छान लेते है लेकिन उसकी जिवाणी होती नही है और थैली मे जो जीव रहते है वे थैली के सूख जाने पर सबके सब जीव थैली मे मर जाते है । अनन्त जल काय के त्रस जीवो का घात होता है और भी दोष घर मे नल लग जाने के बाद स्नान करने मे, कपडा धोने मे, आँगन के धोने मे जहा एक बालटी से काम चल सकता है वहा पर दस बालटी जल की ढोलते है, ऐसे प्रमाद से बिना यत्नाचार के बडा भारी पाप कमाते है तथा नल मे चमडे का वासर भी लगता है, चमडे से पानी छनकर आता है । इन सब बातो को सोचकर श्रावक नल के पानी का त्याग करे ।

—: कण्डे :—

गोबर के छाणे चौके मे ले जाने योग्य नही है क्योकि यह गाय भैस आदि तिर्यंचो का मल है । यद्यपि श्री अकलङ्क देव ने राजवार्तिक मे तथा प० सदासुखदासजी ने रत्न-करण्ड श्रावकाचार की भाषा टीका मे गोबर को अष्ट प्रकार की लौकिक शुद्धि मे निरूपण किया है, किन्तु यहा आचार शास्त्र के अनुकूल शुद्ध भोजन का सम्बन्ध लोकोत्तर शुद्धि मे है और गोबर लोकोत्तर शुद्धि का घातक है। क्योकि प्रथम तो यह तिर्यचोका मल है दूसरे इससे बने हुए कण्डो छाणो मे, अनेक त्रस राशि उत्पन्न होती है इसलिये महान् हिंसा होती है; अतएव इससे बने छाणे, रसोई आदि बनाने के उपयोग मे नही लाने चाहिये । न इन्हे चौके मे लेजाना चाहिये । गोबर से शुद्धि मानना लोकरूढि है और लोकरूढि मे धर्म नही होता । आयुर्वेद मे कहा है कि जमीन को गोबर से लीपने पर ९ इंच तक के जीव उस खार मे मर जाते है, ऐसा होने से वहा पर रहने वाले मनुष्यादि नीरोग रहते हैं । इसी कारण कतिपय जैनाचार्यो ने भी गोबर को लौकिक शुद्धि मे स्थान दिया है । जमीन पर पानी फेरकर या मर्यादा की लाईन लगाने मात्र से चौका बनगया, यह बात नही है, परन्तु द्रव्य शुद्धि और क्षेत्र शुद्धि का पूरा विचार रखना चाहिये । बिना इन दोनो शुद्धियो के चौके की शुद्धि नही हो सकती । इसलिये जब कि कण्डो मे अनेक त्रस जीव उत्पन्न होते है तब उनको रसोई के काम मे लाना महान् हिंसा व पाप बन्ध का कारण है, इसलिये गोबर के छाणे चौके मे नही लाने चाहिये । गोबर को जलाने के काम मे लेना, खेत मे खाद [illegible] करना भी है ।

—: सचित्त को प्रासुक करने की विधि —

सुक्क पक्कं तत्तं अविललवणेहि मिस्सियं दव्वं । जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ।१।

अर्थ—सुक्कं-सुखाया गया, पक्क कहिये अग्नि से पकाया हुआ, [illegible] गर्म किया हुआ-जल, दूध आदि द्रव्य, नमक और खटाई से मिला हुआ [illegible]

किया हुआ हरित काय प्रासुक है । गन्ने का रस यन्त्र से निकालने पर प्रासुक होजाता है । ऐसे ही अन्य पदार्थो को भी समझना चाहिये । और भी कहा है—

नीरन्तु प्रासुकं ग्राह्यं, मुनिभि शुद्धमेवतत् । षष्ट्यंश स्थापयेद् द्रव्यं, प्रासुकं च जिनोदितम् ।१।

अर्थ—जल को प्रासुक करने की विधि यह है कि हरड, आवला, लोग या तिक्त द्रव्यो को जल प्रमाण से ६० वे भाग मिलाना चाहिये, ऐसा प्रासुक जल मुनियो के ग्रहण करने योग्य है । यदि इससे कम द्रव्य मिलाया जावे, तो वह जल प्रासुक नही होगा, यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए । ककडी, खरबूजा, आम, नाशपाती, सेवादि को जो प्रासुक किया जावे तो सबको दाख बराबर गट्टे कर अग्नि पर तपा लेने चाहिए । ध्यान मे रखना चाहिए कि गट्टो को नमक, मिर्च, मसाला मिला कर यदि अग्नि मे तप्त नही किया जावेगा अथवा पत्थर आदि से एवं यत्र से नही पीसा जावेगा तो वह प्रासुक नही होवेगे ।

* घोरबड़ा *

जिन पदार्थो को पहिले घोर (चलितरस) बना कर माल (पक्वान्न) बनाया जाता है, उसे घोर कहते हैं । इस वस्तु मे अनेक त्रस जीव उत्पन्न होकर विनाश को प्राप्त होते है, इसलिये दयालु श्रावक को इसका त्याग करना अत्यावश्यक है । यहा पर जलेबी के उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण किया जाता है जलेबी मैदा को गला कर बनाई जाती है । उसका जब घोर उठ कर तैयार होगा, तभी जलेबी बन सकेगी, अन्यथा नही । वह घोर क्या चीज है इसे सोचना चाहिये । जब जलेबी बनाने की इच्छा होती है, तब मैदा को किसी बरतन मे गला देते है । वह मैदा जब गल जाती है तब उसमे चिकनापन तथा खट्टापन आ जाता है, तभी स्वादिष्ट जलेबी बन पाती है । अत उसमे खट्टापन तो मैदा के सडने से और चिकनापन जीवो की उत्पत्ति होने से मैदा लथ पथ हो जाती है, और जब जलेबी बनाते है तब उस मैदा को गर्म २ घृत मे कडाही के अन्दर छोड कर बनाते है । उसमे अनेक त्रस जीव (किटाणु) पैदा हो जाते है । वे कडाही मे डालते ही मर जाते है । प्रत्यक्ष मे हलवाई की दुकान पर सडी हुई मैदा को देख सकते हो । उस मैदा मे से एक तोला मैदा निकाल कर एक मल मल के टुकडे पर रखकर, पानी डालना चाहिए जिससे तुमको उस कपडे पर चलते फिरते सफेद जीव नजर आवेगे । इनको प्रत्यक्ष मे देख कर भी जिह्वा के वशीभूत होकर खाने के लोभ से महान् जीव हिंसा का सपर्क मिला कर कार्य करते हो जिससे महान् पाप का वन्ध होता है और ऐसा होने से जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत जीव, चतुर्गति रूप संसार मे परिभ्रमण कर अनन्तानन्त काल तक दु ख उठाते है, अत ऐसे (जिनमे त्रस जीवो की उत्पत्ति और विनाश होता है ऐसे जलेबी आदि) पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए, जिससे भयानक दुर्गति के कष्ट न उठाने पडे । अत निकृष्ट चीज को त्याग कर,

अहिंसा धर्म के पालक बनना चाहिए ।

※ द्विदल ※

गोरसेन तु दुग्धेन, दध्ना तक्रेण सूरिभि. । द्विदलान्नं सुसम्पृक्तं, काष्टं द्विदलमुच्यते ।।१।।
द्विदलभक्षणं ज्ञेय, मिहानुत्र च दोषकृत् । यतो जिह्वायुते तस्मिन् जायन्ते त्रसराशय ।।२।।
पाक्षिकै श्रावकैर्नूनं, हातव्यं द्विदलं सदा । यद्भक्षणे फल तुच्छ, मपापं भूरिदु खकृत् ।।३।।

—: इन्द्रवज्रावृत्तम् —

आमेन पक्वेन च गोरसेन, मुद्गादियुक्तं द्विदल सुकाष्टम् ।
जिह्वायुत स्यात्त्रसजीवराशि सम्मूर्छिमानश्यति नात्र चित्रम् ।।४।।

अर्थ—जिन पदार्थो का (अनाज या काष्ट) की दाले फाडे होती हो ऐसे अन्न को (मू ग, उडद, चना, मटर, चमरा (चोला), कुलथी, आदि अन्न) या काष्ट को (मेथीदाणा, खाने की लाल मिर्च के बीज, तथा भिण्डी, तुरई, आदि के बीजो को) दूध, दही, और छाछ मट्ठा से मिश्रित करना आचार्यो ने द्विदल कहा है ।।१।। उक्त द्विदल का जीभ के साथ सम्बन्ध होने पर त्रस जीव पैदा होते हैं और नष्ट होते है । इसलिये त्रस हिंसा का इसमें महान् पाप होने से इसको खाने वाला प्राणी इस लोक तथा परलोक मे दु ख उठाता है ।२। इसलिये पाक्षिक श्रावक को द्विदल खाना सदा छोड़ देना चाहिए क्योकि इसके खाने से जरा सा जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद का ही लाभ है किन्तु त्रस हिसा होने के कारण महान् दुःख उठाने पडते है ।।३।। गोरस चाहे कच्चा हो या पक्का हो उसके साथ मे जिन अनाजो या बीजो (वनस्पति काय के बीजो) की दो दाल हो, उनको मिला कर भक्षण करने में त्रस जीवो की हिंसा का भागी होकर अनेक प्रकार के दु ख इस भव मे तथा पर भव मे उठाने पडते है । ऐसा सिद्धान्त का मन्तव्य है ।।४।।

भावार्थ—काष्टद्विदल, जिनमे तेल वा घी नही निकलता ऐसे मेथी दाणा, लाल-मिर्च के बीज आदि पदार्थ भिडी, तुरैया, ककडी, खरबूजे आदि के बीजो को गोरस–दूध, दही और छाछ मे मिश्रित करने से होता है । गोरस चाहे कच्चा और पक्का क्यो न हो, तो भी द्विदल होता है । एव अन्न द्विदल जिन अनाजो की दो दाले–फाड़े होती हैं, ऐसे मू ग, उड़द, चना, मटर, चवला, कुलथी आदि को कच्चे या पक्के दूध, दही और छाछ मे मिश्रित करने से होता है । उक्त पकार के द्विदल को जिह्वा इन्द्रिय से सम्बन्ध करने पर तत्काल सम्मूर्छन पचेन्द्रिय जीव पैदा होकर मर जाते हैं । इसलिये इसके भक्षण मे त्रस-हिसा का महा पाप लगता है जो कि दुर्गति के दु.खो को देता है, इसलिये श्रावक को द्विदल अवश्य यावज्जीवन छोड देना चाहिये । अब हम आपको प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा द्विदल मे त्रसहिंसा का महान् पाप लगता है, यह बताते है । प्राय· बरसात अधिक होने पर यवन लोग

तीतर पालते है । तीतर का स्वभाव है कि वह किटाणुश्रो के सिवाय श्रन्य चीजे कम खाता श्रतएव वे लोग बरसात होने पर उसके खाने के लिये छाछ श्रौर वेसन की कडी बनाकर उस मे थूक देते है, फिर उसे जमीन पर डाल कर ढक देते है, पीछे उघाडने से वह तीतर उस द्विवदल मे से जीवो को उठाकर खालेता है । इसलिये गोरस चाहे कच्चा हो या पक्का, उसमे जिह्वा के साथ सम्बन्ध होने पर त्रस जीव उत्पन्न होते है । श्रौर उसके खाने में महान् त्रसहिंसा का पाप लगता है । यह बात ध्रुव सत्य समझ कर द्विवदल खाना छोड देना चाहिये । **प्रश्न**—श्रापका लिखना है कि गरम किये हुए श्रथवा कच्चे दूध से तैयार किये हुए छाछ या दही श्रथवा दूध से द्विवदल होता है, परन्तु शास्त्रो में तो हमने पढा है कि कच्चे दूध से या कच्चे दूध से जमे हुए दही या छाछ को द्विदल श्रन्न मे मिलाने से द्विदल होता है, न कि पक्के गोरस से । इसी की पुष्टि सागार धर्मामृत के पाचवे श्रध्याय के १८ वें श्लोक द्वारा होती है :— (सागार धर्मा श्र)

"श्रामगोरससंपृक्तं, द्विदल प्रायशोऽनवम् । वर्षास्वदलितं चात्र, पत्रशाकच नाहरेत् ॥१८॥

श्रर्थ—कच्चे दूध से मिला हुवा द्विदल दो फाडवाले श्रनाज एव कच्चे दूध से बनाये गये दही श्रौर मट्ठा से मिला हुश्रा द्विदल नही खाना चाहिये तथा पुराने द्विदल श्रौर वर्षा ऋतु मे बिना दलेहुए द्विदल नही खाने चाहिये । क्योकि श्राचार शास्त्र के प्रमाण से उनमे श्रनेक त्रस जीव पैदा हो जाते है । यहा पर 'गोरस' उपलक्षण है उसमे कच्चा श्रौर पक्का दोनो का समावेश है । परन्तु सागार धर्मामृत मे कच्चे गोरस से मिश्रित द्विदल श्रन्न खाने का निषेध है न कि पक्के का । फिर श्राप पक्के का निषेध कैसे करते हो ? **उत्तर**—उक्त प्रकार का प्रश्न करना योग्य है, क्योकि यह विषय विवादग्रस्त है इसलिये इसका निर्णय होना चाहिये, जिससे द्विवदल के त्यागी त्रस हिसा से बच सके, श्रत इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है––जैन धर्म के उपदेष्टा तीर्थङ्कर सर्वज्ञ प्रभु है, इसलिये उनके सिद्धान्तो मे किसी मे, किसी प्रकार का विरोध नही हो सकता, क्योकि उनके केवल ज्ञान मे समस्त त्रिकालवर्त्ती पदार्थ समस्त पर्यायो सहित, करतलामलकवत् प्रत्यक्ष झलकते हैं, फिर उसमे गडबडी किस प्रकार हो सकती है; परन्तु थोडे दिनो से जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत कतिपय व्यक्तियों ने श्रपनी बुद्धि के श्रनुसार शिथिलाचार प्रवर्तक शास्त्रो की रचना कर डाली है; श्रतः इन ग्रन्थो में विरोध की प्रतीति हो रही है । जो श्रार्ष ग्रन्थ है उनमे शिथिलाचार को रंचमात्र भी स्थान नही मिला है । गोरस चाहे पक्का हो या कच्चा, उसके साथ मे जिन पदार्थों की दो दाले होती है उनको मिलाने से तथा श्रपने मुख की लार के पडने से त्रस जीवराशि पैदा हो जाती है; इसको हमने तीतर के प्रत्यक्ष उदाहरण से स्पष्ट कर दिया है । श्रायुर्वेद के विद्वान् श्राचार्यो ने कहा है कि यदि इस प्रकार से भक्षण किया जावे, तो

महान् भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति होती है—— (रसायनसारदीपक)

"शीतोष्ण गोरसे युक्तमन्नसार्धद्विक फलं । तस्मात् भक्ष्यमाणे न रोगोत्पत्ति प्रजायते ।१।

अर्थ—जो शीत या उष्मा गोरस मे मिश्रित एक भी द्विदल का भोजन करता है उस पुरुष के रोग की उत्पत्ति हो जाती है । सागारधर्मामृत का कथन श्वेताम्बर ग्रन्थो से मिलता है । जैसे श्री जिनदत्तसूरि ने स्वरचित "सदेह दोहावली मे कहा है कि——

"उक्कालियम्मि तक्के विदलक्खे वेवि णत्थि तद्दोसो"

अर्थ—उकाली हुई–गरम की हुई छाछ से बने हुए द्विदल के खाने मे कोई दोष नही है; इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे श्री प्रबोधचन्द्र विरचित "विधिरत्नकरण्डिका" की पीठिका मे इस प्रकार कहा है कि——

"उत्कालितेऽग्निनाऽत्युष्णीकृते तक्रे गोरसे उपलक्षणाद् दध्यादौ च द्विदलं-मुद्गादिस्तस्य क्षेपो द्विदलक्षेपस्तस्मिन्नपि सति, किं पुन द्विदलभक्षणानन्तर प्रलेहादिपाने इत्यपरोऽर्थ नास्ति तद्दोषो द्विदलदोषो जीवविराधनारूप"

अर्थ—अग्नि से गर्म किये हुए गोरस दूध दही और छाछ मे मूंग वगैरह को दो दाल वाला अन्न मिलाने पर द्विदल का दोष नही होता—अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर त्रस जीवो की उत्पत्ति नही होती, अत इससे सिद्ध है कि सागार धर्मामृत का कथन श्वेताम्बर ग्रन्थो के अनुसार ही है । इसलिये यह कथन दिगम्बर धर्म के अनुकूल नही है । आर्षग्रन्थो से प्रतिकूल (विरुद्ध) है । इससे दिगम्बरो को मान्य नही है । जैन सिद्धान्त आचार शास्त्र के अनुसार गाय, भैस आदि के दुहते समय थन धोये जाना चाहिए । अन्यथा वह दुग्ध उच्छिष्ट होने के कारण अपेय है, क्योकि बछड़े के पीने के कारण थन जूठे रहते हैं । दूध को दुहने के बाद ४८ मिनट के भीतर २ छान कर गर्म कर लेना चाहिए । यदि अधिक देर हो जावे तो उस ठडे (बिना गरम किये हुए) दूध मे अनेक त्रस जीव राशि पैदा हो जाती है । सो वह अपेय ही है इसलिए वह दूध फिर गरम करने योग्य भी नही रहता । अत बिना गरम किया हुआ दुग्ध दो घडी के बाद त्रस जीव पैदा हो जाने से अपेय ही रहा । फिर उसका जमाया दही और छाछ अभक्ष्य एव अपेय ही है, तब उसमे द्विदल अन्न का मिश्रण करके खाना कैसे हो सकता है अर्थात् कभी भी भक्ष्य नही हो सकता । इसलिए सागार धर्मामृत का कथन अमान्य है । क्योकि अन्य आचार शास्त्रो से मिलान नही खाता । डाक्टर लोग भी कच्चे दूध मे दो घडी के बाद जीव राशि की उत्पत्ति मानते है । अतः उस कच्चे दूध एव उस कच्चे दूध से बनी छाछ दही आदि से अभक्ष्य के कारण दूर रहना चाहिए । उसके भक्षण से उन्होने अनेक प्रकार के भयकर रोगो की उत्पत्ति मानी है । आर्ष आचार शास्त्रो मे आचार्यों ने पक्का दूध और उसमे बना हुआ दही तथा छाछ मे द्विवदल

अन्न के मिश्रण करने को द्विदल माना है। अतएव सागार धर्मामृत का कथन अश्रद्धेय है

प्रश्न—जब आपने यहां यह सिद्ध कर दिया, कि दो फाड़ो वाले मूग, उडद, चने की दाल आदि अन्न को तथा तेल निकलने वाले बादाम, पिस्ता, चिरोजी, मूगफली व धनिय आदि के अतिरिक्त जिनमें तेल नही निकलता ऐसे धनिया, मेथीदाणा, लाल मिर्च के बीज एवं भिण्डी, तुरई, ककडी, खरबूजा, हरी मिर्च के बीज, इन्हे गोरस मे मिला कर खाने से द्विदल भक्षण का दोष लगता है तब रायता, दहीबडे, पीतोड़ी या छाछ दही मे मिर्च डाल कर खाना भी बन्द हो गया। **उत्तर**—मुमुक्षु, धर्मात्मा लोग जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत नही होते। वे तो जितेन्द्रिय होकर अपनी आत्मा को पाप कर्मो से लिप्त नही करना चाहते, प्रत्युत वास्तविक, निराबाध, अतीन्द्रिय, आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। ककडी, कुम्हडा, तुरैया एव मिर्च वगैरह के (मिर्च के बीजों को निकाल कर) गोरस मे मिश्रित कर भक्षण करने मे द्विदल भक्षण करने का दोष नही है। इसी प्रकार दही बडे तथा पीतोडे बताये गये है–अर्थात् ये भी द्विदल–दो फाडो वाले अनाज के बना कर गोरस मे डाले जाते है, इसलिये इनका भक्षण करने से द्विदल भक्षण का दोष होता है। किन्तु खटाई तो इमली, नीबू, कैथ, आंवला, कोकम, काचरी, कमरख आदि की होती है–अर्थात् इन चीजो की खटाई मे बड़े आदि दो दाल की चीजे बना कर मिला कर खाने मे द्विदल का दोष नही होता। वहां पर दूध दही, छाछ खाने का निषेध नही किया गया है। परन्तु इन्हे दो फाड वाली चीजों के साथ मिला कर नहीं खाना चाहिए क्योकि ऐसा करने से द्विदल भक्षण का पाप लगता है। अब द्विदल की सिद्धि के लिये दिगम्बर आचार्यो के प्रमाण निर्दिष्ट किये जाते हैं। (माधवचन्द्र त्रिविध देव रचित वि. बो. रत्न प्रदीप)

गोरसे तक्रे द्विदलं, सेवनीयं कदापि न। शीतमुष्ण विवर्जेत, दोषा द्विदलसभवा ॥ १३६ ॥
द्विदलं नैव भोज्य स्यात् मन्थदध्नाच गोरसै । रसनया तत्स्पर्शेन, घोरदोषोऽभिजायते ॥१॥
गोरसे ननु शीतादौ सम्पृक्तं द्विदल जिनै । प्रोक्त मुद्गनादिकाष्ट वा द्विदलं भूरिदोषकृत् ।२।

भावार्थ—ठडे गरम और ठडे गरम या ठडा गरम दो फाडो वाला अन्न या काष्टादिक किराना (जिनमे तेल वा घी नही निकलता है) उनको कभी भी जीभ पर मत रखो। क्योकि इस द्विदल के खाने से मुख की लार के मिलने से जिस पशु का वह गोरस है उसी जाति के संज्ञी सम्मूर्छन पचेन्द्रिय जीव पैदा होकर नष्ट होजाते हैं, इसलिये द्विदल के भक्षण से त्रस जीव राशि का घात होगा, इसलिये द्विदल खाने वाले को मांस भक्षण दोष लगेगा तथा त्रस हिंसा का महान् पाप बन्ध होगा। और भी कहा है—

"द्विदले भक्ते काष्ठे, गोरस शीतशीतल.। उष्णामुष्ण च वर्जेत दोषो द्विवदलजागर ।६३।
रसनास्पर्शत जीवा:, जायन्ते मूर्छनोद्भवा" (संयमसारप्रदीप अ० ५)

गोरसे तक्र पादाम्बौ, भक्त काष्टे समागमे । रसनया स्पर्शेणाशु, दोषोद्विदलसर्जन. ।२०१।
द्विवदलभक्तकाष्टेषु, वर्ज्य. शीतोष्णगोरसः । स्याज्जिह्वया तत्स्पर्शेन, दोष संमूर्छनोद्भव ।१।
द्विवदलभक्तकाष्टेषु, त्याज्य शीतोष्णगोरस । रसनयास्पर्शेन स्या, दाशु संमूर्छनोद्भव ।२।

भावार्थ—कच्चे अथवा पक्के दूध दही और छाछ मे मूंग, उडद, आदि दो फाडो वाला अन्न या काष्टादिक किराना मिला कर खाने से मुख की लार के मिलने से समूर्छन त्रस जीव पैदा होते है । इसलिये द्विदल खाने का त्याग कर देना चाहिए । **प्रश्न**—यदि ऐसा ही है तो जैन उल्लिखित कथन के अनुसार क्यो नही चलते ? **उत्तर**—इस प्रकार की उच्छृखलता शास्त्र विरुद्ध प्रवृत्ति शिथिलाचार की पोषक है । उसे जिह्वा इन्द्रिय के लोलुपी एव लम्पटी लोगो ने चलाई है और उन बुद्धिमानो ने इसको पुष्टि करने के लिये श्लोक रच कर लिख डाले हैं, उन्होने विचारा कि वीतराग के उपासक मुनि गणो का उपदेश है ऐसा समझ कर लोग स्वीकार कर लेवेगे, अत रूढि या पक्ष पड जाने से फिर छद्मस्थ उन्हे रोकने मे समर्थ नही हो सकेगे । इस कारण योग्य पुरुषो को पक्ष पात छोड कर शास्त्रा–नुकूल प्रवृत्ति करना यही सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है । जो हठवाद की गहरी दलदल मे फसे हुए है उनकी आत्मा मे ऐसे अशुभ कर्म मौजूद है; जो कि उन्हे आर्ष मार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करने से रोकते है, करने नही देते । ऐसे पदार्थ नही खाना ही योग्य है ।

आमेन पक्वेन च गोरसेन, मुद्गादियक्तं द्विदल सुकाष्ट ।
जिह्वायुतं स्यात्त्रसजीवराशि., समुर्छिमा नश्यति संशयो न ।।

शीतादि गोरसे युक्त, मन्न सार्द्ध द्विक फल । द्विदलं रसनास्पृष्टं, जायन्ते त्रसराशय ।।

जितना भी ऊपर कथन आया है वह सब कच्चे और पक्के दूध, दही, और तक्र के लिये आया है । काष्ट द्विदल हो या अन्न द्विदल शीत हो (ठंडा हो) या उष्ण (गरम) हो, जिह्वा के स्पर्श मात्र से द्विदल हो जाता है इसलिये इसको कदापि नही सेवन करना चाहिए । जैसे उमास्वामी श्रावकाचार (जो कि १६ वी शताब्दी के बाद किसी विद्वान् ने बनाया है, क्योकि उसमे १० वी शताब्दी के सोम देवाचार्य विरचित यशस्तिलक चम्पू के श्लोक लिखे हुए है) उसमे लिखा है कि पूजन मे पुष्प चढाओ पर फूलोकी कली पाखुडी नही टूटनी चाहिये । कदाचित् कली टूट जावे तो मुनि हत्या के समान पाप लगता है, ऐसा बताया है; तथापि पक्षपाती लोग पुष्प टूटने का अनुभव नही करते और तोड कर ही पुष्प चढाते है । (उमास्वामी श्रावकाचार)

नैवं पुष्पं द्विधा कुर्यात् न छिन्द्यात् कलिकामपि । चम्पकोत्पलभेदेन,यतिहत्यासम फलं ।१२०।

इस प्रकार का पुष्प विषय मे निषेध देख कर भी हठी हठ नही छोडते, फिर क्या किया जावे । धर्मात्मा पुरुषो को आगम पर ध्यान देना आवश्यक है तथा तद्वत आज्ञा

उपादेय है। आगे और भी प्रमाण देते हैं– (सोमकीर्ति भट्टारक कृत प्रद्युम्न चरित स १३)

नवनीत सदा त्याज्यं, कन्दमूलादिकं यथा। पुष्पित द्विदल चैव, धान्यमनन्तकायिकम् ।१४५।

अर्थ—जैन धर्म के उपासको को, नवनीत (लूनी) अनन्त काय, कन्द मूल, आदि द्विदल और जिसमे फूलन आगई है–अर्थात् जो धान्य सड गया हो ऐसे सभी पदार्थों को सदा त्याग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अजैन ग्रन्थो मे भी द्विदल भक्षण का निषेध है।

गोरसमाममध्ये तु, मुद्गादिषु तथैव च। भक्ष्यमाणं कृत नूनं, मांसतुल्यं युधिष्ठिर! ।१२१।

अर्थ—हे युधिष्ठिर! गोरस के साथ, जिन पदार्थों की दो दाले होती है जैसे (मूग, उडद, वरवटी, चवला, चणा आदि) उनके सेवन करने से मांस भक्षण के समान पाप लगता है। अतएव इससे सिद्ध है कि उत्तम कुल मे द्विदल काम मे नही आता था, इसकी प्रवृत्ति यवन काल से चल पडी अर्थात् धार्मिक क्रियाओ मे शिथिलता आगई। कहा है—

द्विदलैर्विदलानीयात्, कथिल च जिनेश्वरै, तद्द्विधापि च ज्ञातव्यस्त्यजन् सुश्रावको भवेत् ।१।
काष्टाकाष्टयोर्विदले, त्यजनं क्रियते बुधैः। येन द्विधा त्यजित, जिनवाक् तेन पालित ।२।
द्विदलं दधि निष्ठीव, क्षीरं तक्र त्रयोऽपि च। एकत्रीमिलिते यत्र, जीवाःपञ्चेन्द्रिया मता ।१।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने द्विदल पदार्थों से द्विदल बतलाया है वह दो प्रकार का (अर्थात् काष्ट-वनस्पति बीज द्वारा और अकाष्ट दाल आदि द्वारा) भावार्थ-काष्ट द्विदल और अकाष्ट द्विदल भेद से कहा गया है। उसको छोडने से ही श्रावक हो सकता है। इस कारण योग्य पुरुष इसका परित्याग कर देते है। जिसने दोनो प्रकार के द्विदल को छोड दिया है वह ही पुरुष जिनागम की आज्ञा एव जिन वचन का प्रतिपालक हो सकता है। द्विदल पदार्थ और दही तथा लार अथवा द्विदल पदार्थ दूध और लार या छाछ द्विदलःपदार्थ (काष्ट रूप अथवा अकाष्ट रूप अन्नादि) से और लार से इस प्रकार तीनो के सम्मेलन से अर्थात् तीनो पदार्थों के मिलने पर पचेन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते है, अत द्विदल को मुख पर नही आने देना चाहिए। **प्रश्न**—आपने दुग्ध दही और छाछ के साथ ही द्विदल के सयोग से द्विदल बताया, घी भी तो गोरस है उसके साथ द्विदल क्यो नही माना? वह भी तो दूध से ही बनता है तथा दूध का ही एक भाग है। उतर–लौकिक एव शास्त्रीय दृष्टि मे एवं आगम, कोष और शास्त्र प्रमाणो से गोरस शब्द का अर्थ दूध दही और छाछ निश्चित है। प्रकरण मे यहा पर "गोरस" शब्द योगरूढ है अर्थात् गवा (गौओंका) रस गोरस है। व्याकरण की व्युत्पत्ति से गोरस शब्द का अर्थ केवल दूध ही निकलता है जो कि आगम मे पूर्ण रूप से सगत नही होता। अत गोरस यह शब्द लोक एवं शास्त्र-कोष और आगम मे दूध दही और छाछ अर्थ मे रूढ है अतएव योगरूढ है; इसलिए गोरस शब्द का आगमानुकूल अर्थ दूध दही और छाछ निकलता है; घी अर्थ कदापि नही

निकल सकता है । —: कोष का प्रमाण :— (अमरकोष)

दण्डाहतं कालशेय, मरिष्टमपि गोरसः । तक्र ह्य् दश्विन्मथितं, पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम् ।।

उक्त प्रमाण से गोरस शब्द दूध, दही, और छाछ में रूढ है । गोरसेन-क्षीरेण, दध्ना, तक्रेण च (सागारधर्मामृत की टीका से)

उक्त प्रमाण से निश्चित है, कि गोरस शब्द से दूध, दही और छाछ आगम में निबद्ध है । गोरस शब्द का अर्थ घी कभी नही हो सकता ।

आत्मनोऽशुभशुद्धभाववत् एवं बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मावच्चेति, दुग्धदधितक्रात्मके गोरसे ज्ञेयम् ।

अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के शुभ और अशुभ भाव ससार के कारण है और शुद्ध भाव (वीतरागपरिणति) मोक्ष का कारण है, उसी प्रकार दूध, दही, और छाछ रूप गोरस मे द्विदल पदार्थ (अन्न या काष्ट) के मिश्रण कर भक्षण करने से द्विदल दोष होता है । जिस प्रकार शुद्ध भाव ससार के कारण नही है उसी प्रकार घी मे द्विदल अन्न और काष्ट के मिश्रण से द्विदल दोष उत्पन्न नही होता । इसी प्रकार जीवके बहिरात्मा अंतरात्मा और परमात्मा ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये है । उनमे से बहिरात्मा और अन्तरात्मा ससारवर्ती है । और परमात्मा मोक्षमार्गी है । उसी प्रकार दूध, दही, और छाछ रूप गोरस मे द्विदल पदार्थके मिश्रण से द्विदल दोष उत्पन्न होता है । परमात्मा जिस प्रकार मोक्ष मार्गी है, उसी प्रकार घी मे द्विदल पदार्थ के मिश्रण करने से द्विदल दोष उत्पन्न नही होता । मरकत विलास नामक ग्रन्थ में ३ श्लोक आये है–जिनसे अन्न और काष्ट दोनो प्रकार के द्विदल भक्षण से महान् पाप होता है ऐसा निर्दिष्ट किया है । यह पहले लिख आये है ।

※ राई और सरसो का सम्बन्ध ※

राई सरसो इन का तेल काम मे आता है । रायता तथा आचार मे डाल कर जीमने की मर्यादा अन्तर्मुहूर्त्त की भी नही है । कारण कि त्रस जीवो की उत्पत्ति हो जाती है ।

—: इक्षुरसनिर्मित शक्करादि से दही का सम्बन्ध :—

इक्खुदहीसजुत्तं भवंति सम्मूर्छिमा जीवा । अन्तोमुहुतमज्झे, तम्हा भवति जिणणाहो ।१।

अर्थ—इक्षु रस से बनी हुई शक्कर को दही मिलाकर शीघ्र खालेनी चाहिये क्योकि वह थोडी देर बाद ही जीवो की उत्पत्ति होने से अभक्ष्य हो जाती है ।

※ बर्तनो की शुद्धि ※

कांसी, पीतल, चांदी, सोने, लोहे, शीशे, कतीर, एलुमोनियम, जर्मन सिलवर व ताबे के बर्तन होते हैं । **कांसी के बर्तन**—अपनी जाति के सिवाय, अन्य के काम मे नही लाने चाहिये । जैसे महाजन, ब्राह्मण, आदि को । इन्हे विदेश मे नही लेजाना चाहिये । **पीतल के बर्तन**—इनको मद्यपी, मासभक्षी, मधुसेवी को नही देना चाहिये । घर मे यदि

रजस्वला स्त्री से सम्पर्क हो जाय तो उन्हे खूब गर्म कर लेना चाहिये। **रांग तथा लोहे के बर्तन**--की शुद्धि कासे के समान जानना। बाकी वर्तनो की मर्यादा पीतल के वर्तनो के समान जाननी चाहिये। **मिट्टी के बर्तन**--इन्हे चूल्हे पर चढाने वाद दुवारा नही चढाना चाहिये। पानी भरने के बर्तनो को आठ पहर बाद सुखा लेना चाहिये। जिससे काई न जमने पावे।

"मिटे न सरदी कटे न काय, माटी के वासन की भाय"

कांच के बर्तन--मिट्टी के वर्त्तन के समान जानना। यद्यपि इनमे काई नही जमती, तथापि इन्हे चौके मे लेजाना हो तो इनमे भोजन नही जीमना चाहिये। शुद्ध रखने चाहिये। **पत्थर के बर्तन**--इन्हे उपयोग कर जल से धोकर सुखा लेने चाहिये तथा दूसरो को नही देने चाहिये। **काष्ट के बर्तन**--काम मे लेकर पानी से धोकर सुखा लेने चाहिये और दूसरो को नही देने चाहिये। अन्यथा काम के न रहेगे। **विशेष**--जिन वर्तनो पर कलाई हो, उन्हे टट्टी पेशाब के लिये नही ले जाने चाहिये। यदि कभी ऐसा अवसर आ पडे तो उन्हे अग्नि से संस्कारित कर फिर काम मे लेने चाहिये। ध्यान मे रखने की वात है कि चौके मे जितनी भी सामग्री लेजानी चाहिये वह सब श्रावको के सम्पर्क की ही होनी चाहिये अन्य के सम्पर्क की नही होनी चाहिये। **-- आगे प्रमादचर्या बतलाते है। --** जिस शास्त्र मे हिंसा मे धर्म कहा है जैसे प्रयोजन बिना दौडना, कूटना, जलसे सीचना, आग जलाना, काटना, ज्यादे दीपक लगाना, पवन का उडावना, वनस्पति का छेदना, इत्यादि निष्फल व्यापार करना, प्रमादचर्या नामा अनर्थदण्ड है। अपनी भोगोपभोग सामग्री से राग भाव घटाना चाहिये। जिसमे फल स्वल्प, हिसा अधिक हो उनका परित्याग करे, जैसे-- मद्य, मास, मधु, नवनीत (लूणियां) कन्दमूल, हल्दी हरी, अदरख, निम्ब-केवडा और केतकी आदि के फूल। जिन मे जीवो की विराधना भी न हो किन्तु उत्तम कुल से जो अनुपसेव्य हो उनका परित्याग करे जैसे--शख चूर्ण, हाथी के दाँत और भी कई प्रकार के हाड, गाय का मूत्र, ऊँट का दूध, उच्छिष्ट भोजन, अस्पृश्य शूद्र से लाया जल। ताम्बूल की उद्गाल, मुख की लार, मूत्र, मल कफ, तथा शूद्रादिक से बनाया हुआ भोजन, मास भक्षी के हाथ का भोजन, मास भक्षियो के बर्तन मे बनाया भोजन आदि अनुपसेव्य है। जो भोजन प्रासुक, हिसा रहित हो, वही ग्रहण करे अन्यथा न करे। **आगे दौलतरामजी कृत क्रिया कोष से लिखते है।**

--चौपाई--

"चाकी अर उखली प्रमाण--ढकणादीजै परम सुजान।
श्वान बिलाव न चाटे ताहि, तब श्रावक को धर्म रहाहि ॥ १८१ ॥
मूसल धोय जतन सो धरै, निशि खोटन पीसन नहि करै।
छाज तराजु अस चालणी, चरमतणी भविजन टालणी ॥ १८२ ॥

निशि को पीसै खोटै दलै, जीवदया कबहू नहिं पलै ।
चाकी गालै चून रहाय, चीटी आदि लगै तसु चाय ।। १८३ ।।
निशि पीसत खबर न परै, ताते निशि पीसन परिहरै ।
तथा रात्रि को भी जो नाज, खावो महा पाप को साज ।। १८४ ।।
अंकुरे निकसे ता मांहि, जीवा अनता संसै नाहि ।
तातै भी ज्यो नाज अखाज, तजौ मित्र अपने सुख काज ।। १८५ ।।
सूल्यो सड्यो गडियो जो धान, फूली आयो होय न खान ।
स्वाद चलित खावो नहि वीर, रहिबो अकि दिवेकसूं धीर ।। १८६ ।।
नहि छीवे गोवरणों सूत, मल मूत्रादिक महा अपूत ।
छांणा ईधंन कान अजोगि, लकड़ी हूं विधी नहिं जोग ।। १८७ ।।
जेती जात मुरब्बो होय, लेणा एक दिवस को सोय ।
पीछे लागे मधु को दोष, ता सम ओर न अघ को पोष ।। १८८ ।।
अथाणा को नाम अचार, भखै अविवेकी अविचार ।
या सम अणाचार नहि कोय, या को त्याग करे बुध सोय ।। १८९ ।।
राह चल्यो भोजन मतिखाहु, उत्तम कुल को धर्म रखाउ ।
निकट रसोई भोजन करो, अणाचारि सबही परिहरो ।। १९० ।।
करो रसोई भूमि निहारि, जीब जन्तु की बाधा टारि ।
इस विध श्रावक धर्म बखाण, उत्तम कुल की यही पिछाण ।। १९१ ।।
दोष खोटि मति करो रसोई, जहा जीव की हिंसा होई ।
नरम पूजाणि सो प्रति लेखई, करे रसोई चर्मन देखई ।। १९२ ।।
रोमादिक को स्पर्श होवे, सो भोजन श्रावक नहीं जोवे ।। २१४ ।।
नीला वस्त्र न भीटे सोई, नाही रेशमी वस्त्र हु कोई ।
विन धोयाहू कपड़ा नाहीं, इह आचार जैन मत माही ।। २१५ ।।
विन उज्वलता भई रसोई, त्याग करे ताकूं विधि जोई ।
पञ्चेन्द्रिय पशुहू को छूयो, भोजन तजै अविधितै हूयो ।। २१६ ।।
सोधतनी सब वस्तु लेई, वस्तु असोधी त्यागे तेई ।।

इस प्रकार ऊपर जो क्रिया बताई है, सो जैनियो को मान्य है । इसके अतिरिक्त जो क्रिया कोष किशनसिहजी पाटणी का है उसमे निम्न प्रकार भोजन प्रकरण दिया है–

"होत रसोई थानक जहां, खीचड़ी रोटी भोजन जहां ।
चावल और विविध परकार, निपजै श्रावक कै घर सार ।। १ ।।

जीमरण थानक जो परमारण, तहां जिमिए परम सुजारण ।
रांधरण के भाजन है जेह, चौकी बाहिर काढि न तेह ।। २ ।।
असन रसोई बाहिर जाय, सो वट वोपो नाम कहार ।। ३ ।।
अन्य जाति जो भीटे कोय, जीह भोजन को जी में सोय ।
शूद्रनि मिले जीमे तिसो दोष, बखान्यो है वह तिसो ।। ४ ।।

कहां तक कहा जावे पूर्व प्रथम द्वितीय और तृतीय काल में जैसे यहां भोग भूमियां मन्द कषायी, शान्त परिरणामी थे एवं जैन धर्म मे अनादि काल से अहिसा पूर्वक शुद्धता का आधिक्य था अब हु डावसर्पिरणी काल के प्रभाव से उससे विपरीत क्रूर परिरणामियो की अधिकता है तथा तीव्र कषाय का अभिनिवेश हो गया है । प्रथम आचरण विषयक उपासकाध्ययन सूत्र मे इसका विवरण मिलता था अब उसका लोप होगया तथा तदनुकूल सार रूप कुछ सिद्धान्त सार प्रदीप मे था वह भी लुप्त हो गया अब रहा उसका कुछ कथन भाषा के ग्रन्थ क्रिया कोष आदि में मिलता है सो आजकल के लोग उसको मानने को तैय्यार नही होते एव कहते है कि बिना मूल सस्कृत के आधार ग्रन्थ को इन्हे क्या माने ? अब किया क्या जावे ? जैसी समाज की होनहार वैसा होगा अन्यथा नही हो सकता । कहा भी है—

"ज्यो ज्यो देखी वीतरागने, त्यों त्यों होसी बीरारे ।
अरण होनी नसी होवे भैया, काहेको होत अधीरारे ।।

"यस्मिन्देशे यदाकाले यन्मुहूर्त्ते च यद्दिने । हानिवृद्धियशीलाभस्तत्तत्काले भविष्यति ।।

किस को पता था कि धर्म का सहसा इतना ह्रास होगा, किन्तु रामचन्द्र के समान राज्य गद्दी के बजाय उससे विपरीत हो गया । कहा भी है—

"प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती सोऽहं व्रजामि जटिल· विपिने तपस्वी ।।
यच्चिन्तित तदिह दूरतर प्रयाति । यच्चेतसा न गरिणतं तदिहाभ्युपैति ।। १ ।।

फिर भी अपने धर्म मे दृढ रहना जीव माया का कर्त्तव्य है जिससे ससार समुद्र से पार हो सके ?

—· शूद्रों के सम्बन्ध मे विवेचन :—

प्रश्न—शास्त्रो में शूद्रो के घर भोजन विधान भी अनेक स्थलो पर देखा जाता है ? क्या यह ठीक है ? **उत्तर**—शूद्रो के घर श्रावक को भोजन करना विहित नही है । शूद्र दो प्रकार के माने गये है भोज्य और अभोज्य । भोज्य शूद्रों का दूसरा नाम (शोभन शूद्र) भी है; उनके लिये श्रावको के उच्च व्रत अर्थात् क्षुल्लक पद तक के व्रत देने का विधान है न कि उनके यहां भोजन करने का । श्रावक व्रत देने की अपेक्षा ही शोभन शूद्र ग्राह्य हैं सो जानना । कहा भी है—— (प्रायश्चित्त चूलिका)

कारिणो द्विविधा सिद्धा, भोज्याभोज्यप्रभेदत । भोज्येष्वेव प्रदातव्यं, सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ।।

अर्थ—शूद्र, भोज्य और अभोज्य भेद से दो प्रकार के है । सदा क्षुल्लक व्रत भोज्य शूद्रो को ही देना चाहिये । नोट—यहा पर प० पन्नालालजी ने उनके साथ भोजन करना आदि लिखा है वह समुचित नही मालूम होता क्योकि प्रकरण श्रावक व्रत का ही है । वह ही अपेक्ष्य है । और भी कहा है—

सकृत्परिणयनव्यवहारा सच्छूद्रा ।। ११ ।। (नीतिवाक्यामृत पृ० ८४)

टीका–ये सच्छूद्राः भवन्ति ते सकृत्परिणयना एकवारकृतविवाहा द्वितीयं न कुर्वन्तीत्यर्थः तथा च हारीत :—

आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शरीरी चविशुद्धि करोति शूद्रमपिदेवद्विजतपस्विपरिकर्मसुयोग्यम्

टीका—य शूद्रोऽपि सदेवद्विजतपस्विशुश्रूषायोग्य यस्य कि शूद्रस्याचारानवद्यत्व व्यवहारनिर्वाच्यता, तथोपस्कारो गृहपात्र समुदाय सशुचिनिर्मल, तथा शरीरशुद्धिर्यस्य प्रायश्चित्तेन कृतासीत् । एषाऽपिशूद्रं करोति, कि विशिष्ट ? देवद्विजतपस्विभक्तियोग्य । तथा च चारायण. ।

गृहपात्राणि शुद्धानि, व्यवहार सुनिर्मल । कायशुद्धि करोत्येव, योग्यं देवादिपूजने ।।

— अथ सर्वेषां वर्णनं —

इस प्रकार सोमदेव सूरि भी लिखते है । इसके अतिरिक्त पं० सदासुखदासजी कासलीवाल भगवती आराधना नामा ग्रन्थ मे इस प्रकार ही लिखते है— **प्रश्न**—आप शूद्रो के भोजन के लिए निषेध करते हो और निम्न लिखित अनेक ग्रन्थो मे इनके भोजन का विधान मिलता है ? सो किस प्रकार है ? अनगार धर्मामृत अध्याय ४ श्लोक न० १६७ की टीका पत्र ३१६ (२७ वी. पक्ति) मे लिखा है "अन्यैर्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रै स्वदातृ गृहात्" । सागार धर्मामृत पृ० ५६ के नोट मे यशस्तिलक का निम्न लिखित पद्य दिया है—

सकृद्विवाहनियता, व्रतशीलादिसद्गुणा । गर्भाधानाद्युपेता ये, सच्छूद्रा कृषिजीविका ।।

अर्थ—जिन के एक ही वार स्त्री–विवाह होता हो, और व्रत शीलकर युक्त ही गर्भाधानादि क्रिया जिन की शुद्ध हो और खेती करता हो ऐसे त्रिवर्णी उत्तम कुली को सत्शूद्र कहते है । (माधनन्दिकृत कुमुदचद्रसहिता)

पात्रदान च सच्छूद्रै, क्रियते विधिपूर्वकै । शीलोपवासदानार्चा, सच्छूद्राणां क्रियाव्रते ।।१।।

इस का तात्पर्य ऊपर के अनुकूल ही है । धर्म सग्रह श्रावकाचार मे तो आजकल के भट्टारको ने अटसट लिखा है । जैसे— (ध श्रा. अ ९)

ते सच्छूद्राः असच्छूद्रा द्विधाशूद्रा. प्रकीर्तिता, तेषां सकृद्विवाहोऽस्ति, ते चाद्या परथा परे ।।

अर्थ—उन शूद्रो के सत् शूद्र और असत् शूद्र ये दो विकल्प है; जिन शूद्रो के एक

ही वार विवाह होता है, वे सत्शूद्र है और जिनके पुनः२ विवाह होता है, वे असत् शूद्र है।

सच्छूद्राः अपि स्वाधीनाः, पराधीना अपि द्विधा ।
दासीदासा पराधीना, स्वाधीना स्वोपजोविनः ।२३४। (ध.श्रा अ ६)

अर्थ—सत्शूद्रो के भी स्वाधीन और पराधीन ऐसे दो विकल्प है । जिन शूद्रो के एक ही समय विवाह होता है और दासी तथा दास है, वे पराधीन है । और जो दासी दास न रहकर अपनी आजीविका निर्वाह स्वयं करते है, उन्हे स्वाधीन सत्शूद्र कहा है ।

असच्छद्रा तथा द्वेधा कारवोऽकारव स्मृता , अस्पृश्या कारवश्चान्त्यजादयोऽकारवोऽन्यथा।

अर्थ—असत् शूद्रो के भी कारु तथा अकारु इस प्रकार दो भेद है । जो स्पर्श करने योग्य नही उन्हे कारु असत् शूद्र कहते है और अन्त्यज आदि अकारु असत् शूद्र हैं । इस प्रकार आपके कहे हुए कथन का शास्त्रो मे प्रमाण मिलता है । आपके कथनानुसार उत्तम वर्ण वालो को सत् शूद्र कहना ठीक नही । प० सदासुखजी काशलीवाल का कहना है कि शूद्रो मे जो उत्तम हो उनके हाथ का जल पीना तो ठीक परन्तु उनके हाथ भोजन करना महा विपरीत है । उत्तम कुली को नीच बताना पाप कार्य है । कारण भट्टारक लोगो की क्रिया ऐसी विपरीत हुआ करती थी । आपने लिख दिया कि कृषि करने वाले सत्शूद्र हुआ करते है सो कैसे मान लिया जावे । आदिनाथ पुराण मे भगवान् जिनसेन स्वामी ने कहा है कि वैश्य के तीन कर्म है—१ व्यवसाय २. पशुपालन ३ और कृषिकरण । तो क्या यह वाक्य झूठ है ? ये वाक्य कदापि झूठे नही हो सकते । निष्कर्ष यह है कि आजकल के शास्त्र मनगढन्त बहुत से है, जिन्होने प्राचीन ग्रन्थो पर पानी फेर दिया है, उनके कथन को जरा विचार से देखो तो पता लग सकेगा कि कितना तथ्य है । परीक्षा प्रधानियो का कर्तव्य है कि सत्य कथन ग्रहण करे और असत्य कथन का परित्याग कर देवे ।

※ सकरा नकरा विवेचन ※

प्रश्न—अपनी समाज मे जो सकरे और नकरे की कल्पना एव विचार है ? सो क्या है? स्पष्ट कीजियेगा । **उत्तर**—जैन शास्त्रो मे सकरे और नकरे का कोई विचार नही मिलता है। वैष्णव सम्प्रदाय के भृङ्गि ऋषि कृत 'रससार सग्रह' मे ऐसा विषय अवश्य मिलता है कि जिन २ पदार्थो मे घी और तेल का सम्बन्ध मिल जावे वह नकरा है और जो इसमे विपरीत हो वह सकरा है । जैनो मे भी देखा देखी यह परिपाटी चल पडी है । इस विषय मे ठीक यही है कि स्थान शुद्धि का ध्यान रखे भोजन बनाने व करने का स्थान शुद्ध पवित्र होना चाहिए, स्वास्थ्य पर इसका गहरा प्रभाव पडता है । जैनेतर धर्म की देखा देखी अनेक रिवाज जैनो मे भी चल पडे है और वे अभी तक बराबर जारी हैं नही मिटे हैं । जैन धर्म मे तो भोजन के विषय मे केवल द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव शुद्धि के अतिरिक्त अन्य विचार

अपने देखने में नही आया है, विशेष ज्ञानी जाने । **भोजन के अन्तराय** :—शास्त्रकारो ने निम्न प्रकार से भोजन के अन्तराय बताये है :—

मांसरक्तार्द्रचर्मास्थि, पूयदर्शनतस्त्यजेत् । मृताङ्गिवीक्षणादन्नं, श्रावको विबुधस्सदा ।।१।।
मातङ्गश्वपचादीनां, दर्शने तद्वच श्रुतौ । भोजन परिहर्त्तव्यं, मलमूत्रादिदर्शने ।। २ ।।

अर्थ—मास रक्त(खून) गीला चमडा, हड्डी, पीव मरे हुए त्रसजीव के कलेवर के देखने से विवेकी श्रावक को भोजन छोड देना चाहिये और चाण्डाल आदि के भोजन काल मे दिखाई देने पर या मारो, काटो आदि भयङ्कर शब्द सुनाई देने पर तथा मल मूत्र आदि के दिखाई देने पर श्रावक को भोजन छोड देना चाहिए । और भी कहा है :-(ध.सं.श्रा)

चर्मादिपशुपञ्चाक्ष, व्रतभुक्तरजस्वला । रोमपक्षनखादीनां, स्पर्शनाद्भोजनं त्यजेत् ।।
श्रुत्वामांसादिनिन्द्याह्वां, मरणाक्रन्दनस्वरं । वह्निदाहादिकोत्पात, न भजेत् व्रतशुद्धये ।।४१।।

अर्थ—चमड़ा आदि अपवित्र पदार्थ, पचेन्द्रिय पशु, व्रत रहित पुरुष, रजस्वला स्त्री, रोम, नख, आदि पदार्थो का स्पर्श हो जाने से भोजन छोड देना चाहिये । मास, मदिरा, हड्डी, मरण रोने का शब्द, वह्नि दाह, तथा उत्पात आदि सुनने के बाद व्रत शुद्धि चाहने वालो को भोजन नही करना चाहिए ।

卐

दर्शनव्रतप्रतिमाधिकार

इस अधिकार मे श्रावक की नैष्ठिक अवस्था के अन्तर्गत दर्शन प्रतिमा और व्रत प्रतिमादि का वर्णन किया जावेगा । दर्शन प्रतिमा के वर्णन करने के क्रम मे विस्तार से इसमे श्रावको के ६ आवश्यको का वर्णन भी किया जावेगा । सर्व प्रथम यहा श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति बताते है ।

—: श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति :—

शृणोति धर्मतत्त्वं यः परान् श्रावयति श्रुतं । श्रद्धावान् जैनधर्मे स सत्क्रिय श्रावको बुधः ।।

अर्थ—जो भव्य आत्माकी उन्नति का इच्छुक हो, सच्चा श्रद्धावान् होकर जैन धर्म तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित जीवादि सप्त तत्त्वो के स्वरूप को स्वयं शास्त्रो द्वारा श्रवण करता हो, दूसरो को श्रवण कराता हो सच्ची प्रगाढ श्रद्धा रखने वाला हो, हेय-(छोडने योग्य), उपादेय (ग्रहण करने योग्य) और ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तु का विवेक रखने वाला हो, तथा सत्क्रियाओं (अहिसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और सतोप) के करने मे तत्पर हो, वही सच्चा श्रावक है ।

धर्मात्मा का स्वरूप

प्रीणयेच्छ्रावकान्नित्य स धर्मं धर्मसिद्धये । सद्धर्मोद्धारकः सत्य धार्मिको हि मतो बुधैः ॥१॥

अर्थ—प्रत्येक जैन बन्धु का कर्तव्य है कि वह ऐसे उक्त धार्मिक श्रावको का सदा सत्कार करे, अर्थात् उन्हे धन, विद्या, आदि द्वारा धर्म मे दृढ रखे । जो ऐसा करता है, उसे ही विद्वानो ने सच्चा धर्मात्मा कहा है । क्योकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना" इस आर्ष सिद्धान्त के अनुसार धर्मात्माओं का उपकार करना ही धर्म की रक्षा करना माना गया है । शास्त्रकारो ने श्रावको के प्रति दिन करने योग्य षट् कर्त्तव्य इस प्रकार निर्दिष्ट किये है ।

—: श्रावको के षट् कर्त्तव्य :—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय. सयमस्तप । दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ।१।

अर्थ—१- देव पूजा २- गुरूपासना ३- शास्त्र-स्वाध्याय ४- सयम धर्म का पालन ५- तपश्चर्या ६- और पात्र–दान ये श्रावको के धार्मिक षट् कर्तव्य निर्दिष्ट किये है । देव पूजा प्रभृति षट् धार्मिक क्रियाओ का अनुष्ठान करना प्रत्येक श्रावक का दैनिक कर्त्तव्य है; इनके पालन किये बिना कोई गृहस्थ नही कहला सकता जैसे, शरीर मे किसी अग की कमी रहने से विकलाङ्ग कुरूप प्रतीत होता है उसी प्रकार इनमें किसी एक को न पालने पर गृहस्थ धर्म अपूर्ण ही रहता है और 'धर्म एव हतो हन्ति' 'धर्मो रक्षति रक्षित.' अर्थात् धार्मिक क्रियाओ को न पालन करने से जीवन दु खी रहता है और धर्म की रक्षा से जीवन सुखी होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार जो व्यक्ति इन्हे पालन नही कर सकता उसका जीवन दु खी है ।

—: धर्माचरणहीन व्यक्ति मूर्ख है :—

वास्तव मे वही विद्वान्, पडित और बुद्धिमान् है जिसका जीवन धर्म रूप व्यतीत होता है । धर्म का फल प्राप्त करता हुआ भी जो धर्म नही करता वह मूर्ख है । कवि ने कहा है —

(यशस्तिलक ६ आश्वास)

स मूर्खः स जड़ः सोऽज्ञ स पशुश्च पशोरपि । योऽश्नन्नपि फल धर्माद् धर्मे भवति मन्दधी ।१।
स विद्वान् स महाप्राज्ञ स धीमान् स च पण्डित , य स्वतोऽन्यतो वाऽपि नाधर्माय समोहते ।२।

अर्थ—जो व्यक्ति धर्म के फलो मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल, सम्पत्ति, सत्कुटुम्ब, आदि को भोगता हुआ भी धार्मिक क्रियाओ के पालन करने मे प्रयत्न नही करता, वह व्यक्ति मूर्ख है, जड है और अज्ञानी है । वह पशु से भी जघन्य कोटि का है । तथा जो व्यक्ति स्वय पाप क्रियाओ मे प्रवृत्त नही होता तथा न दूसरो को पाप कार्यों मे प्रवृत्त कराता है अर्थात् जो स्वय धार्मिक कर्तव्यों का पालन करता है तथा दूसरों को भी धर्म कार्य मे प्रेरणा करता है, वही विद्वान् है, वही भाग्यशाली है एव वही बुद्धिमान् और पण्डित है—यह मनुष्य भव दुर्लभ है इसकी सफलता धर्म से ही है । कवि ने कहा है :—

* मानव जीवन की दुर्लभता और उसकी उपयोगिता *

संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्त, जीवेन मानवभव. समवापि दैवात् ।
तत्रापि यद्भुवनमान्यकुलप्रसूतिः, सत्सगतिश्च तदिहान्धकवर्तकीयम् ।।१।। (य च ६आ)

अर्थ—इस प्राणी ने अनादि काल से इस ससार रूपी समुद्र मे घूमते हुए अनन्त पर्याये धारण की, किन्तु उनमे से इसे मनुष्य पर्याय जिसमे कि आत्म-कल्याण के सभी साधन विद्यमान है, बडे भाग्य से प्राप्त हुई है, उसमे भी ससार मे प्रसिद्ध उच्च कुल मे उत्पन्न होना, और सज्जनो की सगति मिलना ये अन्धक वर्तकीय न्याय की तरह दुर्लभ है अर्थात् जैसे अन्धे के हाथ मे बटेर पक्षी का आजाना महा कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय पाने पर भी पृथ्वी मे मान्य कुल मे उत्पन्न होना और सज्जन महा पुरुषो का समागम होना महा दुर्लभ है । अन्य मूल श्लोक नही देकर अर्थ मात्र श्लोकको संख्या सहित देरहे हैं देखिये

अर्थ—हे भव्य! यदि तेरे निर्दोष परम सुख देने वाले मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा है, तो तुम शास्त्रो को मन लगा कर सुनो । विद्वानो के सदाचार मार्ग को प्राप्त हो और क्रोध को छोडो, ज्ञान का अभ्यास करो, पचेन्द्रियो के विषय रूप शत्रुओ को छोडो और धर्म रूपी मित्र को भजो । क्रूरता को छोडो, खोटी आदतो (व्यसनो) से मुख मोडो, और नीति मार्ग को प्राप्त करो ।। ४०२ ।। (सुभाषितरत्न सदोह)

अर्थ—हे भव्य! तू समस्त प्राणियो को प्रेम उत्पन्न करने वाली और पालन करने वाली ऐसी प्रचुर (अटूट) लक्ष्मी धन दौलत को पाकर के भी उस मे सन्तोष न करके सर्वांग सुन्दरी स्त्री की प्राप्ति के लिये आर्त्त ध्यान करता है । तत्पश्चात् उस स्त्री से गुणवान् सुन्दर पुत्र के पैदा होने की इच्छा करता है, फिर उस पुत्र के विवाह की कामना करता है कि मेरे पुत्र वधू आजावे तो अच्छा है, फिर उस पुत्र वधू से पुत्र होने की इच्छा करता है अर्थात् पौत्र की चाह करता है । हे भव्य! तू इस प्रकार इच्छाओ से व्यर्थ क्यो खेद खिन्न होता है । आत्म कल्याण का विचार कर ।। ४०४ ।। (सुभाषितरत्न सदोह)

अर्थ—हे जीव! तू महा अपवित्र, बिजली की चमक के समान चचल, दोष रूप सर्पो की वामीरूप, अनेक व्याधि रूपी नदियो के गिरने का समुद्र, पापरूपी पानी का घडा मलमूत्रादि का स्थान ऐसे इस शरीर मे बधु-बुद्धि करता हुआ (प्रेम करता हुआ) व्यर्थ क्यो बरबाद हो रहा है अर्थात् धर्म से विमुख हो रहा है । इसलिये तू इस शरीर से ममत्व छोड कर धार्मिक कर्त्तव्यो का सदा पालन कर ।। ४०५ ।।

अर्थ—हे भव्य ! जैसे तू काम--बाणो से घायल हुआ स्त्री सेवन सम्बन्धी सुख मे मन लगाता है, उसी प्रकार तू तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहे हुए मोक्षमार्ग मे मन लगा । ऐसा करने से जन्म-जरा मरण से रहित वास्तविक कौन २ से सुखो को प्राप्त नही होगा?

अर्थात् सभी सुखों को प्राप्त होगा। ऐसा विचार कर निश्चल बुद्धि से उसमें चित्त स्थिर करो ॥ ४०६ ॥

अर्थ—हे नष्ट बुद्धि वाले ! तू दूसरे की सम्पदा को देखकर अन्तरङ्ग मे क्यो खेद खिन्न होता है ? क्योकि न तो यह लक्ष्मी स्थिर है, और न ये धार्मिक लोग स्थिर है और न तुम ही स्थिर हो। ये तमाम चीजे कुछ दिनो में नाश होने वाली हैं। इसलिये हे प्राणिन् ! तमाम इच्छाओ को छोड़कर निश्चल और निर्मम बुद्धि से धार्मिक कर्त्तव्यो का पालन करो, जिससे बाधा रहित निश्चल सुखवाली मुक्ति रूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर सको ॥ ४१२ ॥

अर्थ—हे भव्य प्राणिन् ! यदि तुझे मोक्ष सुख के प्राप्त करने की इच्छा है, तो अपने चित्त को धर्म में स्थिर कर और शास्त्रविहित कर्त्तव्य का भक्ति से पालन कर। सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने मन को पवित्र कर। व्यसन रूपी फूलो वाले काम रूपी वृक्ष को काट डाल। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, आदि पापो से बुद्धि को हटा। कषायो को शान्त कर, इन्द्रियों का दमन कर, प्रमाद का नाश कर और क्रोध को भी छोड दे तथा घमण्ड से भरे हुये वचनो को मत बोल। मेरा आत्मा द्रव्यार्थिकनय से एक और नित्य (अविनाशी) है तथा सुख स्वरूप है, और सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दृष्टि स्वभाव वाला है। मेरी आत्मा से भिन्न शरीर,धन,इन्द्रियां,भाई,स्त्री तथा दूसरी सुख सामग्री मेरी नही है, इन सब चीजो का सम्बन्ध कर्मो के उदय से हुआ है अत: दु ख देने वाला है। इनसे मुझे मोह करना व्यर्थ है। हे आत्मन् ! ऐसा निश्चय करके अपने कल्याण रूप नित्य मोक्ष मार्ग को प्राप्त करो। हे भव्य प्राणी ! तू संसार के सभी जीवो मे मैत्री भाव (सब सुखी रहे ऐसी भावना रखना) का चिन्तवन कर। तुझे गुणवानो (विद्वानो, त्यागी, व्रती, चारित्रवान्, धर्मात्मा व्यक्ति) को देख कर मन मे हर्षित होना एव हर्ष प्रकट करना, तथा दु खी जीवो को देखकर दया भाव धारण करना, एवं विरुद्ध चलने वाले–विधर्मियो को देखकर उनमे माध्यस्थ भाव रखना अर्थात् राग एव द्वेष न करना और जिनेन्द्र भगवान् के वचनो मे रुचि रखना और अत्यन्त दु ख देने वाले जन्म, जरा, मरण रूप दु खो से डरना तथा समस्त पाप रूपी ससार का त्याग कर, नित्य, बाधा रहित, अतीन्द्रिय मोक्ष सुख की अभिलाषा करना चाहिये। हे भव्य प्राणी ! भयानक दु ख देने वाले, जन्म, जरा मरण रूपी पहाडो से भयङ्कर दु खो का कारण ऐसे ससार रूपी वन मे घूमते हुये तूने विशेष पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य पर्याय प्राप्त की है, तो भी यदि तू धार्मिक क्रियाओ मे प्रवृत्त नही होगा, तो हे प्राणी ! तू अपने को ठगा गया समझ; क्योंकि वास्तविक सुख की प्राप्ति तभी होगी, जब आत्मा को वीतराग विज्ञानता निधि प्राप्त होगी, और उसका मार्ग

वैराग्य अवस्था है। बाकी सामारिक चीजे क्षणिक, कर्मोदय के अधीन, दु ख मिश्रित, आसक्ति के कारण होने से पाप बंध करने वाली है ।। ४२४ ।। (अमितगति)

अर्थ—स्त्री आदि विषय भोगों मे सुख नही क्योकि उनमे शारीरिक रोग का भय है। बड़े २ प्रतिष्ठित कुल की प्राप्ति मे भी सुख नही है क्योकि उसमे पतन का भय है। अर्थात् अन्याय रूप प्रवृत्ति करने वाले, कुटुम्बियो के कारण से वंश बदनाम हो जाता है। इसी प्रकार धन की प्राप्ति मे भी सुख नही है, क्योकि उसमे राजा का भय है। मौन रखने मे भी सुख नही है क्योंकि उसमें दीनता का भय है। शारीरिक शक्ति मे भी सुख नही है क्योकि शत्रुओं का भय है और सुन्दर रूप की प्राप्ति में भी सुख नही है क्योकि उसमे बुढापे का भय है अर्थात् वृद्धावस्था मे तमाम रूप नष्ट प्राय हो जाता है। विद्वता प्राप्ति मे भी सुख नही है क्योकि उसमे शास्त्रार्थ का भय है। गुणो की प्राप्ति मे भी सुख नही है क्योकि उसमे दुष्टो का भय है। इसलिये ससार मे मनुष्यो की तमाम इष्ट सामग्री के साथ दुःख लगा हुआ है। यदि भय और दु ख रहित कोई वस्तु है तो वह है वैराग्य अवस्था, जो सदा सुख देने वाली है ।। ११६ ।। (वैराग्यशतक भर्तृहरि)

अर्थ—निरोगी शरीर, उत्तम कुल मे जन्म लेना, चतुराई, उत्तम भाग्य, बडी आयु, और शारीरिक शक्ति, आदि इष्ट पदार्थ उसी जीव को प्राप्त होते है जिसने पूर्व जन्म मे विशेष पुण्य किया है। धर्म करने से ही इसकी निर्मल कीर्ति प्रगट होती है, तथा उत्तम विद्या, धनादि सम्पत्तिया और निरोगता धर्म से ही प्राप्त होती हैं, धर्म ही इस जीव को महा भयानक वन से बचा लेता है। अधिक क्या कहे, अच्छी तरह पाला गया धर्म, स्वर्ग और मोक्ष के सुखो को प्रदान करता है। तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहा हुआ धर्म, धन चाहने वालो को धन देता है, अभिलषित चीज चाहने वालो को चाही हुई चीज देने मे समर्थ है, सौभाग्य चाहने वालो को सौभाग्य देता है तथा पुत्र चाहने वालो को पुत्र देता है, राज्य चाहने वालो को राज्य देता है। अधिक क्या कहे, इतना ही विशेष समझना चाहिये कि ऐसा कौनसा इष्ट पदार्थ है जो कि धर्म के पालने से इस प्राणी को प्राप्त न हो सके? अर्थात् धर्मात्मा मनुष्यो को सभी इष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाते है। यह धर्म सर्वोच्च स्वर्ग और मोक्ष के सुखो को भी प्रदान करता है ।। २ ।।

अर्थ—जिन्होने पूर्व जन्म मे पुण्य किया है; ऐसे भाग्यवान् पुरुषो को ही जैन धर्म, विशेष ऐश्वर्य की प्राप्ति, सज्जनो की संगति, विद्वानो के साथ तत्व चर्चा करना, भाषण देने मे कुशलता, सदाचार पालने मे चतुराई, शुद्ध शील, और ज्ञान की निर्मलता, ये इष्ट साधन प्राप्त होते है, अतएव प्रत्येक प्राणी को धार्मिक कर्तव्यों के पालने में दृढ रहना चाहिये। यह मानव जीवन बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हुआ है। इसे देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम,

तप, त्याग, इन धार्मिक क्रियाश्रो द्वारा सफल बनाना चाहिए । कहा भी है—आगे उन षट कर्मो को क्रम से निर्दिष्ट करते है—

– देव पूजा और उसका माहात्म्य –

"दाणं पूजा मुक्ख, सावयधम्मो न सावया तेण विणा"

तात्पर्य—गृहस्थो का मुख्य कर्त्तव्य श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, तथा पात्र दान करना है । इनके बिना श्रावक धर्म नही कहा जा सकता । जिनेन्द्र पूजन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है जिनसे यह आत्मा परम्परा से मुक्ति रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति कर लेता है । और शाश्वत सुख प्राप्त करता है । कहा भी है—

जिणपूजा मुणिदाणं,करेइ सो देइसत्तिरूवेण, सम्माइट्ठी सावयधम्मी,सो होइ मोक्ख मग्गरदो।

अर्थ—जो श्रावक श्री तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार मुनिदान करता है, वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है । और वह ही मोक्षमार्ग मे लगा हुआ है । और भी कहा है– (सोमदेवसूरि यशस्तिलक)

एकाऽपि समर्थेयं, जिनभक्तिर्दुर्गति निवारयितुं, पुण्यानि च पूरयितुं दातु मुक्तिश्रियं कृतिन ।

अर्थ—केवल जिनेन्द्र भगवान् की पूजा भक्ति भी विवेकी श्रावक को दुर्गति के दु खो से छुड़ा कर सद्गति मे पहुंचाती है तथा महान् पुण्य बन्ध कराती है, एव परम्परा से मुक्ति-रूपी लक्ष्मी को देती है । और भी कहा है—

कृत्वा न पूजां गुरुदेवयो यः, करोति किञ्चित् गृहकार्यजातम् ।
भक्त्या साहीनः भवतीह पापी, गाढान्धकारे महति प्रविष्ट ॥

अर्थ—जो भगवान् की पूजा किये बिना तथा सद्गुरुओ की उपासना किये बिना भोजन करते है, वे केवल पाप रूपी अन्धकार का भक्षण करते है । **भावार्थ**–श्रावक-जीवन, आरोग्य, इन्द्रियो के भोग उपभोग की सामग्री की तृष्णा के कारण असि, मसी, कृषि, वाणिज्य (व्यापार) आदि जीविका के साधनो मे प्रयत्न करता रहता है तथा भोज्य सामग्री तैयार करने मे एव गृह को शुद्ध रखने मे उसे चक्की, चूल्हा, ऊखल, मार्जनी आदि का आरभ करना पड़ता है । इस आरम्भ जनित पाप की शुद्धि, जिन पूजन और पात्रदान से हो जाती है, इसलिये जो श्रावक जिन पूजन, पात्रदान एव गुरुभक्ति करता है, वह श्रावक अपने आरभ दोपो से उत्पन्न हुए पापो से शुद्धि करके पुण्य वन्ध को प्राप्त करता है इसलिये वह प्रशसनीय धर्मात्मा है, एव जो जिनेन्द्र भक्ति और पात्र दान किये विना भोजन करता है वह पाप रूपी अधेरे को ही खाता है, क्योकि उसके पाप की शुद्धि कदापि नही हो सकती । और कहा—

केचिद्वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः, केचिद्वदन्ति गुणहीनजनो जघन्य ।
अ्रू मोवयं निखिलशास्त्रविशेषविज्ञा· परमात्मन स्मरणहीनजनो जघन्य ॥१॥

अर्थ—कुछ लोगो का यह सिद्धान्त है कि जिसके पास धन नही है अर्थात् जो दरिद्र

है, वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। कुछ लोगो का सिद्धान्त है कि जिसने मानवीय जीवन सदृश उच्च पद पाप्त करके सद्विद्या, सदाचार, आदि मानवोचित गुण प्राप्त नही किये; वह जघन्य कोटि का मनुष्य है। सभी शास्त्रो के विद्वान् तथा हम भी कहते है कि जिसका हृदय भगवान् की भक्ति से शून्य है वह जघन्य कोटि का मनुष्य है, और भी कहा है—

पापं लुम्पति, दुर्गति दलयति, व्यापादयत्यापदं,
पुण्य संचिनुते, श्रियं वितनुते, पुष्णाति नीरोगताम्।
सौभाग्यं विदधाति, पल्लवयति प्रीतिं, प्रसूते यश.,
स्वर्गं यच्छति, निर्वृतिं च रचयत्यर्चार्हतां निर्मिता ॥९॥ (सुक्तमुक्तावली)

अर्थ—श्री तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा करने से पाप नष्ट होते है, दुर्गति के दु ख दूर होते है, और आपत्तिया नष्ट हो जाती है, पुण्य का संचय होता है, धनादि लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, शरीर नीरोग रहता है, उत्तम भाग्योदय होता है, समस्त लोग भगवान् के भक्त से प्रेम करने लगते है उसकी कीर्त्ति होती है और स्वर्ग तथा परम्परा से मोक्ष सुख की प्राप्ति भी भगवान् की पूजा से होती है। कहा भी है—

"देवान् गुरून् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमति स्यात्" (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी तीर्थङ्कर भगवान् की सेवा पूजा करने वाला तथा निर्ग्रन्थ (बाह्य और अभ्यन्तरपरिग्रहरहित) सम्यग्ज्ञान और आत्मध्यान मे लीन, ऐसे साधुओ की उपासना करने वाला तथा भगवान् तीर्थङ्कर के कहे हुए दयामयी धर्म की भक्ति करने वाला प्राणी कभी दु खी नही हो सकता। इस बात को "चक्की के कीले के पास के दाने" इस लौकिक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। गेहूँ आदि अन्न पीसने वाली चक्की मे जितने गेहू वगैरह के दाने डाले जाते है, उनमे चक्की के कीले के पास के दाने नही पिसते और सब पीस जाते है। उसी प्रकार हे भव्य प्राणियो! यह ससार रूपी महा भयानक चक्की है। इसके जन्म मरण रूपी दो पाट है। प्राय' इसमे पड कर सभी जीव पीस जाते है एव दुःखी होते है किन्तु जो धर्मात्मा पुरुष सच्चे देव, शास्त्र और गुरु रूपी कीले का आश्रय करता है वह कभी इस भयानक ससार रूपी चक्की मे नही पिसता। क्योकि उसे स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होकर परम्परा से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार पारस पत्थर के सयोग से लोहा सुवर्ण हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर रूप पारस मणि के सयोग से यह प्राणी भी विशद ज्ञानी और तेजस्वी हो जाता है। कहा भी है—(भक्तामरस्तोत्र)

"नात्यद्भुत भुवन भूषण भूतनाथ, भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा, भूत्याश्रित य इहनात्मसमं करोति॥ १०॥

अर्थ— हे संसार के भूषण! आपके पवित्र गुणो से आपकी स्तुति और पूजन करने

वाले मनुष्य, आपके समान हो जाते है—इसमे कोई आश्चर्य नही है, क्योकि दुनिया में वे स्वामी मान्य नही है, जो अपने अधीन सेवकों को धन द्वारा अपने समान नही बनाते ।

※ ईश्वर भक्ति का माहात्म्य ※

'एकचित्तेन यो धीमान्, वीतरागं भजेत् सदा, स्वर्गराज्यादिकं सर्वं, भुक्त्वा स तादृशो भवेत्।
वीतरागं परित्यज्य,रागद्वेषान्वितं भजेत्, त्यक्त्वा चिन्तामणिं सोऽत्र, लोष्टं गृह्णाति दुर्मतिः ।
जिनस्मरणमात्रेण, शोकक्लेशभयादिकं । शाकिनीग्रहरोगादिदारिद्र्यं च विनश्यति ।। ४१ ।।
द्वौ देवौ सेवते मूढ़ो, द्वौ धर्मो द्वौ गुरू च य., उन्मत्तवत् स विज्ञेयः, कार्याकार्यविचारकः ।४२।
विबुधकुमुदचन्द्रं सर्वदुःखापहारं, त्रिभुवनपतिसेव्यं धर्मरत्नाकरं वै ।। ४३ ।।
स्वपरहितमपार, स्वर्गमोक्षैकहेतु , सकलगुणनिधानं, तीर्थनाथं भज त्वम् ।। ४४ ।।"

अर्थ—जो ज्ञानवान् मनुष्य मन लगा कर तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा और भक्ति करता है वह स्वर्ग लक्ष्मी को प्राप्त कर तीर्थङ्कर भगवान् के समान मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है । जो व्यक्ति वीतराग सर्वज्ञ भगवान् की भक्ति पूजा को छोड कर रागी द्वेषी कुदेवो की पूजा करता है, वह मूर्ख चिन्तामणि को छोड़कर पत्थर उठाता है । जिनेन्द्र भगवान् के पवित्र गुणों के स्मरण करने से शोक भय आदि के कष्ट, भूत, प्रेत और ग्रहों के कष्ट तथा शारीरिक दुःख एवं दरिद्रता आदि के दुःख नष्ट हो जाते है । जो मूर्ख दोनो परस्पर विरोधी देवो को (वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्कर देव तथा कामी, क्रोधी, सरागी, कुदेव) तथा दो धर्मो (अहिसा और हिंसा रूप) को, दो गुरुओ (आरभ और परिग्रह रहित गुरु) का सेवन करता है या उनकी भक्ति पूजा करता है, वह उन्मत्त के समान कर्त्तव्य के ज्ञान से रहित, वैनयिक मिथ्यादृष्टि है । हे भव्य ! तू ऐसे तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा भक्ति कर जो कि विद्वान् रूपी कुमुदो को (चन्द्र विकासी कमलो को) प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्रमा के समान है, समस्त दुःखो का नाश करने वाले हैं, देवेन्द्र चक्रवर्त्ती द्वारा पूज्य हैं, धर्मरूपी रत्नों के लिये समुद्र है, अपना तथा पर का कल्याण करने वाले हैं, स्वर्ग और मोक्ष के कारण है एव सहस्र गुणो के खजाने है । आगे और भी भगवान् की स्तुति का महत्व वर्णन करते हैं—

"त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं, पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम्—
माक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु— सूर्यांशुभिन्नमिवशार्वरमन्धकारम् ।। ७ ।।

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी स्तुति, भक्ति पूजन करने से प्राणियो के बहुत जन्मो के पाप क्षण भर मे नष्ट हो जाते है जैसे, सूर्य की किरणो से रात्रि का भ्रमर के समान काला अंधेरा शीघ्र नष्ट हो जाता है । और भी कहा है—

"ज्योतिर्जालमिवाब्जिनी प्रियतम, प्रीतिर्न तं मुञ्चति,
श्रेय. श्रीर्भवतीह तत्सहचरी, ज्योत्ना सुधांशोरिह ।

सौभाग्यं तमुपैति नाथमवने: सेनेव तं कांक्षति,
स्वर्ग ह्याब्धिसुतावशेवतरुण, योऽर्चाम् विधत्तेऽर्हताम् ।। १ ।।
स: श्लाध्य. कृतिनां तति: सुकृतिनां, तं स्तौति तेनात्मनो,
वशोऽशोभि नमन्ति योजितकरास्,तस्मै व्रजा: भूभुजां ।
तस्मान्नऽ प्रथित: परोऽस्तिभुवने, जागर्ति चित्तार्तिहृत्,
कीर्तिस्तस्य वसन्ति भोगनिवहास्,तस्मिन् जिन यो ऽर्चति ।। २ ।।
न भ्रू साटोपकोपा न च करयुगल, चापचक्रादिचिह्नम्,
कान्ता कान्तश्च नाको न च मुखकमलं, सप्रकोपप्रसादं ।
यानासीना न मूर्तिर्न च नयनयुग, कामकामाभिरामं,
हास्योत्फुल्लो न गल्लो, स भय भवभिदो, यस्य देव स सेव्य ।। ३ ।।"

अर्थ—जो धार्मिक पुरुष तीर्थङ्कर भगवान् की भक्ति व पूजन करता है उससे सभी प्राणी स्नेह करने लगते है वह जनता का इतना प्रीति पात्र बन जाता है कि लोक उसको इस प्रकार नही छोडते कि जैसे सूर्यकी किरणे सूर्यको । चन्द्रिका जिस प्रकार चन्द्रमा को नही छोडती उस प्रकार उसको कल्याण रूपी लक्ष्मी भी नही छोडती । एव स्वर्गलक्ष्मी भी उस पुरुष को इस प्रकार चाहती है-जैसे, तरुणी तरुण पुरुष को चाहती है ।।१।। जो जिनेन्द्र भगवान् की पूजा भक्ति करता है उसकी पुण्यवान् पुरुष प्रशसा एव स्तुति करते हैं, उसी जिनेन्द्र-भक्त द्वारा कुटुम्ब की शोभा बढती है, राजा लोग भी उसे हाथ जोडकर नमस्कार करते है, ससार मे उसकी अत्यन्त प्रशंसा होती हैं; उसकी कीर्त्ति जगत् मे विस्तृत हो जाती है और उसको उत्तम चक्रवर्ती के भोगोपभोग की सामग्री मिलती है ।। २ ।। जिसकी भ्रकुटी क्रोध के कारण चढी हुई नही है तथा जिसके हाथो में धनुष चक्र आदि हथियार नही है, जिसके पास स्त्री नही है, जिसके मुख पर क्रोध या राग की छटा नही है, जिसके गाल हसी से फूलेहुए नही है-ऐसा वीतराग देव है, उसके क्षुधातृषादिक अष्टादश दोष नही है वह सर्वज्ञ और हितोपदेशी है, ऐसे तीर्थङ्कर भगवान् की पूजन करनी चाहिये ।। ३ ।। समन्तभद्राचार्य, जो कि विक्रम की दूसरी शताब्दी मे हुए है मूलसघ के विद्वच्चक्रचूडामणि बडे भारी दार्शनिक एव बहुश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य थे । इनका हृदय भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति से ओतप्रोत था । भस्मक व्याधि के कारण इन्होने आचार्य श्री की आज्ञा से मुनि दीक्षा को छोड दी थी, उस समय काशी मे शिवजी के मन्दिर मे सब मिष्टान्न खा जाया करते थे । कुछ दिन के पश्चात् जब भस्मक रोग चला गया तब उनके खाने से मिष्टान्न बचने लगा । फिर शिव कोटी राजा, जो कि उस शिव मन्दिर के सरक्षक एवं शिव भक्त थे, उन्होने पता लगाया कि यह क्या कारण है कि प्रथम तो शिवजी का भोग नही बचता

था वह अब क्यों बचता है? अनन्तर पता चल गया कि इस मिष्टान्न के भोगी समन्तभद्र है; उनसे कहा गया कि आप शिवजी को नमस्कार करो,उन्होने राजा के क्रूर आग्रह पर भी उनको नमस्कार नही किया, अनन्तर स्तुति भी की तो स्वयभू स्तोत्र द्वारा२४तीर्थङ्करो की ही की, तत्पश्चात् उस शिवलिङ्ग मे चन्द्रप्रभभगवान् की मूर्त्ति निकली। उनका वाक्य निम्नलिखित है-

"सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते, द्विषत्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि, प्रभो ! पर चित्रमिदं तवेहितम् ।। ६६ ।।

अर्थ—हे भगवन् ! आपके भक्त अपने आप धनाढ्य तथा स्वर्ग लक्ष्मी को प्राप्त होते है । जो आपकी निन्दा करता है, वह व्याकरण के क्विप्प्रत्यय के समान नरक निगोद के कष्टो को सहता है, किन्तु आप उदासीन हो, यह सचमुच आश्चर्यकारी है । इत्यादि भक्ति का प्रवाह बहाया है ।

– अब पूजन के प्रकारादि दिखाते है –

पूजन के सक्षेप से दो भेद हैं (१) प्रत्यक्ष पूजन (२) परोक्ष पूजन । प्रत्यक्ष पूजन वह है जो समवसरण मे गधकुटी के मध्य अष्ट प्रातिहार्यातिशय से विराजमान तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा की जाती है, क्योकि भगवान् तीर्थङ्कर अनन्त दर्शन, अनत ज्ञान, अनत सुख और अनंत वीर्यरूप अनंत चतुष्टय सहित जीवनन्मुक्त अवस्था मे विराजमान है । यद्यपि आजकल इस भरत क्षेत्र मे साक्षात् अरहन्त भगवान् नही है किन्तु विदेह क्षेत्र मे सीमन्धर स्वामी आदि २० तीर्थङ्कर विद्यमान है, उनकी वहा जो पूजन की जाती है वह भी प्रत्यक्ष पूजन है । उन तीर्थङ्कर अर्हन्त की प्रतिमा की जो अर्हन्त की स्थापना पूर्वक पूजा की जाती है, वह परोक्ष पूजन है । और भी कहा है— (बोधपाहुड १०-११ गाथा)

स परा जंगमदेहा, दंसणणाणेण सुद्धचरणाण, णिग्गथ वीयराया, जिणमग्गे एरिसा पडिमा।
जं चरदि सुद्धचरणं, जाणइ पिच्छेई सुद्धसम्मत्तं, सा होइ वदणीया णिग्गंथा सजदा पडिमा।

अर्थ—अनन्त चतुष्टय करि सहित तीर्थङ्कर भगवान् की बाह्य आभयन्तर परिग्रह रहित शरीर वाली, जाके कछू परिग्रह का लेश नाही ऐसी दिगम्बर प्रतिमाए वीतराग स्वरुप हैं । जिनधर्म विषै ऐसी प्रतिमाए कही है । जो शुद्ध आचरण कूं आचरे बहुरि सम्यग्ज्ञान करि यथार्थ वस्तु को जाने है, सम्यग्दर्शन करि यथार्थ अपने स्वरूप देखे है, ऐसे शुद्ध सम्यक् जाके पाइये है, ऐसी निर्ग्रन्थ सयम रूप प्रतिमा है सो वदिवे वा पूजने योग्य है । (प० जयचन्द्रजी) और भी कहा है—

सो देवो सो अत्थं, धम्म कम्म सुदेइ णाणं च ।
सो देई जस्स अत्थि, दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ।।२४।। (बोध प्राभृत)

अर्थ—देव तिनकूं कहते है, जो अर्थ कहिये धन, अर धर्म अर काम कहिये इच्छा का विषय ऐसा भोग, बहुरि मोक्ष का कारण सम्यग्ज्ञान,सम्यक्चारित्र कू देवे। तहां यह न्याय है,

जो वाके वस्तु होय सो देवे, अर जाके जो वस्तु न होय सो कैसे देवे, इस न्याय करि अर्थ, धर्म स्वर्गादिक के भोग अर मोक्ष का सुख का कारण प्रव्रज्या कहिये दीक्षा जाके होय सो देव जानना। **भावार्थ**—ऊपर जो देव का लक्षण कहा गया है, उसके स्वामी तो अर्हन्त देव ही है, सो उन्ही की भक्ति स्तुति सपर्या (पूजन)करना योग्य है, क्योकि इनकी भक्ति भव्य प्राणियो को संसार समुद्र से पार करने के लिये जहाज का काम करती है। और भी कहा है-

त्व तारको जिन कथ भविनां त एव, त्वामुद्वहति हृदयेन यदुत्तरन्त. ।
यद्वा दृतिस्तरति तज्जलमेषनून, मन्तर्गतस्य मरुत स किलानुभाव ।। १० ।।

अर्थ—हे स्वामिन् ! आप ससार के प्राणियो को ससार समुद्र से पार करने वाले हो, यह कैसे ? ठीक तो यह है कि ससार के प्राणी आप को अपने हृदय मे विराजमान कर के स्वयं ही पार होते हैं, यह उचित ही है; क्योकि मशक जो पानी के ऊपर तैरती हुई प्रतीत होती है उसका कारण यह है कि उसके अन्दर हवा भरी हुई है। उसी प्रकार हे नाथ! जो आपके पवित्र नाम रूपी वायु को हृदय में धारण करता है, वह पाप रूपी बोझे से हलका होकर अवश्य ससार समुद्र से पार होगा यह ध्रुवसत्य है त्रिकालाबाधित है, ऐसे वीतरागी, त्रिकालदर्शी और हितोपदेशी तीर्थङ्कर प्रभु की जगम प्रतिमा होती है जो कि साक्षात् इस काल मे नही है; यह अवश्य है कि अरहत भगवान् की कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाए मौजूद हैं; ये प्रतिमाएं साक्षात् अरहत भगवान् के समान हैं, केवल इनमे और अरहत भगवान् में चेतनता और अचेतनता का ही अन्तर है; ऐसी प्रतिमाओ की भक्ति, पूजा, इन्द्रादिक देव-स्वयं जाकर करते है जिससे उन्हे सातिशय पुण्य बन्ध होता है। कहा भी है— **— तीनो लोकों मे जिन मंदिर और प्रतिमाए —** (त्रिलोकसार)

भवणवितर जोइस, विमाणणरतिरियलोयजिणभवणे, सव्वामरिंदनरवइ, संपूजिय वंदिए वदे।

अर्थ—इस लोकाकाश के तीन भेद हैं, (१) अधोलोक (२) मध्यलोक (३) और ऊर्ध्वलोक। इन तीनो लोको मे भगवान् जिनेन्द्र के असख्यात जिन मदिर है, उनकी गणना बताते है। अधोलोक मे (खरभाग, पङ्कभाग मे) व्यन्तर और भवनवासी देवो के निवास है अर्थात् उनके महल है। उनमे से व्यन्तरो को छोड़कर भवन वासियो की सख्या ७,७२,००००० सात करोड बहत्तर लाख है। एक एक चैत्यालय मे पांचसौ धनुष के आकारवाली १०८ एक सौ आठ खड्गासन एव पद्मासन अकृत्रिम जिन बिम्ब विराजमान है। मध्यलोक के अकृत्रिम चैत्यालयो का प्रमाण निम्न पद्य से बतलाते हैं—

"नव नव चतु. शतानि च, सप्त च नवतिः सहस्त्रगुणिता षट्च ।
पंचाशतपचवियं, त्प्रहता पुनरत्रकोटयोऽष्टौ प्रोक्ताः ।।"

अर्थ—मध्यलोक मे ४५८ चैत्यालय है। वे चैत्यालय दो प्रकार के है (१) पूर्ण

चैत्यालय, जिन मे ऊपर लिखे प्रमाण प्रतिमा विराजमान है (२) अर्द्ध चैत्यालय, जिनमें ५४ प्रतिमाए विराजमान हैं। ऊर्ध्व लोक मे वैमानिक देवों के ८,४९,७०२३ जिन मन्दिरो की सख्या है। इन के सिवाय और भी असख्यात जिन मदिर है। व्यन्तर और ज्योतिषी देवो के है ऐसा भी पाठ है। ये चैत्यालय भी १०८ एक सौ आठ जिन बिम्बों कर शोभायमान है। उक्त अकृत्रिम चैत्यालयो की प्रतिमाए बहुत मनोज्ञ है, मानो अपने मुखारविन्द से दिव्यवाणी का ही उपदेश देती है, करोड सूर्य और चन्द्रमा की काति को तिरस्कृत करती हैं। जिन के पवित्र दर्शन मात्र से ही जन्म जन्मान्तरो के पाप नष्ट हो जाते है और सम्यग्दर्शन रूपी चिन्तामणि को प्राप्ति होती है; जिनकी आदर्श रूप मुद्रा के दर्शन से महा वैराग्य रूप परिणाम हो जाते है; ये प्रतिमायें पृथिवीकायिक अचित्त द्रव्य की होती है, इनके दर्शनो का सौभाग्य देवन्द्र, देव तथा चक्रवर्त्ती, नारायण, आदि पुण्यशाली पुरुषो को होता है और वे लोग दर्शन के प्रभाव से ससार समुद्र से पार होकर वास्तविक सुख को प्राप्त करते है।

"णवकोडि सयापणवीसा, लक्खा त्तिप्पण सहस सगवीसा ।
नउसय तइ अड़याला, जिण पड़िमा अकिट्टम वंदे ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् की समस्त अकृत्रिम प्रतिमाये नवकोड सो पच्चीस आदि अर्थात् ९,२५,५३,२७,९४८ (नौ अरब पच्चीस करोड तरेपन लाख सत्ताईस हजार नौ सो अडतालीस) है उनको वदता हूँ, इस काल मे भगवान् की मूर्त्ति ही आत्म कल्याण के लिये सच्चा सहारा है। यह ससार समुद्र से पार करने के लिये नौका के सदृश है। वीतराग भावो को उत्पन्न करने मे निमित्त कारण है। कहा भी है— (यशस्तिलक)

"आप्तस्यासन्निधानेऽपि, पुण्याया कृति पूजनम्, ताक्ष्यं मुद्रा न कि कुर्यात् विषसामर्थ्यसूदनम् ।

अर्थ—तीर्थङ्कर भगवान् के न होने पर भी उनकी प्रतिष्ठित प्रतिमाओ की भक्ति, पूजन से महान् सातिशय पुण्य बंध होता है जैसे, गरुड के न होने पर भी उसकी मूर्त्ति मात्र से क्या सर्प का विष नही उतरता ? अवश्य उतरता है। ससार मे बाह्य निमित्त के अनुकूल प्राणियो के भाव होते हैं। दृष्टान्त के लिये यदि कोई मनुष्य वेश्या की फोटो देखता है तो उसके हृदय मे काम वासना पैदा हो जाती है। यदि कोई पुरुष किसी वीर पुरुष की फोटो देखता है, तो उसमे वीर रस का सचार होता ही है। तथा यदि साधु महात्माओ की फोटो देखता है, तो उसके हृदय मे वैराग्यभावो का सचार होता है। उसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान् की आदर्श प्रतिमा के तथा दर्शन पूजा से आत्मामे वीतराग विज्ञान भावो का सचार हुए विना नही रहता। तीर्थङ्कर भगवान् की प्रतिमा के देखने से आत्मा मे ये भाव होते हैं कि धन्य है इन का आदर्श त्याग, धन्य है इनकी आत्मिक और शारीरिक शक्ति जिसके द्वारा

अनादि कालीन वैभाविक शक्ति से उत्पन्न हुई आत्मिक वैभाविक परिणति को नाश कर आत्मा स्वाभाविक, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप शक्ति को प्राप्त कर जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए हैं। वीतराग प्रभु की प्रतिमा के दर्शन से वीत-राग भावो की उत्पत्ति होती है। यदि वीतराग प्रभु की मूर्त्ति न होती, तो फिर हमारी आत्मा में ये आदर्श भाव भी पैदा नही हो सकते। तब हम मोक्ष के उपाय को नही सोच सकते और सांसारिक विषय कषाय रूपी कीचड से किसी प्रकार नही निकल सकते, अत तीर्थ-ङ्कर भगवान् की मूर्त्ति धार्मिक भाव पैदा करने मे प्रधान कारण है। जो लोग ये कहते है, कि जैन लोग पत्थर की उपासना करने वाले है, वे लोग जैनाचार्यो के सिद्धातसे अन-भिज्ञ है; क्योकि जैन लोग तीर्थङ्कर भगवान् की मूर्त्ति को देखकर भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी आत्मा की विशुद्ध वीतराग विज्ञान परिणति की उपासना करते है कि हे प्रभो! आपने राज्य लक्ष्मी को तृण के समान अगण्य समझते हुए त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की जिसमे लेश मात्र भी आरम्भ परिग्रह नही होता तथा आपने ध्यान रूपी प्रज्वलित अग्नि से घातिया रूप कर्म इन्धन को भस्म किया। जिससे आपकी आत्मा मे अनन्त चतुष्टय उत्पन्न हो गये तथा जन साधारण मे पाये जाने वाले क्षुधा, तृषा, भय, राग, द्वेष, चिन्ता आदि १८ अठारह दोषो से रहित होकर आप वीतरागता की परा काष्ठाको प्राप्त हुए। आपकी आत्मा मे अनन्त गुण है जिन्हे बृहस्पति भी निरूपण करने मे असमर्थ हैं फिर हम सरीखे अल्पज्ञानी उनका निरूपण कर किस प्रकार भक्ति प्रदर्शन कर सकते है तथापि "दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्य" अर्थात् दीपक की लो से क्या सूर्य की उपासना नही की जाती? उसी नीति के अनुसार आप की भक्ति के कारण उपासना करने को तत्पर हो रहे है। हे प्रभो! आपने केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर उस महान् धर्मतीर्थ का निरूपण किया, जिसकी छत्र-छाया मे रहकर संसार के प्राणी आवागमन से छुटकारा पाकर वास्तविक मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति करते है इत्यादि रूप से जैन लोग मूर्त्ति को देखकर उस मूर्त्तिमान् तीर्थङ्कर प्रभु की उपासना करते हैं। यदि जैन लोग मूर्त्ति देख कर पत्थर की उपासना करते कि हे पत्थर! तू कहा से आया? तू बड़ा मनोज्ञ है, तब जैन लोगो पर पत्थर की उपासना का दोष दिय जा सकता था, किन्तु ऐसा कदापि नही है। **प्रश्न**—जैन लोग केवल ऋषभ देव आदि की मूर्त्ति को क्यो पूजते हैं? अन्य देवो की मूर्त्तियो को क्यो नही पूजते? क्या वे जैनो के शत्रु है? **उत्तर**—इसका समाधान इस प्रकार जानना चाहिए—

"बंधुर्न न स भगवान् रिपवोऽपिनान्ये, साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषां।
श्रुत्वा वच सुचरित च पृथग्विशेषं, वीरं गुणाश्रयजलोलतयाश्रिता स्म॥"

अर्थ—भगवान् महावीर हमारे सगे भाई नही है और न दूसरे हरि हरादिक हमारे

शत्रु ही हैं। जितने भी धर्म प्रवर्त्तक विशिष्ट पुरुष हुए है उन में से एक को भी हमने प्रत्यक्ष नही देखा; किन्तु अलग २ उनके कहे हुए शास्त्रों को पढ़ा है तथा उनमे जीवन चरित्र पढे है। अन्त मे हमने निष्पक्ष दृष्टि से यह निष्कर्ष निकाला है कि दूसरे देवों मे राग द्वेष, मोह, अज्ञान आदि दोष देखे जाते है जब कि हमारे ऋषभ देव से लेकर वीर प्रभु पर्यन्त २४तीर्थङ्कर वीतराग, विज्ञानता, स्वार्थत्याग (हितोपदेशी सद्गुण) आदि गुणो की निधि थे, परमात्मा थे, सच्चे धर्म तीर्थके प्रवर्त्तक थे। इसलिये निर्दोषी होने के कारण एव सद्गुणो की निधि होने के कारण हम उन तीर्थङ्कर भगवान् की भक्ति स्तुति तथा पूजा करते है, उनकी प्रतिमाओं की भक्ति, स्तुति करने से शुद्ध आदर्श की स्मृति के कारण हमारा आत्म-कल्याण होता है। कहा भी है--

प्रश्न—प्रतिमा धातु पाषाण की, प्रगट अचेतन अंग।
पूजकजन को पुंण्य फल, क्योंकर देय अभग।।
उत्तर—भाव सुभाग सुजीव के, उपजे कारण पाय।
पुण्य पाप इनतें बधे, यो भाखो जिनराय।। १ ।।

सारांश–जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओ से उन तीर्थङ्करो का स्मरण होता है, जोकि हमारे जैन धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक हुए है।

– कृत्रिम प्रतिमाएं क्या है ? –

धातु— (पीतल–चादी और सुवर्ण आदि) पाषाण संगमरमर आदि तथा स्फटिक मणि, हीरा, पुखराज, आदि जवाहरातो से सामुद्रिक शास्त्र के आधार से बनी हुई प्रतिमाओ को कृत्रिम प्रतिमाये कहते है।

– कृत्रिम प्रतिमाओं का प्रादुर्भाव –

इनकी स्तुति, भक्ति आदि महान् सातिशय पुण्य बंध का कारण है। इस भरत क्षेत्र मे जितने भी जिन चैत्यालय (कृत्रिम) है वे सब विदेह क्षेत्र की वर्त्तमान रचना के अनुसार बनाये गये है। क्योकि जब भरत क्षेत्र मे भोग भूमि की रचना का अन्त हुआ और कर्म भूमि का प्रारम्भ हुआ उस समय यह रचना नही थी। जब आदिनाथ तीर्थङ्कर अवतीर्ण हुए उस समय प्रजा के लोगो को कर्मभूमि की रचना का ज्ञान नही था। अत एव भगवान् आदिनाथ प्रभु ने इन्द्र को आज्ञा दी कि जिस प्रकार रचना विदेह क्षेत्र मे है उसी प्रकार की रचना यहा पर भी करो जिससे कि प्रजाका कल्याण हो। जिन कल्पवृक्षो से प्रजा के जीवन का निर्वाह होता था वे नष्ट प्राय हो चुके थे। इस लिये प्रजा के लोग क्षुधा से पीडित होकर आजीविका के उपायो को पूछने के लिये भगवान् ऋषभ देव के पास पहु चे। भगवान् ऋषभ देव ने इन्द्र के द्वारा विदेह क्षेत्र के अनुकूल प्रजा को असि, मषी, कृषि, वाणिज्यादि जीविका के षट्कर्मो का उपदेश दिलवाया तथा जिन मन्दिर बनवाया, प्रतिमाओ की स्थापना करना आदि धार्मिक क्रियाएं भी समझाई। भगवान् की आज्ञानुसार इन्द्र ने

जनता को सब रचना स्पष्ट समझाई, क्योंकि इन्द्र अवधिज्ञानी और द्वादशाग के पाठी होते है, अत. उसके द्वारा प्रचार शीघ्र हुआ, जिस प्रकार के चैत्यालयो या प्रतिमाओ की रचना उस काल में जनता को समझाई गई थी, ऐसी ही रचना यहा पर मौजूद है । जो लोग यह मानते हैं कि मूर्त्ति पूजा जैनो ने अभी कुछ दिनो से चलाई है, यह उनका भ्रम है । वे यदि निष्पक्ष दृष्टि से जैन सिद्धान्तों को पढे, तो उनको प्रतीत हो जावेगा कि यह धार्मिक क्रिया कर्मभूमि की आदि से चली आ रही है एव महाजन परिगृहीत है अर्थात् बड़े २ पूज्य पुरुषो द्वारा विधेय है, अतएव पूज्य परिगृहीत यह मार्ग परम श्रद्धेय है । प्रतिमा उन पूज्य धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक तीर्थङ्करो की स्मारक है जिनके पवित्र नाम के स्मरणमात्र से श्रीपाल जैसे कुष्टो का कुष्ट दूर हो गया, वादीभसिह जैसे रोगियो का रोग दूर होकर स्मरण मात्र से सुवर्णमय कान्तिमान् शरीर हो गया, जिनकी पवित्र भक्ति से धनञ्जय कवि के पुत्र का सर्प-विष दूर हो गया, जिनकी सच्ची भक्ति से सीता का प्रज्वलित अग्निकुण्ड जलप्रवाह रूप मे परिवर्तित हो गया इसलिये सच्चे आत्मविश्वास से भव्य प्राणियो को तीर्थङ्कर भगवान् की आकृति-प्रतिमाए पूजनी चाहिये । जिससे कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर वास्तविक सुख प्राप्त हो सके । और कहा भी है—

"जिने भक्तिर्जिने भक्ति,र्जिने भक्ति सदाऽस्तु मे ।
सम्यक्त्वमेव ससार,वारणं मोक्षकारणम् ।। १ ।।"

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति मेरे हृदय मे सदा रहे जिसके द्वारा ससार के दु खो को नष्ट करने वाला सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है ।

नये मदिर बनवाने की अपेक्षा जीर्णोद्धार में विशेष पुण्य

वर्त्तमान मे हमारे देश मे प्राचीन और अर्वाचीन जिन मदिर और जिन प्रतिमाये बहुत काफी सख्या मे पाई जाती है, कही २ तो पूजन प्रक्षाल तक की भी व्यवस्था नही होती । प्राचीन अनेक जिन मन्दिर जीर्ण और शीर्ण अवस्था मे मौजूद है; इसलिये उनका जीर्णोद्धार होना विशेष आवश्यक एव सातिशय पुण्य बन्ध का कारण है । शास्त्रकारो ने नये मन्दिर बनवाने की अपेक्षा प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार करना विशेष पुण्य बध का कारण बतलाया है । अभिप्राय यह है कि जहा पर जिन मन्दिर नही है वहा भव्य प्राणियों के धर्म-साधन के लिये नया मन्दिर बनवाने वालो को धर्म स्तम्भ खडा करने के कारण सातिशय पुण्य का बंध अवश्य है परन्तु जहा जिन मन्दिर मौजूद है वहां पर अपनी नाम वरी या मान कषाय की पुष्टि के लिये नया मन्दिर बनवाना कोई विशेष लाभ कारक प्रतीत नही होता है । हमारा यह अभिप्राय नही है कि नये मन्दिर या नई प्रतिमाये वनवाने वाले व्यक्ति पापी है, क्योकि जो व्यक्ति व्यापार आदि जीविकोपयोगी साधनो से गाढी कमाई

द्वारा धन संचित करके, उससे नये मदिर बनवाना या प्रतिमाएं बनवाना आदि धर्म रक्षा के कार्यों मे खर्च करके अपनी उदारता एवं धार्मिक निष्ठा का परिचय देता है, वह अवश्य पुण्य बन्ध करता है, परन्तु यदि वह पुरातन मंदिरों के जीर्णोद्धार में, तथा जहा पूजन प्रक्षाल नही होती वहा पर पूजन प्रक्षाल के प्रबन्ध में अपनी गाढी कमाई से संचित की हुई सम्पत्ति को लगावे तो उसे विशेष सातिशय पुण्य बन्ध होगा। साथ मे जैन समाज के धर्मायतनो की रक्षा होने से जैन धर्म की संस्कृति और सभ्यता की रक्षा का भी महान् श्रेय उसे प्राप्त होगा; इसलिये समाज के धर्मात्मा सज्जनो को पुराने मदिरो का जीर्णोद्धार करना व कराना चाहिये तथा पुराने शास्त्रो को विद्वानो द्वारा प्रतिलिपि कराकर उन्हे प्रकाशित कराना चाहिये; यदि ऐसा न होगा तो वे मदिर और शास्त्र नष्ट भ्रष्ट हो जावेगे, जहा पर शास्त्र भडार बन्द पड़े हुए है जो कि सदियो से खोले तक नही गये उन्हे खुलवाकर जिनवाणी माता को बन्धनो से मुक्त करना और जिन भक्ति का श्रेय प्राप्त करना चाहिये। यदि उक्त कार्य—(जीर्णोद्धार) (तथा सरस्वती भवनो को खोलकर उन का रक्षण) न किया जावेगा तो हमारे धर्मायतन तथा जिनवाणी नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। ऐसा होने से हम अपनी संस्कृति, सभ्यता और आचार विचार खो बैठेगे। हम फिर सस्कृति तथा सभ्यता के अभाव मे ऐसे ओधे मुंह गिरेगे कि अवनति का ठिकाना न रहेगा। इस लिये जहा २ पर शास्त्र भडार बद पडे हुए है, वहां की पंचायत को प्रेरणा कर भंडार खुलवाने चाहिये। तथा स्थान २ पर सम्यग्ज्ञान आयतनो (पाठशाला एव विद्यालयो) को खुलवा कर उससे निकले हुए विद्वानो द्वारा ससार मे जैन धर्म के पवित्र सिद्धान्तो को चमकाकर सातिशय पुण्य बध करना चाहिये। और भी कहा है— [प्रबोधसार]

"नश्यत्येव ध्रुवं सर्वं, श्रुताभावेऽत्रशासनं।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन, श्रुतसार समुद्धरेत् ॥१॥

अर्थ—शास्त्र ज्ञानी विद्वानो के बिना धर्म नष्ट हो जावेगा इसलिए पूर्ण प्रयत्न से शास्त्रो तथा शास्त्र-ज्ञानी विद्वानों को बहु संख्या में तैय्यार करने का प्रयत्न करो, क्योकि बिना ज्ञान के प्रचार से धर्म की वृद्धि-उन्नति-नही हो सकती है और न समाज की भी श्रीवृद्धि हो सकती है।

पूजा द्रव्य का वर्णन —

"प्रात. प्रोत्थाय तत कृत्वा, तात्कालिक क्रियाकल्पं।
निर्वर्तयेद्यथोक्त, जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यै ॥ १५४ ॥ [बृहत्स्वयभू स्तोत्र]

अर्थ—प्रात. काल उठकर प्रात. काल सम्बन्धी शारीरिक शुद्धि (स्नानादि) करके श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान् की पूजा प्रासुक (अचित्त) आठों द्रव्यो (जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल) द्वारा भक्ति पूर्वक यथाविधि करनी चाहिए। शङ्का—यह श्लोक

प्रोषधव्रती के प्रकरण का है। इससे सर्व साधारण पर किस प्रकार समन्वय होगा ? उत्तर—यद्यपि शास्त्रकारों ने सचित्त द्रव्यो से पूजन करने का निषेध नही किया है, परन्तु हम तो आचार्यवर श्री समन्तभद्रस्वामी के इस निम्न निर्दिष्ट आदर्श मय सिद्धान्त को महत्व देते है-

"पूज्यं जिनं त्वार्चयतोजनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य,न दूषिका शीतमिवाम्बुराशौ ।।५८।।

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी जल, चन्दन, अक्षत,आदि अष्ट द्रव्यो से पूजन करने वाले को यद्यपि प्रारम्भ सम्बन्धी दोष का लेश (अंशमात्र) होता है, किन्तु आपकी भक्ति और पूजन के माहात्म्य से विशेष सातिशय पुण्य राशि का बन्ध होने के कारण वह दोष नगण्य है अर्थात्—गिना नही जाता है–जैसे,बडे भारी अथाह समुद्र मे विष की बूद की कोई गिनती नही है, इसलिये भव्य प्राणियो को सचित्त पूजन की अपेक्षा अचित्त प्रामुक द्रव्य से पूजन करना विशेष लाभदायक है; ऐसा हमने समझा है। शङ्का—यदि आप जिन पूजा आदि धार्मिक क्रियाओ मे कम से कम आरम्भ का समर्थन करते है तब तो जिन-मन्दिर बनवाना उसकी प्रतिष्ठा आदि धार्मिक क्रियाओ मे तो विशेष आरम्भ होता है तो उसका भी निषेध होना चाहिये ? उत्तर—यद्यपि मन्दिर आदि निर्माण मे विशेष आरम्भ होता है किन्तु उसके बिना धर्म का मूलोच्छेद (जड से नष्ट होना) सम्भव है; इसलिये पूर्वाचार्यों ने गृहस्थो के कल्याणार्थ मन्दिर बनवाना और प्रतिष्ठा रथ यात्रादि कराने का आदर्श मार्ग निरूपण कर इन्हे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण बतलाया है क्योकि जब तक मंदिर रहेगा तबतक अनेक भव्य प्राणी श्रीमज्जिनेन्द्र की भक्ति तथा शास्त्र स्वाध्याय आदि धार्मिक क्रियाओ के द्वारा अपने आरम्भ परिग्रह जनित पापो की शुद्धि कर सातिशय पुण्यबन्ध करेगे और इसका महान् पुण्य मन्दिर बनवाने वाले महात्मा धर्मरत्न को होगा। यदि मन्दिर न हो तो धर्म ही उठ जावेगा, अत इसका होना अतीव आवश्यक है जबकि प्रासुक द्रव्य से पूजन करने मे कोई हानि नही है, क्योकि जलादि द्रव्य तीर्थङ्कर भगवान् के आगे केवल भावो की शुद्धि के लिये चढाये जाते है। (यशस्तिलक चम्पू सोमदेव सूरि)

"पुष्पादि रसनादिर्वा न स्वय धर्म एवहि। क्षित्यादिरिवधान्यस्य किन्तु भावस्य साधनम् ।१।

अर्थ—पुष्प आदि द्रव्य, या भोज्य सामग्री स्वयं धर्म नही है, किन्तु धर्म के कारण है जैसे, पृथ्वी धान्य को उत्पन्न करने वाली है स्वय धान्य नही है। भावार्थ— जिस प्रकार आचार शास्त्र के अनुसार भक्ष्य वस्तु अन्नादि के खाने से भावो की निर्मलता होती है उसी प्रकार जलादि अष्ट द्रव्यों से पूजन करने वाले के भावो मे विशुद्धि होती है। इसी कारण प्रासुक द्रव्य ही विशेष भावो की शुद्धि मे कारण हो सकते है। अत एव श्रीमज्जिनेन्द्र की पूजन एक या अष्ट द्रव्यो से भाव पूर्वक यथाविधि हो सकती है।

पूजन करने से पूर्व स्नानादिशुद्धिः—

पूजन करते समय स्नान आदि शारीरिक शुद्धि करनी चाहिये बिना शारीरिक शुद्धि किये श्रावक को जिनेन्द्र प्रतिमा को स्पर्श करने का अधिकार नही है। **प्रश्न**—आपने ऊपर के कथन में कहा है कि स्नान द्वारा शरीर को शुद्ध किये बिना जिनेन्द्र को स्पर्श करने का अधिकार नही है, सो जब किसी प्रकार की आपत्ति आ जावे जैसे आग लग जावे या कोई द्वेषी प्रतिमा को चुराकर ले जावे या इस प्रकार अन्य कोई उपद्रव आजावे तो यह बात कैसे बनेगी ? **उत्तर**—जो ऊपर के कथन मे विधि अथवा विधान बतलाया गया है वह उत्सर्ग मार्ग का है, अपवाद मार्ग का नही है। अपवाद मार्ग की जहा पर आवश्यकता हो वहां पर विधिविधान देखने की जरूरत नही है, क्योकि वह समय आपत्तिजनक हुआ करता है। इससे ऐसे समय पर तो कार्य करना ही विधि विधान माना है, किन्तु ऐसा न हो कि जिससे धर्म मार्ग का लोप होजावे अतः उत्सर्ग मार्ग का विधान किया जाता है। बाकी अपवाद और उत्सर्ग का सदा सम्बन्ध रहता है। जिसका नाम ही उत्सर्ग और अपवाद है एक के साथ मे दूसरा सदा ही लगा रहता है। ऐसा निश्चय है। कहा भी है—

"अन्त शुद्धि बहि शुद्धि विदध्याद्देवतार्चनम्। आद्यादौश्चित्यनिर्मोक्षा,दन्या स्नानाद्यथा-विधि ॥१॥" नित्यस्नान गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ॥२॥ सर्वारम्भपरिग्रहस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिन । अविधाय बहि शुद्धि नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥३॥ (यशस्तिलक चम्पू)

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र की पुजा, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शुद्धि करके करनी चाहिये। अन्तरङ्ग शुद्धि (कषायो को जीतना) से चित्त पवित्र रहता है, और बाह्य शुद्धि स्नान से होती है ? गृहस्थ श्रावक को भगवान् की पूजा के समय स्नान करना चाहिये क्योकि श्रावक आरम्भ परिग्रह मे लीन रहता है, इसलिये उसे बाह्य शुद्धि किये बिना, जिनेन्द्र पूजा का अधिकार नही है ॥ ३ ॥ **आगे पूजक का लक्षरण बतलाते हैं—**

**"अथ वक्ष्यामि भूपाल शृणु पूजकलक्षरणम्। लक्षितं भगवद्दिव्यवचस्वखिलगोचरे ॥ १ ॥
त्रैवर्णिकोऽभिरूपाङ्गः सम्यग्दृष्टिरणुव्रती। चतुर शौचवान् विद्वान् योग्य स्याज्जिनपूजने ।२।
न शूद्र स्यान्नदुदृष्टिर्न पापाचारपण्डित. । न निकृष्टक्रियावृत्तिर्नान्तिकपरिदूषित. ॥ ३ ॥
नाधिकाङ्गो न हीनाङ्गो नातिदीर्घो न वामन. । नाविदग्धो न तन्द्रालुर्नातिवृद्धो न बालक ।४।
नाति लुब्धो न दुष्टात्मा नातिमानी न मायिकः। नाशुचिर्न विरूपांगो नाजानन् जिनसंहिताम् ५।
निषिद्धः पुरुषो देव, यद्यर्चेत् त्रिजगत्प्रभुम्। राजराष्ट्रविनाश स्यात् कर्तृकारकयोरपि ॥६॥
तस्माद्यत्नेन गृह्णीयात् पूजकं त्रिजगद्गुरो. । उक्तलक्षरणसयुक्त कदाचिदपि नापरम् ॥७॥
यदिन्द्रवृन्दार्चितपादपंकजं, जिनेश्वर प्रोक्तगुरण समर्चयेत्।
नृपश्चराष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत्। तथैव कर्त्ता च जनश्च कारक. ॥८॥** (जिनसंहिता)

अर्थ–हे राजन् ! मै अब श्री जिन भगवान् के वचनानुसार पूजक का लक्षण कहता हूं । उसको तुम सुनो । जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तोन वर्णो मे से किसी एक वर्ण का धारी हो, चतुर हो, शोभवान् हो और विद्वान् हो वह जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के योग्य है । परन्तु शूद्र, मिथ्यादृष्टि, पापाचार मे प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीचकर्म करके आजीविका करने वाला, रोगी, अधिक अगवाला, अंगहीन अधिक लम्बे कद का, बहुत छोटे कदका (बोना) भोला वा मूर्ख, निद्रालु वा आलसी तथा अतिवृद्ध, बालक, अतिलोभी, दुष्टात्मा, अभिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिनसहिता को न जानने वाला, पूजन करने के योग्य नही होता है ।।३-४-५।। यदि निषिद्ध पुरुष भगवान् का पूजन करे तो राजा, देश, तथा पूजन कराने वाला का नाशक होता है ।६। इसलिये श्री जिनेन्द्र देव के पूजक को यत्नपूर्वकउक्त लक्षणो से युक्त ग्रहण करना चाहिये, अन्यनही । यदि उल्लिखित लक्षण वाला पूजक इन्द्र से वन्दनीय श्री जिनेन्द्र देव के चरणकमल की पूजन करे तो राजा, देश तथा पूजन करने वाला एव कराने वाला सुखी होते है । इसलिये पूजन करने वाले मे उक्त सद्गुण अवश्य होने चाहिये । ऊपर लिखे हुए विशेषण, श्री जी की प्रतिष्ठा के समय पूजा प्रतिष्ठा करने वाले प्रतिष्ठाचार्य के समझने चाहिये ।

अब पूजकाचार्य्य के लक्षण बताते हैं !

"इदानी पूजकाचार्य लक्षणं प्रतिपाद्यते । ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षित ।१४५।
कुलजात्यादिसशुद्ध सद्दृष्टिदेशसयमी । वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्य. श्रुतबहुश्रुत ।।१४६।।
ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गभीरो विनयान्वित । शौचाचमनसोत्साहो धनवान् कर्मकर्मठ ।१४७।
सागोपागयुत शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधी । स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोग सत्क्रियारत ।१४८।
वारिमन्त्रव्रतस्नात प्रोषधव्रतधारक । निरभिमानी मौनी च त्रिसन्ध्यं देववन्दक ।।१४९।।
श्रावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वित । क्रियाशोडशभि पूतो ब्रह्मसूत्रादिसस्कृत ।१५०।
न हीनांगो नाधिकांगो न प्रलम्बो न वामनः । न कुरूपी मूढात्मा न वृद्धो नातिबालक ।१५१।
नक्रोधादिकषायाढयो नार्थार्थीव्यसनी न च । नान्त्यास्त्रयो नताबाद्यौ श्रावकेषु नसंयमी।१५२।

अर्थ—इन उपर्युक्त पूजकाचार्य स्वरूप के प्रतिपादक श्लोको मे जो ब्राह्मण हो, वैश्य हो, शरीर से सुन्दर हो, सम्यग्दृष्टि हो, अणुव्रती हो, जिन सहितादि जैन शास्त्रों का जानने वाला हो, आलस्य एव तन्द्रा से रहित हो, मान कषाय के अभाव रूप विनय सहित शौच और आचमन से युक्त एव उत्साही हो, ठीक २ अगोपाग का धारक हो, पवित्र हो, लक्ष्य तथा लक्षण का जानने वाला हो, बुद्धिमान् हो, ब्रह्मचारी अथवा स्वदार सतोषी हो, रोग रहित हो, नीच क्रियाओ का त्यागी तथा ऊ ची और श्रेष्ठ क्रियाओ का करने वाला हो, जल स्नान, व्रत स्नान और मन्त्र स्नान से पवित्र हो, अभिमानादि से रहित हो,

न हीनांग हो, न अधिक अंग वाला हो, लम्बे कदका एवं बिल्कुल छोटे कदका (बोना) न हो, बदसूरत न हो, बूढा न हो, अति बालक न हो, क्रोध, मान, माया और लोभ, इन कषायों में से किसी भी कषाय का धारक न हो, धन का लोभी धन लेकर पूजन करने वाला न हो, और पापाचारी न हो, इत्यादि विशेषण पद आये हैं। उनसे प्रकट होता है कि उपर्युक्त जो विशेषण पूजक के दिये है वे यहां पर स्पष्ट रूपसे पूजकाचार्य के दिये हैं। श्लोको पर दृष्टिपात कर विचारिये। श्लोक नं० १५१ और जिन सहिता का श्लोक न ४ यही तक मिलता है कि एक को दूसरे का रूपान्तर कह सकते हैं। इसी प्रकार निम्न लिखित तीन श्लोकों में पूजकाचार्य द्वारा पूजन के फल का वर्णन मिलता है वे भी श्लोक जिनसहिता के ६ से ८ तक के श्लोकों से मिलते जुलते है-(धर्मसंग्रह श्रावकाचार अधि०९)

"ईदृग्दोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्रचेत्। तदा राष्ट्रंपुर राज्य राजादि प्रलय व्रजेत्।१५३।
कर्त्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम्। ततस्तल्लक्षणश्रेष्ठ पूजकाचार्य इष्यते।१५४।
पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयन्परमेश्वरम्। तदा दाता पुरं देश स्वयं राजा च वर्धते।१५५।

अर्थ—उल्लिखित दोषो का धारक पूजकाचार्य कही पर प्रतिष्ठा करावे तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाश को प्राप्त होते है और प्रतिष्ठा कराने वाला भी अच्छे फल को प्राप्त नही होता। ऊपर जो पूजकाचार्य के लक्षण कह आये है, यदि उन लक्षणो से युक्त पूजक परमेश्वर का पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करता है तो उस समय धन का खर्च करने वाला दाता, पुर, देश तथा राजा, ये सब दिनो दिन वृद्धि को प्राप्त होते है।

(सकलकीर्त्तिकृत प्रश्नो० श्रा० १९ परिच्छेद)

"यद्वन्मलभृतं वस्त्र शुद्धं नीरेण स्यात् ध्रुवम्। तपोजलेन धौतो हि नीचः शुद्धो भवेन्महान्।५७

श्री जिनेन्द्र का मत सापेक्ष एव स्याद्वादरूप है अतः शक्ति को न छिपाकर कार्य करना समुचित है। कहा भी है—

"जं सक्कई तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तहेव सद्धहणं।
सद्धहमाणो जीवो, पावइ अजरामर ठाणं ॥१॥

तात्पर्य—यदि शक्ति होवे तो अवश्य खडे होकर ही पूजन करना समुचित है अन्यथा शक्ति के न होने पर बिमारी आदि दशा मे दूसरी बात है। स्तुत्य की स्तुति एवं पूजा खड़े रहने पर ही विनय तथा श्रद्धाभाव की जनक हो सकती है। इस भाव की पुष्टि मे आदि पुराण में भी कहा है—

"उत्थाय तुष्टचा सुरेन्द्रा स्वहस्तै जिनस्याङ्घ्रिपूजां प्रचक्रु प्रतीता." (पृ० ५६१)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि सुरेन्द्रो ने अत्यन्त प्रमोद पूर्वक खड़े होकर अपने हाथो से भगवान के चरणकमलो की पूजा की। यहा पर "उत्थाय" शब्द दिया गया है जिसका अर्थ

"उठकर" है। अतः भगवान् की पूजा खडे होकर ही करनी चाहिये यह सिद्ध होता है। सयमी मुनी तीर्थङ्करो की स्तुति निम्न प्रकार से खडे होकर ही करता है। इसकी पुष्टि मे गाथा लिखते है– **"चउरगुलतरपादो, पडिलेहिय अंजुली कपुयसत्थो।**

अव्वाखित्तोवुत्ता, कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू ॥७६॥ (मूलाचार अध्याय ७)

अर्थ–संयमी मुनि चार अंगुल प्रमाण चरणो का अन्तर रखता हुआ, शरीर भूमि, और चित्त को पवित्र करके अञ्जलि करने के लिए सौम्यभाव युक्त होकर सर्व प्रकार के व्यापार का परित्याग करके तीर्थङ्करो की स्तुति करे। इसका अर्थ जयपुर निवासी प० जयचन्द्र जी ने जो लिखा है वह ज्यो का त्यो उद्धृत किया जाता है।

"कैसे करे खडे होये विना दोनों पावो के अन्तर चार अंगुल का कैसे बने, या वचनते महामुनियो को भी खडे होकर ही स्तुति विनती स्तोत्र पढनी कयो तब गृहस्थ के तो बहुत नीची भावना हुआ करे है फिर वह बैठ कर कैसे जिनेन्द्र भगवान् का पूजन स्तवन स्तोत्र करे, इस गाथा से बैठकर पूजन करने का निषेध ही होवे है।

आगे और भी प्रमाण देते है —

"तुम प्रभु सब देवो के देव, जग के जीव करें सब सेव।
मेरे हित होने के काज, मै **तुम चरण रखो सिरताज ॥**
तुम **सेवा ते पीडा टरें, गण धर देव सदा उच्चरे।**
मै स्तवो तुम सम्मुखठाड, याते पुण्य महा अतिबाढ ॥
ठाडे ठाडे **पूजन करे, याते पाप सकल परिहरे।** (हजारीलाल सिंघई कृते पूजन स्तवन)

इस प्रकार उल्लिखित चौपाइयो से भी यह ही प्रकट होता है कि भगवान् के सम्मुख खडे होकर ही गृहस्थ हो, या मुनि हो, पूजन स्तवन स्तोत्र स्तुति प्रार्थना जो भी कुछ करना हो सो कर सकते है। उल्टे करने से या बैठ कर करने से भगवान् की प्रतिमा का अविनय होता है, इसी लिये आचार्यो ने तथा सामान्य गृहस्थों ने भी ऐसे शब्दो का प्रयोग किया है। कारण कि ससार मे भगवान् सर्वोपरि है अत उनका उनके योग्य आदर नही किया जावेगा तो किसका उत्कृष्ट आदर सत्कार किया जावगा? अतः खडे होकर ही भगवान् के सम्मुख पूजन करना चाहिये। **स्तुति पूजन मे भेद नहीं है—**

स्तुति और पूजन मे शब्द मे भेद है अर्थ मे भेद नही है। यह निम्न गाथा द्वारा स्पष्ट करते है–

"उसहादि जिणवएण णामणिरुत्ति गुणाणु कित्ति च।
काउण अच्चिदूणयति सुद्ध पणमोथ ओणे ओ ॥२४॥

अर्थ—ऋषभादि चौवीस तीर्थङ्करो के नाम निरुक्ति के अनुसार असाधारण गुणों प्रकट करना, तथा मन वचन और काय योग की शुद्धता पूर्वक चरण युगलो की पूजन

प्रणाम आदि करना चतुर्विशति-स्तवन कहलाता है। भावार्थ—पूजन और स्तवन में शाब्दिक भेद प्रतीत होता है, आर्थिक भेद नही है। पूजन तथा स्तवन करने के लिये भक्ति, शक्ति एवं विनय की आवश्यकता है, बिना खड़े हुए उल्लिखित प्रशस्त भक्ति आदि नही बन सकती, अतः भगवान् का पूजन आदि सामने खडे होकर ही करनी चाहिये।

किस दिशा की ओर मुखकर पूजन करे इसका उत्तर

आगे भगवान् का पूजन सामने खड़े होकर ही करना चाहिये इसके प्रमाण मे गाथा देते हैं-

"तेसिं अहि मुहदाए, अत्था सिज्झंति तहय भत्तीए।
तो भत्तिरागपुव्वं, वुच्चइ एदं रगह्ण गिदाण।। ७५।। (मूलाचार अ ७)

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान् के सम्मुख भक्ति एव राग पूर्वक गुण स्मरण करते हैं, उन जीवो को वाञ्छित फल की सिद्धि के साथ आत्म स्वभाव की भी सिद्धि होती है। यहा पर (भक्ति राग पूर्वक) शब्द से ससार के हेतु रूप निदान का अभाव प्ररूपित किया गया है। इस गाथा से भगवान् के सम्मुख खड़े होकर पूजन करना सिद्ध होता है।

"आरहिदूण ते सुं, गणहरदेवादिवारसगणाते।
कादूणं विप्पदाहि, णमच्चति संमुहं णाह ।।८७३।। (तिलोयपण्णति अध्याय४)

अर्थ—वे गणधर देवादिक बारह गण पीठो पर चढ़कर और प्रदक्षिणा देकर जिनेन्द्र देव के सम्मुख होते हुए पूजा करते है। **प्रश्न**—आज कल बहुत से लोग भगवान् का मुख पूर्व दिशा मे होवे तो पूजने वाले का उत्तर मे तथा भगवान् का मुख उत्तर मे होवे तो पूजन करने वाले का मुख पूर्व दिशा में होना चाहिये, ऐसा विधान क्यो करते है?

समाधान—इस पंचम काल मे यथार्थ तत्व के ज्ञाता विरले ही रह गये है और इस समय भट्टारक प्रणीत नवीन २ मार्ग निकले हुए है। भट्टारक लोग सासारिक कार्यों के साधनार्थ व्यन्तरादिक की सिद्धियोमे लगकर जनता को चमत्कार, जादू, तंत्र, मन्त्रादि बतलाने लगे एव व्यन्तरादि की सिद्धि उनको वाम खड़े होकर दिखाई पड़ी तो अत्यन्त शक्तिशाली भगवान् की आराधना भी वाम खड़े होकर करने का विधान लिख दिया और अपनी बात साधने के लिये बड़े २ आचार्यो के नाम से नवीन २ ग्रन्थ निर्माण करके तथा नये बड़े २ ग्रन्थों में श्लोक बना २ कर रख दिये तथा प्रणाली बदल दी, भोली जनता की वंचना कर डाली एवं उसे ठग लिया। भगवान् की अनन्त शक्ति है एवं उनका पूजन चारो दिशाओ मे हो सकती है—इस बात को तीन गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते है—

"दिव्वफल पुप्फहत्था, सत्था भरणा स चामराणीया।
बहुधयतूरारावा, गत्ता कुव्वंति कल्लाणं ।।६७५।।
पडिवरसं आसाढे, तहकत्तिय फग्गुणे य अट्टमिदो।

पुण्य दिरणोति य भिक्खं, दोद्धो पहरं तुसं सुरेहिं ॥६७६॥
सोहम्मो ईसाणी, चमरो वइरोयणो पदक्खिणदो ।
पुव्ववरदक्खिणुत्तरदिसासु, कुव्वति कल्लाणं ॥६७७॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—दिव्य फल और पुष्पों को हाथ में लेकर प्रशस्त आभरण धारी चामर हाथ में लिये हुए सेना सहित बहुत सी ध्वजा युक्त वादित्रो के शब्दो के साथ नदीश्वर द्वीप मे जाकर जो पूजन करते है वो सर्वदा आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुण शुक्ला अष्टमी के दिन से पूर्णिमा तक प्रति वर्ष दिन के दो बजे प्रहर पर्यन्त अपने २ देवो सहित करते है । सौधर्म-ईशान-चमर और वैरोचन चारों प्रदक्षिणा रूप पूर्व-पश्चिम-दक्षिण और उत्तर चारो दिशाओं मे करते है– पुण्यास्रवकथा कोष मे भी भगवान् के सम्मुख पूजन करने का विधान मिलता है।

"**तदा गोपालक सोऽपि, स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रत ।**
भो सर्वोत्कृष्ट मे पद्म', ग्रहाणेदमिति स्फुटम् ॥ १५ ॥ [पुण्याश्रव०]

अर्थ—सहस्त्र कूट चैत्यालय मे जिस समय श्री सुगुप्तिनामा मुनिराज और राजा तथा सेठ बैठे हुए थे उसी समय श्री जिनेन्द्र भगवान् के सम्मुख एक बड़ा कमल उस ग्वालिये ने चढाया, उस पूजन के प्रभाव से वह ग्वालिया अग्रिम पर्याय मे महाप्रतापी राजा करकडु हुआ । आगे और भी कहते हैं— [धर्मसग्रह श्रावकाचार]

'**स चाद्य पीठमारूढस्त्रिपरीत्य कृताञ्जलि. । पूजाद्रव्यमुपानीय भक्त्या स्तौत्यभिमुखम् ॥३३।**

अर्थ—राजा श्रेणिक आद्य पीठ पर चढकर और जिनेन्द्र भगवान् की तीन प्रदक्षिणा देकर पूजन सम्बन्धी द्रव्यो को चढाकर भक्ति पूर्वक भगवान् के सामने स्तुति करने लगा । यहा पर जो"अभिमुखम्" पाठ लिखा गया है, वह १७२३ सवत् की लिखी हुई प्रति से लिखा गया है मुद्रित प्रति मे "सन्मतिम्" ऐसा पाठ है । आगे और भी प्रमाण देते है—

"**मानस्तभे चतुर्दिक्षु, प्रतिमा: प्रतिमा श्रिया ।**
नुत्वा नत्वा पयो मुख्यै,र्द्रव्यैरभ्यचर्यन्मुदा ॥२४॥ [आदिनाथ पुराण ३ पर्व]

अर्थ—राजा श्रेणिक ने चारो दिशाओ मे मानस्तभ की प्रतिमाओ को भक्ति पूर्वक **नेमस्कार करके एव स्तुति** करके जलादि द्रव्यो से सहर्ष पूजन किया । यह कथन भी सम्मुखता **को प्रकट करता है अतः** भगवान् की पूजन सम्मुख खड़े होकर ही करना चाहिये । पुण्यास्रव कथाकोष मे वर्णित एक कथा से भी यही सिद्ध होता है । "एक माली के कुसुमवती और पुष्पवती नाम की दो कन्याये थी । वे प्रति दिन एक पुष्प भगवान् के समुख देहली पर चढाया करती थी । एक दिन पुष्प लाते समय सर्प ने वन मे उन्हे काट लिया । वे दोनो कन्याये मर कर इस पूजन के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र के इन्द्राणी हुई और पचपन पल्य को आयु प्राप्त को । आगे अभिमुख (समुख) की पुष्टि मे और भी प्रमाण देतेहै–

"अभिवन्दे=अभिमुखीभूय स्तुवे" [चैत्यभक्ति पृष्ट २८१ श्लोक १३]

टीका—"सदाभिमुखमेव यज्जगति पश्यतां सर्वत" [चैत्यभक्ति पृष्ट २९१ श्लोक ३४]

(हितार्थेत्यादि । यद्रूपम् अभिमुख समन्ताद्वावीक्ष्य विलोक्येय") इसी टीका में–"सदा अभिमुखमेव यज्जगति पश्यता सर्वत."–सदा–सर्वदा अभिमुखमेव सम्मुखमेव। कथ ? सर्वत सर्वासु दिक्षु यद्रूप दृश्यते । इस प्रकार पूजन, स्तुति व स्तवन, आराधना भगवान् जिनेन्द्र के समुख ही होती है ।

पूजनीय देव कैसा हो इसका विवेचन—

आगे दो श्लोको द्वारा कैसा देवता पूजनीय होता है इसका दिग्दर्शन कराते है—

"क्षुधादिदोषनिर्मुक्त सर्वातिशयभासुर:, प्राप्तानन्तचतुष्कोऽसौ कोटयादित्यसदृक् प्रभा ।।९५।।
प्रातीहार्याष्टभूतीशस्त्रिसांध्यं क्षणदान्के, प्रभुषण्णादिका यावत् सूत्रार्थ ध्वनिना वदेत् ।।९६।।

अर्थ—जिसमे क्षुधा, तृषा, आदि अष्टादश दोष न हो, चौतीस अतिशयो से युक्त हो, अनन्त चतुष्टय का स्वामी हो, अष्ट प्रातिहार्य से युक्त तथा चामरादि से भूषित हो, और समवसरण लक्ष्मी से, अलङ्कृत हो, जिसके शरीर की कान्ति एक करोड़ सूर्य की दीप्ति के समान देदीप्यमान हो और भव्य जीवो के हितार्थ जिसकी दिव्य ध्वनि मेघ की ध्वनि के समान गभीर त्रिकाल खिरती हो–ऐसा सर्वज्ञ अरहन्त देव नित्य प्रति पूजन के योग्य है।

— देव पूजा मुक्ति का कारण है —

आगे जिनेन्द्र देव का पूजन परम्परा से परमनिवृत्ति मोक्ष का कारण है, इसको निम्न प्रकरण द्वारा बतलाते है– **"पूयाफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो"**

अर्थ—जो पुरुष शुद्ध हृदय होकर भगवान् की पूजन करता है, वह तीन लोक मे देवादिक से पूजनीय तीर्थङ्कर होता है । यह पूजा का फल बतलाया है । तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र देव के पूजन के फल से ही श्रावक, स्वर्ग लोक मे जाकर सागरो पर्यन्त सुख भोगकर मनुष्य पर्याय धारण करके, मुनिपद धारण करके मोक्ष के अविनाशी परम सौख्य को प्राप्त कर सकता है । आगे जिनेन्द्र देव के पूजन के लिये उपदेश देते हुए आचार्य जिनेन्द्र के पूजन से गार्हस्थ्य सफलता को प्रदर्शित करते हुए पद्य लिखते हैं–**पूजा करना आवश्यक है–**

"ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति, पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां, धिक् च गृहाश्रमम् ।। [पद्मनन्दी पंचविंशति]

अर्थ—जो पुरुष भगवान् का दर्शन एव पूजन नही करते है उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थाश्रम को भी धिक्कार है ऐसे मनुष्य जन्म पाने से क्या लाभ है । कहा है–

"पूजां विना न कुर्यात्, भोगसौख्यादिकं कदा" (सुभाषितावली)

अर्थ—गृहस्थ को चाहिये श्री जिनेन्द्र के पूजन के बिना भोग तथा उपभोग की सामग्री न भोगे । तात्पर्य–पूर्व कृत पुण्योदय से मनुष्य पर्यायि की सामग्री प्राप्त की है ।

अत· जो आगे के लिये पुण्य का साधनभूत परम देव का दर्शन तथा पूजन नही करते है उनके गार्हस्थ्य जीवन को धिक्कार है, क्योकि बुद्धिमान् गृहस्थ को उचित है कि आगे द्रव्योपार्जन करते हुए सचित द्रव्य का व्यय करे । जो पुरुष आगे के लिए द्रव्य का संचय एव उपार्जन के बिना संचित द्रव्य का व्यय कर देता है वह बडी भारी भूल तथा मूर्खता करता है । उसी प्रकार जो मानव आगे के लिये श्री जिनेन्द्र देव के दर्शन और पूजन द्वारा पुण्य का उपार्जन न करके पूर्व सचित पुण्य को व्यय करता है प्रत्युत गार्हस्थ्य सम्बन्धी पापो का ही सचय करता रहता है उसको धिक्कार है । जो सद्गृहस्थ बनना चाहते है उनको चाहिये कि जिनेन्द्र भगवान् की पूजाकर अवश्य पुण्योपार्जन करे ।

—· पूजा का माहात्म्य :— (धर्म सग्रह)

"मानिनो माननिर्मुक्ता, मोहिनो मोहवर्जिता ,रोगिणो नीरुजो जाता,वैरिणो मित्रतां श्रिता·।
चक्षुष्मन्तऽभवन्नंधा, बधिरा श्रुतिधारिण· । मूका पटुत्वमापन्ना , पगव शीघ्रगामिनः ।।४४।।
निर्धना सधना लोके, जड़ा पाण्डित्यमाश्रिताः,इत्यन्येऽपिचसम्पन्ना,मानस्तभादिदर्शनात् ।।४५।।

अर्थ—भगवान् के समोसरण के मानस्तभ के दर्शन मात्र से ही अभिमानियो के मान दूर हो गये और जो मोह मे फसे थे उनका मोह दूर हो गया, वैरी मित्र बन गये, अन्धो को दिखाई देने लगा, बधिर पुरुषो को शब्द सुनाई पडने लगा, जो गूगे थे वे भी बोलने लगे, जो पगु थे वे भी शीघ्रगामी होगये अर्थात् पावो से चलने लगे, निर्धन धनवान होगये और मूर्ख भी पण्डित हो गये । तात्पर्य यह है कि भगवान् के समोसरण के मानस्तभ के दर्शन मात्र से जब असभव कार्य भी संभव हो जाते है और पुण्यलाभ होता है तो भगवान् के दर्शन करने से तथा पूजन करने से कितना पुण्यास्रव तथा पापबध नाश होगा, स्वयं विचार लेना चाहिये । अब क्रम प्राप्त पूज्यदेव को बता कर पूजा के भेदो को उद्देश्य रूप से दर्शाते है ।

– पूजा के भेद और उनका स्वरूप –

"नित्या चतुर्मुखाख्या च कल्पद्रुमाभिधानका । नैमित्याष्टाह्निकी पूजा दिव्यध्वजेतिषष्ठधा ।।१।

अर्थ--नित्य, चतुर्मुख, कल्पद्रुम, नैमित्तिका अष्टाह्निका, और इन्द्रध्वज इस पूजा भेद के ६ प्रकार है । अब उल्लिखित पूजाओं का क्रमश· लक्षण बतलाते है—

"नृपैर्मुकुटबद्धाद्यै , सन्मण्डपे चतुर्मुखे । विधीयते महापूजा, सस्याच्चतुर्मुखोमहः ।।१।।
कल्पद्रुमैरिवाशेष,जगदाशा प्रपूर्यते । चक्रिभिर्यत्र पूजायां, सस्यात्कल्पद्रुमाभिधा ।।२।।
नन्दीश्वरेषु देवेन्द्रै,द्वीपे नन्दीश्वरे महः । दिनाष्टकं विधीयेत, सा पूजाष्टाह्निकी मता ।।३।।
अकृत्रिमेषु चैत्येषु, कल्याणेषु च पचसु । सुरैर्विनिर्मिता पूजा, भवेत्सेन्द्रध्वजात्मिका ।।४।।
महोत्सवमिति प्रीत्या, प्रपंचयतिपंचधा । स स्यान्मुक्ति वधूनेत्र, प्रेमपात्रं पुमानिह ।।५।।
स्वगेहे चैत्यगेहे वा, जिनेन्द्रस्य महामह· । निर्माप्यते यथाम्नाय, नित्यपूजा भवत्यसौ ।।६।।

अर्थ—जो महायज्ञ बड़े २ मुकुटबद्ध राजाओ के द्वारा अच्छे मण्डप मे किया जावे वह चतुर्मुख नाम का यज्ञ (पूजन) कहलाता है। जिस पूजा मे कल्पवृक्षो के समान चक्रवर्तियो द्वारा संसार की आशा पूरित की जावे अर्थात् याचकों को इच्छानुसार दान दिया जावे उसको कल्पद्रुम नाम की पूजा कहते है। यहां पर बहुवचन आदर मात्र मे है अथवा भिन्न २ समय मे भिन्न २ चक्रवर्ती द्वारा-इस आशय का द्योतक है, यह पूजन एक ही चक्री द्वारा किया जाता है; क्योकि एक समय मे दो चक्रवर्ती एक स्थान में नही मिल सकते। जो पूजन नन्दीश्वर द्वीप में देवताओ द्वारा अष्टदिन पर्यन्त किया जाता है उसको अष्टाह्निक पूजन कहते है। यह पूजन एक वर्ष मे तीन वार किया जाता है। यह कार्तिक सुदी ८ से १५ पूर्णिमा तक, फाल्गुन सुदी ८ से १५ पूर्णिमा तक और अषाढ सुदी ८ से पूर्णिमा तक किया जाता है। अकृत्रिम चैत्यबिम्बों को जो पच कल्याणको मे देवताओ के साथ इन्द्रो के द्वारा पूजन की जाती है उसको इन्द्रध्वज नामक पूजन कहते है। यह पूजन मनुष्यो की सामर्थ्य से वाहर है। इन्द्रों की सामर्थ्य से सम्पन्न होने के कारण इस पूजन को इन्द्रध्वज कहते है। जो यथावसर ब्रिम्बप्रतिष्ठा आदि महोत्सव के समय पचकल्याणक आदि की पूजन की जाती हैं उसको नैमित्तिक पूजन कहते है। जो अपने घर चैत्यालय अथवा मन्दिर मे जाकर प्रतिदिन भक्तिपूर्वक अष्टद्रव्यो द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा की जाती है उसका नाम नित्यमह है, क्योकि मह नाम पूजन का है और जो नित्य पूजन किया जावे उस का नाम नित्यमह है।

—नित्यमह पूजा के पांच उपचार—

आचार्यो ने नित्यमह के पाच उपचार वताये है तथा पचोपचारी नाम से कहा है। पाच उपचारो का निर्देश निम्न प्रकार है। १ आह्वानन २. सस्थापन ३. सन्निधिकरण ४. पूजन ५ और विसर्जन यहा पर पूजन का विषय है। अभिषेक पूजन से पूर्व की उपचर्या है अत उसका नाम नही दिया है। उल्लिखित उपचार पंचक प्रतिमा के आश्रय है। और प्रतिमा की पूजा स्थापना के आश्रय है। अत क्रम प्राप्त स्थापना का स्वरूप वतलाते है। कैसी स्थापना मे उपचारो का अस्तित्व भी किस प्रकार का रहेगा इसका भी सप्रमाण निर्णय करते हैं –

स्थापना का स्वरूप और भेद

"साकारादि निराकारा. स्थापना च द्विधा मता, अक्षतादिनिराकारा साकारा प्रतिमादिषु।८०।
आह्वानं प्रतिष्ठानं, सन्निधिकरणं तथा। पूजा विसर्जन चेति, निराकारा भवेदिय ।।८१।।
साकारे जिनविम्ब स्या,देक एवोपचारक.। स चाष्टविधिरेवोक्त ,जलगन्धाक्षतादिभि ।।८२।।

अर्थ स्थापना दो प्रकार की होती है। एक साकार और दूसरी निराकार। जिस पदार्थ की स्थापना की जावे यदि उसी प्रकार की आकृति रख कर स्थापना की जावे तो उसको साकार अथवा तदाकार स्थापना कहते हैं। जिस प्रकार धातु पाषाण आदि अर्हन्त

आदि का आकार बनाकर उनको अर्हन्त आदि कहना और दूसरी निराकार अथवा अतदाकार स्थापना है उसमे जिस पदार्थ की स्थापना करते है वैसा आकार न बनाकर भी उस पदार्थ के नाम से कहते है; जिस प्रकार सतरज मे गुटिकाओ का हाथी, घोडे और पयादे का आकार नही बना कर भी उन गुटिकाओ को हाथी, घोडे एव पयादे के नाम से पुकारते है। प्रतिमा के अन्दर अर्हन्त की आकृति पाई जाती है अत साकार स्थापना है और आह्वान मे आह्वनीय की, प्रतिष्ठापन मे प्रतिष्ठापनीय की, सन्निधिकरण मे सन्निधिकरणीय की, पूजन मे पूजनीय की और विसर्जन मे विसर्जनीय अरहन्त की आकृति नही पाई जाती है। अत ये पाचो उपचार निराकार स्थापना के है। साकार स्थापना मे एक जिन बिम्ब मात्र ही उपचार है वह जल, गन्ध और अक्षत आदि आठ द्रव्यो से पूजी जाती है। अब अन्य ग्रन्थो की सहायता से नित्यमह पूजा का वर्णन करते है-**नित्यमह पूजा का विशेष स्वरूप** जो पूजन के प्रारम्भ मे सामने एक ठोना रख कर पुष्प चढा कर हे भगवन् ! आप यह आइये, ऐसी प्रार्थना की जाती है, उसका नाम आह्वानन या आह्वान है। क्योकि आह्वा नाम बुलाने का है। यहा भगवान् को बुलाया जाता है, इस कारण इसका नाम आह्वा है। जब भगवान् के आह्वान के बाद ठोने पर हे भगवन् ! आप यहा पधारिये। यह बोल कर पुष्प चढाते है। उसका नाम सन्निधिकरण है। सन्निधिकरण शब्द का अर्थ अपने समी मे करने का है। भावानुसार भगवान् को अपने समीप मे ठोने पर बैठाया जाता है ए समीपवर्ती किया जाता है, उसको इस कारण सन्निधिकरण कहते है। वास्तव मे जो ऊप स्थापना आह्वानादिक बतलाये है वे सत्कारवाची शब्दो का प्रयोग है न कि यथार्थ स्थापन का, क्योकि यथार्थ स्थापना तो साक्षात् प्रतिमा के सामने विराजमान है ही। जो भगवान् क आठ प्रकार के द्रव्यो से पूजन करते है उसका नाम पूजन है। पूजन मे द्रव्य भगवान् चिन्तवन मे चढाये जाते है जैसे—

> "सद्वारिगन्धाक्षतपुष्पजातै । नैवेद्यदीपामलधूपधूम्रै ।।
> फलैर्विचित्रै. घनपुण्ययोग्यान् । जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन् यजेऽहम् ।।"

अर्थ—मै स्वच्छ जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलो द्वारा शास और गुरुओ की पूजन करता,हूँ। पूजन के पश्चात् पूजक श्रावक के ऐसे भाव निक्षेप से भा रहते है कि साक्षात् भगवान् यहा पर विराज रहे है और मैं उनकी पूजन करने के बा बिना विसर्जन किये चला जाऊगा तो भी समुचित न होगा, प्रत्युत अविनयका कारण होगा। अत आह्वान किये हुए जिन देव के प्रति प्रार्थना करता है कि मैने जो अपनी भक्ति और शास्त्र के अनुकूल जिन २ पच परमेष्ठी देवताओ की आह्वान, स्थापना और सन्निधिकरण पूर्वक पूजन करली है वे मेरी पूजा और सत्कृति को स्वीकार करके पधारें। इसको

कह कर जो शान्ति पाठ के पश्चात् पुष्प चढाये जाते है उस का नाम विसर्जन है । यह विसर्जन सब के अन्त मे होता है । इस प्रकार ग्रन्थान्तरों के सार को लेकर पंचोपचारी नित्य पूजन जो कि प्रतिदिन गृहस्थ से की जाती है; उसका सक्षेप से स्वरूप आदि बतलाकर वर्णन किया ।

– प्रतिमा का स्वरूप और केशर का चर्चना –

प्रश्न—भगवान् की प्रतिमा का स्वरूप कैसा होना चाहिये ? प्रतिमा के चरणो पर केशर भी चढानी चाहिये या नही ? **उत्तर**—दिगम्बर सम्प्रदाय मे प्रतिमा का स्वरूप वेष, भूषा, रहित ही बतलाया है । पचमहाव्रतो में सर्व प्रधान अहिंसा महाव्रत है शेष व्रत उसकी रक्षा मात्र के लिये है । अहिंसा महाव्रत के पालन करने वाले के अणुमात्र भी आरभ का विधान नही है, अत प्रतिमा पर पुष्प और केशर का विधान किस प्रकार हो सकता है? वीतराग की प्रतिमा पर पुष्प और केशर चढाकर पूजना सरागी को पूजना है। सो यह इष्ट नही है इसको बृहत्स्वयभूस्तोत्र की नेमिनाथ स्वामी की स्तुति मे जो समन्त भद्रस्वामी ने प्रमाण दिया है उसे देखिए — (स्वयभू स्तोत्र)

"अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं, न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत् सिद्धचर्थं परमकरुणोग्रन्थमुभयं, भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरत ।।११९।।
वपुर्भूषावेषाव्यवधिरहितं शान्तिकरणं, यतस्ते सचटे स्मरशरविषातङ्कविजय ।
विना भीमैं शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं,ततस्त्व निर्मोह शरणमसि न. शान्तिनिलयः।।१२०।।

अर्थ —हे प्रभो ! भगवान् नेमिनाथ । आपने परमात्मा स्वरूप पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हुए प्राणियो का अहिंसन रूप महाव्रत धारण किया । अहिंसा महाव्रत वहा पर ही बनता है जहा पर आरम्भ का अत्यन्त त्याग अर्थात् अणुमात्र भी आरम्भ न पाया जावे । इस कारण आपने उसकी सिद्धि के लिये परम करुणा के धारी बनकर अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनो प्रकार के परिग्रहो का सर्वथा परित्याग कर दिया । इसी कारण परम वीतराग आप की मुद्रा मे जटा जुट,मुकुट,भूषण,वस्त्र, लेपन, और वेष आदिका लेशमात्र भी नही पाया जाता है । हे प्रभो! आप का शरीर भूषा और वेषके व्यवधान से रहित शान्ति को देने वाला काम देव के विषैले बाणो के आतङ्क (पीडा) पर विजय करने वाला, विना भयङ्कर शस्त्रो द्वारा हृदय कोप से रहित होकर भी विजय करने वाला है । आप सर्वथा मोह से रहित, शान्ति के मदिर हमारे शरणभूत हो अर्थात् मुझको आपके अतिरिक्त किसी का सहारा नही है और भी आगे कहते हैं — अकलङ्क स्वामी की कथा से भी यह रहस्य अत्यन्त स्पष्ट है । दिगम्बर जैन सदा से निष्परिग्रह प्रतिमा को पूजते रहे है, जिसके ऊपर अणुमात्र भी परिग्रह पाया गया है उस प्रतिमा को दिगम्बरो ने सर्वथा अपूज्य ही माना है । जब अकलङ्क देव बौद्धों के यहा गुप्त रूप से अध्ययन करते थे तो उन पर

जैनत्व का किसी कारण विशेष संदेह हो गया, तब उनसे जैन प्रतिमा मंगवाकर लघन करवाई गई थी । उस समय अकलक देव एक धागे मात्र से उसे परिगृहीत करके नि सकोच भाव से लाघ गये थे, इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर सम्प्रदायानुसार अणुमात्र परिग्रह से युक्त भगवान् की प्रतिमा पूज्य नही है तथा परम वीतराग प्रतिमा पर केशर और पुष्प चढाना सर्वथा वर्जित है । कहा भी है--

"जिन प्रतिमा जिन सारखी, कही जिनागममांहि । रचमात्रदूषण लगे, वंदनीय सो नांहि ।।

अर्थ--भगवान् अरहन्त के समान ही भगवान् की प्रतिमा होती है । यदि उसमे रच मात्र भी केशर लगादी जावे तो उस प्रतिमा मे दूषण लग जाता है और वह फिर पूजनीय नही रहती । **प्रश्न**--आप जो चन्दन और केशर का निषेध कर रहे है, यह आप का कहना ठीक नही है, क्योकि भाव सग्रह मे एक गाथा आई है कि --

"चदण सु अध लेओ, जिणवर चरणेसु जो कुणई भविई ।
लहइ तणू विकिरियं, सहावसुयं धयं अमल ।। ४७१ ।। (भाव सग्रह)

अर्थ--जो पुरुष केशरादि विलेपन रहित चरण कमल युगलो वाली जिन प्रतिमा का दर्शन करते है वे पुरुष मूर्ख और ज्ञान से हीन है । **भावार्थ**--जिस प्रतिमा के चरण युगल चन्दन से चर्चित न हो उस प्रतिमा के दर्शन नही करने चाहिये (वसुनन्दी स०) इस ही प्रकार अन्यत्र भी चन्दन और केशर द्वारा प्रतिमा लेपन का विधान देखा गया है । फिर आपने इस विधान का क्यो निषेध किया ? **उत्तर**--आपकी बुद्धि मे भ्रम है । यत्र तत्र जो 'अनर्चित पदद्वन्द्व" यहा के पाठ के समान पाठ मे "अनर्चित" शब्द देखा गया है, उसका तात्पर्य अपूज्यता से है । तथा यत्र तत्र जो "अर्चित" शब्द देखा जाता है उसका अर्थ पूज्य प्रतिमा से है । प्रतिमा की जब तक विधि के साथ स्थापना नही होती तब तक पूज्यपना नही आता । अत विधान सहित बिम्ब का पूज्य भाव दर्शाया गया है । भगवान् समवसरण मे भी चार अगुल अधर सिहासन पर विराजमान रहते हैं; फिर उनको चन्दनादि विलेपन द्वारा विलेपित करना कहा तक युक्ति-सगत हो सकता है । ससारी प्राणियो का लक्ष्य एवं उद्देश्य आदर्श जिनेन्द्र वीतरागी के प्रतिबिम्ब को सामने रखकर स्वय भी राग द्वेष रहित होकर आत्म-शुद्धि का है, वह आत्म-शुद्धि चन्दनादि परिग्रह भूषित प्रतिबिम्ब द्वारा किस प्रकार सिद्ध हो सकती है । जब हम चन्दनादि चर्चित प्रतिबिम्ब को आदर्श रखेंगे तो तदनुकूल हमको एवं तत्स्वरूपानुयायी अनगार मुनि के भी शरीर पर केशरादि परिग्रह रखना बन सकता है ? और जब परिग्रह से ही मुक्ति होने लग गई तो क्या बात रह गई? मुनि होने की आवश्यकता ही न बनेगी । भगवान् के पास बाह्य और अभ्यन्तर भी परिग्रह न था । वेशभूषा आदि से बिल्कुल रहित थे; अतः उनका प्रतिबिम्ब भी तदाकृतिधारी ही

होना चाहिये। प्रतिबिम्ब की पूजन भगवान् की प्रतिच्छाया रूप तदाकृतिधारी का ही होना चाहिये। क्योकि प्रतिबिम्ब का शब्दार्थ ही तदाकृतिधारी का है-अमर कोष में कहा है

"प्रतिमान प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना, प्रतिच्छाया प्रतिकृतिरर्चापुंसि प्रतिनिधि ।" अम०

अर्थ—प्रतिमान-प्रतिबिम्ब-प्रतिमा-प्रतियातना-प्रतिच्छाया और प्रतिकृति तथा प्रतिनिधि ये शब्द प्रतिमावाची है एव भगवान् की आकृति धारी मूर्त्ति को कहते है। यदि चन्दन, केशर आदि भक्ति भाव से चढाया ही जावे तो भगवान् की मूर्त्ति पर न चढाया जावे, क्योकि देवताओ ने समोसरण की विभूति की, तथापि भगवान् उससे अलग रहे। आप लोग पूजन का द्रव्य चढाते है प्रतिमा से अलग ही रहता है। जहां पर कोई मुनि अथवा तीर्थङ्कर आहार के लिये गये वहा पर उनकी पूजा की गई अथवा गन्धादि वस्तु चढाई गई वह उनके चरण स्पर्श से पूज्य पृथिवी पर चढ़ाई गई। उत्तर पुराण मे ५२१ वे पद्य का प्रमाण भी इस मे दिया जा सकता है। महावीर पुराण मे लिखा है कि —

"गन्धादिभिर्विभूष्यैतत्, पादोपान्तमहीतलम्। परमान्नं त्रिशुद्धयाऽस्मै, सोहितेष्टार्थसाधनम् ॥

अर्थ—महावीर स्वामी दीक्षा लेने के बाद राजा नृप कुमार के घर पारणा के लिये पधारे। उस समय राजा ने भगवान् के चरणो के निकट की भूमि गन्धादि द्रव्य से विभूषित मन, वचन और काय की शुद्धि पूर्वक इष्ट के साधन भूत परमान्न को दिया। भगवान् की आकृतिरूप प्रतिमा के वर्णन मे केशर आदि विभूषित वर्णन नही आया उसका प्रमाण नीचे देते हैं।

द्युतिमण्डलभासुरांगयष्टि,र्भुवनेषु त्रिषु भूतये प्रवृत्ता,
वपुषा प्रतिमा जिनोत्तमानां, प्रतिमा. प्राञ्जलिरस्मि वन्दमानः ॥ १ ॥
विगतायुधविक्रियाविभूषा, प्रकृतिस्था कृतिना जिनेश्वराणां।
प्रतिमा प्रतिमागृहेषु कान्त्या, प्रतिमा कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे ॥ २ ॥

अर्थ—मै कान्ति की झरी से शोभायमान शरीर वाले, तीनो लोक के प्राणियो के हित करने के लिये प्रवृत्त, शरीर के प्रतिबिम्ब रूप भगवान् की प्रतिमाओ को वन्दना करता हू। जिन मन्दिर मे भगवान् की आकृति को धारण करने वाली आयुध की आकृति विकार और विभूषण से रहित, कान्ति से युक्त पापो की शान्ति के लिये से उस प्रतिमा को नमस्कार करता हू। उल्लिखित पद्यो मे गन्धादिक से अलंकृत मूर्त्तिका विधान नही है, अत गन्धादिक से प्रतिमा पर चढाना वर्जनीय है। मूलाचार के मूलगुणाधिकार मे प्रतिमा का स्वरूप बतलाया है उसमे भी "णिब्भूषण" शब्द द्वारा गन्धादि से रहित निर्ग्रन्थ मूर्त्ति की उपासना की गई है। जैसे —

वत्था जिणवक्केणव, अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसण णिग्गंथं, अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥२६॥ (मूलाचार मूलगुणाधिकार)

अर्थ—वस्त्र, पटसूत्र रोमवस्त्र, अजिन (चर्म) वस्त्र, वल्कल वस्त्र, पत्रादि वस्त्रो के आवरण से रहित होना ही निर्ग्रन्थ है और यही सर्वथा परिग्रह रहित अचेलक व्रत जगत् मे तरण तारण और पूज्य तथा विश्वसनीय है। [एकीभाव]

"आहार्येभ्य स्पृहयति परो, य. स्वभावादहृद्यः, शस्त्रग्राही, भवति सततं वैरिणा यश्च शक्य । सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषां, तत्किं भूषा कुसुमवसनै , किञ्चशस्त्रैरुदस्त्रै ।१६।

अर्थ—जो कार्य होता है वह सकारणक होता है, एकीभाव मे इसी बात की उत्प्रेक्षा सी की है कि "जो स्वभाव से ही अहृद्य अर्थात् कुरूप होता है, वह प्राय भूषणो के लिये इच्छा किया करता है। **भावार्थ**—जो स्वभाव से ही सुन्दर होता है, उसको आभूषण धारण करने की आवश्यकता नही होती, वह बिना आभूषणो के भी शोभायमान होता है और स्वभाव से अमनोज्ञ पुरुष भूषणो से सुशोभित होने पर भी अमनोज्ञ रहता है, इसी प्रकार जिसके वैरी होते है एव जिसे शत्रु से भय होता है उसको शस्त्र ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। किन्तु हे जिनेन्द्र ! आप सर्व अगों मे स्वभाव से सुन्दर और शत्रुओ से अजेय एव निर्भय हो अत आप को भूषण-वसन और पुष्पो से तथा शस्त्र धारण करने से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् आप वस्त्र, भूषण, पुष्प और शस्त्रो से रहित हो। अत प्रतिमा पर कभी गन्ध केशर नही लगानी चाहिये। एकसधि भट्टारक ने भी जिन बिम्ब पर केशर चढने के लिये निषेध किया है— (बुधजनवोचक)

पश्येन्नो जिनबिम्बस्य,चर्चितं कुंकुमादिभि । पादपद्मद्वयं भव्यै तद्वन्द्य नैव धार्मिकै ।।

अर्थ—श्री जिन बिम्ब के जो चरण कमल कुंकुमादि से चर्चित हो, उनका दर्शन नही करे क्योकि वे चरण कमल धार्मिक भव्य प्राणियो से अवन्दनीय है। और भी कहा है

"पादद्वयं जिनेन्द्रस्य चन्दनैस्तु सुचर्चित ।
धार्मिकास्ते न पश्यन्ति महापापनिबन्धकम् ।। १६ ।। (स्वधोधरत्नाकर)

अर्थ—जो पूज्य पुष्प भगवान् जिनेन्द्र देव के चरणो पर चन्दन का लेप करते है ऐसी प्रतिमा को धार्मिक पुरुष पूजा वन्दना व स्तुति नही करते; कारण कि सराग आवरण सहित प्रतिमा पूजने बदने योग्य नही है। इनके पूजने व स्तुति करने से सिद्धान्तो मे पाप बन्ध कहा है। और भी कहा है-- (सिद्धान्तसारप्रदीप अ० ६)

"यज्जिनचन्द्रबिम्बस्य चर्चित कुंकुमादिभि , पादपद्मद्वयं भव्यैस्तद्वन्द्य नैव धार्मिकै ।।१२४।।

जिस जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा के चरण कमलो पर चन्दन (आवरण) चर्चित हो ऐसे जिन बिम्ब को भव्य पुरुष वंदन स्तुति दर्शन नही करते, कारण कि जैनो मे परिग्रह सहित जिन बिम्ब अपूज्य है। इस प्रकार की प्रतिमा के पूजन से पाप वध होता है।

और भी कहा है– (स्वामि कुल भूषण कृत सारचतुर्विशति स्तवन)

"अनर्चितपदद्वन्द्वं कुंकुमादिविलेपनैः, जिनेन्द्रबिम्बं पश्यन्ति ते नराः धार्मिका भुवि ।।६१।।

अर्थ—धर्मात्मा पुरुष वे है, जो जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा पर न केशरादि का विले-पन करते हैं और न केशरादि से युक्त प्रतिमा की पूजा, वन्दना एव स्तुति ही करते है। और भी कहा है— (सिद्धनन्द्याचार्यकृत प्रबोधसार)

"कर्पूरकुंकुमरसेन सुचन्दनेन, श्रीमज्जिनेद्रचरणाग्रविक्षेपणेन ।
पूजन्ति ये भविजना. सुसुगन्धवान्धा, दिव्याङ्गनापरिवृताश्च सदा वसन्ति ।।१।।

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के आगे कपूर, चन्दन कुंकुमादिमिश्रितरस को जो विक्षेपण (त्याग) करते है अर्थात् नही चढाते है वह भव्य उत्तम सुगन्ध अग और अनेक प्रकार के देव पर्याय के सुखो का अनुभव सागरो पर्यन्त करते है। और भी कहा है—

"चन्दनागुरुकाश्मीरसम्भवैः सुविक्षेपणैः, जिनेन्द्रचरणाम्भोज चर्चयन्तिस्म शर्मदम् ।।१।।

[पूजासार भट्टारक अजित सेन कृत]

अर्थ—चन्दन, अगुर और केशर को भगवान् चरण कमल के आगे मत चढाओ। और भी कहा है—

"यद्यद्वचो जिनपते भवतापहारी, नाहं सुशीतलमपीह भवामितद्वत् ।
कर्पूरचन्दनमितीव मयार्पितं सत्, त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं करोति" ।।२।।

अर्थ—जिस प्रकार भगवान् के वचन समस्त ससार के सताप के हरण करने मे समर्थ हैं उसी प्रकार अत्यन्त शीतल भी मैं ससार के सतापो के हरण करने वाला नही हू। इसलिये ऐसा समझ कर मेरे द्वारा चढाया हुआ यह कपूर मिश्रित चदन हे भगवन्! आप के चरण कमल के आश्रय करता हूँ।

यहा पर जितने भी दृष्टान्त दिये गये है उन सब मे भगवान् के चरणो मे केशर लगाना दोष है। केशर चढी हुई प्रतिमा के दर्शन पूजन से महान् कर्म बन्ध होता है।

आगे और भी प्रमाण देते है—

"स परा जंगमदेहा—जिनप्रतिबिम्ब भवति ।

"जंगमदेहा अपरा अर्थात् अजगमदेहा सुवर्णमरकतमणिरचिता, स्फटिकमणिघटिता, इन्द्रनीलमणिनिर्मिता, पद्मरागमणिरचिता, विद्रुमकल्पिता, अजंगमा प्रतिमा कथ्यते। तीर्थ-करपरमदेवाना प्रतिमा भवति, निर्ग्रन्थवस्त्राभरणजटामुकुटायुधरहित तथा वेशभूषारहित-वीतरागो अवतरिता। जिनमार्गे सर्वज्ञवीतरागमते ईदृशी प्रतिमा भवति ।।१।।

(षट् प्राभृत श्रुतसागरी टीका)

"व्यापत्ति व्यपनोद., पदयो सवाहन च गुणरागात् ।
वैयावृत्य यावा,नुपग्रहोऽन्योपि संयमिनां ।। १ ।। (षट् प्राभृत पृ. ८५)

टीका चकारात् पाषाणादिघटितस्य जिनबिम्बस्य स्नपनै (अभिषेचनतथा) अष्ट-विधै पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत । कस्य कुरुत? जिनबिम्बस्य वेषभूषायुधैरहितस्य । इत्थ प्रकार जिनबिम्बस्य । अन्य प्रकार जिनबिम्ब न मानित । तदा कु भीपाकादि नरकादौ पतिष्यति । सग्रन्थस्य बिम्बस्य अर्चन स्नपनै कुर्वत तस्य फलं प्राप्ति कुंभीनरक सप्तमे नरके पचबिलानि तेषा नामानि यथा रौरवमहारौरवासिपत्रकूटशाल्मलीकु भीपाकता पतन्ति ।

जिणबिम्ब जिणरूवं, जिणमग्गे इव भणिये या, अपरा पूजमि बदमि, जो होई मिच्छाइट्ठो ।

अर्थ—जिनेन्द्र की प्रतिमा जिन मार्ग विषै कही है वैसी के सिवाय वदना करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है । और भी कहा है—

"भागचन्द निरद्वन्द्व निरामय, निश्चयमूरति सिद्ध समानि ।
नित अकलंक अवक सक विन, निर्मल पंक विना जिमि पानी ।।१।।(कवि भागचन्द)

देखो पण्डितजी के पद के अन्दर भगवान् का स्वरूप द्रव्य कर्म और भाव कर्म से रहित शुद्धात्मानुभूति रूप बताया है । ऐसा ही स्वरूप समोसरण महिमा मे प० जयधवल-जी ने भी लिखा है; फिर आभरण सहित प्रतिमा कैसे और क्यो मानी जावे ? इस कारण जिनमत मे सर्व प्रकार के वेश भूषा और आभरण से रहित ही जिन प्रतिमा आदर्श है, अन्य नही है । आगे और भी प्रमाण देते है— (तिलोयपण्णत्ती)

अट्ठुत्तरसयसख्या,जिणवरपासादमज्झ भायम्मि ।
सिंहासणाणि तुंगा, सफायपीढा य फलिह मया ।। १८७० ।।
सिहासणाणे उवरिं, जिण पढिमा ओ अणाइ णिहणाहो ।
अट्ठुत्तरसयसख्या पणसय चावाणि तुंगाओ ।। १८७१ ।।
मिण्णिदमीलमरगयकु तलभूवग्गदिण्णसोहाओ ।
फलिहि टणील णिम्मद, धवलासिदणेत्त जुयला ओ ।। १८७२ ।।
वजमयदत पती, पहाओ पल्लव सरिच्छवधराओ ।
हीरमयवरणहाओ, पउ मारुणपाणि चरणाओ ।। १८७३ ।।
अट्ठब्महियसहस्सप्पमा,णवंजण समूह सहिदाओ ।
बत्तीस लक्खणेहिं, जुत्ताओ जिणेस पडिमाओ ।। १८७४ ।।

अर्थ—जिनेन्द्र प्रसाद के मध्य भाग मे पाद पीठो से सहित स्फटिक मणि मय एक सौ आठ उन्नत सिहासन है । सिहासनो के ऊपर पाचसौ धनुष प्रमाण ऊंची एक सौ आठ अनादि निधन जिन प्रतिमाये विराजमान है । ये जिनेन्द्र की प्रतिमाये भिन्न २ इन्द्र नील मणि व मरकत मणि मय कुंतल तथा भ्रकुटियों के अग्रभाग से शोभा को प्रदान करने वाली स्फटिक मणि और इन्द्र नील मणि से निर्मित धवल व कृष्ण नेत्र युगल से सहित,

वज्रमय दन्तपंक्ति की प्रभासे सयुक्त, पल्लव के सदृश अधरोष्ठ से सुशोभित, हीरे से निर्मित उत्तम नखो से विभूषित, कमल के समान लाल हाथ पैरो से विशिष्ट, एक हजार आठ व्यञ्जन समूह से सहित और बत्तीस लक्षणो से युक्त है । इस प्रकार अकृत्रिम जिन मन्दिरो मे जिन प्रतिमाओ का वर्णन है । यहा पर भी वेश भूषा रहित ही प्रतिमा का वर्णन है और प्रकार का नही है । आगे और भी प्रमाण देते है—　　　　(बोधपाहुड)

"सपरा जगम देहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं, णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ।

अर्थ—दर्शन ज्ञान शुद्ध निर्मल है चरित्र जिन के तिन की स्वपरा कहिये अपनी और परम की चालती देह सो जिन मार्ग विषै जगम प्रतिमा है अथवा स्वपरा कहिये अपनी और पर की चालती देह सो जिन मार्ग विषै जगम प्रतिमा है अथवा स्वपरा आत्माते भिन्न ऐसी देह सो कैसी है कि जो निर्ग्रन्थ स्वरूप है, जिसके कुछ परिग्रह का लेश मात्रा भी नाही ऐसी दिगम्बर मुद्रा जिसके काहू वस्तु से राग द्वेष नाही वीतराग स्वरूप चउवीस प्रकार के बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से रहित जिनमत मे स्थावर प्रतिमा कही हैं ।

आगे और भी प्रमाण देते है—　　　　(षट्प्राभृत गोतमर्षि पृ० ७६)

"निराभरणभासुर विगत रागरागोदयात् । निरम्बरमनोहर प्रकृतिरूपनिर्दोषत ॥
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिसाक्रमा,न्निरामिषसुतृप्तिमद्,विविधवेदनानां क्षयात् ॥१॥

"ज चरदि सुद्धचरणं, जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं ।
सा होइ वंदणीया, णिग्गथां संजदा पडिमा ॥ ११ ॥ (बोध पाहुड)

अर्थ—जो शुद्ध आचरण को आचरे और सम्यग्ज्ञान कर यथार्थ को जाने, और सम्यग्दर्शन कर शुद्धात्मा का जो श्रद्धान करे, इस प्रकार को शुद्ध-सयत निर्ग्रन्थ प्रतिमा बदवे योग्य है, अन्यथा नही । जिसके बाह्य आभ्यन्तर (चौबीस प्रकार का परिग्रह) का त्याग है सो ही प्रतिमा बंदवे योग्य प्रतिमा है । आगे और भी कहते हैं—　　(पात्रकेशरी स्तोत्र)

प्रशान्तकरणं वपुर्विगतभूषणं चापि ते, समस्तजनचित्तनेत्रपरमोत्सवत्व गतम् ।
विनायुधपरिग्रहाज्जिन ! जितास्,वत्वयादुर्जया कषायरिपवोऽपरैर्न तु गृहितशस्त्रैरपि ।१७।

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आप के शरीर की समस्त इन्द्रिया अत्यन्त शान्त हो गई है और आप के शरीर पर कोई प्रकार का वेष भूषा आवरण नही है, तथापि आपका शरीर समस्त जीवो के हृदय को और नेत्रो को परम उत्सव और आनन्द का करने वाला है तथा हे भगवन्! आपने कोई प्रकार का शस्त्र धारण नही किया तो भी अत्यन्त दुर्जय कषाय रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, यह शक्ति निर्भय, वेश भूषा आदि परिग्रह रहित स्वरूप का ही माहात्म्य है, यही जिनमत मे महान् उत्कृष्ट पूजा स्वरूप प्रतिमा मान्य है, अन्यथा नही । सिहई हजारीलाल ने इस सम्बन्ध में निम्न स्तवन लिखा है—

— दोहा —

"वीतरांग स्तवन फल सुनो भव्यचित्तलाय। कर्मकलंक खिपाय के, वशे मोक्ष पुरजाय ।।१।।

—: चौपाई :—

"वीतराग का लक्षण सुनो भवससार पंच को हनो ।
मोहनाशकर भये सर्वज्ञ, छोडे दुष्ट घातिया मज्ञ ।।
समोसरण लक्ष्मी से दूर, अन्तरङ्ग लक्ष्मी भरपूर ।
आत्म अनन्त चतुष्टय समुदाय, वेशा भूषा कछु नहीं थाय ।।
परमौदारिक शरीर मनोग, चन्दन कु कुम कछु नहीं रोग ।
हो सर्वज्ञबिम्ब जो अशा, पूजे बंदे कर्म जो नशा ।।
वालग कोडि परिग्रह होय, जिनमत की प्रतिमा नहीं सोय ।
वेशा भूष को वदेसोय, जातेजीव नरक में होय ।।
सौ मिथ्यात्वी भ्रमे ससार, कहती जिनवाणी हरबार ।

भावार्थ--कहा तक कहा जाय आचार्यों के प्रमाण तो पहले ही बहुत से दे दिये । परन्तु भाषाकार भी उनके वचनो की परिपुष्टि करते है कि जिस प्रतिमाजी के ऊपर बाल के कोटि भाग भी परिग्रह हो, आवरण एव वेश भूषा होवे और जो जीव उसकी वन्दना करेतो नियम कर वह जीव मिथ्यात्वी होकर नरक मे जावे तथा ससारी होता हुआ ससार मे परिभ्रमण करे , इसमे सन्देह नही, क्योकि ऐसा जिनेन्द्र भगवान् के वचन दिव्यध्वनि से प्रकट होता है कि चन्दन कु कुम लगो जिनेन्द्र की प्रतिमा नही पूजनी चाहिये, अपूज्य है । क्रिया कलाप नामक ग्रन्थ मे जब परिग्रह त्याग नाम महाव्रत लिया जाता है, उसका स्वरूप निम्न प्रकार बताया है-सो यहा दर्शाते हैं ।

अप्प वा. बहु वा अणु थूलं वा अचित्तं वा अमुत्थं वहित्य वा अवि वालग्ग कोडि मित्त पि णेव सयं असयण पाउग्ग परिग्गहं । (प पन्नालाल सोनी सग्रहीत पृ १०१ प. १४)

इस प्रकार शास्त्रो मे जब प्रमाण मिलता है तो फिर किस प्रकार परिग्रह सहित प्रतिमा मान्य हो सकती है । परिग्रह रहित प्रतिमा का ही स्तवन करके लोक आत्म, कल्याण कर मकते है, अन्यथा नही । इसका और भी प्रमाण देते हैं- [बोध प्राभृत]

"जिणबिंबणाणमय सजमसुद्धं सुवीयराय च । ज देइ दिक्ख सिक्खा, कम्मक्खव कारणे सुद्धा ।

टीका--तृतीयपरमेष्ठीआचार्यसज्ञको जिनबिम्बमाकारो जिनबिम्ब ज्ञातव्य इत्यर्थ. चकारात्तद्गुणाधिकारोपणा निषेधिका च जिनबिम्बं भवति । यहा पर आचार्य का स्वरूप ऐसा बताया कि आचार्यों के ऊपर न तो पुष्प चढते हैं, और न किसी से कहकर चढवाते है । और भी कहा है--

"जिणमग्गे पव्वज्जा छह संघयणेसु भणिय णिग्गंथा" ।। ५४ ।। (बोध पाहुड)

टीका—षट्सु सहननेषु "भणिया णिग्गथा" कथभूता भणिता निर्ग्रन्था यथाजात रूपधारिणी इति निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या ज्ञातव्या । यहा पर प्रव्रज्या है सो जिन मार्ग विषै छहो सहननवालो के होती है । कैसी है प्रव्रज्या-निर्ग्रन्थ स्वरूप तथा सर्व परिग्रह से रहित यथा-जात स्वरूप जानना । और भी कहा है— [मोक्षपाहुड]

'जिणवरमएण जोई झाणे झाएईसुद्धमप्पाण,जेण लहइ णिव्वाण ण लहइ किंतेण सुरलोय ।

टीका—जिनवरमतेन जिनशासनेन सम्यक्त्वश्रद्धानज्ञानानुभवनलक्षणेन रत्नत्रयेण योगी दिगम्बरो मुनि । शुद्धं रागद्वेषमोहादि रहितं कर्मलकलकरहित टकोत्कीर्णस्फटिक-मणिबिम्बसदृश । यहा पर जिनेन्द्र भगवान् के मत से तथा जिन शासन से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानानुभवन रूप लक्षण से रत्नत्रय सहित ही दिगम्बर मुनि होता है, सो कैसा है कि शुद्ध सो रागद्वेष मोहादि रहित अर्थात् कर्म कलक रहित टंकोत्कीर्ण स्फटिक मणि के बिम्ब के समान जिसके किसी प्रकार का दाग भी नही हो, वेषा भूषा रहित ऐसी प्रतिमा जैन मार्ग विषै होवे है सोही पूज्य है । और प्रकार होय सो जिन मत मे पूजने योग्य नही है । आगे और भी कहते है— [सूत्र पाहुड]

'वालग्गकोडिमत्त परिगहगणं ण होइ साहूणं । भुंजेइ पाणिमत्ते दिण्णं इक्कठाणम्मि ।।१७।।

टीका—बालस्य रोम्णोऽग्रकोटिमात्र अग्राग्रमात्र अतीवाल्पमपि परिग्रहण स्वीकारो न भवति साधूना निरम्बरयतीनाम् । (सूत्रपाहुड)

'जइ जप्परूवसरिसो तिलतुसमेत्तं न गहदि हत्थेसु,जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण्णजाइ णिग्गोद ।

टीका—यथाजातरूप सर्वज्ञवीतरागस्तस्य रूपसदृशो नग्नशरीर. । तिलस्य पितृप्रियकणस्य तुषस्त्वङ् मात्र न गृह्णाति हस्तयोरित्युत्सर्गव्याख्यान प्रमाणमेव ।

"जस्स परिग्गहगहणं, अप्प बहु यं च हवइ लिंगस्स ।
सोगरहिउ जिणवयणे, परिगहरहियो निरायारो ।। १६ ।। (सूत्रपाहुड)

टीका—यस्य मुने श्वेताम्बरादे परिग्रहग्रहणं शासने भवति । अल्पं बहुल चतुर्विश-त्यावरणादिक भवति लिंगस्य ते जिनमार्गविहितः तल्लिग वेषो निन्दितोऽप्रशनीयो भवति ।

अर्थ—बाल के अग्रभाग की कोटि कहिये अणुमात्र भी परिग्रह साधुके ग्रहण नही होय है । १७ जैसो मुनि है सो यथाजात रूप होय है जैसे, जन्मता बालक नग्न रूप है सो ही दिगम्बर कहलावे है । सो अपने हस्त विषै व पाव से तिलतुष मात्र भी कछु ग्रहण नही करे । जो कछु अल्प बहुत ग्रहण करे तो निगोद जावे ऐसी प्रतिमा होय है । १८ जिस लिंग मे तथा भेष मे अल्प वा बहुत परिग्रह का ग्रहण होय सो धर्मात्माओ से गर्हित है । जिनमत मे तो परिग्रह रहित है सो ही निरागार मुनि कहलावे है । और भी कहते हैं-

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्वाशयप्रणामा महित ।
लोकत्रयपरमहितो जनावरणज्योतिरुज्वलद्धामहित ।। १३९ ।। (बृहत्स्वयभू)

अर्थ—हे भगवन् ! वीर ! आप सुरासुरो से वन्दित और तीनलोक के हित कारक निरावरण, परिग्रह रहित, उज्जवल प्रकाश मान ज्योति सहित पूज्य हो । और भी कहा है—

"णग्गत्तणं अकज्ज भावणरहियं जिणेहि पण्णत्त ।। ५५ ।। (भावप्राभृत)

टीका—नग्नत्व सर्वबाह्यपरिग्रहरहितत्वम् अकार्य सर्वकर्मक्षयलक्षणे मोक्षकार्ये रहितम् । अत सर्वपरिग्रहरहित हि स्फुट मोक्षमार्ग भवति इत्यर्थ । (आत्मानुशासन)

"आकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवे । योगिगम्यं तव प्रोक्त रहस्य परमात्मन. ।११०।

अर्थ—ससार भरके जितने भी जड पदार्थ है सो सब मेरी आत्मा से भिन्न है । और मै ही सर्व ससार का अधिपति (परमात्मा) ईश्वर हूँ । इस प्रकार की भावना से तू (अह) अर्हत् हो जावेगा ऐसा स्वरूप निरावरण परमात्मा का होता है सो योगियों के गम्य हुआ करता है । और भी कहा है—

"आरभे णत्थि दया महिलासगएण णासायबंभ । संकाए सम्मत्त पव्वज्जा अत्थगहणेण ।।

अर्थ—आरभ मे रचमात्र भी दया नही होती और न स्त्रियो के सम्बन्ध से राग का छूटना होता है । इस कारण राग द्वेष से मुक्त निरावरण विना वेष भूषा ही दीक्षावाला प्राणी मोक्ष को प्राप्त करता है जिन मत मे जिस प्रतिमा मे बाह्य और अभ्यन्तर दोनो प्रकार के परिग्रह मे से कोई भी परिग्रह पाया जावे वह ही प्रतिमा पूज्य होती तो मुनिव्रत धारण करने की आवश्यकता ही न होती । और भी कहा है—

"सहज परम काय ।।३।। त्यजतमलकलंको धौतसासार पङ्कः ।।४।।
विगतजननदोष" ।।५।। [संखदेवाष्टक] सि. सा स पृ १६७

अर्थ—जिनकी जन्मते बालक जैसी काय है जिन्होने ससार रूपी वेष भूषा आभरणो को छोड दिया है और जिन्होने संसार रूपी भावनाओ को धो डाला है तथा जिन्होने आभरण वेष भूषा अलकार संसारी जीवो का सर्वथा त्याग दिया है—ऐसे निर्मल पवित्र भगवान् का स्वरूप ही बदवे योग्य है अन्यथा नही । और भी कहा है—

"तम्मूले पलियकग जिणपडिमा पडिदि सम्हि चत्तारि ।
चउतोरणजुत्ता ते भवणेसु च जबुमाणद्धा ।। २५४ ।। (त्रिलोकसार व्यन्तर लोकाधि०)

अर्थ—तिन चैत्यवृक्षनि के मूल विषै पल्यंक आसन को प्राप्त ऐसे जिन प्रतिमा एक एक दिशा प्रति च्यार २ पाइए है । बहुरि ते प्रतिमा च्यारि तोरण द्वारनि कर सयुक्त है । बहुरि भवननि विषै ते चैत्य वृक्ष है ते आगे जंबूद्वीप का वर्णन विषै जंवूवृक्ष के परिकर का प्रमाण कहेगे ताते अर्द्ध प्रमाण जानने ।

"चउचेत्तदुमा जंबूमाणा कप्पेसु ताण चउपासे ।
पल्लंकगजिण पडिमा पत्तेय ताणि वंदामि ।।५०३।। (त्रिलोकसार वैमानिकाधिकार)

अर्थ—सौधर्मादिक कल्प विषै चारो वन सम्बन्धी च्यारि चैत्यवृक्ष है । तो एक २ जबू वृक्ष समान प्रमाण धरे है । जबू वृक्ष की उचाई आदि का प्रमाण आगे कहेगे । तिहि समान ए जानने । बहुरि तिन एक २ चैत्य वृक्षनि कै चारो पार्श्व विषै पल्यकासन जिन प्रतिमा विराजे है । तिनको मै कहूहो । **भावार्थ**—यहा पर जो प्रतिमाजी बतलाई है सो विना भेष भूषा की हैं । उन प्रतिमाजी के पास दर्वाजे पर तो तोरण वगैरह कहा है । परन्तु प्रतिमाजी के वास्ते कोई आडम्बर जैसे केशर पुष्प का वर्णन नही किया । क्यो करे । वहा पर कोई वेष भूषा है ही नही । यदि होता तो वर्णन करते । इस कारण ऐसा वर्णन कर कौन नरक निगोद का बधन बाधे । क्योकि सिद्धान्त तो जिन प्रतिमा को निरावरण मानता है अत शास्त्र विरुद्ध को कौन निष्पादन करे तथा दुर्गति का बन्ध बाधे । सब का निष्कर्ष यह ही है कि प्रतिमा बालक के समान शुद्ध निर्विकार ही पूज्य है अन्यथा अपूज्य है ।

"संपुण्ण चदवयणो जडमउडविवज्जिओ णिराहरणो ।
पहरण जुवइ विमुक्को, सतिपरो होइ परमप्पा ।। १२२ ।।
णिब्भूसणो वि सोहइ, कोहोए अमओमणो णत्थि ।
जह्मा विपाररहिओ, णिरंबरो मणोहरो तह्मा ।।१२३।। (धम्मरसायण, सि स मे)

अर्थ—जिन के शरीर की आकृति चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से भी करोड गुणी स्वच्छ जटा मुकुट तथा आभरणो से एव वेष भूषा से रहित शान्तिमय सासारिक विषय कषाय स्त्री सग से रहित है, हे जिनेन्द्र ! ऐसा आपका स्वरूप है । जिन के किसी प्रकार के भूषणो से शोभा नही और न जिनके किसी प्रकार का क्रोधादिक विभाव ही है और जिनके किसी प्रकार का अबर अर्थात् लेप आभूषण नही है । हे—जिनेन्द्र ! आप का ऐसा महा मनोहर स्वरूप जैसा त्रिलोक मे अन्य पुण्याधिकारी जीवो को नाही सो भी निरावरण, आयुध रहित जन्मते बालक के समान ससारी जीवो का हितकारी है ऐसे आप जयवन्त रहो । हे निराभूषण ! विगतदूषण ! तुम्हारी सदा जय होवे । इस प्रकार जिन की देवो कर स्तुति पाई जावे, पूज्य है । "णिग्गथमोहमुक्का" ।। ८० ।। (मोक्षपाहुड)

अर्थ—जो मुनि निर्ग्रन्थ अन्तरग और बाह्य परिग्रह से रहित हैं वह ही आकृति जिन प्रतिमा की पूज्य मानी है । "अन्यलिङ्गिगृहात् परिग्रहा जिनलिंगेन मुच्यते"

अर्थ—अन्य दर्शनो मे जितने भी पूज्यता के स्थान हैं सो सब ही परिग्रह धारण करने वाले होते है परन्तु ससार मे एक यह जैन धर्म ही परिग्रह वेष भूषा आभरण रहित आत्मा अथवा प्रतिबिम्ब को पूजने वाला है । तब ही इन आत्माओ का कल्याण

होता है और अन्य का कल्याण करते है। —

बालग्गकोडिमत्तं परिगह गहण ण होइ साहूणं। (सूत्र पाहुडे)

अर्थ—बाल के अग्र भाग की कोटि भागकरिये तीमे से एक अणी मात्र भी परिग्रह साधु के नही होवे है अर ग्रहण करे तो जिन सूत्र से विरुद्ध है।

"सपरा जंगम देहा, दंसण णाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गथ वीयराया, जिणमग्गे एरिसा पडिमा॥ १॥

अर्थ—दर्शन ज्ञानकरि शुद्ध है निर्मल है चरित्र जिनके तिनकी स्वपरा कहिये अपनी तथा पर की चालती देह है सो जिन मार्ग विषै जगम प्रतिमा मानी है अथवा स्वपरा कहिये आत्मातै पर कहिये भिन्न है ऐसी देह सो कैसी है निर्ग्रन्थ स्वरूप है जाके कछु परिग्रह का लेश नही है सोही दिगम्बर मुद्रा मान्य है। पाक्षिक प्रतिक्रमण मे लिखा है—

"अप्प वा बहु वा अणु वा थूलवा सचित्त वा अचित्त वा अमुत्थ वा बहित्थ वा अविबालग्गकोडिमित्तपिणेव सय" इति

अर्थ—अल्प-बहुत, अणु-स्थूल, सचित्त आभ्यन्तर-बाह्य, किसी प्रकार का भी एव बाल के करोडवा भाग भी मेरे परिग्रह न हो। सहस्त्रनाम मे भी १००८ नामो में निर्लेप लिखा है। **"व्योममूर्त्तिरमूर्तात्मा निर्लेपोऽमललोचन॥**

उल्लिखित अनेक प्रमाणो से भगवान् परिग्रह रहित और निर्लेप है यह सिद्ध किया जा चुका है। अत भगवान् के ऊपर केशर का लेपन करना आगम विरुद्ध समझकर नही करना चाहिए। आगे जिन प्रतिमा का स्वरूप कहते है— (आदि पुराण पर्व २३)

"पुरोरङ्गवल्याातते भूमिभागे, सुरेन्द्रोपनीता बभौ सा सपर्या॥
शुचिद्रव्यसपत्समस्तैव भर्तु, पदोपास्तिमिच्छु श्रितातच्छलेन॥ १०७॥

अर्थ—सुरेन्द्रनिकर कल्याण पूजा का द्रव्य जो सो श्री जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमल के पास रगावली की भाति भूमि के भाग विषै चढाया गया। यहां पर जो चरणों पर केशर पुष्प चढता होता तो इन्द्र जो पूजन लाया था उसमे केशर पुष्प जरूर लाता। और उसे पृथ्वी पर रगावली के समान क्षेपण करता; या चरणो पर ही चढाता, परन्तु ऐसा न होने से पृथ्वी पर चढाया क्योकि वीतराग को सराग बनाने के बराबर अन्य पाप नही है। याते देवो ने सामग्री चरणो के पास ही चढाई। **नित्य पूजन का स्वरूप—**

अब आगे क्रम प्राप्त नित्य पूजन का स्वरूप बतलाते है —

"तव पादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीन।
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावत्, यावन्निर्वाणसम्प्राप्ति॥ १॥"

अर्थ—हे जिनेन्द्र देव! आपके दोनो चरण मेरे हृदय मे विराजमान रहे तथा मेरा

हृदय आपके चरण द्वय मे अवच्छिन्न लवलीन रहे जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति न होजावे। इस प्रकार ईश्वर के द्वय चरणो को अपने हृदय रूप ठोने मे पुष्प (रगेहुए चावलो) की पुष्पाजलि क्षेपण करी। उसके ऊपर भावो से विराजमान करके अष्ट द्रव्य से पूजन करनी चाहिये। **पूजा के द्रव्य जल द्रव्य से पूजन**

अब आगे क्रम से आठो द्रव्यो का वर्णन शास्त्रानुसार करते है(पद्मनन्दि पञ्चविशतिका)

"जातिजरामरणमित्यनलत्रयस्य । जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत् ।।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ । धारात्रय प्रवरवारिकृत क्षिपामि ।। १ ।।

अर्थ–जीवके आश्रित अनन्त सताप को देने वाली जन्म, जरा और मरण को करने वाली, ये तीन प्रकार की अग्नि है। उन तीनो प्रकार की अग्नि को बुझाने के लिये श्री-जिनेन्द्र भगवान् के दोनो चरणो के अग्र भाग की भूमि मे उत्तम शुद्ध जल कृत तीन धाराओ को क्षेपण करता हू। इस प्रकार पूजन मे जल चढाना चाहिये। (आदि पुराण पर्व २३)

"ततोनीरधारां शुचि स्वानुकारां, लसद्रत्नभृंगारनालस्रुतां तां ।।
निजा स्वान्तवृत्ति प्रसन्नामिवाच्छां, जिनोपांघ्रि संपातयामास भक्त्या ।। १०६ ।।

अर्थ—तदनन्तर इन्द्राणी ने भक्ति पूर्वक भगवान् के चरणकमलो के समीप देदीप्यमान रत्नो के भृगार (झारी) की नाल से निकलती हुई पवित्र जल की धाराए क्षेपण की। वह जल की धारा इन्द्राणी के शुद्ध अन्त करण के समान निर्मल और पवित्र थी।

चन्दन द्रव्य से पूजन (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्याय २०)

"अर्चयन्ति जिनेन्द्र ये, नित्य कर्पूरकुंकुमै ।
मिश्रै सच्चन्दनै स्वर्गे, सुगन्ध्यङ्ग भजन्ति ते ।। १९७ ।।

अर्थ—जो प्रति दिन कपूर और कुकुम से मिले हुए चन्दन से भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजन करते हैं वे उसके प्रभाव से स्वर्ग मे अत्यन्त उत्तम सुगधित शरीर पाते है।

"स्वरुद्भूतगन्धै सुगन्धीकृताशै, भ्रमद्भृङ्गमालाकृतारावहृद्यै: । (आदिनाथपुराणपर्व२३)
जिनाङ्घ्रीस्मरन्ती विभो पादपीठम् । समानर्च भक्त्या तदा शक्रपत्नी ।। १९८ ।।

अर्थ—उसी समय इन्द्राणी ने भगवान् के दोनो चरणकमलो का स्मरण करते हुये भक्ति पूर्वक, जिस गन्ध की सुगन्ध से सब दिशाये सुगन्धित हो रही हैं, जिस पर फिरते हुए भ्रमरो के समूह से मनोहर शब्द हो रहे है ऐसे स्वर्ग के सुगन्धित गध (चदन) से भगवान् के सिहासन की पूजा की। **अक्षत पूजन का विधान –**

"शाल्यक्षतैरखण्डैश्च सदुज्जवलैर्जिनेश्वरात् ।
समर्चयति ये भव्या, ते भजति शिव सुखम् ।।१९८।। (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्याय २०)

अर्थ—जो भव्य जीव अखण्ड और उज्जवल अक्षतो से भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा

करते है वे अक्षयपद वा मोक्ष के परम् सुख को प्राप्त होते है ।

"राजत्यसौ शुचितराक्षतपुञ्जराजि, दत्ताधिकृत्य जिनमक्षतमक्षधूर्तैं ।

— पुष्प पूजन का विधान — (आदि पुराण पर्व २३)

"तथाऽऽम्लान मन्दारमाला शतैश्च । प्रभो पादपूजामकार्षीत्प्रहर्षात् ।। ११२ ।।

अर्थ—तैसे ही इन्द्राणी नवीन प्रफुल्लित मन्दार जाति के कल्प वृक्षो के पुष्पो की सैकडो मालाओ से भगवत् चरणो की पूजा करती भई । और भी कहा है—

"विनीतभव्याब्जविबोधसूर्यान्, वर्यान् सुचर्याकथनैकधुर्यान् ।
कुन्दारविन्दप्रमुखप्रसुनै,जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन् यजेऽहम् ।।४।। (पद्मनन्दि पूजाष्टक)

अर्थ—विनयवान् भव्यजीव रूप कमलनि के वन को जागृत करने मे सूर्य, और उत्कृष्ट चर्या (आचरण) के कथन मे अद्वितीयधुरा के धारण करने वाले ऐसे जिनेन्द्र सिद्धान्त और यतीश्वर है । तिनको कुन्द अरविन्द आदि पुष्प है तिनसो पूजे है । यह कथन नित्य पूजा के अष्टकका है और भी कहा है— [प्रश्नोत्तर श्रावकाचार अध्याय २०]

"जातिचम्पकसत्पद्मकेतक्यादिप्रसूनकै । पूजयति जिनान्भव्या नाके ते यांति पूज्यतां ।१६६।

अर्थ—जो भव्य प्राणी जाति, चम्पा, कमल और केतकी आदि पुष्पो के द्वारा भगवान् श्रीमद् जिनेन्द्र देव को पूजते है, वे जीव स्वर्ग मे पूजे जाते है । **प्रश्न**—पुष्प कैसे होने चाहिये ? **उत्तर**—पुष्पो के लिये आचार्यों ने यह प्रमाण बताया है ।

"हस्तात् प्रस्खलित क्षितौ निपतित, लग्न कर्वाचत्पादयो ।
यन्मूर्धोर्ध्वगतं धृत कुवसने, नाभेरधो यत्धृतम् ।।
स्पष्ट दुष्टजनैर्घनैरभिहत, यद् दूषितं कीटकैस्,
त्याज्य तत्कुसुम विदन्ति विबुधा, भक्त्या जिन प्रीतये ।।१२१।। (उमास्वामि श्रावकाचार)

अर्थ—जो पुष्प हाथ से प्रस्खलित होकर पृथ्वी पर गिर गया हो, पैरो मे लग गया हो, मस्तक पर धारण कर लिया हो, कुत्सित एव दूषित वस्त्र मे रख लिया गया हो, नाभि से नीचे रखा गया हो, दुष्ट जनो से छूलिया गया हो, मेघ की वर्षा से गल गया हो और कीडो से मारा हुआ हो ऐसे पुष्प को विद्वान् लोगो ने भगवान् की पूजा के लिये त्याज्य कहा है । उल्लिखित दोषो से रहित पुष्प ग्राह्य है । **प्रश्न**—पुष्प वर्णन के श्लोक मे कीटक पदकी एवज मे कंटक पद कहा है सो कैसे है ? **उत्तर**—शास्त्रो मे कीटक पद ही बताया है न कि कटक क्योकि पुष्प मात्र जो भी होते है सो सब जीव सहित ही माने हैं । याते पुष्प की किरणिका या पाखुडी या बीच मे अनेक प्रकार के जीव त्रस कायिक के हुआ ही करते है क्योकि ऐसा कई शास्त्रो मे पूर्वाचार्यो ने बतलाया है । याते कीटक सहित पुष्प धोने पोछने मे जीवो का घात हो वे ही जब वह मृतक सहित हो तो स्पर्श योग्य नही, याते

कीटक कर ही त्याज्य है । कदाचित् कंटक कर छिदे होय सो भी अग्राह्य है । सो भी त्याज्य है । ऐसा भाव जानना । प्रश्न—काटे सहित वृक्ष के पुष्पनिका निषेध करौ हो सो योग्य नही, क्योकि कमल, केवडा, केतकी आदि कटक वृक्षनि के पुष्प ही पूजा के स्थलो में लिखे हैं सो कैसे ? उत्तर—जिन मे जन्तु घात हो जावे तथा जो जन्तुओ कर छिदे हो, अथवा कटक करि छिदे होय तथा अमनोज्ञ गध युक्त होय सो भगवान् के चढाने योग पुष्प नही होय है। प्रश्न—कई पुरुष पुष्पो को श्री मज्जिनेन्द्र देव के चरण कमलो पर चढाते है सो योग्य है या अयोग्य है? उत्तर-श्रावक की पाचवी प्रतिमा सचित्त–त्याग होय है । इसके पीछे उत्तरोत्तर शुद्धता चारित्र की विशेष होय है । मुनि अवस्था मे तो सचित्त का सम्बन्ध ही नही रहा । स्पर्श भी नही रहा, और यह प्रतिमा है सो पञ्च परमेष्ठी की है । याते पुष्पो को चरणो के स्पर्श कराने योग्य भी नही है । आगे भगवान् के अतिशय में देव कृत पुष्प वृष्टि का वर्णन करते है— (आदिपुराणपर्व २३)

"वृष्टिरसौ कुसुमानां तुष्टिकरी प्रमदानाम् । दृष्टिततीरनुकृत्य स्रष्टु रपत्तदुपान्ते ॥ ३३ ॥
शीतलैर्वारिभिर्गांगैरार्द्रिता कौसुमी वृष्टि । षट्पादैराकुलाऽपत्तत्पत्युरग्रे ततो मुदा ॥ ३५ ॥

अर्थ—वह पुष्पो की वर्षा स्त्रियो को अत्यन्त प्रसन्न करती हुई भगवान् के समीप भाग मे पड रही थी और ऐसी जान पडती थी मानो नेत्रो की सतति ही पुष्पो का रूप धारण करके भगवान् के समीप पड रही हो ।३३। जो गगा के शीतल जल से भीगी हुई है, जिस पर अनेक भ्रमर बैठे हुए है और जिस की सुगन्धि चारो ओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पो की वर्षा भगवान् के सामने पड रही थी ।३५।

प्रश्न—व्रत कथा कोष मे श्रुत सागर मुनि लिखते हैं— (व्रतकथाकोष)

"तत्प्रश्नाच्छ्रेष्ठिपुत्रीति प्राह भद्रे श्रृणु ब्रुवे । व्रतं ते दुर्लभ, येनेहामुत्र प्राप्यते सुखम् ॥१॥
शुक्लश्रावणमासस्य सप्तमी दिवसेऽर्हता । स्नपन पूजनं कृत्वा भक्त्याष्टविधमूर्जितम् ॥ २ ॥
ध्रियते मुकुट मूर्ध्नि रचित कुसुमोत्करै. । कठे श्रीवृषभेशस्य पुष्पमाला च ध्रियते ॥ ३ ॥

अर्थ—सेठ की पुत्री के प्रश्न को सुनकर आर्यिका कहती भई । हे पुत्रि! मैं तुम्हारे कल्याण के लिये व्रतो का उपदेश करती हू । उस व्रत के प्रभाव से इस लोक मे दुर्लभ सुख प्राप्त होता है । उसे तुम सुनो । श्रावण सुदी सप्तमी के दिन श्री जिनेन्द्र देव का अभिषेक और अष्ट प्रकार के द्रव्यो से पूजन करके वृषभ जिनेन्द्र के मस्तक पर नाना प्रकार के पुष्पों से बनाया हुआ, मुकुट तथा कठ मे पुष्पो की माला पहरानी चाहिये । जब इस प्रकार का वर्णन शास्त्रो मे मिलता है तब आप किस प्रकार और किस आधार पर प्रतिमाजी पर पुष्पों के चढाने का निषेध करते हो ? उत्तर—इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है, फिर भी ध्यान मे समझ मे नही आया तो और सुनिए । क्रियाकलाप नामा ग्रन्थ मे जहा पर महार्घ

के कथन मे परिग्रह का सर्व प्रकार बाह्य अभ्यन्तर रूप से त्याग कहा है वहा इस प्रकार कहा है – **"वा अप्पं, वा बहुं, वा अणुं, वा थूलं, वा सचित्त, वा अचित्त, वा अभुन्थ, वा बहित्थं, वा अविबालग्ग कोडि मित्त पिणेव सय असमण पाउग्ग परिग्गह गिण्हिज्ज, णो अण्णेहि असमण पाउग्गं परिग्गह गेण्हाविज्ज णो अण्णेहि असमण पाउग्ग परिग्गह गिण्हिज्जत वि समणुमणिज्ज तस्स भते।** (पाक्षिक प्रतिक्रमण पत्र १०१ पक्ति १४ वी)

इन ऊपर कहे हुए शब्दो से यह मालूम होता है कि जिन मुनियो के पास बाल के अग्रभाग के करोडवे भाग भी परिग्रह होवे वे परिग्रह धारी है, उनके महाव्रत नही। जब उनके महाव्रत ही नही रहा तो वह पूज्य कैसे? और यह प्रतिमा भी तो उन्ही महा पुरुषो की है। तो इन प्रतिमाओ मे भी किंचित् भी परिग्रह मिले तो वह प्रतिमा कदापि पूज्य नही हो सकती। प्रतिमा सर्वथा वीतराग की होती है, इस पर परिग्रह आभरणादि किस प्रकार रह सकते है। यदि ऐसा ही मान लिया जावे अर्थात् परिग्रह सहित प्रतिमा भी पूज्य समझी जावे तो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय मे क्या अन्तर रह जायगा। इस विषय मे अपने जितने भी प्रश्न किये है उन सब का उत्तर दिया जा चुका है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे परिग्रहधारी मूर्त्ति की पूज्यता किसी प्रकार सभव नही है। यह सब का निष्कर्ष है। जिन प्रतिमा के केशर आदि के विलेपन के खण्डन मे भी यही दलीलें समझना चाहिए। साराश यह है कि किसी भी दलील से इस बात का समर्थन नही होता कि भगवान् के केशर चर्चना और फूल चढाना चाहिए। वीतराग भगवान् के शरीर पर केशर चढाने का अर्थ होता है प्रतिमा को रागोत्पादक बनाना, केशर एक बहुमूल्य चीज है उसको वीतराग के शरीर पर लीप देना इसका क्या प्रयोजन है? भगवान् की समवसरण स्थित प्रतिमा के क्या केशर की चर्चना होती थी। जो पूर्णत वीतराग के उपासक है उन्हे भगवान् की प्रतिमा के कदापि केशर नही लगाना चाहिए। इसी तरह वास्तव मे तो पुष्प वगैरह सचित्त पदार्थो का भी वीतराग भगवान् की उपासना मे उपयोग नही होना चाहिए। प्रथमानुयोग के ग्रन्थो मे यद्यपि पुष्प वगैरह सचित्त पदार्थो द्वारा पूजा करने का उल्लेख मिलता है पर वह केवल उस विषय की परम्परा अथवा प्रचलन का समर्थन मात्र है। श्रावकाचार के ग्रन्थो मे जो कही २ इसका विधान मिलता है वह भी पडोसी धर्मो के प्रभाव का द्योतक है अथवा अहिसा प्रधान वीतराग जैन धर्म मे ऐसी चीजो का क्या महत्त्व है। पूजा मे जहातक हो सके सावद्य कर्म उत्पन्न न होने देना चाहिए और जैन धर्म के मूल अहिसाचार का पूरा २ खयाल रखना चाहिए फिर भी इस विषय मे कोई ऐसा आग्रह नही होना चाहिए जो धर्म घात का कारण बन जाय। इन चीजो मे ज्यादा उलझे रहने से मूल जैन धर्म की तरफ लोगो का ध्यान ही नही जाता, इन दलीलो का हमे भगवान् को मिष्टान्न आदि के चढाने

के निषेध मे उपयोग करना चाहिए । जब स्थापना निक्षेप से स्थापित भगवान् हमारे लिए पूजनीय है चावल आदि मे पुष्प नैवेद्य आदि की स्थापना क्यो उचित नही है । पूजा की वस्तुओ से हमारा आग्रह न होकर पूजा के तात्पर्य की ओर अर्थात् हमारे भावो की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए । इसी मे हमारा भला है । जलादिक अष्ट द्रव्यो से भगवान् की पूजा करते हुए सर्वदा यह विवेक रखने की जरूरत है कि हमारे इस काम मे हिसा तो नही हो रही है और सरागता को प्रोत्साहन तो नही मिल रहा है । **नैवेद्य पूजन विधान –**

"देवोयमिन्द्रियबल प्रलयं करोति । नैवेद्यमिन्द्रियबलप्रदरबाधमेतत् ।।
"चित्र तथापि पुरत स्थितमर्हतोऽस्य । शोभां विभर्ति जगतो नयनोत्सवाय" ।। ५ ।।

अर्थ–यह श्री जिनेन्द्र देव तो समस्त इन्द्रियो के बल नष्ट कर रहे है और यह नैवेद्य इन्द्रिय बल को बढावे है और खाने योग्य है फिर भी अरहन्त भगवान् के सामने चढाया हुआ यह नैवेद्य समस्त जगत् के नेत्रो को उत्सव के लिये शोभा को धारण करे है । **प्रश्न-** शास्त्र कर्त्ता तथा पूजा बनाने वाले कवियो ने पूजा के अतर्गत नैवेद्य मे लाडू, पेडा, बर्फी, घेवर आदि मोदक चढाने के लिये कहा है सो इसके चढाने मे क्या दोष है ? **उत्तर-** लाडू, पेडा, बर्फी, घेवर आदि चढाने मे दोष यह है कि आजकल लोग बाजार की मिठाई चढाने लगे है, उसकी कोई मर्यादा का पता नही शुद्धाशुद्ध का पता नही, शुद्ध घी मिलता नही घर मे भी मोदक बनाते है तो घी बाजार का तथा डालडा काम मे लेते है तथा उसमे डाले हुये पानी की मर्यादा का पता नही, अशुद्ध कपडे पहने हुये ही बनाते है और अधिक आरम्भ करने से हिसा का भी दोष आता है, पूजा के थाल मे मक्खिये भी जमा हो जाती है इत्यादि बातो को सोच कर शुद्ध, प्रासुक, नैवेद्य गोला गिरि का बनाया जाय तो अच्छा है, अधिक क्या लिखे पूजा जो भी अष्ट द्रव्य बनाया जावे वह अचित्त तथा प्रासुक शुद्ध चढाया जावे, ऐसा करने से पूजा मे पुण्यफल की अधिक प्राप्ति होगी, भाव भी निर्मल बनेगे ।

— आचमन का निषेध —

प्रश्न–शास्त्रो मे भगवान् जिनेन्द्र देव के वास्ते आचमन कराना लिखा है सो जिनमत मे मान्य है या नही ? उत्तर–कौनसा शास्त्र यह बतलाता है ? प्रश्नकर्त्ता–त्रिवर्णाचार मे ऐसा लिखा है उस का पद्य निम्न लिखित है । (त्रिवर्णाचार अध्याय ५)

ॐ ह्रीँ इवी क्ष्वीँ व मं हं सं तं प द्राँ द्रीँ द्राँ द्रीँ हंस स्वाहा ।। ५४ ।।

अर्थ—इसके बाद पाद्य विधि कर जल से जिनेन्द्र देव को आचमन करावे । उत्तर—इसी प्रकार का इसी भाव को लिये हुए एक श्लोक वैष्णव सम्प्रदाय के कुवलिया ग्रन्थ मे है । "तत **भोक्तृ विधिं कृत्वा जलैराचमयेत्प्रभुम्"** इस प्रकार का कथन जिनमत मे नही है । कारण की भगवान् तो वीतराग है न कि सराग । तब उसके मुख मे पानी से

आचमन कराना कैसे बनेगा ? अत: यह कथन वैष्णव सम्प्रदाय का समझना चाहिये । उसी को थोडा फेर फार कर त्रिवर्णाचार मे लिख दिया है । इस को जिन मत मे मान्य नही समझना चाहिये ।

दीप से पूजन का विधान —

"ततो रत्नदीपैर्जिनांगद्युतीनां । प्रसर्पेण मन्दीकृतात्मप्रकाशैः ।।
जिनार्क शची प्राचिचद्भूक्तिनिघ्ना । न भक्ता हि युक्तं विदन्त्यप्ययुक्त ।। ६ ।।

अर्थ—आदि पुराण मे इन्द्राणी है सो रत्नो के दीपक को लेकर श्री जिनेन्द्रनामा सूर्य की पूजा करती भई । कैसा है जिन सूर्य जिसने अपनी आत्मद्युति से उन रत्नो के दीपको की कान्ति को मन्द करदी है ।

क्या आरती करना योग्य है —

प्रश्न—केशर पुष्प नैवेद्य आदि के विषय मे आपने जो कुछ कहा था वह तो बिलकुल ठीक है किन्तु अब यह बतलाइये कि आरती के विषय मे जैन शास्त्रो का क्या अभिमत है ? उत्तर—आरती करना जैन सिद्धान्त के अनुकूल नही है । आरती का समय तो सामायिक का समय है । आरती के लिए रात को दीपक जलाना पडता है जो किसी भी तरह उचित नही है सामायिक के समय को टालकर उसको आरती के काम मे लगाना शास्त्र से कभी सिद्ध नही होता । आरती के विषय मे शास्त्रो मे कहा गया है । कहा भी है—

"दीप प्रकाशे प्रपतन्ति जीवाः अरार्तिकंर दीपमृते न भावि ।
तज्जीवघातान्नरकप्रसूति, रारार्तिक नैव ततो विधेयम् ।। १ ।।
दीपप्रकाशव्यसना हि शलभा , दीपे पतन्तो विरमन्ति नैव ।
तज्जीवघातान्नरके प्रयान्ति; अरार्तिक नैव दयालुध्येयम् ।। २ ।।

अर्थ—नियम से दीपक शिखा पर मच्छर और पतङ्ग आदि चतुरिन्द्रिय जीवो का घात होता है । मच्छर आदि प्रकाश के व्यसनी जीव है वे आने से कभी नही रुकते और जीव घात से प्राणी नियम से नरक को जाते है । आरती विना दीप के नही बनती । अत: आरती करना कभी विज्ञ तथा दयालु पुरुषो का ध्येय नही हो सकता ! यदि यह कहा जाय कि आरती मे जो जीव घात होता है वह धर्म के लिए होता है, इसलिये ऐसे जीव घात से बचने की जरूरत नही है सो ठीक नही है । क्योकि शास्त्र मे लिखा है कि —

"देवधर्मतपस्विनां कार्ये महति सत्यपि । जीवघातो न कर्तव्य श्वभ्रपातकहेतुमान् ।। १ ।।"

अर्थ—देव, धर्म, और गुरुओ के निमित्त भी महान् से महान् भी कार्य पडने पर जीव घात नही करना चाहिये । क्योकि जीव घात नरक मे लेजाने का कारण है । जो इसकी परवाह नही करते वे जिनेन्द्र भगवान् के वचन रूपी आखो से रहित हैं । कहा है—

"न देव नादेवं न शुभगुरुमेन कुगुरुं, न धर्म नाधर्म न गुणपरिणद्धं न विगुणम् ।
न कृत्य नाकृत्यं न हितमहितं नापि निपुणम्, विलोकन्ते लोका जिनवचनचक्षुर्विरहिता.।।१७।।

अर्थ—जो प्राणी जिनेन्द्र देव के वचन रूपी चक्षुओ से रहित है, सो न देवो को देखते है, न अदेवो को, न श्रेष्ठ गुरुको देखते है, न कुगुरु को देखते है, न अधर्म को देखते है, न गुणी को देखते है, न अगुणी को देखते है तथा करने योग्य और न करने एव अपने हित तथा अहित को भी नही देखते है। उन्होने तो जो हठ पकडली है, वह ही करते है। उन के मनमे पक्ष भरा रहता है, वे यह नही विचार पाते कि यह पुण्यका कार्य है। यह पापका कार्य है। इस प्रकार पक्ष पकड कर कार्य करना, अपना हित एव अहित नही विचारना पापका कारण एव नरक मे ले जाने वाला विज्ञ पुरुषो ने कहा है। चाहे आरती हो और चाहे दूसरा काम, यदि उससे हिसा होती है तो उसी वक्त छोड देने योग्य है। कहा भी है—

"स्नाने दाने जपे यज्ञे स्वाध्याये नित्यकर्मणि, न कुर्यात्सुजनो हिसां प्रमाद परितस्त्यजन् ॥१॥

अर्थ—गृहस्थ के जो नित्य करने के षट् कर्म माने हैं उनको सदा सावधान होकर करना चाहिये किन्तु उनमे कभी प्रमाद जन्य हिसा नही करना चाहिये। **तात्पर्य**-नित्य षट् कार्य जो गृहस्थो के बताये है उनको भी अहिंसा पूर्वक किया जाय तो पुण्य का आस्रव होगा अन्यथा अर्थात् हिसा करने से उलटा पापका आस्रव होगा और उसका फल दु ख रूप नरक निगोदादि पर्यायो मे भुगतना पडेगा, अत प्रमादजन्य हिसा से सदा दया रूप परिणाम कर पुण्योपार्जन करना चाहिये। पहले यह बताया था कि आरती का समय दिव्यध्वनि का समय है सो इसको सिद्ध करने के लिए निम्न लिखित दो गाथाएँ लिखी जाती है —

तित्थयरस्स तिसज्झे, णाहस्सा सुज्झिमाए रत्तिए।
बारह सहासु मज्झे, छग्घडिया दिव्वझुणी काले ॥ (अङ्गसरणत्ति)
पुव्वह्णे मज्झह्णे, अवरह्णे मज्झिमाय रत्तीए।
छम्छग्घडिया णिग्गाय, दिव्वझुणी कहई सुत्तत्थे ॥ (समवसरण स्तोत्र-क्षेपक)

अर्थ—पूर्वाह्ण, और मध्य रात्रिको इस प्रकार चार समय भगवान् की दिव्यध्वनि छ छ घडी पर्यन्त बारह सभाके मध्य खिरती है। इस विषय मे यहा और भी खोलकर समझाया जाता है—उक्त गाथाये इस बात को सूचित करती हैं कि जब सूर्योदय से तीन घडी रात्रि शेष रहे तब से छह घडी तक अर्थात् सूर्योदय से तीन घडी उपरान्त तक किसी प्रकार का आरभ न करे। आत्म कल्याण के लिये सामायिक ही करना चाहिये, क्योकि उस समय गृहस्थ लोगो का या यति लोगो का भगवान् की दिव्य ध्वनी सुनने जाना ही मनुष्य पर्याय का प्राथमिक कर्तव्य है परन्तु क्या किया जावे यह पचम काल का कराल समय है। हुण्डावसर्पिणी काल का दोष है। इसमे नही होने योग्य जो कार्य हैं सो भी हो जाते है जैसे, तीर्थङ्करो के पुत्रियो का होना, तीर्थङ्करो के ऊपर उपसर्ग का होना, तीर्थङ्करो का अपवाद होना, एव चक्रवर्तियो का मान भंग होना जैन धर्म मे कई प्रकार से सघ भेद

होना, आदि । यह भी पंचम काल का ही दोष समझिए कि आरती में हिंसा होने पर भी उसका समर्थन किया जाता है । आरती करने मे प्रत्यक्ष उडने वाले चार इन्द्रिय जीव आकर गिर ही जाते है । गृहस्थ त्रस हिंसा के तो पूर्ण त्यागी है और स्थावर हिंसा का भी जहा तक हो त्याग करते है । आरभ के त्यागी न होने से हिंसा हो भी जावे तो जानकर नही करते है । गृहस्थो को चलने के लिये भी देख भाल कर चलना ही जैनाचार्यो का मन्तव्य है तो आरती मे प्रत्यक्ष कितने ही जीव विराधे जाते है तो वह हिंसा जैन धर्मानुयायी किस प्रकार से कर सकेगा । क्योकि जहा हिंसा है, वहा धर्म नही है, ऐसा जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य है । शास्त्रो मे लिखा है --- (षट् प्राभृत टीका पा० २१५)

'धम्मो वत्थुसहावो, खमादि भावा य दहविह धम्मो ।
चारित्त खलु धम्मो, जीवाण य रक्खणो धम्मो ।।

अर्थ---इस ऊपर की गाथा मे धर्म के चार लक्षण बतलाये है । धर्म का प्रथम लक्षण वस्तु का स्वभाव धर्म है, ऐसा किया है । धर्म का द्वितीय लक्षण क्षमादिक दश प्रकार का कहा है । तृतीय लक्षण आत्माका आचरण अर्थात् चारित्र रूप है । चतुर्थ लक्षण जीव दया बताया है अत जहा पर दया नही है, वहा धर्म भी नही है । भाव यह है कि जहा पर दीपक जलेगा वहा पर नियम से जीव घात अवश्य होगा अत आरती मे ऐसी क्या भक्ति है जिस से जीव घात होने पर भी वह करना ही पडे । आरती का विधान जैन शास्त्र सम्मत नही है । अन्य सम्प्रदाय जो जैनो से भिन्न है उनका कथन है जैन धर्म का तो यह सिद्धान्त है कि प्राण चले जावे तो भी जीव हिंसा मत करो । इसके साक्षी मे विद्यानन्दी स्वामी के पात्र-केशरीस्तोत्र का ३७ वा पद्य पीछे दिया जा चुका है । उसमे लिखा है कि भगवान् पूजन तक का जीवविराधना के कारण उपदेश नही देते । परन्तु उनके भक्तजन जो परोक्ष ज्ञानी थे सावधानी सहित पूजन करना बतलाते है । **सामायिक का काल** जो पहले गाथाओ मे दिव्यध्वनि का समय ६ घडी बतलाया है वह इस प्रकार कहा है :- १ पूर्वाह्नकाल-तीन घडी रात्रि बाकी रहे तब से ३ तीन घडी दिन चढे तक को पूर्वाह्न काल कहते हैं । २ मध्याह्न काल मे तीन घडी बाकी रहे तब से तीन घडी उपरान्त तक मध्याह्न काल कहलाता है जैसे१०।।। से लेकर १। सवाबजे तक२।।घन्टे । ३ अपराह्नकाल-जब सूर्य अस्त होने मे तीन घडी बाकी रहे तब से सूर्यास्त के तीन घडी बाद तक के समय को अपराह्नकाल कहते है । ४ चतुर्थकाल-जब रात्रि के मध्य के समय मे तीन घड़ी शेष रहे तब से लेकर अर्ध रात्रि के बाद तक के काल को चतुर्थ काल कहते है । यह समय वडा कीमती है । इसका अच्छा उपयोग करना चाहिए । जो चार ज्ञान धारी मुनि लोग समवसरण मे होते है, उनको तो दिव्य-ध्वनि श्रवण करने को मिलती ही है परन्तु जब वे

समवसरण मे नही होते तब वे आत्माके चिन्तन रूप सामायिक करते हैं। हे भव्य पुरुषो! तुम भी तो उनके ही अनुयायी हो ! फिर ऐसे अमूल्य समय को नगारा, झाझके बजाने मे या व्यर्थ मे क्यो व्यय करते हो। पक्षपात मे कोई सार नही है। **प्रश्न**–श्री पद्मनंदी आचार्य ने तो अपने ग्रन्थ मे ऐसा लिखा है कि "प्रात काल उठकर गृहस्थ को प्रथम जिन पूजा करनी चाहिये" तो पूजा करने मे भी हिसा होती है ? आरती करने मे ही क्या दोष हो गया ? इसके अतिरिक्त गृहस्थ लोग तो जिन मन्दिरादिक भी बनाते है। उसमे भी हिसा होती है फिर इनका विधान क्यो है ? **उत्तर**–शास्त्रकारो ने हिसा के दो भेद माने हैं। निवार्य और अनिवार्य। जो निवार्य हिसा करते है उनको सिद्धान्तो मे पापी कहा है। किन्तु अनिवार्य हिसा गृहस्थी से त्याज्य नही होती। मन्दिरजी बनवाना, पूजन करना अयोग्य होता तो आचार्य इसका उपदेश न देते किन्तु इसका उपदेश तो स्थान २ पर मिलता है। आरती मे होने वाली हिसा तो निवार्य हिसा है। धर्मस्थान मे ऐसी हिसा होना उचित नही है। शास्त्र मे कहा है :—

"अन्यस्थाने कृत पापं धर्मस्थाने विनश्यति। धर्मस्थाने कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥१॥"

अर्थ—अन्य स्थान मे किया गया पाप मन्दिर आदि धार्मिक स्थानो पर कट जाता है। किन्तु धर्म स्थान मे किया हुआ पाप वज्र लेप हो जाता है। अपने यहा इस मन्दिर को नव देवताओ मे माना है। इस कारण देवो के समक्ष अथवा देव स्थान मे किया हुआ पाप वज्र लेप के समान हो जाता है अत गृहस्थो को सावधानी से मन्दिर बनवाना पूजन आदि भक्ति करनी चाहिये। आरती आदि हिसा जनक कार्य नही करने चाहिये।

※ धूप पूजन का विधान ※

चन्दनागुरुकर्पूरसद्द्रव्यादि दहन्ति ये। जिनाग्रे कर्मकाष्ठानां भस्मीभावं श्रयन्ति ते ॥२०२॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान् के सामने चन्दन, अगुरु, कपूर, आदि सुगन्ध द्रव्यो की धूप बना कर दहन करते है वे कर्म रूपी इन्धन की भस्म कर डालते है। और भी—

दुष्टाष्टकर्मेन्धनपुष्टजालसंधूपने भासुरधूमकेतून्।
धूपैर्विधूतान्यसुगन्धगन्धैं, जिनेन्द्रसिद्धान्तयतीन्यजेऽहम् ॥ ७ ॥ पद्मनन्दी

अर्थ—दुष्ट अष्ट कर्म रूप पुष्ट समुदायित इन्धन को जलाने के लिए दीप्त अग्नि के समान जिनेन्द्र–सिद्धान्त और गुरुओ को अन्य गन्धो को तिरस्कृत करने वाली धूप से पूजता हू।

–※ फल पूजन ※–

"उच्चै फलाय परमामृतसंज्ञकाय, नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि।
त्वद्भक्तिरे[illegible] कलानि फलानि दत्ते, मोहेन तत्तदपि याचत एव लोक ॥८॥ पद्मनन्दी

अर्थ—[illegible]नेन्द्र ! परमामृत है नाम जिनका ऐसे उच्च फलो को लेकर उच्च पद

वास्ते हम आपको पूजे है। हे भगवान्! तुम्हारी भक्ति ही सकल निर्दोष फल को देती है। तो भी लोक मोहकर फल जाचे ही है। इस प्रकार अष्ट द्रव्यो से पूजन का विधान शास्त्रो मे कहा है। **प्रश्न**–आदिनाथ पुराण मे भगवान् का तीनो समय पूजन करना कहा है। सो कैसे, आप तो रात्रि पूजन निषेध करते हो। **उत्तर**–रात्रि मे द्रव्य तथा दीपक आदि द्वारा पूजन करने का निषेध करते है, मुखाग्रस्तुतिपाठ आदि करने का निषेध नही करते हैं। दीपक जलाकर आरती रात्रि मे नही करना चाहिये, तथा रात्रि को द्रव्य द्वारा पूजन नही करना चाहिये, कारण कि इससे हिंसा होती है। **– शरद् ऋतु व दीपमालिका उत्सव –**

प्रश्न—शरत्पूर्णिमा तथा दीप मालिका उत्सव मन्दिर मे करना चाहिये या नही? **उत्तर**—शरद् ऋतु का उत्सव राजा लोगो के योग्य है न कि वीतरागियो के मन्दिरो के योग्य। प्रथमानुयोग तथा चरणानुयोग के ग्रन्थो मे कही भी इसकी आज्ञा नही है, तथा दीपमालिका के उत्सव करने का विधान भी मन्दिरो के लिये नही देखा जाता है अत उन्मार्ग ही है। प्रश्न–आप दीपमालिका के उत्सव को उन्मार्ग कहते है और ग्रन्थो मे तो ऐसा आता है कि वीर भगवान् के निर्वाण होने पर दीपमालिका उत्सव देवो ने किया था। उसी दिन से यह बराबर चला आता है। उत्तर–हम दीपावली मनाना उन्मार्ग नही कहते यह तो जैन पर्व है। इस दिन भगवान् की पूजा करना चाहिए। उपवास आदि शक्ति के अनुसार करना चाहिए, क्योकि भगवान् महावीर स्वामी इस दिन मोक्ष गये है। पर केवल दीपक जलाना ही दीपमालिका नही है। जिस समय महावीर मोक्ष पधारे थे उस समय अरुणोदय था। जब भगवान् महावीर स्वामी मोक्ष पधार गये उसके बाद देवो ने जैसे अन्य तेईस तीर्थङ्करो का मोक्ष कल्याणक किया उसी प्रकार इन का भी किया। ऐसा अवश्य है कि वीर निर्वाण के बाद देवो ने निर्वाण कल्याण की पूजन प्रभावना की, सो गृहस्थो का धर्म है, तदनुकुल गृहस्थ अब भी करते ही है। प्रश्न–यदि ऐसा है तो उस दिन दीपक क्यों जलाये जाते है? उत्तर—वैष्णव सम्प्रदाय के शास्त्रो मे कार्तिक बदी अमावस्या के दिन रात्रि के १२ बजे से (अर्ध रात्रि) के समय लक्ष्मी का आगमन नगर मे होता है, ऐसा लिखा है। इस कारण लोग घर को लीपते है, झाडू निकालते है, दीपक जलाते है, उज्जवल वस्त्र पहनते है, उत्तम भोजन करते है और धन, रुपया, पैसा, चादी, सोना, मोहरो की पूजन करते है, नमस्कार करते है। गोपाल सहस्रनाम का जाप करते है। उनके देखा देखी जैनियो मे रुढि चलपडी है। वास्तव मे दीपमालिका का त्यौहार जैनो का है इसका विकृत रूप बनाकर दूसरो ने इस का मानना शुरू कर दिया और जैनो ने भी इसका अनुसरण किया। जैन धर्म तो जीव को पाप से बचाने वाला है और यह दीपक आदि जलाना कर्म बन्ध का कारण है सो छोडने योग्य है। कहा भी है—

"धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्व परिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो, उदययरो भव्वजीवाणं ।।२५।। (बोध पाहुड)

अर्थ—जो दया विशुद्ध है सो ही धर्म है । जहा सर्व परिग्रह का त्याग है वह सच्ची दीक्षा है, जिसका रागद्वेष नष्ट हो गया है वही देव है । ऐसा ही देव भव्य जीवो के उदय का कारण है । प्रश्न—समवसरण मे भगवान् की पूजा मे दीपक जलाया गया होगा तभी तो शास्त्रो मे दीपक का कथन आया है ? उत्तर—देव लोग भगवान् की पूजन करते थे तब दीपाग जाति के कल्पवृक्षो के फलो मे और पुष्पो से पूजन करते थे सो वह पदार्थ जड पृथ्वी काय है । सो उनका उजियाला दीपक जैसा ही होता था, दीपक नही जलाते थे ।

"देखा देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग"

इस कहावत के अनुसार ससारी जीव दीपक जलाकर अहिसक जैन धर्म मे भी हिंसा द्वारा पापबन्ध करते है ।

पूजा के पश्चात् शान्ति पाठ का विधान कब से है ।

प्रश्न—अष्ट द्रव्य से जब हम पूजन कर चुकते है तो उसके पश्चात् शान्ति पाठ किया जाता है, वह शान्तिनाथ स्वामी का स्मरण है तो क्या जब शान्तिनाथ स्वामी अवतरित नही हुए थे तब शान्तिपाठ नही होता था ? उत्तर—जिस प्रकार का पूजन पाठ का विधान आज कल है, वैसा पहले नही था । प्रश्न—तो पहले जमाने मे क्या होता था ? उत्तर—पहले जमाने मे लोगो को जिनेन्द्र भगवान् पर पूर्ण श्रद्धा थी, वैसी श्रद्धा इस समय नही रही; जिससे यह बात कही जाती है कि पहले जमाने मे श्रावक लोग भगवान् के गुण गान से ही महान् विशेष पुण्य का लाभ समझते थे । कहा भी है—

"अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दु स्थितोऽपि वा, ध्यायेत्पचनमस्कार सर्वपापै प्रमुच्यते ।।१।।
अपवित्र पवित्रोवा सर्वावस्था गतोऽपि वा, य स्मरेत्परमात्मानं सबाह्याभ्यन्तरेशुचि ।।२।।
अपराजितमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशन , मगलेषु च सर्वेषु प्रथम मगलं मत ।। ३ ।।
एसो पचणमोयारो सव्वपापपणासणो, मगलांण च सव्वेसिं पढम हवइ मगलम् ।। ४ ।।

अर्थ —पवित्र हो, अथवा अपवित्र हो, सुख रूप हो वा दुःख रूप हो, जो कोई पच नमस्कार पद को ध्याता है, वह सब पापो से छूट जाता है । शरीर पवित्र हो वा अपवित्र हो, लेटा हो, खडा हो, बैठा हो, चलता हो, खाता हो, पीता हो, अर्थात् किसी अवस्था मे हो, जो कोई परमात्मा का ध्यान करता है, वह वाह्य और अभ्यन्तर सब प्रकार से पवित्र ही है । यह नौकार मन्त्र है कि किसी मन्त्रादिक से नही जीता जा सकता और यह मन्त्र सब प्रकार के विघ्न का नाश करने वाला है । सर्व कार्यो मे यह उत्कृष्ट मगल रूप है ।

"विघ्नौघा प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगा , विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ।।१।।

अर्थ-जिनेश्वर के गुणानुवाद के गाने से सर्व विघ्नों के समूह नाश को प्राप्त हो जाते है और विष दूर हो जाता है । इस प्रकार की गाढ श्रद्धा पहले थी । शातिपाठ शाति के लिये किया जाता था । किसी कवि ने शांतिनाथ स्वामी की स्तुति के रूप मे इस की रचना करदी । उसके करने मे किसी प्रकार की हानि नही है शान्तिपाठ करना अच्छा ही है । प्रश्न—पूजन करने के बाद जो विसर्जन किया जाता है सो ठीक है ? या नही ? उत्तर—विसर्जन करने की प्रथा पूजन समाप्ति की सूचना रूप है, वह करना ही चाहिए । प्रश्न— यह तो ठीक किन्तु जो विसर्जन पाठ मे आज कल ऐसा बोला जाता है:—

"आहूता ये पूरा देवा, लब्धभागा यथाक्रमं ।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या, सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ।। १ ।।

अर्थ—हे देव ! मैने पूजन के प्रारभ में आप को बुलाया अर्थात् आह्वान किया, अब मै पूजन कर चुका, पूजन मे जो आपका भाग था उस को लेकर अपने स्थान पर पधारे । यह कहना एव करना ठीक है? या नही? **उत्तर**-यह पूजा पाठ मे पाया जाता है तथा 'आये जो-जो देवगण पूजे भक्तिप्रमाण, ते अब जावहु कृपाकर अपने २ थान' यह दोहा तथा श्लोक जो प्रचलित है वह ठीक नही है क्योकि जिनेन्द्र देव को बुलाकर वापिस भेजना, यह अज्ञानता के कारण है । यह श्लोक या दोहा, भट्टारक लोगो का बनाया हुआ है । वे पूजा या अभिषेक के प्रारम्भ मे दश दिग्पालो का तथा चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि का आह्वान करते थे उसके अनुसार ही उनका विसर्जन करना उचित समझते थे अत यह श्लोक तथा दोहा पूजा पाठ मे से निकाल कर पढना चाहिये क्योकि भगवान् की पूजा पाठ है, उसे ही विसर्जन मानना चाहिये । **उत्तर**—यह श्लोक मूल सघ आम्नायका नही है । यह तो भट्टारको का है, वे लोग जब अभिषेक या पूजन करते है, तब प्रथम ही दश दिक्पाल आदि का आह्वान करते है एवं उनका फिर इस श्लोक से विसर्जन करते है । मूल संघ मे तो केवल पूजन की समाप्ति का सूचन हो विसर्जन है । भट्टारक लोग अपने मन्दिरो मे क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि देवताओ की स्थापना भी करते है । इस श्लोक को बोल कर पूजन समाप्ति करना भी ठीक नही है । ऐसा करने से देवाधिदेवो का अनादर समझा जाता है क्योकि जब अपने द्वार पर कोई पूज्य पुरुष आवे तो हर्ष होता है, उससे ऐसा कोई पुरुष नही कहता कि अब चले जाइये । ऐसा कहने से आनेवाले को दु ख होता है । ऐसी रीति संसार मे भी प्रचलित नही है । मोक्ष मार्ग मे ऐसी रीति चलानी सिद्धान्त से विरुद्ध है । अतः इस श्लोक का विसर्जन में उपयोग करना समुचित नही है, ऐसा कहना तथा करना अर्थात् उल्लिखित पद्य बोल कर श्री जिनेन्द्र देव का विसर्जन करना पाप बन्ध का कारण है । अत ऐसा कदापि नही करना चाहिये ।

चमर—चमरीगाय के बालों का निषेध .–

"चर्मास्थिमांसै. परिपूरिता. ये, धेनोश्चमर्याः खलुपुच्छकेशा' ।
सुधार्मिकै प्राज्ञजनै. कदापि, ग्राह्या न ते धर्मनिकेतनेषु ॥ १ ॥"

अर्थ—चमरी गाय के बालों का जो चमर बनाया जाता है वह धर्मात्मा विद्वानो को धर्म स्थानमे ग्रहण करने योग्य नही है; क्योकि उस चमर के वास्ते गाय कि पूछ काटी जाती है। उस पुच्छ से उसको इतना प्रेम है कि जब पूछ कट जाती है तब वह गाय वहां ही खडी रह जाती है पश्चात् वहां पर कोई हिंसक जीव आता है, तो उस गाय को मार कर खा जाता है, उस पूंछ में चमडी, हड्डी, मास, रुधिर, और केश कोई भी वस्तु स्पर्श के योग्य नही देखी जाती है। उस चमरी गाय के बालों के चमर को श्रीजिनेन्द्र देव के ऊपर ढोराजावे यह जैन धर्म की अहिसा के विरुद्ध है। श्री जिनेन्द्र देव को जब श्रावक स्पर्श करता है, तो शुद्ध होकर स्नान करने के बाद करता है, तो विचारने की बात है कि ऐसे अपवित्र घृणास्पद हिसा से उत्पन्न उस चमर को अहिंसा का पूर्णउपासक श्रावक श्री देवाधिदेव परमवीतराग के प्रतिबिम्ब के ऊपर कैसे ढोल सकता है; अत मूल संघाम्नाय वाले श्रावक लोग चमर गाय के बालो को नही ढोलते बल्कि शुद्ध गोटे का तथा चादी के तारों का बनवाकर जिन मन्दिरो मे काम मे लाते है जिनके स्पर्श करने मे शुद्धता और लौकिक, उज्जवलता और श्रावक धर्म की पूर्ण रूप से प्रशस्तता बनी रहती है। (भावार्थ) चमरी गाय की पूछ के बालो से चमर बनता है और चमरी गाय को अपनी पूछ से इतना प्रेम होता है कि वह उस पूंछ के प्रेम से प्राणतक देदेती है। जिस समय जगल मे घूमती रहती है उसी समय पूंछ के इच्छुक पार्वतीय अथवा भील आदि वृक्षों पर शस्त्र लेकर बैठ जाते हैं जिस वृक्ष के आस पास से वह निकलती है उसी समय निशाने से ऐसा शस्त्र फेकते हैं कि उस की पूंछ के दो विभाग हो जाते है पूंछ कटने के बाद वह उसी जगह उसके प्रेम से एवं पीडा से खडी हो जाती है। वहा से नही चलती, फिर उसे या तो वे ही लोग मार डालते हैं अथवा वनैले पशु सिह आदि क्रूर जीव मार लेते है; जो चमर एक पचेन्द्री जीव की हिंसा के विना उपलब्ध नही होता उसको अहिसा प्रेमी जैन बंधुओं को मन्दिर मे ले जाना एवं भगवान् की सेवा मे उपर्युक्त करना सर्वथा अयोग्य है! प्रश्न-यदि ऐसा ही है तो कच्चे चमड़े से मडे हुई सारंगी तबले आदि वादित्र मन्दिरजी मे क्यो ले जाये जाते हैं! उत्तर—चमडे से मडे हुए वादित्र अपवित्र ही है। अतएव वे श्री जी से दूर रहते है। प्रश्न मुनि महाराज मयूर-पिच्छ को अपने समीप क्यो रखते हैं वह भी एक जीव के शरीर का अवयव ही है! उत्तर—वह मयूर के शरीर का अवयव अवश्य है, किन्तु उसकी हिंसा के द्वारा उपलब्धि नही होती है। मयूर स्वय आसोज अथवा कार्तिक मास मे अपने पख छोड़ देते है। मयूर पिच्छ अत्यन्त कोमल और प्राणियो की हिंसा के विना ही प्राप्त होने के कारण

जीव-रक्षा के लिये पास मे रखते है। प्रश्न—चामुण्डराय कृत चारित्रसार मे तो गाय के शिरोभाग से निकले हुए गोरोचन तथा हिरण के नाभि से निकलने वाली कस्तूरी तक को भी गृहस्थो को कार्य मे लाने योग्य बतलाया है जब कि ये दोनो चीजे भी प्राणी की हिसा के विना नही प्राप्त हो सकती तो इन का विधान क्यों किया ? उत्तर क्रिया दो प्रकार की होती है.-एक लौकिक और दूसरी पारलौकिक। लौकिक क्रिया मोक्ष मार्ग मे बाधा डालने वाली होती है अतः वह लौकिक क्रिया का कथन है। जिनेन्द्र का मार्ग मोक्ष के अभिमुख करने वाला है अतः मोक्षभिलाषियो को यह अग्राह्य है। इष्टोपदेश मे उन्नीसवे पद्य का प्रमाण इसमे साक्षी है। (इष्टोपदेश)

"यज्जीवस्योपकाराय तद् देहस्यापकारकं, यद्देहेस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्।। ११ ।।

अर्थ—जो चीज जीव की उपकारक है वह शरीर की अपकारक है और जो शरीर का उपकारक है वह आत्मा का अपकारक है। अनेक पदार्थ लौकिक रीति से शुद्ध मान लिये गये है; किन्तु वे पदार्थ सर्वथा अशुद्ध समझने चाहिये। इस कारण जैन मदिर मे चमरी गाय का चमर नही होना चाहिये। चादी के तार एव गोटे के चंवर ही ग्राह्य है। उत्तम पदार्थ से उत्तम भाव रहने से पुण्याश्रव भी होता है अत मदिर मे उत्तम पवित्र पदार्थ ही लेजाने चाहिये।

*** जिन पूजन मे चढाये द्रव्य का विचार ***

प्रश्न–जिन भगवान् के पूजन मे चढाये हुये निर्माल्य द्रव्य का क्या करना चाहिये। उत्तर–निर्माल्य द्रव्य अग्राह्य है। भट्टारक सकलकीर्ति ने लिखा है .—

देवशास्त्रगुरूणां भो ! निर्माल्य स्वीकरोति य. ।
वशच्छेदं परिप्राप्य स पश्चात् दुर्गति व्रजेत् ।।१।। (सकलकीर्ति सुभाषितावली)

अर्थ—जो पुरुष देव, शास्त्र और गुरु के पूजन मे चढे हुए निर्माल्य द्रव्य को ग्रहण करता है वह पुरुष प्रथम तो वशच्छेद को प्राप्त करता है अर्थात् इस भव मे वह वशहीन हो जाता है और परभव मे उसको खोटी गति मिलती है। (अमृतचन्द्रकृत तत्वार्थसार)

"प्रमादात् देवतादत्त, नैवैद्यग्रहणं तथा। इत्येवमन्तरायस्य, भवन्त्याश्रवहेतव ।। ५६ ।।"

अर्थ—प्रमाद के वश से जो देवता को प्रदत्त की हुई वस्तु को ग्रहण कर लेता है उसको अन्तराय कर्म का बन्ध होता है अर्थात् यह अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है।

"जिण्णुद्धारयदिट्ठा जिणपूजातित्थवंदण विसेषधणं ।
जो भुंजई सो भुंजई, जिणदिट्ठं णिरयगई दुक्ख ।।३२।।(भगवत्कुन्दकुदकृतरयणसार)

अर्थ—जो प्राणी जीर्णोद्धार-जिनप्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थ वदना के लिये दिये द्रव्य को खाता है उसको नरक गति के दु.ख उठाने पडते है अर्थात् जीर्णोद्धार-जिनप्रतिष्ठा जिन पूजा और तीर्थ वदना आदिक धार्मिक कार्य के लिये संकल्पित किये द्रव्य का उपभोग

करना घोर पाप है । और भी कहा है— (मूलाचार प्रदीप अध्याय १)

"अर्हणयाऽष्टधा पूजा केनचित् धीमताकृता । तामादत्तेऽत्रयो लुब्धो महाचोरः स कथ्यते ।।

अर्थ—जो पुरुष किसी बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा अष्ट द्रव्यो से की गई पूजा के द्रव्य को ग्रहण कर लेता है वह महा चोर है । कहा भी है—— (त्रिवर्णाचार अ० ६)

देवार्चकश्च निर्माल्यभोक्ता जीवविनाशक. । इत्यादिदुष्टसंसर्गं संत्यजेत्पंक्तिभोजने ।। २५९ ।।

अर्थ–जो पुरुष देव पूजा के द्वारा उदर पूर्त्ति करता हो, निर्माल्य का भोक्ता हो और जीवो का घातक हो उसको पंक्ति के भोजन मे शामिल न करे, और उसका संसर्ग भी न करे ।

'पुत्तकलत्तविहीणो, दारिद्दो पंगुमूकबहिरंधो ।
चाण्डालाइ कुजादो, पूजादाणाईदव्वहरो ।। ३३ ।। (भगवत्कुन्दकुन्दकृतरयणसार)

अर्थ—जो पूजा एव दानादि के द्रव्य को ले लेता है वह पुरुष पुत्र और स्त्री से रहित दरिद्री, पगु, गू गा, वहिरा, अंधा, होकर चाण्डालादि कुजातियो मे उत्पन्न होता है ।
निर्माल्य क्या है — जो द्रव्य मन्त्र पूर्वक भगवान् को समर्पण किया जाता है वह निर्माल्य कहलाता है । **चढाया हुआ द्रव्य दूसरों को देना चाहिए या नहीं** (स्वामिकार्तिकेयानप्रेक्षा)

जो णय भक्खेदि सय, तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाऊं ।
भुत्तस्य भोजिदस्सहि, णत्थि विसेसो तदो को वि ।। ३८० ।।

अर्थ—-जिस वस्तु को आप नही भखे तिस पदार्थ कूं अन्य को देना योग्य नाही, जातै खाने वाला और खुवाने वाला मे कुछ विशेपता नही है । श्रावक चढाये हुए द्रव्य देने वाला मनुष्य तो श्रावक ही वना रहे और खाने वाला व्यास हो जावे सो ऐसा होता नही । यहा तो दोनो एक समान है । जो द्रव्य संकल्प पूर्वक मन्दिर खर्च के लिये भंडार मे रखा जाता है उसे अनिवेद्य कहते है । उसको भगवान् के उपकरण जीर्णोद्धार आदि मे व्यय किया जाता है । परिश्रम करके यह द्रव्य जो मजदूर आदि लेते है उनको निर्माल्य का दूपण नहीं आता है जो परिश्रम विना द्रव्य लिया जाता है, उसमे दूपण है । **निर्माल्य द्रव्य का क्या किया जाय ?** प्रश्न—जो द्रव्य भगवान् के पूजन मे चढाया जाता है जिसको आप निर्माल्य शब्द से कह रहे है, उसका क्या करना चाहिये । उत्तर—-पूजन मे मत्रपूर्वक चढाया हुआ द्रव्य निर्माल्य कहलाता है, उसको हवन कर देना चाहिये, ऐसा जिनसेनाचार्य ने लिखा है । अत. जिन पूजा मे उतना ही द्रव्य चढाना चाहिये जितना सरलता पूर्वक हवन किया जा सके । प्रश्न—-माली अथवा व्यास को पूजन का द्रव्य निर्माल्य दे देने मे क्या हानि है । उत्तर–आज कल पूजन में इतना द्रव्य चढाया जाता है कि माली उसको अपने घर मे खूब खर्च भी कर लेवे तो भी बहुत बचा रहता है, ये लोग उसका अत्यन्त दुरुपयोग करते है । [illegible] लोगो से चावल आदि वेचकर पैसे उठा लेते है । ये लोग मास से बाध

कर खाते है। अत अभिमन्त्रित द्रव्य जब मास के साथ म्लेच्छो के द्वारा इस प्रकार खाया जाय तो इससे अधिक और क्या दुरुपयोग होगा। अत माली आदि को न देकर स्वल्प मे द्रव्य चढ़ावें तथा उसको हवन करें। **द्रव्य और भाव पूजा का विशेष स्वरूप**—अमितगति आचार्य ने जो निम्न लिखित पद्य के द्वारा द्रव्य पूजा और भाव पूजा का स्वरूप दिया है वह भी विचारणीय है।

"वचो निग्रहसकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानस–संकोचो भावपूजा पुरातनै. ।।"

अर्थ—अपने मन मात्र के सकोच का नाम भाव पूजा है और वचन तथा काय के संचाल को पुरातन पुरुषो ने द्रव्य पूजा कहा है। **तात्पर्य**-प्राचीन पुरुषो के मत के अनुसार सासारिक विषयो से वचन को तथा कार्य को हटा लेना अर्थात् किसी भी सासारिक विषय मे वचन एव कार्य का प्रयोग न करना द्रव्य पूजा है अर्थात् सासारिक प्रवृत्तियो से वचन तथा कार्य को हटा कर केवल भगवान् की स्तुति मे लगा देना मात्र ही पूजा है इसी प्रकार मानसिक प्रवृति को सब तरफ से सकुचित करके भगवान् के ध्यान मे लगा देने का नाम भाव-पूजा है। यह अमितगति आचार्य का सिद्धान्त पुरातन सिद्धान्त को लेकर प्रतीत होता है। क्यो कि "पुरातनै" ऐसा शब्द अपने पद्य मे साक्षात् ग्रहण किया है किन्तु इस काल के लोगो की इतनी भावो की उत्कृष्टता न होने के कारण हम आचार्य के अभिप्राय को द्रव्य पूजा मे सामग्री चढाने का निषेध विषयक न समझकर इतना ही समझते है कि वचन तथा कार्य की प्रवृत्तियो को रोक कर भगवान् की पूजा मे लगना मुख्य है एव द्रव्य पूजा है तथा मन वृत्तियो को रोक कर भगवान् के ध्यान मे लगना भाव पूजा मे मुख्य है। सामग्री चढाने का निषेध नही प्रतीत होता किन्तु भावो की मुख्यता प्रतीत होती है। सामग्री चढाना गृहस्थ के भावो की दृढता मे परम सहायक होता है, अत सामग्री भी चढाना हम अमितगति एव अन्य आचार्यों के मत से भी उचित समझते है। विशेषता भावो की तथा सामग्री के दुरुपयोग न होने की है सो हम उसका उपाय हवन करना बतला चुके है। **पूजाका द्रव्य निर्माल्य क्यों?** प्रश्न—पूजा का द्रव्य निर्माल्य कैसे हो जाता है? उत्तर—यह पूजन का द्रव्य जिनेन्द्र देव निमित्त से चढाया जा चुका है अत निर्माल्य है। जैसे कषाय रहित आत्मा पुद्गल के योग से कषाय सहित हो जाता है वह ही जब कषाय रहित हो जाता है तो जन्म रोग से दूर होकर भक्त पुरुषो तक के जन्म रोग हरने मे समर्थ होता है, उसी प्रकार मत्रो द्वारा कषाय रहित भगवान् के लिये समर्पण किये हुये द्रव्य मे भी पवित्रता आ जाती है। उसको अन्य किसी को अपने उपयोग मे लाना शास्त्र सम्मत एव युक्ति युक्त नही है। **प्रतिमाजी का स्थानातर**—प्रश्न—शुभ मुहूर्त्त देखकर भगवान् की प्रतिमाजी वेदी मे विराजमान की जाती है। उस प्रतिमा को हम दूसरे स्थान पर ले जाकर एवं वहा विराजमान करके पूजा

कर सकते है या नही ? उत्तर–इस कलिकाल मे जिन धर्मी राजा लोग नही रहे; अत लोगो के व्यवहार मे उच्छृ खलता की प्रवृत्ति हो गई। जब गृहस्थ लोग मन्दिर बनवाते है तथा श्री जी को वेदिका मे विराजमान करते है तब ठीक २ लग्न सधने से अनेक अतिशय एव चमत्कार तथा व्यन्तरो द्वारा महत्व प्रदर्शित होते रहते है और जहां पर लग्न बिगड जाता है वहा पर अनेक उपद्रव होने लगते हैं। प्रतिमाजी को छोटे बच्चो का खेल समझ कर इधर उधर लेजाना ठीक नही है। इस प्रकार करने से अविनय होता है लोग कषाय के वशीभूत होकर अपने को धार्मिक उद्घोषण करने के लिये प्रतिमा को जो वेदिका से ले जाकर इधर उधर विराजमान कर अविनय करते हैं यह ठीक नही है। इससे प्रतिमा का अतिशय बिल्कुल नष्ट हो जाता है और पुण्य बन्ध के स्थान पर उल्टा पापास्रव होता है, अत ऐसा करना योग्य नही है। प्रश्न–भगवान् की प्रतिमा को पेटी या सन्दूक मे रखकर यदि दूसरे स्थान पर ले जावे तो क्या हानि है? उत्तर-तुमने श्री जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का महत्व ही नही समझा। देखो अजना सुन्दरी ने पूर्व भव में अपनी सौत के द्वेष से श्री जी की प्रतिमा को विनय सहित स्थान से स्थानान्तर कर दिया था सो भी केवल २२ घडी के लिये। उसके कारण अजना के भव मे पापका उदय आया था। बाईस वर्ष तक पति का बिछोह रहा। यह कथा पद्मपुराण तथा हनुमान पुराण मे आई है। उसने भगवान् से कोई द्वेष नही किया था और विनय सहित स्थानान्तर मे विराजमान की थी, फिर भी ऐसा कर्मबन्ध हुआ जो अत्यन्त दु:ख भोगने पड़े। आजकल की जनता हस हस कर कर्म–बन्धन कर लेती है। जब रस का उदय आता है तथा दारुण फल भोगना पडता है तब मालूम होता है, क्योकि यह आत्मा तो द्रव्य दृष्टि से परमात्मा के समान एव परमात्मा रूप ही है, ऐसा कार्य कभी नही करना चाहिये जिससे धर्म के बदले उल्टा अधर्म एव पाप का बन्ध हो और यह आत्मा कर्म के जालो मे फसकर ससार में जन्म मरण करता फिरे, ऐसा श्री सत्गुरुओ का उपदेश है। **अभिषेक कथन**—प्रश्न–अभिषेक पूजन के प्रथम होना चाहिये अथवा पूजन के बाद! उत्तर—अभिषेक पूजन से प्रथम ही करना चाहिये अथवा पीछे भी किया जा सकता है। अभिषेक के विषय मे कहा है :— (बृहत्सामायिक पाठ)

"स्नपनार्चास्तुतिजपन्साम्यार्थं प्रतिमार्पिते। यु ंज्याद्यथाऽऽम्नायमाद्यादृते संकल्पितेऽर्हति।।१।।

अर्थ —साम्य भावो की प्राप्ति के लिये आम्नाय के अनुसार स्नपन, अर्चन, स्तवन और जपन आदि अर्हन्त प्रतिमा मे करना चाहिये। और सकल्पित अर्हन्त प्रतिबिम्ब मे स्नपन को छोड कर अर्चन–स्तवन और जपन तीनों ही कार्य करने चाहिये। तात्पर्य— साकार प्रतिमारूप स्थापना मे अभिषेक, पूजन, स्तवन और जपन चारो कार्य करने चाहिये और पुष्प अक्षत आदि जो निराकार स्थापना की जाती है उसमे अभिषेक नही करना

चाहिए। शेष पूजन, स्तवन, जपन तीनो ही करना चाहिये। अभिषेक क्रिया पुण्य-बन्ध का कारण है और पुण्य-बन्ध गृहस्थियो को उपादेय है। यह कथन यशस्तिलक मे किया गया है। (सोमदेव सूरिकृतयशस्तिलक उ ८ प. ३८२)

"श्रीकेतनं वाग्वनितानिवास, पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम् ।
स्वर्गापवर्गे गमनैकहेतुम्, जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ।।१।।

अर्थ—मै लक्ष्मी की प्राप्ति के कारण, सरस्वती रूपी वनिता की निवास भूमि, उपासना करने वालो के लिये पुण्यरूपी धान्य की उत्पत्तिके क्षेत्र और स्वर्ग तथा मोक्ष के गमनमे कारण भूत भगवान् के अभिषेक का आश्रय लेता हूँ। **तात्पर्य**-लक्ष्मी की प्राप्ति, विद्या-प्राप्ति और स्वर्गादिक एव परम्परा से मुक्ति-प्राप्ति का कारण भी पुण्य ही है और पुण्य का आस्रव जिनेन्द्र के अभिषेक द्वारा होताहै। अत भगवान् का अभिषेक पुण्योपार्जन का विशेष स्थान है। (समन्तभद्रकृत स्वयभूस्तोत्र, वासुपूज्य स्तुति)**"पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।**
दोषाय नालं कणिका विषस्य, न दूषिकाशीतशिवाम्बुराशौ ।। ५८ ।।

अर्थ—हे भगवन् ! आपको पूजते हुए पूजाकृत आरम्भ मे जो पाप का लेश होता है वह बहुत थोडा होता है और पुण्य की राशि बहुत विपुल प्राप्त होती है, जिस प्रकार शीतल जल से भरे हुए समुद्र मे एक विष की बिन्दु का कुछ असर नही होता उसी प्रकार आप के पूजन द्वारा प्राप्त किये हुए पुण्य समुह मे पूजन कृत आरम्भ जनित पाप का कुछ असर नही होता है अर्थात् अमृत समुद्र मे जिस प्रकार विष की बू द कोई असर नही करती वैसे ही पूजा के विषय मे किया गया पाप का लेश भी। यहा यह ध्यान देना चाहिये कि पूजा मे कम से कम आरभ हो। प्रश्न-भगवान् की मूर्त्तिया जो वेदी मे विराजमान है वे नग्न अवस्था मुनि मुद्रा को लिये हुए है और दिगम्बर सम्प्रदाय मे मुनियो के लिये स्नान का सर्वथा निषेध किया गया है। एक जल के बिन्दु मे असख्य जीव माने है तो जिन प्रतिमा को जलसे अभिषेक क्यो किया जाता है? इस कारण अभिषेक नही करना चाहिये! **उत्तर**-भगवान् की प्रतिमा होती है त्रयोदश गुणस्थान वर्ती अरहन्त की, न कि छठे गुणस्थान वर्ती मुनि की। उनके मूल गुणो मे एक ऐसा मूल गुण है जो यावज्जीव स्नान त्याग रूप है प्रश्न—तो जब छठे गुणस्थानवर्ती मुनि ही स्नान नही कर सकते तो केवलज्ञानशाली की आदर्श रूप प्रतिमा का स्नान किस प्रकार सभव हो सकता है ! वे तो समवसरण मे अन्तरीक्ष रहते है। **"सद्दृष्टय. प्रकुर्वन्ति चाभिषेक जिनस्य ये ।**
जन्मस्नानं च ते प्राप्य, मेरौ यान्ति शिवालयम् ।।२२३।। (प्रश्नोत्तर श्राव२०)

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान् जिनेन्द्र देव का अभिषेक करते है वे मेरु पर्वत पर जन्माभिषेक पाकर अन्त मे वे मोक्ष जाते है। कहा भी है—

"जिनॉग स्वच्छनीरेण क्षालयन्ति स्वभावत: ।।
येऽति पापमलं तेषां क्षयं गच्छति धर्मत ।।१६३।। (प्रश्नोत्तर श्राव २०)

अर्थ–जो स्वभाव से ही स्वच्छजल है उससे भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अभिषेक करते है उस धर्म के माहात्म्य से उनका समस्त पाप कर्म नष्ट हो जाता है। कहा भी है–

"अभिषेकमहं नित्यं सुरनाथा सुरैं समम् । द्विद्विप्रहरपर्यन्तमेकैकदिशि शान्तये ।। ६९ ।।
कनन्काचनकुंभस्य निर्गतै निर्मलाबुभिः । महोत्सवशतैर्वाद्यैं र्जयकोलाहलस्वनैं ।। ७० ।।
नित्य प्रकुर्वते भूत्वा विश्वविघ्नहर शुभम् । जिनेन्द्रदिव्यबिम्बानां गीतनृत्यस्तवैं सह ।।७१।।

अर्थ—देवो सहित इन्द्र है जो एक २ दिशा मे दो प्रहर पर्यन्त अशुभ कर्म की शान्ति के निमित्त जिनेन्द्र के दिव्य बिम्बनि का गीत, नृत्य, स्तवन, तथा अनेक वादित्र और अनेक उत्सव सहित जय २ कार शब्द रूप कोलाहाल सयुक्त कान्तिमान सुवर्ण कुम्भनि के मुख से निकलता निर्मल जल कर निरन्तर (सदा) विघ्न को हरता शुभ महान् अभिषेक नित्य करे है। ६९–७०–७१। इन्द्र देवो सहित उल्लिखित प्रकार से भगवान् का अभिषेक करता है। तदनुसार भव्य प्राणी भी भगवान् का अभिषेक करते है यह उल्लिखित पद्य श्री सकल कीर्तिकृत सिद्धान्त सार के दिये गये है। अत जल का अभिषेक उद्देश्यानुकूल होने से विहित है एव किया जाता है तथा करना चाहिये। और पचामृताभिषेक उद्देश्य से प्रतिकूल होने के कारण त्याज्य है। और भी कहा है—

'अन्यस्थाने कृत पाप धर्मस्थाने विमुञ्चति । धर्मस्थाने कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ।।१।।

तात्पर्य—अन्य स्थान मे किये गये पाप से तो धर्म स्थान मे छुटकारा हो जाता है, किन्तु धर्म स्थान मे किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है।

जलाभिषेक ही योग्य है

आदिपुराण के प्रमाणो द्वारा जलाभिषेक ही सिद्ध होता है इस को प्रमाण सहित लिखते है।

'शातकुंभमयै कुंभैरभः क्षीराबुधे शुचि ।
सुरा. श्रेणीकृतास्तेषां वानेतुं प्रसृतास्तत ।। १३ ।। ११०
पूत स्वायभुवं गात्र स्प्रष्टु क्षीराच्छशोणित ।
नान्यदस्ति जल योग्यं क्षीराब्धिसलिलादृते ।। १३ ।। १११
मत्वेति नाकिभि नून, मनूनप्रमदोदयैः ।
पंचमस्यार्णवस्यांभ स्नानीयमुपकल्पित ।। १३ ।। ११२ ।।
सैषाधारा जिनस्याधिमूर्द्ध पतन्त्यपां । हेमाद्रे. शिरसीवोच्चैरच्छिन्नांबुधुं निम्नगा ।।
कलशैरम्बुलभृतै । १२१ । विरजुरण्छटादूरं ।। १२३ ।।
स्नानांभ. शीकरीत्कर । १२५ । जलधरम स्फुरन्तिस्म ।। १२६ ।।
धीरा क्षीरार्णवांभसां । १२७ । जलानिजहसुर्नूनम् ।। १२८ ।।

तेनांभसा सुरेन्द्राणां पृतना प्लाविता क्षण ।। १३० ।।
तदंभः सममापतत् । १३२ । स्वच्छेशोभमभाज्जल ।। १३४ ।।
ततोऽभिषेचनं भर्तु. कर्तुमारेभिरे सुराः ।
शातकुंभविनिर्माणै कुम्भैस्तीर्था बुसंभृते । १६ । २०८ ।।
गगासिध्वोर्महानद्योरप्राप्य धरणीतल ।
प्रपातेहिमवत्कूटाधदंबुसमुपाहृत । १६ । २०६ ।।
यच्च गांग पय स्वच्छ गगाकु डात् समुपाहृतं ।
सिन्धुकुण्डात्समानीत सिधोर्यत्क्रमपककम् ।। २१० ।।
शेषव्योमापगानां च सलिलं यदनाविलं । तत्तत्कु डतदापात समादितजन्मकम् ।। २११ ।।
इत्याम्नातैर्जलैरेभिरभिसिक्तो जगद्गुरु । स्वयं पूततमैरंगैरपुनातानिकेवलं ।। २१६ ।।

अर्थ—श्रेणी बद्ध देव सुवर्णमयी कलशो द्वारा क्षीर समुद्रका जल लेने को सतोष पूर्वक निकले । ११० । देवो ने विचारा कि भगवान् स्वयभू अत्यन्त पवित्र है और उनका रुधिर भी दुग्ध के समान शुभ्र एव श्वेत है अत उनके शरीर से स्पर्श करने योग्य क्षीर सागर के जल से अतिरिक्त अन्य जल नही हो सकता ।।१११।। इस प्रकार विचार कर देवों ा हर्ष के साथ पाचवे क्षीर सागर से जल लाने का निश्चय किया और देव गण कलशो मे तल भर कर ले आया एव भगवान् का अभिषेक करना प्रारंभ कर दिया ।।११२।। भगवान् के मस्तक पर पडती हुई वह जल की धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानो हिमवान् पर्वत के मस्तक पर बडे ऊ चे से अखड जल से पडती हुई आकाश गगा ही है । इसके अतिरिक्त और भी इसी तेरहवे अध्याय मे अभिषेक सम्बन्धी अनेक पद्य पाये जाते है, जिनके द्वारा जल ही प्रशसनीय बताया गया है । विस्तार के भय से केवल उनकी सख्या मात्र यहा दी जाती है जैसे न० १२१, १२३, १२५, १२६, १२७, १२८, १३१, १३२, १३४, । तदनतर देवो ने तीर्थ के जल से सुवर्ण कलशो द्वारा भगवान् ऋषभ देव का अभिषेक करना आरम्भ कर दिया । २०८ । राज्याभिषेक के लिये गगा और सिन्धु नदियो का ऐसा स्वच्छ जल लाया गया था जो हिमवान् पर्वत के शिखर से धारा रूप मे नीचे पड रहा था तथा पृथ्वीतल को जिसने छुआ तक नही था । २१० । इसी प्रकार लाये गये जल से जगद्गुरु भगवान् ऋषभ देव का अभिषेक किया गया था । भगवान् का शरीर तो स्वय पवित्र था अत वह जल ही भगवान् के शरीर से स्वय पवित्र कर दिया गया था । आगे मानस्तंभ मे स्थित जिन प्रतिमाओ का अभिषेक भी जल से ही होता है यह बतलाते है । (आदि पुराण पर्व २२)

"दिक्चतुष्टयमाश्रित्यरेजेस्तंभचतुष्टय । तत्तद्व्याजादिवोद्भूतं जिनानन्तचतुष्टयम् ।। ६७ ।।
हिरण्मयी जिनेन्द्रार्चा तेषां बुध्नप्रतिष्ठिता । देवेन्द्रा पूजयन्तिस्म क्षीरोदाम्भोनिषेचनै ।।६८।।

अर्थ—वे मानस्तभ मे चारो दिशाओ मे चार थे और ऐसे जान पडते थे मानो उन मानस्तभो के बहाने से भगवान् के अनन्त चतुष्टय ही प्रगट हुये हैं ।९७। उन मानस्तभो के मूल भाग मे सुवर्णमय भगवान् की प्रतिमा विराजमान थी, जिनकी इन्द्र लोग क्षीर सागर के जल से अभिषेक कर पूजा करते थे । ९८ । और भी कहा है— (वज्रदन्त चरित्र)

दुग्धपयोनिधे शुभ्रसुस्नेहेन सुवारिणा, स्वभावपदमापन्न सिद्ध संस्थापये जिनम् ।। २५९ ।।

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्रतिविम्ब का अभिषेक देवेन्द्रो ने पाचवें क्षीर सागर के शुद्ध सफेद जल से प्रेम सहित किया । आगे और भी कहते है—

"श्रीमद्भि सुरसै निसर्गविमलै पुण्याशयाभ्याहृतै ।
शीतैश्चारुघटाश्रितैरवितथै सन्तापविच्छेदकै ।।
तृष्णोद्रेकहरैरज प्रशमकै प्राणोपमै प्राणिनां ।
तोयैर्जैनवचोमृतातिशयिभि. सस्नापयामो जिनम् ।।

तात्पर्य—यहा पर भी जिन भगवान् का अभिषेक शुद्ध जल से करना लिखा है ।

दूरावनम्रसुरनाथ किरीट कोटि, संलग्नरत्नकिरणच्छविधूसराङ्घ्रिम् ।
प्रस्वेदतापमलमुक्तमपिकृष्टै, भक्त्याजलैर्जिनपति वहुधाऽभिषिञ्चे ।।

तात्पर्य—इसमे भी शुद्ध जल से ही अभिषेक कहा है । और भी कहा है—

"अभिषेकजिनेन्द्रबिम्बानां सलिलधारया । य करोति सुरत्व स लभतेहि सुरालये ।। २ ।।

तात्पर्य—यहा पर भी शुद्धजल से ही अभिपेक करने का विधान है । आगे और भी प्रमाण देते है— **"श्री केतनं वाग्वनितानिवासं , पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकाना ।**
स्वर्गापवर्ग गमनैकहेतु , जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ।। २ ।।

अर्थ—शुद्ध जलसे अभिषेक करने से उपासक वर्ग को स्वर्ग पर्याय की प्राप्ति होती है, देवांगनाये मिलती है । ज्यादा क्या कहा जावे जहा तहा मूल सघ आम्नाय मे शुद्ध जलसे ही अभिपेक माना है । परन्तु जैनभास काष्टासघियो के पचामृताभिषेक कहा है । प्रमाण देतेहैं

"जगच्छ्रेष्ठो जगन्नाथो जगच्छ्रेष्ठै प्रपूजितः, बृहन्नामा जितानंगश्चाग्येत सलिलादिकै ।।२।।

तात्पर्य—यहा भी शुद्ध जल से ही जिन बिम्ब का अभिषेक कहा गया है । यह सब सस्कृत ग्रथो के प्रमाण है । भाषा ग्रथों मे भी अनेक जगेह जल से ही भगवान् का अभिषेक करने की बात कही है । उनमे से एक उदाहरण देखिए .—

"जिनवरबिम्बभक्ति फलऐस, हरे जनमका दु ख कलेश ।
समोसरण इन्द्रादिक आय, मानस्तंभ देख हरषाय ।। १ ।।
हिरणमयी जिन प्रतिमा तहां, देव करत है नह्वन जु जहां ।
शुद्धखीर सागर जलल्याय, तिससे महा-अभिषेक रचाय ।। २ ।।

अष्ट द्रव्य से पूजन करे, तासो सकल पाप परिहरे । (नैनसुखदास कृत अभिषेक पाठ)

यहा पर भी शुद्ध जल से ही अभिषेक का कथन है । शुद्धाम्नाय के ग्रन्थो मे जहा देखो वहा जल का ही अभिषेक मिलेगा । अन्यथा लेख नही मिलेगा ।

※ अभिषेक पूजन से पूर्व होना चाहिये या पीछे ※

प्रश्न—यह तो समझ गये कि अभिषेक जल से ही होता है किन्तु अब यह बतलाइये कि अभिषेक पूजन से पहले होना चाहिये या पीछे ? आगमानुसार क्या है? **उत्तर**—अभिषेक का विधान शास्त्रो मे पूजन से प्रथम तथा पश्चात् भी मिलता है अत पहले पीछे चाहे जब पूजा कर सकते है । (उत्तर पुराण पर्व ६२)

"विधाय विधिवद् भक्त्या शांति पूजापुरस्मरम्, महाभिषेकं लोकेशामर्हतां सचिवोत्तमा ।।२।।

अर्थ—श्रेष्ठ मन्त्रियो ने भगवान् अरहन्त का शान्ति पूजन पूर्वक विधि के अनुसार भक्ति सहित अभिषेक कर राजा को सिहासन पर बैठाया । यहा पर शान्ति के निमित्त पूजन करने के बाद अभिषेक का विधान पाया जाता है और अभिषेक आदि चार भेद प्रथम दिखाये जा चुके है, वहा पूजन से प्रथम अभिषेक का विधान आया है । अत अभिषेक का करना उभयथा पहले या पीछे दोनो प्रकार सिद्ध है ।

"मूलसघ मे ऋषिकृतग्रन्थ, कहत नित्य अभिषेक सुपंथ ।
यजन आदि फुनि अन्तमझार, केवल नीर थकी निरधार ।।"

अर्थ—मूल संघ के ऋषि प्रणीत ग्रन्थो मे अभिषेक पूजन के आदि और अन्त मे केवल जल से करना निश्चय किया है । **स्त्री व शूद्रों के लिये पूजा-अभिषेक सबन्धी विधान** प्रश्न-अभिषेक सहित पूजन के छह भेद (अभिषेक-आह्वान-स्थापन-सन्निधिकरण-पूजन और विसर्जन)मे से स्त्रियो के लिये कितने भेद उपादेय हो सकते है। तथा शूद्रो को यदि पूजा का अधिकार प्राप्त है तो उनके लिये कितने भेद आगम प्रमाण से अभिमत है ! **उत्तर**—लोक व्यवहार के अनुसार स्त्री अभिषेक के अतिरिक्त पूजन के पाचो अग (भेद) को कर सकती है । **स्त्री प्रक्षाल सम्बन्धी विचार– प्रश्न**—स्त्रियो को प्रक्षालन करने का अधिकार है या नही । **उत्तर**—स्त्रियो के लिये भगवान् के अभिषेक का विधान मैंने किसी शास्त्र मे नही देखा है । जन्म कल्याण के समय इन्द्र ने भी जब भगवान् का अभिषेक किया था उस समय भी इन्द्राणी को साथ मे नही लिया था । फिर स्त्री को प्रक्षाल करने की शास्त्र आज्ञा देता है, यह सहसा कैसे कहा जा सकता है ? कथाकोष मे जो कोटिभट श्रीपाल राजा के कुष्ट दूर करके लिये मैना सुन्दरी द्वारा प्रक्षाल का विधान मिलता है, वहा पर भी सिद्ध यन्त्र के प्रक्षालन का विधान मिलता है । मैना सुन्दरी के द्वारा भगवान् की मूर्त्ति के अभिषेक का विधान नही पाया जाता है । प्रश्न—अञ्जना सुन्दरी चरित्र मे जब अजना सुन्दरी का

बन माली दास के साथ देश निकाले का वर्णन मिलता है, वहा पर भी उनके साथ-प्रतिमाजी थी ऐसा वर्णन मिलता है। जब उनके साथ प्रतिमाजी थी तो उनका पूजन प्रक्षाल आदि अवश्य करती होगी। उत्तर–प्रतिमा की पूजन आवश्यक है। और पूजन बिना अभिषेक के भी हो सकती है। अभिषेक किया गया ही होगा ऐसा सिद्ध हो जाना सभव नही है। क्योकि विना प्रक्षाल-के भी पूजन का विधान अनेक स्थलो पर देखा गया है। स्त्री को यदा कदाचित् रजस्वला होने की सभावना रहती है और रजस्वला की इतनी अशुद्धि मानी गई है कि वह उन दिनो मे मन्दिर मे दर्शनार्थ भी नही जा सकती। अत स्त्री को प्रक्षाल करना युक्ति से सगत नही मालुम पडता है। दूसरे प्रक्षालका विधान किसी ग्रन्थ मे हमको स्त्री के लिये नही मिलता है। प्रश्न–यदि रजोधर्म की आशका से स्त्री को प्रक्षाल करना अभिमत नही प्रतीत होता है तो पूजन करने के लिये भी रजोधर्म की आशंका से बाधा उपस्थित हो जाती है। उत्तर—पूजन प्रतिमा से अलग होकर की जाती है अर्थात् प्रतिमा के अङ्गो को पूजन करने वाले स्पर्श नही करते। अत रजस्वला होने पर भी पूजन छोडकर स्त्री चली जा सकती है। मैने किसी आर्ष प्रणीत ग्रन्थ मे स्त्रियो के लिये प्रक्षाल का विधान नही देखा है। यदि कोई विशेषज्ञ आगमवेत्ता आगम प्रमाण द्वारा इसका विधान सिद्धकर देवेगे तो हमको सम्मत होगा। हम आगम प्रमाण को हरेक स्थान मे हरेक विषय के लिये मानने के लिये तैय्यार है। हम आगम के विरोधी नही है। अत विशेषज्ञ यत्र-तत्र आगम प्रमाणों से प्ररूपित विषयो पर प्रकाश डाल सकते है। प्रश्न–शूद्रो को पूजन का अधिकार है या नही ! उत्तर—शूद्रो के अनेक प्रकार है। योग्यतानुसार उनको पूजन एवं दर्शन का अधिकार है। आगे शूद्रो की योग्यता तथा प्रकार एवं तदनुसार पूजन का विधान आदि पुराण आदिक ग्रन्थो के प्रमाणो द्वारा बतावेगे। क्योकि शूद्र को समवसरण मे जाने का अधिकार शास्त्र सम्मत, है तो सर्वथा पूजन का अधिकार उसको न मिले यह कैसे हो सकता है, केवल अन्तर योग्यता के अनुसार है। सिद्धान्तसार मे समोसरणस्तवन मे कहा है कि— (सिद्धान्तसार)

'मिथ्याद्दष्टिरभव्योऽसञ्ज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव, यश्चानध्यवसायो य सदिग्धो विपर्यस्त।५८।
तत्र न मृत्युर्जन्म च विद्वेषोन-च मन्मथोन्माद ,रागान्तकबुभुक्षा पीडा च न विद्यते क्वापि।५६।

अर्थ—मिथ्याद्दष्टि, अभव्य, असैनी, अनध्यवसायी सदिग्धज्ञानी और विपरीत मिथ्या -द्दष्टि जीव भगवान् के समवसरण मे नही जाते है क्योकि उनकी आत्मा मे वहा जाने की भावना उत्पन्न नही होती है; अन्यथा वहा किसी भी जीव को जाने के लिये निषेध नही है। उस समवसरण के स्थान पर मृत्यु, जन्म विद्वेष, कामोन्माद, राग, बुभुक्षा और पीडा सब दूर हो जाती है। वहा पर पशुतक भी जाते और स्वाभाविक वैर को छोडकर परस्पर प्रेम करने लग जाते है। आगे शूद्रो के लक्षण भेद एव प्रभेद बतलाते है।

पशुपाल्यात्कृषेः शिल्पाद्वर्तन्ते तेषु केचन । शुश्रूयन्ते त्रिवर्णा ये भाण्डभूषाम्बरादिभि ।।२३२।।
ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्राः प्रकीर्तिता, येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्या परथा परे।२३३।
सच्छूद्रा अपिस्वाधीना पराधीना अपिद्विधा, दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीना स्वोपजीविनः ।
असच्छूद्रास्तथाद्वेधाऽकारवा कारवाः स्मृता., अस्पृश्या' कारवश्चांन्त्याजादयोऽकारवोऽन्यथा।
अस्पृश्यजनसस्पर्शान्मृद्भाण्ड वर्जयेत्सदा, लोहभाण्ड भवेच्छुद्ध' भस्मन परिमार्जनात् ।।२३६।।

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनो वर्णो मे कितने ही तो पशुपालन से, कितने ही खेती से और कुछ लोग शिल्प विद्यासे अपना निर्वाह सपादन करते है और जो उल्लिखित तीनो वर्णो की वर्तन आदि माजकर सेवा करते है वे शूद्र कहलाते है ।२३२। उन शूद्रो के सत् शूद्र और असत् शूद्र भेद से दो प्रकार है । जिन शूद्रो मे स्त्रियो का (कन्याओ का एक बार ही विवाह होता है अर्थात् पुनर्विवाह नही होता है वे सत् शूद्र है और जिन के यहा स्त्रियो का पुनर्विवाह होता है वे असत् शूद्र है ।। २३३ ।। सत् शूद्रो के भी स्वाधीन और पराधीन विकल्प से दो प्रकार है । जो दासी एव दास न रहकर स्वाधीन आजीविका करते है वे स्वाधीन है । दासी और दास का काम करके अपना निर्वाह करते है वे पराधीन सत् शूद्र है ।२३४। असत् शूद्रो मे भी कारु और अकारु नाम से दो प्रकार है । उनमे जो स्पर्श करने योग्य नही होते है उन्हे कारु असत् शूद्र कहते है और जो स्पर्श योग्य है उन्हे अकारु असत् शूद्र कहते है । २३५ । अस्पृश्य शूद्रो के स्पर्श हो जाने पर मिट्टी आदि के वर्तन काम मे नही लाये जाते है अर्थात् फेंक दिये जाते है और लोहे के वर्तनो का स्पर्श हो जावे तो राख से माजकर शुद्धकर लिये जाते है । २३६ । इनका विशेष कथन आदि पुराण मे आया है सो विस्तार से जानना हो तो वहा से जानना चाहिये । ये वर्णो के प्रकार एव व्यवस्था आदीश्वर भगवान् के समय से ही कर्मभूमि की आदि मे विदेह क्षेत्र के अनुसार स्वय ऋषभ देव द्वारा की गई है । तत्तत्कर्मानुसारेण जाता वर्णास्त्रयस्तदा ।
क्षत्रिया वणिज. शूद्रा. कृतास्तेऽनादि वेधसा ।। २५० ।। (आदि पुराण)

अर्थ—इस हु डावसर्पिणी काल मे भोगभूमि के सर्वथा विनाश हो जाने पर प्रजा की प्रार्थना करने पर भगवान् आदीश्वर ने जिस का जैसा कर्म था उस २ कर्म के अनुसार क्षत्रिय वणिज और शूद्र तीन वर्णों की स्थापना की । सागारधर्मामृत में भी प०आशाधर-जी ने लिखा है कि— शूद्रोऽप्युपस्कराचार,वपु शुद्धयास्तु तादृश ।
जात्याहीनोऽपि कालादि,लब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ।।२२।।

अर्थात्—आचरण-आसन-उपकरण एव शयन तथा बैठने का स्थान जिसका शुद्ध हो तथा शरीर भी शुद्ध हो, जिसने मद्य-मास का त्याग कर दियाहो ऐसा शूद्र भी जैन धर्म की आराधना करने योग्य है । जो जाति से हीन अथवा छोटी जाति वाले है और अपि

शब्द से जो उत्तम मध्यम जाति के ब्राह्मण क्षत्रियादिक है वे भी काल लब्धि आदि धर्माचरण योग्य सामग्री मिलने पर ही धर्म धारण कर सकते है।

"सकृत्परिणयनव्यवहारा सच्छूद्रा ।। ११ ।।
आचारानवद्यत्वं, शुचिरुपस्कर शारीरी च विशुद्धि ।
करोति शूद्रमपि देव द्विजतपस्विपरिकर्मसुयोग्यं ।। १२ ।।

टीका—य शूद्रोऽपि स देवद्विजतपस्विशुश्रूषायोग्य यस्य कि शूद्रस्याचारानवद्यत्व व्यवहारनिर्वाच्यिता, तथोपस्करो गृहपात्रसमुदाया स शुचिर्निर्मल, तथा शरीरशुद्धिर्यस्य प्रायश्चित्तेन कृताऽऽसीत्। एषोपि शूद्र करोति कि विशिष्ट देवद्विजतपस्विभक्तियोग्य। तथा च चारायण **अर्थ**—सामान्य रूप से जिन मे स्त्रियो का विवाह एकवार ही होता है वे सत् शूद्र कहलाते है और उन्ही को देव पूजन, द्विजो तथा तपस्वियो की वैयावृत्य करने, दान सन्मान आदि करने का अधिकार है। **वण्णे सु तीसुएक्को, कल्लाणंगो तवोस होवयसा।**
सुमुहोवुंछारहिदो, लिगग्गहणे हवदि जोग्गो ।। (प्रवचनसार)

टीका—वण्णेतुसीसु एक्को-वर्णेष् त्रिष्वेक ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णेष्वेक: कल्लाणगो-कल्लाणंगा आरोग्य। तवोसहोवयसा तप. सह क्षम। केन ? अतिवृद्धबालत्वरहितवयसा सुहमो निर्विकाभ्यन्तर परमचैतन्यपरिणतिविशुद्धिज्ञापक गमक बहिरगनिर्विकार मुख यस्य मुखावयवभङ्ग हित वा स भवति सुमुख वु छा रहिदो—लोक मध्ये दुराचाराद्यपवादरहित लिगग्गहणे हवदि जोग्गो एव गुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति यथायोग्य सच्छूद्राद्यपि। **अर्थ**—यहा जिन दीक्षा के योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही कहा है परन्तु यथा योग्य सत् शूद्र को भी कहा है। जब सत् शूद्र को उत्तम श्रावक क्षुल्लक दीक्षा योग्य माना है तब उसे जिन पूजा का अधिकार तो स्वय होगया इसमे किस प्रकार की शका नही रहती है। और भी कहा है — **ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्य, शूद्रोवाय सुशीलवान्।**
दृढव्रतो दृढाचार, सत्यशौचसमन्वित ।। १७ ।।
कुलेन जात्या संशुद्धो, मित्रबांधवादिभि शुचि, गुरूपदिष्टमन्त्राढ्य, प्राणिबाधादिदूरग ।१८।

अर्थ— शीलवान् हो, व्रतो का पूर्ण रूप से पालक हो, कुल तथा देश के अनुकूल सदाचारी हो सत्य और शौच धर्म युक्त हो, कुल और जाति से शुद्ध हो मित्र एव बधुजनो से पवित्र हो, गुरु से दिये हुये मत्र मे से युक्त और प्राणि हिसासे दूर हो। चाहे क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कोई भी हो वह आद्य भेद रूप नित्य पूजन करने योग्य है। यहा पर आद्यशब्द से प्रथम पूजन नित्य पूजन ही होने से वह ही लिया गया है **शूद्र क्षुल्लक दीक्षा का पात्र**—
कारिणो द्विविधा सिद्धा भोज्याभोज्यप्रभेदत, भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम्।१५४।

अर्थ—शूद्र के भोज्य और अभोज्य नामक दो भेद है, जिनके यहा का आहार एव

जल ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य खा पी सकते है वे भोज्य शूद्र कहलाते है और भोज्य कारु (शूद्र) ही क्षुल्लक की दीक्षा का पात्र हो सकता है, उससे विपरीत जिनके ब्राह्मण उच्च-वर्ण भोजन जल पान नही कर सकते वे अभोज्य शूद्र है उनको क्षुल्लक पद ग्रहण करने का अधिकार नही है, अत: भोज्य शूद्र के लिये उत्तम श्रावक व्रत लेने का अधिकार प्रमाण से सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि सत् शूद्र तो क्षुल्लक होकर श्रावक के व्रत तक एव तद-न्तर्गत पूजन तथा मंदिर मे जाकर दर्शन आदि कर सकता है और असत् शूद्र मानस्तभ के अन्तर्गत प्रतिमा के दर्शन मात्र का अधिकारी है। वह मन्दिर मे जाकर पूजन और दर्शन आदि नही कर सकता उसका मन्दिर मे प्रवेश आगम से विरुद्ध है। इस कारण अपनी २ योग्यतानुकूल सत्शूद्र तथा असत् शूद्र धार्मिक कृत्य करके अपना आत्म कल्याण करे।

—: स्थापना :—

प्रश्न—आज कल जो चावलो के पुष्पो से स्थापना की जाती है उसको नाम स्थापना कहते है। यह तदाकार स्थापना न होने से निराकार है जब वसुनन्दि श्रावकाचार मे निरा-कार स्थापना के लिये निम्नगाथा द्वारा निषेध पाया जाता है तो फिर निराकार स्थापना क्यो की जाती है ? **हुडावसांपणीए विइया ठवणा ण होय कायव्वा।**

लोए कुलिग मय, मोहिय जदा होइ सदेहो ॥३८४॥ (वसुनन्दी)

अर्थ—इस हुडावसर्पिणी काल मे लोक मे कुलिगो के आधिक्य होने से सदेह तथा मोह हो सकता है अत निराकार स्थापना नही करना चाहिये। **उत्तर**—क्योकि निराकार स्थापना सन्मुख प्रतिमा के होते हुये की जाती है अत कुलिगो का भय नही रहता। केवल प्रतिमाको सन्मुख न रखकर यदि अक्षतो मे निराकार स्थापना की जाती तो सदेह मोह की आशका हो सकती थी। इस कारण यह निषेध इस आशय को प्रकट करता है कि केवल अक्षतो मे स्थापना नही होनी चाहिये, प्रतिमा का समुख होना आवश्यक है जिससे कुलिग-मय इस जगत मे सदेह और मोह उत्पन्न होने को अवकाश न मिलसके। मुनि वीरनदिकृत आचार सार मे भी दोनो प्रकार की स्थापना का दिग्दर्शन कराया है एव अन्यत्र भी निषेध अतदाकार के लिये नही देखा गया है। **सस्त्यस्यात्स्थापना सत्य प्रतिबिम्बाक्षतादिषु।**

चन्द्रप्रभजिनेन्द्राऽयमित्यादि वचनं पृथा ॥२८॥ (आचारसार)

अर्थ—तदाकार और अतदाकार नामक स्थापना के दो भेद है। तदाकार-जैसे भगवान् जिनेन्द्र की पुरुषाकर जिन-बिम्ब स्थापना और अतदाकार—जैसे रगे चावलो मे चन्द्रप्रभ समझना अर्थात् वैसा आकार प्रकार बना कर नाम रखना तदाकार है और आकार प्रकार न बना कर किसी वस्तु मे स्थापना करना अतदाकार स्थापना है। इस प्रकार सिद्धान्तो मे दोनो ही स्थापना का विधान मिलता है। प० सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार

की टीका मे लिखा है कि यह स्थापना स० १८७० से चालू हुई है। हमारे विचार मे पुष्पो मे जो भगवान् का आह्वान स्थापना आदि क्रिया की जाती है वह सत्कार प्रदर्शक है। क्योकि सिद्ध और अरहन्त भगवान् का आगमन तो होता ही नही है। यह केवल भावना और भावो की उत्कृष्टता एव आदर सत्कार मात्र है। पूजा करते समय खुला शरीर नही होना चाहिये। एक धोती दुपट्टा होना अत्यावश्यक है और पूजन के कपडे अत्यन्त शुद्ध ऐसे होने चाहिये जो घर पर काम मे न आये हो। —**निर्दोष सप्तमी**— प्रश्न-निर्दोष सप्तमी के दिन प्रोषधोपवास करना और भगवान् को एक दुग्ध से भरे हुए कुण्ड मे रख देना और फिर रात्रिभर उसमे ही रखने से महान् पुण्य का आस्रव होता है ऐसा मानना, कहा तक ठीक है? एव इसका उल्लेख किसी जैन सिद्धान्त मे है या नही? उत्तर—आपने जो यह प्रश्न किया है सो ठीक है। आजकल अनेक दिगम्बर मुनिराज भी ऐसा करने लगे है। किन्तु यह प्रथा जैन सिद्धान्त से प्रतिकूल है। जैन ग्रन्थो मे इस का उल्लेख नही है। यह प्रथा वैष्णव सम्प्रदाय की है। उनके वेद व्यास प्रणीत भागवत मे ऐसा लेख मिलता है कि जब संसार का प्रलय हो गया था तब भगवान् क्षीर सागर (क्षीर कुण्ड) मे शेषनाग की शय्या पर जाकर पौढ गये और वहा ही उन्होने लोक की रचना की। प्रश्न—यदि यह वैष्णव सम्प्रदाय का है तो जैनाचार्यो ने क्या लाभ समझ कर इसे अपनाया है? उत्तर—जैनाचार्यो को इस प्रकार के कथन से किसी प्रकार भी लाभ नही है। इसका कारण यह है कि जैनाचार्यो मे थोडे दिन से एक भट्टारक मार्ग निकला, और उन भट्टारको मे ब्राह्मण जाति के भट्टारक हुए। उन्होने विद्याध्ययन कर एव विद्वान् बनकर ब्राह्मण सम्प्रदाय की बाते ब्राह्मण जाति के सस्कार के कारण जैनधर्म मे डालदी है। प्रश्न-जैनमत मे भी तो एक कथा मिलती है कि सेठानीजी ने व्रत किया और भगवान् को क्षीर कुण्ड मे विराजमान किया और उसका फल सेठजी को यह मिला कि सेठजी जब सर्प के हाथ लगाते थे तो वह सर्प हार हो जाता था और जब वह उसे छोड देता था तो उस हार के कोई हाथ लगाता था तो वह सर्प हो जाता था। वह बात कहा तक ठीक है। व्रत कोई करे और उसका फल अन्य को मिले! यह कथा मुद्रित भी हो चुकी है। उत्तर—यह कथन जैन सिद्धान्त से सर्वथा प्रतिकूल है। ससार मे जीव जो कर्म करता है उसका फल वही भोगता है और कोई दूसरा नही। कहा भी है कि— (अमितगतिकृत सामायिकपाठ)

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तंयदिलभ्यते स्फुट, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥ ३० ॥

अर्थ—पूर्वकाल मे आत्मा जो कुछ कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल स्वय भोक्ता है। यदि फल दूसरे को मिलने लगे तो अपना किया हुआ कर्म निरर्थक हो जावे।

रात्रि-पूजन का निषेध— प्रश्न–दिगम्बर जैन समाज मे भी आजकल जो बहुत से जैन रात्रि-पूजन करने लगे है यह कहा तक ठीक है। आगमानुकूल है या नही! उत्तर–दिगम्बर जैन सिद्धान्तो मे रात्रि पूजन का विधान नही है। बल्कि अनेक स्थलो पर रात्रि-पूजन का निषेध मिलता है। प्रश्न—कौन २ ग्रन्थ मे किस २ स्थान पर मिलता है? उत्तर—निम्न लिखित प्रमाण देखिए— (अमितगति श्रावकाचार अध्याय ५)

"यत्र नास्तियतिवर्गसंगमो, यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम् ।
यत्र सयमविनाशिभोजनम्, यत्र ससृजति जीवभक्षणम् ।। ४१ ।।
यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनम्, यत्र नास्ति गमनागमनक्रिया ।
तत्र दोषनिलये दिनात्यये, धर्मकर्मकुशला न भुंजते ।। ४२ ।।

अर्थ—अर जा विषै यतीन के समूह का सगम नाही, अर जा विषै गुरु देव का पूजन नाही, अर जा विषै सयम का विनाश करने वाला भोजन होय है, अर जा विषै जीवन का भक्षण उपजै है। ४१। अर जा विषै सर्व शुभ कर्म का वर्जन होय है, अर जा विषै गमनागमन क्रिया नाही है–ऐसा दोषनिका ठिकाना दिन का अभाव रूप रात्रि ता विषै धर्म कर्म मे प्रवीण पुरुष है ते भोजन न करे है। ४२। और भी कहा है—

"देवगुर्वोरर्चनाया कार्य रात्रौ न सचरेत्, तस्मात्पापादशुभं हि स नरके याति ध्रुवम् ।।१।।

अर्थ—देव और गुरुओ के पूजन का कार्य भूल कर भी रात्रि मे नही करे क्योंकि कितनी भी सावधानी रखी जाव तब भी जीव-हिसा का रात्रि मे संभव है और जीव हिंसा जैन धर्म मे सर्वथा वर्जनीय है, क्योकि जीव हिसा नरक के पतन का कारण है यदि जीव हिसा करने वाला प्राणी भी स्वर्ग को प्राप्त करने लगे तो नरक का पात्र कौन होगा। अत देव गुरु पूजा का आरभ रात्रि मे कदापि नही करना चाहिये। रात्रि मे पूजन करनेसे हिंसा का सभव है अत रात्रि पूजन आचार्यों द्वारा निषिद्ध है। तात्पर्य यह है कि धर्म कार्य मे रात्रि वर्जनीय है। पूजादिक कार्य उनके यहा भी रात्रि मे वर्जनीय है, जो कि रात्रि मे कार्य करने वाले है। फिर जैन धर्म तो आरम्भीकार्य जो हिंसा जनक है उसका निषेध करेगा ही। **जिनेन्द्र – पूजन की प्रचलित पद्धति** – प्रश्न—हमने सुना है कि प्राचीन काल के श्रावक लोग भी जो भगवान् का पूजन करते थे वे भी प्रचलित पद्धति के अनुसार करते थे। सो ठीक २ निर्णय कीजिये कि पहले भी आजकल के अनुसार श्रावक पूजन करते थे या नही? या कुछ अन्तर था। उत्तर—प्राचीन काल मे जो श्रावक लोग होते थे उनके घर मे जिनेन्द्र भगवान् के उपदेशानुकूल सदाही प्रवृत्ति रहा करती थी, उनको किसी प्रकार का नया अफड बना कर पूजन का आडम्बर आजका सा नही करना पडता था। उनके यहा तो जिनेन्द्र भगवान् की पूजन की विधि थी वह दैनिक क्रिया मे सरल रूप मे

चालू थी, इसमें उनको किसी प्रकार की अडचन नही थी। प्रश्न—उनकी दैनिक क्रिया किस रूप से हुआ करती थी? उत्तर—उन श्रावको के घर मे भोजन क्रिया की शुद्ध आम्नाय थी। जिस प्रकार अन्य सब पदार्थ मर्यादित रहा करते थे उसी प्रकार जल भी रहा करता था। सो वह श्रावक अपनी दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर शुद्ध वस्त्र धारण कर, पूजन का द्रव्य सोध कर, अपने घर से पानी छान कर, उससे द्रव्य धोकर और शुद्ध जल के छोटे २ दो कलश लेकर मन्दिरजी मे जाते थे और एक लोटा हाथ मे लेजाते थे। उसमे अपने पाव धोकर मन्दिरजी मे चले जाते थे और उस थाल के कलशो से श्री जिनका प्रक्षाल करके जो द्रव्य लेजाते थे उससे पूजन करके उस द्रव्य को जल मे या चांदनी मे पक्षियो के लिए डाल देते थे। बाद मे अपने बरतनो को स्वयं घर पर लाकर माज कर रख देते थे फिर दूसरे दिन भी वैसे ही काम मे ले लेते थे, इस प्रकार का उनका दैनिक कार्य होता था। प्रश्न–यदि ऐसा ही है तो आजकल मन्दिरो मे वैसे कार्य क्यो नही होते! इतना अन्तर क्यो होगया! उत्तर—इसका कारण यह है कि तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् हमारे यहा एक भट्टारक पथ निकला। उसके द्वारा ऐसी प्रवृत्ति चालू हो गई। भट्टारको ने पूजन के वास्ते इस प्रकार समझाया कि आप लोगो को पतिदिन घर से सामग्री लाने मे बडी आपत्ति पडती है अत. यह सब सामग्री मन्दिरजी मे ही रखदी जावे और जो व्यास मन्दिरजी मे रहता है वह जल भर दिया करेगा। उस जल से स्नान करके श्रावक लोग कुवे से जल भर लावे और यहा ही द्रव्य धोकर पूजा करली जावे तो तुमको सुविधा रहेगी। पहले श्रावक सरल स्वभावी थे, उन्होने उनकी बात को स्वीकार कर लिया। बस फिर ऐसी प्रवृत्ति चल गई गृहस्थियो के यहा उस प्रकार की शुद्धता भी नही रही। जिससे पूर्ववत् शुद्धता पूर्वक पूजनादि की तैय्यारी की जा सके। प्रश्न—भट्टारको ने ऐसा क्या लाभ समझ कर किया! उत्तर—उन लोगो ने ऐसा इस वास्ते किया कि यहा पर सामग्री रहेगी तो इसके निमित्त से रुपये पैसे भी भडारे मे आया करेगे, जिससे हमारा भी ठीक तौर से काम चल सकेगा। इस लोभ से उन्होने यह कार्य चालू कर दिया। प्रश्न—तो क्या ये जैन धर्मावलम्बी होकर भी श्री मन्दिरजी के द्रव्य को जो कि दान मे आया है, खा जाया करते थे? उत्तर—यह दान का द्रव्य भी और जैन होकर भी अवश्य खालिया करते थे अन्यथा इनके पास लाखों करोड़ो की सम्पत्ति कहा से हो जाती। तथा हजारो रुपये माहवार खर्च किस प्रकार कर पाते। प्रश्न—तो क्या ये लोग भगवान् के उपदेश से प्रतिकूल चलकर नरक जाने से भी नही डरते थे! उत्तर–ये भट्टारक लोग पहले समय मे तो जैन ही हुआ करते थे परन्तु कुछ समय बाद जब जैनो ने अपने बालक इन को देने बन्द करदिये तो ये भट्टारक ब्राह्मणों के कुमार लेने लगे और उनको भट्टारक पद एवं गद्दी

भी मिलगई। तब उन्होने अपने वर्ण एव धर्म के अनुकूल अनेक रीति रिवाज चला दिये। जैसे गोमय शुद्धि, चमरी गाय के चमर शुद्धि, श्राद्ध, तर्पण, आरती करना श्रावको के व्रत उपवासो का उद्यापन कराना, मन्दिर मे गाय रखना, दान देना, शास्त्र पढने वाले पण्डित के लिये श्रावको से द्रव्य दिलवाना, सक्रान्ति दान, नवग्रह पूजन क्षेत्र-पाल पूजन, आदि। कहा तक लिखा जावे अनेक बाते चलादी। इसका विवरण पहले दे चुके है, वहा से जान लेना। प्रश्न—तो क्या ये जैन पुराणो को पढकर भी पाप से नही भयभीत हुए ! उत्तर—इनके अपने कुल के दृढ सस्कार थे। ये लोग ब्राह्मण थे, इनके यहा तो भगवान् को चढाया हुआ पदार्थ प्रसाद कहलाता है। ये लोग उसे खाते ही है, तो ये क्यो भयभीत होते! प्रश्न—इनकी रचना तो भरत चक्रवर्ती ने की थी। यदि ऐसा ही होना था तो इस समाज की रचना उन्होने क्यो की? उत्तर—प्रथम भरत चक्रवर्ती ने दान देने के लिये इन की रचना की फिर आदीश्वर महाराज से पूछा, तब उन्होने इन के लिये बतलाया था कि आज दान देने की भावना से जो इस समाज की रचना की गई है ठीक है-किन्तु काल प्रभाव से आगे जाकर ये लोग आचार शून्य, धर्म विमुख और जिनमार्ग के विरुद्ध आचरण करने वाले हो जायगे और वैसा ही हुआ। इसके सम्बन्ध मे आदि पुराण मे विशेष देखना चाहिए।

※ कुछ आवश्यक विषयो का ऐतिहासिक परिचय ※

"वासमय तहकालो, परिगलि ओ वड्ढमाणतित्थेसु।
एसो भविय जाणहु, भरहे सुदकेवली णत्थि ॥७२॥ (श्रुतस्कन्ध)

अर्थ—मिति कार्तिक वदि १४ के दिन बीते बाद उपरान्त रात्रि मे जब अन्तर्मुहूर्त रात्रि शेष रही तब अमावस होने वाली थी उसी समय भगवान् महावीर निर्वाण पधारे थे भगवान् महावीर जब मोक्ष पधारे थे उस समय चतुर्थकाल का ३ तीन वर्ष साडे आठ ८॥) माह शेष था। उस समय देवो ने आकर निर्वाण कल्याण की पूजा की। उनके बाद उसी दिन सध्या के समय इन्द्रभूति एव गौतम नामा गणधर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था अत देवो ने आकर उनके ज्ञान कल्याणक की पूजा की एवं उतसव किया था। उसी दिन से यह दीपमालिका त्यौहार अब तक मनाया जारहा है। केवली गौतम गणधर ने १२ वर्ष तक धर्म की देशना दी। तदुपरान्त उनको निर्वाण पद की प्राप्ति हुई थी। गौतम गणधर के निर्वाण गमन पश्चात् सुधर्माचार्य को केवल ज्ञान प्रकट हुआ और केवल ज्ञान पश्चात् उन्होने १२ बारह वर्ष पर्यन्त धर्म की देशना दी। तदुपरान्त निर्वाण पद प्राप्त किया। सुधर्माचार्य के पश्चात् जम्बू स्वामी को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होने भी ३८ अडतीस वर्ष पर्यन्त धर्मोपदेश रूपी अमृत की वर्षा से भव्य प्राणियो को सतुष्ट किया। श्री महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् भी ६२ वर्ष तक केवली विराजमान रहे। आगे

श्रुत केवलियो का समय आया जिसमे १ विष्णुनदी २ नदिमित्र ३ अपराजित ४ गोवर्धन और ५ भद्रबाहु इस प्रकार पांच श्रुत केवली हुए। इनका समय भी १०० वर्ष तक निम्न लिखित क्रम से चलता रहा। महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् तीन केवलियो तथा ५ श्रुत केवलियो के १६२ एक सौ बासठ वर्ष का विवरण—

नाम	ज्ञान	वर्ष सख्या
१ श्री गौतमगणधर	केवलज्ञानी	१२
२ सुधर्माचार्य	"	१२
३ जम्बूस्वामी	"	३८
		योग—६२
४ विष्णुनन्दी	केवलज्ञानी	१४
५ नन्दिमित्र	"	१६
६ अपराजित	"	२२
७ गोवर्धनाचार्य	"	१९
८ भद्रबाहु प्रथम	"	२९
		योग—१००
		दोनो का योग—१६२

इनके बाद ११ मुनिराज दश पूर्व पाठी निम्न क्रम से एक सौ तेरासी वर्ष के अतर्गत हुये-

नाम	ज्ञान	वर्ष
९ विशाखाचार्य	१० दश पूर्वधारी	१०
१० प्रोष्ठिल	"	१९
११ क्षत्रिय	"	१७
१२ जयसेन	"	२१
१३ नागसेन	"	१८
१४ सिद्धार्थ	"	१७
१५ धृतिक्षेत्र	"	१८
१६ विजय	"	१३
१७ बुद्धिलिग (बुद्धिमान)	"	२०
१८ देव (गगसेन)	"	१४
१९ धर्मसेन (बुद्धिसेन)	"	१४
		योग—१८३

इनके बाद १२३ वर्ष मे निम्न प्रकार से पाच मुनिराज ग्यारह-ग्यारह अगधारी हुये।

नाम	ज्ञान	वर्ष
२० नक्षत्रपाल	११ अग	१८
२१ जयपाल	"	२०
२२ पाडव	"	३९
२३ ध्रुवसेन	"	१४
२४ कसाचार्य	"	३२
		योग—१२३

आगे जो क्षीण अगधारी मुनि हुये उनके द्वारा धर्मोद्योत होता रहा। नामावली तथा विवरण निम्न प्रकार है—

नाम	ज्ञान	वर्ष
२५ सुभद्राचार्य	१० अग	६
२६ यशोभद्र	९ ,,	१८
२७ भद्रबाहु द्वितीय	८ ,,	२३
२८ लोहाचार्य प्रथम	७ ,,	२८
२९ अर्हद्बलि	१ ,,	२२
		योग—९७
३० माघनदि	क्षीणएकाङ्गधारी	१७
		योग—१७

जिस समय माघनदि मुनिराज का देहावसान हुवा था, उस समय भगवान् महावीर

स्वामी को मोक्ष पधारे ५८२ वर्ष व्यतीत हो चुके थे, उक्त ५८२ वर्षो मे उक्त प्रकार से ज्ञानके धारी आचार्य हुए, यहा प्रसग पाकर श्री माघनदि मुनि के जीवन की एक घटना का वर्णन करते है। माघनन्दि आचार्य एक समय गोचरी के लिये जा रहे थे। मार्ग मे एक कुंभकार की पुत्री बडी भारी वर्षा की सभावना से आँवा मे रखे हुए बर्तनो के गल जाने की आशका से रो रही थी। मुनिराज ने उसके हृदय की बात को समझ कर आवे की परिक्रमा देदी। परिक्रमा मे वह कन्या भी पीछे रही। कुछ देर बाद बडी जोर से वर्षा हुई, किन्तु उस आवे पर एक बिन्दु भी पानी न आया। इसके बाद उस कन्या का पिता आया। उसने पूछा कि इतनी वर्षा होने पर भी इस आवे पर पानी नही पडा क्या कारण है। इस प्रकार आश्चर्य मे पडे हुए अपने पिता को उस कन्या ने, मुनिराज ने जो उसकी परिक्रमा दी थी वह वृत्तान्त कह सुनाया। कुभकार अपनी कन्या को साथ लेकर इन चमत्कारी मुनिराज के पास गया और कहने लगा महाराज! आपने जो मेरी कन्या को साथ लेकर उस आवे की परिक्रमा दी है अत यह कन्या आप से विवाहित हो गई। अब मै इसको अन्य को कैसे दे सकता हू। आपको इसे अपने पास रखना होगा। पूर्व भव के सम्बन्ध से मुनिराज ने उसके साथ फिर विवाह कर लिया और वे कुभकार के घर पर ही रह कर बर्तन बनाने लगे, उन्होने पीछी और कमण्डलु को निम्ब पर रखदिया मुनि वेष को त्याग दिया। कुछ दिन पश्चात् मालव देश मे कोई विवाद हुआ उस सभा मे उसका निर्णय न हो सका। निश्चय माघनदी आचार्य के द्वारा ही हो सकेगा ऐसा निश्चय करके अन्वेषण करते२ कुम्भकार के घर पर आये और माघनदी से जो उस समय बर्तन बना रहे थे, आकर पूछा कि मुनि माघनदी कहा मिलेंगे, उन्होने "मुनि" इस विशेषण से युक्त अपना माघनदी नाम सुना और तुरत बोध हो गया और कहा वह मै ही हूँ ऐसा कहकर उनकी शंका का समाधान किया और विचारा अहो! मै अब भी मुनि कहलाता हू और मेरी यह दशा है तुरत कुभकार की लडकी से विदा ले, पीछी कमण्डलु सभाल लिया और फिर मुनि दीक्षा धारण करली और यह प्रायश्चित्त लिया कि जब तक पाच व्यक्ति जैन धर्म से दीक्षित न हो तब तक भोजन नही करना, अत वे प्रतिदिन ५ प्राणियो को जैन धर्म की दीक्षा देकर भोजन करते थे। उन्होने इस प्रतिज्ञा का यावज्जीवन निर्वाह किया। इस प्रकार की कथा पुण्याश्रव नामा कथा कोष मे कही है तथा यही बात पद्य में महाचन्द्रजी ने भी कही है। इनके पश्चात् (३१ श्रीगुणचन्द्र स्वामी क्षीणाङ्गधारी १७-योग-१७) इस समय विक्रम सं० ४९ था और इसी समय कुन्दकुन्द स्वामी हुए है। (३२) कुदकुंद स्वामी (प्रथम आचार्य क्षीणागधारी ४५-योग स० ६३४-४५

—※ कुन्दकुन्द स्वामी का परिचय ※—

कुदकुंद स्वामी माघनदी मुनि के प्रशिष्य और गुणचन्द्र मुनि के शिष्य थे। आपने

लिये नौकर था। एक दिन वह गौ चराने जा रहा था तो अग्नि से सारा जगल जलाहुआ देखा। कुछ एक प्रदेश बीच मे हरा भरा दिखाई दिया और कुछ पेड भी दिखाई दिये। ऐसा देखकर उसे बडा आश्चर्य हुआ दौडकर वहा पहु चा तो एक मुनि के रहने एव निवास करने का स्थान देखा तथा आले में आगम ग्रथ देखे। उनको वह ले आया और उन आगम ग्रन्थो को अपने घर मे रख लिया। सेठ करमुण्ड के कोई सतान नही थी अत सेठानी तथा सेठ का चित्त उदास रहता था। एक दिन उनके यहा प्रभावशाली दिगम्बर मुनि का आहारार्थ आगमन हो गया और उन्होने भक्ति पूर्वक उनको पडगा कर आहार दान दिया और अमित पुण्य का सचय किया। आहारदान देकर उनको यह निश्चय हो गयाकि हमारे अवश्य सतान होगी। ग्वाले मतिवरण ने उसी समय जो ग्रथ उसे जगल मे मिले थे मुनि-राज की भेट किये। इस ज्ञान दान के प्रभाव से उस गवाले का ज्ञानावरण कर्म का बध क्षीण हो गया और आगे वह ही ग्वाला मर कर इन सेठ सेठानी के पुत्र हुआ और यह ही आगे कु दकु द स्वामी होगे। एक दिन श्री मुनि गुणचद्रजी आचार्य महाराज का जिस ग्राम मे सेठ सेठानी रहते थे आगमन हुआ। सेठ और सेठानी पुत्र सहित मुनिराज की वद-ना को गये। वहा मुनि महाराज की देशना को सुनकर सेठ पुत्र को प्रतिबोध होगया और फिर वह घर नही लौटा। माता पिता से आज्ञा लेकर दिगम्बर मुनि होगया। उन मुनि-राज ने मलय देशके अतर्गत हेम ग्राम (पोन्नूर)के निकट स्थित नील गिरि पर्वत पर बडी भारी तपस्या की, वहा पर अभी तक उनके चरण बने हुए है, इनका जन्म वि० स० ५ मे हुआ था और ये ग्यारह वर्ष की अवस्था मे दीक्षित हुए थे। तेतीस वर्ष दिगम्बर मुनि अवस्था मे रहे और पैतालीस वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। इस प्रकार उनकी आयु नवासी (८९) वर्ष की थी। इन्होने विदेह क्षेत्र से सिद्धान्त तत्त्व का श्री सर्वज्ञ देव परम वीतराग सीमन्धर स्वामी से गवेषण कर जनता को अनेक ग्रन्थ रत्न बनाकर एव उपदेश देकर परम उपकार किया एव जैन धर्म को उद्योत किया। विदेह क्षेत्र से आकर जो अपने ग्रन्थ रत्नो की रचना की थी उनकी नामावली इस प्रकार है —

१ पचास्तिकाय २ समय प्राभृत ३ प्रवचन सार ४. षट् प्राभृत ५ अष्ट पाहुड ६ रयण सार ७ द्वादशानुप्रेक्षा ८. नियमसार ९. जोणीसार १०. क्रियासार ११ आराहणा-सार १२ लब्धिसार १३ क्षपणासार १४. बधसार १५ तत्त्वसार १६ द्रव्यसार १७. आलाप पाहुड १८. चुलिया पाहुड १९. सालमी पाहुड २० क्रम पाहुड २१ पय पाहुड २२. विद्या पाहुड २३ उद्योत पाहुड २४ दृष्टि पाहुड २५. सिद्धान्त पाहुड २६. तीर्थ पाहुड २७ चरण पाहुड १८. षट् दर्शन पाहुड १९ नामकम्म पाहुड ३० समवाय पाहुड ३१— नय पाहुड ३१. प्रकृति पाहुड ३३ चूर्णि पाहुड ३४. पचवर्ग पाहुड ३५. कर्मविपाक पाहुड

३६. वस्तु पाहुड ३७ बुद्धि पाहुड ३८. सठाण पाहुड ३९. निताय पाहुड ४० पयध्य पाहुड ४१ उत्पाद पाहुड ४२ दिव्य पाहुड ४३ शिखा पाहुड ४४ जीव पाहुड ४५ आचार पाहुड ४६ स्थान पाहुड ४७ प्रमाण पाहुड ४८.ऐयन्त पाहुड ४९. विहेय पाहुड ५० योगसार पाहुड

उल्लिखित ग्रन्थो मे कुछ का पता लगता है। इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थो की आपने रचना की या नही, पता नही, दुर्भाग्य का विषय है कि उल्लिखित ग्रन्थो मे से भी बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध नही है। जो भी उपलब्ध है उन सब मे निवृत्ति मार्ग ओत प्रोत भरा है। आप के पाच नामो का उल्लेख देखा जाता है जो इस प्रकार है —

"आचार्य कुन्द-कुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामति ,ऐलाचार्य गृध्रपिच्छ पद्मनंदीतिः तन्नुति ।।३।।"

कुन्द कुन्द २ वक्रग्रीव ३ ऐलाचार्य ४ गृध्रपिच्छ और ५ पद्मनदी। आपके समय मे मैलापुर तामिल ग्राम जो दक्षिण प्रान्त मे है वह विद्या का केन्द्र था। वहा पर ही आपने एक "कुरल" नाम का ग्रथ बनाया था उसमे साम्प्रदायिक विषय न देकर ऐसा आध्यात्मिक विषय लिखा, जिससे वह ग्रन्थ उस देश मे अभी तक वेद की तरह पूजा जाता है और उसे पाचवा वेद कहते है। आप प्राकृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। आपने जो भी ग्रन्थ बनाये है उनमे निवृत्ति मार्ग का बाहुल्य देखा जाता है। यदि यह भी कह दिया जावे तो बन सकता है कि वे निवृत्ति मार्ग के ही है। आप के सब ग्रन्थ प्रामाणिक है और बडी प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ६३४ वर्ष व्यतीत होने पर विक्रम स० ८४ मे श्रीधरसेन नाम के गणी हुए। आप उज्जैन नगरी के पास चन्द्र गुफा मे विराजमान थे। वहा पर आपको रात्रिमे ऐसा स्वप्न हुआ कि तुम्हारी आयु थोडी रह गई तथा श्रुत का विच्छेद होने वाला है। आपको अगका ज्ञान था।

(३३) श्री धरसेनगणी—क्षीणागज्ञान—१९-योग अ. ६५३–१९) स्वप्न के परिणाम स्वरूप अपनी आयु के साथ श्रुत का विच्छेद जानकर आपने दक्षिण देश से वेणाक तट पुर नामक स्थान से मुनि सघ मे से दो मुनियो को बुलाकर पढाया। उन दोनो का पुष्पदन्त और भूतबलि नाम रखा जिस सघमे से उल्लिखित मुनियो को बुलवाया गया था उसी सघ के निमित्त ज्ञानवेत्ता भद्रबाहु मुनि थे, ऐसा एक आचार्य पट्टावली से पता चला है। दूसरी पट्टावली मे धरसेन गणी के पश्चात् वीरनिर्वाण संवत्६६५ वि स०११५ मे भद्रबाहु स्वामी निमित्त ज्ञानी इसी मालव देश मे हुए है ऐसा बताया गया है। जब श्री धरसेनाचार्य पुष्पदन्त और भूतबली को पढाने के कारण देश मे चले गये तब इस देश मे भद्रबाहु स्वामी निमित ज्ञानी रहे। इस प्रकार का कथन है। (३४) श्री पुष्प दन्त और भूतबलि क्षीण अगधारी ३० योग अं. ६८३–३०) जिस सघ के स्वामी धरसेनजी गणी थे, भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी भी उसी संघ मे थे। वीर निर्वाण स० ६६५ था। किन्तु

वीर निर्वाण स० ६५३ मे श्री धरसेनाचार्य का समाधिमरण हो चुका था। ६६५ वीर निर्वाण सवत् में श्री धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि तथा भद्रबाहु मौजूद थे। जिस समय अष्ट प्रकार निमित्त ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी मालव देश मे विद्यमान थे उस समय मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य था। (३५)स्वामी भद्रबाहु के समय वीर निर्वाण स० ६६५ तथा विक्रम सवत् ११५ मे जैनो मे दूसरी शाखा अर्धपालक निकली, ऐसा दर्शन सार शास्त्र मे लेख मिलता है। — **आठ प्रकार के निमित्त ज्ञान** —. अब अष्ट प्रकार के निमित्त ज्ञानो का दिग्दर्शन कराते है जिनके भद्रबाहु स्वामी पूर्ण रूप से ज्ञाता थे।

"**अन्तरिक्षसभौमाग,स्वरव्यञ्जनलक्षण ।**
छिन्नस्वप्नविभेदेन, प्रोक्तान्यागमवेदिभि ॥१८१॥ (उत्तर पुराण ६२ वा पर्व)

अर्थ—शास्त्रज्ञो ने निमित्त शास्त्र के अन्तरिक्ष २ भौम ३ अग ४ स्वर ५ व्यञ्जन ६ लक्षण ७ छिन्न और ८ स्वप्न इस प्रकार आठ भेद बताये है। **अन्तरिक्ष निमित्त श्रुतज्ञान**

"**तात्स्थ्यात् साहचर्याद्वा, ज्योतिषामतरिक्षवाक् ।**
चन्द्रादिपचभेदाना,मुदयास्तमयादिभि ॥ १८२ ॥
जय पराजयो हानि,र्वृद्धिर्मृत्यु सजीवित ।
लाभालाभौ निरूप्येते, यत्रान्यानि व तत्त्वत ॥ १८३ ॥ (उत्तरपुराण पर्व ६२)

अर्थ—चन्द्रादि ज्योतिषी देव आकाश मे रहते है उनके सबध एवं साहचर्य से जो ज्ञान होता है उसको अन्तरिक्ष निमित्त ज्ञान कहते है। सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र और तारे इन पाचो के उदय से एव अस्त से जो जय–पराजय हानि-वृद्धि जीवन-मृत्यु और लाभ तथा अलाभ का निरूपण किया जाता है वह सब अन्तरिक्ष निमित्त श्रुत ज्ञान का विषय है।

– भौम निमित्त श्रुत ज्ञान – (उत्तर पुराण पर्व ६२)

"**भूमिस्थानादिभेदेन हानिवृद्ध्यादिबोधनं । भूम्यतेस्थितरत्नादिकथनं भौममिष्यते ॥ १८४ ॥**

अर्थ—भूमि और स्थान आदि के अन्तर एव भेद से जो हानि और वृद्धि का ज्ञान करना है तथा पृथ्वी के अन्दर रखे हुए रत्नादि का ज्ञान करना है उसे भौम निमित्त श्रुत ज्ञान कहते है। **– अंग निमित्त श्रुतज्ञान –** (उत्तर पुराण पर्व ६३)

अगप्रत्यंगसस्पर्श, दर्शनादिभिरङ्गिनाम् । अगकालत्रयोत्पन्न, शुभाशुभनिरूपणम् ॥ १८५ ॥

अर्थ—अंग-उपाग को स्पर्श करने अथवा देखने से जो प्राणियो के शरीर सम्बन्धी तीनो कालो मे होने वाले शुभ तथा अशुभ का निरूपण किया जाता है उसे अंग निमित्त श्रुत ज्ञान कहते है। **– स्वर निमित्त श्रुतज्ञान –** (उत्तर पुराण पर्व)

मृदगादिगजेन्द्रादि केतनेतरसुस्वरै । दु स्वरैश्च स्वरोऽभीष्टा निष्टाप्रापणसूचन. ॥ १८६ ॥

अर्थ—मृदंगादि अचेतन तथा हाथी आदि चेतन पदार्थो के सुस्वर अथवा दु स्वर

शब्द एव स्वरो द्वारा जो इष्ट और अनिष्ट के प्राप्त होने की सूचना होती है उसे स्वर निमित्त श्रुत ज्ञान कहते है। **— व्यंजन निमित्तश्रुतज्ञान —** (उत्तर पुराण पर्व ६२)

शिरोमुखादिसंजात, तिललक्ष्मव्रणादिभि , व्यञ्जनस्थानमानेश्य लाभालाभादिवेदनम् ।।१८७।।

अर्थ–शिर मुख आदि मे उत्पन्न हुए तिल आदि चिह्नो से किसी स्थान को उद्देशकर लाभ–अलाभ आदि का जानना, व्यंजन निमित्त श्रुतज्ञान है। **लक्षण निमित्त श्रुतज्ञान–**

श्रीवृक्षस्वस्तिकाद्यष्ट, शतांगगतलक्षणै ।

भोगैश्वर्यादिसम्प्राप्ति , कथन लक्षणं मतम् ।।१८८।। (उत्तर पुराण पर्व ६२)

श्रीवृक्ष, साथिया आदि जो एक सौ आठ लक्षण होते है उन्हे देखकर भोग, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति कहना, लक्षण निमित्त श्रुतज्ञान है। **—छिन्न निमित्त श्रुतज्ञान—**

देवमानुषरक्षो, विभागैर्वस्त्रायुधादिषु ।

मुसकाछिकृतच्छेदै , छिन्न तत्फलभाषणम् ।। १८९ ।। (उत्तर पुराण पर्व ६२)

अर्थ—वस्त्र और आयुध आदि मे जो चूहे आदि के द्वारा छिद्र कर दिये जाते है वे देव राक्षस और मनुष्य भेद से तीन प्रकार के होते है। उनको देखकर जो शुभ एव अशुभ फल कहा जाता है उसे छिन्न निमित्त श्रुतज्ञान कहते है। **—स्वप्न निमित्त श्रुतज्ञान—**

शुभाशुभविभागोक्त, स्वप्नसदर्शनान्नृणां ।

स्वप्ना वृद्धिविनाशादि, याथात्म्यकथन मत ।।१९०।। [उत्तर पुराण पर्व६२]

अर्थ—शुभ और अशुभ स्वप्नो के देखने वृद्धि एव विनाशादि का ठीक-ठीक कथन करना स्वप्न निमित्त श्रुतज्ञान कहलाता है। एकदिन निमित्तज्ञान दिवाकर यह श्रीभद्रवाहु स्वामी अनेक जिन मन्दिरो से शोभायमान जिन धर्म वत्सल श्रावक और श्राविकाओ से विभूषित धर्म और दान मे रत प्राणियो से रमणीक अवन्ती देश मे पधारे। उस समय वहा पर महामनोज्ञ चन्द्रोज्ज्वल यश से शोभायमान जिन पूजा परायण प्रतापसे जाज्वल्यमान नीतिज्ञ और परम शूर [द्वितीय] चन्द्रगुप्त नाम का राजा प्रजा का राजा प्रजा का शासन करता था। उसके चन्द्र ज्योत्स्ना के समान रूप लावण्यादि से रमणीक चन्द्रश्री नाम की पटरानी थी। इस रानी की कुक्षि से बिन्दुसार नाम के राजकुमार का जन्म हुआ था। एक समय राजा चन्द्रगुप्त ने रात्रि के पिछले प्रहर मे निम्न लिखित १६ सोलह स्वप्न देखे और उनके शुभाशुभ फल की जिज्ञासा वे भद्रवाहु स्वामी [जो निमित्त ज्ञान के अद्वितीय ज्ञाता थे] के पास गये और प्रार्थना की महाराज ! मैंने रात्रि के पिछले प्रहर मे जो १६ सोलह स्वप्न देखे है उनका फल कृपा करके बतलाइये श्री भद्रवाहु स्वामी निम्न लिखित स्वप्नो का क्रम से फल वर्णन करने लगे—

१ कल्प वृक्ष की डाली टूटी हुई देखी। फल–क्षत्रिय मुनिव्रत नही लेवेगे। २ सूर्य

ग्रस्त होते देखा। फल–मुनियो को द्वादशाग का ज्ञान नहीं होगा। ३ देवो के विमान पीछे लौटते देखे। फल-इस क्षेत्र मे चारण मुनि विद्याधर और देव अब नही आवेगे। ४ बारह फणो वाला सर्प देखा। फल–बारह वर्ष का महा दुष्काल पडेगा। ५ छिद्र वाला चन्द्रमा देखा। फल-जैन धर्म मे अनेक सम्प्रदाय होगे। ६ दो श्यामवर्ण के हाथियो को लडते देखा। फल–समय पर वर्षा नही होगी। ७ खद्योत (आगिया) को चमकते देखा। फल–जैन धर्म का सम्यक् प्रकार से विस्तार नही होगा, किसी २ समय पर किसी देश मे या किसी २ जाति मे प्रचार रहेगा। ८ एक बडा भारी सरोवर देखा परन्तु उसके एक भाग मे जल भरा था और शेष सूखा था। फल-जैन तीर्थों मे श्रावको का अभाव रहेगा। ९ हाथी पर बन्दर बैठा देखा। फल- शूद्रो मे राज्य सम्पदा होगी। १० सोने के थाल मे कुत्ते को खीर खाते देखा। फल-विशेषत लक्ष्मी का निवास नीच जाति मे रहेगा। ११ राज पुत्रो को ऊटो पर सवार होते देखा। फल—राजा मिथ्यात्व मत के उपासक और जैन मत के द्वेषी होगे। १२ घूरे मे खिला कमल देखा। फल—वैश्य जैन धर्मानुयायी होंगे। १३ सागर को मर्यादा रहित देखा। फल—राजा लोग नीतिमार्ग का लघन कर अन्याय करेगे। १४ बडे रथ मे छोटे बच्चे जुते देखे। फल–मनुष्य बालक अवस्था मे धर्म साधन करेगे, वृद्धावस्था मे छोड देवेगे। १५ रत्नो की राशि पर धूल चढी देखी। फल–सयमी जहा एकत्रित होवेगे वहाँ ही कलह और अनर्थ करेगे एव परस्पर मिलकर न रह सकेगे। १६ यक्ष और भूत नाचते देखे। फल–लोग जिनेन्द्र भगवान् की पूजा नही करेगे किन्तु कुदेवो की भक्ति और पूजा करके यक्ष पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि को मनावेगे।

राजा चन्द्रगुप्त ने श्री भद्रबाहु से इस प्रकार स्वप्नो का फल सुनकर अपने पुत्रो को राज्यभार देकर दिगम्बर साधु की दीक्षा ग्रहण करली और आत्मविशुद्धि तथा धर्म साधन करने लगे तथा स्वामी भद्रबाहु के पास रहने लगे। अनतर एक दिन श्रीभद्रबाहु स्वामी आहारार्थ नगर मे पधारे, वहा पर जिनदास सेठ ने स्वामी का पडगाहन किया और उच्चासन दिया, उनके घर मे एक ६० दिन का बालक पालने मे झूल रहा था। वह अपनी वाणी से बोला जाओ जाओ जाओ। यह आवाज बालक की मुनिराज ने सुनी और आश्चर्य युक्त होकर पूछा कि हे बालक! कहो कितने वर्ष तक? तब बालक ने उत्तर दिया कि बारह वर्ष तक। उधर राजा चद्रगुप्त ने भी बारह वर्ष के अकाल का सूचक बारह फण का सर्प देखा था अत मुनिराज ने पूर्ण रूपसे निश्चय कर लिया कि यहा पर अब रहना ठीक नही है क्योकि यहा अब बारह वर्ष का अकाल पडेगा। इस प्रकार की दुर्घटना को समझ आहार मे अतराय हो जाने के कारण वे वनमे चले गये। उनने २४००० चौबीस हजार मुनि जो उनके साथ थे उन सब को बुलाकर कहा कि यहा पर अब रहना ठीक नही

है, क्योकि यहा बारहवर्षी अकाल पडने वाला है । उस अकाल के कारण तप और सयम के नाश होने की सभावना है । अत इस देश मे साधुओ का रहना उचित नही है । अन्यत्र चलनाही समुचित रहेगा । मुनि श्री भद्रबाहु स्वामी जो सघ के सर्वोच्च आचार्य थे उनके आदेश को मुनि चन्द्रगुप्त तथा अन्य सब मुनियो ने स्वीकार कर लिया और अन्यत्र चलने को तैयार होगये । अनन्तर मुनि सघ का कर्णाटक देश की ओर विहार होने वाला है, यह समाचार नगर के प्रधान सेठ कुबेरमित्र, जिनदत्त, और विन्दुदत्त आदि ने सुना तो श्री भद्रबाहु के समीप आये । मुनिराज ने जो बात उन्हे निमित्त ज्ञान से प्रतीत हुई थी उसको बताकर उनको शान्त करदिया और वे चलेगये । अनन्तर वे सेठ दूसरे साधुओ के पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन्! हमारे पास इतना अन्न हैकि यदि सौ वर्ष तक का भी दुष्काल हो जावे तो भी वह अन्न समाप्त नही होगा, अत आप विहार न करे । इस प्रकार से उनके प्रार्थना करने पर शामल्याचार्य और स्थूलाचार्य ने भाग्य वश वहा ही रहना स्वीकार कर लिया और उपरान्त १२००० मुनि उज्जैन मे ही रहे । शेष १२००० (बारह हजार) मुनियो सहित श्री भद्रबाहु स्वामी ने कर्णाटक देश की तरफ विहार कर दिया । तदनन्तर विहार करते२ स्वामी एक गहन वन मे पहु'चे, वहा उन्होने आश्चर्यकारिणी एक आकाशवाणी सुनी । उससे अपनी आयु का अन्त समीप जानकर सब मुनियो से कहा कि मेरी आयु का अन्त समीप आगया है । अत आप लोग आज से विशाखाचार्य के आदेश मे रहो। मै इनको अपने पदपर नियुक्त करता हूँ और मै यहा वन ही मे रहता हू तब मुनि सघ ने स्वामीजो की आज्ञानुसार विशाखाचार्य को सब गुणोसे योग्य समझकर अपना आचार्य स्वीकारकरलिया और वह शेप मुनि सघ उनके साथ कर्णाटक देश को चला गया केवल मुनि चन्द्रगुप्त उनकी सेवा में वनमे रहे। अनन्तर श्री विशाखाचार्य आदि तो मार्ग मे ईर्यासमिति से विहार करते २ भव्यजीवो का कल्याण करते हुए चोल देश मे पहु च गये । इसकेबाद यहा जो वृत्तात हुआवह नीचे लिखा जाता है । उस गहन वन मे विशुद्धात्मा योगेश श्री भद्रबाहु स्वामी ने मन वचन और काय की प्रवृत्ति रोककर सल्लेखना विधि धारण करना समुचित समझा । परिचर्या के लिये नवदीक्षित चन्द्रगुप्त ही थे । मुनि चन्द्रगुप्त ने वन मे श्रावको के अभाव होने के कारण उपवास करना प्रारम्भ कर दिया । यह देखकर भद्रबाहु स्वामी ने चन्द्रगुप्त से कहा कि हे वत्स! निराहार रहना ठीक नही हैं । इसलिए तुम आहार के लिये वन मे ही जावो क्योकि जैन सिद्धान्त की ऐसी आज्ञा है कि समय पर साधु को चर्या के लिये जाना चाहिये जिससे प्रतिदिन उपवास न हो । अनन्तर चन्द्रगुप्त मुनि गुरु की आज्ञानुसार गोचरी के लिये जगल मे जाने लगे । एक दिन उसी वन मे एक वन देवी ने एक वृक्ष के नीचे उत्तम २ पदार्थो से भरी हुई एक थाली मुनिराज को दिखाई । चन्द्रगुप्त मुनि

को विना मनुष्य सचार के और विना दाता के उस भक्ष्य पदार्थो से भरी थाली को देख कर प्रथम बडा आश्चर्य हुआ और फिर दाता के विना ग्रहण करना मुनि धर्म से प्रति कूल है ऐसा विचार कर विना आहार ग्रहण किये गुरुजी के पास चले आये और सर्व वृत्तान्त सुनाया, उन्होने मुनि धर्म से प्रतिकूल है ऐसा विचार कर विना आहार ग्रहण किये गुरुजी केपास चले आये और सर्व वृत्तान्त सुनाया, उन्होने मुनिधर्म प्रतिकूल आहार न लेने केकारण उनकी मुनि धर्म मे दृढता देखकर बहुत प्रशंसा की अनन्तर इसी प्रकार जब दो तीन दिन व्यतीत होगये परन्तु मुनि मार्ग से प्रतिकूल उन्होने आहार नही लिया तो उस वनदेवी ने श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर उसी वनमे एक धन से परिपूर्ण नगर बसाया चौथे दिन मुनि चद्रगुप्त ने उस नगर को देखा और वहा पर श्रद्धा युक्त नवधा भक्ति एव विधि पूर्वक दिया हुआ आहार गहरण किया और गुरुजी के पास जाने पर उन्होने जब पूछा कि आज तुम्हारा अन्तराय रहित पारणा हो गया तब उन्होने कहा कि नगर मे अन्तराय रहित पारणा हो गया। स्वामी भद्रबाहु ने उनकी इस दृढता की बहुत प्रशसा की और मुनि चन्द्रगुप्त उसी नगर मे आहार लेते रहे तथा स्वामी भद्रबाहु की सेवा करते रहे। अनन्तर स्वामी भद्रबाहु सप्त भयो से रहित क्षुधा तृषा आदि अनेक उपद्रवो को जीत कर चार आराधना के धारक होकर समाधि पूर्वक इस अविनश्वर शरीर को छोडकर स्वर्ग मे देव हुए। ससार मे गुरु भक्ति से बढकर कोई वस्तु नही है। गुरु-भक्ति की बडी महिमा है। कहा भी है—

"सम्यक्त्वो कोढी भलो जा के देह न चाम, विना देव गुरु भक्ति के स्वर्ण देह निष्काम।।"

आगे जो मुनिराज भद्रबाहु की आज्ञा का उल्लघन कर जिनदत्तादि श्रेष्ठियो की प्रार्थना पर रामल्याचार्य एव स्थूल भद्राचार्य के साथ उज्जैन ठहर गये थे उसका वृत्तान्त वर्णन किया जाता है। स्वामी भद्रबाहु के दक्षिण की तरफ विहार करने के बाद अवन्ती देश मे भीषण अकाल पडा। एक २ ग्रास भोजन के लिये मनुष्य दूसरे के प्राणो को अप-हरण करने पर उतारु हो गये यहा तक कि माता भी भूख से पीडित होकर पुत्र का भक्षण करने लग गई। ऐसी कठिन परिस्थिति मे मुनियो को आहार प्राप्त करने की तथा श्रावकों को आहार दान देने की बडी भारी असुविधा हो गई। एक समय रामल्याचार्य आदि मुनि-राज आहार लेकर वापिस वन को जा रहे थे। उनमे से एक मुनि पीछे रह गया उनका भरा हुआ उदर देख कर क्रूरबुभुक्षित जन समुदाय उनके पीछे पड़ गया और उनका पेट चीरकर अन्न निकाल कर खा गया। इसी प्रकार और भी बहुत सी भयकर घटनाओ की सभावना समझकर श्रावको ने जाकर मुनियो से प्रार्थना की कि हे भगवन्! यह समय बड़ा भयकर है भीषण अकाल पड़ रहा है अत आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार करके नगर मे रहो जिससे धर्म पूर्ण रूप से पालन किया जा सके। आप शुद्ध ज्ञान के धारक निर्ममत्व

साधु है। आप को जैसा ही वन और नगर वैसा ही श्मशान, सभी सामान्य है। अनन्तर देश काल की परिस्थिति पर विचार मुनि सघ ने उनकी शहर मे रहने की प्रार्थना स्वीकार करली और गृहस्थ वडे उत्सव के साथ उनको नगर मे ले गये। अनन्तर जब नगर मे भी साधु चर्या को जाते थे उस समय भूखे अकाल से पीडित पुरुष उनके पीछे लग जाते थे और "हम बहुत भूखे है मर रहे है हम पर दया करो" आदि करुणा पूर्ण शब्दो द्वारा आर्तनाद करते थे साधु लोग इन लोगो की रुकावट से आहार को नही जा सकते थे। यदि किसी गृहस्थ के यहा साधु पहु च भी जातेथे वहा बुभुक्षित प्राणियो के सवाद से गृहस्थ दाताओ के दर्वाजे बद पाये जाते थे। मुनि अन्तराय समझ कर वापिस लौट आते थे। ऐसी परि-स्थिति देखकर गृहस्थो ने मुनि सघ से पुन प्रार्थना की हे भगवन्! इस भयकर समय मे बुभुक्षितो के भय मे हम भोजन दिन मे नही बना सकते है अत आप रात्रि को भोजन ले आया करे और अपने स्थान पर भोजन कर लिया करे। इस कराल काल के व्यतीत होने पर फिर उसी प्रकार की क्रिया कर लिया करना। मुनियो ने इस बात को भी स्वीकार कर लिया और तूम्बे के पात्र तथा कुत्तो को ताडने आदि के लिये एक हाथ मे दण्ड भी रखना प्रारम्भ कर दिया। अनन्तर मुनि लोग गृहस्थो के घरो से आहार ले आया करते थे और घर के द्वार बन्द करके खिडकियो मे बैठकर खा लिया करते थे। इसके बाद एक समय एक क्षीण नग्न दिगम्बर साधु भोजन लेने को गया उसको देखकर यशोभद्र सेठ की सेठानी डर कर गिर पडी, जिससे उसका गर्भ पात हो गया और उससे घर मे हा हा कार मच गया। मुनि उसी समय लौट आये। अनन्तर सब श्रावक एकत्रित होकर मुनि सघ के पास आये और प्रार्थना करने लगे कि हे प्रभो! विनय के साथ निवेदन है कि आप कृपा करके जब तक इस दुर्भिक्ष का कोप है शरीर को आच्छादन करने के लिये एक २ कम्बल और धारण कर लीजिये जिससे स्त्रिया तथा बालक न डरे एव धर्म की साधना भी बनी रहे। मुनि सघ ने उनकी इस प्रार्थना को भी स्वीकार कर लिया और भी इसी प्रकार शनै २ शिथिलाचार बढता चला गया तथा साधु लोग क्रियाओ से भ्रष्ट हो गये। काल की करालता क्या २ नही करा लेती। जब दुष्काल के बारह वर्ष का समय व्यतीत हो गया बडे जोर से वर्षा हुई। सब लोग सुखी हुवे। देश मे सुभिक्ष हो गया। तब श्री विशाखा-चार्य कर्नाटक देश से विहार करते २ उत्तर प्रान्त मे आगये और स्वामी भद्रबाहु के समाधि स्थान के पास ठहरे। वहा पर स्वामीजी की समाधि एव चरण पादुका बनी हुई थी उनको नमस्कार किया। उस समय वहा चन्द्रगुप्त मुनि थे उन्होने श्री विशाखाचार्य को नमस्कार किया। किन्तु विशाखाचार्य ने प्रत्युत्तर नही दिया कारण कि उनको इस बात का सदेह हो गया कि यहा पर श्रावक तो है ही नही फिर इसने आहार कैसे किया होगा

अत: यह अवश्य चारित्र भ्रष्ट हो गया होगा यह समझकर प्रतिबन्दना भी नही की ।

अनन्तर मुनि चन्द्रगुप्त ने उस समीपवर्ती नगर मे भोजन के लिये श्री आचार्य महाराज विशाखाचार्य से विशेष आग्रह और प्रार्थना की तब सत्र मुनि वहा आहारार्थ गये वहा पर एक वृद्ध ब्रह्मचारी किसी गृहस्थ के घर कमन्डल भूल आया । याद आने पर जब लेने गया तो वहा एक वृक्ष की डाली पर वह कमण्डल मिला । नगर आदि की सब रचना विनस गई । तब समाचार स्वामी विशाखाचार्य से कहा सब वृतान्त का पता लगने पर चन्द्रगुप्त सहित सब मनुष्यो ने प्रायश्चित्त किया और अवंतीदेश की तरफ विहार कर उज्जैनी शहर मे पहुचे । इसके बाद मुनि श्री विशाखाचार्य को मुनि संघ सहित कर्णाटक देश से आया जान कर रामाल्या तथा स्थूलभद्राचार्य ने अपने शिष्य इनके पास भेजे । उन्होने स्वामी विशाखाचार्य को वदना की, किन्तु मुनि श्री विशाखाचार्य ने उनका वेष आदि विरुद्ध देख कर प्रतिवदना नही की और पूछा कि आप लोगो ने यह क्या स्वरूप बना लिया है? आपको प्रायश्चित्त लेकर अपना पुरातन वेष ही स्वीकृत कर लेना समुचित है । तब शास्त्रोक्त दण्ड ले कर अनेक साधुओ ने पुरातन वेष ही ग्रहण कर लिया किन्तु थोडे से साधुओ ने दिगम्बर मुद्रा की कठिनता समझ कर उस नवीन वेष को ही अपनाये रक्खा । उन्हे ज्यो २ समझाया गया त्यो २ उनकी कषाय बढने लगी, यहा तक कि कुछ शिष्यो ने स्थूल भद्र को खूब मारा और वे आर्त्त परिणाम से मर कर व्यन्तर देव हुए और अपने शिष्यो को अनेक उपद्रवो द्वारा व्याकुल कर दिया । तब उन्होने इनकी हड्डियो को इष्ट देव बनाकर पूजना प्रारम्भ कर दिया और उनकी हड्डियो को गले मे लटका कर उपदेश दिया कि मुर्दे की हड्डियो को तीर्थों मे भेजा करो, जिससे अपने पूर्वजो को सुख और शान्ति प्राप्त हो । आज तक भी कई श्रावक हड्डियो को कुल देव के नाम से पूजते है और उन्हे गहाजी कहते है । यही स्थूल भद्राचार्य व्यन्तर देवकी पूजा है । इस प्रकार पूजा करने से यह देव शान्त हो गया और इन लोगो ने कम्बल दण्ड और पात्र रखना प्रारम्भ कर दिया । इनका नाम अर्ध-फालक था । इन्होने जिनेन्द्र भगवान् के वास्तविक सूत्रो से विपरीत कल्पना करके अनेक सूत्र बनाये मिथ्या कल्पना करके व्रती और योगी बने । दिगम्बर मत से मुख मोड लिया । सिद्धान्त विरुद्ध अनेक ग्रथ रचकर अपने सम्प्रदाय की पुष्टि की और निम्न लिखित आशय वाली बातो का निम्न प्ररूपण करने लगे ।

१ भगवान् महावीर का गर्भ हरण हुआ । २ केवली भगवान् समवसरण मे साधुओ का लाया हुआ भोजन करते है कवलाहारी है । ३. भगवान् ऋषभदेवने एक जुग लिया की स्त्री को अपनी रानी बनाया । ४ भरत चक्रवर्ती ने अपनी वहिन सुन्दरी को अपनी रानी बनाने के लिये कितने ही दिन तक दीक्षा नही लेनेदी ५ साधुओ के २७मूलगुण

और महाव्रत पालना चाहिए। सर्व परिग्रह का त्याग कर ४ उपकरण रखना सो परिग्रह नही है। ६. रज· स्वला स्त्री को धर्म से हानि नही यह तो कुल वर्द्धक बात है। ७ साधु देव धर्म और गुरु का उपसर्ग-दूर करे और चक्रवर्ती के कटक को हणे तो पाप नही है। ८ साधु १२ जाति की गोचरी ले सकता है। ९. साधु के पात्र मे दातार देवे वह भोजन साधु कर लेवे। साधु को मास खाने की इच्छा हो तो माग सकता है। अगर उसमे हड्डी आजावे तो निकाल लेवे। १० शूद्रो और स्त्रियो को भी मोक्ष हो सकता है। ११ विना सयम लिये भी केवल ज्ञान हो सकता है, जैसे मरुदेवी माता को हुआ था। १२ जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक पञ्चामृत से करना और आभूपण पहराना वतलाया है और अगी करना केशर पुष्प लगाना आदि। १३. रात्रि मे पूजन और अभिषेक एव रोशनी आदि भी करना शास्त्र सम्मत है। इस प्रकार की अनेक स्वार्थ प्रधान बाते लिखकर ११ अग और चौदह पूर्व के नाम से नये ग्रथ बनाये। और महावीर भगवान् ने गौतम स्वामी से इस प्रकार फरमाया आदि लिखकर विशेष प्रमाणता दिखलाई। जिस समय इस अर्ध फालक का प्रचार एव उत्पत्ति हुई थी उस समय मालवा प्रान्त की उज्जैन नगरी मे चन्द्रकीति नाम का राजा राज्य करता था। उसके चन्द्र श्री नाम की पटरानी थी। उस रानी की कुक्षिसे एक चन्द्रलेखा नाम की बुद्धिमति सुशीला एव अत्यन्त सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई थी। वह कन्या उज्जैन मे अर्धफालक मत के सचालक साधुओ से अध्ययन करती थी और उन्ही मे इसकी बडी भारी भक्ति एव श्रद्धा थी कुछ दिन वाद जब यह विवाह योग्य हो गई तो इसका विवाह वल्लभी पुर के राजा प्रजा पाल के लडके लोकपाल के साथ हो गया। एक समय रानी चन्द्रलेखा ने अपने पति राजा लोकपाल से अपने गुरुओ की बहुत प्रशसा की और उनको अपने देश में बुलवाने के लिए प्रार्थना की। अनन्तर राजा ने राजद्वार की तरफ से अर्ध पालक महापुरुषो को बुलवाने के लिये बहुत से आदमी भेजे और वे अत्यन्त आग्रहपूर्वक उनको सोरठ देश की तरफ ले आये। जब रानी को पता लगा कि मेरे गुरु आ गये, तव राजा को बड़े ठाठ से उनके लेने के लिये भेजा। राजा जव उनकी अगवानी के लिये गये और उनकी नग्न अवस्था न देखकर एव कबलादि देखे तो बहुत नाराज हुवे और कहने लगे कि यह पाखड कैसा है ? इन्होने दिगम्बर अवस्था छोडकर कपडे क्यो धारण कर रखे है। रानी वडी चतुर थी। राजा के भाव को तुरन्त समझ गई और एकान्त मे लेजाकर राजा को समझाया एवं चतुरता से कार्य लिया कि राजा उनको अगवानी करने के लिये समुद्यत होगये एव उनको महोत्सव सहित नगर मे ले आये। ससार मे स्त्री के वशीभूत पुरुष क्या २ नही करते ? सब कुछ कर बैठते है।

अनन्तर रानी ने वडे आग्रह पूर्वक उन्होने वस्त्र तथा पात्र आदि दिये जिससे

उन्होने स्वीकार कर लिया। जिस समय अर्धपालक मत निकला था उस समय विक्रम स० ११५ था और जब यह सघ वल्लभीपुर गया और यहा कपडे धारण करने के कारण श्वेताम्बर कहलाने लगा उस समय वि० स० १३६ और वीर निर्वाण स० ६८६ था। आजकल यही अर्धफालक मतानुयायी श्वेताम्बर कहलाते है और इस सम्प्रदाय के साधु १४ चौदह उपकरण रखते है। (भद्रबाहु चरित्र से उद्धृत) दिगम्बर सम्प्रदाय मे जो पंचामृताभिषेक की प्रथा चली है। वह वि० स० १३६ के बाद अर्थात् वीर निर्वाण स० ६८६ से श्वेताम्बर सम्प्रदाय से ही आई है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे एक "पउमचरिअ" नामक ग्रन्थ मे पञ्चामृताभिषेक का कथन मिलता है। उसकी रचना का समय वीर निर्वाण स० ५३० और वि०सं० ६० का बतलाते है। यह कथन यथार्थ प्रतीत नही होता।

दिगम्बर सम्प्रदाय के भोले जीवो ने 'पउम चरिअ' को वि० स० ६० की रचना तथा स्वसम्प्रदाय का ग्रन्थ मानकर अपना लिया है एव भगवान् के चरणो के ऊपर केशर तथा पुष्प चढाने लगे है तथा पचामृताभिषेक करने लग गये है। पंचम काल के कराल कोप से भगवान् को परिग्रह सहित करने की तथा हिसा पोषक एवं हिंसा के कारण भूत पचामृताभिषेक प्रथा शुद्ध दिगम्बरो मे भी हो गई है। यह सब आडम्बर शिथिलाचारी भ्रष्ट पण्डितो से हुआ है।

"पडितैर्भ्रष्टचारित्रै जठरैश्चतपोधनै शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥१॥"

अर्थ–भ्रष्ट पण्डित और साधुओ से जिन शासन मलिन हुआ है। अब हम आगे इस बात को युक्ति पूर्वक तथा इतिहास से सिद्ध करके दिखावेगे कि पंचामृत अभिषेक श्वेताम्बर सम्प्रदाय से आया है और श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगम्बर मत से पीछे का है एवं दिगम्बर सम्प्रदाय के जो वि०स० १३६ से पहले के ग्रन्थ है उनमे पंचामृताभिषेक का विधान नही है। १३६ वि० सं० मे जब श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हो गई थी उसके पीछे से दिगम्बर सम्प्रदाय, मे भी यह पचामृताभिषेक लिख दिया गया है। **–दिगम्बर मत को प्राचीनता–**

"सघ सहित श्री कुन्द कुन्द गुरु वन्दन हेत गये गिरनार।
वाद परचोंतहै सशय मत सो साक्षी भई अम्बिकाकार॥
सत्यपंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर कह्यो सुरी तहै प्रकट पुकार।
सो गुरु देव बसो उर मेरे विघन हरो मगल करतार॥१॥"

एटा निवासी श्री कामताप्रसादजी के लेखानुसार एक समय निम्न लिखित सख्या में दिगम्बर संघ तीर्थ राज गिरनार की बन्दनार्थ गया था। उसमे ५९४ दिगम्बर साधु थे, ६४२ आर्यिकाये थी, ८३१श्रावक तथा १२७२ श्राविकाये तथा सेवक आदि थे। उन्ही दिनो मे श्वेताबर सम्प्रदाय का भी एक बडा भारी सघ तीर्थ राज गिरिनार की वदनार्थ

गया था । पर्वतराज की वन्दनार्थ दोनो संघ एक साथ ही पहुंचे थे । दोनों में परस्पर यह विवाद हो गया कि जो सम्प्रदाय प्राचीन होगा उसकाही संघ प्रथम वन्दना करेगा और इसका निर्णय पर्वत पर जो अम्बिका देवी है उसके द्वारा होगा । उस अम्बिका देवी मूर्त्ति से बुलवाने का काम दि० सम्प्रदाय के मुनि कुन्द कुन्द ने अपने हाथ में लिया और पाषाणकी मूर्ति की पीठ पर हाथ रखकर कहा कि दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों में प्राचीन मत कौनसा है? तब उस पाषाण की मूर्त्ति मे से शब्द हुआ कि आदि दिगम्बर ही है । निर्णयानुकूल दिगम्बरो ने तीर्थ राज की प्रथम बंदना की थी । प्रथम मुनि कुन्द कुन्द का इतिहास हम ऊपर लिख चुके है । यहा पर दूसरे कुन्दकुन्द का कथन करते है । द्वितीय श्री मुनि कुन्द कुन्द का समय वि० स० २२५ से पीछे वीर नि० स० ७७५था । वर्तमान समय मे कोटा रियासत के अतर्गत (हाडौती राज्य) वारा स्टेशन है । वहा पर पूर्व की ओर किशनगंज रोड़ है । वहा पर एक नशियाजी अभी तक बनी हुई है । जिसमे उन स्वामी कुन्द कुन्द मुनि का समाधि स्थान बना हुआ है । उस समय इस नगर के राजा कुमुदचन्द्रजी थे और नगर सेठ कुन्दजी थे । उनकी सेठानी का नाम कुन्दलता था । उनके सुपुत्र का नाम कुन्दकुन्द था । इनको पुण्योदय से बाल्यावस्था मे मुनियो का सम्बन्ध होने से सयम धारण की रुचि हो गई थी और फिर इन्होने लघु अवस्था मे ही मुनि पद धारण कर लिया था । अनेक देशो मे विहार करते२आपकी तीर्थ राज गिरनार के वदनार्थ इच्छा हुई तथा वन्दना को गये थे। ये कुन्द-कुन्द मुनि विदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी के दर्शनार्थ जाने वाले नही थे उनसे पृथक् थे ।

द्राविड संघ की उत्पत्ति—अनन्तर विक्रम सं० ५२६ मे स्वामी देव नन्दी के एक शिष्य पूज्य पादाचार्य थे । जिनका दूसरा नाम वज्रनन्दी भी था । आप महाप्राभृतो के पाठी थे। आपने हठात् समाधि ली, आयु के शेष से मरण नही हुआ फिर भ्रष्ट हो गये । कोई प्रायश्चित्त भी नही लिया। शास्त्रज्ञ और तपस्वी होकर भी आगम विरुद्ध कार्य करने लगे । नये २ प्रायश्चित्त प्ररूपक तथा अन्यान्य ग्रथ बनाये और अपने संघ का द्राविड सघ नाम रखा । द्राविड़ सघमतानुयायियो ने पार्श्वनाथ स्वामी की सर्पफणा वाली प्रतिमा मानी तथा कुछ समय के लिये प्रतिमा को वस्त्राभरण धारण करना भी प्रतिपादन किया । साधु खेती कर सकते हैं, कच्चा पानी काम मे ला सकते है । ऐसा बतलाया । प्रासुक और अप्रासुक विभाग का लोप कर दिया और कहा; न तो बीज मे जीव और न बीज योनि भूत ही है । मुनियो को बैठकर आहार लेने का तथा वसतिका बनवाने का निरूपण किया । इसके उपरात यह भी कहा कि साधु वसतिका आदि को काम मे भी ला सकता है ।

यापनीय संघ की उत्पत्ति–अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शुक्लाचार्य थे । उनका एक श्रीकलश नाम का शिष्य था । वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय को छोड़कर दिगम्बर सम्प्रदाय मे

श्रा गया। और उसने वि० सं० ७०५ में और एक नया सम्प्रदाय एवं संघ निकाला जिसका नाम यापनीय संघ रखा। इन्होने भगवान् को मुकुट कुण्डल और गले मे हार पहराने तक का रात्रि मे पूजन, पचामृताभिषेक, केशर पुष्प और दाल भात चढाने तक का प्रतिपादन किया

काष्ठा संघ की उत्पत्ति–इस सघ के पश्चात् वि० स० ७५३ मे काष्ठा सघ की उत्पत्ति हुई। और भगवान् कुन्द कुन्द के समय के पश्चात् इस संघ के कई साधु महा शक्तिशाली प्राभृतो के पाठी और आत्मज्ञानी हुए। अन्तिम समय मे श्री मुनिवीरसेन तथा वैसे ही उनके शिष्य जिनसेन आचार्य हुए। ये अनेक शास्त्रो के ज्ञाता और(सेन-देव-सिह और नन्दी) चारो संघो के उद्धार करने मे समर्थ हुए। इनके पश्चात् विशेषज्ञ विनय सेन मुनि हुए। इनके गुण भद्र और कुमारसेन नाम के दो शिष्य हुए। उन्होने गुरु आज्ञा से विमुख होकर सन्यास लेलिया और भ्रष्ट हो गये। गुरुजी भी नन्दी तट गाव मे विद्यमान थे, अत अपने मनोनुकूल ग्रन्थो की रचना की एवं तदनुकूल उपदेश दिया। उनने सबसे प्रथम देव पूजन की प्ररूपणा की। वहा पर प्रतिमा न थी, अत पूजन किस की हो सकती थी। विना प्रतिमा कार्य नही चल सकता था। पाषाण की प्रतिमा देर में बनती। अत उत्तम काष्ठ की प्रतिमा बनवाई और कहा कि बिना पूजन तथा दान के श्रावक नही हो सकता। जैसे कहा भी है–

"दाण पूजा मुक्ख, सावय धम्मेण सावया तेण विणा।
झाणज्झयण मुक्ख, जइ धम्मे तं विणा तहा सोबि ॥११॥
जिणपूजा मुणिदाणं, करेइ जो देह सत्ति रूवेण।
सम्माइट्ठी सावय, धम्मी सो होइ मोक्खमग्गखो ॥१२॥" (रयणसार)

तात्पर्य–श्रावक के लिये दान देना तथा पूजा करना मुख्य कर्तव्य है। विना पूजा और दान के श्रावक धर्म नही होता है। जो अपनी शक्ति के अनुसार जिन भगवान् की पूजा तथा मुनि के लिये आहारदान करता है वह ही सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्ष मार्ग मे लगा हुआ है। अनन्तर उस काष्ठ की प्रतिमा की वडे उत्सव एव समारोह के साथ प्रतिष्ठापना और पूजा कराई। उस दिन से श्रावक और श्राविकाये धर्म साधन करने लग गये। और जल से अभिषेक होता ही था सो करने लग गये। — **काष्ठा संघ में पचामृताभिषेक** — अनन्तर जल से अभिषेक होने के कारण वह काष्ठ की प्रतिमा फटने लगी। तब श्रावको ने जाकर उन मुनि राजा से कहा कि अब क्या करे। उन्होने कहा कि प्रतिमा फटने से तो अविनय होता है। तुम प्रथम प्रतिमा का जल से अभिषेक मत करो, प्रथम ही दुग्ध, दही, घृत, इक्षुरस और सर्वौषधि से श्री जी का अभिषेक करो। इस से किसी प्रकार की न तो अशुद्धता ही आवेगी और न मूर्ति ही फटेगी। बाद मे जल से अभिषेक करो। मगर यह पंचामृताभिषेक भी तब तक करना जब तक धातु पाषाण की दूसरी प्रतिमा तय्यार न हो

जावे । जब दूसरी प्रतिमा तय्यार हो जावे तब सब इन प्रपचो को छोड कर भगवान् का अभिषेक केवल शुद्ध जल से ही करना । अब वह पचामृताभिषेक अनेक जगह रूढि में आ गया (यह कथन नागौर के भडार की पट्टावली से लिखा है) प्रश्न–पं० पन्नालालजी सोनी ने काष्ठासघ की उत्पत्ति ७५३ मे बतलाकर तथा ७३३ वि० स० के काष्ठासघ से पहले रविषेणाचार्य के पद्म पुराण से पचामृताभिषेक का विधान बतला कर यह सिद्ध किया है कि यह पचामृताभिषेक मूल सघ आम्नाय का है । क्योकि पद्म पुराण काष्ठासघोत्पत्ति से प्रथम का है और उसमे भी पचामृताभिषेक का विधान है उनका यह कहना क्या ठीक है ? **उत्तर**–यह युक्ति प० पन्नालालजी की जब ठीक हो सकती थी । जबकि काष्ठासघ से पूर्व मूल संघ ही होता और बीच मे कोई शिथिलाचारी तथा पचामृताभिषेक के विधान करने वाले सघ न हुए होते ? स० १३६ के बाद बीच मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्राविड तथा यापनीय आदि सघ पचामृताभिषेक विधान करने वाले हो चुके है, अत' यह पचामृताभिषेक मूल सघ आम्नाय का कैसे मान लिया जावे ? ये तो मूल सघ आम्नाय से उत्तर के सघ है । उससे यह पचामृताभिपेक मूल सघ आम्नाय का नही हो सकता ।

वि० स० ८३४ के, पुन्नाट सघी आचार्य श्री जिनसेन ने भी काष्ठा सघ आम्नाय की पुष्टी करते हुए हरिवश पुराण मे पचामृताभिषेक का खूब प्रतिपादन किया है । यह तथा इन के समान अन्य अमितगति आदि आचार्य भी काष्ठासघ के पोषक होते हुए भी अपने को मूलसघ का प्रतिपादन करते है । वास्तव मे ये काष्ठा सघी है । क्योकि अनेक स्थलो मे इन ग्रन्थो मे मूलसघ आम्नाय से विरोध मिलता है । जैसे १०–११–१२ शताब्दी के आचार्यो मे माथुर सघ के अमितगति आचार्य के सुभाषित रत्न सदोह मे मुनियो के आचरण मे मूल सघ की अपेक्षा अत्यन्त विरोध है । इन्होने अपने को मूल सघ का इस कारण बतलाया है कि जिससे इनकी बात सब लोग प्रमाण माने तथा काष्ठा सघ की पुष्टि हो । — **मूलसघ आम्नाय से विपरीत कथन करने वाले ग्रन्थ** — आगे हम ऐसे आचार्यो की नामावली तथा उनके ग्रन्थो की सूची देते है जो कि मूल सघ आम्नाय के मन्तव्य से विरुद्ध कथन भी करने वाले है । हम नही कह सकते कि यह कृति उनकी है या भट्टारको ने क्षेपक रूप से जोड दी है । या ये लोग अपने को मूल सघाम्नाय का बताकर काष्ठासंघ के प्रचारक है —

आचार्य नाम	ग्रन्थनाम	आचार्य नाम	ग्रन्थनाम
१ अमित गति	सुभाषितरत्न सदोह	४ मल्लिषेण	नाग कुमार चरित्र
२. रविषेण	पद्म पुराण	५. सोमदेव	यशस्तिलक चम्पू
३ जिनसेन	हरिवश पुराण	६. वामदेव	भाव संग्रह

आचार्य नाम	ग्रन्थनाम
७. कवि वर्धमान	वराग चरित्र
८ पूज्यपादद्वितीय,	श्रावकाचारपचामृताभिषेक
९. श्रुतसागर भट्टारक,	अनेकग्रन्थोकेटीकाकार
१० द्वितीय देवसेन	
११ काष्ठा सघी अकलक	
१२ गुरुदास	प्रायश्चित्त ग्रन्थ
१३ सकल कीर्ति भट्टारक	श्रीपाल चरित्र
१४ वसुनदीसिद्धात चक्रवर्ति,	श्रावकाचार
१५ श्रुतनन्दी	
१६ नयनन्दी	
१७ पण्डित मेधावी	
१८ द्वितीय उमास्वामी	श्रावकाचार
१९ भट्टारक सोमसेन	त्रिवर्णाचार
२० एक संघी भट्टारक	
२१ प० आशाधरजी	
२२ आचार्य इन्द्रनन्दी	
२३ द्वितीय गुणभद्र	
२४ अभयनन्दि सूरी	
२५ कवि नेमिचन्द्रजी	
२६ सकल भूषण	
२७ प० अभयनन्दी	
२८ पं० भूधरदासजी	चर्चा समाधान
२९ चम्पालाल पाण्डे	चर्चा सागर
३० विद्यानुवाद रचयिता	विद्यानुवाद
३१ कायगूजाकुश	
३२ शुभचन्द्र भट्टारक	
३३ सिहनन्दी आचार्य	
३४ प० अप्पपार्य	
३५ ब्रह्म सूरी	त्रिवर्णाचार
३६ किशनसिह	क्रियाकोप
६७ इन्द्रनन्दी	इन्द्रनन्दी सहिता
३८ तेरह द्वीपविधान कर्त्ता	तेरह द्वीप विधान
३९ प० नेमिचन्द्रजी	प्रतिष्ठापाठ
४० योगीन्द्र सूरि	श्रावक धर्म
४१ प नेमिचन्द्र	सूर्य प्रकाश
४२ मल्लिसेनाचार्य	
४३ सकल कीर्ति भट्टारक	
४४ वामदेव	

इन आचार्यो के अतिरिक्त अनेक उद्भट विद्वान् और भी हुए हैं। उन का नाम यहा नही दिया है। हम को इन से इनके कथन से या इनके ग्रन्थो से किसी प्रकार का द्वेष नही है। परन्तु जो कथन मूल सघ आम्नाय से विरुद्ध पडता है वह मान्य नही होगा। मूल सघाम्नाय अहिसक तथा सचित्त परित्यागी है। और काष्ठासंघी इससे विरुद्ध है। शास्त्रो मे अत एव इन को जैनाभास कहते है। दूषित भावना वाले काष्टासघी आचार्यो ने अपना नाम काष्ठासंघ प्रकट न करके सिहनदी, सेन, देवसघ आदि नाम रख कर प्रकट किया है किन्तु उनके मन्तव्यो द्वारा फिर भी काष्ठासघी पना उनके ग्रन्थो से प्रकट हो जाता है। वह नही छिप सकता। काष्ठासघ आम्नाय का पूर्ण रूप से पोपक बीस पथ है। इसमे किसी प्रकार का अन्तर नही। प्रश्न—जबकि उल्लिखित आचार्य अपने को मूल सघ का आचार्य बतलाते है तो उन्होने काष्ठा सघ का पोषण क्यो किया ?

तथा श्रावको ने उनकी बातों को क्यो स्वीकार किया ? **उत्तर**–ये लोग भट्टारक थे। इनमें अभिमान तथा कषायो की प्रबलता थी। जो इन्होने एक बार मुख से निकाल दिया उसकी ही पुष्टि करते चले गये। धर्म की परवाह एव चिन्ता नही की और अपने पास मन्त्र और यन्त्र आदि का बल तथा विद्या बल था अत. लोगों को मनवा दिया तथा श्रावको को भी उनके अनुकूल करना पडा। — **पंचामृताभिषेक हिंसा मूलक है** — पक्षपात की यहा तक वृद्धि हुई कि धर्म की परम्परा नष्ट होने का कोई ध्यान नही रक्खा गया। अत्यन्त अपवित्र गौ के गोबर से भगवान् की आरती का विधान तथा गौमूत्र तक से प्रतिमा का अभिषेक करने का विधान लिख दिया। विचार करने की बात है अहिंसामृत एव अहिंसा के पूर्ण रूप से पोषक जैन धर्म मे पाच अभिषेक के पदार्थों का विधान कहां तक सगत होगा जिस मे प्रत्यक्ष परिग्रहण की झलक के साथ हिंसा, न केवल स्थावर की, बल्कि उसके सहयोग से इक्षु रस आदि मिष्टान्न के कारण चीटियो आदि जीवो की भी हिंसा होती है। दूध दही घी आदि कभी २ शुद्ध न मिलने पर अमर्यादित तथा बाजारू एव नीचो से स्पृष्ट तक भी काम मे लाये जाते है। यदि वीतराग धर्म मे अभिषेक पंचामृत से मान लिया जावेगा तो सर्वथा अहिंसा तथा निवृत्ति मार्ग का लोप हो जावेगा। अत पचामृताभिषेक वीतरागता, अहिंसा–एव अपरिग्रहत्व का विरोधी धर्म है। विचारशीलो को यह नही करना चाहिये। हमारा तो ध्यान है कि जो अतिशय क्षेत्रो पर प्रथम अतिशय मिलता था उतना अब नही मिलता हैं अतः इसमे वीतराग आम्नाय विरुद्ध पचामृताभिषेक आदि ही कारण है। **प्रश्न**–पंचामृताभिषेक से प्रभावना विशेष होती है और प्रभावना सम्यग्दर्शन के आठ अंगो मे एक अंग गिनाया है और प्रभावना मे हिंसा भी थोडी बहुत होती है, जिस प्रकार पच कल्याणक प्रतिष्ठा आदि मे होती है। अत पचामृताभिषेक मे थोडी बहुत हिंसा भी है तो भी प्रभावना होने के कारण क्यो नही किया जावे ! प्रभावना के वास्ते तो लोग लाखो रुपया खर्चते है। **उत्तर**—जिस प्रभावना के द्वारा पद २ पर हिंसा हो, वीतराग का मार्ग बिगड़े, वीतराग मे भी सरागता होने की सभावना हो जावे, वह प्रभावना नही हो सकती। जो भी कार्य किया जाता है वह कभी उद्देश्य से प्रतिकूल नही होता। वीतराग का निवृत्ति मार्ग है। उसमे रागद्वेष की निवृत्ति तथा परिग्रह की सर्वथा निवृत्ति और अहिंसा ही प्रधान है। पंचामृताभिषेक मे उद्देश्य से प्रतिकूल राग-परिग्रहण और हिंसा तीनो का विधान हो जाता है। अत. वीतराग धर्मानुयायी निवृत्ति मार्ग पर चलने वाले परिग्रह से दूर रहने वाले, और अहिंसा को महत्व देने वाले, जैनमतावलम्बियो को सराग धर्म में प्रवृत्त कराने वाले प्रवृत्ति मार्ग मे चलाने वाले, परिग्रह में फंसाने वाले और हिंसा की पुष्टि के कारण भूत उद्देश्य से सर्वथा विरुद्ध पचामृताभिषेक मे प्रभावना के धोखे मे पड़कर

कभी भी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। पचामृताभिषेक, से उद्देश्य प्रतिकूल होने के कारण प्रभावना रूप कभी नही हो सकता है सो ध्यान मे रखना चाहिये। इस प्रकार कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं के अभिषेक का विधान जल से ही अनेक स्थानों मे पाया जाता है और भगवान् जिनसेनाचार्य एव गुणभद्राचार्य आदि मूल संघ के दि० आचार्यो ने कही पर पचामृताभिषेक का नाम तक भी नही लिया है। आगे इसके विषय मे प्रमाण भी लिखते है।

"अभिषेकमहं नित्यं सुरनाथा सुरैं समम्। द्विद्वि प्रहरपर्यन्तमेकैकदिशि शान्तये ।।६९।।
कनत्कंचनकुंभस्य निर्गतै निर्मलांबुभि । महोत्सवशतैर्वाद्यं जयकोलाहलै. स्वनै ।।७०।।
नित्यं प्रकुर्वते भूत्या विश्वविघ्नहर सुभ ।
जिनेन्द्रदिव्यबिम्बानां गीतनृत्यस्तवै सह ।।७१।। (सिद्धान्तसार)

उक्त पद्यो का अर्थ पीछे दिया जा चुका है। **—भट्टारक मार्ग की उत्पत्ति—** वि० स० १२९५ मे इन्द्रप्रस्थ (देहली) मे अल्लाउद्दीन चौहान गौरी एक क्रूर बादशाह शासन कर रहा था उसके समय मे राघो और चेतन नाम के दो ब्राह्मण मंत्र शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। ये लोग दिगम्बर जैनो के अत्यन्त विरोधी थे। इनका अल्लाउद्दीन बादशाह पर अच्छा प्रभाव था। इनको किसी व्यन्तर के सिद्धि थी। जिसके द्वारा अन्य जनता पर भी अच्छा प्रभाव हो गया था। एक समय इन्होने अवसर पाकर बादशाह से कहा कि सब धर्मो की परीक्षा होनी चाहिये। बादशाह यह चाहता ही था। बादशाह ने इनकी बात सुनकर आज्ञा देदी कि जो धर्म अपनी २ महत्ता को नही दिखावेगा उसको इसलाम धर्म स्वीकार करना पडेगा यह सुनकर जैनियो के हृदय दहल गये। और उस प्रान्त मे मुनियो के अभाव के कारण बडी भारी चिन्ता हो गयी। "पंचम काल मे दक्षिणी प्रान्त मे मुनियो का अस्तित्व रहेगा" यह शास्त्र वाक्य उनको थोडी देर बाद याद आगया। और आशा का सचार होने लगा तुरन्त ही बादशाह से प्रार्थना की कि हमको आप ६ माह का समय दीजियेगा, तब हम अपने गुरुओ को बुलाकर जैन का महत्व दिखा सकेगे। हमारे गुरु इस समय दक्षिण देश मे है और वहा आने जाने मे छ मास लग जाते है। यह सुनकर बादशाह ने उनको छ माह की अवधि देदी। धर्म प्रेमी श्रावक मुनियो की खोज मे दक्षिण की ओर चल पड़े और अनेको कष्टो को सहन करते हुए वन, नगर और भयंकर अटवियो को लाघ कर जहा दि० जैन आचार्य महासेन स्वामी का संघ विराजमान था, वहा पहुंच गये। और दर्शन करके धर्म संकट के समाचार कहे। स्वामी ने सुनकर "अच्छा" इतना ही कह दिया श्रावको का सारा समय इनकी सेवा मे व्यतीत होने लगा। इस प्रकार समय व्यतीत होने पर 'बादशाह से हमको ६ माह की अवधि ही मिली है केवल कल का ही दिन बाकी है' इसका स्मरण करने से उनको चिन्ता हुई और मुनि महाराज के पास जाकर विनय सहित

निवेदन किया कि "स्वामिन्" ? बादशाह का निर्धारित समय कल तक का ही है।" यह सुनकर मुनि महाराज ने उत्तर दिया कि "तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करो नि शङ्क रहो। कल ही जैन धर्म की अवश्य प्रभावना हो जावेगी"। श्री गुरु की ऐसी आज्ञा होने पर सब अपने २ स्थान पर जाकर सो गये। प्रात काल सोकर उठे तो अपने को दिल्ली मे ही पाया और स्वामीजी दिल्ली के श्मसान मे ध्यान मे लवलीन मिले।

देहली मे एक प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मणदासजी थे। उनके पुत्र का नाम भगवानदास था रात को भगवानदास अपनी स्त्री सहित महल मे सो रहे थे। अचानक सेठानी की चोटी पलग के नीचे लटक पडी और उस चोटी पर होकर सर्प पलग पर चढ आया। उसने सेठ के पुत्र को काट लिया और वह मर गया। उसके मरने पर तमाम दिल्ली मे हा हा कार मच गया। जिस श्मसान मे मुनिराज ध्यान लगा रहे थे वह सेठ का लडका जलाने के लिये उसी श्मसान मे लाया गया और चिता बनाई गई। मुनिराज ने नगरवासियो से सेठ के यह समाचार मालूम करके उनको कहा कि यह सेठका पुत्र तो जीवित है। लोगो ने दौडकर देखा तो उस को जीवित पाया। इस प्रकार के वृत्तान्त से लोग आश्चर्य मे पड गये और शहर मे हल्ला मच गया। जनता दर्शनार्थ आने लगी और थोडी देर बाद हजारो आदमी वहा पर आ गये। जैन धर्म की प्रभावना होने लगी। यह समाचार जब बादशाह को पता लगा तो उनको बादशाह ने बडे विनय के साथ अपने पास बुलाया। मुनिराज श्रावको सहित शाही दरबार मे पहु चे। उस समय दरबार मे राघो और चेतन दोनो ब्राह्मणो ने मुनिराज को देखकर कहा कि "आपने अपने कमण्डलु मे मच्छलिये क्यो पकड रखी है" यह सुनकर और अपने ध्यान से कमण्डलु मे मच्छलिया है ऐसा विचार कर एवं भोले लोगो को ठगने वाले ये राघो और चेतन हैं ऐसा समझ कर गंभीरता, धीरता और निर्भीकता से नम्र शब्दो द्वारा प्रेम पूर्वक कहा कि इसमे तो शौच के लिये प्रासुक जल है मछलिये कहा है! जैन दि० मुनि कमण्डलु मे प्रासुक जल के अतिरिक्त कुछ भी नही रखते है। ऐसा कह हजारो मनुष्यो के सामने कमण्डलु दिखा दिया, जल के अतिरिक्त कुछ नही निकला। फिर रीता कमण्डलु सभा मे औंधा कर दिया तो सारी सभा मे पानी ही पानी होगया। अनन्तर मुनिराज तथा दोनो ब्राह्मणो का षड् दर्शन विषय पर बडा भारी शास्त्रार्थ हुआ और अन्त मे मुनिराज की विजय हुई। इस प्रकार मुनिराज के अचिन्त्य प्रभाव एवं चमत्कारो को देख कर श्रावको की धर्म पर बडी दृढ श्रद्धा हो गई और बादशाह ने भी जैन धर्म की प्रशसा की। उस दिन महासेन स्वामी ने पुन देहली एव भारत मे जैन धर्म की अखण्ड ध्वजा फहरा दी थी। अनन्तर फीरोज शाह तुगलक तथा पुरातन बादशाह अल्लाउद्दीन ने दिगम्बर आचार्यों को वस्त्र धारण करने के लिये बाध्य किया और उक्त दोनों

बादशाहो की बेगमों ने कह२कर दिगम्बराचार्यो को बादशाहो से ३२बत्तीस पदविया दिलवाई पदवियो के लोभ से मुनियो ने कपड़े धारण कर लिये और फिर बेगमो ने उनके दर्शन किये। ये लोग उस समय से भट्टारक कहला कर पुजने लगे। इन लोगो के पास बड़े २ चमत्कारी मंत्र और यन्त्र थे, अत चमत्कारो के प्रभाव से ये लोग खूब पूजे गये और फिर भी बादशाहो ने इनको बहुत से प्रमाण पत्र दिये। वे सनदे आज तक देहली, कोल्हापुर और नागौर के भट्टारको के पास मौजूद है। यह कार्य सन् १२९५ से लगाकर १३१५ तक अर्थात् २० बीस वर्ष चलता रहा। यह कथन आरा से प्रकाशित जैन सिद्धान्त भास्कर (भा० १ किरण ४ पृष्ठ १०९ से ११४) में काष्ठा सघ की पट्टावली का भाषानुवाद तथा सूरत से प्रकाशित "भट्टारक मीमासा" नामक पुस्तक के आधार से लिखा है। यह कथन दूसरी प्रकार निम्नलिखित रूप मे भी मिलता है कि बादशाह अल्लाउद्दीन और मुनिराज श्री महासेन स्वामी का समागम सेठ पूर्णचन्द्रजी के द्वारा हुआ था। सेठ पूर्णचन्द्रजी देहली के अग्रवाल जैनियो मे विशेष प्रतिष्ठित एव सम्माननीय व्यक्ति थे। सुल्तान उनका बहुत सन्मान करता था। वह उन पर इतना दयालु था कि—वे बादशाह की सहायता से देहली से श्री गिरनारजी की यात्रा के लिये सघ ले जाने के लिये समर्थ हुए।

जिस समय यह सघ सब तीर्थो की यात्रा करता हुआ गिरनार पहुंचा उसी समय "पथडाशाह" के नेतृत्व मे श्वेताम्बरो का भी एक सघ आया और दोनो सघो मे (पहले और पीछे के विषय पर) बन्दना के लिये बहस होने लगी परन्तु वृद्ध लोगो ने समझौता करा कर साथ २ वन्दना कराने का निर्णय कर दिया। यह घटना सन् १३०७ और १३०८ की है।

अनन्तर भट्टारक लोगो ने प्रभुता और सम्पत्ति प्राप्त करके निवृत्ति प्रधान जैन धर्म को अत्यन्त दूषित एव प्रवृत्ति प्रधान बनादिया। अपने को मूलसघाम्नाय के कह कर मनमानी प्ररूपणा करने लगे। इन लोगो ने अपनी गद्दी पर ब्राह्मणो को बैठाया और सब वैष्णव धर्म के पूजन श्राद्ध–तर्पण–आचमन–गोपूजन–पीपल, पूजन, गोबर से आरती करना, दूब राख से आरती करना, गोमूत्र से प्रतिमा का प्रक्षाल करना, योनि का पूजन आदि सब ही कुछ शास्त्रो मे लिख मारा। नये २ ग्रन्थ बनाकर प्रचार कर दिया। मुकुट सप्तमी मे भगवान् को मुकुट पहराना, फूलो की माला पहराना, आदि सव कुछ वैष्णव धर्मानुकूल कर दिया। इस प्रकार इनके शिथिलाचार पोषण को कोई भी नही रोक सका क्योंकि इन के पास बादशाहो की सनदे तथा पट्टे परवाने थे। मन्त्र और तन्त्र शक्ति के साथ राज शक्ति का बल था। किस की ताकत थी जो उनके सामने बोलता। प्रचार बढता ही गया और जैन धर्म तथा इसका मुख्य निवृत्ति मार्ग का उद्देश्य रसातल मे पहुचता

ही गया। कुछ काल बाद इस शिथिलाचारी को दूर करने के हेतु और इन बुराइयो को रोकने के लिए (८४ आसातना को हटाने के लिये) तेरह पंथ दल निकला जिसने धर्म के नाश के निम्नलिखित कारणो को रोकने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया एव ये ८४ आसातना न की जावे ऐसा प्रत्येक जैन मन्दिर मे लिख २ कर लटकाया। **—चौरासी आसातना—**

"खेल केलिकलिकला कुललयं तबोल मुग्गालय, गालिकं गुलियांशरीरधुवनं केसे नहे लोहिय॥

भक्तो संत पपित्तवत दंसणे विस्सामणे दामण।
दंत छीनह गण्डनासि असिरो सूतत्थ वीण मलं॥ १॥
भत्तमीलण लेखियं विभजंणं भडार दुट्ठासणं।
छाणीकापड़ दालि पप्पड़बडी विस्सारणं णासणं॥
अक्कथ दविहं सरच्छ घटण तेरिच्छ सच्छावण।
अग्गीसेवण रघण पररिण णिस्सहं आभजणं॥ २॥
छत्तोवाहण चामण्णि रमणो णेगतमब्भगणं।
सचित्ताणमे चाप चाप जिण दिट्ठ इणे अंजली॥
साड़गतर सग भग मउडमाला सिरो सेहुर।
हुण्डो गिदु उगिब्भि अहारसण भंडकियं॥ ३॥
रिक्खाधारण रण विवरण बालाण पलच्छिय।
पाउपाप पसारणं पउपुडी पके रजोमेहण॥
जुआ अे मणगुज्ज विज्ज वणिज सिज्जाजल् मंज्जणं।
एमाईण मवज्ज कज्जसुजु ओउज्जे जिणदालयं॥ ४॥"

नीचे इन आसातनाओं नाम के लिखते है। १ थूकना १ हास्यविनोद क्रीडा करना ३ कलह क्लेश करना ४ कला चतुराई करना ५ कुल्ला करना ६ पान सुपारी खाना ७पान का उगाल करना ८गाली देना ९अगुली चटकाना १० बिनाछने पानी से नहाना ११ हजामत वनवाना १२ नाखून काटना १३ रुधिर वहाना १४ भोजन कराना १५ चमडा काटना १६ पित्तडालना १७ वमन करना १८ दतौन करना १९ सोना २० गाय भैंस आदि बाधना २१ दातो को कुचर, खून निकालना २२ नेत्रो का मैला निकालना २३ नाखूनो का मैला निकालना २४ गले का मैल निकालना २५ नाक का मैल निकालना २६ बालो का मैल निकालना २७कान का मैल निकालना २८मलमूत्र करना २९ अधोवायु छोड़ना ३० सलाह मशवरा करना ३१ विवाह सगाई करना व कराना ३२ चिट्ठी लिखना व लिखाना ३४— धन मकान व जायदाद आदि का वटवारा करना व करवाना ३५ भडार मे पदार्थ रखना ३६ दुष्ट व अनुचित आसनो पर वैठना ३७ पैरो पर पैर रख कर वैठना ३८—

कंडे थपवाना ३९ वस्त्रों का धोना धुलवाना मुखाना ४० दालदलवाना व सुधवाना ४१– पापड बनवाना ४२ मगोढी बनवाना ४३ चारो विकथा का करना ४४ शत्रु आदि के भय से भाग कर वहा छिपना ४५ रोना रुलाना ४६ आभूषण बनवाना ४७वस्त्र सिलवाना ४८ तोता मैना आदि को पालकर पिजरे मे रखना टागना धोना ४९ अग्नि जलवा कर तापना ५० रसोई बनवाना ५१ सोना चादी व रुपया वगैरह परखना ५२ णिस्सहि तथा जय जय शब्द को आते जाते नही बोलना ५३ पगडिया बाधना तथा बधवाना ५४ जूता या खडाऊ पहिनकर मन्दिर मे घूमना ५५ शास्त्रो का बाधना ५६. छत्र लगवाना व अपने ऊपर चमर ढुलवाना ५७ पंखो से हवा करना पंखा खिचवाना ५८. मन से बुरे विचार कर उद्गार निकालना ५९ तेल और उबटन लगवाना ६० स्वय की सचित्त पूजन करवाना ६१ विकार पैदा करने वाले चित्राम बनवाना तथा टागना ६२ नगे शरीर बैठना नगे बदन रहना, जाघे उघाडकर बैठना ६३ पुष्पो को टागना, श्रृगार के वास्ते तिलक ६४ शर्त लगाना हारजीत की बाजी लगाना ६५ शतरज, चौपड लगवाना तास नक्की मूठ वगैरह खेलना ६६ नमोस्तु इच्छाकार जुहारादिक श्रावकादियो से मन्दिर मे करवाना ६७. भडरूप क्रियाओ का करना ६८ 'तू' 'मै' आदि अपमान जनक शब्दो का कहना ६९ दाडी मूंछ के बालो को मरोडना ७० युद्ध करना, युद्धो के उपन्यासो का सग्रह करना और बाचना ७१ केश बखेरना, कन्घी करना, हजामत करना, सोडा साबुन लगाना ७२ बालो को सभाल कर श्रृंगार करना ७३ पैरो को फैलाकर बैठना ७४ पैरो को दबाना, जुलाब लेना टट्टी जाना, मल मूत्र करना, पैरो की कीचड को धुलवाना ७५ स्त्रियो का आना जाना रखना, मैथुन सेवन करना, दासियें रखना कचरा निकालने को स्त्री रखना, उनके आने जाने मे किसी प्रकार का परहेज न रखना ७६ शरीर या वस्त्रो के मैल को दूर करना ७७ हारजीत के खेल खेलना ७८ पुष्पवाटिका लगवाना, बिना छने पानी से सिचवाना ७९ घोडा–घोडी बैल-गाय, ऊट-ऊटनी, गाडा-गाडी रथ पालकी आदि रखना चोका लगवाकर भोजन तैय्यार कर आप जीमना औरो को निमन्त्रण कर जिमवाना ८० गुह्य अगो का उघाडना ८१ वैद्यक, यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र करना ८२ वाणिज्य एव व्यापार करना, या करवाना ८३ खाट, पलग कुरसी आदि बिछवाना उन पर बैठना सोना ८४ जल क्रीडा करना, मकान बगीचा निवाड बनवाना या सलाह देना । –केशर पुष्प चढाने का प्रारम्भ– उल्लिखित प्रकार के आचरण भट्टारक लोग करने लग गये थे तथा इनके भी अतिरिक्त आगम विरुद्ध क्रियाये इन लोगो में बहुत विशेष हो गई थी तब शुद्धाम्नायी त्रयोदशपथियो ने इनकी शास्त्र विरुद्ध क्रियाओ का विरोध किया और इनसे बहुत से प्रश्न किये जब भट्टारको से कुछ न बना तो जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमाओ पर खूब केशर और पुष्प चढाने

लग गये। **प्रश्न**–भट्टारक लोगो ने प्रतिमाओं पर केशर और पुष्प चढाना क्यों प्रारम्भ किया था। केशर और पुष्प चढाने से उनका क्या स्वार्थ सिद्ध होता था। **उत्तर**–इसका कारण यह था कि केशर पुष्पो के चढाने से परिग्रही मूर्त्तियो को अपूज्य समझकर शुद्धाम्नायी मूल सघी श्रावक मन्दिरों मे नही आवेगे और हमारी पोल नही खुलेगी; उसी समय विद्वान् भट्टारको ने केशर पुष्पादि चढाने के विधान के नये श्लोक बनाकर पुरातन ग्रथो मे क्षेपक रूप से और नये २ पद्य बनाकर रख दिये और जो इतने विद्वान् नही थे उन्होने ब्राह्मण विद्वानो से श्लोक एव ग्रथ बनवाये और भोले भाले श्रावकों को प्राचीन मूल सघ के ग्रंथ बतलाकर अपने अनुकूल कर लिया। शुद्धाम्नाय के जो विद्वान् थे, वे इन भट्टारको के पाश मे न फस सके, उन्होने खूब जोरो से इनका खण्डन किया तथा उपदेश देकर मूल संघ का जो प्राचीन शुद्ध मार्ग था उसका प्रचार किया, उसी समय से शुद्धाम्नाय मूल सघी तेरह पंथी कहलाने लगे और केशर पुष्प पचामृताभिषेक तथा सुरे गाय के चमरो का उपयोग करना, आरती एव रात्रि पूजा भी करने का विधान करने वाले भट्टारकों के अनुकूल चलने वाले बीस पंथी कहलाने लगे। वास्तव में १३ और २० मे किसी प्रकार का मौलिक सैद्धान्तिक भेद नही है। दोनो सम्प्रदाय एक ही है। आज कल जो २० बीस पथी कहलाते है, वे काष्ठासंघी रूप आचरण करते है। और काष्ठासघियो को सिद्धान्त मे जैनाभास कहा है। यथार्थ मे सिद्धान्त दोनो के एक है जो अन्तर है वह ऊपर बता दिया है। तेरह पथ कोई नूतन सम्प्रदाय नही है। — **मूल सघ के प्रचारक विद्वान्** — अनन्तर वि०स०१६४३ के बाद होने वाले बहुत से विद्वानो ने नये ग्रन्थों द्वारा जो कि प्राचीन मूल सघ के पोषक एवं नवीन भट्टारक सम्प्रदाय के खण्डक थे प्राचीन तेरह पथ का पुन प्रचार किया। तथा सेठ जुहारमल मूलचन्दजी सोनी अजमेर निवासी द्वारा भी इस प्राचीन तेरह पथ (त्रयोदश चरित्रात्मक) का अधिक प्रकाश किया गया। अब हम नीचे उन विद्वानो की नामावली देते है जिन्होने उल्लिखित प्राचीन पंथ का पुनरुद्धार किया १ कवि-वर बनारसीदासजी २ भैया भगवतीदासजी ३ प० दौलतरामजी बसवावाले ४ महा विद्वान प टोडरमलजी ५ भाई रायमलजी ६ प० जयचन्द्रजी छावड़ा ७ कवि भूधरदासजी ८ कवि द्यानतरायजी ९ कवि भागचन्दजी १० कवि दौलतरामजी ११ नवलचन्द्रजी १२ बुधजनजी १३ पं० सदासुखजी १४ हेमराजजी १५ ज्योतिप्रसादजी १६ नैन सुखदासजी १७ पन्नालालजी सघी दूनी वाले आदि। इनके अतिरिक्त अन्य भी विद्वान् हुए हैं जिनके द्वारा मालवा, बु देलखंड, मारवाड, देहली, मध्यप्रान्त, पूर्व देश, खैराड़, हाडौती, सपाड, गोरवाडा बरार, खानदेश वगैरह प्रातो मे धर्म का प्रचार हुआ। "शतपदी" नामक सस्कृत ग्रथ के रचयिता श्वेताम्बराचार्य ने भी अपने ग्रंथ मे दिगम्बरो को संशोधन करते हुए कहा कि

तुम दिगम्बर होकर भी ऐसी शिथिलता का कार्य करते हो और अपने कृत्यों द्वारा धर्म को कलङ्कित करते हो। श्वेताम्बर पं० बख्तावररामजी ने अपने 'बुद्धिविलास" मे लिखा है कि 'हे यतियों! ये जिन कल्पी दिगम्बर धर्म कितना उत्कृष्ट था जिसे तुम लोगो ने शिथिलाचारी होकर मलिन कर दिया सो यह मार्ग तुम्हारे योग्य नही है, तुम धर्मात्मा होकर ऐसा कार्य मत करो। ऐसा कार्य तो पापी पुरुष करते है।

मूलसंघी आचार्य नामावली—

अब यहां परिचय के लिए उन मूलसघी आचार्यो की नामावली देतेहै जिन्होने महान् ग्रथो की रचना की है – १. भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी २ भगवान् उमास्वामी ३ पुष्पदन्त स्वामी ४. भूतबलि ५ मुनि माघनन्दी ६ शिवापनाचार्य ७. स्वामी समन्तभद्राचार्य ८. स्वामी कार्तिकेय ९ वट्टकेर स्वामी १० पूज्य पादस्वामी ११ भट्ट अकलक स्वामी १२. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती १३ भगवज्जिनसेनाचार्य १४ योगीन्द्र देव १५. प्रभाचन्द्राचार्य १६ गुणभद्रस्वामी १७ वीरनन्द्याचार्य १८. पद्मनन्द्याचार्य १९. विद्यानन्दी स्वामी २०. अनन्तवीर्य स्वामी २१ आचार्य मणिक्यनन्दी २२. शुभचद्राचार्य २३. अमृतचन्द्र सूरि २४ कनकनन्दी २५.मेघचन्द्र २६. वादिराज सूरि २७. मानतु गाचार्य २८. कुमुद चन्द्राचार्य २९ अभयनन्द्याचार्य ३०. चामुण्डराय ३१ श्री धर्म भूषण ३२ जयसेनाचार्य ३३, मल्लिषेण ३४. सकल कीर्ति ३५ वादीभ सिंह उल्लिखित आचार्यो को भट्टारको ने भी माना है। यहा तक है कि मूर्त्तियो की प्रतिष्ठा कराते समय अपने को कुन्दकुन्दादि आम्नाय का बतलाया है। मूर्त्तियो पर भी कुन्दकुन्दादि अम्नाय मूर्त्ति प्रतिष्ठित, की ऐसा लिखा है। फिर भी उनकी आम्नाय से विरुद्ध पंचामृताभिषेक, प्रतिमा के चरणो पर केशर लगाने तथा सचित्त पुष्प चढाने का विधान करते है। आश्चर्य की बात है। अपने को कुन्दकुदादि के आम्नाय के बतलाकर भी अपने स्वार्थ से जिसका उन्होंने उल्लेख नही किया उसके प्रचार पर उतारू हो जाना और भोले जीवो को अपने जाल मे फसाना, इनने अपना कर्त्तव्य समझा। इन बड़े २ आचार्यो ने जो पुरातन एव मूल संघ मे हुए है कही पर भी पचामृताभिषेक, चरणो मे केशर तथा पुष्प चढाने का विधान तक नही किया और साम्प्रदायिक कहला कर पचामृताभिषेक व केशर पुष्प चमरादि विपरीत बातो का प्रतिपादन कर कुन्दकुन्द के नाम पर अर्थात् शुद्धाम्नाय के नाम पर पानी फेरना है, अत जिन ग्रथो मे पचामृताभिषेक तथा केशर लेपन एव पुष्प चढाने का विधान मिलता है वे काष्ठासघियो के अथवा भट्टारको के जानने चाहिये; उन्होने पक्षपात वश वीतराग देव के ऊपर केशर व सचित्त पुष्प चढाने का तथा पंचामृताभिषेक लिखकर सराग बनाने का प्रयत्न किया है एव वीतराग मार्ग को दूषित कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। इस वास्ते यह सर्वथा हेय

है। जिनको वीतराग शब्द भी याद है, वे लोग कभी भी देव को पक्षापात से सराग नही बनायेगे तब ही उनका निवृत्ति मार्ग मे लगने से आत्मिक कल्याण हो सकेगा।

भट्टारकों के शास्त्र विरुद्ध आचरण—आगे भट्टारक लोगो ने अपने को दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का महाव्रती बतलाकर भी कितना परिग्रह आडम्बर किया उसका उल्लेख करते है। १. लाखो रुपये की सम्पत्ति अपने पास रखना २ गृहस्थो से नमोस्तु कहलाना और भोजन करते समय थालियां बजवाना ३ क्षेत्रपाल और पद्मावती आदि का पूजन भगवान् से भी प्रथम करना ४. भक्षण करने, मे गोरोचन कस्तूरी, शंख भस्म आदि को भी पवित्र मानना ५. कंडों से रोटी बनावे तो कोई दोष नही है ६. रात्रि मे यदि दवाई ली जावे तो भी कोई दोष नही है ७ द्विदल का न मानना ८. दश प्रकार के कुदानो के लेने से भी कोई दोष नही है ऐसा कहना ९. भगवान् के अभिषेक के लिये गायो का दान करना चाहिये १० भूत प्रेत सर्पो आदि को भी शासन देव बतलाना ११. अनेक दीपो के द्वारा भगवान् की आरती करना १२. व्रतो का उद्यापन करा के भेट मे द्रव्य लेना १३ जेनियो को खम्बो से वधवाकर अपनी इच्छानुसार भेट लेना १४. रथ–पालिका नालकी आदि रखना १५. चपरासी, घोड़े, बैल, रथ और नौकर आदि रखना १६. इत्र लगाना १७. माला पहरना १८ जितना खर्च हो सब जैनियो से वसूल करना १९. गरिष्ठ भोजन बनाकर या बनवाकर जीमना २० नौकरो को भी माल खिलाना। इस प्रकार के अनेक शास्त्र विरुद्ध आचरणों से बहुत से लोग दु खी हो गये और जब इनको उन्होने भंडारो मे से आगम लाकर दिखाये और इन्हों से कहा कि आप लोग जो करते हो वह आगम से प्रतिकूल है तब भट्टारकों ने ऐसे श्लोकों को निकलवा दिये जो कि अपने से प्रतिकूल पड़ते थे और जो अपने अनुकूल पड़े ऐसे पद्य बना बना कर ग्रन्थो मे रख दिये या रखा दिये।

पंचामृताभिषेक, केशर लेपन, सचित्त पुष्प भगवान् पर चढाने आदि अनेक शास्त्र विरुद्ध प्रवृत्ति करने, वाले स्वयं कपड़े धारण कर समाज की आंखो में धूल डालने वाले, रईसी ठाठ रखकर मुनि की तरह गृहस्थो से नमोस्तु कहलाने वाले, भट्टारको ने भ्रम एवं धोखा देने के लिये अपने को मूल संघ आम्नाय का वताया, तथा जो मूल सघ आम्नाय के उद्भट विद्वान् आचार्य थे उन जैसा ही अपना नाम रख और अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल ही ग्रन्थ वनाकर जैन धर्म का अपवाद कर, भोली समाज की वञ्चित करने का पूर्ण प्रयास किया वादशाही जमाने मे इनको प्रभुता प्राप्त थी अत इनको उस समय मनचाही सफलता भी मिली थी, इन्होने भगवान् को भी कुण्डल, मुकुट, माला, केशर और पुष्प धारण करा के परिग्रह युक्त किया था और कपड़े पहनने वाले साधुओ तक को भी दिगम्बर साधु मनवाने के लिये ग्रन्थो मे श्लोक बना २ कर या वनवा २ कर सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

इसका एक उदाहरण सुनिए – (त्रिवर्णाचार अध्याय ३)

"अपवित्रपटो नग्नो नग्नश्चार्धपट. स्मृतो, नग्नश्च मलिनोद्वासी नग्नः कौपीनवानपि ।।२१ ।।
कषायवाससा नग्नो नग्नश्चानुत्तरीयमान्, अंत कच्छो बहिकच्छो मुक्तकच्छस्तथैवच ।।२२।।

अर्थ—अपवित्र कपड़े पहनने वाला, आधा वस्त्र पहनने वाला, मैले कुचेले कपड़े पहनने वाला. धोती के सिवाय दूसरा कपडा न रखने वाला, केवल भीतर की तरफ कछोटा लगाने वाला और कपडे बिल्कुल न पहरने वाला, इस प्रकार अनेक तरह के नग्न माने गये है । इसका तात्पर्य है कपड़े पहने हुए को भी नग्न सिद्ध करना ।

स्वर्गो में भी देव अभिषेक

"धम्म पस सिदूरणं, एहादूरणदहेभिसेपलकारं ।
लद्धा जिरणाभिसेय, पूज कुव्वति सिद्धिठ्ठी ।।५५२।। (त्रिलोकसार)

अर्थ—धर्म ने प्रशंसकरि, जल भरे द्रह विषै स्नान कर, वह रूप अभिषेक करि अलकार को पाय सम्यग्दृष्टि देव स्वयमेव जिन देव का अभिषेक और पूजन करे है, यहा भी पचामृताभिषेक का नाम नही दिया, जो पचामृत अभिषेक शास्त्रो मे होता तो स्वर्गो में जरूर इसका नामोच्चारण किया जाता ।

वास्तव मे अभिषेक जल से ही होता है नही तो काष्ठासघी आचार्यों के ग्रन्थो मे जलाभिपेक का समर्थन नही होता । आगे काष्ठा सघी हरिवश पुराण के कर्त्ता जिनसेनाचार्य एव काष्ठासधी पद्मपुराण के कर्त्ता रविषेणाचार्य ने भी भगवान् का अभिषेक जल से ही बताया है । प्रमाणो को नीचे उद्धृत करते है— (पद्म पुराण पर्व ३)

"एव तत्र महातोये जनितेऽमरसत्तमं । अभिषेकाय देवेन्द्रो जग्राह कलश शुभ ।। १८२ ।।
तत क्षीरार्णवांभोभि पूर्ण कुम्भं महोदरै । चामीकरमयै पद्मच्छन्नवक्रै सपल्लवै ।।१८३।।
अभिषेक जिनेन्द्रस्य चकार त्रिदशाधिप , कृत्वा वैक्रियसामर्थ्यादात्मान बहुविक्रम ।।१८२।।

इन पद्यो मे भगवान् का जन्माभिषेक क्षीर सागर के जल द्वारा ही वर्णित किया गया है । (हरिवंश पुराण सर्ग ८)

"त पाण्डुकवने रम्ये मन्दरस्य जिन हरि , पाण्डुकायां प्रसिद्धायां शिलायां सिंहविष्टरे ।।४१।।
सस्थाप्य विबुधानीत क्षीरसागरवारिभि , सातकु मयैरभिषिच्य सम सुरै ।। ४२ ।।

अर्थ—सुमेरु पर्वत के भाग मे पाण्डुक वन के बीच जो सिद्ध शिला है वहा पर भगवान् को स्थापन कर के इन्द्र ने क्षीर सागर के जल के कलशो से भगवान् का अभिषेक किया । (हरिवश पुराण सर्ग ८)

सघटै सुरसघातै महावेगै महाघनै । सर्वदिक्षु गतै क्षिप्रशोभित क्षीरसागरै ।। १६३ ।।
क्षीराः पूर्णा.सुरैः क्षिप्ता राजता करतः कर, सौवर्णाश्रवभु कु भाश्चन्द्रार्का इव मेरुगा.।१६४।

कुम्भै निरन्तराराग्रैर्बहुदेवसहस्रकै, क्षीरांभोभिर्जिनेन्द्रस्य चकेजन्माभिषेचन ।। १६५ ।।

अर्थ—तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ के समय इन्द्र अपने सुरपुर नगर से देवो के साथ सब दिशाओ को आच्छादित करते हुए नगरी मे आया । (अनन्तरक्षीर सागर से जल लाकर भगवान् का जन्माभिषेक सुमेरु पर कराया उस का वर्णन निम्न प्रकार है) इन्द्र पंचम क्षीरसागर पर पहु चा । वहा से रत्नमयी कलशो को क्षीरसागर के जलसे भर कर सब देवो ने इन्द्र के हाथ मे दिये । चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति के समान जल से भरे उन कलशो से इन्द्र ने बडे उत्सव सहित भगवान् का जन्माभिषेक किया । ये ग्रन्थ काष्ठासघियो के बनाये हुये है । इन मे भी क्षीरसागर के जल से ही अभिषेक वर्णित है । पचामृताभिषेक से वर्णन नही किया गया है । सकलकीर्ति आचार्य ने प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के २० वी अध्याय मे लिखा है कि—

"जिनांगं स्वच्छनीरेण क्षालयति स्वभावत येऽति पापमलं तेषां क्षयं गच्छति धर्मत ।१६६।

अर्थ–जो स्वभाव से ही स्वच्छ जल से भगवान् जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अभिषेक करते है उन के उस धर्म के प्रभाव से सब पाप कर्म रूपी मैल नष्ट हो जाते है । त्रिलोकसार के वैमानिक अधिकार मे भी लिखा है–

"धम्मं पसंसि दूण एहाद्धू णदेहभिसेयलकारं, लद्धा जिणाभिसेय पूज कुव्वंति साद्दिट्ठी।५५२।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जे देव है ते उत्पाद शैय्या से उठते ही धर्म की प्रशसा करि द्रह के विषै स्नान कर अभिषेक अलकार पाय जिनेन्द्र की अभिषेक पूजा करते भये; यहा पर भी पंचामृत अभिषेक नही किया । द्रह (सरोवर) के जल का ही कथन किया है । उत्तर पुराण के ६२ वे पर्व मे लिखा है कि—

"विधाय विधिवद्भक्त्या शांतिपूजापुरस्सर, महाभिषेक लोकेशामर्हतां सचिवोत्तमाः ।।

अर्थ—भगवान् गुण भद्र स्वामी कहते है कि 'मन्त्रियो मे उत्तम जे है ते सर्वलोक के स्वामी अर्हंत जे है तिनकी भक्ति कर यथाविधि शान्ति पूर्वक महाभिषेक करि राजा को अभिषेक करि सिंहासन मे स्थापना करतो भयो" वर्त्तमान चौवीसी का अभिषेक सुरनाथ (इन्द्र) ने सुमेरु पर्वत पर किया सो भी क्षीर समुद्र के जल से किया, यही बात निम्न प्रकार से उत्तर पुराण मे लिखी है । (अजितनाथ पर्व ४८)

"तदा विधाय देवेन्द्रा मन्दरे सुंदराकृते । जन्माभिषेककल्याणमजिताख्यामकुर्वत ।। २७ ।।

"पौर्णमास्यामवापार्च्यमहमिन्द्र त्रिविद्युत ।
सजन्मोत्सवकल्याण प्रान्ते सभव इत्यभूत् ।। [संभवनाथस्वामी अ०४९पा०श्लो०१६

"बालार्क सन्निभ बालं, जन्मे क्षीरापगायते ।
स्नापयित्वा विभूपाभ्यामप्रत्याख्यास्याभिनन्दनम्"।।[अभिनन्दनस्वामी५०पा २६श्लो २८

"देवेन्द्रास्तं तदा नीत्वा मेरौ जन्ममहोत्सवं ।
कृत्वा सुमति सञ्ज्ञां च पुनस्तद्गृहमानयत् ।। १४ ।। (सुमतिनाथ पर्व ५१ पा ५१)
तदानीमेव देवेन्द्र स्तं मेरौ क्षीरवारिभिः ।
स्नापयित्वा विधायानु, मुदा पद्मप्रभाभिधां ।।६२।। (पद्म प्रभु स्वामी पर्व५२पा ४५)
सुरेन्द्रैर्मन्दरस्यान्ते कृतजन्ममहोत्सवैः ।
तस्याकारि सुपाश्र्वाख्या, तत्पादानतमौलिभिः ।२३। (सुपार्श्वनाथस्वामीपर्व५३पा.५२
तदैवाभ्येत्य नाकीशो महामन्दरमस्तके ।
सिंहासन समारोप्य सुस्नाप्य क्षीरवारिभि ।।१७१।।(चन्द्रप्रभस्वामी पर्व५४पा ७३)
क्षीराभिषेक भूषाते पुष्पदन्ताख्यमब्रुवन् ।
कुन्दपुष्पप्रभाभासि देदीप्त्या विराजते ।। २८ ।। (पुष्पदन्त स्वा० पर्व ५५पा ८८)
तदैवागत्य त नीत्वा महामेरुमहोत्सवा ।
देवा महाभिषेकान्ते व्याहरन्तिस्म शीतलम् ।।२६।। (शीतलनाथ भ०पर्व५६पा०६५)
पवमावारपारात्त, क्षीरवारिघटोत्करै ।
अभिषिच्य विभूष्येश श्रेयानित्यवदन्मुदा ।।२३।। (श्रेयासनाथ पर्व ५७ पा० १०५)
सुरासौधर्ममुख्यास्ते सुराद्रौ क्षीरसागरात् ।
घटैरानोय पानीय स्नापयित्वा प्रसाधन ।। २३ ।। (वासुपूज्य पर्व ५८ पा०११५)
जन्माभिषेककल्याणप्रान्ते विमलवाहनं ।
तमाहुरमरा सर्वे सर्वसस्तुति गोचरम् ।। २२ ।। (विमलनाथ पर्व५६पा० १२८)
तदागत्य मरुन्मुख्या मुख्यशैलेऽभिषिच्य त ।
अनंतजिनमन्वर्थ नामान विदधुर्मुदा ।। २२ ।। (अनन्तनाथ पर्व ६० पा० १५६)
तदैवानिमिषाधीशास्त नीत्वाऽमरभूधरे । क्षीराब्धिवारिभिर्भूरि कार्तस्वर घटोद्धृतै ।।१६।।
अभिषिच्यविभूष्योच्चैर्धर्माख्यामगदन्मुदा ।
सर्वभूतहितश्रीमत् सद्धर्मपथदेशनात् ।। २० ।। (धर्मनाथ स्वामी ६१ पा० १६८)
अथशान्तिप्रदोदेव शान्तिरित्यस्तुनामभाक् ।
इति तस्याषिकान्ते, नामासौ निरवर्तयत् ।।४०६।।(शान्तिनाथ पर्व ६३ पा० २६६)
तुरासह पुरोधाय, समभ्येत्य सुरासुरा ।
सुमेरुमर्भकं नीत्वा, क्षीरसैन्धववारिभि ।। ३३ ।।
अभिषिच्य विभूष्यैन कुन्थुमाहूय सञ्ज्ञया (कुन्थुनाथ पर्व ६४ पा० २८३)

(कुन्थनाथ स्वामी के समान ही अरहनाथ स्वामी के जन्माभिषेक का पर्व ६५ पृष्ठ २८८ मे वर्णन है) (मल्लिनाथ पर्व ६६ पा० ३०६)

गत्वा चलेशं संस्थाप्य पचमाब्धिपयोजलै । अभिषिच्य विभूष्योच्चैर्मल्लिनामानमाजगु ।।

तज्जन्मसमयायातैः स्वदीप्तिव्याप्तदिग्मुखैः ।

मेरौ सुरेन्द्रै सप्राप, मुनिसुव्रतसुश्रुतिं ।। २८ ।। (मुनिसुव्रत पर्व ६७ पा० ३२१)

देवाद्वितीयकल्याण, मभ्यपेत्यतदाव्यधुः ।

नमिनामानमप्येन, व्याहरन्मोहभेदिन ।। ३१ ।। (नमिनाथ पर्व ५६ पा० ४४०)

अनादिनिधनं बालमारोप्यार्कतेजसं । क्षीराम्भोधिपय. पूर्णं, सुवर्णकलशोत्तमैः ।। ४४ ।।

अष्टाधिकसहस्रेण प्रमित्रैरमितप्रभे । हस्ताद्धस्तं क्रमेण राधिनाथसमर्पित ।। ४५ ।।

अभिषिच्य यथाकाम मलकृत्य यथोचितं ।

नेमिसद्धर्मचक्रस्य नेमिनामानमभ्यधात् ।। ४६ ।। (नेमिनाथ पर्व ७१ पा० १६६)

जिस प्रकार ऊपर सब तीर्थकरो का अभिषेक जल से ही वर्णन किया है उसी प्रकार नेमिनाथ स्वामी के अभिषेक का वर्णन भी एक हजार आठ कलशो द्वारा जल से ही किया गया है । जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम् ।

पार्श्वाभिधन कृत्वाऽस्य पितृभ्यां त समार्पयत् ।६२। (पार्श्वनाथ पर्व७३ प ५३)

संप्राप्य मेरुमारोप्य शिलायां सिंहविष्टर–

मभिषिच्य ज्वलत्कुंभै., क्षीरसागरवारिभि ।२७३।(महा स्वामीपर्व७४पा.६०७)

इस प्रकार क्षीर सागर के जल से ही सब भगवानो के अभिषेक का वर्णन पाया जाता है । पंचामृताभिषेक के पोषक सूर्य प्रकाश नामक ग्रन्थ मे भी जलाभिषेक का ही प्रमाण मिलता है जैसे— (सूर्य प्रकाश पा० ११६ श्लोक० ५३७)

"जिनागारे हि त्वमपि कुंभमेकं जलभृतं । मुञ्चतवापि पुण्याप्ति. भविष्यत्येव मत्समा ।।

अर्थ—हे सखी तू भी एक पवित्र प्रासुक जल घडा भर कर श्री जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक के लिये जिन मन्दिर मे जाकर चढा तुझ को भी मेरे समान पुण्य की प्राप्ति होगी, इस प्रकार उल्लिखित चतुर्विशति तीर्थकरो के अभिषेक का विधान सर्वत्र जल से ही पाया गया है, पंचामृताभिषेक का विधान कही आर्ष ग्रन्थो में नही पाया जाता है । पक्षपातो से अपनी हठ एव स्वार्थो द्वारा यह घड लिया गया है । जैन दिगम्बर सम्प्रदाय को ध्यान देकर जलाभिषेक ही करना योग्य है ।

विशेष– (श्री १०८ मुनि श्री विवेकसागरजी महाराज की ओर से)

वर्त्तमान मे पंचामृत में आंखों देखा दोष बताना चाहता हूं सो आप ध्यान देवे । लोग पंचामृत अभिषेक करते हैं सो पहला दोष यह है कि प्रायः सब लोग पचामृत के द्रव्य घी, दूध, दही, बूरा आदि सब बाजार से ला रहे है; कारण दूध, दही आदि शुद्ध पदार्थ

विरले ही घरों में मिलते है और पंचामृत के पक्षपाती, पंचामृताभिषेक तो करना ही चाहते है, फिर क्या करे ? प्रमाद-वश जैसा मिलता है वैसा ही काम मे लेना पडता है । उस दूध, दही आदि की मर्यादा का पता नही और किस घर का आता है यह भी पता नही, यह सब आपही सोच लेवे । दूसरा दोष यह है कि पचामृत के पक्षपात को लेकर वे महानुभाव खूब भक्ति–भाव से उसका अधिक प्रयोग करते है, वह पचामृत का दूध, पानी आदि मिला हुआ पदार्थ, सेवको के काम मे तो आता नही उसका क्या करे? वह पचामृत का अभिषेक, पानी आदि पदार्थ, रोडी या कचरा आदि में डाल दिया जाता है, वहा पर असख्यात त्रस जीवो की उत्पत्ति हो जाती है (मीठा व चिकनास के कारण) और बडा तिर्यंच जानवर डूकर, कुत्ता आदि आता है वह उन सब त्रस जीवो को खा जाता है, यह बडा भारी पाप है । लोग पुण्य का काम समझते है किन्तु इसमे बडा भारी पाप ही कमाते है; इसलिये हे प्रिय बन्धुओ! आप लोग बडी भारी समझदारी से आगम के अनकूल कार्य करो, पक्षपात को छोडो, शुद्ध प्रासुक जल से अभिषेक करोगे तो पुण्य होगा नही तो पाप का फल आपको ही भोगना पडेगा सो विचार कर ही काम करे पक्षपात छोडने मे ही आपका कल्याण है, फिर आपकी मरजी होवे, वैसा ही करे ।

* गुरूपास्ति *

आचार्य पद्मनन्दी ने श्रावको के प्रतिदिन करने योग्य जिनेन्द्र देव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुजनो की भक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, सयम तथा योग्यतानुसार तप, दान, और गुरुओ की उपासना, यह छह आवश्यक क्रियाये बताई है । उन मे देव पूजादि के समान 'गुरुपास्ति' भी अत्यावश्यकी क्रिया बतलाई है । कहा भी है—

मानुष्य प्राप्य पुण्यात् प्रशममुपगत, रोगवद् भोगजाल ।
मत्वा गत्वा वनान्तं, दृशि विदिमरणे, ये स्थिता सगमुक्ताः ।।
क स्तोता वाक्पथा,तिक्रमणपटु,गरणैराश्रितानां मुनीनां ।
स्तोतव्यास्,ते महद्भि,र्भु वि य इह त,दङ्घ्रि,द्वये भक्तिभाज. ।।७१।। (पद्मनदी पृ० ३७)

अर्थ—पुण्ययोग से मनुष्य भव को पाकर शमत्व को प्राप्त होकर और भोगो को रोग तुल्य जानकर तथा वनमे जाकर समस्त परिग्रह से रहित होकर, जो यतीश्वर सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे स्थित होते है, जो कि वचनागोचर गुणो कर सहित है उन मुनियो की स्तुति कर सकते है, जो धार्मिक पुण्यवान् महात्मा पुरुष है । (पद्म पञ्च)

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् । भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकै ।। १६ ।।
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधै , धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्म. प्रकीर्तित ।।१७।।

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनं । समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निष्तुषम् ॥ १८ ॥
ये गुरुं नैवमन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते । अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥ १९ ॥

अर्थ—भव्यजीवो को प्रात. काल उठकर जिनेन्द्र देव तथा गुरुओं के दर्शन करना चाहिये तथा धर्म श्रवण पूर्वक उनकी भक्ति से वन्दना और स्तुति भी करनी चाहिये। क्योकि इनके द्वारा धर्म लाभ होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोमे गणधरादि देवों के द्वारा धर्म ही मुख्य बतलाया गया है। जिन गुरुओ की कृपा से, हस्त रेखा के समान समस्त पदार्थ दर्शी केवल ज्ञान का मुख्य साधन सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है उस निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा ज्ञान के इच्छुको को वन्दना सहित अवश्य करनी चाहिये। जो गुरुओ को नही मानते तथा उनकी सेवा वन्दना नही करते उनको सूर्य के होने पर भी अन्धकार ही है। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य कृष्यादि गृह कार्य मे अनुरक्त तथा पञ्चेन्द्रिय विषय सेवी, साधु परमेष्ठियो की भक्ति स्तुति आदि नही करते वे लोग सम्यग्ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त नही हो सकते, अत गुरुओं को भक्ति, वन्दना, स्तुति एव सेवा करना गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य है १६–१७–१८–१९ आगे गुरुओ के समीप त्याज्य क्रियाये बताते हैं—

"निष्ठीवनमवष्ठम्भं जृंभणं गात्रभजनम् । असत्यभाषणं नर्म हास्य पादप्रसारणम् ॥ १ ॥
अभ्याख्यानकरस्फोटं करेण करताड़न । विकारमगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥ २ ॥

अर्थ—थूकना, गर्व करना, झूठा दोष आरोपण करना, हाथ ठोकना, खेलना हसना पैर फैलाना, जभाई लेना, शरीर मोडना, झूठ बोलना, ताली बजाना तथा शरीर के अन्य विकार करना, शरीर संस्कारित करना, इत्यादि क्रियाये करना गुरु के समीप वर्जित है। और भी कहा है—

"देवान् गुरून् धर्मं चोपाचरन् न व्याकुलमति. स्यात्" (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—जो पुरुष देव, गुरु और धर्म की उपासना करता है. वह कभी दुखी नही होता है। वह ऐहिक और पार लौकिक दोनो सुख प्राप्त करता है। इनकी उपासना करता हुआ व्याकुल न हो।

—: सच्चेगुरु का स्वरूप :— (रत्नकरड श्रावकाचार)

"विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह । ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

अर्थ—जो पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयो से रहित हो तथा इच्छा, आरम्भ—कृषि आदि व्यापार और सुवर्ण धन धान्यादि परिग्रह से रहित हो एव ज्ञान ध्यान तथा तपस्या मे संलग्न हो वही तपस्वी गुरु प्रशंसनीय हो सकता है। [यश कीर्तिरचित प्रबोधसार]

'सर्वसत्वहिता शान्ता स्वदेहेऽपि निस्पृहाः । यतयो ब्रह्मतत्वस्था यथार्थ परिवादिन. ॥ १३ ॥
सर्वसावद्यसम्पन्ना समारम्भवर्जिन । सन्तोषा. समदा मैत्र्या समानाः, यतयोनते ॥ १४ ॥

अर्थ—जो सब प्राणियो के हितकर, शान्त, अपने शरीर से ममत्व त्यागी, [illegible]

में लीन, और यथार्थ तत्त्व का कथन करने वाले हों वे सद् गुरु है और उनसे विपरीत पाप युक्त, सांसारिक आरम्भ करने वाले, लोभी, मद सहित, ईर्ष्या और मान युक्त है वे कुगुरु है। और भी कहा है— (यशस्तिलक ६ आश्वास)

"श्रेष्ठी गुणैर्गृहस्थ स्यात्तत श्रेष्ठतरो यति । यते श्रेष्ठतरो देव न देवादधिक परम् ॥

अर्थ—गृहस्थ गुणो के कारण श्रेष्ठ कहलाता है और उससे श्रेष्ठ यति है और उससे भी श्रेष्ठ वीतराग सर्वज्ञ देव है। तात्पर्य यह है कि यहा पर यति एव गुरु को गुणो के आधिक्य से ही श्रेष्ठ कहा गया है और गुणो का आधिक्य गृहस्थ की अपेक्षा उनमे इस कारण कहा जाता है कि वे त्याग वृत्ति मे गृहस्थ से अधिक है। यदि उन मे भी आरंभादिक देखा जावे तो वे गुरु एव श्रेष्ठ तथा गृहस्थ से अधिक प्रशसनीय नही हो सकते। अतएव आरम्भी साधुओ को कुगुरु कहा है। और भी कहा है— (यशस्तिलक ६ आश्वास)

"वस्तुन्येव भवेद्भक्ति शुभारम्भाय भाक्तिके। नह्यरत्नेन रत्नाय भावो भवति भूतये ॥१॥
अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम्। अतत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥ २ ॥

अर्थ—सच्ची वस्तु मे जो भक्ति होती है वह शुभ फल के लिये होती है और वह ही कार्य कारिणी होती है। यदि कोई पुरुष पत्थर मे रत्न बुद्धि कर बैठे तो सम्पत्तिशाली नही होता, अत: अदेव मे देव बुद्धि करना, अव्रत मे व्रत भावना, और अतत्त्व मे तत्त्व विज्ञान करना, मिथ्यात्व है उसको छोड देना चाहिये। आगे गुरुओ के अवर्णवाद के विषय मे लिखते है— [यशस्तिलक ६ आ. पृ २९४]

"स्व शुद्धमपि व्योम वीक्षते यन्मलीमस। नासौ दोषोऽस्य किंतु स्यात् सदोषश्चक्षुराश्रय ।१।
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते। सलोहे कलिकालोकान्नून मुञ्चति काञ्चनम् ॥२॥

भावार्थ—जो पुरुष स्वत शुद्ध आकाश के समान सुगुरुओ मे भी देह की मलिनता देखकर उनकी निन्दा करता है वह पुरुष मैली लोह की कालिमा को देखकर उसमे रखे हुए सुवर्ण का भी अनादर करता है, किन्तु उसके अनादर करने से उसी की हानि होती है, उनकी महत्ता मे कोई कमी नही आती। आगे गुरूपास्ति के विषय मे आचार्य अमितगति के प्रमाण लिखते हैं—

"ज्ञानचारित्रयुक्तो य गुरुर्धर्मोपदेशक., निर्लोभी तारको भव्यान् स सेव्य स्वहितैषिणा ।४५।
यस्तरति स्वयं सोऽन्यांस्तारयेत् स महागुरु ,स्वय मज्जति य. सोऽन्यान् कथ तारयितुक्षम ।४६।
सग्रथाराधकोमूढ श्वभ्रतिर्यग्गति व्रजेत्। निर्ग्रन्थसेवको धीमान् स्वर्गमोक्षादिक व्रजेत् ।४७।
योनिर्ग्रन्थगुरु त्यक्त्वा कुगुरु सेवते स वै । कल्पवृक्ष गृहद्वारे छित्वा धत्तूरक वपेत् ॥४९॥

अर्थ – जो गुरु सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे युक्त धर्म का उपदेशक लोभ रहित, तथा भव्य पुरुषो का तारक स्वय भी ससार समुद्र को तरने वाला हो वह सेवनीय है

जो गुरु स्वयं संसार समुद्र मे डूबरहा है वह अन्य प्राणियो को भव सागर से किस प्रकार पार कर सकेगा ! और उस आरम्भी स्वयं डूबने वाले गुरु के उपासक भी नरक और तिर्यञ्च-गतिकी प्राप्ति अवश्य करेगे; अत. बुद्धिमानो को उचित है कि आरम्भ रहित एवं उल्लिखित सम्यग्दर्शनादि गुण सम्पन्न गुरु की ही उपासना करे जिससे स्वर्ग और मुक्ति सुख को प्राप्त कर सके! अन्यथा जो लोग निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित गुरु को छोडकर कुगुरुकी उपासना करते है वे इस प्रकार बुद्धि से हीन है जैसे कोई मुर्ख पुरुष अपने घर पर लगे हुए कल्पवृक्ष को काटकर धतूरा बोता है । **भक्ति का स्वरूप** (यशस्तिलक चम्पू ३१६ पृष्ट)

"जिने जिनागमे सूरौ तप श्रुत परायणे । सद्भावशुद्धिसपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ।। १ ।।

अर्थ—जिनदेव, जिनशास्त्र और तप तथा श्रुतमे तत्पर आचार्यो की अच्छे भाव पूर्वक और शुद्धि सहित प्रीति एवं अनुराग करने का नाम भक्ति तथा उपासना है । यहा प्रसगवश आचार्य का लक्षण कहते है । **—आचार्य का लक्षण—** (आचारसार अ० २)

सग्रहानुग्रहप्रौढो रूढ श्रुतचरित्रयो. । य पञ्चविधमाचारमाचारयति योगिन ।। ३२ ।।

अर्थ–शिष्यनिका संग्रह अनुग्रह करने मे प्रौढ़कहिये चतुर[समर्थ],श्रुत अर चारित्र विषे आरूढ अन्य योगियों (मुनियों) को पाच प्रकार के आचार को आचरावे और आप आचरण करे, ऐसा आचार्य होता है । (पंचाध्याय । ६४६ अ० २)

अपि छिन्नव्रते साधोः पुन. सन्धानमिच्छत । तत्समावेशदानेन प्रायश्चित्त प्रयच्छति ।।

अर्थ—जिस किसी साधु का व्रत भग हो जाय, उसको प्रायश्चित् देकर शुद्ध करदेत है और दीक्षा देकर शिष्यो का हित करते है, यही आचार्यो का कर्त्तव्य है ।

—: उपाध्याय का लक्षण :—

ग्यारह अंग वियाणइ, चउदहपुव्वाणि णिखसेसाणि ।
पणवीसं गुणजुत्ता णाणए तस्स उवझाओ ।। (विद्वज्जन बोधक पृ० ४२१)

अर्थ—ग्यारह अगो को और चौदह पूर्वो को जानने वाले उपाध्याय कहलाते है । (१) **ग्यारह अंगो के नाम**— १. आचारांग २ सूत्रकृतांग ३. स्थानाग ४ समवायाग ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६ ज्ञातृधर्म कथाग ७. उपासकाध्ययनाग ८. अन्तकृद्दशाग ९. अनुत्तरोपपाद-दशांग १०. प्रश्नव्याकरणांग ११ विपाक सूत्रांग १२. दृष्टिवादनाम अङ्ग के पांच भेद हैं। १. परिकर्म २. सूत्र ३. प्रथमानुयोग ४. पूर्वगत ५. चूलिका । (२) **चौदह पूर्वो के नाम**— १ उत्पादपूर्व २. आग्रायणीय ३. वीर्यानुवाद ४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ५. ज्ञानप्रावादपूर्व ६ सत्यप्रवाद ७. आत्मप्रवाद ८. कर्मप्रवाद ९. प्रत्याख्यानपूर्व १०. विद्यानुवाद ११. कल्याणवाद १२ प्राणवाद १३. क्रियाविशाल १४. त्रिलोकबिन्दुसारपूर्व । इस प्रकार ग्यारह अग और चौदह पूर्वो के ज्ञाता पुरुप उपाध्याय कहलाते है । वे सघ से मुनियो को पढ़ाते हैं।

इनको उपाध्याय पद आचार्यों द्वारा दिया जाता है। (३) तपस्वी—जो पर पदार्थो मे निर्ममत्व रखते है वही साधु तप कर सकते है। जिनको अपने शरीर से भी ममत्व नही है वे ही साधु द्वादश प्रकार का तप तथा आतापनयोग, वृक्षमूलयोग, तथा अभ्रावकाश योग, धारणकर कर्मो पर विजय प्राप्त कर सदा के लिये सुखी हो जाते है। वेही साधु धन्य गिने गये हैं। जो एक ग्रास, दो ग्रास, एक उपवास, दो उपवास, पक्ष, मास, छै मास, एक वर्ष भर तक के उपवास करते तथा अंगुष्ठ का सहारा ले कर खड़े रहते है, उनको सिद्धान्तो मे तपस्वी कहा है। (४) शैक्ष—जो श्रुतज्ञान के अभ्यास मे अपनी आत्मा को लगाकर ज्ञान की वृद्धि कर मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त हो, जिससे ससार घटे और आत्मिक शक्ति बढे। यही शिष्यो का कार्य है। (५) ग्लान—असाता आदि कर्मों के निमित्त से जिनका शरीर अनेक प्रकार के रोगो से ग्रस्त एव क्लेश सहित है, परन्तु फिर भी रोगो के उपचार मे जिनकी भावना नही है वे ग्लान कहलाते है। (६) गण–जिनका अध्ययन करने से ज्ञान बहुत चढा बढा हो और महत (बडे) मुनियो की गिनती मे हो, सो गण कहलाते हैं। (७) कुल–वर्त्तमान आचार्यो की दीक्षा सहित जो शिष्य हो सो कुल कहलाते है। (८) सघ–चार प्रकार संघ जैसे मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका अथवा यति, मुनि, अनगार और साधु अथवा देव ऋषि, राज ऋषि, ऋद्धि ऋषि और ब्रह्म ऋषि इस प्रकार सघ कहलाता है। (९) साधु–जो मुनि बहुत काल से दीक्षित हो और जिनने बहुत प्रकार के उपसर्ग तथा परिषह जीते हों और आर्त्त, रौद्र, परिणाम जिन के नही होते हो, वे साधु कहलाते है। (१०) मनोज्ञ—जिनका उपदेश लोक मान्य हो तथा जिन की आकृति को देखकर लोगो के दिल मे स्वय पूज्य के भाव पैदा हो जाय, और सर्व मुनि सघ मे जो मनोज्ञ हो तथा समस्त लोग जिन को विद्यावान समझे और श्रेष्ठ वक्ता हो, महान् कुलवान हो, और जैन मार्ग का गौरव रखते हो, मनोज्ञ कहलाते हैं। इन दस प्रकार के साधुओ का वैयावृत्य जरूर करना चाहिए। आगे साधुओ की प्रशसा करते है—

'अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः सविग्नमानसा, कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनि. स्पृहा ।१।

भवभ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धि समाश्रिता ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिन पुण्यचेष्टिता ।। २ ।। (ज्ञानार्णव शुभचन्द्राचार्य)

अर्थ—जो सयमी मुनि तत्वार्थ का यथार्थ स्वरूप जानते है मन मे सवेगरूप हैं, मोक्ष तथा उसके मार्ग मे अनुरागी है और ससार जनित सुखो मे नि स्पृह वाछा रहित हैं, वे मुनि धन्य एव प्रशसनीय है। ससार के भ्रमण से निर्वेद को प्राप्त हुए, भाव शुद्धि से सम्पन्न, इस पृथ्वी तल पर कुछ ही पुण्यशाली योगी है।

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहावसतिका शय्या शिवा पार्वती ।

दीपाश्चन्द्रकराः मृगाः, सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।।
विज्ञानं सलिलं तपः, सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां ।
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथ,प्रोद्देशका सन्तु न ।। २१ ।।
दु प्रज्ञावललुप्तवस्तुनिचया , विज्ञानशून्याशया. ।
विद्यन्ते प्रतिमंदिरं निजनिज,स्वार्थोद्यता देहिनः ।।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयै,निर्वाप्य जन्मज्वरं ।
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्,ते सन्ति द्वित्रा यदि ।। २४ ।।
निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगा', पचाक्षकक्षान्तका. ।
ध्यानध्वान्तसमस्तकल्मषविषा, विद्याम्बुधे पारगा ।।
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः, कारुण्यपुण्याशया ।
योगीन्द्रा. भवभीमदैत्यदलना , कुर्वन्ति ते निर्वृतिम् ।। २० ।।
ये' सुप्तं हिमशैलशृङ्गसुभग,प्रासादगर्भान्तरे ।
पल्यङ्के परमोपधानरचिते, दिव्याङ्गनाभि सह ।।
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविषयै,रन्तः स्फुरज्ज्योतिषि ।
क्षोणीरन्ध्रशिलादिकोटरगते,र्धन्या निशा नीयते ।।२५।। (ज्ञानार्णव पञ्चमसर्ग)

अर्थ—जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजाओ के विन्ध्याचल पर्वत नगर है, पर्वत की गुफाये वसतिका (गृह) है, पर्वत की शिला शय्या समान है, चन्द्रमा की किरणे दीपक तुल्य है, मृग सहचरी है, सर्व भूतो पर मैत्री कुलीन स्त्री है, पीने का जल विज्ञान है, तप ही उत्तम भोजन है, वेही धन्य है; ऐसे मुनिराज हमको ससार रूपी कर्दम से निकालने का उपदेश देने वाले हो । बुद्धिबल से वस्तु समूह को लोपने वाले (नास्तिक) सत्यार्थज्ञान से शून्य चित्तवाले तथा अपने विषयादिक के प्रयोजन मे उद्यमी ऐसे प्राणी तो घर २ विद्यमान हैं; परन्तु आनन्द रूप अमृत समुद्र के कण समूह से ससार रूप ज्वर के दाह को-अग्नि को बुझाकर मुक्ति रूपी स्त्री के मुख रूपी चन्द्रमा के विलोकन करने मे जो तत्पर है वे'यदि है तो दो तीन ही होगे । जिन्होने चित्तरूपी प्रचण्ड पक्षी को निश्चल कर दिया है, पंचेन्द्रिय रूपी वन को जला दिया है, ध्यान से समस्त पापो का नाश कर दिया है विद्या रूप समुद्र के पारगामी हैं, क्रीड़ा मात्र से कर्मो के मूल को उखाडने वाले हैं, करुणा भाव रूप पुण्य से पवित्र चित्त वाले है और ससार रूप भयानक दैत्य को चूर्ण करने वाले है, वे योगीन्द्र भव्य प्राणियो को मुक्ति के दाता होवे । जिन्होने पूर्वावस्था मे हिमालय के शिखर समान सुन्दर महलो मे उत्कृष्ट उपधान हंस तूलादि से रची हुई शय्या मे सुन्दर स्त्रियो के साथ शयन किया था वे ही समस्त संसार के विषयों के निरस्त करने वाले पुण्यशाली पुरुष अन्तरङ्ग में ज्ञान ज्योति

के स्फुरण होने से पृथ्वी में तथा पर्वतो की गुफाओं मे एवं शिलाओं पर अथवा वृक्ष के कोटरो में प्राप्त होकर रात्रि व्यतीत करते है, वे धन्य है । और भी कहा है—

"आत्मन्यात्मप्रचारे, कृतसकलबहि', सगसन्यासवीर्या—
दन्त: ज्योतिप्रकाशा,द्विलयगतमहा,मोहनिद्रातिरेक: ।
निर्णीते स्वस्वरूपे, स्फुरति जगदिवं, यस्य शून्यं जड़ वा—
तस्य श्री बोधवार्धे दिशतु तव शिव, पाद पङ्करुहश्री' ।। २७ ।।

अर्थ—जिसकी आत्मा मे अपना प्रवर्तन है पर द्रव्य में नही है और बाह्य परिग्रह त्याग से, तथा अन्तरङ्ग विज्ञान ज्योति के प्रकाश होने से जिस के महामोह रूप निद्रा का उत्कर्ष नष्ट होगया है, और जिसको स्वरूप का निश्चय होने से यह जगत् शून्यवत् वा जड वत् प्रतिभासता है,ऐसा ज्ञान समुद्र मुनिके चरण कमल की लक्ष्मी तुमको मोक्ष पद प्रदान करे।

समुद्यतास्तपसि जिनेश्वरोदिते, वितन्वते निखिलहितानि नि: स्पृहा ।
सदा न ये मदनमदैरपाकृता , सुदुर्लभा जगति मुनीशिनोऽत्र ते।।६६५।। (सुभाषित० सदोह)

अर्थ—जो मुनिराज तीर्थङ्कर भगवान् के द्वारा कहे हुए आभ्यन्तर तपो (प्रायश्चित्, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान) तथा बहिरङ्ग तपो (अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रस परित्याग, विवक्त शय्यासन और काय-क्लेश) मे प्रवृत्ति करते है, एव कामनाओ से रहित होकर समस्त ससार को कल्याण का मार्ग बताते है, काम वासनाओ से रहित ऐसे मुनीश्वर ससार मे दुर्लभ है । ६६५ (सुभाषितरत्न सदोह)

"न कुर्वते कलिलविवर्धनक्रिया , सदोद्यता , शमयमसयमादिषु ।
रता न ये निखिलजनक्रियाविधौ, भवन्तु ते मम हृदये कृतास्पदा ।। ६८० ।।
न रागिण वचनदोषदूषिता, न म हिनो भवभयभेदनोद्यता. ।
गृहीतसन्मननचरित्रदृष्टयो, भवन्तु मे मनसि मुदे तपोधना ।। ६८४ ।।
तनूभृता नियमतपोव्रतानि ये, दयान्विता ददति समस्तलब्धये ।
चतुर्विधो विनयपरायणो सदा, दहन्ति ते दुरितवनानि साधव ।। ६८६ ।।

अर्थ—जो मुनिराज पापवर्धक क्रियाये नही करते, शम–शान्ति, दम–इन्द्रियो का दमन और सयम अर्थात् प्राणी-सयम तथा इन्द्रिय सयममे तत्पर है और सासारिक कृषि वाणिज्य आदि व्यापार एव क्रियाओ से दूर रहते है वे मुनिराज हमारे हृदय मे विराजमान रहे ।६८०। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के पालक, सासारिक दु खो के नाशक, इष्ट वस्तु मे राग रहित, अनिष्ट वस्तु मे द्वेष रहित, तथा मोह और अज्ञान से दूर ऐसे तपस्विजन हमारे मन में हर्ष उत्पन्न करे ।६८४। जो दयालु मुनिराज, प्राणियो को मोक्ष पद की प्राप्ति के निमित्त भूत नियम, तप, और व्रत रूप धार्मिक क्रियाओ का उपदेश करते है तथा चार प्रकार के

सघ की विनय करते है, वे मुनिराज आप के पाप रूपी वन को जलावे।६८६। **–मुनियों के सार्थकनाम–** आगे मुनियो के जो अनेक नाम है उन को निरुक्ति पूर्वक सप्रमाण दिखाते है

"तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृता:, निरुक्ति युक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ।। १ ।।
मानमायामदामर्षक्षपणात् क्षपण: स्मृत , यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदु श्रमणं बुधा ।२।
यो हताश प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे, य सर्वसङ्गसत्यक्त स नग्न. परिकीर्तित ।। ३ ।।
रेषणात् क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिण:, मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भि कीर्त्यते मुनि ।४।
य: पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत्, योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगार सतां मत ।। ५ ।।
य कर्मद्वितयातीतस्त मुमुक्षुं प्रचक्षते, पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्धएव स ।। ६ ।।
निर्ममो निरहङ्कारो निर्वाणमदमत्सर , निन्दायां संस्तवे चैव समधी शसितव्रत ।। ७ ।।
श्रुते व्रते प्रसख्याने संयमे नियमे यमे, यस्योच्चै सर्वदा चेत सोऽनूचान. प्रकीर्तित ।। ८ ।।
योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्त शास्वतेपथि निष्ठित, समस्तसत्त्वविश्वास्य सोऽनाश्ववानिह गीयते।६।

काम क्रोधोमदोमाया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् ।
येनेद साधित स स्यात् कृती पञ्चाग्निसाधक ।। १० ।।
संसाराग्निशिखाच्छेदोयेन ज्ञानासिनाकृत ।
त शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ।। ११ ।।
कर्मात्मनो विवेक्ता य क्षीरनीरसमानयो ।
भवेत् परमहंसोऽसौ नासिवत् सर्वभक्षक ।। १२ ।।

ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैनियमैरिन्द्रियाणिच, नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ।। १३ ।।

पचेन्द्रियप्रवृत्ताख्यार्ः,तथय पञ्चकीर्तिता ।
संसारे श्रेयहेतुत्वात्ताभि,र्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ।। १४ ।।
अद्रोह. सर्वभूतेषु, यज्ञो यस्य दिने दिने ।
स पुमान् दीक्षितात्मा स्या,न्नत्वजादियमाशय: ।। १५ ।।
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी, सर्वसत्त्वहिताशय. । (यशस्तिलक पृष्ट ४११-४१२)
सश्रोत्रियो भवेत्सत्यं, न तु यो बाह्यशौचवान् ।। १६ ।।

अर्थ—जिस गुण की प्रधानता से मुनियों के नामान्तर है उनको निरुक्ति के साथ लिखते है । १. क्षपणक–अभिमान, छलकपट, मद, एवं क्रोधादि के क्षपण [क्षय] करने से कहते है । २. श्रमण–तपश्चर्या रूप श्रमके कारण कहते है । ३ आशाम्बर–दिगम्बर–आशा–दिशा, रूप वस्त्र धारण करने से कहते है । ४ नग्न–परिग्रह रहित एव वस्त्र के भी न होने से कहते हैं । ५. ऋषि सासारिक दु ख के क्षय के कारण कहते हैं । ६ मुनि—अध्यात्म विद्याओ के मनन से कहते हैं । ७. अनगार—शरीर रूप मकान से त्याग एवं

ममत्वाभाव से है। ८.यति–हिंसादिक पचपाप से दूर रहने के प्रयत्न से कहते है। ९ मुमुक्षु–संसार से छूटने की इच्छा से कहा है। १० निर्मम—ममत्व रहित होने से कहा है। ११ निरहकार–अहकार न होने से कहा है। १२ निर्वाण मदमत्सर—अहकार और ईर्ष्या के अभाव से कहते है। १३. समधी—निन्दा और स्तुति में समान रहने से कहाते है १४. शसितव्रन–व्रत नियम प्रशमित होने से कहते है। १५. अनूचान–मानसिक वृत्ति, व्रत सयम यम नियमादि पालन से कहते है। १६ अनाश्वान्–स्थायिरूप से मोक्ष मार्ग मे लवलीन होने के कारण तथा इन्द्रिय विजयी एव समस्त प्राणियो मे विश्वसनीय होने से कहलाते है। १७ पंचाग्निसाधक—काम १ क्रोध २ मद ३ माया ४ और लोभ ५ पाच अग्निया है इनको बुझाने के हेतु से है। १८ शिखोच्छेदी—ससार रूपी अग्नि की शिखा (ज्वाला) के उच्छेदन से कहते है। १९ परमहस—दूध और पानी के समान मिश्रित आत्मा और कर्म को जुदा करने के कारण कहते है। २० तपस्वी—इच्छाओ के निरोधन रूप तप से मन एव इन्द्रियो पर विजय करने से कहते है। २१ अतिथि–मुक्ति मार्ग उपदेशन मे तिथि निर्धारित न करने के कारण कहा गया है। २२ दीक्षितात्मा—प्रति दिन दया रूपी यज्ञ से दीक्षित होने से कहते है। २३ श्रोत्रिय—समस्त प्राणियो की कल्याण-भावना, पाप से राहित्य, तथा पाप क्रियाओ मे प्रवृत्ति न होने से कहते है। इस प्रकार सार्थक नामधारी गुरुओं की उपासना, सेवा, भक्ति, आहार औषध शास्त्रादि दान देकर, आत्म–कल्याण करना श्रावकों का कर्तव्य है। **– मूल सघ के अतिरिक्त जैन सघ –** अब मूल सघ के अतिरिक्त दूसरे जैन सघो का वर्णन करते है। **– उन्मार्गियो का कथन –** [नीतिसार]

भरते पञ्चमकाले नानासंघसमाकुलम्। वीरस्य शासनं जात, विचित्रा कालशक्तय ॥ २ ॥

अर्थ–इस जम्बू दीप के भरत क्षेत्र मे हुडावसर्पिणी काल दोष से भगवान् वर्धमान स्वामी का दिव्य शासन भी अनेक सघो वाला हो गया। काल की शक्ति विचित्र होती है।

स्वर्गं गते विक्रमार्के, भद्रबाहौ च योगिनि। प्रजा स्वच्छदाचारिण्यो बभूवु पापमोहिता ॥३॥

अर्थ–विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त तथा निमित्त ज्ञानी भद्रबाहु योगीश्वर के स्वर्ग प्राप्त होने पर प्रजा (जनता) स्वच्छन्द चारित्र (निरर्गल) तथा पाप मोहित हो गई।

यतीना ब्रह्मनिष्ठाना, परमार्थविदामपि। स्वपराध्यवसायत्वमाविरासीदतिक्रमम् ॥ ४ ॥

अर्थ—उस समय बडे २ ब्रह्म ज्ञानी और परमार्थ(मोक्ष पुरुषार्थ)के ज्ञाता ब्रह्मर्षियो के भी न्यायोल्लघन करना प्रगट (व्यक्त)होगया। यह हमारा निकट सम्बन्धी है, यह दूर है तथा पर है भिन्न है, इसके लिये यह कायदा कानून है, तथा यह हमारा आज्ञाकारी शिष्य है यह दूसरो का दीक्षित है, इसके लिये ऐसा प्रायश्चित्त है। इत्यादि शिक्षा भेद होने लगा, जिससे जाति व्यवस्था, कुल मर्यादा और आश्रम व्यवस्था भी बिगड़ने लगी और मत मतांतर

अनेक प्रकार के होने लगे। वेही यहा बताये जाते है। **— मूल संघ के भेद —**

सिहसघो नन्दिसघ सेनसंघो महाप्रभ । देवसघ इति स्पष्ट, स्थानस्थितिविशेषत. ॥ ७ ॥

अर्थ—मूल सघाम्नाय मे १. सिहसंघ २. नन्दि संघ ३. सेन सघ ४. देव सघ, ये चार संघ तो मूल सघ में रहे और इनके अतिरिक्त और जो संघ हुए सो जैनाभास सघ गिने गये है।

कियत्यपि ततोऽतीते, कालेश्वेताम्बरोऽभवत् ।
द्राविडो यापनीयश्च, काष्ठासंघश्च मानत ॥ ६ ॥

अर्थ—भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष के पश्चात्(कुछ काल व्यतीत होने के बाद, अहकार के वश से (अभिमान से) उन जैनो मे से श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीय और काष्ठासघ निकले है ॥ ६ ॥ **मतप्रवर्त्तक— उसहजिणपुत्तपुत्तो, मिच्छतकलकिदा महामोहो ।**
सव्वेसिं भट्ठाणं, धुरिगणिओ पुव्व सूरीहि ॥ ३ ॥ (दर्शनसार)

अर्थ-तृतीय काल के अन्त मे भगवान् ऋषभ देव का पोता महा मिथ्यात्वी मारीच कुमार, तमाम मतो का प्रर्वतक (अगुआ) हुआ। (दर्शनसार)

सिरिपासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलासणयरत्थो ।
पिहिया सवस्स सिस्सो, महासुदो वुट्टकित्तिमुणी ॥ ६ ॥

अर्थ—श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ मे सरयू नदी के तटवर्ती पलास नगर मे पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धि कीर्ति महा श्रुत का पाठी था, उसने रक्ताम्बर नाम का एकान्त मत चलाया, उसने शराब [मद्य] मास तथा सचित्त कोई अनुचित्त पदार्थ नही, जैसे अनाज (धान्य) जल वैसेही सब पदार्थ (वस्तुये) है। इन के सेवन मे कोई दोष नही है।

—* श्वेताम्बर मत *— (दर्शनसार)

छत्तीसे वरिससणविक्कमरायस्य मरणपत्तस्स, सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो सघो ॥ ११ ॥

अर्थ—नृप विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के वल्लभीपुर मे श्वेताम्बर सघ उत्पन्न हुआ। उसने ऐसा मत चलाया कि स्त्री उसी भव से मोक्ष जाती है। भगवान् केवली कवलाहार करते है और उन्हे रोग भी होता है। वस्त्र धारण करने वाले मुनि होते है। गृहस्थ पणे में केवल ज्ञान पैदा होता है। गर्भ हरण होता है। जुगलिया मरण से स्त्री विधवा हो जाती है। जिन मुद्रा के अलावा मोक्ष जाते है। साधु चौदह प्रकार के परिग्रह रख सकते हैं। प्रासुक भोजन कही से भी ले लेना चाहिये।

—* विपरीत मत की उत्पत्ति *— (दर्शनसार)

सुव्वयतित्थे उज्झो, खीरकदवुत्ति सुद्धसम्मत्तो ।
सीसो तस्य य दुट्ठो, पुत्तो वि य पव्वओ वक्को ॥ १६ ॥

अर्थ—वीसवे तीर्थकर मुनि सुव्रत स्वामी के समय मे क्षीर कदव उपाध्याय के शिष्य

"नारद" पर्वत और राजावसु इन्होंने विपरीत मत की स्थापना की कि जीव मारने में कोई पाप नही। ऐसा करने से सप्तम नरक में पर्वत और राजा वसु गये। **वैनयिक मत की उत्पत्ति**

सव्वेसुय तित्थेसु य वेणइयाण समुब्भवो अत्थि,सजडा मु डिया सीसा सिहीणो णगाय केई य।

अर्थ—सब ही तीर्थकरो के बारे मे वैनयिको का उद्भव होता रहा है। उनमे कोई जटाधारी, कोई मुंडे, कोई शिखाधारी, कोई लटाधारी, और कोई नग्न रहे है। इन का विचार ऐसा कि चाहे कोई कैसा भी हो सब मे समानता से भक्ति करना, सबही देवो मे दण्ड की तरह आडे पडकर (साष्टाग) नमस्कार करना, इस प्रकार के सिद्धान्तो को उनने सब लोगो मे चलाया। —※ **अज्ञान मत की उत्पत्ति** ※— [दर्शनसार]

सिरिवीरणाहतित्थे, बहुस्सुदो पाससंघगणि सासो।
मक्कडि पूरणसाहू, अण्णाणं भासए लोए।। २०।।

अर्थ–महावीर भगवान् के तीर्थ मे पार्श्वनाथ तीर्थकरके संघ के किसी गणी का शिष्य मस्करी पूर्णनाम का साधु था। उसने ऐसा उपदेश दिया कि अज्ञान से मोक्ष होता है और मुक्त जीव मे ज्ञान नही रहता। जीवो का पुनरागमन नही होता अर्थात् वे मरकर फिर जन्म नही लेते और उन्हे भव भव मे भ्रमण नही करना पडता है।।२१।। सारे जीव लोक का एक परमात्मा कर्त्ता है, शून्य और अमूर्त्तिक रूप ध्यान करना चाहिये तथा वर्ण भेद नही मानना चाहिये। इस प्रकार उसने उपदेश दिया। **द्राविड संघ की उत्पत्ति**.—

सिरिपुज्जपादसीसो, दाविड सघस्य कारगो दुट्ठो, णामेण वज्जणदी पाहुड वेदो महासत्तो।२४।

अर्थ—श्री पूज्यपाद या देवनन्दि आचार्य का शिष्य वज्रनन्दि द्राविड सघ का उत्पन्न करने वाला हुआ। यह प्राभृत ग्रन्थो का ज्ञाता और महा पराक्रमी था। मुनि राजो ने इसको अप्रासुक या सचित्त पदार्थो के खाने से रोका, पर यह नही माना। बिगड कर विपरीत प्रायश्चित्तादि शास्त्रो की रचना की।।२५।। उसके विचारानुसार बीजो मे जीव नही है, मुनियो का खडे भोजन नही करना, कोई वस्तु प्रासुक नही है। वह सावद्य भी नही मानता और गृह कल्पित अर्थ को भी नही गिनता।।२६।। कछार, खेत, वसतिका, और वाणिज्यादि करना, शीतल जल मे स्नान करना, उसने ऐसा उपदेश दिया कि मुनि लोग खेती करावे, रोजगार करावे, वसतिका बनवावे तथा अप्रासुक जल मे स्नान करने मे, दोष नही है। विक्रम राजा की मृत्यु के ५२६ वर्ष बीतने पर दक्षिण मथुरा (मदुरा) नगर मे यह महा मोह रूप द्राविड संघ उत्पन्न हुआ। **यापनीय सघ की उत्पत्ति**— (दर्शनसार)

कल्लाणे वरणयरे, सत्तसए पंच उत्तरे जादे।
जावणिय सघ भावो, सिरि कलसादोहु सेवडदो।। २९।।

अर्थ—कल्याण नाम के नगर में विक्रम नृप की मृत्यु के ७०५ वर्ष बीतने पर श्री कलशनाम श्वेताम्बर साधु से यापनीय संघ का सद्भाव हुआ। **काष्ठासंघ की उत्पत्ति—**

सिरिवीरसेरासीसो, जिरासेरो सयलसत्थविण्णारगी।
सिरिपउमनंदिपच्छ., चउसंघसमुद्धरराधीरो ।। ३० ।। (दर्शनसार)

अर्थ—श्री वीर सेन स्वामी के शिष्य जिन सेन स्वामी सकल शास्त्रो के ज्ञाता हुए। श्री पद्मनन्दि या कुन्दकुन्दाचार्य के बाद ये ही चारो संघ के उद्धार करने मे समर्थ हुए। इनके पीछे विनयसेनाचार्य हुए, फिर उनके बाद गुणभद्र स्वामी हुए। दूसरा शिष्य कुमार सेन हुआ सो सन्यास से भ्रष्ट होकर प्रायश्चित्त नही लिया और जब उसको समझाया तो नाराज होकर उसने उल्टामत चलाया। इसकी कथा पहले लिख चुके है। इसने ऐसा उपदेश दिया कि मुनियो को मयूर-पिच्छिका का त्याग कर, चमर तथा गौ के वालो की पिच्छिका रखना चाहिये। इसने सारे बागडप्रान्त मे उन्मार्ग का प्रचार किया। उसने स्त्रियो को दुबारा दीक्षा देना, और क्षुल्लको को वीर चर्या करना, मुनियो को कडे वालो की पिच्छी रखने का, और रात्रि भोजन छठे गुण व्रत का विधान किया। इसके उपरान्त उसने अपने आगम, शास्त्र, पुराण और प्रायश्चित्त ग्रन्थो को और ही प्रकार के रचकर मूर्ख लोगो मे मिथ्यात्व का प्रचार किया। विक्रम राजा की मृत्यु के ७५३ वर्ष बाद नन्दी तट ग्राम मे कुमार सेन द्वारा यह काष्ठासघ उत्पन्न हुआ। **माथुरसघ की उत्पत्ति—**

तत्तो दुसएतीदे मदुराइ माहुराण गुरुणाहो, णामेण रामसेणो णिप्पिच्छ वण्णिय तेण।।४०।।

अर्थ—काष्ठासंघ के बाद २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् विक्रम की मृत्यु के ९५३ वर्ष बाद मथुरा नगरी मे माथुर संघ का प्रधान गुरु रामसेन हुआ। उसने निपिच्छिक रहने का मुनियो को उपदेश किया। मुनियो को न मोर पंखो की पिच्छिका और न वालो की पिच्छिका की जरूरत है ऐसा कह इसने पिच्छी सर्वथा ही हटादी। जिन बिम्ब अपने द्वारा प्रतिष्ठित और अन्य के द्वारा प्रतिष्ठित मे न्यूनाधिक भाव से पूजा वन्दना करने यह मेरे गुरु है, यह मेरे गुरु नही है, इस प्रकार के भाव रखने, अपने गुरु का मान रखना और दूसरे के गुरु का मान भंग करना आदि उपदेश दिया। **– भिल्लक सघ की उत्पत्ति –** (दर्शनसार)

दक्खिणदेसे विंझे पुक्कलए वीरचद मुणिणाहो, अट्ठारसएतीदे भिल्लयसंघ पुरूवेदि ।।४५।।

अर्थ—दक्षिण देश मे विन्ध्य पर्वत के समीप पुष्करनाम के गाम मे वीरचन्द्रनाम का मुनिपत्नि विक्रम राजा की मृत्यु के १८०० वर्ष बीतने पर भिल्लक संघ को चलायगा। वह अपना एक जुदा गच्छ बनाकर जुदाही प्रतिक्रमणविधि बनायगा, भिन्न क्रियाओ का उपदेश देगा और वर्णाचार का विवाद खडा करेगा। इस तरह वह सच्चे जैन धर्म का नाश करेगा। इन जैनाभासियो के अलावा दिगम्बर ही रहने वाले, इस जैन धर्म मे शिथि-

लाचारी उन्मार्गी साधु (विपरीतमार्गी) और है उनका यहा थोडा वर्णन करते है। ये पात्र दृष्टि से वहुत ही गिरे हुए है, इन को पूज्य दृष्टि से देखने पर महा पाप लगता है। उनका यहा पर किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है। जिन को जैन सिद्धान्त पार्श्वस्थ शिथिलाचारी कहता है उनका भी थोडा दिग्दर्शन कराते है। जो जैन गुरु पने के घमण्ड मे चकचूर, परन्तु जैन नही, वे वैयावृत्य करने योग्य नही है। (मूलाचारषडा)

पासत्थो य कुसीलो, संसत्तो सण्ण मिगचरित्तो य।
दंसरणणारण चरित्ते, अरिणउत्ता मंद संवेगा॥ ९६॥

टीका—सयतगुणेभ्य. पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति(१)पार्श्वस्थ , वसतिकादि प्रतिबद्धो, मोहवहुलो, रात्रिदिवमुपकरणाना कारको,ऽसयतजनसेवी, सयतजनेभ्यो दूरीभूत , कुत्सित शील आचरण स्वभावो वा यस्यासौ (२)कुशीलो, क्रोधादिकलुषितात्मा, व्रतगुणशीलैश्च परिहीन , संघस्यायशः करणकुशल., सम्यगसंयतगुणेष्वासक्त , ३. ससक्त , आहारादि गृध्या वैद्यमत्रज्योति पादिकुशलत्वेन प्रतिवद्धो, राजादिसेवातत्पर ,४ ओसण्णोऽपगतसज्ञोऽपगता विनष्टा संज्ञा सम्यग्ज्ञानादिक यस्यासौ अपगतसज्ञ,चरित्राद्यपहीनो,जिनवचनमजानञ्चारित्रादिप्रभ्रष्ट.,करणालस सासारिकसुखमानस मृगस्येव पशोरिव चरित्रमाचरण यस्यासौ ५.मृगचरित्रः, परित्यक्ताचार्योपदेश ,स्वच्छदगति,रेकाकी, जिनसूत्रदूषणः,तप सूत्राद्यविनीतो,धृतिरहितश्चेत्येते पच पार्श्वस्था दर्शनज्ञानचरित्रेषु, अनियुक्ताश्चरित्राद्यनुष्ठानपरामदसवेगास्तीर्थ धर्माद्यकृतहर्षः सर्वदा न वन्दनीया इति॥ ५६॥ दसरणणाणचरित्ते, तव विणए णिच्चकाल पासत्था।
एदे अवदणिज्जा, छिद्दप्पेहीगुणाधराणां॥ ९७॥

टीका—दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयेभ्यो नित्यकाल पार्श्वस्थादूरीभूता यतो त एते न वदनीयाश्छिद्रप्रेक्षिण सर्वकालं गुणधराणं च छिद्रान्वेषिण. संयतजनस्य दोषोद्भाविनो यतो न वंदनीया एतेऽन्ये चेति॥ ९७॥

अर्थ—सयमी के निकट रहने वाला, क्रोधादि से मलिन, लोभ से राजादिको की सेवा करने वाला, शास्त्र ज्ञान, से रहित, जिन सूत्र मे दोष देने वाला ये पांच प्रकार के १ पार्श्वस्थ २ कुशील ३. ससक्त ४ अवसन्न ५. मृगचारी है। इनका भेष दिगम्बर जैसा होता है परन्तु अवगुणी होने से वदनीय नही है। ये जो ऊपर बतलाये है ये कहने मात्र के साधु है। ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप विनयादि से सदा काल दूर रहते है। सयमियो के सदा दोषो को देखने वाले पार्श्वस्थादि है, इसलिये ये नमस्कार करने योग्य नही है। इन पाच प्रकार के साधुओ का खुलासा चारित्र सार मे पृ० ६२ वार्तिक रूप मे इस प्रकार है—

— पार्श्वस्थ का स्वरूप —

पार्श्वस्थ-तत्र या वसतिषु प्रतिबद्धउपकरणोपजीवी च श्रमणाना पार्श्वतिष्ठति स पार्श्वस्थ ।

अर्थ—वसतिका के विषे प्रतिबद्ध कहिये अपना कर रहे हैं, और उपकरणों का सग्रह करे, और उनको सुधारे, उनसे जीविका करे तथा महामुनियों के पास में रहें सो पार्श्वस्थ है ।। १ ।।

कुशील–क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलै परिहीन संघस्याविनयकारी कुशील ।

अर्थ—क्रोधादि कषाय कर मलिन है आत्मा जिनकी, और मूल गुण तथा उत्तर गुण और शील के समस्त भेदनि कर रहित तथा सघ का अविनय करने वाले ही कुशील है । **संसक्त—वैद्यमत्रज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवक संसक्त ।**

अर्थ—वैद्य-विद्या, मत्र-विद्या, ज्योतिष-विद्या, से जो जीविका करने वाले तथा राजादिको की सेवा करते है सो ससक्त है ।

अवसन्न—जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानाचरणभ्रष्ट करणालसोऽवसन्न ।

अर्थ—जिन वचन को नही जानने वाला, छोड दिया है चारित्र जिसने, और ज्ञानाचरण से भ्रष्ट अनादि शुभोपयोग के करने मे आलसी है, वह अवसन्न जानो । **मृगचारी—त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छंदविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्र स्वछद इति वा ।**

अर्थ—त्याग दिया है गुरु कुल जिसने और एकाकीपणाकर स्वच्छद विहार करने वाला, जिन वचन की निन्दा करने वाला, सो स्वच्छद है ।। ५ ।। **—स्वाध्याय—**

"चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थत ,अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्याय कथ्यते हि स ।५६६।

अर्थ—भगवान् तीर्थङ्कर अरहन्त के द्वारा कहे गये ४ अनुयोगो–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के शास्त्रो को यथार्थ रूप से पढाने का नाम स्वाध्याय है । इसे प्राकृत्त में सज्भाय कहते है— **"शोभनोऽध्याय स्वाध्याय सुष्ठु आमर्यादया–कालपारुष्यादिवचनदोषपरिहारेण अध्ययनमध्यापनं स्वाध्याय. ।**

अर्थ—कालशुद्धि पूर्वक शास्त्रो का अध्ययन करने या कराने का नाम स्वाध्याय है ।

'अनालोकं लोचनमिवाशास्त्रं मनः कियत्,पश्येत्'।१।अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानापि पुमानन्ध ।२। अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्र तृतीय लोचन पुरुषाणां।३।किं नामान्धः पश्येत्। (नीतिवाक्यामृत)

अर्थ—जिस प्रकार विना प्रकाश के अधेरे मे जैसे नेत्रो द्वारा, धरे हुए पदार्थों का भी पूरा ज्ञान नही होता; उसी प्रकार बिना शास्त्रो के अनुभव पढे कुछ भी सत्य कर्त्तव्य का ज्ञान नही होता ।१। ज्ञान नेत्र का उद्घाटन शास्त्र-स्वाध्याय से ही होता है, विना शास्त्र ज्ञान के चक्षु होने पर भी मनुष्यो को नीतिकारो ने अन्धा बताया है । जो पदार्थ चक्षुद्वारा प्रतीत नही होता उसे प्रकाश करने के लिये शास्त्र ही समर्थ है । यह शास्त्र ज्ञान मनुष्यो का तीसरा नेत्र है; क्योकि शास्त्र ज्ञान के बिना अन्धे पुरुष को क्या प्रतीत हो सकता है !

"नह्यज्ञानादन्य· पशुरस्ति" [नीतिवाक्यामृत]

अर्थ—शास्त्र ज्ञान रहित मूर्ख मनुष्य को छोड़ कर उपचार से कोई और पशु नही है। अर्थात् जिस प्रकार पशु, घास वगैरह खाकर केवल मल मूत्रादि क्षेपण करता है, किन्तु उसे धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नही, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी बिना शास्त्र ज्ञान के अभक्ष्य भक्षण कर मल मूत्रादि क्षेपण कर काल व्यतीत करता है, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को नही समझता। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

"आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ ९ ॥"

अर्थ—जो सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् का कहा हुआ हो, इसी कारण जो वादियो द्वारा खण्डन न किया जा सके तथा जिसमे कहे हुए सिद्धान्तो मे प्रत्यक्ष तथा अनुमान से विरोध न आवे, तथा जीवादि सात तत्त्वो का जिसमे निरूपण हो, सर्व कल्याण का करने वाला हो तथा मिथ्या मार्ग का खण्डन करने वाला हो, वही सच्चा शास्त्र है। (उत्तर पुराण)

"पूर्वापरविरोधादिदूरं हिंसादिनाशनं । प्रमाणद्वयसंवादिशास्त्रं सर्वज्ञभाषितम् ॥ ६८ ॥"

अर्थ – जो पूर्वापर विरोध रहित हो अर्थात् निर्दोष हो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाच पापो का नाश करने वाला हो तथा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से विरोध रहित हो एव सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् द्वारा कहा गया हो वही सच्चा शास्त्र है। उसके १ प्रथमानुयोग २ करणानुयोग ३ चरणानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग चार भेद है।

प्रथमानुयोग का लक्षण — (रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ २)

'प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यं, बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः।२।

अर्थ–जिसमे परमार्थ विषय का कथन हो, पुण्य को उत्पन्न करने वाला हो, अप्राप्त सम्यग्दर्शनादि को, तथा धर्म्य और शुक्ल ध्यान को उत्पन्न करने वाला हो, ऐसे चरित्र रूप शास्त्र (जिसमे किसी एक पूज्य पुरुष का चरित्र चित्रण किया गया हो), तथा पुराण रूप शास्त्र (जिसमें ६३ शलाका के पूज्य पुरुषो की कथा हो) ऐसे प्रथमानुयोग शास्त्र को सम्यग्ज्ञान जानता है। **करणानुयोग का लक्षण**। (रत्नकरण्डश्रावकाचार अ० २)

'लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनाञ्च, आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगञ्च।३।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान लोकाकाश (ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक) और अलोका-काश के विभाग को तथा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूपकाल के परिवर्त्तन (पलटने) को नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव गति के स्वरूप को, दर्पण के समान स्पष्ट जानता है अर्थात् जैसे दर्पण,मुख आदि के स्वरूप को यथार्थ प्रकाशित करता है उसी प्रकार करणानुयोग शास्त्र भी उक्त विषयो को स्पष्ट करता है। **चरणानुयोग का स्वरूप** (रत्नक० श्रा० अ०२)

'गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्, चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ।४'

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, गृहस्थ और मुनियो के चरित्र की उत्पत्ति और वृद्धि तथा रक्षा

को निरूपण करने वाले चरणानुयोग को जानता है । इसके अनुकूल प्रवृत्ति करने से जीवन सदाचारी हो जाता है ।

— द्रव्यानुयोग का लक्षण — (रत्नक० अ० २)

"जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च, द्रव्यानुयोगदीप, श्रुतविद्यालोकमातनुते ५।"

अर्थ—द्रव्यानुयोगरूपी दीपक, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य पाप के स्वरूप को प्रकाशित करता है ।

स्वाध्याय सम्बन्धी समय का विचार

अब स्वाध्याय के लिये कौनसा समय उपयुक्त है तथा कौनसा अनुपयुक्त है, इस पर विचार किया जाता है । प्रश्न–शास्त्रो मे लिखा है कि शास्त्रो का अध्ययन समय पर करो, अन्यथा पाप बन्ध होता है । यह कहां तक समुचित है ? उत्तर—जैनशास्त्र पटने से, एव शास्त्र स्वाध्याय करने से कदापि पापबन्ध नही होता, जिस प्रकार दीपक से प्रकाश होता है और अन्धकार नष्ट होता है, उसी प्रकार जितने समय शास्त्र का स्वाध्याय किया जाता है, उससे आत्म-ज्ञान का प्रकाश होता है और पाप रूपी अन्धकार का विनाश होता है । यदि स्वाध्याय से पाप बन्ध हो तो फिर पाप कर्म की निर्जरा का ही मार्ग क्या होगा? और कर्मो की निर्जरा के अभाव मे कोई जीव मुक्त ही नही हो सकेगा । इसका विशेष विवेचन इस प्रकार जानना चाहिये । (वसुनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत मूलाचार टीका)

"एत्तो (सुत्तादो) अण्णो गथकप्परि पठितु असज्झाये"

व्याख्या—"असज्झाये अस्वाध्यायेऽन्यत् पुन सूत्रं कालशुद्धयभावेऽपि"

अर्थ—दिग्दाहादि अकाल एव जनन मरण अशौच (सूतक) सामायिकादि काल जिसमें स्वाध्याय न किया जा सके ।

"असज्झाय असज्झाइय–(अस्वाध्यायिक पु० न६ आमर्यादया सिद्धान्तोक्तन्यायेन पठनमध्याय. सुष्ठु शोभनमध्याय. स एव स्वाध्यायिक नास्ति स्वाध्यायो यत्र तदस्वाध्यायिकमस्वाध्यायो वा रुधिरादौ स्वाध्यायकरणहेतौ । (प्रवचन सारोद्धार । २३८द्वा)

"न स्वाध्यायिक स्वाध्यायिक कारणे कार्योपचारात् रुधिरादौ" (धर्म सग्रह ३ अध्याय)

"असज्झाइय दुविह आदसमुत्थं परसमुत्थ च जम्मि जम्मिकारणे सज्झाओ ण कीरइ त सव्व असज्झायं । (अभिधान राजेन्द्र अवर्ग १ खण्ड)

अर्थ—जिस काल में वा जिन रुधिरादि निष्कासन आदि कारणो से शास्त्रो का मर्यादा पूर्वक पठन पाठन न किया जा सके उन समस्त कारणो को अस्वाध्याय या अस्वाध्यायिक कहते है । यहा पर सर्वत्र नही पढने रूप अस्वाध्याय कार्य का उस पठन पाठन को रोकने वाले कारणो मे, आरोपण लगाना रूप उपचार कर दिया गया है अर्थात् वास्तव मे अस्वाध्याय नही पढने को कहते है । दिग्दाहादि अकाल रुधिरादि

अद्रव्य,सूतकादि अद्रव्य; उस नहीं पढने मे कारण है । उनको वहा व्यवहार उपचार से अस्वाध्याय कह दिया है । "**अस्वाध्याय (पु०) न स्वाध्याय वेदाध्ययन यस्य अथवा न स्वाध्याय वेदाध्ययन यस्मिन् काले अष्टम्यादो**" (शब्द चिन्तामणि कोष पृ० १२७)

अर्थ–जिन अष्टमी आदि तिथियो मे एवं सूतकादि दिनो मे वेदाध्ययन रूप स्वाध्याय वर्जित है, उन्हे अस्वाध्याय या स्वाध्याय का अकाल कहते हैं । (पाई सद्दमहण्णवो पृ० ११३ '**असज्झाय(अस्वाध्या पु०)पठन पाठन का प्रतिबन्धक कारण।' "अस्वाध्याय(पुं०)निराकृति, वेदाभ्यास रहित अपनी शाखा के अनुसार जिसने वेदाध्ययन किया हो वह** ।(युगलकोषपृ ४०)

अस्वाध्याय (त्रि०लि०) **न स्वाध्यायो वेदाध्ययन यस्य । वेदाध्ययनहीने "अस्वाध्याय वषट् कारणस्" इति स्मृति. । न स्वाध्यायो यस्मिन् । अध्ययन निषिद्धे काले अष्टम्यादौ । अधीयते अधि इङ्–घञ् अध्याय स्वस्य स्ववर्णानुसारेण अध्याय स्वाध्याय "स्वाध्यायोऽध्ये –तस्य" इतिश्रुति । नञ् तत्पुरुषसमास । स्वाध्यायाभवे** । (शब्दस्तोम महा.पृ. ५२ काल)

अर्थ—वेदाध्ययन जिस काल मे न किया जाय या अपने वर्णानुसार पढना स्वाध्याय और तद्भिन्न–अस्वाध्याय। इन समस्त उद्धरणो से यही निष्कर्ष निकला कि जिन २ कारणो से स्वाध्याय न किया जा सके उन्हे अस्वाध्याय या असज्झाय कहते है । वह असज्झाय दो प्रकार का है । एक आत्म समुत्थ दूसरा पर समुत्थ । पर समुत्थ दिग्दाहादि काल कृत अशुद्धि को कहते है । यथा— (मूलाचार सस्कृत टीका पूवार्ध पृ० २३०)

"दिगदाह उक्कपडरा, विज्जुचडुक्कासणिदधणुग च ।
दुग्गध सज्झ दुद्दिण, चदग्गह सूरराहुजुज्झं च ।। ७७ ।।
कलहादिधूमकेदुधरणीकंप च अब्भगज्ज च ।
इच्चेव माइ बहुया सज्झाये वज्जिदा दोसा ।। ७८ ।।

अर्थ—दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुष, सूर्य ग्रहण, तूफान, भूकम्पादि उत्पात, भयङ्कर दुर्गन्ध, बिजली का चमकना, मेघो का गर्जना, ओले वगैरह का पडना, सध्या व बादलो का लाल पीला होना, दुर्दिन , आकाश का बादलो से घिरना, चन्द्र युद्ध ग्रह–युद्ध, सूर्य युद्ध राहु-युद्ध एव निघोतादि का होना,कलह क्रोधावेश मे आपस मे महा उपद्रवरूप गाली गलौच का निकालना, तलवार लाठी वगैरह से आपस मे मार काट करना, धूमकेतु धूमाकार रेखा का दिखना, अग्निदाहादि दोष, स्वाध्याय काल मे वर्जित है अर्थात् इन कारणो के उपस्थित होने पर स्वाध्याय छोड देवे । इसे काल शुद्धि कहते है। अपने शरीरादिक मे खून वगैरह निकलने लगजाय या सूतकादि हो जाय, अपने परिणामो मे ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादि पैदा हो जाय, तो भी स्वाध्याय छोड देवे । इसे आत्म-समुत्थ अस्वाध्याय कहते है । इसी को द्रव्य, क्षेत्र, भाव, शुद्धि भी कहते है । यथा– "कालशुद्धि विधाय

द्रव्यक्षेत्रभावशुद्ध्यर्थमाह —   (मूलाचार पंचाचाराधिकार)

"रुहिरादिपूयमसं, दव्वेखेत्ते सदहत्थपरिमाण ।
कोधादिसकिलेसा, भावविसोही पठनकाले ।। ७६ ।।

अर्थ—अपने या पर के शरीर से खून, पीव, मल मूत्रादि निकल रहा हो, मक्खियां भिनभिनाट करती हो तो स्वाध्याय न करे। जहा स्वाध्याय होता हो उस स्थान के चारो तरफ १०० हाथ तक कोई अशुचि द्रव्य एवं मुर्दा वगैरह नही होना चाहिये। कदाचित् होवे तो यदि दूर किया जावे तो वहा स्वाध्याय करे अथवा उस स्थान को छोड देवे। भोजनादि भी गरिष्ठ नही खाना चाहिये। डकार आदि जभाई, अंग शरीर मरोडना आदि तथा कषाये, ईर्ष्या, परनिन्दा, आत्म प्रशसा भी स्वाध्याय काल मे छोडे। इन काल शुद्ध्यादि के द्वारा यदि सूत्रो अङ्ग उपाङ्गो का पठन पाठन किया जावेगा, तो कर्मो का नाश होकर मुक्ति प्राप्त होगी, अन्यथा कर्म बन्ध होगा।(भाषा मूलाचार, आचारवृत्ति पृ० २३२पूर्वार्ध) इन सब छोडने योग्य दोषों का ही नाम असज्भाय या अस्वाध्याय है। **स्वाध्याय का स्वरूप** अब स्वाध्याय क्या है, यह जानना भी आवश्यक है। स्वाध्याय शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार है —   "सुष्ठु सम्यक्प्रकारेण अधीयत इति स्वाध्यायः"

अर्थ—भले प्रकार मन, वचन और काय की शुद्धता से योग्य क्षेत्र काल मे यथावत् वर्णोच्चारण के आठो स्थानो से शब्द की शुद्धता पूर्वक एव अर्थ के चिंतवन सहित जिनागम का अध्ययन करना, स्वाध्याय है।   (विद्वज्जन बोधक पृ० ८६५)

नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत्, कर्मनिर्मूलनोद्यत ।
स हि स्वस्मै हितोऽपाप:, सम्यग्वाऽध्ययनं श्रुते ।। ८२ ।।

टीका—हि यस्मात् भवति। कौऽसौ? सः स्वाध्याय। कि विशिष्ट? हितः उपकारक। कस्मै? स्वस्मै आत्मने संवरनिर्जराहेतुकत्वात्। वा अथवा सु-सम्यग् आकेवलज्ञानोत्पत्ते श्रुतस्याध्ययनपाठ स्वाध्यायः इत्यन्वर्थाश्रयणात्। (मू०अनगारे धर्मा० अ० ७ पृ० ५२१)

अर्थ—स्व-आत्मा के लिये हितकर-उपकारी, सवर और निर्जरा के कारण भूत श्रुत परमागम के अध्ययन को अथवा सु समीचीन केवल ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त, श्रुत के अध्ययन पाठ को स्वाध्याय कहते है।   (प०खूबचन्द्रजी कृत भाषाटीका पृ० ७१४)

"चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थत ।
अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्याय कथ्यते हि स ।। ५६६ ।।[संस्कृत भावसग्रह पृ० २१०]

अर्थ—जिनोक्त चारो अनुयोगो का यथार्थ रूप से पढना और पढाना है उसे स्वाध्याय कहते हैं। इसी को प्राकृत भाषा मे सज्भाय कहते है। **सज्भाय**—स्वाध्याय पु० अध्ययन-मध्याय.। शोभनोऽध्याय· स्वाध्यायः। सुष्ठु आमर्यादया कालदोषपारुष्यादिवचनं दोषपरि-

हारेण अध्याय· अध्ययनममध्यापन स्वाध्याय । सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय । साध्वसध्यह्यांभ. ६ । २ २६ हैमव्याकरणेनध्यस्य प्राकृते भ । सज्झायशब्दस्य अणुव्रत-विद्यादिस्मरणे, नमस्कारापवर्तने अधीतगुणेन प्रयोग । यत्त् खलु वाचनादरासेवनमत्र भवति। धर्मकथान्ते क्रमशस्तत् स्वाध्याय । इस प्रकार स्वाध्याय एवं सज्झाय शब्द की व्युत्पत्ति पूर्वक निरुक्ति हुई । इसका प्रयोग अणुव्रत एव विद्याओ के स्मरण मे, नमस्कार रूप प्रवृत्ति रूप में पढे हुए को गुणने मे हुआ करता है । इसलिये शास्त्रकारो ने शास्त्र स्वाध्याय करने का मार्ग निर्दिष्ट किया है; क्योकि शास्त्र ज्ञान के बिना ज्ञान नेत्र का उद्घाटन नही होता ।

स्वाध्याय की महत्ता

विनेयवद्विनेतृणामपि स्वाध्यायशाला ।। (अनगारधर्मा० पृ० ५२१)

"विना विमर्शशून्यधीर्दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि" (सागारधर्मामृत पृ० ४४)

अर्थ—स्वाध्याय करने से यथावद् वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता है । मानसिक व्यापार अशुभ प्रवृत्ति से हटकर शुभ प्रवृत्ति की ओर आकृष्ट होता है अर्थात् मन वश मे हो जाता है । आत्मा मे से रागद्वेष दूर होकर आत्मा विशुद्ध हो जाता है । स्वाध्याय के करने से राग, क्रोध, मान, माया, लोभादिक पापो से आत्मा पराङ्मुख होता है । कल्याण-मोक्ष के मार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र मे प्रवृत्त होता है । स्वाध्याय से ही मैत्री बढती है ।

"जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिसज्झदि ।
जेण अत्ताविसुज्झेज्ज, त णाण जिणसासणे ।। ७० ।।
जेण रागाविरज्जेज्ज, जेण सेरासुरज्जदि ।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणजिणसासणे ।७१। [मूलाचार पंचाचाराधिकार]

भावार्थ—स्वाध्याय करने से तर्क शक्ति, बुद्धि की प्रकर्षता, परमागम की स्थिति, इन्द्रियादिक दमन, कषायो पर विजय, उत्तमतप की वृद्धि,संवेग धर्म, धर्मके फल मे अनुराग वस्तुका यथार्थज्ञान एव निर्णय, दर्शन की शुद्धि व्रतादि मे अतिचारो का अभाव, परवादियो के पराभव का कोशल और जैन धर्म की प्रभावना करने की शक्ति आदि सद्गुणों का विनाश होता है । यथा—

"प्रज्ञातिशय प्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थ स्वाध्याय" (श्लो० वा० पृ० ४६७)

प्रज्ञातिशय प्रशस्ताध्वसाय' प्रवचनस्थिति, संशयोच्छेद: परवादिशङ्काभाव. । परमसवेग तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थ स्वाध्यायोऽनुष्ठेय. ।
[राजवार्तिक भाष्य पृ० ३४७]

— स्वाध्याय का समय —

स्वाध्याय के नियत काल-गोसर्गकाल (दोपहर के दो घड़ी के पीछे, तथा संध्या के दो घड़ी पहिले) अथवा (सध्या के दो घडी पीछे और अर्द्ध रात्रि के दो घडी पहिले)

विरात्रिकाल (अर्द्ध रात्रि के दो घडी पीछे और प्रात काल के दो घडी पहिले) ये तीन है । यथा कहा भी है—"पादोसियवेरत्तिय गोसग्गियकालमेवगेण्हिता ।

उभयेकालह्मि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ॥७३॥ (मूलाचार पंचाचाराधिकार)

वह स्वाध्याय पांच प्रकार का है । —**स्वाध्याय के भेद और उनका स्वरूप**—

"**परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणयेह णाय धम्मकहा ।**

थुदिमंगलसंजुत्तो पचविहो होदि सज्झाओ ॥१९६॥ (मूला० पचाचाराधिकार)

"**से किं तं सज्झाए ! सज्झाये पचविहे पण्णत्ते तं जहा वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा धम्मकहा सेतं सज्झाये ।** (सूत्र ९०२ भगवती शतक ७३)

"**वाचना पृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽम्नायधर्मोपदेशा. ॥ २५ ॥** [मोक्ष शास्त्र अ० ९]

वाचना पृच्छानाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।

अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्याय. पंचधा जिनै ।१६। (तत्वार्थसार अध्याय ६पृ ३६३)

अर्थ—वाचना, पृच्छना, आम्नाय धर्म देशना और अनुप्रेक्षा, ये पांच प्रकार के स्वाध्याय माने गये हैं । स्वाध्याय का अर्थ विद्याभ्यास करना है । पढना, पढाना, शुद्ध पाठ उच्चारण करना धर्म सम्बन्धी उपदेश करना, अथवा तत्वों का चिन्तन करना, ये सब बातें विद्याभ्यास मे ही गर्भित हैं । **निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना ।१।** [राजवार्तिक पृ ३४७]

अर्थ—निर्दोष ग्रन्थ अर्थ एव उभय पात्र को देना वाचना है ।

"**पृच्छनं संशयोच्छित्यै निश्चीति दृढनाय वा ।**

प्रश्नोऽधीति प्रवृत्यर्थत्वादध्येविरसावपि ॥९४॥" (तत्त्वार्थसार अ० ७)

अर्थ—जो वाचना द्वारा अध्ययन किया है उस अर्थ में अथवा दोनों के विषय मे यह इसी तरह से है या दूसरी तरह से है ऐसा संशय होने पर उसको दूर करने के लिए अथवा निश्चित मालूम होने पर भी कि यह इस तरह से है या ऐसा नही है, अपने निश्चय को दृढ बनाने के लिये विशेष विद्वान से उस विषय में प्रश्न करना पृच्छना है । यहां पर यह शका होती है कि प्रश्न करना अध्ययन नही कहा जा सकता, अत मूल लक्षण से व्याप्ति दोप आता है । किन्तु यह शका ठीक नही है । क्योकि प्रश्न करना अध्ययन में प्रवृत्ति होने के कारण अतएव उसको भी स्वाध्याय कहते हैं । (अनगार धर्मामृत पृ ७१५)

"**इसे पढना भी कह सकते हैं ।"** (भाषाटीका तत्वार्थ सार पृ० ३६३)

पृच्छना शास्त्र श्रवणम्" (मूलाचार वृत्ति पृ० ३०९ पूर्वार्ध)

इस का मतलब यह है कि स्वत· शास्त्र पढना या दूसरे से शास्त्र सुनना, तथा प्रश्न करना तीनों पृच्छना स्वाध्याय है । **अनुप्रेक्षा द्वादशानुप्रेक्षाऽनित्यत्वादेश्चिन्तन । परिवर्तन पठितस्य ग्रन्थस्यानुवेदनं । धर्मकथा धर्मोपदेश संस्तुति मङ्गला ।** (आचार वृत्ति पृ० ३०९)

बारह भावना भाना, अनुप्रेक्षा स्वाध्याय । पढा हुआ पाठ शुद्ध उच्चारण पूर्वक पढ़ना उसे आम्नाय कहते है । "पाठ करना" इस शब्द का यही अर्थ है । पूर्व पुरुषो के चरित्र अथवा विषयो का स्वरूप बतलाना, सो धर्म कथा या धर्मोपदेश कहलाता है । अथवा त्रेसठ शलाके पुरुषो का चरित्र कहना, धर्म कथा है । इस प्रकार पाचो प्रकार का स्वाध्याय विधि पूर्वक करना चाहिये इससे कर्म क्षय एव वैराग्य वृद्धि होती है । यथा—

'पढणाई सज्झाय दोएग णिबन्धरण कुणई विहिणा
सज्झाय कुव्वंतो पचेदिय सवुडो ति गुत्तोय ।
हवदि ए अग्गमणो विणएण समाहि ओभिक्खू ।२१३। (मूलाचार पूर्वार्ध पृ. ३२१)

शङ्का-यह जाना कि सज्झाय और असज्झाय क्या है? परन्तु यह नही मालुम हुआ कि असज्झाये सज्झाये का क्या मतलब है ? समाधान—उपर्युक्त स्वाध्याय के विघ्न के कारण अस्वाध्याय, कालशुद्धयादि का अभाव बतलाया है । उसमे स्वाध्याय करना सो असज्झाये सज्झाय है । शङ्का—यदि ऐसा है तो स्वाध्याय का नियत समय क्यो बतलाया ?

समाधान—यह सूत्रो-अग पूर्वादि श्रुतो के वास्ते बतलाया एव दिग्दाहादि मे उन्ही का पाठ मना है । शङ्का—इसमे प्रमाण क्या है ?

अस्वाध्याय काल मे किन का स्वाध्याय वर्जित है ?

समाधान—निम्न प्रकार प्रमाणो से यह बात सिद्ध करते है-काल शुद्धया यद्यत् सूत्र पठ्यते तत्तत्केनोक्तमत आह —

सुत्तगणधरकहिदं तहेवपत्तेयबुद्धिकथिदं च ।
सुदकेवलिणाकथिद, अभिण्णदसपुव्वकथिद च ।। ८० ।।
त पठिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थि वग्गस्स ।
एतो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदु असज्झाये ।८१। (मूलाचार पूर्वार्द्ध पृ०२३२-२३३)
सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुत तद्वचनादय ।
स्वाध्याय सकृत काले मुक्त्यै द्रव्यादिशुद्धित ।।४।। (अनगार धर्मामृत ९ अ पृ ६२९)

अर्थ—गणधर, प्रत्येक बुद्ध, श्रुत केवली और दश पूर्व धर द्वारा कहा गया ग्रन्थो का समूह सूत्र कहलाता है । अग पूर्व, वस्तु प्राभृत, एवं प्राभृत ये सब अग और उपाङ्ग गणधरादि रचित सूत्र है । इन सूत्रो का पाठ स्वाध्याय के नियत काल में करना चाहिये । दिग्दाहादि काल मे इनका पाठ उचित नही । इन सूत्रो के सिवाय अन्य ग्रन्थो का स्वाध्याय अकाल मे किया जा सकता है । कि तदन्यत् सूत्रमित्याह —

आराहणणिज्जुत्ति मरण विभत्तिय सगहत्थुदिओ ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहा ओयएरिसओ ।। ८२ ।। (मूलाचार पूर्वार्द्ध पृ० २३८)

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप का उद्योतन, उद्यापन, निर्वाहन, साधन आदि की निर्युक्ति अर्थात् व्याख्यान करने वाला, शास्त्र जैसे भगवती आराधना, । मरण विभक्ति १७ तरह के मरण को बतलाने वाला ग्रन्थ । सग्रह ग्रन्थ-पंच सग्रह आदि । **स्तुति**-पंच परमेष्ठी की स्तुति देवागम स्वयंभूस्तोत्र, भक्तामर, कल्याण मन्दिर आदि ।

प्रत्याख्यान—त्यागव्रतादि वतलाने वाले ग्रन्थ क्रियाकोपादि, चरणानुयोग के ग्रन्थ आवश्यक, सामायिक, चतुर्विशति स्तवन, वन्दनादि के स्वरूप प्रतिपादन ग्रन्थ समूह, धर्म कथा त्रेसठशलाका पुरुषो के चरित्र, पद्म पुराण आदि । स्वामी कार्तिके यानुप्रेक्षाआदि अनुप्रेक्षा ग्रन्थ तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ काल शुद्धयादिक के अभाव मे अर्थात् अकाल मे पढे जा सकते है । **शङ्का**-यह नियम तो मुनि तथा आर्यिका के वास्ते बतलाया गया है ।

समाधान—लाटी सहिता, सागारधर्मामृत, वसुनन्दिश्रावकाचार, यशस्तिलकचम्पू आदि श्रावक धर्म के वर्णन करने वाले ग्रन्थो मे श्रावको तथा मुनियो को पञ्चाचार यथा शक्ति पालन का उपदेश है । यह ज्ञानाचार का विषय है । अत एव दोनो के समान नियम रहे तो इसमें हानि क्या है ? **शङ्का**—हानि तो नही ! परन्तु मुनियो का ग्रन्थ होने से लोग कहने लगते है कि मुनियों के ग्रन्थ में श्रावको का क्या काम !

समाधान—भाई कुछ ऐसे भी कार्य है जिन्हे श्रावक तथा मुनि समान रूप से करने के अधिकारी है । उनको मुनियो के आचार ग्रन्थ मे उनका प्रधान कर्त्तव्य समझ विस्तार से वर्णन किया है । परन्तु श्रावक अभ्यास रूप से उन्हे करता है । अत एव श्रावको धर्म प्ररूपक श्रावकाचारो मे गौण करके समान रूप मे कर्तव्य मात्र बतला दिया है

मुनि और श्रावक के समान कर्त्तव्य

शङ्का-ऐसे कौन २ कर्तव्य है । जिन्हे मुनि और श्रावक समान रूप से कर सकते है ।

समाधान—तप,पंचाचार, षडावश्यक आदि नित्य नैमित्तिक क्रियाये जिनका मुनियो के ग्रन्थो में ही विस्तृत वर्णन है श्रावकाचार मे नही । परन्तु हैं दोनो के समान रूपेण पालनीय । इतना अवश्य है कि मुनि गृहीत्यागी होने से यदि उस क्रिया को निरन्तर के अभ्यास से जितनी सफलता के साथ कर सकता है, उतनी सफलता से नवीन अभ्यासी होने से श्रावक न कर सके । परन्तु श्रावकको करने का अधिकार ही न हो, यह बात नही । **शङ्का**-उपर्युक्त स्वाध्याय के नियमो का पालन, दोनों श्रावक और मुनि के लिए है, ऐसा किस ग्रन्थ मे लेख है ! **समाधान**—अनगार धर्मामृत के ९ वे अध्याय मे नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन है । उसमें नित्य क्रिया मे स्वाध्याय को पहिले लिया है । और उसमे मूलाचार की उपरोक्त गाथाओ में लिखा है कि-"दिग्दाहादि अंगउपांगों को छोड़ अन्य ग्रन्थो का अध्ययन करे । वे आराधनादि हैं, और यह नित्य नैमित्तिक कार्य मुनि एवं उत्तम श्रावक, मध्यम श्रावक

तथा जघन्य श्रावक सभी के है। सो यथाशक्तिपालन करना चाहिये।

"नित्या नैमित्तिकीश्चेत्यवितथकृतिकर्माऽगबह्लश्रुतोक्ता ।
भक्त्या युङ्क्ते क्रियायौ यतिरथपरम. श्रावकोऽन्योऽथ शक्त्या ।।
स श्रेय पवित्रमाग्रत्रिवशनरसुखः साधुयोगोज्झिताङ्गो ।
भव्य प्रक्षीणकर्मा व्रजति कतिपयैर्जन्मभि जन्मपारम् ।।६६।। (अनगारधर्म)

अर्थ—पूर्वोक्तरीति से इस अध्याय में जिन नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन किया गया है ये सब सत्यभूत कृति कर्मनाम के अग बाह्यश्रुत में अच्छी तरह बतलाई है। उसी के आधार से यहां बतलाई गई है। अतएव सर्वथा प्रमाणभूत है, जो सयमी साधु अथवा उत्तम श्रावक दशवी ग्यारहवी प्रतिमा धारण तथा मध्यम और जघन्य श्रावक भक्ति पूर्वक शक्ति प्रमाण कर सकता है पश्चात् आयु के अन्त मे उत्तम भोगादि भोग, ज्यादा से ज्यादा सात, आठ, भव मे मोक्ष प्राप्त होता है। शका—इसे स्पष्टरीति से समझाइये ?

समाधान—सिद्धान्त ग्रन्थो में चतुर्थ तथा पचम गुणस्थानवर्ती को द्वादशाङ्ग का पाठी बतलाया है। **शंका**—इसमे प्रमाण क्या है ? **समाधान**—लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि तथा अनुदिश अनुत्तर वासी समस्त अहमिन्द्र सम्यग्दृष्टी तथा द्वादशाङ्ग के पाठी होते है। **शका**—कहा लिखा है ? **समाधान** राजवार्तिक पृष्ठ १७४ पर लौकान्तिक देवो का स्वरूप इस प्रकार लिखा है। **"सर्वे ते स्वतन्त्रा, हीनाधिकत्वाभावात् विषयरतिविरहाद्देवर्षयः तत इतरेषां देवानामर्चनीयाः चतुर्दशपूर्वधरा "** यहा उन्हे द्वादशाग का पाठी कहा है। **श्रावक सूत्रों का पाठी हो सकता है**—

शका—देवों को द्वादशाग का पाठी बतलाया है, मनुष्यो को तो नही बताया। **समाधान**—तीर्थङ्कर भगवान् मति, श्रुत और अवधिज्ञान के धारी जन्म से ही होते है। वे पूर्ण श्रुतधर होते है। सागार धर्मामृत के पृष्ठ ३३ पर दीक्षान्वयक्रियाओ के वर्णन मे अजैन से जैन बनाने की क्रिया बतलाई है। वहां पर—

*** "आङ्ग पौर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तर " ***

पद आया है। टीका में "उद्धारग्रन्थमुपश्रुत्यसूत्रमपि। किंविशिष्टं-(तत् सूत्रादिकम्) आगम् आचारादिद्वादशागश्रित न केवलम्—आग पौर्वं च चतुर्दशपूर्वगतश्रुताश्रितम्। यहां स्पष्ट सूत्रो को भी पढे, उसे पुण्य यज्ञ तथा पूजाराध्यनाम की क्रिया कहते है। कहा भी है—

"ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रियापुण्यानुबन्धिनी ।
शृण्वत पूर्वविद्यानामर्थं स ब्रह्मचारिण ।।१।। (आदि पुराण पर्व ३९)

यहा भी उस जैन बनने वालो को पूर्व विद्याओ का—पूर्वो का अर्थ सुनने की आज्ञा दी है अर्थात् उन्हे पढ़े। अवलम्ब ब्रह्मचारी तथा गूढ ब्रह्मचारी गुरुओं के निकट अंगादि

को पढ, पुन. कुटुम्बियो की आज्ञा से गृह प्रवेश करते है विवाहादि करते है वे उन्हें क्या भूल जाते है? इन सब प्रमाणो से यह भलीभाति सिद्ध है,अथवा उनका पठन पाठन नही करते है। कि सूत्रो का पढना श्रावक को मना नही है। **शंका**-हमने यह माना,पर क्या ऐसे सूत्र जो गणधरादि रचित हो इस समय में मिलते हैं। **समाधान**-नहीहै,क्योकि जब द्वादशाग ज्ञान लोप होकर एक पूर्व मे कुछ थोडी सी वस्तुओ का ज्ञान शेष रहा था, तब श्री धरसेनाचार्य ने भूतवली और पुष्पदन्त को पढाया था। उन्होने ग्रन्थ रचना की थी। वे गणधर, श्रुत केवली पूर्वधर अथवा दश पूर्व के पाठी थे नही। अत एव उनकी रचना, सूत्र, अग, पूर्व वस्तु, प्राभृत एव प्राभृत प्राभृत नही, किन्तु अगबाह्यश्रुत है। **अङ्गबाह्य श्रुत क्या है—शका**-अग बाह्यश्रुत क्या है। **समाधान**-आरातीयाचार्यरचित च कालिकोत्कालिकमग बाह्यम्'(अनगारधर्मामृतपृ११ "श्रूयतेस्मेति श्रुत प्रवचनम्-तत्कालिकोत्कालिकादिवचनजनितस्यानेकभेदरूपत्वात्"
(श्लोकवार्तिक पृ २३६) **"आरातीयाचार्यकृतांगार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्य** ॥१३॥

"यद्गणधरशिष्यै प्रशिष्यैरारातियैरधिगतश्रुतार्थ तत्वै कालदोषादल्पमेधायुर्बलाना प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिवद्ध संक्षिप्ताङ्गवचनविन्यासं तदगबाह्यम्' (राजवार्तिक पृ० ५४)

अर्थ—पंचमकाल के अल्प बुद्धि अल्पायु तथा अल्प बलशाली प्राणियो के आग्रह के लिये अग श्रुत का सक्षिप्तार्थ लेकर रचे गये ग्रथो को अगबाह्य श्रुत कहते है। इस लक्षण मे यह स्पष्ट है कि अंगबाह्य श्रुत प्राणिमात्र के कल्याण के लिए है। उसमे श्रावक और मुनि दोनो आगये। उसके भी दो भेद है। (१) कालिक और (२) उत्कालिक। इसलिये इस काल मे सूत्र की चर्चा छोडकर केवल अगबाह्य श्रुत पर ही विचार करना चाहिये? — **अंगबाह्य श्रुत के भेद** — **शङ्का**—अगबाह्य कितने प्रकार का है? **समाधान**-दो प्रकार का है। कालिक और उत्कालिक। राजवार्तिक, श्लोक वार्तिक अनगार धर्मामृतादिक मे इसका वर्णन है। **"तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात्** ।१४।

तदङ्गबाह्यमनेकविधं—कालिकोत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियत कालिकम्। अनियतकालि कमुत्कालिकम्। तद्भेदाः उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधा —
(साकृतराजवार्तिक पृष्ठ ५४) **अर्थ**—स्वाध्याय के समय मे ही जिसका समय निश्चित है उसी समय जो पढा पढाया जाता है, अन्य समय मे पढा पढाया नही जाता वह कालिक अंगबाह्य है। जिसका कोई समय निश्चित नही, सदा दिग्दाहादि मे पढा पढाया जा सकता है वह उत्कालिक है। और उसके भेद उत्तराध्ययम आदि अनेक है।

विशेष-१ सामायिक २. चतुर्विशति स्तव ३. वन्दना ४. प्रतिक्रमण ५. वैनयिक ६. कृतिकर्म ७. दशवैकालिक ८. उत्तराध्ययन ९. कल्पव्यवहार १०. कल्पाकल्प ११. महाकल्प १२ पुण्डरीक १३. महापुण्डरीक १४ निषिद्धिका ये चौदह भेद अगबाह्य के है

उनको प्रकीर्णक भी कहते है । (भाषाटीका राज वार्तिक पृ० ३८२)

कालिक और उत्कालिक ग्रन्थ

इससे सिद्ध हुआ कि श्रावको के सर्वथा पठन करने योग्य अग बाह्यश्रुत भी कालिक और उतकालिक दो भेद रूप है । इनमे कुन्द कुन्दस्वामी के८४पाहुड, श्री धवलादि सिद्धात ग्रन्थ एव समयसार आदि कालिक है । इनके सिवाय पद्म पुराण आदि पुराण, उत्तर पुराण हरिवश पुराण, प्रद्युम्न चरित्र आदि प्रथमानुयोग के, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, क्रिया कोर्ष, विद्वज्जन बोधक, सामायिकादि दण्डक समस्त श्रावकाचार, पूजादि प्ररूपक ग्रन्थादि जब इच्छा हो तब भी पढे जा सकते है, ये उत्कालिक श्रावक धर्म सग्रह के पृष्ठ ७२ पर भी इसी प्रकार लिखा है--

"दिग्दाहादि के समय सिद्धान्त ग्रंथो का अङ्ग पूर्वो का पठन पाठ वर्जित है । स्तोत्रादि--तथा आराधना धर्म कथादि ग्रथो का पठन पाठन वर्जित नही है ।

शङ्का—फिर ज्ञान का अग जो काल शुद्धि है, वह क्या है ! **समाधान**–जो ग्रथ काल शुद्धि मे पढने पढाने के है, ऐसे कालिक ग्रथो को दिग्दाहादि मे न पढे पढावे । तथा जो अकाल मे पढे पढाये जा सकते है उन्हे जब चाहे पढे पढावे । इसी को काल शुद्धि, कालाचार या काल विनय नामा ज्ञान का अग कहते हैं । यदि सन्ध्या सचमुच स्वाध्याय के लिये अकाल ही होती तो सर्व जगद्धितैषी परम भट्टारक देवाधिदेव श्री तीर्थकर प्रभु की वाणी उसी समय खास कर न खिरती । वाणी का खिरना, जिसे आप अकाल कहते हैं, उसी में होता है, इससे भी सिद्ध हुआ कि सन्ध्याकाल अकाल है ही नही । **भगवान की वाणी किस समय खिरती है ।** शका--भगवान् की वाणी सध्या को खिरती है यह कैसे ! समाधान--

"पुव्वण्हे मज्झण्हे मज्झिमाये रत्तीये ।
छच्छग्घडिया णिग्गय दिव्वभ्झुणी कहई सुत्तत्थे ।।१।। (अनगारधर्म पृ० ८)

अर्थ--पूर्वाण्ह, मध्यान्ह और अपराण्ह तथा रात्रि का मध्यकाल इसमे ६–६ घड़ी दिव्य ध्वनि भगवान की खिरती है उसमे सूत्रो का अर्थ विशद रूप से कहा जाता है ।

शका--पूर्वाण्ह–मध्यान्ह और अपराण्ह क्या है ! उत्तर-रात्रि के अन्त की तीन घडिया और दिन के प्रारम्भ की तीन घडिया मिलकर ६ घडी का समय पूर्वाण्ह है । दिन मे तथा रात्रि मे १२ बजे से पहले ३ घडी तथा बाद की ३ घडिया मिलकर ६ घड़ी मध्यान्ह एव मध्यरात्रि कहलाता है । तथा दिन के अन्त की ३ और आरम्भ के रात्रि की ३ घडिया अपराह्ण है । यही बात आगम मे मिलती है ।

'तिस्त्रोऽह्नोऽन्त्यानिशा , आदि, भगवान कुन्द-कुन्द वक्रग्रीव क्यो !

शका--हमने कहते सुना है, कि भगवान् कुन्द कुन्द ने अकाल मे स्वाध्याय किया,

सो शासन देवी ने उनकी गर्दन टेडी करदी थी । **समाधान**—यह बात इतिहास और शास्त्र से विरुद्ध है। यदि थोडा विवेक से विचार किया जावे तो यह बात निर्विवाद है कि स्वाध्याय आदि पुण्य क्रियाओ के अनुष्ठानो से कषायाश मन्द होकर परिणामो मे विशुद्धि होती है और उससे पुण्यास्रव होता है । भगवान् सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने 'शुभ पुण्यस्या -शुभ पापस्य" द्वारा स्पष्ट किया है । यदि स्थल पर ऐसी घटना हुई भी हो तो यह समझना चाहिये कि अमुक व्यक्ति के ऐसे तीव्र अशुभ कर्म का उदय था कि यदि वे यह शुभाचरण न करते तो यह समझना चाहिये, कि व्यक्ति को न जाने कितना कष्ट उठाना और पडता। धर्म के प्रभाव से इतने मे ही बच गये, वह सव स्वाध्याय रूप तप का ही प्रभाव था । श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अकाल मे स्वाध्याय किया, अतएव वे वक्रग्रीव टेडी गर्दन वाले हो गये, यह बात कपोल कल्पित है । केवल किवदन्तियो का इतिहास मे कोई महत्व नही है। असल मे कुन्दकुन्द का ही दूसरा नाम पद्मनदी था । और वे कौण्ड कुण्ड वासी थे । पश्चात् नगरानुकूल उनका श्रुति मधुर कुन्दकुन्द पड गया । उल्लिखित दोनो नाम श्रवणवेलगोल के ऊपर (चन्द्र गिरि पर्वत की मल्लिषेण प्रशस्ति मे खुदे शिला ले० ६ १० मे है । अन्य ग्रन्थो मे भी ये दो नाम मिलते है । नन्दि सघ की पट्टावली मे निम्नाङ्कित ५ नाम आये हैं । १ कुन्दकुन्द २. वक्रग्रीव ३. एलाचार्य ४. गृध्रपिच्छ ५. पद्मनंदी । परन्तु पट्टावलियो मे परस्पर विरोध होने से पूर्ण सत्य नही मानते, क्योकि एलाचार्य नाम के आचार्य वहुत बाद के भगवज्जिनसेना चार्य के गुरु वीर सेन स्वामी के गुरु थे । गृध्रपिच्छ यह नाम उमास्वामी का है । वक्रग्रीव नाम के आचार्य बहुत बाद हुए है । वे अत्यन्त प्रसिद्ध थे । परन्तु पट्टावलियो के लेखकों को उसका भेद ज्ञान न होने से तथा क्रम के अज्ञान से परस्पर सग्रह कर दिया है ।

"वक्रग्रीवमहामुनेर्दशशतग्रीवोऽप्यहीन्द्रोयथा,जातं स्तोतुमल वचोबलमसौ किं भग्नवाग्मिव्रजम् । योऽसौशासनदेवता बहुमतो ही वक्रवादिग्रह:,ग्रीवोऽस्मिन्नयशब्दवाच्यमवदन् मासान् समासेनषट्

अर्थ—महा मुनि वक्रग्रीव के बड़े २ वक्ताओ को हटा देने वाले वचन बल की स्तुति हजार ग्रीव वाला धरणेन्द्र भी नही कर सकता । शासन देवी ने उन्हे बहुत माना था। उन्होने लगातार छह महिने तक "अथ" शव्द का अर्थ किया था । उस समय बडे२ वादियो को गर्दने लज्जा के मारे वक्र (टेडी) होगई थी । अत एव वे वक्रग्रीव कहलाये । अव यदि हम वक्रग्रीव नाम आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द को ही मानले तो वे उक्त कारण से वक्रग्रीव कहलाये न कि अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने से शासन देवी ने गर्दन टेडी करदी थी । यह कपोल कल्पित होने से अप्रमाणिक है । ज्ञान प्रवोध मे जो आचार्य के जीवन चरित्र मे ऐसा विपय आया है वह कपोल कल्पित प्रतीत होता है । अत. सन्ध्या आदि मे

अकाले समझ कर स्वाध्याय न करना आगम से विरुद्ध है। जो ऐसा करते है वे प्रतिकूल मार्ग पर है। स्वाध्याय के न करने से ही जैन समाज मे अज्ञान की प्रचुरता हुई है। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त ग्रन्थों को छोडकर अन्य सब ग्रन्थ दिग्दाहादि मे स्वाध्याय किये जा सकते है और अकाल स्वाध्याय कोई पाप नही है, केवल मुनियो के ही लिये अतीचार रूप है। गृहस्थो के लिये नही है। वनजी ठोल्या ग्रथ माला से प्रकाशित "क्रिया कलाप" मे प्रतिक्रमण पाठ मे मुनियो के ही लिये अकाल सज्झाय विषयक "इच्छामि दुक्कड" ऐसा पाठ है, श्रावको के लिए नही है। वह नीचे लिखते है—

"अकाले सज्झायो कओ वा कारिदो वा कीरतो वा तस्स मिच्छा मे दुक्कड़"

अर्थ—यह प्रतिक्रमण मुनियो का है—मैने अकाल मे स्वाध्याय किया हो, कराया हो या करने की अनुमोदना की हो उसके निमित्त यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। इससे सिद्ध होता है कि श्रावको को अकाल मे[सन्ध्या कालादि मे]स्वाध्याय का निषेध नही है। **विशेष**—सन्ध्या कालीन स्वाध्याय चातुर्मास मे दीपकादि जन्य त्रसराशि की विराधना के पाप से बचने के लिये किया जाता है अत. संध्याकाल में स्वाध्याय कर सकते है। शास्त्रज्ञान के बिना श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नही होती और श्रुतज्ञान के अभाव में आत्मा में केवल ज्ञान की पात्रता भी नही होती। अत ऐहिक और पारलौकिक कल्याण चाहने वालो को शास्त्र स्वाध्याय सदा करके अपना ज्ञान बढाना चाहिये। कहा भी है—

"श्रुतबोधप्रदीपेन शासन वर्ततेऽधुना" (प्रबोधसार)

अर्थ—शास्त्र ज्ञान रूपी दीपक से ही जैन धर्म स्थायी रहेगा। **शङ्का**—हमने नीतिसार में निम्नस्थ पद्य पढा है! **"आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम्।**
न वाचनीय पुरत सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ॥६१॥

तात्पर्य—आर्यिका, गृहस्थ और अल्प बुद्धि वाले शिष्यो के समक्ष सिद्धान्त एव आचार शास्त्र नही पढना चाहिये सो इसका क्या उत्तर है! **समाधान**—सिद्धान्ताचार शास्त्र प्रायश्चित्तादि प्ररूपक है। अत. उनके लिये निषेध है अन्य ग्रन्थो के अध्ययन करने का निषेध नही है। (यशस्तिलक पृ० २७१)

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्, तरोश्छायेव कि लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभि ॥

अर्थ—अज्ञानी की क्रियाएं सत्कार्य वास्तविक फल को नही देती, जैसे अन्धे व्यक्तियो को वृक्ष की छाया ही मिल सकती है; परन्तु अंगूर आम वगैरह फलो की प्राप्ति नही हो सकती। **शास्त्रपरीक्षा विचार**— (यशस्तिलक ६ आ०पृ० २७८)

"देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रम। ततश्च तदनुष्ठान कुर्यात्तत्र मति तत ॥१॥
येऽविचार्य पुनर्देव रुचि तद्वाचि कुर्वते, तेऽन्धास्तत्स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम्।२।

पित्रोः शुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते । तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ।।३।।

अर्थ--सब से पहले धर्म-प्रवर्तक एवं शास्त्र रचयिता देव की परीक्षा करे । यदि सर्वज्ञ, वीतराग, मोक्षमार्ग-प्रवर्तक हो तो तत्प्रणीत आगमानुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये ।१ जो देव का विचार न करके उसके वचन पर विश्वास एवं रुचि (श्रद्धा) उसके कन्धे पर हाथ रखकर सद्गति को चाहते है वे अन्धे है । २ । जिस प्रकार माता और पिता की शुद्धि पर सतान की शुद्धि निर्भर है, उसी प्रकार आगम रचयिता की शुद्धि पर आगम शुद्धि निर्भर है । ३ ।

स्वरूप रचनाशुद्धिर्भूषार्थञ्च समासत. । प्रत्येकमागमस्यैतद् द्वैविध्य प्रतिपद्यते ।।४।।

प्रत्येक शास्त्र—स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलकार आदि से अनेक प्रकार का है और उल्लिखित स्वरूपादि भी दो २ प्रकार के है । आगे स्वरूपादि के भेद बतलाते है–

तत्र स्वरूप च द्विविधं--अक्षरमनक्षरञ्च । रचना द्विविधा--गद्यं पद्यं च । शुद्धिर्द्विविधा--प्रमादप्रयोगविरह·, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषाद्विविधा-वागलकार. अर्थालकारश्च अर्थो द्विविध.–चेतनोऽचेतनश्च । जातिर्व्यक्तिश्वेति वा । [यशस्तिलक पृ० ५१०]

अर्थ—स्वरूप दो प्रकार का होता है । १. अक्षरात्मक २. अनक्षरात्मक । रचना के दो प्रकार है—१ गद्यात्मक २. पद्यात्मक । भाषात्मक मोक्षशास्त्र, राजवार्तिकादि गद्यात्मक है । छन्दोबद्ध रचना पद्यात्मक कहलाती है । जैसे चद्रप्रभ चरित्र, धर्मशर्माभ्युदयादिक । जिसमे गद्य पद्य दोनो हो उसे चम्पू कहते है, जैसे जीवन्धर चम्पू, पुरुदेव चम्पू आदि । शुद्धि दो प्रकार की है — १. शब्द के प्रयोग करने या लिखने मे प्रमादरहित अशुद्धि न करना प्रमाद-प्रयोग-विरह-शुद्धि है । २ अर्थ और शब्दो मे व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि के अभाव को अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहार शुद्धि कहते है । भूषा—अलकार दो प्रकार के है १. शब्दालकार—अनुप्रास यमकादि है । २ अर्थालकार—उपमा उत्प्रेक्षा रूपकादि है । अर्थ—चेतन-अचेतन भेद मे अथवा जाति व्यक्ति भेद से दो प्रकार का है-

१. चेतन—जिसमे जीवो की संख्या प्रकार आदि का निरूपण हो वह अचेतन है । जैसे–गोम्मटसार जीवकाण्डादिक । २. अचेतन–जिसमे अचेतन कर्म प्रकृति आदि का निरूपण हो वह अचेतन है, जैसे गोम्मटसार कर्मकाण्डादिक है अथवा जाति व्यक्ति; १ जाति जो जातिगत वस्तु को कहे उसे जाति कहते है । २ व्यक्ति—जो खास एक ही व्यक्ति के लिये कहा जावे उसे व्यक्तिगत अर्थ कहते हैं । **ज्ञान स्त्री एवं पुरुष दोनो के लिए आवश्यक है**—बिना ज्ञान के ससार मे स्त्री तथा पुरुष लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति नही कर सकते । अत एव भगवान् ऋषभ देव ने कर्म भूमि की आदि मे जो अपनी सतान पुत्र पुत्री थे उनको अध्ययन कराया था । इसका जिनसेनाचार्य की कृति आदि पुराण मे

लिखा हुआ है । एक दिन भगवान् ऋषभदेव सुख से सिहासन पर बैठे थे । सहसा उनका हृदय कलाओ और विद्याओं के उपदेश प्रदान के लिये उत्सुक हो उठा । इतने में दैवयोग से उनकी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो पुत्रिया मगल आभूषरण पहने हुए उनके समीप आगई । उन्होने उस समय किशोर अवस्था मे प्रवेश ही किया था। वे दोनो बुद्धिमती एवं विनयशालिनी थी। शरीर के बाह्य चिह्न मत्स्यादि रेखा तथा अन्तरङ्ग भक्ति स्नेह आदि सराहनीय था । उन दोनो ने बडी विनय के साथ पिता को नमस्कार किया । भगवान् ने प्रेम से अपनी गोदी मे बैठाकर उन पर हाथ फेरते हुए एव हसते हुए कहा कि पुत्रियो? तुम दोनो किशोर अवस्था मे भी शील विनय आदि गुणो मे प्रवीण हो, यदि तुम्हे विद्या से विभूषित किया जावे तो तुम दोनो का जन्म सफल हो सकता है । जो स्त्री पढी लिखी होती है वे आदर सत्कार को प्राप्त होती है । विद्या ही समस्त कल्याण को करने वाली और कीर्ति को देने वाली है । यदि विद्या रूपी देवता की आराधना भली प्रकार से की जावे तो अनेक इष्ट पदार्थो को देती है। इच्छानुसार पदार्थ देने वाली तथा सम्पत्ति दायिनी विद्या ही है । ससार मे विद्या ही बधु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण देने वाली एवं सहायक तथा धनो मे प्रधान है । अतः हे पुत्रियो ! तुम विद्या ग्रहण करो, यही समय विद्या ग्रहण करने का है । ऐसा कहकर भगवान् ने सोने के पट्टे पर अपने चित्त मे विराजमान श्रुत देवता का पूजन कर अ आ इ ई. आदि वर्ण माला लिखी । तथा क्रमश: इकाई दहाई आदि को बताकर सख्या-ज्ञान कराया एव अनुक्रम से व्याकरण छन्द अलंकारादि पढ़ाये । भगवान् ऋषभ देवने एक'स्वयंभू'नाम का व्याकरण पुत्रियो को बनाकर पढाया था । उसमे १००अध्याय थे । अनन्तर व्याकरण बोध होने पर अन्य विषय पढाये । जगद्गुरु भगवान् ने पुत्रियो के पढाने के बाद भरत आदि एक सौ एक, पुत्रो को भी अनुक्रम से समस्त शास्त्र पढ़ाया । राजकुमार भरत को बडे २ अध्यायो से नीति शास्त्र एवं अनेक प्रकरणो के साथ संगीत शास्त्र पढाया और कुमार वृषभसेन को भी सगीत शास्त्र पढाया । कुमार अनन्त विजय को चित्र कला विशेष रूप से पढ़ाई और एक कुमार को शिल्प शास्त्र सिखाया । कुमार बाहुबलि को काम शास्त्र वैद्यक शास्त्र, धनुर्वेद, स्त्री पुरुषो के लक्षण, हाथी घोड़े आदि जानवरो के लक्षण, मन्त्र और रत्न परीक्षा आदि विषयक अनेक शास्त्र पढाये। कहा तक वर्णन करे उपकार करने वाले जो भी शास्त्र थे सभी अपने पुत्रो को सिखाये थे ।

—* विद्याओ के भेद *—

विद्याओ के चार भेद नीतिज्ञ ने किये है । (१)आन्विक्षकी (२) त्रयी (३) वार्ता (४) दण्डनीति । आत्मा तत्त्व को निरूपण करने वाले अध्यात्म शास्त्र तथा दर्शन शास्त्र का पढना, तथा इनके सहकारी व्याकरण, छन्द, अलकार, काव्य, कोप आदि का पढना

आन्वीक्षिकी विद्या है। चरणानुयोग और सहिता ग्रन्थ जिनमें चारो वर्णों ब्रह्मचारी, गृहस्थ, एव वानप्रस्थ और यति इन ४ आश्रमों के कर्त्तव्य निर्दिष्ट किये गये हो तथा जिनमे गर्भाधानादि काल के करने योग्य हवन पूजन आदि क्रिया काण्ड का निरूपण हो ऐसे शास्त्रो को पढना त्रयी विद्या है। १ असि-शस्त्र धारण द्वारा जीविका करना। २ मषी-लेखन कला द्वारा निर्वाह करना ३ कृषि-खेती करना। ४ वाणिज्य-व्यापार आदि द्वारा निर्वाह करना एवं शिल्पादिक जीविकोपयोगी बातो को बताने वाले शास्त्र वार्ता मे गणनीय है। सज्जनो की रक्षा करना तथा दुष्टों का निग्रह करना दण्ड नीति है। इस प्रकार ४ प्रकार की विद्याओ का स्वरूप कहा। अध्यात्म शास्त्र—धर्मशास्त्रज्ञ एव दार्शनिक युक्ति एवं आगम से हेयोपादेय को बताकर दु ख से निवृत्ति तथा सुख में प्रवृत्ति कराता है। आन्वीक्षिकी विद्या के अध्ययन से अनेक सकटो मे भी पुरुष नही घबराता, धन पाकर भी घमण्ड नही करता है। नैतिक धार्मिक और श्रेयस्कर प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त करता है। त्रयीविद्या चरणानुयोग और सहिता शास्त्रो का ज्ञाता ४ वर्णो तथा ४ आश्रमो के ज्ञान को पाकर धार्मिक अनुष्ठान करने से स्थायी सुख तथा क्रमश उन्नति प्राप्त करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है, नरकादि से बचता है। वार्ता, विद्या, असि, मषी आदि जीविकोपयोगी शिक्षा से समस्त प्राणियो को सुख करता हुआ अपने कुटुम्ब तथा अपना जीवन निर्वाह करता है। दण्डनीति—दण्डनीतिज्ञ—सज्जनो की रक्षा तथा दुष्टो के निग्रह करने मे समर्थ होता है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी विद्या के भेदो के अध्ययन के फल का दिग्दर्शन कराया।—**बुद्धि के सद्गुण**— (नीतिवाक्यामृत पृ० ५६)

प्रश्न— बुद्धि के सद्गुण कौन २ है जिनसे शास्त्र ज्ञान सफल होता है ? —**उत्तर**—

"शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहेयोपादेयतत्वाभिनिवेशाबुद्धिगुणा ।४४।श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा ।४५। श्रवणनमाकर्णनम् ।४६।ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानम् ।४७। कालान्तरेप्वविस्मरणशक्तिर्धारणा ।४८। मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञान विज्ञानम् ।४९। ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोह ।५२।विज्ञानोहापोहानुगमविशुद्धमिदमित्थमेवेति निश्चयतत्वाभिनिवेश.।५३।

अर्थ—शुश्रूषा, ग्रहण, श्रवण, धारणा, विज्ञान, ऊहापोह, और तत्वाभिनिवेश ये बुद्धि के गुण है। तात्पर्य उल्लिखित बुद्धि के सद्गुणो से यदि विद्याध्ययन वह हो तो स्थायी एव सफल होता है। **शुश्रूषा**—शास्त्र सूनने की इच्छा कहलाती है। **श्रवण**—शास्त्र को मन लगाकर सुनना है। **ग्रहण**—शास्त्र विषय को समझना है। **धारणा**—कालान्तर के व्यतीत होने पर भी धारण एव ग्रहण की हुई विद्या न भूलना धारणा है। **विज्ञान**—अच्छी प्रकार से ज्ञान करने को कहते है। **ऊह**—साधारण ज्ञान का नाम है। **अपोह**—विशेष ज्ञान को कहते है। **तत्त्वभिनिवेश**—ऊहापोह द्वारा वस्तु के निश्चय को तत्त्वाभिनिवेश कहते हैं।

—※ संयम का वर्णन ※—

"संयम्यन्ते इन्द्रियाणि मनश्च येनासौ संयम." अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा पांचो इन्द्रियो एव छठे मन की प्रवृत्ति को रोका जावे उस को सयम कहते है। कहा भी है—

"कायछहों प्रतिपाल पञ्चेन्द्रिय मन वश करो, सजम रतन सभाल विषय चोर बहु फिरतु है ।।

"कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हता पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी सः कथ न हन्यते य सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ।। १ ।।"

अर्थ—कुरङ्ग (हिरण), मातङ्ग (हस्ति), पतग, भ्रमर और मछली क्रम से केवल कर्ण-स्पर्शन-नेत्र-नासिका और जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होकर प्राण को दे बैठते है तो यह प्रमादी मनुष्य जो पाचों इन्द्रियो के वशीभूत है वह कैसे न मारा जावे ? अवश्य मारा जावेगा। और भी कहा है। (सुभाषित रत्नसदोह)

विद्यादयाद्युतिरनुद्धतता तितक्षा, सत्यं तपो नियमनं विनयो विवेक ।
सर्वे भवन्ति विषयेषु रतस्य मोघा, मत्वेति चारुमति चारुमतिरेति न तद्वशित्वम् ।९९।
लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि बहुश्रुतोऽपि, धर्मस्थितोऽपि विरतोऽपि शमान्वितोऽपि ।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्यस्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निन्द्यम् ।। १०० ।।
लोकार्चित गुरुजन पितरं सवित्री, बन्धु सनाभिमबलां सुहृद स्वसार ।
भृत्य प्रभुं तनयमन्यजन च मर्त्यो, नो मन्यते विषयवैरिवशः कदाचित् ।। १०१ ।।
येनेन्द्रियाणि विजितान्यतिदुर्धराणि, तस्याविभूतिरिह नास्ति कुतोऽपि लोके ।
श्लाघ्य च जीवितमनर्थविविक्तमुक्त, पुंसो विविक्तमतिपूजिततत्त्वबोध ।। १०२।।

अर्थ—विषयो मे अनुरक्त पुरुष के लिये विद्या, दया, द्युति, अनुद्धतता, क्षमा, सत्य, तप, नियम, विनय और विवेक सब व्यर्थ हो जाते है। अत बुद्धिमान पुरुष इन विपयो मे आसक्त नही होते है।९९। पुरुष चाहे ससार मे पूजित हो, कुलीन हो, विद्वान् हो, धार्मिक हो, एव विरक्त तथा शान्ति पूर्ण भी हो तथापि इन्द्रियो के विषयो रूपी सर्पो के विप से ग्रसित होकर ऐसा २ कार्य करने मे तत्पर हो जाता है जो अत्यन्त निद्य है। सार यह है कि योग्य पुरुष भी विषयो से ग्रस्त होकर अत्यन्त निन्द्य कार्य करने लगते है। १००। विपय रूपी वैरी के वशीभूत प्राणी लोको से अर्चित (पूजनीय) गुरुजन को पिता को, माता को, बन्धु को, सगोत्र को, स्त्री को, मित्र को, बहिन को, सेवक को, स्वामी को, पुत्र को, और अन्य प्राणी को भी नही मानता है।१०१। जिसने इस ससार मे अत्यन्त दुर्जेय इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करली है उसको ससार मे कोई वस्तु एव सपत्ति दुर्लभ नही है। उसका जीवन प्रशसनीय, अनर्थों से रहित है और बडे २ लोगो से पूजनीय होता है। —संयम के भेद—

सकल सयम और विकल सयम के भेद से सयम दो प्रकार का है। (१) सकल सयम मुनि साधु अनगार पालन करते है यहा पर विकल (एकदेश) सयम का वर्णन करते हैं।

(२) विकल सयम—के भी दो भेद है। एक उत्कृष्ट विकल संयम, दूसरा अनुत्कृष्ट विकल सयम। उत्कृष्ट विकल सयम का वर्णन नैष्ठिक अधिकार मे आगे कहेगे। यहा पर अनुत्कृष्ट विकल सयम का संक्षिप्त वर्णन करते है। यह सयम १ प्राण सयम और २ इन्द्रिय सयम के भेद से दो प्रकार का है। इन्द्रिय सयम साधु एव उत्कृष्ट श्रावक पालते है और प्राण संयम गृहस्थ पालते है। प्राण सयम के १ त्रसप्राण सयम २ स्थावर प्राण सयम भेद से दो भेद है। उनमे बादर त्रस काय के हिसा के त्यागी श्रावक अष्टमूल गुण के धारक होते है। वह हिसा चार प्रकार की है। १ आरभी हिसा २ उद्योगी हिसा ३ विरोधी हिसा ४ सकल्पी हिसा इन चारो प्रकार की हिसाओ मे से गृहस्थ सकल्पी हिसा का ही त्यागी होता है। शेष तीन प्रकार की हिसा का पूर्ण रूप से त्यागी नही होता। गृहस्थ को स्थावर काय की हिंसा, प्रयोजन से करनी पड़ती हैं। इसको स्व० कविवर प० दौलत रामजी ने छह ढाले" मे कहा है-"त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारै" अर्थात् गृहस्थ त्रस हिसा का त्याग करे और गृहस्थ को चाहिये कि व्यर्थ मे स्थावर जीवो की हिसा न करे। अत गृहस्थ को प्रथम प्राणि-सयमी बनना आवश्यक है और जीवो की चलते, बैठते, सोते, खाते, पीते, उठाते, धरते, मकान बनाते, आग जलाते, विवाह करते हर समय दया पालन करना चाहिए। यहां तक कि श्री जिनेन्द्र भगवान् के पूजन प्रतिष्ठा मण्डल विधानादिक मे भी प्राणि—सयम को गृहस्थ न भूले। अपने अपने पद के अनुसार किसी प्रकार की भूल नही करनी चाहिये। यदि कोई भूल हो जावे तो ज्ञानवानो से विचार कर शीघ्र ही उसका निराकरण करे एव पूर्ण रीति से हृदय मे अनुकम्पा भाव रक्खे। यह संक्षेप में गृहस्थियो के लिये संयमका लक्षण कहा।—तप का **वर्णन**—अब हम क्रम प्राप्त तप का वर्णन करते हैं। प्रथम ही उसका सामान्य लक्षण एवं प्रकार बतलाते हैं।

"विनाश्यते येन दुरन्तसंसृतिस्तदुच्यते मोहतमोपहं तप।
विनिर्मलानंतसुखैककारणं, दुरन्तदु खानलवारिदागमस्।
द्विधा तपोऽभ्यन्तरवाह्यभेदतो, वदन्ति षोढा पुनरेक ते जिना।८८०।

अर्थ—जिसके द्वारा दुःख रूप संसार छूट जावे एवं जो मोह रूपी अन्धकार को दूर करे उसे तप कहते हैं। वह तप निर्मल अनन्त सुख का प्रधान कारण है और दु ख रूप अग्नि के लिये मेघ के समान है। उस तप के जिनेन्द्र भगवान् ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार और वाह्य तप के भी ६ भेद और अन्तरङ्ग के भी ६ भेद इस प्रकार से बारह भेद बताये हैं।

यहां पर आचार्य ने तप का मुख्य उद्देश्य मोह रूप अन्धकार को दूर करके दु खान्त

ससार का उच्छेदन करना बतलाया है । जब तक प्राणी के हृदय से मोह का विनाश न होगा, तब तक उसका ससारोच्छेद होकर मोक्ष प्राप्ति भी अवश्य है अत मोह को छोडकर अभिलाषाओ का दूर करना मुख्य प्रयोजन है । यह मोह त्याग मुनियो के सर्वथा होता है, गृहस्थी के एक देश बनता है । किन्तु लक्ष्य एक ही है । कहा भी है "जो तप तपै खपे अभिलाषा, तेजन इह भव पर भव सुख चाखा" भावार्थ जो अभिलाषाये छोडकर तपस्या करता है उसको इस लोक एव परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती है । अभिलाषा एव परिग्रह ये सब भी मोह जन्य है, क्योकि आचार्य ने "मूर्च्छा परिग्रह" इस सूत्र के द्वारा ममत्व भाव को ही परिग्रह शब्द से कहा है और वास्तव मे ममत्व भाव से ही अभिलाषा एव परिग्रह होता है । वह मोह ही परिग्रह है और उस परिग्रह तथा अभिलाषा के द्वारा जीव का क्या अहित हो जाता है उसको इन पद्यद्वयी से बतलाते है ।

"कालुष्यं जनयन् जडस्य रचयन् धर्मद्रुमोन्मूलनम् ।
क्लिश्नन्नीति कृपाक्षमाकमलिनी लोभाम्बुधिं वर्धयन् ।।
मर्यादातटमुद्रुजञ्छुभमनोहंसप्रवासं दिशन् ।
किं न क्लेशकर ग्रहनदीपूर प्रवृद्धिगत ।। ४१ ।।
वह्निस्तृप्यति नेन्धनैरिह यथा, नाम्भोभिरम्भोनिधि-
स्तद्वल्लोभघनोघनैरपि धनैर्जन्तुर्न संतुष्यति ।।
नत्वेव मनुते विमुच्य विभव नि शेषमन्य भवं ।
यात्यात्मा तदह मुधैव विदधा,म्येनांसिभूयांसि किम् ।।४४।। (सूक्ति मुक्तावली)

अर्थ—यह परिग्रह रूपी नदी का पूर (वेग) कलुषता करता हुआ, धर्मरूपी वृक्ष को जड से उखाडता हुआ, नीति, कृपा और क्षमा रूपी कमलिनी को तोडता हुआ, लोभ रूपी समुद्र को बढाता हुआ, मर्यादा रूपी किनारे को तोडता हुआ, शुभ मनोरूपी हंस को उडाता हुआ, सब क्लेशो को देता हुआ बढता है ।

जिस प्रकार वह्नि (अग्नि) ईन्धनो से नही तृप्त होती, समुद्र जलो से सतुष्ट नही होता उसी प्रकार लोभी पुरुष बडे २ धनो से भी संतुष्ट नही होता, अभिलाषा बनी रहती है । वह यह नही विचारता कि मेरा आत्मा सब विभव को छोड कर अकेला ही आया है और अकेला ही जावेगा अत मै व्यर्थ मे पाप क्यो करूँ ! इस अभिलाषा एव ममत्व भाव तथा परिग्रह को छोड कर अपनी शक्ति के अनुसार आत्म-कल्याण के इच्छुक को अवश्य तप करना चाहिये । कहा भी है— **"ज सक्कई तं कीरइ ज चरण सक्कई तहेव सद्धहरण ।**
सद्धहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ।। १ ।।"

भावार्थ—"तपसा निर्जरा च" तपस्या से कर्मो की निर्जरा होती है अत अपनी

शक्ति को न छिपाकर तपस्या करनी चाहिये। यदि शक्ति न हो तो पूर्णरूप से श्रद्धान करना चाहिये। जो मनुष्य तप का श्रद्धान भी करते है वे जीव अजर और अमर पद को प्राप्त करते है। तप के दो भेद है बाह्य और आभ्यन्तर। इनमें प्रत्येक के छह २ भेद होने से तप १२ बारह प्रकार का है। उसमे प्रथम बाह्य तप के ६ छह भेद बतलाते है। यहा सक्षेप मे ही वर्णन करेगे। विस्तार रूप से मुनिधर्म के प्रकरण मे वर्णन कर चुके है। १. अनशन २ ऊनोदर ३ व्रतपरिसख्यान ४. रस परित्याग ५ काय क्लेश ६. और विविक्त-शय्यासन ये ६ बाह्य तप के भेद है। (१) अनशन—चारो प्रकार के आहार के त्याग का नाम अनशन है। (२) ऊनोदर–बुभुक्षा से कम खाने का नाम आचार्यो ने ऊनोदर बतलाया है। (३) व्रत परिसख्यान—आज इस प्रकार आहार मिलेगा तो लेवेगे अन्यथा नही लेवेगे, इस तरह संकल्प करना व्रत परिसख्यान है। (४) रस परित्याग—छहो रसो मे कुछ रस छोडकर भोजन करने का नाम रस परित्याग है। (५) कायक्लेश–आज सामायिक इस आसन से करेगे और उसमे उपसर्ग आगया तो कदापि चलायमान नही होंगे, कायक्लेश तप है। (६) विविक्त शय्यासन—एकान्त स्थान मे जाकर आसन लगाकर ध्यानादिक करना, कोलाहल मे न करना, विविक्त शय्यासन नाम का तप है। आभ्यन्तर तप के भेद निम्न प्रकार से है — (१) प्रायश्चित्त २. विनय ३. वैय्यावृत्य ४ स्वाध्याय ५ कायोत्सर्ग और ६ ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप है। १. प्रायश्चित्त—जो आचरण एव चरित्र मे किसी प्रकार की शिथिलता एव दोष का दण्ड लेना है उसको प्रायश्चित्त कहते है। २ विनय—अपने से गुण मे, तप मे, दीक्षा मे, आयु मे, ज्ञान मे, एव व्रत मे जो अधिक हो उसका आदर सत्कार करना, उच्चासनादि देना है वह विनय तप है। ३ वैय्यावृत्य–वृद्ध हो, बालक हो रोगी हो, एव दीन अन्धा लंगडा तथा पगु हो, ग्लानि छोड़ कर उसकी परिचर्या सेवा आदि करना है सो वैय्यावृत्य तप है। ४. स्वाध्याय–जिन शास्त्रो से 'स्व' अर्थात् आत्मा का अध्याय-अध्ययन एव ज्ञान हो, ऐसे समीचीन पदार्थो के दर्शानेवाले शुद्ध निर्दोष शास्त्रो का अध्ययन करना कराना एव उनकी शिक्षा पर ध्यान रखना, जहा तक बने आत्मधर्म मे शिथिलता न आने देने का नाम स्वाध्याय तप है। ५. कायोत्सर्ग—जो स्वय अपने ऊपर प्रायश्चित्त आया हो उसमे, अथवा दिन चर्या मे और आचार पालन ग्रथो मे जो भी कायोत्सर्ग बताये है उनको करने का नाम कायोत्सर्ग है। ६. ध्यान–जिस समय सामायिक करते हैं उस समय आध्यात्मिक चिन्तवन करना, बारह भावनादि भा कर चित्त को स्थिर करना और आत्मस्थ भावो मे जितना बने उतना रमण करना इस को ध्यान नामा तप कहते हैं।

—* दान का माहात्म्य *—

'दान विना नहीं मिलत है सुख सम्पति सौभाग, कर्मकलंक खिपाय के पावे शिव पदराज ॥१॥

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानत , अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजात् भवेत् ।।२।।

१ ज्ञानदान—जिस प्रकार से अन्य पुरुष की बुद्धि विद्या एव ज्ञान वृद्धि हो ऐसे कार्य करने को तथा उसके साधनो को जुटाने को ज्ञान दान कहते है। विद्या पढाना, पाठशालाये खोलना, पुस्तके देना, छात्र वृत्ति देकर छात्रो का उत्साह बढाना आदि सब ज्ञानदान है। मदिरों मे तथा मुनि आर्यिका श्रावक श्राविकाओ को शास्त्र दान देना जो केवल ज्ञान का कारण होता है। २. अभयदान— जिस कारण से अन्य पुरुष का भय दूर हो जावे ऐसे कारणो का योग करना अभयदान अर्थात् दूसरो को भय से बचाने का नाम है। एकेन्द्रिय जीव से लेकर पचेन्द्रिय तक की दया पालना अभयदान है। ३ अन्नदान—उत्तम योग्य पात्रो को दान देकर अर्थात् आहार देकर उन की क्षुधा की निवृत्ति करने का नाम आहार दान है। ४ औषधि दान–मुनि, आर्यिका, श्रावका-श्राविकाओ को शुद्ध औषधि दान करना, औषधालय खुलाना जिससे अन्य प्राणियो के रोग दूर होकर स्वस्थता प्राप्त हो, ऐसे साधन जुटाने का नाम औषधिदान है इससे निरोग शरीर प्राप्त होता है। इन चार दानो को करना गृहस्थ का पहला कर्तव्य है। भक्ति सहित फल की इच्छा के बिना मुनि-आर्यिका श्रावक-श्राविका, को जो आहारदान देना है वह अत्यत कल्याणकारी है। इस भव मे यश-प्राप्ति होती है तथा आहार दान धर्मोपदेष्टाओ को देने से उनकी शरीर स्थिति रहती है और शरीर स्थिति के कारण धर्मोपदेश के लाभ से आत्म कल्याण की प्राप्ति होती है जिन के घर से दान नही दिया जाता उस घर को आचार्यो ने श्मसान के तुल्य बताया है। अत अपनी सामर्थ्यानुकूल अवश्य दान देना योग्य है जिससे पुण्य बंध होकर भविष्य में सुख की प्राप्ति हो। आगे यह बतलाते है कि बिनादान के मनुष्य की पर भव मे क्या दशा होती है।

"भिक्षुक धय धय बोधाय, भोसन पु सादेयधण दाणं ।
विण दीये ममजीवो, लहवण वार वारजाचंति ।। १ ।।"

अर्थ—हे सज्जनो! देखो पहले भव मे मै भी धनवान था परन्तु मैने लोभ के वशीभूत दान नही दिया इससे ऐसा दरिद्री हुआ हू कि अब खाने के वास्ते भी घर २ मागता फिरता हू और मुझे खाने को भी नही मिलता है। अत मेरी हालत देखकर तुम दान करना मत भूलो। दान की प्रेरणा के लिए क्या अच्छा कहा है—

"याचका नैव याचन्ते, बोधयन्ति गृहे गृहे । दीयतां दीयतां लोकेष्वदानात् फलमीदृश ।।"

अर्थ—संसार मे याचक लोग भिक्षा नही मागते है,अपितु घर घर जाकर प्रतिबोधन करते है कि हे धनिको! दान करो, दान करो! यदि दान नही करोगे तो तुम को भी मेरे समान दरिद्री बनकर भिक्षावृत्ति करनी पडेगी। नीतिकारो ने धन की तीन व्यवस्था बतलाई है। जैसे— **"दान भोगो नाशस्तिस्त्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य ।**

यो न ददाति न भुक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।"

अर्थ—धन की निम्न लिखित तीन दशा होती है–दान, भोग और नाश । जो पुरुष दान भी नही देता, भोग भी नही करता उसके धन की तीसरी दशा अर्थात् नाश नाम की दशा होती है । भावार्थ यह है कि जो पुरुष न तो दान करता है और न खाता है, उसका धन नाश को प्राप्त हो जाता है । यदि धन को दानादि मे लगाकर सफल नही किया जावे तो धन सर्वथा दु ख का ही आश्रय है । कहा भी है :—

अर्थस्योपार्जने दु खमर्जितस्य च रक्षणे । आये दु खं व्यये दु खं धिगर्थ दुखभाजनम् ।।"

अर्थ—अर्थोपार्जन एव आय मे भी दु ख होता है और व्यय होने पर भी दु ख होता है ऐसे कष्टदायी धन को धिक्कार है । अत बुद्धिमानो को उचित है कि धन का दान करके सदुपयोग करते हुए पुण्योपार्जन करे ।

– गृहस्थों के लिए दान के चार भेद –

आचार्यो ने गृहस्थो के लिये दान के दूसरे प्रकार से चार भेद बतलाये है । १ पात्र-दत्ति २ समदत्ति ३ दयादत्ति और ४ सर्वदत्ति । (१) पात्रदत्ति–उत्तम, मध्यम तथा जघन्य पात्रो को भक्ति पूर्वक दान देना पात्र दत्ति है । उत्तम पात्र मुनि है, मध्यम पात्र ऐलक तथा क्षुल्लक है । जघन्य पात्र प्रतिमाधारी श्रावक है । (२) समदत्ति–अपने समान धर्मात्मा अव्रत सम्यग्दृष्टि श्रावको को कन्या देना, रुपया पैसा गृह मकान उपकरण जायदाद लकडी पत्थर आदि देना, रोजगार लगवाना एवं अन्य प्रकार से उनका उपकार करना जिससे वे धर्म साधन मे दृढ बने रहे, धर्म से शिथिल न हो, वह समदत्ति है । (३) दयादत्ति–दुखी, दरिद्री, बुभुक्षित, लगडा, पंगु, अधा, बहिरा, काना, कोढी, उन्मत्त, मकान रहित, परिवार रहित, बीमार, विद्यार्थी, अति बालक, अतिवृद्ध, पशु पक्षी, जलचर, थलचर, और नभचर समस्त जीवो की दया करना श्रीमानो का परम कर्तव्य है । इस दान को दया दत्ति कहते है । औषधालय - भोजनशाला - विद्यालय - अनाथालय - गुप्त सहितालय आदि जो भी पुण्य कर्म के इस प्रकार के साधन जुटाता है वह दया पूर्वक दान करने के कारण दयादत्ति के अन्तर्गत आ सकते है । धनाढ्य पुरुष अपनी सम्पत्ति को उल्लिखित कार्यो मे खर्च कर सफल बनाते है । धर्मात्मा पुरुष यदि उनके पास सम्पत्ति नही है तो धनिको को उपदेश देकर एव दान कराके पुण्योपार्जन करते है । ४. सर्वदत्ति—अपने कुटुम्बी जन एव उत्तरा-धिकारियो को उपार्जन की हुई सम्पत्ति मे से कुछ देना अथवा सब देना सर्वदत्ति एव अन्वय-दत्ति दान कहलाता है । माता,पिता, काका,काकी, भाई,भतीजी, स्त्री, पुत्र,पुत्री, पोती,पोता इत्यादि सम्बन्धी जनो को भी जो सम्पत्ति देनी हो उनको बुलाकर धर्म का उपदेश देकर यह सम्पत्ति तुम को सत्कार्यो मे एव धार्मिक कार्य मे सदुपयोग करने के लिये दी जाती है, इसका सदुपयोग करना । यदि इतने कहने पर भी सम्बन्धी लोग उस सम्पत्ति का दुरुपयोग

करे तो उसके दोष के भागी वे सम्बन्धी ही होवेगे, दाता को दोष न होगा। कुटुम्बियो को धर्मात्मा बनाने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। आगे पात्रदत्ति की विशेष व्याख्या करते है— "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष"—(तत्वार्थ सूत्र)

जो दान विधि सहित, उत्तम मर्यादित द्रव्य सहित-श्रद्धा-सहित, उत्तम भावो से इच्छा रहित होकर सम्यग्दृष्टि श्रावको के द्वारा उत्तम पात्र को दिया जाता है उस दान की बडी भारी महिमा है। इस प्रकार के दान के अनुमोदना मात्र से भी जीवो को भोग भूमि मे उपभोग्य सामग्री मिलती है। —* दान का प्रभाव *—

दानफलविशेषेणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्पवृक्षजनितसुखफल श्रीषेणोऽन्वभूत्। तथा च दानानुमोदेन पतिवररतिवेगाख्यं कपोतमिथुन विजयार्थप्रतिबद्धगान्धारविषयसुसीमानगरा-धिपतेरादित्यगते रतिवरवरो हिरण्यवर्मनामानन्दनोऽभूत्। तस्मिन् गिरौ गिरिविषयेभो-गपुरपतेर्वायुरथस्य रतिवेगवरी प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत्। एव हिरण्यवर्मा प्रभावती च जातिकुलसाधितविद्या प्रभावेन सुखमन्वभूताम्।

भगवान् आदिनाथ के जीवने वज्रजघ और श्रीमती की पर्याय मे जो मुनियो को आहार दान दिया था उसकी रतिवर कबूतर और रतिबेगा कबूतरी ने अनुमोदना की थी उसके पुण्य के प्रभाव से वे दोनो कबूतर और कबूतरी मर कर उत्तम भोग भूमि मे उत्पन्न हुए और कल्पवृक्षो से ऐच्छिक सामग्री का भोग किया। पश्चात् वे दोनो भोग भूमि की आयु पूर्ण कर स्वर्ग मे गये और वहा से चयकर विजयार्ध पर्वत की गाधार देश की सुसीमा नगरी के अधिपति आदित्यगति राजा के रतिवर कबूतर का जीव हिरण्यवर्मा नाम का पुत्र हुआ। रतिवेगा कबूतरी का जीव भोगपुरी नगरी के स्वामी राजा वायुरथ के प्रभावती नाम की कन्या हुई। अनन्तर हिरण्यवर्मा और प्रभावती का विवाह पर उन्होने विद्याधरो के प्रचुर वैभव को भोगा और पुन दोनो स्वर्ग मे गये। वहा पर स्वर्ग के वैभव का उपभोग करके जयकुमार और सुलोचना हुए। जयकुमार बडा शक्तिशाली राजा था जिसको भरतेश ने अपनी सेना का अधिपति बनाया तथा उसने अपने बल से मेघकुमार देवो तक पर विजय प्राप्त की थी—सामान्य राजा न था। इसी प्रकार दान के प्रभाव से राजा अकपन की पुत्री सुलोचना भी बडी सुन्दरी हुई जिसके लिये अनेक देश के राजा स्वयवर मे बरने को आये थे। भरतेश पुत्र तक के भी जिस के लिये पूर्ण प्राप्ति का प्रयास किया था, इसका पिता भी, महामान्य भरतेश तक से सम्मानित हुआ था। दान की अचिन्त्य महिमा है। दान से मनुष्य क्या २ भोग और उपभोग प्राप्त नही करते? अर्थात् सब प्राप्त करते है।

"सत्पात्रोपगत दान सुक्षेत्रे गतबीजवत्। फलाय यदपि स्वल्प तद्धिरल्पाय कल्पते ॥

अर्थ—सत्पात्र में गया हुआ दान अच्छे स्थान मे बोये हुए बीज के समान सफल

होता है। यहा पर चारित्रसार की व्याख्या उद्धृत करते है। दान की बडी भारी महिमा अन्यत्र भी कही है—

"दान विना नहि मिलत है सुख सम्पति सौभाये, कर्मकलंक खपाय कर पावे शिवपद राज"

भावार्थ—दान से ही ससारी जीवों को महान् सुख की प्राप्ति होती है। दानी जीव ही ससार मे महान् यश को प्राप्त करता है। कहा तक कहा जावे इस ससार मे दान के प्रभाव से ही जीव अत्यन्त दुर्लभ भोग भूमि के सुख, देव, विद्याधर, प्रति नारायण तथा नारायण, चक्रवर्ती और वसुदेव आदि पदो को प्राप्त करता है। इस दान के प्रभाव से शत्रु भी शत्रुता छोडकर अपना हित करने लगते है। अनत शत्रु दान के प्रभाव से मित्र रूप हो गये है। श्रेयांस राजा के जब आदीश्वर स्वामी का आहार हुआ तो प्रथम इन्द्र ने दाता की प्रशंसा की थी, पीछे दान की। पश्चात् आदीश्वर भगवान् की जो कि उत्तम पात्र थे। इस प्रकार प्रशसा की थी। इन्द्र के शब्द इस प्रकार के थे —

"धन्यदानी अरु धन्य दान अरुधन्य है आदीश्वर भगवान्" अर्थात् हे भव्य जीवो! यहां पर प्रथम दानी को धन्यवाद दिया गया और फिर दान को अनंतर जो आदीश्वर महाराज है उनको धन्यवाद दिया गया। इस युग में सब से प्रथम तीन लोक के अधिपति भगवान् आदीश्वर को आहार दान देकर संसाररूपी समुद्र पार होने के लिये नाव के समान मुनि मार्ग को चलाने के साधन स्वरूप शरीर के भी परम साधक आहारदान का मार्ग चलाया था अत. इनकी प्रशसा देवेन्द्रो के द्वारा भी हुई है। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने दान को रत्नत्रय प्राप्ति का कारण बतलाया है.—

"जीयसुहचय मोक्खो, मोक्खो तयरण रयरण मुरणसातो।
मुरणरणरतरण अहारो, भोयरण सावय गेह कर होई॥"

अर्थ—जीव ससार मे सुख की इच्छा करते हैं वास्तव मे ससार मे सुख नही है किन्तु सुखाभास है। आत्मिक सुख को सत्य सुख कहते है वह ससार से कैसे मिल सकता है। क्योंकि ससार मे आकुलता है और सुख निराकुल रूप है और निराकुल अवस्था मोक्ष मे है। मोक्ष का साधन रत्नत्रयधारी मुनि करते है। एव उपदेशादि द्वारा गृहस्थियो को उसके मार्ग पर लगाते है। उपदेशादि का साधन शरीर है। कहा भी है "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" अर्थात् धम का साधन शरीर है। उसकी स्थिति भोजन के ऊपर निर्भर है और भोजन के साधन गृहस्थ के द्वारा दिया गया मुनि को दान है। अत: रत्नत्रय का साधक कारण आहार दान कहलाया। अत गृहस्थो को चाहिये कि दान देकर अपने जीवन को सफल बनावे एवं धन का सदुपयोग करे। अन्यथा समय निकले बाद कुछ नही कर सकोगे श्री भगवान् ऋषभ देव ने भी राजा श्रेयांस से आहारदान लेकर शरीर की स्थिति को रखते

हुए रत्नत्रय का आराधन कर केवल ज्ञान प्राप्त कर संसार के जीवो को सदुपदेश देकर कल्याण किया था। यदि आहार दान मुनिजन प्राप्त न करे तो उनके शरीर की स्थिति के विना कोई धर्म साधन नही हो सकता।

"पूज्य गुरू निर्ग्रन्थ विन दानी कौन बनाय। भोग भूमीश्वर चक्री जिन, होकर मोक्ष लहाय"

अर्थ—यदि पूज्य निर्ग्रन्थ साधु गुरु न होते तो जीवो को श्रावक बनकर दानी बनने का सौभाग्य कैसे प्राप्त होता और दान के बिना उसका फल भोग भूमि का सुख, देव पर्याय के आनन्द, चक्रवर्तियो की विभूति आदि प्राप्त कर एव तीर्थङ्कर पदवी प्राप्त कर मोक्ष पद कैसे प्राप्त किया जा सकता है। पूज्य दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुओ के आहार देने का बडा भारी माहात्मय है। जहा पर निर्ग्रन्थ गुरुओ एव मुनियो की चर्चा एव आहार होता है उनके घर देवता रत्नवृष्टि आदि पाच प्रकार की वर्षा करते थे जिनको पचाश्चर्य कहते है पुण्य एव धर्म का माहात्मय अचिन्त्य है। और भी कहा है—

"जाचें सुरतरु देय सुख चिन्तत चिन्तारैन। बिनजाचे बिन चिन्तवे धर्म सकल सुखदैन॥"

अर्थ—कल्पवृक्ष भी याचना करने पर ही सुख को देते है और चिन्तामणि रत्न भी चितवन करने से किसी पदार्थ को देता है किन्तु दोनो से बढकर दान द्वारा प्राप्त हुआ धर्म बिना मागे और बिना विचारे ही ससारी जीवो को सुख सामग्री की प्राप्ति करा देता है दानी पुरुषो को अपना चन्दन के समान और क्षमा रूप रखना चाहिये। कोई कुछ भी कहो दान अवश्य देना चाहिये जैसे कुल्हाडी चन्दन को काटती है तथापि चन्दन उसको सुगन्धित ही करता है, अपना स्वभाव नही छोडता। उसी प्रकार आप को भी अपना स्वभाव शीतल और क्षमा रूप रखना चाहिये दूसरा चाहे कुछ भी कहता रहे। दुर्जन अपने स्वभाव को नही छोडता है तो सज्जन को भी अपना स्वभाव नही छोडना चाहिये। धन दान देने से कभी नही घटता है जब कभी घटता है तो पाप के उदय से घटता है। जैसे कुए का जल पीने से कभी नही घटता एवं विद्या कभी देने से नही घटती प्रत्युत पानी और विद्या क्रम से कूप से निकालने एवं पढाने से वृद्धि को प्राप्त होती है। उसी प्रकार धन की दशा है। ज्यो २ दान दिया जाता है त्यो २ पुण्य की प्राप्ति होती है। अत पुण्य का फल रूप धन बढता है। कोई पूर्व का पाप उदय मे आ जावे तो दूसरी बात है। उससे धन घट सकता है, अन्यथा दान देने से धन नही घटता। जो लोग दान देने से धन का घटना समझते है वे भूल करते है। इस कारण हे भव्य जीवो! मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिए दान जरूर देना चाहिये। इस प्रकार श्रावको के षट्कर्म का वर्णन किया।

सामायिकादि परिग्रहत्याग प्रतिमाधिकार

※ मङ्गलाचारण ※

सर्वमङ्गलमांगल्य　सर्वकल्याणकारकम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैन जयतु　शासनम् ।।

इस मे सामायिकादि परिग्रहत्याग प्रतिमाओ का स्वरूप और उनके भेदो का वर्णन किया जायेगा। इसलिए इसका नाम सामायिकादि परिग्रहत्याग प्रतिमाधिकार है। जो ग्यारह प्रतिमाओं मे से किसी भी प्रतिमा का निर्वाह करता है सामान्यत वह नैष्ठिक है। नैष्ठिक की ११ प्रतिमाये होती है। इनमें से दो प्रतिमाओ का वर्णन इससे पहले किया जा चुका है। इस में सामायिक प्रतिमा से लेकर नवमी परिग्रहत्याग प्रतिमा तक का वर्णन किया जायेगा। दशवी और ग्यारहवी प्रतिमा यद्यपि नैष्ठिक श्रावक की ही है तथापि इस ग्रंथ में इन दोनो प्रतिमाओ को साधक के रूप मे स्वीकार कर उनका साधकत्व रूप से वर्णन आगे किया जायेगा क्योकि यह मुनिपद की साधक हैं। **नैष्ठिक श्रावक के तीन भेद-**
आद्यास्तु षट्जघन्याः स्युः मध्यमास्तदनुत्रय, शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ।।१।।

अर्थ—प्रथम प्रतिमा से लेकर छह प्रतिमा तक तो जघन्य और सप्तम, अष्टम, नवम, प्रतिमा तक मध्यम तथा दशम व ग्यारहवी प्रतिमा के धारक श्रावक को उत्कृष्ट नैष्ठिक (साधक) कहते हैं। **—प्रतिमाओं का लक्षण—** प्रतिमाओ के नाम बतलाने से पूर्व सामान्य रूप से प्रतिमामात्र का लक्षण कवि बनारसीदासजी के पद्यों द्वारा निरूपण करते हैं।
"संयम अश जग्यो जहां भोग अरुचि परिणाम, उदय प्रतिज्ञा को भयो प्रतिमा ताको नाम ।।
सयम धारण सब चहै सयम भाव न होय, भेद ज्ञान हूये बिना सयम सधै न कोय ।।

अर्थ—संयम के अंश जागृत हुए बिना जो एक दूसरे को देख कर साधु अवस्था को धारण कर लेते है उनके परिणामो मे सदा आर्त्त परिणाम प्रायः बना रहता है और जीवो की दया भी नही पलती। क्योकि जिस प्रकार बिना मजबूत जड के महल नही ठहरता, उसी प्रकार बिना भेद विज्ञान के सयम की जागृति नही होती और देखा देखी उठा हुआ सयम भाव विशेष कार्यकारी नही होता प्रत्युत. कर्म बन्ध का कारण होता है। सयम विना जीव इन्द्रियो के वशीभूत रहकर कष्टो को प्राप्त करता है। जो जीव एक २ इन्द्रिय के वशीभूत है उनको भी बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है एवं प्राणतक की बाजी लगा देनी पड़ती है। किसी कवि ने कहा भी है—

"मृग अलि मीन पतङ्गा गज एकाएक मे नाश, जिन के पांचों घट बसे उनके कैसी आश।

अर्थ—हिरण, भोरा, मछली, पतङ्गा और गज ये जीव एक २ इन्द्रिय के अधीन होने से ही अपने को खो बैठते है; फिर जो प्राणी पाचो इन्द्रिय के वश मे हो जावे उसका जितना भी अनर्थ हो जावे वह भी कम है। उनको जीवन की आशा छोड देनी चाहिये। ये इन्द्रियो के विषय ऊपर से मधुर और अन्तरङ्ग से विषपूर्ण किपाक फल के समान आपातरमणीय है। इनका परिणाम दु ख पूर्ण है। कविवर दौलतरामजी ने भगवान् से निम्न लिखित प्रार्थना की है—

"आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय"

भावार्थ—सबसे अधिक आत्मा के अहित रूप पञ्चेन्द्रिय विषय एव क्रोधादिक कषाय है। भगवन्! मेरा परिणाम इनकी तरफ न लगे यह बात तब ही बन सकती है जबकि सच्चा वैराग्य और सत्य सयम एवं भेद विज्ञान प्राप्त कर लिया हो। यदि देखा देखी संयम धारण किया गया है तो वह अनेक कारणो से अत्यन्त शीघ्र छूट सकता है। प्रथम तो जीव अनादि काल से विषयो को सेवन करता आया है, उसे विषय सेवन का चिरकाल से अभ्यास है और जीव की बुद्धि चिरन्तर अभ्यास के अनुकूल विशेष प्रवृत्त होती है। अत जिसने देखा देखी सयम धारण किया है वह शीघ्र ही फिर उनको ग्रहण कर सकता है। भगवान् ऋषभ देव के पौत्र मारीच ने देखा देखी सयम लिया था, किन्तु वैराग्य एवं भेद विज्ञान के बिना छोडना पडा और अनतकाल नाना विध योनियो मे जन्म धारण कर दु ख उठाना पडा एव अनन्त काल तक एकेन्द्रिय पर्याय भी धारण करनी पडी। अत किसी को देखा देखी सयम नही धारण करना चाहिये। इसी विषय में और भी कहा है—

"सयम त्याग न करो कदा, त्याग किये अघ होय।
ऋषभ पौत्र की कथा, पढ सुनते हो दु ख होय॥

भावार्थ—सयम का त्याग कभी भी नही करना चाहिये। संयम के त्याग से वडा पाप होता है। ऋषभ देव के पौत्र की कथा से आप लोगों को शिक्षा लेनी चाहिये कि आदि तीर्थंकर के पौत्र को भी सयम त्याग के कारण कितने २ कष्ट उठाने पड़े। **देश संयम की ११ कक्षाएँ (११ प्रतिमाएँ)**—अब देश सयम की क्रमश ग्यारह कक्षाएँ कहते हैं। (रत्न. श्रावका.)

"श्रावकपदानि देवैरेकादशदेशितानि येषु खलु। स्वगुणा. पूर्वगुणै सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा

अर्थ—श्रावक की ग्यारह श्रेणी है। एक २ श्रेणी पूर्व गुण के लिये हुए वृद्धि को प्राप्त होती है। अर्थात् क्रमोल्लघन नही होता। ग्यारह प्रतिमाओ के नाम ये हैं —
१. दर्शन प्रतिमा २ व्रत प्रतिमा ३. सामायिक ४. प्रोपध नियम ५. सचित्तविरत प्रतिमा ६ रात्रिभुक्तित्याग ७. ब्रह्मचर्य ८. आरंभ त्याग ९. परिग्रहत्याग १०. अनुमतित्याग और ११ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा। इस प्रकार ग्यारह श्रेणिया है। **प्रतिमाधारियों के तीन भेद**-

इन प्रतिमाओ के धारण करने वाले श्रावको के जघन्य, मध्यम और उत्तम तीन भेद हैं। १ जघन्य मे तो प्रथम प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक नैष्ठिक होते हैं। २ मध्यम मे सप्तम प्रतिमा से नवम प्रतिमा तक ब्रह्मचारी होते है। ३ उत्तम मे दशम और ग्यारह प्रतिमाधारी साधक श्रावक कहे जाते हैं। इन तीनों के भी उत्तम, मध्यम व जघन्य भेद से तीन भेद निम्न प्रकार से होते है। —**जघन्य नैष्ठिक श्रावक के भेद**। —प्रथम प्रतिमा और द्वितीय प्रतिमा धारी जघन्य नैष्ठिक। तृतीय प्रतिमा और चतुर्थ प्रतिमाधारी मध्यम नैष्ठिक। पचम प्रतिमा और षष्ठ प्रतिमाधारी उत्तम नैष्ठिक।

मध्यम नैष्ठिक श्रावक जो ब्रह्मचारी है उसके भेद।

सप्तम प्रतिमाधारी जघन्य ब्रह्मचारी होता है। अष्टम प्रतिमाधारी मध्यम ब्रह्मचारी होता है। नवम प्रतिमाधारी उत्तम ब्रह्मचारी होता है।

उत्तम श्रावक (जिसे साधक कहते है) के भेद।

दशम प्रतिमाधारी श्रावक जघन्य साधक कहलाता है। ग्यारहवी प्रतिमाधारी क्षुल्लक, क्षुल्लिका मध्यम साधक होता। ग्यारहवी प्रतिमाधारी ऐलक ही होता है वह उत्तम साधक है। इसकी आर्य संज्ञा है; क्योकि शूद्र ऐलक पद धारण नही कर सकता।

-: प्रथम प्रतिमा का विवेचन :-

—* जघन्य नैष्ठिक का स्वरूप *—

"हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
प्राणातिपातविरत,सहातिचारैर्दार्शनिको भवेत्॥"

अर्थ—स्थूल हिंसा–असत्य–चोरी–कुशील और परिग्रह के त्याग से दार्शनिक प्रतिमाधारी जघन्य नैष्ठिक है। यहा पर बादर जीवों की हिंसा का अतिचारो को भी बचाकर त्याग करना आवश्यक है। उल्लिखित पांचो पापो की सगति से ही यह प्राणी महान् दु ख प्राप्त करता है। अतिचारों के परित्याग पूर्वक इनके त्याग से निर्मलता आती है एवं श्रावक दार्शनिक प्रतिमाधारी होता है। अब क्रम से अहिसादि पाचों अणुव्रतो का स्वरूप कहते हैं।

— अहिंसाणुव्रत का स्वरूप —

सकलपात्कृतकारित,मननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहु., स्थूलवधाद्विरमण निपुणा.॥५३॥ (रत्नकण्ड श्रावका०)

अर्थ—संकल्प से मन, वचन और कार्य के द्वारा जो कृत, कारित और अनुमोदना से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय जीवो का नही घात करना है उनको निपुण पुरुष गणधरादिकों ने स्थूल वध विरमण अर्थात् अहिसाणुव्रत कहा है। एक कवि ने हिन्दी पद्य मे अहिसाणु-व्रत का स्वरूप निम्न प्रकार से लिखा है।

जो जन मन वच काय से कृत कारित सो जेह, त्रस को त्रासन दीजिये प्रथम अणुव्रत एह ।।

छह ढाले मे अहिंसाणु व्रत का लक्षण निम्न प्रकार है ।

"त्रस हिंसा को त्याग वृथा थावर न सहारे"

अर्थ—त्रस हिसा का सर्वथा परित्याग कर व्यर्थ स्थावर जीवो की हिसा का न करना अहिसाणुव्रत है । **—हिंसा के भेद—** हिंसा के चार भेद है—

१ सकल्पी हिसा २ विरोधी हिसा ३ उद्योगी हिसा ४ और आरम्भी हिसा । हिसा को समझने के लिए इन चार बातो को समझना चाहिए —

१ हिस्य २ हिसक ३ हिसा ४ और हिंसा का फल १ हिस्य–जो मारा जावे वह हिस्य है । २ हिसक–जो मारने वाला है वह हिसक है । ३ हिसा–जीव के मारने रूप क्रिया हिसा है । ४ हिंसा फल–जो नीचातिनीच नरक निगोद चाण्डाल आदि पर्याय धारण कर दु ख भोगना है, वह हिसा का फल है, भेद प्रभेद सहित हिसा का त्याग श्रावक ऊ ची अवस्था में करता है। अब उल्लिखित चार प्रकार की हिसा के स्वरूप को विशदरूप से बतलाते है–**संकल्पी हिंसा**

१—सकल्पी हिसा—गृहस्थ लोग प्रथम पाक्षिक अवस्था से ही सकल्पी हिंसा के त्यागी होते है । जानकर किसी जीव को बाधा नही पहुचाते । अव्रत सम्यग्दृष्टि–जो श्रावक किसी प्रकार के व्रतो का पालन नही करते है वे जीव अव्रत सम्यग्दृष्टि हैं । यद्यपि अव्रत सम्यग् दृष्टि त्रस और स्थावर जीवो की हिसा से विरक्त नही होते, तथापि उनमे सम्यग्दर्शन होने के कारण अनन्तानुबन्धी कषाय नही होती । अत वे हिंसा का कार्य नही करते है । यहा तक है कि अव्रती के चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से मास भक्षण का भी त्याग नही है । क्योकि यदि वह मास भक्षण का त्याग कर देवे तो व्रती कहलाने लगे, अव्रती न रहे, एव वह पचम गुणस्थान वर्त्ती पाक्षिक श्रावक बन जावे । वैसे सम्यग्दृष्टि होकर जो अव्रती है वह अव्रत सम्यग्दृष्टि है । गोम्मटसार में लिखा है—

"णो इ दिये सु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं, सम्माइट्ठि अविरदो सो ।।

अर्थ—जो इन्द्रियो के विषयो से तथा स्थावर जीवों की हिसा से विरक्त नही हैं, किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान रखता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है । परंतु जो हिसा को त्याग करने वाला पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है वह प्राण जाने पर सकल्पी हिसा नही करता है । २ **विरोधी हिंसा**—आत्मरक्षा के लिए जो हिसा होती है उसे विरोधी हिसा कहते है । गृहस्थ के लिए यह हिसा अनिवार्य हो जाती है । यह उसकी मजबूरी की हिसा है जो उसके न्यायानकूल जीवन मे बाधा डालता है या उसके साधनो को हानि पहुंचाता है, उसपर आक्रमण करता है, उसका प्रतिकार करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है । उस

प्रतिकार के प्रयत्न मे जो हिसा होती है उससे गृहस्थ बचने की कोशिश करे तो वह अपनी जिम्मेवारी को नही निभाता है। तीर्थंकरो ने भी इस जिम्मेवारी को निभाया है। घर में ही वैरागी कहलाने वाले चक्रवर्ती भरत को भी हथियार उठाने पड़े है। अनिवार्य होने पर भी यह हिसा तो है और इससे पाप बध भी होगा ही, फिर जब तक कोई गृहस्थ है तब तक इसे छोड नही सकता। अणुव्रतियो ने बड़े २ युद्ध लड़े है। उनमे हजारो की जाने गई है और फिर भी उसे कर्तव्य समझा गया है। यह हिसा सकल्पी हिसा से बहुत हल्की है। इसलिए इसे करता हुआ भी मनुष्य व्रती कहला सकता है। अपने पर आक्रमण करने वाले साप पर पत्थर लकड़ी आदि फेंकना और उससे अपनी रक्षा करना कर्तव्य कोटि की चीज है, जबकि यो ही चलते फिरते उसे तंग करना एक पाप है। इसीलिए शिकार करना सकल्पी हिसा है और पाप है। उससे मनुष्य को जरूर बचना चाहिये। नही तो वह कर्तव्य हीन है। हमे क्या अधिकार है कि हम मनोरंजन के लिए किसी प्राणी को सतावे। विरोधी हिसा विधेय होने पर भी यह ध्यान रखना जरूरी है कि जहां तक हो सके विरोध को शांतिमय उपायो से दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये इससे सफलता न मिलने पर ही विरोधी हिसा का अवलम्बन करना चाहिए। **—उद्योगी हिंसा—** ३ उद्योगी हिसा-न्यायानुकूल जीवनोपयोगी आजीविका मे जो हिसा होती है उसे उद्योगी हिसा कहते है। उद्योगी हिसा स्थूल रूप से अष्टम प्रतिमाधारी से छूटती है उसके पहले नही छूटती है। क्योकि अष्टम प्रतिमा से पहले उद्योग करने का त्याग नही होता है। उससे पहले मनुष्य कृषि वाणिज्य और व्यापार करता रहता है तब तक उसे प्रमाद जन्य कार्य भी करना पडता है। अत· अष्टम प्रतिमा से पहले उद्योगी हिंसा का त्याग पूर्ण रूप से नही बन सकता। उसमे भी विशेषता यह है कि उद्योगी हिसा आठवी प्रतिमा मे जघन्य रूप से दूर होती है और नवमी प्रतिमा मे मध्यम रूप से उद्योगी हिंसा दूर होती है। क्योकि नवमी प्रतिमा तक घर में ही रह सकता है और जब तक घर मे रहेगा तब तक कुटुम्बी जन सलाह लेते ही रहते है। सलाह देने के कारण जो उद्योगी हिसा का परित्याग बनता है वह मध्यम ही बन सकता है। **—आरंभी हिंसा—** ४ आरभी हिसा चूल्हा जलाना, पानी भरना, बुहारी देना, मकान बनाना आदि मे जो हिंसा होती है वह प्रारभी है। यह हिंसा स्थूल रूप से तो दशमी अनुमति त्याग प्रतिमा मे छूट जाती है किन्तु सूक्ष्म रीति से विचार किया जावे तो यह हिसा ग्यारहवी प्रतिमा धारी ऐलक तक के भी नही छूटती है क्योकि उनके प्रत्याख्यान कषाय की सत्ता बनी रहती है। अत. पूर्ण रूप से यह हिसा दिगम्बर मुनि जो निर्ग्रन्थ है, उनके ही छूट सकती है क्योकि उनके प्रत्याख्यान कषाय सत्ता मे भी नही रहती है अत एकादश प्रतिमाधारी ऐलक भी आरभी हिंसा का स्थूल रूप से ही त्यागी

है । इसका विशेष विवरण एकादश प्रतिमा वर्णन मे करेगे, वहा से समझ लेना चाहिये ।

जब तक प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है तब तक हिसा बनी रहेगी । वह ही हिसा का मूल कारण है । इस कारण वहा तक एक देश अणुव्रती है–एवं एक देश ही हिसा का परित्याग है । वास्तव मे अहिसा व्रत भावज्ञानी मुनि के ही होता है जीवो के भेद प्रभेद पूर्ण रूप से भले प्रकार वे ही जानते है एवं सिद्धान्त रूपी नेत्र के धारक होते है तथा उनके कषाय का उदय नही होता है । इस कारण वे ही पूर्ण रूप से एकेन्द्रिय जीव से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जीवो के रक्षक हो सकते है । उनको गुणस्थान, मार्गणा तथा जीव समासो का भी पूर्ण रूप से ज्ञान होता है अत वही पूर्ण अहिसा महाव्रत को पालते है । चौदह गुण स्थान का वर्णन मुनि धर्म मे बतलाया जा चुका है, अत यहा नही लिखा गया है । यहां केवल जीव समास बतलाये जाते है । — **जीव समास का स्वरूप** :—

जेहि अरोया जीवा, णज्जते बहुविहा वि तज्जादी
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासोत्ति विण्णेया ।।७०।। (गोम्मटसार जीव०)
तसचदुजुगाणमज्झे अविरुध्देहिं जुनजादिकम्मुदये ।
जीवसमासा होंति हु तब्भवसारिच्छसामण्णा ।।७१।।

अर्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकार की जाति जानी जाये उन धर्मों को अनेक पदार्थो का सग्रह करने वाला होने से जीव समास कहते है ।।७०।। त्रस स्थावर बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण इन चार युगलो मे अविरुद्ध त्रसादि कर्मोयुक्त जाति नाम कर्म का उदय होने पर जीवो मे होने वाले ऊर्ध्वता सामान्य रूप, या तिर्यक् सामान्य रूप, धर्मों को जीव समास कहते है । त्रस कर्म का बादर के साथ अविरोध और सूक्ष्म के साथ विरोध है, इसी प्रकार पर्याप्त कर्म का साधारण के साथ विरोध है और प्रत्येक के साथ अविरोध है । इसी तरह अन्यत्र भी यथा सम्भव लगा लेना चाहिये । षट्काय के जीवो पर दया रूप परिणमन का नाम प्राण सयम है । वह प्राण सयम जीव समासो के ज्ञान बिना नही हो सकता । अत उनका वर्णन करना अत्यन्त आवश्यक है ।

जीव समास के भेद —जीव समास के सक्षेप और विस्तार से कई भेद है । एक प्रकार से १४, दूसरे प्रकार १९, तीसरे ५८, चौथे से ९८ और पाचवे प्रकार से ४०६ जीव समास के भेद होते है । उनमे से १४ भेद इस प्रकार है — **जीव समास के चौदह भेद** — एकेन्द्रिय के दो भेद है–सूक्ष्म और बादर, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय असज्ञी इन सातो भेदों को पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से गुणा करने पर चौदह भेद हो जाते है । **जीव समास के १९ भेद**—१ पृथ्वी २ जल ३ तेज ४ वायु तथा ५ वनस्पति मे साधारण वनस्पति का भेद नित्य निगोद और ६ इतर निगोद, इन छहो को

सूक्ष्म और बादर से गुणा करने पर इनके १२ भेद हुए। ऊपर वनस्पति मे प्रत्येक को छोड दिया था सो यहा पर उसके सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दो मिलने से चौदह भेद एकेन्द्रिय के हो गये। इनके अतिरिक्त १५ द्वीन्द्रिय, १६ त्रीन्द्रिय १७ चतुरिन्द्रिय १८ असञी पचेन्द्रिय १९ सञी पचेन्द्रिय इस प्रकार १९ जीव समास होते है। **जीव समास के ५७ भेद**—जीव समास के १९ भेदो को पर्याप्त १, निर्वृत्यपर्याप्त २, और लब्ध्यपर्याप्त ३, इन तीनो भेदो से गुणित करने पर ५७ भेद हो जाते है। **जीव समास के ९८ भेद**—जीव समास के ८५ तिर्यञ्चो के, ९ मनुष्यो के, २ नारकी तथा २ देवो के इस प्रकार चारो गतियो के भेदो के सयोजन से ९८ भेद होते है। वे इस प्रकार है—१ तिर्यञ्चगति—सम्मूर्छन तिर्यञ्च के निम्न लिखित भेदो से ६९ भेद है और गर्भज के १६ है। (क) सम्मूर्छन मे ४२ एकेन्द्रिय के ९ विकलत्रय के और १८ पचेन्द्रिय के इस प्रकार कुल ६९ समूर्छन तिर्यञ्च के भेद है। (ख) गर्भज मे—१२ कर्म भूमि के और ४ भोग भूमि के इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह भेद गर्भजतिर्यञ्च के है। **तिर्यञ्चो के ८५ भेदों का पूर्ण विवरण**—पृथ्वी १, अप २, तेज ३, वायु ४, नित्य निगोद ५ और इतरनिगोद ६ इन ६ को सूक्ष्म और बादर से गुणन करने पर १२ भेद होते है। सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित के मिलाने से १४ होते हैं यदि उल्लिखित १४ भेदो को पर्याप्त १, निर्वृत्यपर्याप्त २ और लब्ध्यपर्याप्त ३ इन तीनो से गुणित कर दिया जावे तो ४२ एकेन्द्रिय जीव के भेद होते है। अब आगे ९ विकलत्रय के भेदो को कहते हैं—१ द्वीन्द्रिय २ त्रीन्द्रिय और ३ चतुरिन्द्रिय को इनको १ पर्याप्त २ निर्वृत्यपर्याप्त ३ लब्ध्यपर्याप्त इन तीनो से गुणन करने पर ९ भेद होते हैं। अव १८ समूर्छन मे पचेन्द्रिय जीवो के भेद बतलाते है :—१ जलचर २ स्थलचर ३ नभचर इन तीनो को सैनी और असैनी से गुणित करने से ६ भेद होते हैं। उल्लिखित ६ भेदो को पर्याप्तक १ लब्ध्यपर्याप्तक २ और निवृत्यपर्याप्तक ३ से गुणन करने पर १८ भेद हो जाते है। इस प्रकार अर्थात् ४२ एकेन्द्रिय के, ९ विकलत्रय के और १८ पचेन्द्रिय के कुल ६९ सम्मूर्छन के भेद होते है। इस प्रकार अर्थात् ४२ एकेन्द्रिय ९ विकलत्रय के और १८ पचेन्द्रिय के कुल ६९ समूर्छन के भेद होते है। इनमे निम्नलिखित १६ गर्भज के मिलाने से ८५ भेद तिर्यञ्चयोनिस्थ जीवो के है। अब गर्भज मे कर्म भूमिज पञ्चेन्द्रिय के १२ भेद बतलाते है।

१ जलचर, २ स्थलचर और ३ नभचर इन तीनों को सैनी और असैनी से गुणन करने पर ६ भेद होते है पुन· पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त से गुणन करने पर १२ भेद होते है। आगे गर्भज मे भोग भूमि के चार भेद कहते हैं—भोग भूमि मे जलचर नही होते, अतः स्थलचर और नभचर को ही पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त से गुणा किया तो भोग भूमि गर्भज तिर्यंचों के केवल चार भेद ही हुए। इस प्रकार इनके ८५ भेद हुए। मनुष्य नारकियो और

देवो के आगे बताते है। **मनुष्यों के ६ भेद**—मनुष्य स्थान भेद से अर्थात् आर्य खण्ड, म्लेच्छ खण्ड, भोग भूमि और कुभोग भूमि से चार प्रकार के है। उनको पर्याप्त-निवृत्यपर्याप्तक से गुणन करने पर ८ भेद होते है। इनमे एक भेद सम्मूर्छन सैनी मनुष्यो का है जो कि स्त्री की योनि, नाभि, कांख तथा मनुष्य के शरीर के अन्दर मल मूत्र और शरीर मे होते है। **नारकी और देवो के २ भेद**—देव पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्तक भेद से दो प्रकार के है और देवो के समान नारकियो के भी दो भेद है इस प्रकार कुल ६८ भेद हुए। **विशेष** सम्मूर्छन मे एकेन्द्रिय के ४२ भेद का लघु चित्रण इस प्रकार भी समझा जा सकता है–जीव समास के उक्त ५७ भेदो मे से पचेन्द्रिय के ६ भेद निकालने से एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सम्बन्धी ५१ भेद शेष रहते हैं। कर्म भूमि मे होने वाले तिर्यञ्चो के तीन भेद है, जलचर, स्थलचर, नभ चर। ये तीनो ही तिर्यञ्च सज्ञी और असज्ञी होते है। तथा गर्भज और सम्मूर्छन होते है, परन्तु गर्भजो मे पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त ही होते है, इसलिए गर्भज के बारह भेद, और सम्मूर्छनो मे पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त तीनो ही भेद होते है, इसलिए समूर्छनो के अठारह भेद, सब मिलकर कर्म भूमिज तिर्यञ्चो के तीस भेद होते है। भोग भूमि मे पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो के स्थलचर, नभचर दो ही भेद होते हैं और ये दोनो ही पर्याप्त तथा निवृत्यपर्याप्त होते है। इसलिए भोग भूमिज तिर्यञ्चो के चार भेद और उक्त कर्म भूमिज सम्बन्धी तीस भेद, उक्त ५१ भेदो मे मिलने से तिर्यग्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीव समास के ८५ भेद होते हैं। भोग भूमि मे जलचर सम्मूर्छन तथा असज्ञी जीव नही होते।

मनुष्य देव, नारक सम्बन्धी भेद इस प्रकार हैं—आर्य खण्ड मे पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त एव लब्ध्यपर्याप्त तीनो ही प्रकार के मनुष्य होते है। म्लेच्छ खण्ड मे लब्ध्यपर्याप्त को छोडकर दो प्रकार के ही मनुष्य होते है। इसी प्रकार भोग भूमि, कुभोग भूमि देव नारकियो मे भी दो ही भेद होते है। इसलिए सब मिलकर जीव समास के ६८ भेद हुए। भावार्थ—पूर्वोक्त तिर्यञ्चो के ५ भेद, ६ भेद मनुष्यो के, दो भेद देवो के तथा दो भेद नारकियो के, इस प्रकार सब मिलाकर जीव समास के अवान्तर भेद ६८ होते है।

जीव समास के चार सौ छह भेद—अब आगे चार सौ छह जीव समासो का वर्णन करते है। एकेन्द्रिय ७२, विकलत्रय ६, कर्म भूमि तिर्यञ्चो के ३०, भोग भूमि तिर्यञ्चो के बारह देवो के १७२, नारकियो के ६८ और मनुष्यो के १३ इस प्रकार सब जीव समास ४०६ होते है। **एकेन्द्रिय के ७२ भेद**—अब प्रथम ही एकेन्द्रिय के ७२ प्रकार को बतलाते है–कोमल पृथ्वी, कठोर पृथ्वी, वायुकाय, तेजकाय, जलकाय, साधारण-वनस्पति-नित्यनिगोद और साधारण वनस्पति-इतरनिगोद इन सातो को सूक्ष्म और बादर भेद से गुणन करने से १४ भेद हो जाते है। **अब प्रत्येक वनस्पति के भेद लिखते है**। तृण, बेल, छोटा वृक्ष, वडा वृक्ष,

कदमूल इन पाचो को सप्रतिप्ठित और अप्रतिष्ठित से गुणित करने पर दश भेद होते है। ऊपर के १४ भेदो को इन १० के साथ मिलाने से २४ भेद हो जाते है। और उल्लिखित २४ भेदो को पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त तथा लब्ध्यपर्याप्त इन तीनो से गुणित करने पर एकेन्द्रिय के ७२ भेद हो जाते है। **विकलत्रय के ६ भेद** — द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय इन तीनो को पर्याप्त, निर्वृ त्यपर्याप्त, तथा लव्ध्यपर्याप्त इन तीनो से गुणित करने पर नौ भेद हो जाते है। **कर्मभूमिज तिर्यञ्चो के ३० भेद** –पर्याप्तगर्भज, निवृत्यपर्याप्तगर्भज पर्याप्तमूर्छन निवृत्यपर्याप्त -समूर्छन और लब्ध्यपर्याप्त -समूर्छन इन पाचो भेदो को सैनी और असैनी से गुणित करने पर दश भेद हो जाते है। इनको जलचर, स्थलचर और नभचर इन तीनो से गुणित करने पर कर्म भूमि के तिर्यञ्चो के तीस भेद होते है । **भोगभूमिज तिर्यञ्चो के १२ भेद** –भोग भूमि मे जलचर नही होते अत स्थलचर और नभचर को पर्याप्त और निर्वृ त्य पर्याप्त भेद से गुणित करने पर ४ होते है। इनको जघन्य, मध्यम और उत्तम इन तीनो से गुणित करने पर १२ भेद भोग भूमिज तिर्यच्चो के बन जाते हैं। **देवो के १७२ भेद**—भवन वासियो के १०, व्यन्तरो के ८, ज्योतिषियो के ५ इस प्रकार इन तीन निकायो के २३ भेद हुए। कल्पवासी के सोलह स्वर्गों के ५२ भेद है। जैसे सौधर्म और ईशान स्वर्ग मे ३१ भेद है सानत्कुमार और माहेन्द्र मे ७ भेद है, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर मे ४ भेद हैं, लान्तव और कापिष्ट मे २ भेद हैं, पाचवे शुक्र महाशुक्र मे एक भेद है, सतार और सहस्त्रार मे एक भेद है, आनत और प्राणत मे ३ भेद है, और आठवे आरण और अच्युत मे भी ३ भेद है। इस प्रकार सब कल्पवासियो के ५२ भेद है। आगे कल्पातीत के ग्यारह भेद कहते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्य ग्रैवेयक के ६ भेद हैऔर नव अनुदिश मे एक ही भेद है। एक बीच मे चार दिशाओ मे और विदिशाओ मे चार-चार विमान हैं। फिर ५ अनुत्तर है। जिन मे सर्वार्थ सिद्धि बीच मे है और चारो दिशाओ मे चार विमान हैं। विजय, वैजयन्त, जयत और अपराजित नाम के क्रमवार है। सो एक भेद इनका। इस प्रकार सब मिला कर ६३ भेद तो ये हुए और २३ भेद ऊपर के मिलाये तो सब भेद ८६ हुए। इन सब को पर्याप्त तथा निर्वृ त्यपर्याप्त से गुणित करने पर एक सौ बहत्तर भेद देवो के होते है। **नारकियों के ६८ भेद**.–प्रथम नरक मे तेरह पटल, दूसरे नरक मे ग्यारह पटल तीसरे नरक मे नो पटल चौथे नरक मे सात पटल, पाचवे नरक मे पाच पटल, छठे नरक मे ३ पटल और सप्तम नरक मे एक पटल है। इस प्रकार सातो नरको के ४६ पटल हैं इनको पर्याप्त तथा अपर्याप्त से गुणित करने पर ६८ भेद नारकियो के होते है। **मनुष्यों के १३ भेद** –उत्तम, मध्यम और जघन्य भोग भूमियो तथा कुभोग भूमि के एव आर्य खण्ड और म्लेच्छ खण्ड के मनुष्य इन ६ भेदो को पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त से गुणित करने पर वारह भेद होते है। इनमें

लब्ध्यपर्याप्त मनुष्यो का सैनी भेद मिलाने से १३ भेद हो जाते है। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यो के विषय मे प० द्यानतरायजी ने कहा है कि :—

नारी योनि थन नाभि कॉखि में पाइये। नर नारी के मल मूत्र मे गाइये॥

मुर्दे गे समूर्छन सैनी जीवरा। लब्ध्यपर्याप्तक दया धरि जीवरा॥

इस प्रकार ४०६ भेद हुए। इन मे से १८६ भेद पर्याप्तक और १८६ निवृत्य-पर्याप्तक और ३४ लब्ध्यपर्याप्तक जीव इस प्रकार सयोजन से ४०६ है।

—. जघन्यनैष्ठिक श्रावक का स्वरूप —

जीवो की पूर्ण रूप से दया पालने वाले मुनि होते है और एक देश दया पालने वाले पाक्षिक श्रावक से लेकर सब ही अन्य श्रावक है। अब यहा पर अहिसाणुव्रत के अति चार को कहते है।

— अहिसाणुव्रत के अतिचार —

"वधवधछेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा" (मोक्षशास्त्र)

१ वध—पशु बैल आदि जीवो को इस प्रकार की रस्सी या साकल से बाधे कि उनके गले मे फासी सी न लगे अग्नि आदि की बाधा आने पर तोड कर भाग सके। कठिन रूप से बाधना अतिचार है। २ वध—पशुओ को विशेष रूप से इतनी चोट नही पहुचानी चाहिये कि जिससे विशेष अगो मे चोट पहुचे अर्थात् लाठी आदि से विशेष ताडन न करे मर्यादा से बाहर पशु का ताडन करना वध अतिचार है। ३ छेद—पशुओ के नाक, कान आदि का छेदन न करे एव अग्नि तथा गर्म लोहे से दाग न लगवावे। **४ अतिभारारोपण**—मर्यादा से अधिक भार नही लादे क्योकि वे मूक पशु कुछ नही कह सकते, किन्तु उनको कष्ट अधिक होता है। **५ अन्नपान निरोध**—समय पर पशुओ को अन्न घास पानी आदि की व्यवस्था भी अवश्य करनी चाहिये अन्यथा अन्नपान निरोध नाम का अतिचार लगता है और पशुओ की बीमारी आदि का भी ध्यान रखना चाहिये। जब श्रावक अहिसाणुव्रत मे अतिचार नही आने देता है तब ही उसकी अणुव्रत की दृढता एव निर्दोषता हो सकती है। **अहिसाणुव्रत की पांच भावनायें**—अब अहिसाणुव्रत की पाच भावनाओ का वर्णन करते है।

"वाड्.मनो गुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पच" (मोक्षशास्त्र)

अर्थ—१ वचन गुप्ति २ मनोगुप्ति ३ ईर्यासमिति ४ आदाननिक्षेपण समिति ५ और आलोकित पान भोजन ये पाच भावनाये अणुव्रत की है तथापि विशेष रूप देने से महाव्रत रूप परिणमन हो जाती है। विशेषस्पष्टीकरण—१ **वचनगुप्ति**—अच्छी प्रकार से बुरी प्रवृत्ति को रोक कर, पीडा कारक वचन न बोलकर, हितकारी प्रामाणिक एध सार्थक तथा मिष्ट वचन बोलना वचनगुप्ति है। २ **मनोगुप्ति**—सवर प्रवृत्त अपनी मन की प्रवृत्ति को विषय और कषायो से हटाकर पदार्थो के चिन्तवन मे लगाना और ससार रूप प्रवृत्तियो का स्वरूप सम-

झकर मन को उनसे हटा लेना मनोगुप्ति है। ३ **ईर्या-समिति**—गृहस्थावस्था मे रहते हुए भी सावधानी से रहना चाहिये। चार हाथ जमीन आगे देखकर चलना चाहिये। जिससे त्रस और स्थावर जीवो को किसी प्रकार बाधा न पहुचे। ४ **आदान-निक्षेपण-समिति** जो वस्तु लेनी या देनी हो उसे देख भाल कर उठाना तथा रखना आदान निक्षेपण समिति है। ५ **आलोकितपानभोजन**-प्रकाश मे दिन मे अच्छी तरह से देखकर एवं शोध कर जो आहार करना एव जलादि का पीना है, उसका नाम आलोकितपानभोजन समिति है।

सत्याणुव्रत का स्वरूप— **"स्थूलमलीक न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।**
यद् तद् वदन्ति सन्त , स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥

अर्थ—जो पुरुष स्थूल झूठ न तो आप बोले और न दूसरो से बुलवावे और जिस वचन से किसी पर आपत्ति आजावे ऐसे वचन को भी न बोले अर्थात् आपत्ति कारक सत्य वचन भी न बोले; ऐसे समय पर मौन ग्रहण कर लेना अच्छा है जिससे आपत्ति भी न आवे और 'वचन की प्रमाणता से पुरुष की प्रमाणता निर्भर है, वह भी बनी रहे। इसको गणधर देवो ने सत्याणुव्रत कहा है। हिन्दी कवि ने भी लिखा है —

"बोली बोल अमोल है बोल सके तो बोल। हिये तराजू तोल कर पीछे बाहिर खोल।१।
जीभ बिचारी कह गई छिन मे स्वर्ग पताल। आपतो कह भीतर गई डडा खाय कपाल।२।
शब्द सवारे बोलिये शब्द के हाथ न पांव। एक शब्द करे ओषधि इक शब्द करे घाव।३।

तात्पर्य—आपत्ति कारक सत्य वचन मे मौन धारण करना श्रेष्ठ है और अन्य समय सत्य हित मित और मिष्ट वचन बोलना चाहिये। ससार मे शब्दो से ही परीक्षा होती है। अत सत्याणुव्रत धारियो को शब्द बोलने मे विशेष ध्यान रखना चाहिये। यदि बोली बोलना आवे तो बोलना चाहिये अन्यथा मौन रखना चाहिये। समन्तभद्र स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी के वचनो से ही परीक्षा करके उन्हे आप्त सिद्ध किया है। संसार मे वचन प्रमाण से ही पुरुष प्रमाणित होता है। जिसने अपने वचन एव शब्दो पर ध्यान नही दिया वह पुरुष न तो प्रामाणिक होता है और न सत्कार ही प्राप्त कर सकता है। शब्द भी चिन्तामणि रत्न के समान है। हित, मित और मिष्ट शब्द बोलने से शत्रु भी द्वेष छोडकर मित्र हो जाता है। कठोर शब्द मत बोलिए। मिष्ट शब्द से कठोर पुरुष भी अपने अनुकूल हो जाता है। अत. प्रत्येक मनुष्य को सत्य और मर्यादित शब्द बोलकर आत्मकल्याण तथा पर कल्याण करना चाहिये। **सत्याणुव्रत के पांच अतिचार और उनका स्वरूप** —

"मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदा" (तत्वार्थसूत्र-उमा०)

अर्थ—मिथ्योपदेश १ रहोभ्याख्यान २ कूटलेखक्रिया ३ न्यासापहार ४ और साकार-मन्त्रभेद ये पांच अतिचार सत्याणुव्रत के है। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है.—

१ **मिथ्योपदेश**—परमागम से विपरीत, जिससे जीवों को हिंसा रूप प्रवृत्ति हो और मिथ्यात्व की वृद्धि हो ऐसा आगम विरुद्ध उपदेश नही करना चाहिये, अन्यथा सत्याणुव्रत मे मिथ्योपदेश नाम का अतिचार आ जाता है। २ **रहोभ्याख्यान**—किसी स्त्री या पुरुष की गुप्त छिपी बात प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। अत. किसी की गुप्त बात को सत्याणुव्रती को प्रकट नही करना चाहिये, अन्यथा अतिचार आवेगा। ३ **कूटलेखक्रिया**—झूठे खत लिखवाना, झूठे स्टाम्प लिखना, झूठी नालिस करना, झूठी गवाही देना आदि कूटलेखक्रिया है। यह इस भव मे निन्दनीय है तथा पर भव मे भी दुर्गति का कारण है। सत्याणव्रती को यह कभी नही करना चाहिये। ऐसा करने से सत्याणव्रत मे अतिचार आता है, तथा ससार मे वह पुरुष अविश्वसनीय हो जाता है। ४. **न्यासापहार**— कोई पुरुष रुपया गहना या अन्य कोई वस्तु अपने पास धरोहर या किसी प्रकार से रख जावे उसको जैसी की तैसी पूर्ण रूप से नही देना अर्थात् रखने वाला किसी प्रकार से भूल जावे और थोडी वस्तु मागे तो उतनी ही दे देना, बाकी वस्तु अपने पास रख लेना न्यासापहार नाम का सत्याणव्रत का अतिचार है। ५. **साकारमन्त्रभेद**— किसी पुरुष के शरीर या मुख की आकृति देखकर उसके गुप्त अभिप्राय को जान कर प्रकट कर देना साकार मत्र भेद है। यह सत्याणव्रती को कदापि नही करना चाहिये क्योकि ऐसा करने से जिस का भेद प्रकट किया जाता है उसको अत्यन्त दुःख पहुचता है और उसको दु ख होने से अहिंसाणव्रत मे भी अतिचार लगता है। मुख्य अहिसाव्रत है शेष व्रत उसकी बाड़ अर्थात् रक्षक रूप है अत साकार मन्त्र भेद सत्याणव्रती को नही करना चाहिये। उल्लिखित सत्याणव्रत के अतिचारो को जान कर सावधानी से सत्याणव्रती को बचना चाहिये।

— सत्याणव्रत की पाच भावनाएँ और उनका स्वरूप :—

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषण च पच।" (तत्वार्थसूत्र-उमास्वामी)

अर्थ—क्रोध १ लोभ २ भय ३ हास्य ४ और सूत्र विरुद्ध बोलने का त्याग करना ५ सत्याणव्रत की पाँच भावनाएँ है। विशेष इस प्रकार जाननी चाहिए :—

१ **क्रोध-त्याग**—किसी समय बाह्य निमित्त मिलने पर भी क्रोध उत्पन्न हो जावे तो अपने विचारो से उसे शान्त कर लेना क्रोध-त्याग नाम की सत्याणव्रत की प्रथम भावना है। २ **लोभ त्याग**—असत्य के कारण लोभ की प्रवृत्ति नही करनी चाहिये, अर्थात् सत्य के परित्याग से यदि द्रव्य की प्राप्ति भी हो तो भी सत्य ही बोलना, लोभ वश असत्य नही बोलना चाहिये। ३ **भय त्याग**—धर्म विरोध के भय से, लोक विरोध के भय से राज विरोध के भय से, समाज विरोध के भय से, जाति विरोध के भय से, देश एव ग्राम विरोध के भय से भी असत्य भाषण न करना, भय परित्याग नाम की सत्याणव्रत की तीसरी

भावना है। ४ **हास्य त्याग**–जिस हास्य से किसी जीव को प्राण पीडा हो जावे ऐसा हास्य भूलकर भी न करना, सत्याणुव्रत की हास्य त्याग नाम की चतुर्थ भावना है। ५ **सूत्रविरुद्ध वचनत्याग**—जिस किसी विषय की जानकारी न हो उस को स्पष्ट कह देना चाहिये कि यह हमको मालूम नही है। अपने को मालूम न होते हुए भी स्वय अपनी तरफ से ऐसा वाक्य नही बोलना चाहिये जिससे आगम विरुद्ध वचन निकल जावे। न मालूम होने पर स्पष्ट कह देना, बिना जाने अपनी तरफ से स्वय बोलने की अपेक्षा बहुत अच्छा है। झूठ बोलना ठीक नही है। न जानते हुए हम नही जानते ऐसा कहने से पद नही बिगडता है। उल्लिखित पाचो भावनाओ को ध्यान मे रखकर सत्याणुव्रत पालन करना चाहिये। जिससे महाव्रत धारण की योग्यता मे सहायता मिले।

—अचौर्याणुव्रत का स्वरूप—

"निहित वा पतित वा सुविस्मृत वा परस्वमविसृष्टं।
न हरति यन्नच दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम्॥ ५७॥ (रत्नकरण्ड श्रावका)

भावार्थ—जो दूसरे के रखे हुए, गिरे हुए, भूले हुए और धरोहर रक्खे हुए द्रव्य को न तो हरे और न दूसरो को देवे वह स्थूल चोरी से विरक्त होना अचौर्य अणुव्रत है। कहा भी है — **"मालिक की आज्ञा बिन कोई, चीज गहे सो चोरी होई"**

ससार मे धन भी पुरुषो का ग्यारहवाँ प्राण है अर्थात् जिस प्रकार पुरुष को प्राण प्यारे होते है उसी प्रकार धन भी प्रिय होता है। धन का नाश जीवन नाश सा माना जाता है। इसलिये चोरी कभी नही करनी चाहिये।

चोरी का वर्णन इसी ग्रंथ मे हम पहले बहुत कुछ कर चुके है। चोर के साथ राजा तथा प्रजा का कैसा व्यवहार है इस को भी हम पूर्व दिखा चुके है।

अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार और उनका स्वरूप

"स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारा" (त०उ०)

अर्थ—स्तेनप्रयोग १ तदाहृतादान २ विरुद्धराज्यातिक्रम ३ हीनाधिकमानोन्मान ४ और प्रतिरूपक व्यवहार ५ ये पाच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है —**स्तेनप्रयोग**–चोरी का प्रयोग करना या अन्य को चोरी का प्रयोग बताना स्तेन प्रयोग है। जैसे -आज वह पुरुष यहा नही है. तुम जाकर उस स्थान से उस मकान मे प्रवेश कर अमुक स्थान पर उसकी बहुमूल्य वस्तु पडी हुई है उसको ले आना, हम दोनो बांट लेवेंगे आदि इसका नाम स्तेनप्रयोग है। २ **तदाहृतादान**— चोर से लाये हुए धन को कम मूल्य मे स्वयं लेना अथवा अन्यो को दिलवाना, तदाहृतादान नाम का अचौर्याणुव्रत का अतिचार है। ३ **विरुद्धराज्यातिक्रम**—राजा की आज्ञा के विरुद्ध व्यवहार करना, या राज्य के नियमो का उल्लघन करना एव राज नियम के उल्लघन करने

वालो को सहायता देना और सहायता देकर प्रसन्न होना विरुद्ध राज्यातिक्रम नामका अतिचार है। **हीनाधिकमानोन्मान**–तोलने के बाट आदिक, नापने के गज आहे हाथ इत्यादि, मापने के पावली पाई इत्यादि चीजो को पदार्थ लेते समय के लिए अधिक रख लेना और देने वालों के लिए कमती रखना, हीनाधिकमानोन्मान नाम का अचौर्याणुव्रत का अतिचार है। इससे राज दण्ड भी मिलता है। ५ **प्रतिरूपक व्यवहार**– अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना या ऐसी बाते अन्य को सिखा देना या अन्य से करा देना प्रतिरूपक व्यवहार नाम का अतिचार है। ऐसा कार्य करने से राज दण्ड भी मिलता है, वह लोक मे निन्द्य तथा अविश्वसनीय हो जाता है।

— अचौर्याणुव्रत की पांच भावनाएँ और उनका स्वरूप —

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादा पच ६-७

अर्थ—१. शून्यागार २ विमोचितावास ३ परोपरोधाकरण ४ भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसवाद ५ ये अचौर्याणुव्रत की पाच भावनाये है। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है– १. शून्यागार—शून्य गृह, श्मसान गिरि की गुहा नदीतट या वृक्षो के कोटरो मे रहने की भावना करना है। २ विमोचितावास—गृहस्थ जिस स्थान को रहने से छोड गये हो, जिसमे दूसरो का झगडा नही हो. उसमे रहना विमोचितावास है। ३. परोपरोधाकरण —अन्य के स्थान मे बलपूर्वक नही ठहरना और ठहरे हुए को बलपूर्वक हटाने का प्रयोग नही करना, परोपरोधाकरण नाम की भावना है। ४. भैक्ष्यशुद्धि– कर्म के क्षयोपशम के अनुसार प्राप्त हुए भोजन को शाति के साथ ग्रहण करना, उसमे हर्ष विषाद नही करना और न उसमे आर्त्त रौद्र परिणाम करना भैक्ष्य शुद्धि नाम की भावना है। ५ सधर्माविसवाद—सहधर्मी पुरुषो से किसी कार्यवश खोटे कारण मिल जावे तो भी शांत परिणाम रखना सधर्माविसवाद भावना है। इस प्रकार अचौर्याणुव्रत की पाच भावनाओ को याद रखना चाहिये, जिससे यह व्रत प्रौढ बन जावे। इनका सदा अभ्यास करते रहना चाहिये।

❀ ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरुप ❀

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पाप भीतेर्यत्।
सा परदारनिर्वृत्ति, स्वदारसतोषनामापि ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो पाप के भय से न तो पर स्त्री के प्रति स्वय गमन करे और न अन्य को गमन करावे और अपनी स्त्री मे सन्तोष रखे उसको परदारनिवृत्ति अथवा स्वदारसन्तोष अर्थात् ब्रह्मचर्याणुव्रत कहते है। परदारा गृहीत हो या अगृहीत अथवा गृहीतागृहीत अर्थात् वेश्या हो, उनके सेवन का त्याग और जिसके साथ धर्मानुकूल देव शास्त्र की

साक्षी से पाणिग्रहण हुआ हो उसके अतिरिक्त स्त्री मात्र का त्याग करना चाहिए। एक ही विवाह करने की यदि प्रतिज्ञा नही है तो अन्य विवाह करके उससे भी भोग कर सकता है। पर्व के दिनो मे अपनी स्त्री से भी विषय सेवन नही करना चाहिये। इस व्रत को स्वदार संतोष व्रत कहते है। कवि ने कहा भी है।

"व्याही वनिता होय जो या में कर सन्तोष।
त्याग करो पर कामिनी या सम और न दोष॥ ४॥

"स्वनार्यामपि निर्विण्ण सन्तते कुरुते रतिम्।
शीतं नुनुत्सुर्वा वह्नौब्रह्मचारी न पर्वणि॥६५॥ (धर्म स० श्रावकाचार)

अर्थ—स्वदार संतोष व्रत पालने वाले ब्रह्मचारी पुरुषो को अपनी स्त्री मे विरक्त रहना चाहिये और अष्टमी तथा चतुर्दशी आदि पर्व के दिनो मे भी विषयो का सर्वथा परित्याग करना चाहिये। **भावार्थ**—जिस प्रकार शीत की बाधा दूर करने के लिये पुरुष अग्नि को सेवन करता है न कि हाथ जलाने के लिये, उसी प्रकार स्त्री का सेवन इसलिये किया जाता है कि यदि हमारे संतान हो जावे तो हम गृहस्थ का भार उस पर रखकर निवृत्ति मार्ग मे चले जावे न कि कर्म बंधन के लिये विषय सेवन किया जाता है, जिससे आत्म कल्याण न करके संसार मे भ्रमण करता रहे। कहा भी है—

जो परनारी निहार निलज्ज हंसै विगसै बुधि हीन बड़ेरे।
झूंठन की जिमि पातर देखि खुशी उर कुकुर होत घनेरे॥
है जिनकी यह टेव वहै तिनको इस भौ अपकीरत है रे।
ह्वै परलोक विषैदृढदण्ड करै शत खण्ड सुखाचल कै रे।

तात्पर्य—जो पुरुष कौवे और कुत्ते के समान अर्थात् जिस प्रकार झूठी पातल को देखकर कौवा और कुत्ता प्रसन्न होता है उस प्रकार दूसरे से भोगी हुई स्त्री को देखकर प्रसन्न होते है एव अपने परिणामो को दूषित करते हैं वे पुरुष परलोक में घोर दुःखो को भोगते है। **ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार और उनका स्वरूप**—

"परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानगक्रीड़ा कामतीव्राभिनिवेशा ।७।२८।

अर्थ—परविवाहकरण १ परिगृहीतेत्वरिकागमन २ अपरिगृहीतेत्वरिकागमन ३ अनगक्रीड़ा ४ और कामतीव्राभिनिवेश ५ ये पाच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है। विशेष इस प्रकार जानना चाहिए :— १ परविवाहकरण—अपने पुत्र और पुत्रियो के अतिरिक्त अन्य पुरुषो के लड़के और लड़कियो का विवाह करा देना या मेल बिठा देना अथवा अन्यो के द्वारा करा देना परविवाहकरण नाम का ब्रह्मचर्याणुव्रत का प्रथम अतिचार है।

२ परगृहीतेत्वरिकागमन—दूसरे से विवाहित व्यभिचारिणी स्त्री के यहा आना-

जाना तथा उसके साथ कुशील सेवन करने की खोठी चेष्टा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत का द्वितीय अतिचार है । ३ अपरिगृहीतेत्वरिकागमन—अर्थात् जिनका कोई स्वामी नही है ऐसी वेश्या आदि तथा बालिकादिक या और भी व्यभिचारिणी स्त्री उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना उनसे काम सेवन की चेष्टा करना ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार है । ४ अनग क्रीडा-काम सेवन के अगो को छोडकर अन्य अगो से कम सेवन को क्रीडा करना, विशेष मैथुन की इच्छा रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत का अनंग क्रीडा नामका चतुर्थ अतिचार है । ५ कामतीव्रा-भिनिवेश—द्रव्य क्षेत्र काल और भाव का विचार न रखकर स्वस्त्री से भी काम सेवन की अत्यन्त लालसा रखना कामतीव्राभिनिवेश नाम का ब्रह्मचर्याणव्रत का पाचवा अतिचार है।

गृहस्थ को चाहिये कि ब्रह्मचर्याणव्रत का, पाचो अतिचारो को टालकर पाचो भावना का अभ्यास करता हुआ, पालन करे और ब्रह्मचर्यव्रत मे दृढ बना रहे ।

ब्रह्मचर्याणुव्रत की पाच भावनाये और उनका स्वरूप —

'स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसस्कारत्यागा पंच ।

अर्थ—स्त्री राग कथा श्रवण त्याग १ स्त्री अनोहरागनिरीक्षण त्याग २ पूवरतानु-स्मरण त्याग ३ कामोद्दीपनरस का त्याग २ और स्वशरीर सस्कार त्याग ५ ये पाच ब्रह्म-चर्याणव्रत की भावनाये है । १ स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग—स्त्री के रागवर्धक आख्यानो को कहने एव सुनने, रसीले गीत आदि का सुनने एव चित्त रञ्जन के उनके गीत आदि पढने का त्याग करना स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग नाम की ब्रह्मचर्याणव्रत की प्रथम भावना है। २ स्त्री-मनोहरागनिरीक्षणत्याग—स्त्रियो के मनोहर अगो को राग सहित देखने का त्याग करना स्त्रीमनोहरागनिरीक्षण त्याग नामक ब्रह्मचर्याणव्रत की दूसरी भावना है । ३ पूर्वरतानुस्म-रणत्याग—प्रथम भुक्त भोगो को याद करने का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत की तीसरी भावना है । ४ कामोद्दीपनरसत्याग काम को उत्तेजित करने वाले पौष्टिक पदार्थो का त्याग करना कामोद्दीपनरसत्याग नाम की ब्रह्मचर्याणव्रत की चतुर्थ भावना है । ५ स्वशरीरसस्कार-त्याग—कामी जनो के सदृश अपने शरीर के सस्कारो का त्याग करना अर्थात् शृंगार आदि नही करना, सदैव साधारण वस्त्र आभरण पहरना, जिससे अन्य के अथवा अपने मन मे विकार पैदा न हो, उसको स्वसस्कार त्याग नाम की ब्रह्मचर्याणव्रत की पांचवी भावना कहा है । इस प्रकार की भावनाओ से ब्रह्मचर्याणुव्रत मे पुष्टि आती है ।

— परिग्रहपरिमाणाणवृत का स्वरूप —

"धन्यधान्यादिग्रन्थं, परिमाय ततोऽधिकेषु नि. स्पृहता ।
परिमितपरिग्रह' स्या,दिच्छा परिमाणनामाऽपि ॥६१॥ (र०श्रा०)

अर्थ—धन धान्यादि दश प्रकार के चेतन और अचेतन रूप परिग्रह मे ममत्वरूप

परिणामो को रोक कर के परिमाण करना अर्थात् सीमा निश्चित कर लेना परिग्रह परि-माणाणुव्रत है। जैसे बाह्य मे स्त्री पुत्र दासीदास परिवार गाय भैस हाथी घोडा धन धान्य सुवर्णरूपा माणिक मोती शय्या आसन गृह आभरण वस्त्रादिको का परिमाण करके उससे अधिक की इच्छा का परित्याग करना एव आभ्यन्तर मे क्रोध लोभादि रूप रागादि भाव परिणामों मे उत्कृष्टता का एव उत्कटता का अभाव रूप करना एव परिग्रह की मर्यादा करना। परिग्रह की परिगणना एव मर्यादा करने से पुरुष की लालसा कम हो जाती है और लालसा से निवृत्ति प्राप्त करना ही निवृत्ति मार्ग का अवलम्बन करना एवं मोक्षमार्ग पर आरूढ होने के लिए प्रस्तुत होना है। बिना मर्यादा के यह लालसा गृहस्थो को व्याधि रूप होकर बहुत सताती है। यह लालसा ही जीवको नरक और निगोद पर्याय तक पहुचा देती है। अत· इस लालसा पिशाचिनी का परित्याग कल्याण मार्ग है। कहा है .—

"धनकन कांचन आदिदे परिग्रह संख्याठान। तृसना नागिन बस करो यह ब्रत मंत्र महान्॥"

"ससारद्रुमभूलेन किमनेन ममेतिय। नि·शेष त्यजति ग्रन्थ निर्ग्रन्थं त बिदुर्जिना॥ (सु र स)

भावार्थ—यह परिग्रह ससार रूपी वृक्ष का मूल कारण एव बीज भूत है, इससे मेरा क्या प्रयोजन है, ऐसा समझ कर जो समस्त परिग्रह का त्याग कर देते है वे महा मुनि होते है और सर्वपरिग्रह को सर्वथा त्यागने मे असमर्थ शीतोष्णता के निवारणार्थ आवश्य-कतानुसार जो २ परिग्रह चाहिये, उन्हे ही रखते हैं वे परिग्रहत्यागाणुव्रती एव परिग्रह-परिभाणवृतधारी श्रावक होते हैं। परिग्रह परिमाणव्रत के धारण करने से प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक बन जाता है। यह परिग्रह व्याघ्र के तुल्य है, आत्मा रूपी पशु उसका शिकार है। इस परिग्रह के लवलेश से ही कषाय चतुष्टय का उपशम करने पर भी एका-दशगुणस्थान मे मुनि आकर गिर जाते हैं और फिर अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक उनको संसार से जन्म और मरण रूप दु ख उठाने पड़ते हैं। भगवान उमास्वामि तत्वार्थसूत्र मे इस परिग्रह के वास्ते कहते है .— **बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष.॥१५॥**

अर्थ—बहुत आरभ करना और बहुत परिग्रह रखना नरक आयु के आश्रव का कारण माना है। **परिग्रहपरिमाणाणव्रत के अतिचार और उनका स्वरूप।**

'क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा।२७।७। (तत्वार्थसूत्र-उमास्वा)

अर्थ—क्षेत्रवास्तु १. हिरण्य सुवर्ण २ धनधान्य ३ दासीदास ४ और कुप्य ५ इन पाच वस्तुओ के प्रमाण एव परिमाणो का अतिक्रमण करने से ही परिग्रहपरिमाणाणव्रत के पांच अतिचार वन जाते हैं। १ क्षेत्रवास्तुपरिमाणातिक्रम—धान्यादिक उत्पन्न होने के स्थान का नाम क्षेत्र है। रहने के गृह मकान आदि को वास्तु कहते हैं। इनका परिमाण करके अतिक्रमण करना क्षेत्र-वास्तु—परिमाणातिक्रम नामका परिग्रह परिमाण व्रत का

अतिचार है। २ हिरण्यसुवर्णपरिमाणातिक्रम–रुपये तथा चादी के भूषणो को हिरण्य कहते है। सोने तथा उसके भूषणो को सुवर्ण कहते है। उनके परिमाण का अतिक्रमण करना हिरण्य-सुवर्ण-परिमाणातिक्रम नामका परिमाण व्रत का दूसरा अतिचार है। ३—धनधान्यपरिमाणातिक्रम-गौ, बैल, भैस, हाथी, घोडा आदि को धन कहते है। गेहू, ज्वार, मूंग उडद, मक्की, जव आदि को धान्य कहते है। उसके परिमाणका अतिक्रमण करना धन-धान्य परिमाणातिक्रम नाम का अतिचार है। ४ दासीदास—परिमाणातिक्रम—शरीर व अपने टहल चाकरी के लिये रखे गये नौकर तथा मुनीम आदि दासी एव दास है उनका परिमाणातिक्रम नाम का अतिचार है। ५ कुप्यपरिमाणातिक्रम—कुप्य मे वस्त्र थाली आदि सब आ जाते है। सुवर्ण और चादी को छोडकर शेष सब धन कुप्य शब्द से कहा गया है। उन सब वस्तुओ मे परिमाण करना कुप्यपरिमाणातिक्रम नाम का परिग्रह परिमाण व्रत का पाचवा अतिचार है।

अतिचार का लक्षण तथा परिग्रहप्रमाणाणुव्रत के अन्य अतिचार

"अतिवाहनातिसग्रह, विस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपा पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ ६२ ॥ (रत्नकरड श्रा०)

भावार्थ—नियम करके उससे अधिक वस्तु पर ममता करना व्रतो का अतिचार कहा है। स्वामी समन्तभद्राचार्य के अनुसार परिग्रह परिमाण व्रत के पाच अतिचार इस प्रकार है :—१ अतिवाहन–लोभ के वशीभूत होकर एव अच्छी देखकर मर्यादा से अधिक सवारी आदि का सग्रह करना अति वाहन नामका अतिचार है। २ अतिसंग्रह—लोभ के वशीभूत होकर प्रयोजन से अधिक एव मर्यादा से बाहर अधिक सग्रह करना अतिसंग्रह नाम का अतिचार है। ३ विस्मय–कषाय के वश होकर दूसरो का वैभव देखकर मन की ईर्षा व द्वेष करना विस्मय नाम का अतिचार है। ४ लोभ–सर्व प्रकार के परिग्रह मे लालसा रखना लोभ की मात्रा को अन्तरङ्ग मे रखना लोभ नाम का अतिचार है। ५ अति भारवाहन—गाडियो मे पशुओ पर मर्यादा से अधिक भार लादना, अति भारवाहन नाम का अतिचार है। इस प्रकार के अतिचारो को दूर करके व्रत पालने चाहिये।

— परिग्रहपरिमाणाणुव्रत की पांच भावनायें और उनका स्वरूप :—

"मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पच" ।८।। ७।। (तत्वार्थसूत्र–उमास्वामी)

अर्थ—मनोज्ञ एव अमनोज्ञ पाचो इन्द्रियो के विषय मे राग द्वेष का परित्याग करना परिगह परिमाण व्रत की पाच भावनाये है। पाचो इन्द्रियो के मनोज्ञ विषयो मे राग और अमनोज्ञ विषयो मे द्वेष नही करना परिगह परिमाण व्रत की भावनाये है। परिग्रहपरिमाण व्रत की भावनाओ से मोह घटता है, एव आत्म-कल्याण होता है। अत. व्रतो के

अतिचारों को वर्जित करके तथा भावनाओं को भाकर व्रतो की पूर्ण दृढता करनी चाहिये

अतिचार अनाचार में भेद :-'अतिक्रमोमानसशुद्धिहानि. व्यतिक्रमो यो विषयाभिलाष ।

तथातिचारं करुणालसत्वं भगोह्यनाचारमिह व्रतानि"

अर्थ—मन की शुद्धि में हानि का नाम अतिक्रम है । विषयो की अभिलाषा करने का नाम व्यतिक्रम है । तथा व्रतो के आचरण में प्रमाद एव आलस्य तथा शिथिलता करने का नाम अतिचार है । और व्रतो के भंग का नाम अनाचार है । इसी की पुष्टि मे दूसरा प्रमाण यह है—

क्षति मन शुद्धिविधे रतिक्रम, व्यतिक्रम शीलव्रतेर्विलघनम् ।।

प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तन । वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ।। (अमितगति आचार्य)

अर्थ—मन की शुद्धि मे क्षति होना अतिक्रम है । शीलव्रत का लघन करना व्यतिक्रम है । विषयो मे प्रवृत्ति करना अतिचार है और विषयो मे अत्यासक्ति का नाम अनाचार है इस प्रकार व्रतो के स्वरूप, अतिचार तथा भावनाओ का वर्णन किया है ये पॉचो व्रत निरतिचार रूप से पहली व्रत प्रतिमा मे पलते है । जैन वाड्मय मे पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत वतलाये है क्योकि गुणव्रत अणुव्रतो को महाव्रत रूप बनाने का गुण रखते हैं अत उनको गुणव्रत कहते हैं । तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भी अणुव्रतो को महाव्रत रूप होने की शिक्षा देते हैं । अत उनको आचार्यो ने शिक्षा व्रत कहा है तथा क्रमवर्ती रक्खा है । तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ही मिल कर सात शीलव्रत कहलाते है । जब प्रतिमा पालन करते समय प्रथम व्रत प्रतिमा ग्रहण की जाती है तो निरतिचार पाच अणुव्रत लिये जाते है उसके वाद द्वितीय प्रतिमा मे सातिचार शील सप्तक ग्रहण करते है । जैसे २ ऊपर की प्रतिमा ग्रहण की जाती है उसी २ प्रकार उसको अतिचार दूर करने पडते हैं ।

— रात्रिभोजनत्याग व्रत :—

आचार्यो ने रात्रि भोजन का त्याग भी छठाव्रत माना है । उसका उल्लेख मूलाचार, चारित्रसार, सागारधर्मामृत तथा अनेक श्रावकाचारो मे मिलता है । उसका सक्षिप्त वर्णन यहा करते है । **"वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनम् ।**

पञ्चधाऽणुव्रतं रात्र्यभुक्ति षष्ठमणुव्रतम् ।।१ ।। (चारित्र सार मूल ७)

अर्थ—हिंसा-असत्य-चोरी-मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होने से अणुव्रत पाच प्रकार का अर्थात् अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत (स्वदार संतोप) और परिग्रह, परिमाण ये पाच अणुव्रत हैं । रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत है ।

'रात्रावन्नापानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यं सत्वानुकम्पयाविरमण षष्ठमणुव्रतम्' (चरित्र०चामु०)

अर्थ—रात्रि मे अन्न-पान खाद्य और लेह्य चारो प्रकार के भोजनो से, प्राणियो

पर अनुकम्पा की दृष्टि से, जो रात्रि मे विरत होना है अर्थात् रात्रि भोजन का त्याग करना है वह रात्रि भोजन विरमण नाम का छठा अणुव्रत है। रात्रि मे दृष्टिगत न होने के कारण अनेक त्रस जीवो की हिसा होती है अत: उनके ऊपर दया भाव रखते हुए रात्रि भोजन का त्याग छठा अणुव्रत श्रावक अवश्य पालन करे। और भी कहा है।

अहिंसाव्रतरक्षार्थ मूलव्रतविशुद्धये। नक्त मुक्ति चतुर्धापि सदाधीरस्त्रिधा त्यजेत् ।। २४ ।।

अर्थ—अहिसा व्रत की रक्षा के लिये तथा मूल व्रत की रक्षा के लिये तथा मूल व्रत की शुद्धि के निमित्त श्रावक को चाहिये कि मन वचन और कार्य से अन्न, रोटी, दाल, भात आदि; पान, दुग्ध, शर्बत, पानी, अर्क आदि, खाद्य पेड़े, बरफी, कलाकद, लड्डू आदि और लेह्य चाटने योग्य पदार्थ तथा चव्य जैसे–पान, सुपारी, इलायची आदि भी जीव रक्षा निमित्त रात्रि मे न ग्रहण करे। आगे अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थ सिद्धच्युपाय से भी इसकी पुष्टि करते है।

"रात्रौ भुजानानां, तस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरत्यै सस्मात्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ।। १२९ ।।

अर्थ—हिसा से बचने वाले प्राणियो को सदा रात्रि भोजन से बचते रहना चाहिये क्योकि रात्रि भोजन करने वाला प्राणी हिसा के पाप से नही बच सकता। रात्रि को नियम से त्रस जीव मरते है और उसका पाप रात्रि भोजन करने वाले को ही लगता है। इस कारण हिंसा से दूर होने के लिए रात्रि भोजन श्रावक को अवश्य त्याग देना चाहिये एव श्रावक हिसा के पाप से भयभीत होकर रात्रि भोजन अवश्य त्याग देते है। रात्रि भोजन त्याग का महत्व मानकर आचार्य उसे छठा अणुव्रत कहते है।

—* रात्रि भोजन त्याग व्रत के अतिचार *—

रात्रिमांहि बना कर खाना, दिन में जो भोजन पकवान।
दिनका बना रात्रि में खाना, दोनों भोजन एक समान ।।
जिस थानक पर भोजन बनता, चंदवा जो नहीं वहां रहान।
चदवा बिन भोजन नहीं रखना, प्राणी हिंसा होय निदान।
जिस वस्तु से घिन आ जावे उसका तुरत ही त्याग करान।
अतीचार रात्रि भोजन के, जो पाले नर चतुर सुजान ।।

अर्थ—रात्रि को बनाकर दिन मे खाना या दिन मे बनाकर रात्रि मे खाना या भोजन के लिये और भी ऐसे आरभ करना जिससे हिंसा हो सके, दिवस मे भी ऐसे स्थान पर भोजन करना जहा पर अधकार हो एव विना देखे शोधे भोजन करना रात्रि भोजन त्याग का अतिचार है। जिस स्थान पर भोजन वनाया जावे वह स्थान अत्यन्त प्रकाश मय

एवं चंदोवा सहित होना चाहिये और जहा भोजन रखा जावे एव भोजन खाया जावे वहा पर भी चदोवा अवश्य होना चाहिये। जिस पदार्थ को देखकर घिन आवे उस पदार्थ को नही भक्षण करना चाहिये। स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से भी रात्रि भोजन का त्याग और भोजनालय की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। रात्रि भोजन के त्याग से पाचोव्रतो मे निर्मलता आ जाती है मुख्य अहिसा व्रत का पालन हो जाता है अत जैनी मात्र को रात्रि भोजन का अवश्य त्याग करना चाहिये। **व्रत प्रतिमा का स्वरूप—** मध्यम नैष्ठिक श्रावक का लक्षण जिसे दूसरी प्रतिमा कहते है। **"निर्दोषमणुव्रतं शीलसप्तकंश्च सहातिचारं।**

यः नि शल्य सव्रती, द्वितीयपदे मध्यनैष्ठिको भवति ।। २ ।।"

अर्थ—पहिले जो दर्शन प्रतिमा धारी श्रावक का लक्षण कहा है, उस स्थान पर जो पचाणुव्रत पाले जाते है, वे सातिचार पलते है, परन्तु इस प्रतिमा मे वे निरतिचार पाले जाते हैं, तथा इनके साथ सप्त शील और करने होते है, इसीको व्रत प्रतिमा या मध्यम नैष्ठिक श्रावक कहते है, इसी प्रतिमा मे तीन गुण व्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील सातिचार पलते हैं। यह प्रतिमा संयमासयम का मध्य भेद है—क्योकि पाच इन्द्रिय तथा छठे मन के तथा षट् कार्य के जीवो मे से त्रस कार्य की तो यह सर्वथा रक्षा करता है, और स्थावरों की रक्षा का प्रयत्न करता है इसलिये, सयमासयम यहां से चालू होता है, नीचे की प्रतिमा वाले को सयमी उपचार से कहा है क्योकि ऐसा कहने से उनके भावो मे उत्कृष्टता बनी रहती है। **दूसरी प्रतिमा मे धारण करने योग्य व्रत—**

पंचाणुव्रतरक्षार्थं, पाल्यते शीलसप्तकम्, शालवत्क्षेत्रवृद्धह्यर्थ क्रियते महती वृति ।।१-७।।

अर्थ—अहिसा आदि पाच अणुव्रतो की ठीक २ रक्षा के लिये तीन गुणवृत और चार शिक्षावृत, ऐसे सात शील पालन किये जाते है। जैसे—धान्य युक्त खेत को रक्षा और वृद्धि के लिये उसके चारो तरफ काटो की बाड लगाई जाती है, वैसे ही इन सातशीलो से अहिसादि पचाणुवृतों की रक्षा का प्रयोजन है। **—शीलवृत के भेद—**

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणा-
तिथिसंविभागवृतसपन्नश्च ।। ७-२१ ।। (त० उ०)

अर्थ—१ दिग्विरति २ देशविरति ३ अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणवृत कहलाते है १ सामायिक २ प्रोपधोपवास ३ उपभोग परिभोग परिमाण ४ अतिथि सविभाग ये चार शिक्षावृत हैं। ये सात शीलवृत तथा पूर्वोक्त पचाणुवृत इस प्रकार बारह वृत का धारी, वृतप्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। कई आचार्य तो देशवृत को गुणवृतो मे कहते हैं तथा कई आचार्य इसको शिक्षाव्रतो मे ग्रहण करते है, सो यह शैली (विवक्षा) मात्र का भेद है, तत्त्व में भेद नही है। **दिग्वृत का स्वरूप—दशदिक्ष्वपि संख्यान कृत्वा यास्यामि नो बहि**

तिष्ठेदित्यामृतेयत्र तत्स्याद्दिग्विरतिव्रतम् ।।५३-७।। (धर्मसग्रह श्रावकाचार)

अर्थ—दशो दिशा का परिमाण करके, जन्म पर्यंत इससे बाहिर नही जाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञारूप मर्यादा के भीतर रहना, सो दिग्विरति नामा गुणव्रत है । **—दिग्व्रत के पांच अतिचार—** **सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमा ।**

अज्ञानत प्रमादाद्वा, क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मला ।। ५-५ ।। (धर्मसग्रह श्रावकाचार)

अर्थ—की हुई सीमा का अज्ञान से अथवा प्रमाद से भूल जाना १ ऊर्ध्वभाग २—अधोभाग व्यतिक्रम ३ तिर्यग्भाग व्यतिक्रम ४ और क्षेत्रवृद्धि ५ इस तरह ये दिग्विरति के पाच अतिचार है । १. सीमा की विस्मृति—मंद बुद्धि का होना अथवा कोई संदेह आदि हो जाना अज्ञान कहलाता है । अत्यन्त व्याकुल होना, अथवा चित्त की वृत्ति का दूसरी ओर लग जाना प्रमाद कहलाता है । इस प्रमाद या अज्ञान से नियमित की हुई मर्यादा को भूल जाना सो सीमा की विस्मृति है । जैसे किसी श्रावक ने पूर्व दिशा की ओर सौ योजन का परिमाण किया था, कारणवश उसे पूर्व दिशा की ओर जाने का काम पडा, तब निश्चित मर्यादा स्मरण नही रहने से "मैने सौ योजन की मर्यादा की थी अथवा पचास की" ऐसी कल्पना करता हुवा, यदि वह पचास योजन के आगे जायगा तो उसे अतिचार होगा, और यदि सौ योजन के आगे जायगा तो उससे व्रत का भग होगा । मर्यादा विस्मरण मे व्रत की अपेक्षा निरपेक्षा दोनो होने से प्रथम अतिचार होता है । २ ऊर्ध्वभाग व्यतिक्रम–पर्वतादि के ऊपर चढकर की हुई मर्यादा का उल्लघन करना ऊर्ध्वभाग व्यतिक्रम है । ३ अधोभाग व्यतिक्रम—तलघर कूप, वापिका, खान इत्यादि, नीचे उतरकर की हुई मर्यादा का उल्लघन सो अधोभाग व्यतिक्रम नामा अतिचार है । ४ तिर्यग्भाग व्यतिक्रम—पूर्व, पश्चिम, ईशान, आग्नेय आदि दिशा विदिशाओ मे नियमित मर्यादा को भूलकर अतिक्रम करना, तिर्यग्भाग व्यतिक्रम नामक अतिचार है । न २ न ३ नं ४ इन तीनो मे मर्यादा का उल्लघन यदि केवल मन से अथवा कारित, अनुमोदना से किया हो, स्वय आप बाहर नही गया हो तब अतिचार माना है । यदि स्वय मर्यादा बाहर चला गया हो तो व्रतभग का दूषण होता है । ५ क्षेत्र वृद्धि—दिग्व्रत मे नियत की हुई मर्यादा को पश्चिम आदि दिशाओ से घटाकर पूर्वादि दिशाओ की ओर बढा लेना, यह क्षेत्र वृद्धि अतिचार है । जैसे–किसी मनुष्य ने पूर्व और पश्चिम की तरफ पाच-पाच सौ योजन की मर्यादा की, कारणवश उसे पूर्व दिशा की ओर आठ सौ योजन जाने का कार्य पडा, तब लोभ वश उसने पश्चिम की ओर से योजन घटाकर पूर्व की ओर मिला लिया । इस प्रकार एक हजार योजन की दोनो तरफ की मर्यादा थी, सो तो तोडी नही, इसलिये तो व्रत का अभग, परन्तु पूर्व की तरफ की मर्यादा बढा लेना, पश्चिम की मर्यादा कम कर लेना यह व्रत भग है—क्योकि मर्यादा करते समय

पूर्व पश्चिम की मर्यादा बढाने घटाने का अभिप्राय, नही था, और अब बढा-घटा लिया। इससे यह अतिचार हो गया क्योकि मूल मे व्रत की अपेक्षा रखकर मर्यादा का हलचल कर लिया, इसलिये भगाभग रूप कतिचार हो गया। अगर असावधानी से क्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन हुवा होवे तो वहां से शीघ्र ही लौट आना चाहिये। यदि मर्यादा का ज्ञान होवे तो कदापि आगे नही जाना चाहिये, और न अन्य को भेजना चाहिये। कदाचित् आगे चला भी जावे तो जो कुछ वहां उसको प्राप्त हो उसे छोड़ देना चाहिये। ऐसा शास्त्रकारो का मतव्य है।

--देशव्रत का स्वरूप--

अद्य रात्रिर्दिवा वापि, पक्षो मासस्तथा ऋतु।

अयन वत्सर. काला,वधिमाहुस्तपोधना ।। ३५-७।। (धर्मसग्रह श्रावकाचार)

अर्थ--दिग्व्रत मे की हुई मर्यादा के भीतर भी घटाकर नियम करना सो देशव्रत है। जैसे आज, रात्रि मे तथा दिन मे, पक्ष मे महिने, दो महिने मे, छै महिने मे, वर्ष आदि के द्वारा देश व्रत की मर्यादा करनी चाहिये।

दिग्व्रतपरिमितदेशेऽवस्थाममति मितसमयम्। यत्र निराहुदेशावकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः।९२।
गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानाम् च। देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धा ।।

अर्थ--तप मे वृद्ध जो गणधरादिक है वे इस प्रकार देशव्रत की मर्यादा का वर्णन करते है-कि जो तुमने दिग्व्रत की मर्यादा की है, उसमे भी रोज का नियम करो, अपनी शक्ति माफिक गमनागमन घटाओ। जैसे-आज मैं अमुक ग्राम, अमुक मोहल्ला, अमुक घर, अमुक कटक, या अमुक योजन तक ही जाऊ गा इत्यादि। **-देशव्रत के पांच अतिचार-**

पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वांगदर्शनम्। प्रष सीमबहिर्देशे, ततश्चानयनं त्यजेत् ।।२७-५।।

अर्थ-सीमा के बाहर ढेले आदि फेकना १ शब्द सुनाना २ अपना शरीर दिखलाना ३. किसी अन्य को भेजना ४. सीमा के वाहिर से कुछ मगाना ५. इन पाच अतिचारो को त्यागना चाहिये। अब इनका पृथक् २ खुलासा करते हैं। १ पुद्गलक्षेपण-नियत की हुई सीमा के वाहर स्वय न जा सकने के कारण अपने किसी अभिप्राय से वाहर कुछ काम करने वाले लोगो को सूचना देने के लिये ढेले पत्थर आदि फेकना सो पुद्गल क्षेपण है। २ शब्द श्रावण-मर्यादा से वाहर के मनुष्यो को अपने समीप वुलाने आदि हेतु से, उनको सुनाई पडे ऐसी रीति से चुटकी वजाना ताली पीटना, खकारना आदि शब्द श्रावण अतिचार है। ३. स्वांग दर्शन-अपने समीप वुलाने आदि के हेतु से शब्द का उच्चारण नही करके, जिसको वुलाना है उसे अपना शरीर या अवयव आदि दिखाना सो स्वांग दर्शन नामा अतिचार है। इसका दूसरा नाम रूपानुपात भी है, ये तीनों ही यदि अभिप्राय पूर्वक किये जावे तो अतिचार होते है, यदि बिना अभिप्राय या कपट के सहज रीति से हो जावे तो अतिचार नही है।

४ प्रेषण—स्वय मर्यादित जगह पर ही रहकर, सीमा के बाहर के अपने कार्य के लिये किसी सेवक आदि को "तुम यह कार्य करो वहां जाओ"। इत्यादि रूप से प्रेरणा करने या भेजने को प्रेषण अतिचार कहते है। ५ आनयन—अपनी किसी इष्ट वस्तु को नियत सीमा के बाहर से, किसी भेजे हुए मनुष्य के द्वारा अथवा अन्य किसी तरह अपनी सीमा के भीतर मगा लेने को आनयन कहते है। दिग्व्रत और देशव्रत धारण करने से मनुष्य बाहरी चिन्ताओ से मुक्त होकर अपने कर्त्तव्य और धर्मानुष्ठान मे दत्तचित्त होता है।

अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप— **पीड़ापापोपदेशाद्यै, र्देहाद्यर्थाद्विनांगिनाम्।**
अनर्थदण्डस्तत्यागो,ऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ।।६–५।। (सागार धर्म०)

अर्थ—अपने अथवा अपने मनुष्यो के, शरीर, वचन और मन के प्रयोजन के बिना १. पापोपदेश २ हिसादान ३ दु श्रुति ४ अपध्यान ५. प्रमादचर्या इन पाच निरर्थक व्यापारो से त्रस तथा स्थावर जीवो को पीडा देना, अनर्थदण्ड है, और इस प्रकार नि प्रयोजन व्यापार को त्याग देना सो अनर्थ दण्ड व्रत है। **—पापोपदेश अनर्थदण्ड—**

तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारभप्रलभनादीनाम्, कथाप्रसंगप्रसव स्मर्तव्यः पाप उपदेश ।।७७।।

अर्थ—जिससे तिर्यञ्चो को क्लेश उपजे, ऐसी तथा, वाणिज्य, हिंसा, आरभ, ठगाई इत्यादि की कथाओ के प्रसग को उत्पन्न करना, सो पापोपदेश है। इसको त्याग करना चाहिये। **— हिंसादान अनर्थदण्ड :—**

परशुकृपाणखनित्र,ज्वलनायुधशृंगशृ खलादीनाम्, वधहेतूनां दानं, हिंसादान ब्रुवन्ति बुधा ।

अर्थ—फरसा, तलवार, खनित्र (फावडा, गेती सव्वल) अग्नि, बरछी, भाला, चाकू सीगी, सावल आदिक हिंसा के उपकरणो को किसी के मागे हुए देने मे महान् पाप होता है, क्योकि इनको लेजाकर वह कार्य करेगा, जिसमे हिसा अवश्य होगी। वह पाप देने वाले के मत्थे पडेगी क्योकि न वह आयुध देता और न हिसा होती। इससे इनके देने का त्याग करना चाहिये। हिसक आयुधो मे हल, वक्खर, गाडी, घोडा, ऊँट, गधा किराये से देना और अग्नि के कार्य करना, जैसे चूना के भट्टे लगवाना, ईंटे पकवाना तथा और भी ऐसे कार्य करना जिसमे व्यर्थ हिसा और आरभ होवे, उनको त्याग दे। **–अपध्यान अनर्थदण्ड–**

बधबन्धछेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे, आध्यानमपध्यानं, शासति जिनशासने विशदा ।७८।

अर्थ—जिन शासन मे जो पडित है वह इस प्रकार के कर्तव्य को जैसे–रागद्वेष से दूसरो को हानि पहुचाना या बध बंधन करा देना, अपने चित्त मे किसी को हानि पहुचाने का विचार करना, किसी स्थान पर अच्छा समुदाय होवे वहा के लोग को उलटा समझाकर फूट करा देना या किसी की स्त्री को और प्रकार से समझाकर उसकी हसी उडाना दूसरो को नीचा दिखाकर या कलह कराकर आप बडा आनन्द मानना इत्यादि सब अपध्यान अनर्थ

दण्ड है। इसका त्याग करना चाहिए। —दु श्रुति अनर्थदण्ड—

आरंभसंगसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनै, चेत कलुषयतां श्रुति,रवधीनां दुश्रुतिर्भवति।७९।

अर्थ—चित्त को रागद्वेष से कलुषित करने वाले, काम को जाग्रत करने वाले, मिथ्यात्व का आश्रय बढाने वाले। आरभ परिग्रह को बढाने वाले पापो मे प्रवृत्ति कराने वाले, क्रोध, मान, माया, लोभ को जाग्रत करने वाले या बढाने वाले, जीवो को महाक्लेश पहुंचाने वाले, आरभ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद, मदन इत्यादि की प्रवृत्ति रूप शास्त्रों या कथाओ का सुनना यह पाप प्रवृत्ति का बीज भूत अनर्थदण्ड दु श्रुति नामका अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करना चाहिये। —प्रमादचर्या अनर्थदण्ड—

क्षितिसलिलदहनपवना,रभ विफलंवनस्पतिच्छेद, सरणं सारणमपिन्च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते।८०।

अर्थ—बिना प्रयोजन, चलना फिरना बकवाद करना दौडना दौड़ाना, पृथ्वी जल अग्नि, पवन का आरंभ करना, वनस्पति छेदना, छिदवाना; तोडना तुड़ाना; बिना प्रयोजन किसी भी सावद्य कार्य का करना प्रमाद चर्या नाम अनर्थदण्ड है। ये अनर्थदण्ड महापाप है, इनका सपर्क शीघ्र ही हो जाता है, इसलिये बुद्धिमानो को इनसे बचना चाहिये।

—* अनर्थदण्ड व्रत के पांच अतिचार *—

कंदर्पकौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पंच,असमीक्ष्य चाधिकरणं,व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरते।८१।

अर्थ—१ कदर्प २ कौत्कुच्य ३ मौखर्य ४ अतिप्रसाधन ५ असमीक्ष्याधिकरण ये अनर्थदण्ड व्रत के पाच अतिचार है। इनको त्यागना चाहिये। इनका खुलासा इस प्रकार है–१ कदर्प– राग के उद्रेक से हास्य मिश्रित, अशिष्ट वचन वोलना अथवा काम उत्पन्न करने वाले, या काम प्रधान वचन कहना, सो सव कन्दर्प नामा अतिचार है।

२ कौत्कुच्य—हास्य और भण्ड वचन सहित, भौह, नेत्र,ओष्ठ हाथ, पैर, नाक, मुख आदि की कुत्सित चेष्टा करना यानी विकारो को धारण करना, यह कौत्कुच्य नाम का अतिचार है। ये दोनो प्रमाद चर्या नामा अनर्थ दण्ड व्रत के अतिचार है। ३ मौखर्य–धृष्टता पूर्वक, विचार और सम्बन्ध रहित, तथा असत्य बकवाद करना मौखर्य नामा अतिचार है। यह पापोपदेश नामा अनर्थदण्ड व्रत का अतिचार है, क्योकि व्यर्थ या अधिक वचनो मे पाप का उपदेश सभव है। ४ अति प्रसाधन–प्रयोजन से अधिक आरभ व सग्रह आदि करना. जैसे किसी को कहना—तू बहुत सी चटाइया लेआ, जितनी मुझे चाहिये, उतनी मैं खरीद लूंगा जो बाकी बचेगी, उनके बहुत से ग्राहक हैं उनके द्वारा खरीदवा दूंगा, इत्यादि कह कर बिना विचारे चटाई आदि बुनने वालो से बहुत सा आरभ और हिसा कराना तथा इसी प्रकार लकड़ी काटने वालो, ईंट पकाने वालो आदि से भी, आरभ व अधिक हिसा कराना अति प्रसाधन है। ५ असमीक्ष्याधिकरण—हिसा के उपकरणो को इसी हिसा के उपकरणो

के साथ व समीप रखना जैसे-ओखली के साथ मूसल, हल के साथ उसका फाला, गाडी के पास उसका धुरा, धनुष के पास बाण रखना आदि ये सब असमीक्ष्याधिकरण नामा अति-चार है । क्योंकि जब यह हिंसा के उपकरण समीप रखे होगे तो हर कोई मनुष्य इनसे कूटना आदि कार्य कर सकता है । यदि अलग २ रखे हो तो सहज ही दूसरो को निषेध हो सकता है । इस प्रकार यह असमीक्ष्याधिकरण नाम का पाचवा अतिचार है । विशेष–अति प्रसाधन नामा अतिचार को सेव्यार्थाधिका, या भोगोपभोगानर्थक्य भी कहते है । जैसे–तेल खल्ली मुलतानी मिट्टी आवला, आदि स्नान करने के साधन साथ मे लेकर तालाब पर जाय तो उन चीजो के लोभ से बहुत से मित्र साथ हो लेते है, वे सब तैलादि मर्दन कर तालाब मे खूब स्नान करते है, जिससे जलकायिक आदि बहुत से जीवो की हिंसा होती है और वह हिंसा तैल आदि लेजाने वाले को लगती है, इसलिये ऐसा न करके घर पर ही स्नान करे । कदाचित् घर पर स्नान नही कर सके तो शरीर में तैलादि सब कार्यों से घर पर ही निमट कर तलाव आदि के किनारे भी छने हुए जल से स्नान करना चाहिये, इस प्रकार जिन कामों से हिंसादि पापो का सम्बन्ध सम्भव हो, सबको छोडना ही चाहिये, अन्यथा प्रमादचर्या त्याग मे अतिचार लगता है ।

— शिक्षाव्रतो के भेद —

सामायिकं वा प्रोषधोपवासभोगपरिभोग्यानि । अतिथिसविभागव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ।

अर्थ—१ सामायिक २ प्रोपधोप्रवास ३ भोगपरिभोगपरिमाण ४ अतिथिसविभाग ये चार शिक्षाव्रत है ।

— सामायिक शिक्षाव्रत :—

आसमयमुक्ति मुक्तं, पंचाधानामशेषभावेन । सर्वत्र च सामयिका, सामायिक नाम शसन्ति ।
मूर्द्ध रुहमुष्टिवासो, वध पर्यकबधन चापि । स्थानमुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥

अर्थ—सर्व आरम्भ और पाचो पापो से रहित होकर मुनि की तरह अपनी आत्मा का अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त चिन्तवन करना, धर्म ध्यान मे लीन होना समय है, उसे एकान्त में केशबन्धन, मुष्टि बन्धन, वस्त्रग्रन्थि बन्धन आदि के छूटने पर्यन्त, सर्व प्रकार की भाव हिंसा तथा प्राणो के वियोग रूपी द्रव्य हिंसा आदि पाचो पापों का मन वचन काय से त्याग पूर्वक चिन्तवन करना, सामायिक शिक्षा व्रत है । इसके उत्तम, मध्यम जघन्य तीन भेद है । जिन-का सामायिक प्रतिमा में खुलासा करेगे ।

—: सामायिक योग्य स्थान :—

एकान्ते सामयिक निर्व्याक्षेपे, बनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च, परिचेतव्य प्रसन्नधिया ॥ ६६ ॥ (रत्नकरंड श्रा०)

अर्थ—उपद्रव रहित एकान्त स्थान मे जैसे–वन मे या मसान मे, सूने घर मे, धर्म-ाला या चैत्यालय मे गिरि की गुफा या कंदरा मे, अपने घर मे एकान्त में प्रसन्न मन से ामायिक करना अर्थात् जहाँ पर विशेष वायु न हो डास, मच्छर, सर्प, चूहे आदि के बिल

या बिच्छुओ के आवास न हो, विशेष गर्मी सर्दी न हो, तिर्यञ्च स्त्री नपु सको का आवागमन न हो, स्त्रियो के गीत, बादित्र, विवाहादि कार्यों का स्थान न हो मरण हुए का या जन्मोत्सव का स्थान न हो, मदिरा पीने वाले या वेश्या डोमती आदि का स्थान न हो, क्यो कि ऐसे कारणो के मिलने से परिणाम बिगड जाने की सभावना रहती है। इस प्रतिमा का सामायिक, तीसरी सामायिक प्रतिमा के लिये अभ्यास रूप है। इस शिक्षाव्रत मे दिन मे एक बार सामायिक करना होता है, तथा तीसरी प्रतिमा मे दिन मे तीन बार सामायिक करना जरूरी है। सामायिक के बत्तीस दोष तथा पाच अतिचार टालने से तीसरी सामायिक प्रतिमा निर्दोष होती है। यह सामायिक पंच महाव्रतो को परिपूर्ण करने का कारण है, इसलिए प्रतिदिन आलस रहित होकर एकाग्रचित से इस सामायिक का अभ्यास बढाना चाहिये। सामायिक मे आरभ सहित सभी प्रकार के परिग्रह नही होते, इस कारण उस समय गृहस्थ भी, उपसर्ग से ओढे हुए कपडे सहित मुनि की तरह उत्तम भाव को प्राप्त होता है। सामायिक को प्राप्त होने वाले मौनधारी गृहस्थ को अचल योग सहित, शीत, उष्ण डास, मच्छर आदि परिषह तथा उपसर्ग को सहन करना चाहिये, और ऐसी भावना रखना चाहिये—मै अशरण हूँ, इस दुःखमय ससार में कर्मो के वशवर्ती होकर दु ख उठा रहा हूँ, मेरा स्वरूप तो श्री सिद्ध परमेष्ठी के समान है। सिद्ध भगवान् मे तथा मेरे स्वरूप मे शक्ति और व्यक्ति का ही अन्तर है, बाकी कुछ भी भेद नही है। मैं निराकुल नित्य हूँ, जिसका अनन्त काल तक कदापि भी विनाश नही हो सकता। परन्तु मैने अशुभ परिणामो से जो पूर्व मे कर्मोपार्जन किये है उनसे चतुर्गति रूप ससार मे भ्रमण किया। इसलिये अब सर्व प्रकार के भयो को छोडकर आत्म-स्वरूप मे मग्न होकर नियत समय तक अडोल सामायिक से चलायमान नही होना चाहिये। इस सामायिक को ग्रन्थो मे ऐसी महिमा गाई है कि यह सामायिक ही आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति योग्य चारित्र है। इस चारित्र से चतुर्गति रूप भ्रमण नष्ट होता है।

प्रश्न—यह सामायिक तो अत्यन्त दु साध्य है, इसका पालन कैसे हो ?

उत्तर—यह दु.साध्य होते हुए भी अभ्यास से सरल हो जाता है, जैसे जल भरने वाली स्त्रियो की रस्सी से कुए के वड़े २ पत्थरो के मस्तक पर भी खड्डे पड जाते है, वार २ के अभ्यास से महा दु.साध्य कार्य भी सहज हो जाते हैं। अभ्यास ऐसी ही वस्तु है।

—* सामायिक शिक्षाव्रत के पाच अतिचार और उनका स्वरूप *—

'पचात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापन स्मृते, कायवाड्मनसा दुष्टप्रणिधानान्यनादरम्। (सा.ध)

अर्थ—इस व्रत के भी पाच अतिचार हैं, जिनको त्यागना चाहिये। जैसे १ स्मृत्यनुपस्थापन २ कायदुष्प्रणिधान ३ वाक्यदु प्रणिधान ४ मनोदुष्प्रणिधान ५ अनादर। अब

इनका खुलासा करते है—१ स्मृत्यनुपस्थापना.—स्मरण नही रखना, चित्त की एकाग्रता न होना, मै सामायिक करूँ या न करूँ अथवा मैने सामायिक किया है अथवा नही, इत्यादि विकल्प करना, स्मृत्यनुपस्थापन नामा अतिचार है। जब प्रबल प्रमाद होता है तब यह अतिचार लगता है। मोक्षमार्ग मे जितने अनुष्ठान है, उनमे स्मरण रखना मुख्य मार्ग है। बिना स्मरण के कोई क्रिया भली-भाति नही हो सकती। इसलिये इस अतिचार से बचना चाहिये। २ कायदु प्रणिधान—काय की पाप रूप प्रवृत्ति करने को कायदुःप्रणिधान कहते है—जैसे हाथ पैर आदि शरीर के अवयवो को निश्चल नही रखना, अथवा पाप रूप ससारी क्रिया मे लगना, यह दूसरा अतिचार है। ३ वाग्दु प्रणिधान—वर्णो का उच्चारण स्पष्ट रूप से नही रखना, शब्दों का अर्थ नही जानना, पाठ पढने मे शीघ्रता (चपलता) करना, यह वाग्दु:प्रणिधान नामा तीसरा अतिचार है। ४ मनोदु प्रणिधान—क्रोध, लोभ, द्रोह, ईर्ष्या, अभिमान आदि उत्पन्न होना, किसी कार्य के करने की शीघ्रता करना अथवा क्रोधादि आवेश मे आकर बहुत देर तक सामायिक करना, परन्तु सामायिक मे चित्त न लगाकर इधर-उधर घुमाना यह चौथा अतिचार है। इसमे चित्त डावांडोल रहता है और स्मृत्युपस्थापना मे भूलना होता है, यही इन दोनो मे भेद है। ५. अनादर-सामायिक करने मे उत्साह नही करना, नियत समय पर सामायिक नही करना, अथवा जिस तिस प्रकार समय पूरा कर देना, सामायिक पूर्ण करते ही सासारिक कार्यो मे तत्काल दत्तचित्त हो जाना, यह पाचवा अतिचार है। **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का स्वरूप—**

> **स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम्।**
> **साम्यसस्कारदाढर्याय, चतुर्भुक्त्य ज्भनं सदा ।।३४—५।।** (सा. ध)
> **उपवासाक्षमै कार्यो,ऽनुपवासस्तदथमै ।**
> **आचाम्लनिर्विकृत्यादि, शक्त्या हि श्रेयसे तपः ।। ३५—५ ।।** (सा. ध)

अर्थ—सामायिक के संस्कारो को दृढ बनाने के लिये अर्थात् परिपह उपसर्ग आदि के होते हुए भी समताभाव न बिगडने पावे, अच्छी तरह उन पर विजय प्राप्त हो जावे, इसलिये जो श्रावक जन्म पर्यन्त प्रत्येक महिने के चारो पर्वदिवसो मे शास्त्रानुसार चारो प्रकार के आहार का त्याग करता है, उसके त्याग को प्रोपधोपवास कहते है।

भावार्थ—प्रत्येक महिने मे कृष्ण पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी, शुक्ल पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी, इस तरह चार पर्व दिन होते है। प्रत्येक पर्व मे चारो प्रकार के (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय) आहार का शास्त्रानुसार त्याग करना चाहिये। अर्थात् जैसे किसी को अष्टमी का प्रोपधोपवास करना है, तो उसे सप्तमी के दिन एकाशन पूर्वक व्रत स्वीकार करना चाहिये। अष्टमी को बिलकुल निराहार रहे, नवमी को एकाशन पूर्वक पारणा करे।

इस प्रकार प्रत्येक पर्व में चार-चार बार के भोजन के त्याग को प्रोषधोपवास कहते हैं। यह उत्तम विधि है। जो श्रावक इसके पालने मे असमर्थ है उन्हे जल के सिवा अन्य सब आहार छोड़ देना चाहिये, इसे अनुपवास या मध्यम प्रोषधोपवास कहते हैं। और जो अनुपवास करने मे भी असमर्थ है, उनको आचाम्ल वा निर्विकृति भोजन करना चाहिये। बिना पकी हुई कांजी (खटाई) मिलाकर भात खाना, यह आचाम्ल है। विकृति रहित भोजन को निर्विकृति कहते है, जैसे गर्म जल के साथ भात जीमना। जो जिव्हा और मन मे विकार पैदा करे उसे विकृति कहते है, यह भोजन चार प्रकार का होता है। १. गोरस २. इक्षुरस ३. फलरस ४ धान्यरस। १ गोरस—दूध, दही, घी आदि पदार्थ २ इक्षुरस–खांड, गुड आदि पदार्थ ३ फलरस–दाख, आम, ककडी, खरबूजा, सतरा, सेव, अंगूर, अनार आदि रसीले फल का भोजन फल रस कहलाता है। ४ धान्यरस–तेल, माड आदि गेहूँ का सत आदि ये सब धान्य रस होते हैं। जो पदार्थ जिसके साथ खाने मे स्वादिष्ट लगता हो उसको विकृति कहते है "अनुपवास वाले को निर्विकृति रूप भोजन करना चाहिये। आदि शब्द से एक स्थान मे बैठकर एक बार भोजन करना चाहिये, अथवा किसी प्रकार के रस का त्याग करना चाहिये, ~~अथवा~~ शक्ति के अनुकूल और कुछ छोड देना चाहिये। शक्ति के अनुसार किया हुवा तपश्चरण कल्याणकारी अर्थात् पुण्य का कारण और मोक्ष का देने वाला हुआ करता है। **प्रोषधोपवास के दिन त्यागने योग्य कार्य—**

पचानां पापाना,मलक्रियारभगधपुष्पाणाम् ।

स्नानाञ्जननस्याना,मुपवासे परिहृति कुर्यात् ।।१९७।। (रत्नकरण्ड श्रा)

अर्थ—उपवास के दिन हिसादि पाचो पापो का, तथा शृ गार, आरभ, गध, पुष्प और उपलक्षण से रागोत्पादक गीत, नृत्यादिक स्नान, अजन, तम्बाकू आदि सूंघने के पदार्थो का तथा नाटक सरकश वगैरह देखने का, आदि शब्द से ऐसे और कार्यो का भी त्याग कर देना चाहिये जिनसे रागवृद्धि की सभावना हो। **भावार्थ**—भगवन् समन्तभद्रस्वामी ने इस श्लोक मे गंध पुष्पाणा तथा स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे इस प्रकार पद दिया है इसका आशय ऐसा समझ मे आता है कि जब उपवास होवे तब नाक से पुष्प सू घना नही तथा आख मे अजन भी नही लगाना। कारण कि नाक से पुष्प सू घने से और आखो मे अंजन लगाने से उपवास भ्रष्ट हो जाता है। अत आचार्य स्वामी ने ऐसा लिखा है। फिर उपवास में कुरला करना कहा तक संगत हो सकता है ? उपवास मे कुरला करना उपवास को नाश करना है। विज्ञजन इस बात पर पूर्ण विचार करें। यदि पुष्प सूंघने और अजन लगाने से ऐसा नही होता तो कदापि आचार्य रोकते नही। इस वास्ते यह सिद्ध होता है कि जब नासिका से पुष्प सूंघना और आंखो मे अजन लगाना भी रोका

जाता है तब दंतोन करना, कुरली करना उपवास मे कैसे सगत हो सकता है। कई ग्रन्थो मे इनका निषेध है। इन्द्रनन्दी भट्टारक कहते है —

"पव्वदिरोसु वएसुवि, रा दन्त कट्ठ रा आचमं तप्पं।
एदारा जरगरगस्सारगं, परिहररग वत्थ सण्णोउ ॥ १ ॥
द्वितीया पंचमी चैव, ह्यष्टम्येकादशी तथा।
चतुर्दशीतथैतासु, दन्तधाव च नाचरेत् ॥ २ ॥

इस प्रकार शास्त्रो मे उपवास के दिन कुरला करने का निषेध मिलता है। जैनियो की रूढि से भी यही प्रकट होता है कि उपवास के दिन हरगिज भी दातोन कुरला नही करना चाहिए।

—※ उपवास के दिन करने योग्य कार्य ※—

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा और भी अनेक ग्रन्थो मे उत्तम उपवास सोलह प्रहर का, मध्यम चौदह प्रहर तथा जघन्य बारह प्रहर का कहा है, इस मर्यादा से कम का नही होता। हा, बीमारी की अवस्था मे आठ प्रहर का भी माना है, तथा एकाशन करके भी प्रोषध माना है, प्रोषधोपवासी के और भी नीचे लिखे माफिक कार्य करना चाहिये।

पर्वपूर्वदिनस्यार्द्धे भुत्वाऽतिथ्यशितोत्तरम्। लात्वोपवासं यतिवद्विविक्तवसति श्रितः ॥
धर्मध्यानपरो नीत्वा, दिन कृत्वा पराह्निकम्। नयेत्त्रियामां स्वाध्यायरत प्रासुकसस्तरे ॥
तत प्राभृतिक कुर्यात्तद्वद्यमान् दशोत्तरात्, नीत्वाऽतिथिं भोजयित्वा, भुञ्जीतालौल्यत सकृत्।
पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्येव पूजयेत्। प्रासुकद्रव्यमय्या वा, रागाङ्ग दूरमुत्सृजेत् ॥

अर्थ— प्रोषधोपवास करने वाले श्रावक को, पर्व के पहले दिन अर्थात् सप्तमी वा त्रयोदशी के दिन, मध्याह्न काल अथवा उससे कुछ पहिले, मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि को, भोजन देने के अनन्तर, विधि के अनुसार स्वय भोजन करना चाहिये। पश्चात् उपवास स्वीकार करना चाहिये, जैसाकि मुनिगरग करते है। निद्य व्यापार आदि सबका त्याग कर देना चाहिये। फिर योग्य स्थान मे जहा कोलाहल न हो, वहा धर्मध्यान मे (१ आज्ञा विचय २ अपाय विचय ३ विपाक विचय ४ सस्थान विचय, इन मे) लीन रहे। ध्यान से छूटे तो स्वाध्याय करे, अथवा अनुप्रेक्षाओ का चिन्तवन करे, इस प्रकार वह दिन और रात्रि (छः प्रहर) व्यतीत करे। बीच के सध्या वन्दना, आदि धर्म ध्यान को न भूले। पुन अष्टमी व चतुर्दशी की प्रभात की क्रिया, संध्या, वन्दना, देव पूजन आदि करना चाहिये। इस तरह दिन, रात्रि तथा नवमी व पूर्णिमा के प्रातः काल तक पौर्वाह्निक माध्याह्निक एवं आपराह्निक, सम्पूर्ण क्रियाये करनी चाहिये उपवास करते समय, पचपरमेष्ठी शास्त्र व गुरु की पूजा द्रव्यो से प्रीति पूर्वक पूजा व गुरणस्मरण करना चाहिये। कदाचित् भाव पूजा न कर सके तो प्रासुक (अचित्त) अक्षत आदि द्रव्य से पूजा करनी चाहिये। फिर प्रथम

दिवस की तरह पहिले अतिथियो को प्रासुक दान देकर आप भोजन करे, सो भी एक बार दुबारा नही, इस प्रकार तीन दिन मे चार भोजन वेला का त्याग सो ही, उत्तम प्रोषधोपवास होता है, मध्यम जघन्य का स्वरूप ऊपर बता चुके हैं।

आजकल अनेक व्रती पुरुष ऐसा कहने लगे है, कि जिनेन्द्र की पूजा करनी होवे तो, उपवास के दिन भी स्नान, दातुन कुरला करो। बिना दन्त धावन किये, पूजा नही कर सकते। सो भोले श्रावक उनके कथन से पापयोग के डरसे उपवासमे भी दातुन कुरला करने लगगये हैं, सो यह विपरीत मार्ग है। उपवास के दिन कदापि दन्तधावन, कुरला मत करो। हा, स्नान करके भगवान् जिनेन्द्र की पूजा कर सकते है। यह बात भी अवश्य है कि, जिस गृहस्थ के, उपवास या एकाशन किसी प्रकार का प्रत्याख्यान न हो, वह दन्त धावन, कुरला स्नानादि करके देव पूजा करे अन्यथा एक बिन्दु भी मु ह से जल लेलोगे, तो न एकाशन रहेगा न उपवास। क्योकि उपवास मे तो १६ या १४ या १२ प्रहर तक को चारो प्रकार के आहार का त्याग कर चुके हो, तथा एकाशन मे एकबार जो कुछ लेना है, सो लेना चाहिये। अन्यथा भूखे भी रहे और पाप बन्ध भी हुवा क्योकि प्रतिज्ञा थी—उपवास या एकाशन की और कुरला कर लिया तो आखडी भ्रष्ट हुए; सो महान् पाप है। आगम की तो ऐसी आज्ञा है कि जितनी शक्ति होवे, उतना नियम लो। जैसे कि कविने कहा है—'कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति विना सरधा धरे'। जिसके पालन की शक्ति न हो उस की श्रद्धा करनी और जो यशस्तिलक चम्पू ग्रन्थ मे ऐसा लिखा है कि शरीर शुद्ध स्नान, दन्तधावन कुरला आदि करके भगवान् की पूजा करो अन्यथा नही सो कथन सामान्य गृहस्थो (बिना उपवास, एकाशन वालो) के लिये है, व्रतियो के लिये नही। —**प्रोषधोपवास के अतिचार**—

ग्रहणविसर्गास्तरणा,न्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे।
यत्प्रोषधोपवास, व्यतिलघनपंचकं तदिदम् ॥ ११० ॥ (रत्नकरड श्रा)

अर्थ—प्रोषधोपवास करने वाले को इन पाच अतिचारो से बचना चाहिये। १—विना देखे विना सोधे कोई वस्तु ग्रहण करना व रखना, २ विना देखे साथरा, विछाना, ३ विना देखे सोधे मल मूत्र क्षेपण करना ४ व्रत मे अनादर करना, या श्रद्धा न रखना ५—चित्त चचल रखकर हल चल नही करना। ये प्रोषधोपवास के पाच अतिचार है—प्रत्येक

१ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग—इस भूमि मे जीव हैं कि नही है, इस प्रकार नेत्रो से देखे विना व कोमल पिच्छिका से शोधन किये विना भूमि पर मलमूत्रादिक डाल देना अतिचार है। २ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान—विना देखे सोधे जिनदेव, शास्त्र, आचार्य आदि की पूजन के द्रव्य, गन्ध माल्य, धूप, दीपादिक आदि उपकरणो को ग्रहण करना अथवा वस्त्र, पात्र आदि को देखे सोधे विना, घसीट कर उठा लेने का यह दूसरा अतिचार है।

३ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसस्तरोपक्रमण—बिना देखे सोधे, भूमि पर शयन आसन के लिये साथरा या वस्त्रो को बिछाना, उठाना ये तीसरा अतिचार है। ४ अनादर–क्षुधा तृषा की बाधा से आवश्यकीय धर्म क्रियाओ मे अनादर रूप प्रवर्त्तन करना चौथा अतिचार है। ५ स्मृत्यनुपस्थापन– प्रोषधोपवास के दिन करने योग्य आवश्यकीय क्रियाओ को भूल जाना यह पाचवा अतिचार है।

— भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत का स्वरूप —

भोगोऽयमियान् सेव्यः, समयमियन्त सदोपभोगोऽपि।

इति परिमायानिच्छुस्तावधिकौ तत्प्रमाव्रत श्रयतु ॥ १३–५ ॥ (सा ध)

अर्थ– शिक्षाव्रती श्रावक को १ विधि मुख २ निषेध मुख से भोगोपभोग शिक्षाव्रत को ग्रहण करना चाहिये। मै इस पदार्थ को इतने दिन तक सेवन नही करूगा, यह तो निषेधमुख है। तथा इस पदार्थ को इतने दिन तक ही सेवन करूगा, यह विधिमुख है। वस्त्राभूषण आदि पदार्थो को इतने दिन तक सेवन नही करूगा अथवा इतने दिन तक इस प्रकार परिमाण करके उससे अधिक भोगोपभोगो की कभी भी इच्छा नही रखते हुवे इस व्रत का पालन करना चाहिये।

भोग और उपभोग, यम तथा नियम का लक्षण —

भोगः सेव्य सकृ,दुपभोगस्तु पुनः पुन स्रगम्बरवत्।

तत्परिहारः परिमित,कालो नियमोयमश्च कालान्त ॥ १४–५ ॥ (सा ध)

अर्थ–जो पदार्थ एक बार ही सेवन करने मे आवे ऐसे गन्ध, माला, ताम्बूल, भोजन आदि भोग्य पदार्थ है। जो वस्तु बार २ सेवन की जा सके–ऐसे वस्त्र, आभूषण, सेज, चौकी, पाटा आदि उपभोग कहलाते है। उन पदार्थो का एक दो दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, चतुर्मास, वर्ष, दो वर्ष आदि नियमित काल के लिये त्याग करना वह नियम कहलाता है जो त्याग मरण पर्यन्त किया जाता है उस त्याग को यम कहते है। यम और नियम दोनो ही प्रकार की त्याग विधि जिनमतानुकूल होती है, जैसी शक्ति और द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव, की योग्यता हो, वैसा ही करना चाहिये।

भोगोपभोग के अन्तर्गत त्यागने योग्य पदार्थ —

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुम, कैतकमित्येवमवहेयम्॥

अर्थ—जिसमे फल थोडा, हिंसा अधिक हो ऐसे मूली, गीला अदरक, नवनीत (मक्खन) नीम के फूल, केतकी आदि का त्याग करना चाहिये। इसी का विशेप खुलासा करते है :—

पलमधुमद्यवदखिलस्,त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थ।

त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टो,ऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥ १५ ॥

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्. आजन्मतद्भुजां ह्यल्प, फलघातश्च भूयसाम् ॥१६॥

अनन्तकाया. सर्वेऽपि सदाहेया दयापरै। यदेकमपि त हन्तु, प्रवृत्तोहन्त्यनन्तकान् ॥१७–२॥

अर्थ--पल (मास) मधु-मद्य ये पदार्थ तो सर्वथा हेय है ही, छूने के योग्य भी नही है, क्योकि इसमे अनेक त्रस स्थावर तथा समूर्च्छन जीव निरन्तर रहते है जिनका स्पर्श मात्र से घात हो जाता है । विज्ञान (साइन्स) भी इनको हेय कहता है । इन पदार्थो से गृद्धि तथा काम लालसा की वृद्धि होती है, इसलिये इनका तो श्रावक के सर्वथा जन्म पर्यन्त त्याग ही है । इसी तरह जिन पदार्थो मे त्रसो का घात, अथवा बहुत स्थावरो का घात होता हो प्रमाद बढाने वाले हो, अनिष्ट हो, अनुपसेव्य हो, उन सबका भी भोगोपभोगपरिमाणव्रती को त्याग करना चाहिये, जिससे इष्ट फल की प्राप्ति होती है । जो साग व फल भीतर से पोले हो जिनमे ऊपर से उडकर आने वाले तथा उनमे उत्पन्न होने वाले समूर्च्छन जीव अच्छी तरह रह सकते हो, ऐसे कमल की नाली आदि तथा केतकी, नोम के फूल, अर्जुन, अरणी, महुआ, वेल, गिलोय, मूली, गाजर, कांदा, लहसुन, अदरख, गीली हलदी आदि पदार्थो मे बहुत जीवो का घात होता है फल अल्प होता है, इसलिये इनका त्याग करना चाहिये । बाजरे के सिट्टे, जुआरी के भुट्टे पालक का साग लालरग का मतीरा (तरबूज) सकरकद, लुनिया की भाजी, सर्व प्रकार के पुष्प बिना मर्यादा के कोई भी पदार्थ, जैनाचार्यो द्वारा बताई मर्यादा को नही जानने वाले का हाथ का पदार्थ, जैसे–हलवाई की मिठाई भी (जैन हो तो भी) नही भक्षण योग्य है, वर्षा ऋतु मे पत्र, साग, सर्वथा अभक्ष हो जाता है, अतः भक्षण योग्य नही । सूखे कद मूल भी भक्षण योग्य नही; हलदी गीली अदरक भक्षण योग्य नही । सूखी सोठ और हलदी मूंगफली को सिद्धान्तो मे काष्टादिक मानी है । फनश, कटहल, खिरणी, गोदी, थूअर के पत्र, श्रावको के भक्षण योग्य नही । शर्बत, आचार आसव, मुरब्बा, कादा, गाजर, पोदीना, लेहसुन, हीग, हीगडा, सज्जी, पापड खार, होटल मे जीमना, सोडावाटर पीना, बिस्कुट, बर्फ इत्यादि पदार्थ का नाम बताया है सो यह नही समझना कि इतने ही का त्याग बताया है, इन जैसे जो भी हो उनका सबका ही त्याग होना चाहिये । शूद्रो का स्पर्श हुआ भोजन त्यागने योग्य है । शूद्रो के गृह का दुग्ध, दही, छाछ (मट्ठा) पानी भी पीने योग्य नही है । बिना मर्यादिक पदार्थ कुलीन पुरुषो का भी सेवन योग्य नही समझना । कारण कि निमित्त, परिणाम बिगाड देता है । इससे भोगोपभोग व्रत में विवेक पूर्वक कर्तव्य करना चाहिए । जो पदार्थ नशा पैदा करने वाले हो जैसे भाग, अफीम, गाजा, धतूरा, ऐसी वस्तुओ को खाने तथा इनका व्यापार करने का भी त्याग कर देना चाहिये क्योकि इनसे सद्विचार नष्ट होते है । जिन पदार्थो मे त्रस स्थावर का घात भी नही होता, किन्तु अपनी प्रकृति के अनुकूल न हो, ऐसे अनिष्ट पदार्थो का त्याग करना चाहिये, जैसे–खासी के रोगी को मलाई । अथवा जो इष्ट होते हुए भी अनुपसेव्य हो उन का भी त्याग करना चाहिये । जैसे–भडकीले वस्त्र पहिनना आदि क्योकि इनका

असर मानसिक कर्तव्यो पर पडता है, शिष्ट पुरुष मे भी अशिष्ट सरीखे आचरण शनै २ आ जाते है, जिनसे धर्मघात सम्भव है। इसलिये त्याग भावना रखनी चाहिये, जिससे अभीष्ट और इष्ट फल की प्राप्ति होवे।

--वनस्पति काय के भेद--

वनस्पति काय के दो भेद है १ साधारण २ प्रत्येक। १. साधारण वनस्पति तो गृहस्थो को ग्राह्य है ही नही। जिस वनस्पति के एक शरीर मे अनत जीव रहते है वे एक साथ ही जन्म लेते है, साथ ही श्वासोच्छ्वास व आहार ग्रहण करते है, और साथ ही मरते है, उन अनन्त जीवो का एक ही शरीर आश्रय होता है, यह साधारण जीवो का साधारण लक्षण है, ऐसी वनस्पति का तो सर्वथा त्याग करना चाहिये। २ प्रत्येक के दो भेद है १ सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

"मूलग्ग पोरबीजा, कदा तह खधबीज बीजरुहा।
सम्मुच्छिमाय भणिया, पत्तेयाणतकाया य॥"

अर्थ--मूल, अग्र, पर्व, कद, स्कन्ध, बीज और सम्मूर्च्छन, इनसे पैदा होने वाली वनस्पति प्रत्येक, तथा अनन्त काय होती है, अर्थात् उत्पत्ति के समय से अन्तर्मुहूर्त तक तो प्रत्येक रहते है, पश्चात् साधारण हो जाते है। इन मूल आदि सात प्रकार से पैदा होने वाली वनस्पति का भिन्न २ वर्णन इस प्रकार है- **१ मूलज**-अदरक, हल्दी, मूली, गाजर, आलू, रताल्, अरबी, सकरकद, काँदे (प्याज) लहसुन, ये सब मूल से, जमीन के अन्दर पैदा होने वाली वनस्पति हैं। **२ अग्रज**-तोरई, भिन्डी, ककडी आर्या, आदि वस्तु जो सिरे से पैदा होती है, अग्रज कहलाती है। ३ **पर्व**-देवनाल, ईख, वेत आदि गाठ से पैदा होने वाली को पर्वज कहते है। ४ **कद**-सूरण प्याज आदि कद है। **५ स्कधज**-सायली, कटेरी, पलाश आदि शाखा से उत्पन्न होने वाली वस्तु स्कधज कहलाती है। **६ बीज**-गेहूँ, चावल, जुवार, बाजरा, मक्की, मूंग, उडद, मसूर आदि बीज से उत्पन्न होते है।

७ सम्मूर्छन—जो बिना बीज आदि बोये अपने योग्य द्रव्य क्षेत्र मिलने से पैदा हो जाते है, वे सम्मूर्छन वनस्पति है जैसे घास आदि। जब इनके आश्रित निगोदिया जीव रहते है, तब ये सभी सप्रतिष्ठित कहलाते है और जब द्रव्य क्षेत्र काल की योग्यता से निगोदिया जीव इनमे नही रहते तब अप्रतिष्ठित प्रत्येक एव अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाते है। जिस वनस्पति के एक शरीर का एक ही स्वामी हो उसे अप्रतिष्ठित कहते है। अब गोम्मटसार जीवकाण्ड के अनुसार, सप्रतिष्ठित प्रत्येक की पहिचान के नियम बताते है।

--* सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक का लक्षण *--

गूढसिरसधिपव्व, समभगमहीरुहच छिण्णरुह।
साहारण शरीर, तव्विवरीय च पत्तेय॥ १८६॥ (गो. जा.)

अर्थ—जिस वनस्पति की शिरा, संधि, पर्व अप्रकट हो जिसके ताडने पर समान भग होता हो, दोनों टुकड़ों मे तन्तु न लगा रहे, छेदन करने पर भी जिस की पुन वृद्धि हो जावे, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है। इसी का दूसरा नाम अनत काय भी है। इससे विपरीत लक्षण होने पर वही वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाती है।

मूले कदे छल्ली,पवालसालदलकुसुमफलबीजे ।
समभगे सदि णता, असमे सदि होन्ति पत्तेया ।। १८७ ।। (गो जी)

अर्थ—जिन वनस्पतियो के मूल, कन्द, छाल, कोपल, टहनी, पत्ते, फूल तथा बीजो को तोड़ने से समान भाग हो, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं, जिनका समान भग न हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है।

कंदस्स व मूलस्स व, सालाखंदस्स वावि बहुलतरी ।
छल्ली साणतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी ।। १८८ ।। (गो. जी.)

अर्थ—जिस वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्र शाखा या स्कन्ध की छाल मोटी हो उसको अनत जीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक, कहते है, और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। ऊपर की गाथाओ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हरित वनस्पति किस हालत मे अनन्त काय अर्थात् सर्वथा अभक्ष्य रहती है, और किस हालत मे श्रावक को विचार कर ग्रहण करने योग्य हो जाती है। हरित वनस्पति का यथा शक्ति त्याग सर्वथा उचित है। जो साधारण तथा व्रती श्रावक अपनी जिह्वा इन्द्रिय को दमन करने के लिये, या भोगोपभोग परिमाण व्रत के अन्तर्गत, ऐसी प्रतिज्ञा पालते हैं कि, हम अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका तथा दश लक्षण मे हरी वनस्पति नही खायेगे, इस परम्परागत सदाचार को आजकल कई धर्मात्मा कहलाने वाले व्यक्ति, व्यर्थ या अनुचित कहकर शिथिल बनाने का प्रयत्न करने लगे है, तथा अनेक सार हीन कुतर्को से भोले श्रावको की प्रतिज्ञा हानि करा देते हैं ऐसे कई व्यक्ति जिन्होने पहिले पर्व दिवसो मे आजन्म हरी न खाने की प्रतिज्ञा ले रक्खी थी, अब पर्व दिवसों मे हरी सब तरह की पकाकर व कच्ची भी खाने लग गये हैं, तथा कहने लगे है कि हम पहिले इस हरित काय मे जीव समझते थे, तथा आजकल के त्यागी लोग उनमे जीव नही बताते हमें भी ऐसा श्रद्धान हो गया है; इसलिये अब हरित छोड़ने की कोई आवश्यकता नही रही। इत्यादि।" सो बुद्धिमानो को विचारना चाहिये कि क्या जैनियो के सिद्धान्त इतने कच्चे या ढीले ढाले है कि कल तक तो सम्पूर्ण जैन समाज अष्टमी चौदस को हरी त्याग मे पुण्य समझता था, आज यह मामूली सी बात या फालतू त्याग नियम समझा जाता है, सो भी साधुओ के द्वारा ? भला अजैन समाज जैनो के इस कृत्य को किस दृष्टि से देखती है, इसको भी उन प्रतिज्ञा भग कराने

वालो ने कभी विचारा है ? जो जैन समाज इस प्रकार के विचार से ओत प्रोत थी कि—
पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽतिऋतीयते, हरितान्याश्रितानन्तनिगोतानि स भोक्ष्यते ॥६-७॥

अर्थात्—जो श्रावक प्रयोजन के वश से अपने पैर से भी जिस हरी वस्तु को छूने मे भी अतिचार को प्राप्त होता है वह अनेक (अनत) जीवो से भरी हरी वनस्पति को कैसे खावेगा ! अर्थात् कदापि नही खावेगा । कहा तो महामना आशाधरजी की हरी त्याग समर्थन की ऐसी साक्षी, और कहा आजकल के लोगो का प्रतिज्ञा भग कराने का प्रयास ! जो हरित भक्षी यह पूछते है कि शास्त्रो मे हरित मे जीव कहा बतलाया है, उनको मालुम होना चाहिये, कि सिर्फ यापनीय संघ के आचार्यो ने हरित मे जीव नही माने है । सो वह सघ ही जैनाभासो की गिनती मे है, ऐसा भट्टारक इन्द्रनन्द्रि कृत नीति सार मे दर्शनसार मे स्पष्ट बतलाया है । बाकी सब जैनाचार्यो ने हरित काय मे जीव माने है । इस बात का खुलासा इसी ग्रथ के भोजन की मर्यादा प्रकरण मे अच्छी तरह कर दिया है, सो वहा से अवलोकन करना चाहिये । इस भोगोपभोगपरिमाण व्रती को प्रात काल ही दिन भर मे काम आने वाली वस्तुओ का परिसख्यान कर लेना चाहिये, जैसा कि श्री सकलकीर्ति ने कहा है । (प्रश्नोत्तर श्रा)

भोजने षट्रसे पाने कुंकुमादिविलेपने । पुष्पतांबूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके ॥
स्नानभूषणवस्त्रादौ वाहने शयनासने, सचित्तवस्तुसख्यादौ प्रमाण भज प्रत्यहं ॥१२४-२७॥

अर्थ—भोगोपभोग व्रत की प्रवृत्ति सतरह प्रकार से मानी है । इसको निर्दूषण पालना चाहिये, इसी को सतरह प्रकार के नियम भी कहते है, जिनका खुलासा इस प्रकार है । (१) आज मै इतने बार (एक या दो ही बार जीमूं गा (२) आज मै इतने रस ही ग्रहण करूं गा, अधिक नही । घी, दूध, दही, लवण तैल, मीठा, ये भोजन के छह रस है । उनमे इतने लूं गा और बाकी का त्याग है (प्राप्त मे से छोडना योग्य है) । (३) पीने योग्य पदार्थ दूध, शरबत नारगी का रस आदि का नियम करना । ४ चदन, कुंकुम आदि का तिलक, लेप, उबटना मे हल्दी इत्यादि का इतनी वार से अधिक का मेरे त्याग है । ५—इतनी प्रकार के नाम खोल कर पुष्प, या इतर के सूं घने सिवा अन्य का आज त्याग है । ६ पान सुपारी, इलायची, बादाम, पिस्ता, मसाला ताम्बूल आदि इतने बार खाऊं गा, अधिक नही । ७. आज इतने गीत, नाटक, तमाशा आदि देखूं गा, सिवाय नही । ८ आज इतने प्रकार के बाजे सुनूं गा या बजाऊं गा । ९ ब्रह्मचर्य इस प्रकार पालूं गा ऐसा नियम करना । १० आज इतनी बार स्नान करूं गा, अधिक नही ११. आज इतने और इतने प्रकार के आभूषण पहनूं गा अधिक नही । १२. अमुक २ वस्त्र इतने बार पहनूं गा ज्यादा नही । १३. गाड़ी घोडा. ऊंट, रथ, तागा, बग्घी, पालकी, मोटर, रेल, जहाज आदि मे आज बैठूं गा

या नही । १४. पलग, गद्दा आदि इतने प्रकार के बिछाऊंगा, अधिक नही । १५. बेंच, कुरसी, मेज, आसन, इतने के सिवा अन्य का त्याग १६. शाक तरकारी, आदि फल इतने सेवन करूंगा । ऐसा नाम खोलकर बाकी का त्याग करना । १७. अन्यान्य वस्तु इतने प्रकार की रक्खूंगा बाकी का त्याग । अथवा आज मैं इन २ दिशाओ मे इतनी २ दूर जाऊंगा अधिक नही । इस प्रकार व्रती श्रावक सब नियमो को निरतिचार पालता है । पिछले दिन के नियमो को भी विचार लेता है कि उनमे कोई दूषण नही लगा । यदि लगा होवे तो प्रायश्चित् लेकर उसकी शुद्धि कर लेता है । अनाचार रूप प्रवृत्ति न हो जावे इसका सदा ध्यान रखता है ।

—भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पांच अतिचार— (सा.ध.)

सचित्त तेन सम्बद्धं, सम्मिश्र तेन भोजनम्, दुष्पक्वसप्वभिषव भुञ्जानोऽत्येति तद् व्रतम् ।२०५

अर्थ—सचित्त पदार्थो का भक्षण २ सचित्त से सबध रखने वाले पदार्थो का खाना, ३ सचित्त से मिले हुए पदार्थो का खाना, ४ कम पके (अग्निपर) वा ज्यादा पके पदार्थो का खाना अभिषव (गरिष्ठ) पदार्थो का खाना । ये इस व्रत के अतिचार है । इनका खुलासा इस प्रकार है— १ सचित्त—जिनमे चेतना विद्यमान है ऐसी ककडी आदि हरित वस्तु को सचित्त कहते है । इनको प्रासुक रूप मे ही भक्षण करना अन्यथा नही, नही तो अतिचार होगा । प्रश्न—सचित्त भक्षण अतिचार ही क्यो कहा अनाचार क्यो नही ! समाधान-पदार्थ को गृद्धता से भक्षण करना अनाचार होता है । सूक्ष्मरूप से दोष लगना अतिचार, है—जैसे त्यागी हुई वस्तु मे भूल से एक बार प्रवृत्ति हो जावे तो अतिचार, यदि बार २ हो तो अनाचार है । २ सचित्त सबन्ध—जिसके साथ चेतना वाले का संसर्ग है जैसे—गोंद तथा कई प्रकार की सब्जी, पुष्प, फल, सचित्त जल आदि का अचित्त भोज्य पदार्थो मे सम्बन्ध हो जाना सचित्त सम्बन्ध है । ऐसे पदार्थ को व्रती खावे तो यह दूसरा अतिचार है । ३ सचित्त सम्मिश्रण—जिस पदार्थ मे सचित्त वस्तु मिल गई हो और बहुत प्रयत्न करने पर भी वह उससे अलग न हो सके, ऐसा पदार्थ भूल से भक्षण मे आवे तो अतिचार है । प्रमाद से भक्षण करले तो वही अनाचार हो जाता है । ४ दुष्पक्व—जो पदार्थ अग्नि पर योग्यता से अधिक पका दिया या कच्चा ही रह गया हो वह दुष्पक्व है । जैसे—एक पात्र चूल्हे पर, पानी भर कर चढाया, उसमे चावल आदि सीझने को रख दिये हो और थोडे कच्चे रह गये हो । ऐसे अधकच्चे वा अधपके-चावल, जो, गेहूँ, फल आदिक पदार्थ, को खाना अतिचार है क्योकि ऐसी वस्तु खाने से अनेक प्रकार के रोग पैदा हो जाते है । सिद्धान्त मे बतलाया गया है कि जो पदार्थ जितने अंशो मे कच्चा रह गया है वह योनिभूत हो (जैसे—गेहूँ जो आदि) अथवा फलादि हो वह सचित्त रहने पर बीमारी का कारण धर्मध्यान मे बाधा कारक है । इससे इस भव मे वेदना तथा परलोक के लिये

कर्मबन्ध होता है इसलिये ऐसे दुष्पक्व पदार्थ को छोडना ही चाहिये। ५ अभिषव–काजी आदि पतले पदार्थो को तथा खीर आदि पौष्टिक पदार्थो को अभिषव कहते है। जब शक्ति न्यून हो जाती है, तब ये पदार्थ काम नही देते, धर्म साधन में बाधा खडी हो जाती है। ऐसे पदार्थो के सेवन की इच्छा रखना, अतिचार है। इससे व्रती को बचना चाहिये। सचित्तादि अतिचारो को समझाने के लिये श्री चारित्र सार ग्रंथ मे श्री चामुण्डरायजी ने युक्ति दी है कि—इन सचित्त आदि पदार्थों के खाने से अपना उपयोग सचित्त रूप हो जाता है। सचित्त रूप वस्तु के उपयोग करने से इन्द्रियो के मद की वृद्धि होती है, तथा वात पित्त प्रकोप आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है। उन रोगो को दूर करने के लिये औषधियो का सेवन करना पड़ता है, जिसमे सचित्त वनस्पति आदि के सेवन करने से फिर पाप सपादन होता है। इसलिये व्रती श्रावक को ऐसे सचित्तादि अपथ्य व आहार का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये। —**श्वेताम्बर सप्रदाय के १५ खर कर्म**—व्रतो को दृढ रखने तथा अतिचारो से बचने के लिये श्वेताम्बराचार्य पन्द्रह खर कर्मो के त्याग का उपदेश देते है, वे इस प्रकार है .— (सागार ध)

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान् पचदश त्यजेत्। वृत्ति वनग्न्यनस्फोटभाटकैर्यन्त्रपीड़नम् ॥२१॥
निर्लाञ्छनासतपोषौसर शोष दवप्रदाम्। विषलाक्षादन्तकेश, रसवाणिज्यमङ्गिरुक् ॥२२॥
इतिकेचिन्नतच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम्, अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति ॥२३-५॥

अर्थ—जीवो को पीडा पहुचाने वाले खर कर्म अर्थात् क्रूर व्यापार छोड देना चाहिये, तथा इस व्रत के नीचे लिखे १५ मल (अतिचार) त्याज्य है—

१ **वनजीविका**—वृक्ष आदि कटवाकर जीविका करना २ **अग्निजीविका**—कोयले बनाना, चूने के भट्टे लगाना आदि ३ **अनोजीविका**—शकटजीविका अर्थात् गाडी रथ आदि बनवाना बेचना या किराये चलाना ४ **स्फोटजीविका**—पटाखे बारूद महताव आदि द्वारा जीविका करना ५ **भाटकजीविका**–गाडी घोडा आदि से बोझा ढोकर जीविका ६ **यत्रपीडनजीविका**–कोल्हू घाणी आदि द्वारा तेल आदि निकलवाना या व्यापार करना ७ **निर्लाछनजीविका**—बैल आदि के नाक आदि छेदकर जीविका चलाना ८ **असतीपोष**—घातकजीव सिंह, बिल्ली आदि द्वारा जीविका करना या दास दासी रखकर उनसे भाडा आदि कार्य करना ९ **सर शोष–जीविका**—धान्य बोना, नहर आदि से पानी देना जिससे त्रस जीवो की विराधना हो १० **दावानल लगाकर जीविका करना ११ विष वाणिज्य करना १२ लाक्ष व्यापार १३ दन्त–वाणिज्य**–हाथी आदि के दांतो को मगवाना व व्यापार करना १४ **केश व्यापार**—पशुओं का व्यापार करना तथा उनके केश आदि का व्यापार करना १५ **रसवाणिज्य**—मक्खन, मधु, मद्य, अर्क, शर्बत आदि का व्यापार करना जिनमे हिंसा का दोष लगता हो।

इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों ने यह पन्द्रह प्रकार के ही खरकर्म माने है। किन्तु दिगम्बर जैन समाज में इस तरह की सख्या नियत नही मानी है। खर कर्म इनसे भी अधिक अगणित हो सकते हैं, जिन सभी का त्याग करना चाहिये। और ये सब तो हमारे द्वारा निर्दिष्ट त्रस घात या बहु स्थावर घात के त्याग मे ही अन्तर्गत हो जाते हैं अत त्याग हिसा का होना चाहिए जिसमे सभी प्रकार के खर कर्म आ जावे।

—※ अतिथि सम्बिभागव्रत नामा शिक्षाव्रत का स्वरूप ※—

"व्रतमतिथिसविभाग पात्रविशेषाय विधिविशेषेण।
द्रव्यविशेषवितरणं, दातृविशेषस्य फलविशेषञ्च ॥१॥

भावार्थ—जो दाता शास्त्रों मे कही गई विशेषविधि के अनुसार पात्र विशेष के लिए आगे निर्दिष्ट किये गये विशेष द्रव्य देता है उसको अतिथि सविभाग कहते है। अपने लिये तैय्यार किये निर्दोष भोजन मे से जो कुछ अतिथि के लिए दिया जाता है उसे भी अतिथि सविभाग कहते है, इसका पालन प्रतिदिन करने से इसकी व्रत सज्ञा है। भक्ति सहित फल की इच्छा के बिना, धर्मार्थ मुनि व आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि श्रेष्ठ पुरुषो को दान देना या और भी दूसरे प्रकार से शास्त्रो का जीर्णोद्धार करना, कराना या पुराने मन्दिर व पुरातन अतिशय सहित प्रतिमाओ का जीर्णोद्धार करना या आहारदान देकर दीन गरीब पशु पक्षी मनुष्यो का उपकार करना, औषधि देकर दुखी जीवो का उपकार करना या अभयदान देकर सुखी करना श्रावक का कर्त्तव्य है। **—श्रावको के दो मुख्य कर्त्तव्य**—भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने रयण सार मे श्रावक के लिये दो मुख्य निम्न-लिखित कर्त्तव्य बतलाये है।

"दाण पूजा मुक्ख, सावयधम्मेण सावया तेण विणा।
झाणज्झण मुक्ख, जइ धम्मे, ते विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥
जिणपूजा मुणिदाण, करेई जो देई सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठि सावय, धम्मी सो होई मोक्ख मग्गक्खो ॥ १२ ॥

अर्थ—श्रावक धर्म अनादि काल से जो प्रवर्त्तमान है उसमे दो वस्तु मुख्य हैं-एक तो मुनियो को आहार दान करना, दूसरा श्री जिनेन्द्र देवाधिदेव का प्रतिदिन पूजन करना। इन दोनो कर्त्तव्यो मे ही जैन धर्म है, इनके बिना जैन धर्म नही है। मुनि धर्म उसे कहते है जहा पर ध्यान और अध्ययन मिले। तात्पर्य यह है कि मुनि के लिये ध्यान अध्ययन मुख्य एवं आवश्यक है। इन दोनो मे मुख्य ध्यान और गौण अध्ययन है। जो श्रावक प्रतिदिन भगवान् अर्हन्त का पूजन करता है और द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की योग्यता-नुकूल मुनियो को आहार दान करता है वह नियम से सम्यग्दृष्टि श्रावक कहा जाता है।

और वह श्रावक मोक्ष मार्ग में रत होता हुआ परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। गृहस्थ के लिये देवता पूजन मुख्य है, अतः पूजा अर्हन्त देव की ही करनी चाहिए। रागद्वेष से रहित ही उपासनीय देव हो सकता है। अन्य की उपासना देव मूढता कहलाती है कहा भी है—

—* देवमूढता का स्वरूप *—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा ।
देवताः यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥ (रत्नकरण्ड श्रावका०)

अर्थ—आशा व तृष्णा के वशीभूत होकर किसी वर की प्राप्ति के निमित्त से राग और द्वेष आदि दोषो से मलीन देवताओ की जो उपासना पूजा और भक्ति की जाती है उसे देवमूढता कहते है। सम्यग्दृष्टिजीव अपने सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखने के लिये अर्हन्त के अतिरिक्त किसी भी देवता की न तो पूजा ही करता है और न उसे मानता है। क्योकि वह देव नही है. कुदेव मिथ्यादृष्टि एव ससार मे परिभ्रमण कराने वाले है। सम्यग्दृष्टि द्वारा वह किसी भी अवस्था मे पूज्य नही है। यही बात रत्नकरड श्रावकाचार मे भी कही गई है।

अर्थ—अपने वांछित होय ताकू वर कहिए। वर की वाछा करके आशावान् हुवा सता जो रागद्वेष करि मलिन देवताकू सेवन करै सो देवमूढता कहिये हैं। ॥ २३ ॥

भावार्थ—ससारी जीव है, वे इस लोक मे राज्य सम्पदा, स्त्री, पुरुष, आभरण, वस्त्र, वाहन, धन ऐश्वर्यनिकी वाछा सहित निरन्तर वर्ते है। इनकी प्राप्ति के अर्थि, रागी, द्वेषी मोही देवनिका सेवन करै सो देवमूढता है। जातै राज्यसुखसपदादिक तो सातावेदनीय का उदयतै होय है, सो सातावेदनीय कर्मकू कोऊ देनेकु समर्थ है नाही। तथा लाभ है, सो लाभान्तराय का क्षयोपशमतै होय है, अर भोग सामग्री उपभोग सामग्री का प्राप्त होना सो भोगोपभोग नाम अन्तराय कर्मका क्षयोपशम तै होय है। अर अपने भावनिकरि बाधे कर्मनिकू कोऊ देव देवता देनेकूं तथा हरनेकू समर्थ है नाही। बहुरि कुल की वृद्धि के अर्थि कुल देवीकू पूजिये है, अर पूजते-पूजते हू कुल का विध्वस देखिये है, अर लक्ष्मी के अर्थी लक्ष्मीदेवीकू तथा रूपया मोहरनिकू पूजते हूँ दरिद्र होते देखिये है। तथा शीतला का स्तवन पूजन करते हूँ सन्तान का मरण होते देखिये है। पितरनिकू मानते हू रोगादिक वधै है तथा व्यन्तर क्षेत्रपालादिकनिकू अपना सहायी माने है सो मिथ्यात्वका उदय का प्रभाव है बहुरि केतेक कहैं है जो चक्रेश्वरी, पद्मावती देवी ये शस्त्र धारण किये जिनशासन की रक्षक है तथा सेवक की रक्षा करने वाली एक-एक तीर्थ करनिकी एक २ देवी है, एक-एक यक्ष है, इनका आराधन करने, पूजनेतै धर्म की रक्षा होय है ये धर्मात्मा की रक्षा करै हैं, तातै इन देवनिका और यक्षनिका स्तवन करना, पूजन करना योग्य है। देवी समस्त कार्य के साधने वाली तीर्थंकरनिकी भक्त है, इस विना धर्म की रक्षा कौन करै, याहो तै मन्दिरनिकै मध्य

पद्मावती का रूप, जाके चारभुजा तथा वत्तीस भुजा अर नाना आयुधकरि युक्त अर तिनके मस्तक ऊपर पार्श्वनाथ स्वामी का प्रतिबिम्ब अर ऊपर अनेक फणनिका धारक सर्प का रूप करि बहुत अनुराग करि पूजे है सो सब परमागमतै जानि निर्णय करो। मूढलोकनिका कहिबो योग्य नाही। प्रथम तो भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवनि मे मिथ्यादृष्टि ही उपजै है। सम्यग्दृष्टि का भवनत्रिक देवनि मे उत्पाद ही नाही। अर स्त्रीपना पावै ही नाही सो पद्मावती चक्रेश्वरी तो भवनवासिनी अर स्त्रीपर्याय मे अर क्षेत्रपालादिक यक्ष ये व्यन्तर इनमे सम्यग्दृष्टि का उत्पाद कैसे होय? इनमे तो नियमते मिथ्यादृष्टि ही उपजै है। ऐसा हजाराबार परमागम कहै हैं। बहुरि जो इनके जिनधर्मसू प्रीति है, तो जिनधर्म के धारीनतै अपना पूजा वन्दना नाही चाहै। जैनी होय सो आपकूं अव्रती जानता सम्यग्दृष्टि से वन्दना पूजा कैसे करावे ? साधर्मी निका उपकार बिना कहै ही करै। बहुरि भगवान का प्रतिबिम्ब तो अपने मस्तक ऊपरि है। अर भगवान के भक्तनितै अपनी पूजा करावे, ऐसा अविनय धर्मात्मा होय सो कैसे करै? बहुरि अनेक आयुध धारण करि अपनी वीतराग धर्म मे प्रवृत्ति कूं बिगाड़े है। अर अपना असमर्थपना प्रगट दिखावे है तथा जिन शासन के रक्षक एक एक यक्ष यक्षिणी ही कैसे कहो हो! भगवान् के शासन के तो सौधर्म इन्द्रकू आदि लेय असख्यात देव दैवी समस्त सेवक है। अर जिनका हृदय मे सत्यार्थ धर्मतैं पूर्वकृत अशुभकर्म निर्जर गया होय, ताकै समस्त पुद्गल राशि अचेतन है सोहू देवकारूप होय उपकार करै है। देव, मनुष्य उपकार करै सो कहा आश्चर्य है। अर जैन शासन मे हूँ ऐसी केई कथा है जो शीलवान् तथा ध्यानी तपस्वीनिके धर्म के प्रसाद तैं देवनिकै आसन कम्पायमान भये, अर देव जाय उपसर्ग टाले। अर नाना रत्ननि करि पूजा करि, ऐसी कथा तो शासन मे बहुत है। अर ऐसी तो कहु कथा भी नाही जो धर्मात्मा पुरुष देवनिकू पूजे, अर पद्मावती चक्रेश्वरी की भी केई कथा है जो शीलवती व्रतवंतिनी की देव-देवियो ने पूजा करी, अर शीलवती, व्रतवती तो जाय कोऊ देव, देवी की पूजा करी नाही लिखी है तथा कार्तिकेय स्वामी कहे है :—

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणई उवयार।
उवयारं अवयारं कम्म पि सुहासुह कुणदि ॥ ३१९ ॥
भत्तीए पुज्जमाणो वितरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि एवं चिंतेहि सद्दिट्ठी ॥ ३२० ॥

अर्थ—इस जीव कूं कोऊ लक्ष्मी नाही देवे है, अर जीविका कोऊ उपकार अपकार करता देखिये है सो अपना किया शुभ-अशुभ कर्म करि करै है। बहुरि जो भक्ति करी पूजे व्यन्तर देव ही लक्ष्मी देवै, तो दान, पूजा, शील, सयम, ध्यान, अध्ययन, तपरूप समस्त धर्म काहेकूं करिये ? बहुरि जो भक्ति करि पूजे वन्दे कुदेव ही संसार के कार्य सिद्ध करेंगे तो

कर्म कछु बात ही नाही ठहरैं ! व्यन्तर ही समस्त सुख का-दायक रहै । धर्मका आचरण निष्फल रह्या ।

भावार्थ —जगत विषै इस जीवका जो देव, दानव, देवी, मनुष्य, स्वामी, माता,पिता बाधव, मित्र, स्त्री पुत्र तथा तिर्यञ्च तथा औषधादिक जो उपकार तथा अपकार करै है, सो समस्त अपने किये पुण्यकर्म पापकर्म तिनके उदय के आधीन करै है । ये तो समस्त बाह्य निमित्त मात्र है । देखिये है—भला करचा चाहै, उपकार किया चाहै है' अर अपकार होय जाय है । अर अपकार किया चाहै है उपकार हो जाय है । यातै प्रधान कारण पुण्य पापरूप कर्म है बहुरि शास्त्रनि मे कह्या है चाडाल के अहिसा व्रत का प्रभावतैं देवता सिहासनादि रचे, अर नीलीका शील के प्रभावतै देवता सहायी भये अर सीता के शील का प्रभावतै अग्निकुण्ड जलरूप होय गया, अर सेठ सुदर्शन का देव आय उपसर्ग टल्या, अर और हू केतेनिके सहायी देवता भये । उपसर्ग टाले, अर देवाका आसन कम्पायमान भये, अर देव, आय सहायी भये । ऐसी हजारा कथा प्रसिद्ध है । अर भगवान् आदीश्वर कै छह महीना अंतराय भोजन का भया तदि कोऊ देव आय काहूकू आहार देनेकी विधि नाही जनाई पहली तो गर्भ मै आने के छहमास पहली इन्द्रादिक समस्त देव भगवान् की सेवामै तथा स्वर्गलोकतै आहार, वस्त्र, वाहनादिक लावनेमे सावधान भये हाजिर रहते थे । ते सब देव कैसै भूल गये । तथा भरतादिक सौ पुत्रनिकू अर ब्राह्मी सुन्दरी पुत्रनिकूं मुनि श्रावक का समस्त धर्म पढाया ते हू विचार नाही किया जो भगवान् हू मुनि होय आहार के अर्थि चर्या करै है सो अन्तराय कर्मका मन्द हुआ बिना कौन सहायी होय ! तथा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव ये महा वीतरागी होय वनमै ध्यान करते थे तिनकूं दुष्ट बैरी आय आभरण अग्निमै लाल करि पहराय दीये अर जिनका चाम मासादिक भस्म होते हु कोऊ भी देव सहायी नाही भया तथा सुकुमाल महामुनि तिनकू तीन दिन पर्यंत श्यालिनी अपने बच्चानिसहित भक्षण करवो किया तहा कोऊ देव सहायी नाही भाये । अर जाकी माताका इतना ममत्व था जो शोकरुदनादिक सन्तापहीमैं लगी रही अर पुत्र कहा गया ऐसी खबर भी नाही मगाई । तथा पाचसै मुनिनिकू घानीमै पेल दिया तहा कोऊदेव सहायी नाही भया। तथा पद्म नाम बलभद्र अर कृष्ण नाम नारायण जिनकी पूर्वै हजारा देव सेवा करै थे जब हीनकर्म उदय आया अर पुण्य क्षीण भया तदि कोऊ देव पानी त्यायवे वाला एक मनुष्य हू नाही रह्या तथा जो सुदर्शनचक्रसू नाही मरया अर भीलका एक बाणतै प्राणरहित होय गया ऐसै अनेक ध्यानी,तपस्वी, व्रती,सयमी घोर उपसर्ग भोगे तिनका तो देव सहायी कोऊ नाही भये अर हरेकनिके सहायी भये तातै ऐसा निश्चय है जो अशुभकमका उपशम हुआ बिनाअर शुभकर्मका उदय बिन कोऊ देवादिक सहायी नाही होय है। अपना देह हीबैरी हो जाय है तथा

खरदूषणका पुत्र शबुकुमार महापुरुषार्थकरि द्वादशवर्षपर्यत बांसका बीडामैं सूर्यहास खड्गसिद्ध किया अर लक्ष्मण सहज ही लिया अर उसही खड्गसूं खरदूषणका पुत्र सबुकुमारका मस्तक छेद्या गया। अपना हितके अर्थि साधन करी विद्या आपहीका घात किया तातै पूर्वकर्मका उदयकरि अनेक उपकार, अपकार प्रवर्तै हैं। कोऊ देवादिक आराधन किये हुए धन आजीविका, स्त्रीपुत्रादिक देनेमै समर्थ नही है। बहुरि यहा प्रत्यक्ष ही देखो नगरका राजा समस्त देव-देवी पीर, पैगम्बर, स्वामी, फकीर समस्त मत का भेपी अर समस्त देव पुराण के पाठी नित्य यज्ञ, होम, पाठ करने वाले ब्राह्मणनिको बहुत आजीविका देवै है अर बडा सत्कार अर लक्षां रुपयाका दान दे है। अर बडा पूजा बलिदान सबकै पहुचै है तोहू सयोग वियोग, हानि, वृद्धि, जीत-हार के टालनेकू कोऊ समर्थ नाही है। तातै ऐसा निश्चय जानहु जो श्रद्धान नाही करकै भी अनेक देवदेवीनिकू आराधै है, पूजै है सो सब देवमूढता है बहुरि जो मन्त्रसाधन, विद्यासाधन, देवआराधन समस्त पाप-पुण्य के अनुकूल फले हैं, तातै जो सुखका अर्थी है ते दया,क्षमा, सन्तोष, निर्वाछकता, मन्दकषायता वीतरागता करि एक धर्महीका आराधन करो अन्य प्रकार वाछा करि पापबन्ध मतकरो अर जो देवनिका समागममैं ही प्रीति करो हो तो उत्तम सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र तथा शची इन्द्राणी तथा लौकातिकदेव-निका सगममैं बुद्धि करो। अन्य अधम देवनिका सेवन करि कहा साध्य है। बहुरि मिथ्या-बुद्धिकरि स्थापन करै और नित्य पूजन करै हैं तदि प्रथम तो क्षेत्रपाल का पूजन करै है अर क्षेत्रपाल पूजन किया पाछै जिनेन्द्रका पूजन करै है अर ऐमी कहै है जैसै पहली द्वारपालका सन्मान करके पीछे राजा का सन्मान करना द्वारपाल बिना राजसौ कौन मिलावै तैसै क्षेत्रपाल बिना भगवान् का मिलाप कौन करावै? जिन मूढनि के ऐसा विचार नाही जो भगवान् तो मोक्षमे है भगवान् परमात्मा का स्वरूपकूं यो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कैसै जानेगा अर कैसै मिलावैगा! अर विघ्नकू कैसै विनाशैगा। आपका विघ्न ही नाश करनेकू समर्थ नाही सो विचार रहित मिथ्यादृष्टि लोक क्षेत्रपालाका महाविपरीत रूप बनाय वीतराग के मन्दिर मै प्रथम स्नान करै है जाका हस्त मैं मनुष्यका कटा मूड अर गदा खड्ग अर कूकरा वाहन करि सहित स्थापन करि तैल गुडका भक्षणतै क्षेत्रपाल प्रसन्न होय है ऐसै लोकनिकू बहकाय पूजै है अर इनका पहिली दर्शन पूजन स्तवन करै है सो मिथ्या-दर्शन अर कुज्ञानका प्रभाव जानहु। बहुरि पार्श्वजिनेन्द्रकी प्रतिमाके मस्तक ऊपरि फण विना बनावै ही नाही अर भगवान् पार्श्व अरिहन्त के समवसरण मैं धरणेन्द्रका फण मस्तक ऊपर कैसै सभवै। धरणेन्द्र तो भगवान् के तपके अवसर मैं फणामण्डप किया था सो फेर फणामण्डपका प्रयोजन नाही अर पार्श्वजिनेन्द्र अरहन्त भये अर इन्द्रकी आज्ञातै कुवेर समोसरण रच्यो तहा भगवान् फणसहित नाही विराजे हुते चारनिकाय के देव

मनुष्य तिर्यंच धर्मश्रवण स्तवन वन्दना करते ही तिष्ठें यातै स्थापनाविषै अर्हन्तकी प्रतिबिबनिके फरा कैसें सभवैं। वीतरागमुद्रा तो ऐसे सम्भवै नाही परन्तु कालके प्रभावतै धरणेन्द्र की प्रभावना प्रगट करनेकू लोक विपरीत कल्पना करने लगि गये सो कौन दूर करि सकै। जैसै पाषाणमय भगवान् का प्रतिबिब महा अंगोपांग सुन्दरताके कर्णनिकू मस्तक की रक्षा के अर्थि लम्बा करि स्कन्धसौ जोड देहै तिनकौ देखि समस्त धातु के प्रतिबिबन के भी वर्ण स्कधसौ जोड देहै सौ देखा देखी चल गई। तैसे ही अर्हन्त प्रतिबिबनि के ऊपरि फणका आकार करते लोकनिकूं देखि तत्त्वकू समझे बिना फरा करने की प्रवृत्ति चल गई सो फणके करदेनेतै प्रतिमा तो अपूज्य होय नाही क्योंकि चार प्रकार के समस्त ही देव सर्व तरफतै सदैव ही भगवान्का सेवन करै है। अर जो फणामण्डप करनेतै ही धरणेन्द्रकू पूज्य मानै सो देवमूढता है। ऐसै अनेक प्रकारकरि देवमूढता है तथा गणेश हनुमान योनि लिग चतुर्मुख षट्मुख का रूप देवत्वरहित प्रगट असभव तिर्यंचरूपकू देव मानना बड पीपलादि वृक्षनिकूं, नदीकूं, जलकूं अग्निकू, पवनकू, अन्नकू, देव मानना सो समस्त देवमूढता है। यही बात मोक्षमार्ग प्रकाश मे भी कही गई है — —* **सूर्यचन्द्रमादि ग्रह पूजा प्रतिषेध** *—

बहुरि सूर्य चन्द्रमा ग्रहादिक ज्योतिषी है, तिनको पूजे है सो भी भ्रम है। सूर्यादिक को परमेश्वर का अश मानि पूजे है। सो वाके तो एक प्रकाश का ही आधिक्य भासै है। सो प्रकाशवान् अन्य रत्नादिक भी हो है। अन्य कोई ऐसा लक्षण नाही जातै वाको परमेश्वर का अश मानिए। बहुरि चन्द्रमादिक को धनादिक की प्राप्ति के अर्थि पूजे है। सो उनके पूजनै तै ही धन होता होय, सो सर्व दरिद्री इस कार्य को करै। तातै ए मिथ्याभाव है। बहुरि ज्योतिष के विचार तै खोटा ग्रहादिक आए तिनिका पूजनादि करै है, वाके अर्थ दानादिक दे है। सो जैसे हिरणादिक स्वयमेव गमनादि करै है, पुरुष के दाहिने बावे आए सुख दु ख होने का आगामी ज्ञान को कारण हो है किछू सुख दु ख देने मे समर्थ नाही। तैसें ग्रहादिक स्वयमेव गमनादि करैं है। प्राणी के यथासभव योग को प्राप्त होते सुख दु ख होने का आगामी ज्ञान को कारण हो है, किछु सुख दु ख देने को समर्थ नाही। कोई तो उनका पूजनादि करै, ताकै भी इष्ट न होय, कोई न करे ताकै भी इष्ट होय, ताते तिनिका पूजनादि करना मिथ्याभाव है।

यहां कोऊ कहै—दान तो पुण्य है, सो भला ही है। ताका उत्तर-धर्म के अर्थि देना पुण्य है। यहु तो दुःख का भय करि वा सुख का लोभकरि दे है, तातै पाप ही है। इत्यादि अनेक प्रकार ज्योतिषी देवनिको पूजै है, सो मिथ्या है। बहुरि देवी दिहाडी आदि है, तेकेई तो व्यन्तरी वा ज्योतिषीनी है, तिनका अन्यथा स्वरूप मानी पूजनादि करै है। केई कल्पित है, सो तिनकी कल्पना करि पूजनादि करे है। ऐसे व्यन्तरादिक के पूजने का निषेध किया

यहां कोऊ कहै– क्षेत्रपाल दिहाडी पद्मावती आदि देवी यक्ष यक्षिणी आदि जे जिनमत को अनुसरै है, तिनके पूजनादि करने मे तो दोष नाही। ताका उत्तर–जिनमत विषै सयम धारे पूज्यपनो हो है। सो देवनिके सयम होता ही नाही। बहुरि इनको सम्यक्त्वी मानि पूजिए है, सो भवनत्रिक मे सम्यक्त्व की भी मुख्यता नाही। जो सम्यक्त्व करि ही पूजिए तो सर्वथा सिद्धि के देव, लौकातिकदेव तिनकोही क्यो न पूजिए बहुरि कहोगे इनके जिन भक्ति विशेष है। सो भक्ति की विशेषता भी सौधर्म इन्द्र के है, वह सम्यग्दृष्टि भी है। वाको छोरि इनको काहे को पूजिए। बहुरि जो कहोगे, जैसे राजा कै प्रतिहारादिक है, तैसे तीर्थङ्कर के क्षेत्रपालादिक है। सो समवसरणादिक विषै इन्हिका अधिकार नाही। यह झूठी मानि है बहुरि जंसे प्रतिहारादिक का मिलाया राजास्यो मिलिए, तैसे ये तीर्थङ्कर को मिलावतै नाही वहा तो जाके भक्ति होय सोई तीर्थङ्कर का दर्शनादिक करो, किछू किसी के आधीन नाही। बहुरि देखो अज्ञानता, आयुधादिक लिए रौद्रस्वरूप जिनका, तिनकी गाय गाय भक्ति करे। सो जिनमत विषै भी रौद्ररूप पूज्य भया, तो यहु भी अन्य मत ही के समान भया। तीव्र मिथ्यात्वभाव करि जिनमत विषै ऐसी ही विपरीत प्रवृत्ति का मानना हो है। ऐसे क्षेत्र-पालादि को भी पूजना योग्य नाही।

विशेष—वर्तमान मे और भी विचारणीय बात है कि भगवान् पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालक थे। १८,००० शील के दोषो से रहित थे वे पद्मावती देवी के शीश पर कैसे शोभा पाते है? स्त्री पर्याय को तीर्थङ्कर कैसे छू सकते है, कभी नही। पद्मा-वती देवी के भक्त अन्ध श्रद्धानियोने इमको पुजाने के लिए पद्मावती की मूर्त्ति पर भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्त्ति को बनाई है यह सब अज्ञानता का लक्षण है। कालदोष के प्रभाव से यहा तक अज्ञानता चल रही है कि पद्मावती चक्रेश्वरी की मूर्त्ति की भगवान् तीर्थङ्करो की मूर्त्ति के बराबर थाल मे विराजमान कर अभिषेक पूर्वक अष्ट द्रव्य से पूजा करने लग गये है सो यह सब भगवान् तीर्थङ्करो का अविनय है। यह घोर मिथ्यात्व है।

यक्षयक्षिणी आदि देवो देवताओ की उपासना कोई फल दायक नही

शंका—जैन शासन मे जो क्षेत्रपाल यक्ष यक्षिणी आदि देव देविया हैं वे तो जिन धर्म के उपासक लोगो की रक्षा करती हैं। फिर आप इनकी पूजा का निषेध क्यो करते हो? आदि पुराण मे ऐसा वर्णन मिलता है कि नमि विनमि कुमार को धरणेन्द्र ने विज-यार्ध पर्वत की दक्षिण और उत्तर श्रेणी का राज्य दे दिया।

उत्तर— नमि और विनमि कुमार ने भगवान् ऋषभ देव से ही भोले भावो से जाकर प्रार्थना की थी, धरणेन्द्र की उपासना नही की थी। आदिनाथ स्वामी की भक्ति करने से ही धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ और भगवान् के पास नमि विनमी कुमार

भक्ति सेवा कर रहे हैं और भोले पन से राज्य की याचना कर रहे है–ऐसा अवधि ज्ञान से विचार कर वहाँ पर आया। उन दोनों को अपने कधे पर चढाकर लेगया और भगवान की भक्ति करने से प्रसन्न होकर उनको विजयार्ध पर्वत की दक्षिण एव उत्तर श्रेणी के विद्याधरो का राजा बना दिया। पर इससे वह उपासनीय नही हो सकता।

— शासन देवताओं की पूजा का निषेध —

शासन देवताओ के पूजन का कथन किसी ग्रन्थ मे नही मिलता है। निषेध अनेक ग्रन्थो मे मिलता है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है —

"जं जस्स जम्मि देसे जेण बिहारोण जम्मि कालम्मि।
णाद जिणेण णियदं जम्मं वा अह् व मरण वा॥ ३२१॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि
को सक्कई चालेदुँ इ दो वा अहजिणदो वा॥ ३२२॥
एव जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व पज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो सकदि सो हु कुदिट्ठी॥ ३२३॥

अर्थ—यहा कोई पुरुष यह समझे कि ससार मे जिन शासन देव रक्षक है यह उनका भूल है। भाग्योदय ही प्रधान है। कोई देव जिन शासन का क्षेत्रपाल पद्मावती यक्ष यक्षिणी धरणेन्द्र तथा देविया श्रीह्लीधृति आदि एवं रागी द्वेषी होकर देव कहलाने वाले या व्यन्तर भूत प्रेतादि किसी का कुछ नही कर सकते है। उनकी किसी को कुछ भी देने की सामर्थ्य नही है भाग्य मे ही सब सामर्थ्य है। अनेक भोले प्राणी यह समझते है कि अमुक देव हमको धन संतान देकर या शाति पौष्टिक जय जीवन आदि कार्य करके उपकार कर सकते है एवं रुष्ट होने पर हमको दरिद्री बना सकते है, सतान नष्ट कर सकते है, जय एव पराजय भी प्रसन्न एव रुष्ट होकर करने की सामर्थ्य रखते है। यह सब समझना उनकी भूल है। ये देव न तो किसी का कुछ उपकार ही कर सकते है और न किसी का अपकार कर सकते है। जो कर्म पूर्व बंध चुके है वेही उदय मे आवेगे और तदनुसार फल भोगना होगा। यह ही दृढ एव अटल शास्त्रकारो का सिद्धान्त है। सम्यग्दृष्टि जीव दान करते है और उससे ही भविष्य मे प्राप्ति की आशा करते हैं। वे जानते है कि जो पूर्व भव मे हमने दान दिया है उसका फल हम अब भोग रहे है और जो अब कुछ दान करेगे एव पुण्य करेंगे उसका फल आगे भोगेंगे। व्यन्तर आदि देव ही सन्तान धन आदि देने की सामर्थ्य रखते तो ससार मे फिर दान और पुण्य लोग क्यो करते! इस से मालुम होता है कि भाग्य ही एव पूर्व सचित पुण्योदय ही सम्पत्ति आदि के देने की सामर्थ्य रखते है। कोई देव कुछ नही कर सकते। जिस जीव का जिस देस मे जिस काल मे जिस प्रकार जन्म, मरण, सुख-दुख, रोग, योग-वियोग, ताप आक्रन्दन

आदि होना है उस देश में उस काल में उसी विधान से अवश्य होगा, टल नही सकता है। व्यन्तर विचारे क्या कर सकते हैं। उनकी शक्ति यहां कुछ नही कर सकती है। जैसा भाग्य मे तथा सर्वज्ञ के ज्ञान मे प्रतीत हुआ है वैसा ही होगा। उसको मिटाने को या टालने को इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती तथा तीर्थङ्कर जिनेन्द्र भगवान् भी समर्थ नही हो सकते हैं और लोगो की तो क्या बात एव शक्ति है। उल्लिखित प्रकार निश्चय से सर्व द्रव्य-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनको तथा इनकी पर्यायो को सर्वज्ञ के आगम के अनुसार जानता है श्रद्धान करता है सो श्रावक सम्यग्दृष्टि है। जो भगवान् के वचनो मे सदेह करता है एवं अर्हन्त देवको छोडकर कुदेव रागी द्वेषी देवो की पूजा भक्ति सेवा एव उपासना करता है वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसा जैनाचार्यो का मन्तव्य है। **कर्मों की प्रधानता के उदाहरण**—आगे एक श्री रामचन्द्र बलभद्र का दृष्टान्त देते है।

"कर्मणो हि प्रधानत्व, किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहा।
वशिष्ठदत्तलग्नश्च, राम. किं भ्रमते वनम् ॥ १ ॥"

अर्थ—वशिष्ठजी एक अच्छे ज्योतिषी एवं योगी थे। उन्होने रामचन्द्रजी के लिये बड़े २ अच्छे ग्रह देखकर मुहूर्त्त निकाला था। किन्तु वे शुभ ग्रह कुछ भी न कर सके। भाग्योदय आनकर अड़ गया। उनको वन मे जाना पडा, घर पर भी न रह सके। भाग्य एवं कर्म ही प्रधान है। रामचन्द्रजी बलभद्र थे। उनके देव सेवक थे। उन्होने उस समय उनको राज गद्दी क्यों नही दिलादी। इसमे पता चलता है कि भाग्य ही सुख दु ख का दाता है। देवताओ की शक्ति किसी के उपकार करके वृद्धि करने की या अपकार कर के ह्रास करने की नही है।

एक और भी उदाहरण देखिए-जब सुभौम चक्रवर्ती के पुण्य का उदय था उस समय उसके पास नवनिधि और चौदह रत्न जिनके कि प्रत्येक के एक २हजार अर्थात् २३००० तेईस हजार देव रक्षक थे। इसके अतिरिक्त ५ म्लेच्छ खण्ड की विभूति तथा एक आर्य खण्ड की विभूति इस प्रकार छह खण्ड की विभूति के स्वामी थे, अनेक मण्डलेश्वर राजा सेवा करते थे। अनेक देवता भी सेवक थे किन्तु जब पाप का उदय आया तब एक क्षुद्र व्यन्तर देवता जो पूर्व जन्म का वैरी था, उसके उपद्रव से सब दब गये एव पाप के उदय के कारण कोई बल न चला। किसी ने भी रक्षा न की और जब तक पुण्य का उदय था तब तक वह व्यन्तर भी कुछ न विगाड़ सका जब पाप का उदय आया, सब सम्पत्ति नष्ट हो गई और बुद्धि भी इतनी भ्रष्ट हो गई कि नरक मे जाना पड़ा। तात्पर्य यह है पुण्य ही प्रधान है। वह ही रक्षा कर सकता है। उसी का सचय करना चाहिये। इसके अनेक उदाहरण विद्यमान है।—

—※ कर्मोदय साधु एवं तीर्थंकर को भी नहीं छोडता ※—

मुनियों के राग द्वेष नही होता। चतुरनिकाय के देव भी उनकी पूजा एव भक्ति करते है, किन्तु जब पाप कर्म का उदय आता है तो उनके उदय को भी कोई नही टाल सकता। एक समय राजा दण्डक ने ५०० (पाच सौ) मुनियो को घाणी मे पिलवा दिया, देव कुछ न कर सके। उनका अवधि ज्ञान कहा चला गया था! हस्तिनापुर मे अकम्पनाचार्य के ऊपर जो घोर उपसर्ग हुआ उस समय भी देवता कुछ न करसके। कहा जाकर सो गये। भगवान् ऋषभ देव को १३ माह तक आहार न मिला। उस समय देवता कुछ न कर सके क्योकि भाग्य मे ऐसा ही था। उन्होने पूर्व भवमे १ मुहुर्त तक पशुओ के मु ह छिक्के लगवाये थे। उसका फल उनको अवश्य १३ मास तक आहार का न मिलना भोगना ही था। देवता कैसे टाल सकते थे। इस आख्यान से समझ लेना चाहिये कि देव पुरातन कर्म के उदय को नही टाल सकते। जीव को पूर्व कर्मानुसार सुख दु ख अवश्य भोगना पडेगा। अत पुण्य का सचय करना श्रेयस्कर है।

—※ सम्यग्दर्शन की महिमा ※—

"सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्त स्वर्गाय महाव्रतयुक्त मोक्षाय" (चारित्र सार पृ ३)

"विद्यावृत्तस्य संभूति, स्थितिवृद्धिफलोदया। न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव॥

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपु सकस्त्रीत्वानि, दुष्कृतविकृताल्पायुर्दरिद्रता व्रजन्ति नाप्यव्रतिका:

ओजस्तेजो विद्या, वीर्ययशोवृद्धि विजय विभवसनाथा। महाकुला महार्था, मानवतिलका — भवन्ति दर्शनपूता॥ ३६॥ अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टा।

अमराप्सरसा परिषदि, चिर रमन्ते जिनेन्द्रभक्ता स्वर्गे॥ ३७॥

नवनिधिसप्तद्वय,रत्नाधीशा सर्वभूमिपतयश्चक्र।

वर्तयितु प्रभवन्ति, स्पष्टदृश क्षत्रमौलिशेखरचरणा॥ ३८॥

अमरासुरनरपतिभि,र्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।

दृष्ट्यासुनिश्चितार्था, वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्या॥ ३९॥

शिवमजरमरुजमक्षय,मव्याबाध विशोकभयशकम्।

काष्ठागतशुखविद्या, विभव विमल भजन्ति दर्शनशरणा.॥ ४०॥

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमान, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।

धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोक, लब्ध्वा शिव च जिनभक्तिरुपैति भव्य॥४१॥ (र श्रा)

अर्थ—अणुव्रत से युक्त सम्यग्दर्शन स्वर्ग की सम्पत्ति को देता है और महाव्रत से सयुक्त सम्यग्दर्शन मोक्ष के सुख को देता है। जिस प्रकार बिना बीज के वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और फल का उदय नही होता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी बीज के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी वृक्ष की उत्पत्ति नही होती, एव बिना सम्यग्दर्शन के

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की स्थिति भी नही होती एवं वृद्धि भी नही हो सकती और स्वर्ग या मोक्ष रूपी फल भी नही मिल सकता। भगवान् अरहन्त देव की पूजा सम्यग्दर्शन के उत्पन्न करने के लिये बीजभूत है। और सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि एवं स्वर्ग और मोक्ष रूपी फल को प्राप्त कर सकते हैं। अतः जिनेन्द्र देव की पूजा का ही भव्य प्राणियो को अवलम्बन करना चाहिये। यक्ष यक्षिणी आदि शासन देवो की पूजा करके मिथ्यात्व की पुष्टि नही करनी चाहिये। यदि प्राणी शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित व्रत ग्रहण कर लेता है तो मरकर नरक गति, तिर्यञ्चगति, विकलत्रय में नही जाता है और स्त्री तथा नपु सक पर्याय को भी प्राप्त नही करता है नीच कुल एवं विकल अङ्ग, अल्प आयु तथा भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवपने को एवं दरिद्रता को प्राप्त नही करता है।३५। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव कान्ति, प्रताप,विद्या, वीर्य कीर्ति,कुल,वृद्धि, विजय और बड़ी सम्पत्ति को प्राप्त करते है। वे उच्च कुल में जन्म लेकर मनुष्यो के शिरोमणि वडे २ प्रतापी होते हैं। ३६। जिनेन्द्र देव के भक्त सम्यग्दृष्टि जीव अणिमादि अष्ट ऋद्धियो के स्वामी एवं देवागनाओ के सुख के भोगने वाले स्वर्ग मे देव होते है।३७।

—※ अष्टऋद्धियां ※—

१. **अणिमा**—शरीर को इच्छानुसार छोटा बना लेना। २ **महिमा**—शरीर को इच्छानुसार बडा बना लेना। ३. **लघिमा**—शरीर को इच्छानुसार हलका बना लेना। ४-**गरिमा**—शरीर को इच्छानुसार भारी बना लेना। ५. **प्राप्ति**—अपने शरीर को जहा चाहे वहां पहुचा देना। ६. **प्राकाम्य**—अपने शरीर को लेकर गुप्त हो जाना, एव किसी से रुकावट को प्राप्त नही करना। ७. **ईशित्व**—सब का स्वामित्व प्राप्त कर लेना। ८. **वशित्व**—जिसको चाहे उसे अपने आधीन कर लेना एवं अपने वश में कर लेना। सम्यग्दृष्टि जीव समस्त ससार मे उत्कृष्ट भोगो का पूर्ण स्थान, समस्त पृथ्वी का स्वामित्व रूप बडे बड़े मुकुट धारी नृपतियो से वन्दनीय चक्रवर्ती पद प्राप्त करते हैं। इस पद से ससार मे उच्च पद दूसरा नही है। चक्रवर्ती की आज्ञा मे देव विद्याधर एव भूमिगोचरी राजा रहते हैं। **उनके नौनिधियां और** चौदह रत्न होते है जिनके एक २ हजार देवता रक्षा करते हैं। क्रमशः नव निधियों का तथा चौदह रत्नो के नाम तथा सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

"रक्षितयक्षसहस्त्रा', कालमहाकालपाण्डुमानवशंखा:।
नै सर्पपास्यपिंगल, नानारत्नाश्च नवनिधय.॥ १॥
ऋतुयोग्यवस्तुभाजन, धान्यायुधतूर्यहर्म्यवस्त्राणि।
आभरणवस्त्रनिकरा, ननुक्रमेण निधय. प्रयच्छन्ति॥ २॥

चक्रं छत्रमसिर्दण्डो मणिश्चर्म च काकिणी ।
गृहसेनापतिस्तक्षः, पुरोधोऽश्वगजास्त्रियः ।। ३ ।।

अर्थ—जिनकी एक २ हजार यक्ष सेवा करते है ऐसे चक्रवर्ती के पास नवनिधि तथा चौदहरत्न होते है । नवनिधिया ये है— १ कालनिधि–ऋतु के योग्य वस्तु देती है । २ महाकालनिधि–वर्तन देती है । ३ पाण्डुनिधि–सब प्रकार के धान्य देती है । ४ मानवनिधि—तलवार बरछी आदि अनेक प्रकार के शस्त्रो को देती है । ५ शखनिधि—अनेक प्रकार के वादित्रो को देती है । ६ नैसर्पनिधि–महल मकान को देती है । ६ पास्यनिधि–रेशमी सूती आदि सब वस्त्र देती है । ८ पिंगलनिधि—मुकुट-कु डल केयूर आदि अनेक प्रकार के आभरण देती है । ९ नानारत्ननिधि—हीरा पन्ना माणिक आदि अनेक प्रकार के रत्नो को देती है । अब चक्रवर्ती के चौदह रत्नो का वर्णन करते है । १४ रत्नो मे सात रत्न चेतन होते है । और सात अचेतन होते है । चेतन रत्न ये है । १ गृहपति २ सेनापति ३ शिल्पकार ४ पुरोहित ५ अश्व ६ गज और ७ स्त्री (पट्टरानी) इन सब की एक २ हजार देव अर्थात् इन सातो की ७००० देव रक्षा करते है । सात अचेतन रत्न ये है —१ चक्र २ छत्र ३ असि (तलवार) ४ दण्ड ५ मणि ६ चर्म ७ काकिणी मणि (रत्न) ये सात अचेतन है । इस सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से यह जीव धर्म चक्र को धारण करने वाला तीर्थकर परम देव हो जाता है, जिनके चरण कमलो को स्वर्ग के देवो के स्वामी इन्द्र तथा नरेन्द्रो के भी स्वामी चक्रवर्ती और यतियो के स्वामी गणधर देव भी नमस्कार करते है । (हिसा आदि पाच पापो को मन वचन और काय से त्याग करने का नाम यम है और यम को धारण करने वाले मुनिराज कहलाते है और उनके स्वामी यमधर स्वामी गणधर कहलाते है । इस कारण यहा पर यमधर स्वामी का अर्थ गणधर लिया गया है ।)

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की विशुद्धता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदका दाता तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है । वे तीर्थङ्कर समस्त ससार के शरणभूत होते है एवं उनसे अनेक भव्य जीवो का कल्याण होता है । क्योकि उनके उपदेश द्वारा अनेक प्रकार के दु खो के कारण भूत कर्मो को लोग दूर करने मे समर्थ होते है । ऐसे तीर्थङ्कर ही ससारी जीवो के पूजनीय है, एवं उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये । अन्य कुदेवो की नही ।।३९।।

जो जीव ससार के दु खो से भयभीत होकर सम्यग्दर्शन की उपासना करते है और उसमे किसी प्रकार का दोष न लगाकर निर्मलता से पालते है, वे जीव अनादिकाल की कर्म पक्ति को नाश कर जिसमे अविनश्वर सुख है ऐसी मोक्ष पदवी को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते है । मोक्ष मे आधि, व्याधि, जन्म, मरण, जरा आदि का भय नही है और सदा अनत

चतुष्टय अर्थात् १ अनन्त दर्शन २ अनन्त ज्ञान ३. अनन्त सुख ४. और अनन्त वीर्य रहता है। वहा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म तीनो कर्मो मे से कोई कर्म भी बाकी नही रहता सब का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। ऐसा मोक्ष यह ससारी जीव सम्यग्दर्शन से ही प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष मुख अनेक प्रकार के चारित्र व तपश्चरण करने से भी मुनि लोग प्राप्त नही कर सकते। जो सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र व तपश्चरण मात्र करते हैं वे ससार मे ही भ्रमण करते रहते है, मोक्ष प्राप्त नही कर सकते, एव मुक्त नही हो सकते। ४०। भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति करने वाले एव शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले भव्यजीव इस सम्यग्दर्शन से अनेक देवो से पूज्य इन्द्र पद को, और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओ से नमस्कृत ५ म्लेच्छ खण्ड तथा १ आर्य खण्ड इस तरह ६ खण्ड के आधिपत्य अर्थात् चक्रवर्ती पद को, तथा तीन लोको के जोवो से पूजनीय तीर्थङ्कर पदवी को भी प्राप्त करते है। ये तीर्थङ्कर धर्म चक्र के स्वामी होते है। ४१। सदा शास्त्रो ने निवृत्ति मार्ग की प्रशसा की है। व्रती का आसन सर्वदा ऊँचा, मान्य और पूज्य रहा है। अहिसा-णुव्रत पालने मात्र से ही यमपाल चाण्डाल तक की भी देवो द्वारा तथा राजाओ के द्वारा पूजन का आख्यान पाया जाता है। विचारने की बात है कि जब चाडाल भी व्रत के कारण पूज्य हुवा तो श्रावक की तो क्या बात है। अत सदा निवृत्तिमार्ग पर आरूढ अरहत भगवान् की पूजन ही करनी चाहिये, प्रवृत्ति मार्गी एव ससार मे भ्रमण कराने वाले शासन देव या कुदेवो की पूजन कभी भी नही करनी चाहिये।

मिथ्यात्व के अभिवर्धक कारण .— जैनो मे बहुत से मिथ्यात्व के अभिवर्धक कारण चल पड़े है उनको छोडना चाहिए। उनमे से कुछ यहा लिखते है—

**"सूर्यार्घो ग्रहणस्नान, सक्रांतौ द्रविणव्यय। सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो, देहगेहार्चनाविधि ॥
गोपृष्टान्तनमस्कार, स्तनमूत्रस्य निषेवणं। रत्नबाहनभूवृक्ष, शस्त्रशैलादिसेवनम् ॥"**

अर्थ—प्रतिदिन सूर्य के लिये अर्घ देना, चन्द्र ग्रहण अथवा सूर्य ग्रहण मे भिखारियो को अन्नादि देना। सूर्य लगभग १ राशिको एक मास मे पूर्ण करता है। जिस राशि पर सूर्य जाता है उसको उसी राशि के नाम सहित सक्रान्ति कहते है। प्राय लोग जब सूर्य मकर राशि पर जाता है तब मकर राशि सक्रान्ति का महत्व मानकर दान देते है, उसे यहां सक्रान्ति पर धन व्यय करना अर्थात् दान देना ऐसा कहा है। ये सब बाते लोक मूढता मे है और मिथ्यात्व की बढाने वाली हैं, अत सब त्याज्य हैं। एव जैन धर्म से तथा वास्तविक तात्त्विक दृष्टि से सर्वथा विरुद्ध है। त्रिकाल सध्या करना, आचमन करना, तर्पण करना, अर्घ देना, अग्नि हाथी घोडा, गाय, बैल व मनुष्यो तथा देहली चूल्हा परेडा एव गाय की पूछ को नमस्कार करना, गोमूत्र को मस्तक पर चढ़ाना, रत्न, वाहन, सवारी

पृथ्वी, वृक्ष, खेडी, तलवार, पर्वत, गंगा, सिन्ध, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, काबेरी मरयू, महेन्द्रसुता, चर्मवती, वैतिका, क्षिप्रा, वेतवती, सुरनदी, गल्लिका, पूर्णा आदि नदियो के जल से स्नान करने मे पुण्य मानना । ब्रह्मा पुष्कर, विष्णु पुष्कर, शिव पुष्कर, तथा और भी जलाशयो मे स्नान करना और अपने शरीर के मल की अपेक्षा न रखते हुए तीर्थ स्थानो मे तथा नदी समुद्र जहा मिले वहा पर स्नान करने से पापो का नाश मानना ये सब लोकमूढता है । पाप और पुण्य बुरे और भले कार्यो से हो होता है । अत विवेक पूर्वक असद् कार्य को छोडकर सत्कार्य मे प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

—* विभूतिधारी होने से ही कोई देव नहीं हो सकता *—

"देवागमनभोयान, चामरादिविभूतय । मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान् ।।

तात्पर्य—उल्लिखित पद्य परीक्षा-प्रधानी स्वामी समन्तभद्राचार्य का है। इसको उन्होने उस समय कहा है जबकि वे आप्त कौन हो सकता है, इसकी परीक्षा कर रहे है । भगवान् को सम्बोधन करते हुए आचार्य कहते है कि हम आपको इन चामरादि की विभूतियो से या आपकी उपासना के लिए देवो के आगमन से बडा कदापि मानने को तैयार नही है । क्योकि यह हेतु उभयाश्रयी है। अर्थात् देवागमन तथा चामरादि को विभूति तो जो मायावी एव अन्य देव हैं उनमे भी देखी जाती है । हम परीक्षा प्रधानी हैं । कसोटी पर कसे जाने पर ही किसी को देवता मान सकते है । केवल आगम प्रमाण से प्रमाणता नही मानते है । जब अनुमानादि प्रमाणो द्वारा पदार्थ की सिद्धि हो जावेगी तो आगम की भी प्रमाणता मान लेगे । अनुमान के प्रमाण होने पर प्रत्यक्ष एव आगम प्रमाणता को सब ही तार्किक स्वीकार कर लेते है । दूसरी बात यह है हमे अभी आगम प्रणेता की परीक्षा अभीष्ट है । आगम प्रणेता की यदि आप्तता सिद्ध हो जावेगी तो उनका बताया आगम भी प्रमाण कोटि मे आसकता है और जब तक आप्त ही साध्य कोटि मे है उससे प्रथम तत्प्रणीत आगम कैसे सिद्ध एव प्रमाण कोटि माना जाये ? धर्मी के सिद्ध होने पर धर्म का विचार हुआ करता है । इसी प्रकार आप्त की सिद्धि पर आप्तागम की सिद्धता निर्भर है । भगवान् समन्त भद्र ने विभूत्ति एव प्रवृति मार्ग प्रवर्तक की आप्तता एव सर्वज्ञता तथा उसका कल्याणकारी देवपना स्वीकार नही किया है, उन्होने वीतरागता एव दोषो तथा कर्मों के क्षय कारकता से देवत्व स्वीकार किया है । जैसा कि आगे कहा है ।

"दोषावरणयोर्हानि नि शेषास्त्यतिशायनात्, क्वचित यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय ।।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा कस्यचित्य था, अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति ।।

अर्थात्–जिसके दोष-रागद्वेषादिक की नि शेष हानि होगई हो तथा ज्ञानवरणादिक कर्म का सर्वथा एव नि शेष रूप से निवाश होगया हो, वह ही आप्त सर्वज्ञ सच्चा देव हो

सकता है और उसी पुरुष के सूक्ष्म-परमाणु आदि अन्तरित एवं दूरार्थक मेरु पर्वत इत्यादि के प्रत्यक्ष का सभव हो सकता है। अतः वह ही पूज्य एव वंदनीय आप्त तथा सर्वज्ञ है, अन्य नही हो सकता। तात्पर्य यह निकला कि अन्य कुदेव तथा शासन देव रागी द्वेषी दोषो से भरपूर है। अत सम्यग्दृष्टि से वंदनीय नही है अर्हन्त देव को छोडकर अन्य देवो की उपासना करना मिथ्यात्व है। और ससार मे मिथ्यात्व के समान जीव का अपकार करने वाला अन्य नही है।

—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की विशेषता—

'न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनुभृताम् ॥ ३४ ॥ (रत्नकरण्ड श्रा)

अर्थ—ससार मे तीनो लोको और तीनो कालो मे सम्यक्त्व के समान उपकारी अन्य कोई पदार्थ नही है और मिथ्यात्व के समान अन्य अपकारी कोई पदार्थ नही है।

—* शासन देवता समर्थक ग्रन्थो की अप्रमाणकता *—

जिन ग्रन्थो मे शासन देवो की पूजन का विधान मिलता है वे सब उदर पोषक भट्टारकादि प्रणीत है। इस कारण उनसे बचना चाहिये। आर्ष प्रणीत ग्रन्थो मे न तो शासन देवताओ की पूजन का विधान है और न हो हो सकती है। क्योकि जैन धर्म मे देव का विशेषण वीतराग लगा हुआ है। शासन देव वीतराग हो नही सकते, तो उनके पूजन का विधान भी आर्ष प्रणीत ग्रन्थो मे कैसे सभव हो सकता है? आत्मा का उपकार सदा वीतराग से ही हुआ है और वीतराग से ही होगा। कभी रागी द्वेषी आत्मोपकारक न हुआ और न होगा। इस कारण सदा वीतराग अरहन्त का ही पूजन करना चाहिये। रागी द्वेषी शासन देव या कुदेवो को नही पूजना चाहिये।

— सम्यग्दृष्टि शासन देवता की उपासना नही करता —

सम्यग्दृष्टि एव श्रावक को विचार करना चाहिये कि हमको देवता क्यो पूजना चाहिये। जब तक किसी का उद्देश्य नही बाधा जाता तब तक कार्य की सिद्धि नहीं होती। लक्ष्य बाधना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यदि आत्मा का कल्याण करना है और सम्यग्दृष्टि बनना है तो श्रावक को नियम से रागद्वेष भय लोभ जरा आदि दोषो से रहित, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, अर्हन्त-जिसने चारो घातिया कर्मो को नाश कर दिया है वह ही देव पूजना होगा। क्योकि जैसा लक्ष्य होगा वैसा ही आदर्श सामने रखना होगा। शासन देवता मे न तो रागद्वेषादि दोषो से रहितता है और न सर्वज्ञता तथा कर्मो को चूर्ण कर केवलज्ञानधारी पना है। रागीद्वेषी हमारे तुम्हारे समान ही है। फिर उनसे आत्म कल्याण क्या हो सकता है? प्रत्युत उनकी उपासना से हमको ससार मे ही भ्रमण करना पड़ेगा। यदि भय लोभ या किसी ससार मे डूबने के लिये एवं भ्रमण करने के कारण कुदेव तक

शासन देवों की उससना करना चाहते हो तो दूसरी बात है, फिर तो आप श्रावक तथा सम्यग्दृष्टि कहलाने के पात्र नही हो सकते हो । भगवान् समन्तभद्र ने कहा भी है ।

"भयाशास्नेहलोभाच्चकुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्यु. शुद्धदृष्टय । (र श्रा)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव को भय, आशा, स्नेह या लोभ के वश होकर खोटे देव, खोटे शास्त्र या खोटे गुरुओ की उपासना विनय एव प्रणाम आदि नही करना चाहिये । प० आशाधरजी ने भी अनगारधर्मामृत अध्याय ८ श्लोक सख्या ५२ की टीका मे निम्न लिखित गद्य इसी भाव का लिखा है :— **"कुदेवा रुद्रादय' शासनदेवतादयश्च" तथा आगे भी लिखा है- "पितरौ गुरूराजापि कुलिंगिन कुदेवा "** फिर इसका खुलासा स्वय इस प्रकार किया है— **"माता च पिता च पितरौ, गुरुश्च गुरु दीक्षागुरुः, शिक्षागुरुञ्च राजापि किं पुनरमात्यादि रित्यपि शब्दार्थ , । कुलिगिनस्तापसादय पार्श्वस्थादयश्च कुदेवा रुद्रादय शासनदेवतादयश्च'**

उल्लिखित आशाधरजी की टीका की पक्तियो से स्पष्ट है कि जिनको आज शासन देवताओ के नाम से पुक रा जाता है वे सब क्षेत्रपाल पद्मावती धरणेन्द्र आदि सम्यग्दृष्टि श्रावक से सर्वथा पूजनीय नही है । **जैन मदिरो मे शासन देवताओं को मूर्त्तिया क्यो ?**

प्रश्न—यदि ये शासन देवता क्षेत्रपाल आदि जैन शास्त्रानुकूल अपूज्य है, तो इनकी मन्दिरो मे क्यो स्थापना की जाती है ।

उत्तर - जिस समय इतर धर्म का जोर था उस समय लोगो से रक्षा करने के हेतु भट्टारको ने क्षेत्रपाल पद्मावती आदि की मूर्त्तिया विराजमान कर जैन मन्दिरो की रक्षा की थी । वह समय वैसा ही था । इसके पश्चात् कालान्तर मे वह मार्ग चल पडा और भट्टारको को पक्षपात् हो गया । अत वह परिपाटी बनी रही । शुद्धाम्नायी लोगो ने तो अपने मदिरो मे ऐसा नही रहने दिया । **शासन देवता को असमर्थता के उदाहरण** —इस ही प्रकार वृहद् द्रव्य सग्रह मे भी कहा है **'रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधन करोति जीवस्तत् देवतामूढत्वं भण्यते । न च ते देवा किमपि फलं प्रयच्छन्ति । कथामिति चेत् । रावणेन रामस्वामिलक्ष्मीधरविनाशर्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता । कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं कात्यायनी विद्या साधिता । कंसेन च नारायणविनाशार्थं बह्वयोऽपि विद्या. समाराधिता । ताभि कृत न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम् । तैस्तु यद्यपि मिथ्या देवता नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वपुण्येन सर्वनिर्विघ्नतामेति"** ।

अर्थ—जो राग तथा द्वेष से युक्त और आर्त तथा रौद्रध्यान रूप परिणामो के धारक क्षेत्रपाल चण्डिका आदि मिथ्यादृष्टि देवो का आराधन करता है उसको देव मूढता कहते है । और क्षेत्रपाल चण्डिका आदि देव कुछ भी फल नही देते हैं । रावण ने श्री राम-चन्द्रजी और लक्ष्मणजी के विनाश के लिए बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की थी । कौरवो ने

पाण्डवो का मूल से नाश करने के लिए कात्यायनि विद्या सिद्ध की थी। तथा कंस ने श्री कृष्णजी नारायण के नाश के लिये बहुत सी विद्याओं का आराधन किया था। परन्तु उन सब विद्याओ ने श्री रामचन्द्र, पाण्डव एवं श्री कृष्ण का कुछ भी अनर्थ नही किया। इसके विपरित श्री रामचन्द्रजी ने मिथ्यादृष्टि देवो की आराधना नही की किन्तु पूर्वोपार्जित पुण्य एव निर्मल सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सब विघ्न दूर हो गये। कहा है—

"जइ देवो वि य रक्खइ मंतो तंतो य खेत्तपालो य।

मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होती॥ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—यदि कदाचित् मरते हुए मनुष्यो की क्षेत्रपालादि देव मत्र से तत्र से या विद्या से रक्षा करने मे समर्थ होते तो आज यह ससार अक्षय हो जाता, किन्तु यह कब सभव हो सकता था कदाचित् असभव बात भी सभव होती है क्या? **शासन देवो को पूजना मिथ्यात्व है।** **एवं पेच्छंतो वि हु गहभूयपिसाययोगिनीयक्ख।**

सरणं मण्णइ मूढो सुगाढ़मिच्छत्तभावादो॥"

अर्थ—इस तरह सम्पूर्ण ससार को शरण रहित देखता हुआ भी यह मूर्ख-आत्मा, ग्रह, भूत पिशाचयक्षादि देवो की शरण की कल्पना करता है। इसको गाढ़ मिथ्यात्व के अतिरिक्त क्या कहे? देव शास्त्र गुरु पूजा के महत्व मे भी एक पद्य है—

"विघ्नौघा प्रलयं यांति शाकिनीभूतपन्नगा।

विषं निर्विषतां याति पूज्यमाने जिनेश्वरे॥ १॥"

अर्थ—भगवान् जिनेश्वर के पूजने पर विघ्न समूह एव शाकिनी भूत तथा सर्प सम्बन्धी उपद्रव दूर हो जाते है और विष भी निर्विषता को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि शाकिनी भूत आदि को उपद्रवकारक कहते है। पर जिनेश्वर की पूजा का बहुत महत्व है। जिन पूजा से भूत आदि के उपद्रव नष्ट हो जाते है। यक्षादि की उपासना अर्हन्त की उपासना के प्रतिकूल है। अत. हेय और त्याज्य है। ऐसा उक्त पद्य से सिद्ध होता है। आगे स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा का प्रमाण देते है।

"दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइसजुदं धम्मं।

गंथासत्तं च गुरु जो मण्णदि सोहु कुदिट्ठी॥ ३१८॥

अर्थ—जो जीव दोष सहित देव को, हिंसा सहित धर्म को और परिग्रहासक्त लोभी गुरु को पूजता है एवं मान्यता करता है वह मिथ्यादृष्टि है। और भी कहा है—यशस्तिलक चम्पू मे सोम देव आचार्य लिखते है— (यशस्तिलक चम्पू ८ उच्छ्वास पा. ३९७)

"देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः। समं पूजाविधानेषु पश्यन्दूरमध व्रजेत्॥

ता. शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे। अतो यज्ञांशदानेन माननीया सुदृष्टिभि॥

अर्थ—जो पूजनादि विधान में तीन जगत् के नेत्र रूप श्री अरहन्त देव को तथा व्यन्तरादिक देवताओ को समान समझता है वह नरकगामी होता है । शास्त्र मे ये व्यन्तरादिक देव केवल शासन की रक्षा के लिये कल्पित किये गये है, अत इनको कुछ यज्ञ भाग मात्र अवश्य प्रदान किया जाता है । सार चतुर्विशतिका के सम्यक्त्व प्रकरण मे भी इन यक्षादि को मानना व पूजना देव मूढता बताया है । त्रिलोक सार मे भी कहा है—

"सिरिदेवी सुददेवी, सव्वाण्हसणक्कुमारजक्खाण ।
रूवाणि य जिणपासे, मगलमट्ठविहमवि होदि ।। ९८८ ।।

अर्थ—श्री जिन प्रतिमा के समीप मे श्री देवी, सरस्वती देवी और सर्वाह्ण यक्ष तथा सनत्कुमार यक्षो के रूप है तथा अष्ट विध मगल द्रव्य भी विद्यमान है । और भी कहा है—

धाराप्रग्रहीतसितविमलवरचामराग्रहस्तोभयपार्श्वस्थविविधमणिकनकविकृतभरणालकृतयक्षानागमिथुना । (राजवार्तिक अ. ३)

अर्थ—जिन चैत्यालय विषै भली प्रकार ग्रहण किया है श्वेत निर्मल उत्कृष्ट चामर हस्त के अग्रभाग विषै जिन्होने तथा जिन प्रतिमा के दो उपार्श्व मे तिष्ठते एव नाना प्रकार की मणि अर सुवर्ण करि रचित जे आभरण तिनकरि अलकृत, ऐसे यक्षनि के अरनागकुमारनि के युगल है । आदिनाथ पुराण मे भी कहा है—

"तवामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य वीजिता ।
नधुन्वान्तीव निर्व्याजमागो गोमक्षिकानृणा ।। ४७-३४ ।। पर्व

अर्थ—हे भगवान् ! तिहारे यक्षनि करि उठाये और हिलाये ऐसे चमरनि के समूह जेहै ते मनुष्य निकै पापरूप मक्षिकानै निष्कपट जैसे होय तैसै उडावे है कहा मानू ।

'तां पीठिकामल चक्रुरष्टमगलसंपद. ।
धर्मचक्राणि वोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्धभि ।। २९१-२२ ।।

अर्थ—वा प्रथम पीठीकानै उन्नत यक्षनि के मस्तक करि धारण किये ऐसे धर्मचक्र जे है ते अर अष्ट मगल द्रव्यनि की सपदा जे है ते शोभायमान करे है । प्रश्न—जो दश जाति व्यन्तरो की गिनाई है वह ही है या उसमे भिन्न और भी है । उत्तर—आदि पुराण मे ऐसा लिखा— **"गदादिपाणयस्तेषु गोपरेष्वभवन्सुरा ।**
क्रमाच्छात्रत्रयेद्वा. स्था भौमभावनकल्पजा ।। २७४-२२ ।।

अर्थ—तीनो कोटनि के दरवाजेनिके विषै अनुक्रमतै व्यन्तर भवनवासी, [illegible] देव गदादिक शस्त्र है हाथ विषै जिनके ऐसे द्वारपाल होते भये । भावार्थ—[illegible] निनै जानिये है कि व्यन्तरनिका परिवार द्वारपालनि मे भी [illegible] [illegible] नि निकट कैसे समझे । ताते व्यन्तर नहीं है [illegible]

रहती है। **प्रश्न**—यदि द्वारपाल भगवान् के समवशरण में देवता रहते है, तो इनको भी नमस्कार करना चाहिये, अन्यथा ये नाराज हो जावेगे तो समवशरण मे नही जाने देवेंगे, तो फिर भगवान् के दर्शन से वंचित्त रहना पड़ेगा। **उत्तर**—आदि पुराण में लिखा है कि देवता मनुष्यो को नमस्कार नही करते है मनुष्य देवो को नमस्कार नही करते

"ज्ञात्वा तदा स्वचिह्नेन सर्वेऽप्यगु सुरेश्वरा ।
पुरी प्रदक्षिणी कृत्य तद्गुरुंच ववन्दिरे ।। १६६-१२ ।।

अर्थ—तदा कहिये गर्भावतार समय मे सब ही सुरेश्वर अपने चिह्ननिकर भगवान् के गर्भ कल्याणक को जान आवत भये, और पुरी ने प्रदक्षिणा देय भगवान् के माता पिता जे हैं तिने बदते भये। **ततस्तौ जगतां पूज्यौ पूजयामास वासव ।**
विचित्रैर्भूषणैं स्त्रग्भिरंशुकैश्च महार्घकै ।। १-१४ ।।

अर्थ—तदनन्तर जगत् मे पूज्य ऐसे भगवान् के माता पिता जे है तिन्हे सौधर्मेन्द्र, विचित्र आभूषणनि करि, मालानि करि, वस्त्रनि करि महान् अर्घनि करि पूजतो भयो।

प्रश्न—भगवान् के माता पिता नमस्कार नही करे तो और लोग तो नमस्कार करते होगे, जैसे उनके ही कुटुम्बी अन्य मनुष्य नगरवासी आदि ? **उत्तर**—पाचो ही कल्याणक मे सौधर्मेन्द्र आदि के आने का वर्णन तो शास्त्रो मे मिलता है किन्तु मनुष्यो के देवो का नमस्कार करना कही नही लिखा है। समवशरण मे जब भरत चक्रवर्ती गये तब वे धर्म चक्र एव ध्वजादि का पूजन करते हुए स्वयभू के पास जाकर नमस्कार किया यहा पर द्वादश सभा एव सौधर्मादि देवो के नमस्कार को नही लिखा। और जब तक भगवान् ने दीक्षा ग्रहण नही की उससे प्रथम सौधर्मेन्द्र नित्यप्रति भोग सामग्री लेकर भगवान् के पिता के घर पर आता था। वहां पर भी देवो को मनुष्यो द्वारा वन्दना करना नही लिखा मिलता है। पुर नगर ग्राम देश आदिका विभाग तो पाया जाता है किन्तु मनुष्य देवो को नमस्कार करते है यह विधान नही पाया जाता। इस कारण से सम्यग्दृष्टि को वीतराग देव के सिवाय अन्य देवादिको को नमस्कार नही करना चाहिये। नेमिचन्द प्रतिष्ठापाठ मे भी वीतराग से अन्य देवो की पूजन करना देव मूढता शब्द से लिखा है। महापुराण के **निम्न** लिखित श्लोक कहते है—

ततो दौवारिकैर्देवै. सभ्राम्यद्भि: प्रवेषित· । श्रीमण्डपस्य वैदग्धी सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीम् ।।

अर्थ—अनन्तर आदर सत्कार करने वाले दरवाजे पर खड़े हुए ऐसे द्वारपालो ने राजा भरत को आदर से भीतर प्रवेश कराया। यदि देवो के नमस्कार का विधान होता तो वहा पर भी देवो का नमस्कार करने का विधान अवश्य मिलता। किन्तु देवता आदर सत्कार पूर्वक मनुष्यो का समवशरण में प्रवेश कराते है, ऐसा विधान मिलता है। अतः

मनुष्य पर्याय विशेष आदरणीय है और उसमें भी वीतरागत्व गुण से पूजनीयता सर्व प्रथम है, ऐसा जानना चाहिये। मनुष्यों द्वारा देवों के नमस्कार का विधान न मिलकर उससे प्रतिकूल देवों के द्वारा मनुष्यो के आदर का विधान मिलता है। भरत चक्रवर्ती का देवों द्वारा सत्कार इस प्रकार हुआ—

निर्देशैरुचितैश्चास्मान् सभाषयितुमर्हसि । वृत्तिलाभादपि प्रायस्तल्लाभ किंकरैर्मत ।१०१।
मानयन्निति तद्वाक्यं स तानमरसत्तमान् । व्यसर्जयत्स्वसात्कृत्ययथा स्वकृतमानसान् ।१०२।

अर्थ—हे देव ! (भरत चक्रवर्तिन्) उचित आज्ञा के द्वारा हम से आप सत्कार के योग्य हो। क्योकि सेवक लोग प्राय उपजीविका की प्राप्ति होने से भी स्वामी की आज्ञा का बहुत सन्मान करते है ।।१०१।। इस प्रकार के उस देव के वाक्यो को सत्कारित करते हुए भरत यथा योग्य उस मागध देवको अपनादास बनाकर विदा किया। १०२। और भी—

पुरोधाय शर रत्नपटले सुनिवेशितं । मागध प्रभुमान सौदार्य स्वीकुरु मामिति ।। १५६ ।।
चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्रयन्नार्यमोऽनभिरामका ।महान्तमपराधंनस्त क्षमस्वार्थितो मुहुः ।।१६०।।
युष्मत्पादरज. स्पर्शाद्वार्धिरेव न केवल । पूता वयमपि श्रीमस्त्वत्पादाब्जमेवया ।।१६१।।

अर्थ—रत्न के पिटारे रखे हुए बाण को भरत के सामने रखकर मागध देवने भरत को नमस्कार किया और कहा कि हे प्रभो ! मै उपस्थित हूँ अब आप मुझे अपना ही समझिये। हे स्वामिन् ! हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होने के समय ही उपस्थित नही हुए, यह हमारा बडा अपराध हुआ। हे प्रभो ! हम बार २ प्रार्थना करते है कि हमारे अपराध क्षमा करे। हे ऐश्वर्यशालिन् ! आपके चरणो की धूलि का स्पर्श करने से यह केवल समुद्र ही पवित्र नही हो गया है, किन्तु आप लोगो की चरण सेवा करने से हम लोग भी पवित्र हो गये है। आगे इसकी पुष्टि मे और भी प्रमाण देखिए :—

"तत्रावासितसाधनो निधिपतिर्गत्वा रथेनाम्बुधिं ।
जैत्रास्त्रप्रतिनिर्जितामरसभस्तद्व्यन्तराधीश्वर ।।
जित्वा मागधवत्क्षणात् वरतनुं तत्साहवमंभोनिधि—
द्वीप शश्वदल चकार यशसा कल्पान्तरस्थायिना ।। १६६ ।।
लेभेऽभेद्यमुरश्छद वरतनोर्ग्रैवेयकं च स्फुरत् ।
चूडारत्नमुदंशुदिव्यकटकान् सूत्रंच रत्नोज्ज्वलं ।
सद्रत्नैरिति पूजित स भगवान् श्री वैजयन्तार्णव-
द्वारेण प्रतिसन्निवृत्य कटक प्राविक्षदुत्तोरणं ।। १६७ ।। (आदि पुराण पर्व २९)

अर्थ—जिसने अपनी सब सेना को किनारे पर छोड दी है और विजय करने वाले शस्त्रो से मगध देवा सभा जिसने जीत ली है ऐसे उस निधियो के स्वामी भरत ने रथ

मे बैठ कर समुद्र मे जाकर व्यन्तरो के स्वामी वरतनु देव को भी मागध देव के समान जीता और उस वरतनु नाम समुद्र के द्वीप को कल्पान्त काल तक टिकने वाले यश से सदा के लिए सुशोभित किया ।। १६६ ।। उसने भरत को कभी न टूटने वाला कवच, दैदीप्यमान हार, प्रकाश मान चूडा रत्न दिव्य कडे और रत्नो से प्रकाशमान यज्ञोपवीत जनेऊ ये सब चीजे दी

प्रभासमजयत्तत्र प्रभासं व्यतरप्रभुं । प्रभासमूहमर्कस्य स्वभासातर्जयन् प्रभु ।। १२३-३०।।

अर्थ—अपनी कान्ति से सूर्य की कान्ति को लज्जित करते हुए भरत ने वहा जाकर प्रभास नाम के व्यन्तरो के स्वामी को जीता और प्रभास नाम के क्षेत्र को अपने आधीन किया

स प्रणामं च सप्राप्त तं वीक्ष्य सहसाविभु । यथार्हप्रतिपत्याऽस्मायासनं प्रत्य पादपत् ।६५।

अर्थ—आते ही कृतमाल देवने भरत चक्रवर्ती को नमस्कार किया और भरत ने यथा योग्य सत्कार करके उसे आसन दिया । हे देव हम लोग दूर २ तक अनेक देशो मे निवास करने वाले व्यन्तर है । अब आप हम लोगो को अपने समीप रहने वाले सिपाहियो के समान बना लिजियेगा । (आदि पुराण पर्व ३१ ३२)

अथ तत्र कृतावास ज्ञात्वा सनियम प्रभु, अगान्मागधवत् द्रष्टु विजयार्धाधिप सुर ।।३७।।

अर्थ—नियम के अनुसार भरत ने वहा डेरे किये, यह जानकर विजयार्ध पर्वत का स्वामी व्यन्तर विजार्ध देव मागध देव के समान भरत के दर्शन के लिये आया ।

सिन्धुदेव्यान्यषेचि स ।।७६।। (आदि पुराण पर्व)

अर्थ—सिन्धु देवी ने भरत का अभिषेक किया । सैकड़ो सुवर्ण के कलशो से भरे हुए पुण्य रूप सिन्धु नदी के जल से भद्रासन पर बैठाकर महाराज भरत का अभिषेक अपने हाथो से किया और कहा कि हे देव ! मैं आज आपके दर्शन से पवित्र हुई हूँ । श्लोक नं० १६६ मे गगादेवी ने भरत का अभिपेक गगाजल से किया ऐसा लिखा है । राजा भरत का अभिषेक देवो ने आकर किया था । पर्व ३७ मे ऐसा लिखा है । अनेक देव उनके अग की रक्षा करने वाले उनको सदा नमस्कार करते रहते थे । (आदि पुराण पर्व ३७)

षोड़शास्यस गणवद्धामरा. प्रभोः । ये युक्ताधृतर्निस्त्रिशा निधिरत्नात्मरक्षणे ।।१४५।।

अर्थ—उस महाराज भरत के १६००० सोलह हजार गणवद्ध व्यन्तर देव थे जो **कि हाथ में** तलवार लेकर निधि रत्न और चक्रवर्ती की रक्षा करने मे नियुक्त थे । राजवार्तिक अध्याय ६ श्लोक ५ पा० २४६ धारा ७ तत्र चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणासम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया, अन्य देवतास्तवनादि रूपा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया

अर्थ—तत्र कहिये तिनि क्रियानि मे जिन प्रतिमा, निर्ग्रन्थ, गुरु, जिनागम इनकी पूजा स्तवन वदना है सो सम्यक्त्व वधावने वाली क्रिया है । अर चैत्य, गुरु, जिनागम से अतिरिक्त अन्य देवता का पूजन करना वंदना करना मिथ्यात्व की कारणभूत प्रवृत्ति जो है सो

मिथ्यात्व क्रिया है कहा भी है :— (सिद्धान्त सार)

विवाहजातकर्मादौ मगलेष्वखिलेपु च । परमेष्टिन एवाहो न क्षेत्रपालकादय ।।

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्र मे पूर्ण धर्म का श्रद्धान है उस स्थान मे भी विवाह जात कर्म आदि समस्त मंगल कार्यो मे परमेष्ठी की पूजन करनी चाहिये, ऐसा विधान है, एव वैसा ही किया जाता है । क्षेत्रपाल आदि रागी द्वेषी देव मान्य नही है ।

वर्ततेजिन पूजायां दिनप्रति गृहे गृहे । सर्वमगलकार्याणा तत्पूर्वत्वात् गृहेशिनाम् ।। ३६ ।।

अर्थ—अयोध्यापुरी के भीतर गृहस्थो के मगल कार्य के अन्दर परमेष्ठि ही (जिन पूजन ही) मुख्य है । अन्य देव सम्यग्दृष्टि श्रावक पूज्य हो नही सकता । अष्टपाहुड के मोक्ष पाहुड भाग मे कहा है कि—

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे । णिग्गथे पव्वयणे सद्दहण होइ सम्मत्त ।९०।

अर्थ –जो देव हिसा रहित धर्म का प्रतिपादक, १८ अठारह दोष रहित निर्ग्रन्थ हो वही सम्यग्दृष्टि को पूज्य है, अन्यथा नही । स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे भी कहा है ।

"णिज्जिय दोसं देव सव्वेजीवा दयावरं धम्म, विज्जिय गथं च गुरु क्षो मण्णइ सोहु सद्दिही ।
दोससहियपि देव जीवे हिसाइ सजुद धम्म । गथासत्त च गुरु मण्णइ सोहु कुद्दिट्ठी ।।

अर्थ—जो रागद्वेषादि वर्जित देव को और सब जीवो मे दया प्रधान धर्म को और निर्ग्रन्थ गुरु को मानता है एव पूजता है वह सम्यग्दृष्टि है । और जो पुरुष दोष सहित देव को, दया रहित धर्म को और परिग्रह सहित गुरु को पूजता है वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है । पद्मनदीपचविशतिका मे भी लिखा है—

जिनदेवो भवेद्देवस्तत्व तेनोक्तमेव च । यस्येति निश्चय स स्यान्नि. शकितशिरोमणि ।।

अर्थ—जिनदेव ही एक देव है, जिनदेव भाषित ही एक तत्त्व है जिसका इस प्रकार का निश्चय है वह नि शकित पुरुषो मे शिरोमणी है । चर्चासागर ग्रन्थ मे भी कहा है —

देव जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवता । समपूजा विधानेषु पश्यन् दूर व्रजेदध ।। १ ।।

अर्थ—तीन जगत के नेत्र श्री जिनेन्द्र देव और रागी द्वेषी व्यन्तरादिक देवताओ को पूजा विधान मे समान माने तथा समान देखे, वह प्राणी दूरवर्ती जो अधोलोक अर्थात् नरक उसके प्रति गमन करता है । **कौन पूजनीय है और कौन नही ?** भगवन् कु दकु द दर्शन पाहुड में कहते है— **असजदं ण बदे वत्थविहिणो सो ण बदिव्वो ।**
दुण्णि वि हुंति समाणा रागो विण सजदो होदि ।। २६ ।।

अर्थ—असयमी को नही वदिये । तथा भाव सयम नही होय अरवाह्य वस्त्र रहित होय सो भी बदबे योग्य नही हैं । क्योकि ये दोनो ही सयम रहित है । इनमे एक भी संयमी नही । उत्तर पुराण मे वर्द्धमान पुराण मे कहा है—

इति तद्भाषित श्रुत्वा वरिष्ट श्रावकेष्वह । नान्यलिंग नमस्कार कुर्वे केनापि हेतुना ।।

अर्थ—इस प्रकार तापसी के वचनो को सुनकर सेठ कहने लगा कि मै श्रेष्ठ श्रावक हूँ । इसलिए रागी द्वेषी अन्य लिगिनि को नमस्कार नही करूगा ।

"पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्ती हिजो स सजदो होदि ।
णिग्गथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जोय ।। २० ।।"

अर्थ—जो आत्मा पच महाव्रत करि युक्त तीन गुप्ति करि संयुक्त होय सो सयत (मुनि) सयमवान् है । सोही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है, वही स्तवन करने योग्य तथा वन्दना करने योग्य है । और कोई बंदवे (स्तवन करने) योग्य नही है ।

अवसेसा जेलिगी दसणणाणेण सम्म सजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ।। १३ ।। (सूत्र पाहुड)

अर्थ—जे दिगम्बर मुद्रा सिवाय अवशेष लिंग जो उत्कृष्ट श्रावक का तथा आर्यिका सम्यक् दर्शन ज्ञान करि सहित है सो भी इच्छाकर करने योग्य है, न कि मुनि के तुल्य नमोऽस्तुयोग्य । हालाकि जिन मत में तीन लिग मानने योग्य है । तब अन्य लिग भेष धारी व कपाय युक्त प्राणी जिन मत मे पूजने योग्य व बदना करने योग्य कैसे हो सकते है ?— कदापि काल मे भी नही हो सकता । याते यह क्षेत्रपाल पद्मावती वगैरह पूजन करने योग्य या वदना करने योग्य नही हो सकते । ग्रन्थो मे आचार्यो से जितने भी दृष्टान्त दिये है उन सव मे देवो की तरफ से मनुष्यो की सेवा की गई है न कि मनुष्यो की तरफ से देवो की । परन्तु भट्टारक लोगो ने इन देवो को पूजने योग्य बना दिया, यह आश्चर्य है । इसके सम्वन्ध में कितने ग्रन्थो का प्रमाण दिया जावे । सभी जगह भगवान् सर्वज्ञदेव की पूजा भक्ति से ही सब कुछ होजाना लिखा है । विश्वास एव विचार की आवश्यकता है । सीताजी को रामचन्द्रजी ने परीक्षा के वास्ते अग्नि कुण्ड मे प्रवेश कराया, किन्तु उस स्त्री के पुण्य के उदय से देवो ने स्वय आनकर सहायता की ।

"आखण्डलस्ततोऽवोचदहं सकलभूषणं । त्वरितु वदितु यामि कर्तव्यं त्वमिहाश्रय ।।

अर्थ—तव इन्द्र ने आज्ञाकारी हेमेपकेतु ! मैं तो सकल भूषण के उपसर्ग के दूर करने को जाता हूँ और तू महा सती के उपसर्ग को जाकर दूर कर । जव प्रद्युम्न कुमार को पूर्व पुण्योदय से सोलह लाभ प्राप्त हुवे तव वहा पर कई देवो ने उनको आभूषण और दागीने दिये, एवं कन्या लाकर दी । यदि देव मनुष्य की सेवा न करते तो ऐसे पदार्थ क्यों लाकर देते । इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य के पूर्ण पुण्य के उदय से स्वय देव सेवा करते हैं । देवो की सेवा मनुष्यो को नही करनी चाहिये । वीतरागदेव को छोड़कर अन्य देवो की पूजा करना मिथ्यात्व है । **मुनि विष्णुकुमार का उदाहरण** —मुनि विष्णु कुमार की कथा

आराधना कथाकोष में इस प्रकार है—

शिष्यास्तेऽय प्रशस्यन्ते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः। प्रीतितो विनयोपेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत् ॥

अर्थ—शिष्य वे ही प्रशसा के पात्र है, जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा का पालन करे, इसके विपरीत कुशिष्य कहलाते है। जब अकम्पनाचार्य का सघ हस्तनागपुर मे आया तब बलि आदि चारो राज मंत्रियो ने रागद्वेष वश उन पर उपसर्ग करना चाहा। उस समय जैन धर्म के शासन देव कहलाने वाले उपसर्ग दूर करने के समय कहा चले गये थे। आकर सहायता क्यो नही की ? उस समय मुनि विष्णु कुमार वैक्रियिक ऋद्धिधारी ने आकर सहायता की थी।

अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले। समुद्र स्थलतामेति दुर्विष च सुधायते ॥२१॥

शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपत्तिः सम्पदायते। तस्मात्सुखैषिणो भव्या पुण्य कुर्वन्तु निर्मल ॥

अर्थ—पुण्य के उदय से अग्नि, जल बन जाता है, समुद्र स्थल हो जाता है, विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है और विपत्ति सम्पत्ति रूप परिणत हो जाती है। इसलिये जो लोग सुख चाहते है उन्हे पवित्र आचरण (कार्य) द्वारा पुण्य को सपादन करना चाहिये जिससे स्वर्ग से आकर स्वय देव सेवा करे।

यमपाल चाण्डाल का उदाहरण—इस ही कथाकोष मे यमपाल नामा चाडाल की कथा है धर्म चद नामा एक सेठ पुत्र राजा के मैडा को अष्टाह्निका मे मारकर खा गया। उसको राजा ने सूलि की आज्ञा दी। तब जल्लान यमपाल को बुलाया। यमपाल चाडाल बोला कि मेरे आज चतुर्दशी का दिन है मै आज हिसा नही कर सकता, कारण मैंने मुनि के पास व्रत लिया है। यह बात सुनते ही राजाज्ञा हुई कि इन दोनो को मगरमच्छ से भरे हुए तालाब मे डाल दिया जाय। धर्मचन्द को तो मगर खा गया, परन्तु चाडाल को उस अहिसा व्रत के फल से नही खाया, वहा आकर देवो ने उस चाडाल के वास्ते सिहासन बनाकर सेवा की और राजा तथा प्रजा ने भी आकर उसकी खूब भक्ति से पूजा की। इससे स्पष्ट है कि चाडाल के पास धर्म था तो देवो ने रक्षा की और उस सेठ के पास धर्म नही था तो उसको मगर-मच्छ खा गये। अत धर्म के प्रसाद से देव सेवा करते है, न कि बिना धर्म से। कहा है कि—

"व्यसनेन युतो जीव सत्य पापपरो भवेत्। यस्य धर्मे सुविश्वास क्वापि भीति न याति स।

व्यसनी पुरुष नियम से पाप मे सदा तत्पर रहता है। जिसका धर्म पर दृढ विश्वास है उसे कही भी भय नही होता। **श्री अभिनन्दन मुनि का उदाहरण**—कुभकारकट शहर के राजा दण्डक ने मत्री के मायाचार पूर्वक दृश्य दिखाने से जब सात सौ मुनियो सहित आचार्य को घाणी मे पिलवा दिया था, तब शासन देवता कहां चले गये थे, क्यों नही सहायता की ? अत. कहना पडेगा कि सबसे बडा पुण्य है और कोई ऐसी शक्ति नही जो पुण्य के

सामने आवे । और जब पुण्य हट जाता है तब पाप रूप बैरी शीघ्रतिशीघ्र आकर दबा देता है । इससे यह तात्पर्य रहा कि देवता लोग पुण्यवान् के चाकर है । बिना पुण्य के ससार मे किसी का कोई नही । पुण्य ही सब कुछ है । देव कोई चींज नही । पुण्य ही की सेवा करो, देव तुम्हारे गुलाम बन जावेगे । ऐसे दृष्टान्तो से जैन साहित्य भरा पडा है ।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का उदाहरण —काम्पिल्य नगर मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती राजा राज्य करता था । किसी कारण से उसने अपने रसोईया को मार दिया । वह मरकर व्यन्तर देव हुआ । उसने उससे बैर का बदला लेना चाहा । उसने एक सन्यासी के रूप मे बहुत से मिष्ट फलो की भेट लाकर राजा को दी । राजा उन मिष्ट फलो से बहुत प्रसन्न हुआ । और कहा हमको ऐसे फल और चाहिये । उस सन्यासी ने राजा को फलो का लोभ दे अपने साथ ले गया । फिर क्या था । जब तक राजा को जैन धर्म का श्रद्धान रहा, तब तक वह देव उसका कुछ बिगाड नही कर सका । आखिर प्रत्यक्ष होकर उस देव ने उनको सब कथा समझाई और कहा कि तुम अपने महल मे तभी वापस जा सकते हो जब जैन धर्म को झूठा कहो और णमोकार मत्र पर अपना पैर रक्खो । राजाने प्राणो के मोह से ऐसा किया । तुरन्त देव ने उसे मार डाला । कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सच्चा श्रद्धान रखना आवश्यक है । पुण्य और पाप ही शुभाशुभ फलो का दाता है । कोई देव कुछ नही बिगाड सकते । सो कुछ होता है-हमारे शुभाशुभ भाव और कर्मो से होता है । अत व्यन्तरादिक पूज्य नही है । मिथ्यादृष्टि का सब प्रकार का ससर्ग त्याज्य है । कहा है—

मिथ्यादृष्टे श्रुत शास्त्र कुमार्गाय प्रवर्तते । यथामृष्ट भवेत्कृष्ट सुदुग्धं तुम्बिकागतम् ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष मिथ्यात्व के वश होकर कौन बुरा काम नही करते । मिथ्या-दृष्टियो का ज्ञान और चारित्र मोक्ष का कारण नही होता जैसे—सूर्य के उदय से उल्लू को कभी सुख नही होता । मिथ्यादृष्टियों का शास्त्र सुनना, शास्त्राभ्यास करना केवल कुमार्गमे प्रवृत्त होने का कारण है । जैसे मीठा दुग्ध भी तूमडी के सम्बन्ध से कडवा हो जाता है । अत सच्चे मार्ग को ही अपनाना चाहिये । कहा है—

"ये कृत्वा पातक पापा पोषयति स्वक भुवि । त्यक्त्वान्यायक्रमं तेषां महादु खं भवार्णवे ॥"

अर्थ—जो पापी लोग न्याय मार्ग को छोडकर, पाप के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं वे संसार समुद्र अनन्त काल तक दु.ख भोगते है । अत. न्याय मार्ग नही छोड़ना चाहिये ।

जो कुछ होता है वह पुण्य और पाप के उदय से होता है किसी के किये से नही । वीतरागभक्ति, दान परोपकार, सेवा, त्याग आदि गुणो से पुण्य की वृद्धि होती है, और उसका फल अच्छा मिलता है । अतः इन्ही कार्यो से मनुष्य को अपना समय लगाना चाहिये पुण्य की महिमा अपरम्पार है । तीर्थङ्कर प्रकृति पुण्य की सर्वोत्कृष्ट प्रकृति है । उसके प्रभाव

से तीर्थङ्कर के गर्भ में आने से भी पूर्व छै माह से देवता उनके माता पिता की तथा उनकी सेवा करते है । तीर्थङ्कर के पाचो कल्याणों मे ये आते है। चक्रवर्ती नारायण वासुदेवो की उनके पुण्यानुसार देवता सेवा करते रहते है । एक देवताकी तो क्या बात, पुण्योदय से मनुष्य की अनेक देवो ने पूजा की है एव करते है । पुण्य की प्राप्ति दान देने से अर्हन्त वीतराग-भगवान् की पूजा से एव सुगुरुओ की सेवा से होती है । कुदेवों की पूजा से एव वीतरागता से दूर शासन देवो की पूजा से, नही हो सकती प्रत्युत. मिथ्यात्व की वृद्धि करके पाप की वृद्धि होती है । अत विचार पूर्वक शासन देवो की पूजा मिथ्यात्व समझ कर छोडना चाहिए । निर्दोष निर्ग्रन्थ अरहन्त सर्वज्ञ का पूजन ही कल्याणकारी है ।

अतिथि शब्द का अर्थ ।— "तिथिपर्वोत्सवा सर्वेत्यक्ता येन महात्मना ।
अतिथिं त विजानीयाच्छेषमभ्यागत विदु ।। (सा.ध.मृ)

अर्थात्—'न तिथिर्यस्य स अतिथिः" जिस साधु एवं मुनि के एकम दोयज, पूर्णिमा अष्टाह्निका, षोडशकारण' दशलक्षण आदि मे कोई विशेष विचार नही होता, सर्वदा आत्म-ध्यान मे ही लीनता रखते है सिद्ध चक्र विधान, वेदी प्रतिष्ठा आदि विशेष कार्य भी जिनके लिये समान है, केवल स्वाध्याय अर्थात् स्व–आत्मा का अध्याय चिन्तवन मात्र प्रयोजन है, वे मुनि अतिथि है और शेष अभ्यागत शब्द से कहे जाते है । तात्पर्य यह है कि अतिथियो को लौकिक कार्यो से कोई प्रयोजन नही रहता । वे आत्मध्यानरत ही रहते है । उनको जो भोजन दिया जावे वह शुद्ध मर्यादित अपने कुटुम्ब के लिए बनाया गया हो उसमे से ही दिया जावे । इसी का नाम अतिथिसंविभागव्रत है । मुनि के भोजन के लिए खास तौर पर आरम्भ नही करना चाहिये । मुनि को आहार दान करने से गृहस्थ को जो आरंभिक हिसा लगती है उससे उत्पन्न पाप का विनाश होता है अर्थात् मुनि के आहार दान के प्रभाव से आरंभिक हिंसा जन्य पाप का विनाश हो जाता है ।

— गृहस्थ के लिए आरंभिक हिंसा —

"खडिनी पेषिणी चुल्ली उदककुम्भ प्रमार्जिनी । पच सूना गृहस्थस्य तेन मोक्षे न गच्छति ।।

अर्थ—१ ऊखल २ चूल्हा ३ चक्की ४ परेडा और ५ बुहारी ये पाच गृहस्थ के सूना कहलाते है । अर्थात् इनके द्वारा गृहस्थ को आरंभिक हिसा होती है इसी कारण गृहस्थी मोक्ष में नही जाता है । किन्तु मुनि के आहार दान का प्रभाव है कि इन पाचो सूनाओ से जो गृहस्थ को आरंभिक हिसा होती है उसका तज्जन्य पाप नष्ट हो जाता है और स्वर्गादिक के सुख भोगकर परम्परा से मुक्ति प्राप्त करता है ।

—※ मुनियो की वैय्यावृत्ति का फल ※—

"उच्चैर्गोत्र प्रणते भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्ते· सुन्दररूप स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिषु।

अर्थ—परम वीतराग जिनेन्द्र के मार्ग रत मुनि को प्रणाम करने से उच्च गोत्र बंधता है और उनको शुद्ध निर्दोष आहार देने से उत्तम भोगभूमि तथा देवगति के सुख एव चक्रवर्तीपद की प्राप्ति होनी है। उपासना करने से यशोलाभ, प्रशसा एव प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। भक्ति करने से निरोगता और सुन्दर रूप जो देवो को भी दुर्लभ है, प्राप्त होता है। जैसे कि सनत्कुमार चक्रवर्ती को प्राप्त हुआ था। उनकी स्तुति करने से स्वयं अनेक पुरुषो से स्तुत्य हो जाता है। जैसे रामचन्द्र लक्ष्मण नारायण बलभद्र आदियो ने स्तुत्य पद पाया था। अत ऐसे साधुओ की सदा सेवा भक्ति परिचर्या और वैय्यावृत्ति करनी चाहिये। यह श्रावक का मुख्य कर्म है। यद्यपि मुनि तो सब प्रकार के बाह्य तथा अन्तरङ्ग परिग्रह के त्यागी होते है उन्हे किसी प्रकार की सेवा कराने की भी आवश्यकता नही होती तथापि बाह्य निमित्त कारण सब क्रियाओ के लिये उनका शरीर ही होता है। अत श्रावक को उनके शरीर की रक्षा पर ध्यान देना चाहिये। मुनियो की शरीर रक्षा पर क्या-क्या ध्यान देना चाहिये इसका सक्षेप मे दिग्दर्शन कराते है —१ मुनि के पास जीव दया के उपकरण एव साधन पीछी आदि समुचित है या नही ? २. महाराज के पास कमण्डलु ठीक है या नही ? ३ महाराज कौनसा शास्त्र पढते है अथवा इनके पास शास्त्र है या नही ? एव शास्त्र को साधु बदलना चाहते है या जीर्ण-शीर्ण है तो क्या नया लेना चाहते है ? ४. साधुओ का ठहरने का स्थान समुचित है या नही ? ५ यथायोग्य रोग की परीक्षा करना। ६ समयानुसार परीक्षा कर आहार दान देना। ७. जहा व्रती पुरुष हो वहा पर चटाई आदि की समुचित व्यवस्था करना। इसके अतिरिक्त आर्यिका के लिए साडी, ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारियो के लिये यथा योग्य वस्त्र पुस्तक कमडल चटाई आदि की व्यवस्था करना। इन सब प्रकार की व्यवस्था गृहस्थो को पहले ही करनी चाहिये। श्रावको को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जब साधुओ के भोजन का समय हो उस समय पर अपने घर मे तिर्यञ्च होवे तो उनको ऐसे स्थान पर रखे जिससे वे साधुओ को किसी प्रकार का उपद्रव न करे। यदि वे खुले रहेगे तो इधर-उधर दौड लगावेगे तो उनके खुरो से जीव हिंसा होगी। यह समझकर ही सयमी लोग वहा से निकल कर चले जावेगे। क्योकि वे पूर्ण रूप से दया के पालन करने वाले है। आगन मे उस समय गीला नही होना चाहिये तथा हरित काय की घास या पत्ते बिखरे हुए नही होने चाहिये। और चौके मे गोबर से लीपना तथा छानो से रोटी नही बनाना चाहिये। गोबर अशुद्ध है।

शंका—पं० सदासुखदासजी काशलीवाल ने गोबर को अष्ट प्रकार की शुद्धियो मे वर्णित किया है। और भी ग्रन्थो मे गोबर काम मे लेना लिखा है। आप क्यो अशुद्ध बताकर इसका निषेध करते है। उत्तर—गोबर की शुद्धि लौकिक से कही पर मानी है

किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से वह शुद्ध नही है। शास्त्रो में तो यहा तक लिखा है कि जहा पर गोबर पड़ा हो वहां पर भोजन भी नहीं करना चाहिये। आयुर्वेद मे पृथ्वी को गोबर से लीपने की इस कारण पुष्टि की है कि गोबर के खार से एक वितस्ति (बिलसा) प्रमाण पृथ्वी के नीचे तक अशुद्ध कीटाणु मर जाते है एव लीपे हुए के ऊपर चलने वाले प्राणी रोग से ग्रसित नही होते। अत यह लौकिक शुद्धि है। सो ही प० सदासुखदासजी ने भी लौकिक की अपेक्षा इसकी शुद्धि बतलाई है। प० जी का यह बतलाना कञ्चित् ठीक है क्योकि लौकिक शुद्धि से भी व्यवहार चलता है। किन्तु यहा लौकिक शुद्धि का प्रकरण नही है। यहा पर शुद्ध भोजन का प्रकरण है। यह इससे भिन्न है। व्यवहार मे गोबर शुद्ध मानने पर भी चौके के लिए अशुद्ध है। गोबर जहा पर पडा हो वहा पर भोजन भी नही करना चाहिये। त्रिवर्णाचार के छठे अध्याय के १८७वे श्लोक मे भी गोबर अशुद्ध बतलाया है :— **नखगोमयभस्मादिमिश्रितन्नं च दर्शिते ।। १८७ ।।**

—※ अतिथि सविभाग व्रत के पांच अतिचार ※—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्ययदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।।३६–७।। (त०सू०)
हरितपिधाननिधाने, ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि ।
वैयावृत्यस्यैते, व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ।।१२१।। (रत्नकरंड श्रावकाचार)

अर्थ—१ सचित्त निक्षप २. सचित्तपिधान ३ परव्यपदेश ४ मात्सय ५. कालातिक्रम, यह भगवान् उमास्वामी, तथा समत भद्र के वचनानुसार अतिथिसंविभाग के पाच अतिचार है। इनका पृथक् पृथक् खुलासा इस प्रकार है —१. सचित्त निक्षप—सचित्त कहिये चेतना सहित जो वस्तु हो उस वस्तु से सम्पर्क मिलाना अतिचार है। जैसे पेड से तोड़े हुए पत्र कमलादिक के पत्र सचित्त है, तथा जबकि गीलेपन का सम्पर्क हे, पृथ्वी (गीली मिट्टी) धान्य आदि तथा खरबूजा, ककडी, नारगी, केले, आम, सेव आदि के चाकू से गट्टे तो बना लिये हो परन्तु उनमे कोई तिक्त द्रव्य नही मिलाया हो और न उनको गर्म किया हो ऐसे पदार्थ सचित्त है। उनको त्यागी लोग नही ले सकते। दाता देवे, तब त्यागी को चाहिये कि पूरी जाच कर लेवे। पदार्थो के गट्टे या नीबू के दोपले करने से ही अचित्त पना नही आ सकता, क्योकि वनस्पति के शरीर की अवगाहना आचार्यो ने अगुल के असख्यातवे भाग मानी है, और वह जो गट्टा किये है, बादाम के बराबर बडे है जो कि बिना अग्नि पर चढाये या यन्त्र से पेले बिना अचित्त नही हो सकते। जैसे साठे का रस निकाले या पत्थर से चटनी बाटे, ऐसे किये बिना जो लेता है या देता है वह अतिचार माना है।

२. सचित्तपिधान—आहार मे किसी प्रकार की सचित्त वस्तु का सम्बन्ध मिलाना जैसे गीले, सचित्त फल पुष्प आदि का सयोग या ऐसे पदार्थो से भोजन का ढकना,

सचित्तपिधान अतिचार माना है। ऊपर लिखे पदार्थ आहार मे देने योग्य नही। ३. परव्यपदेश—अपने गुड़ शक्कर आदि पदार्थों को किसी अन्य का बताकर दे देना, अथवा दूसरे के मकान पर जाकर उसकी इजाजत के बिना कोई वस्तु निकाल लाकर आहार मे दे देना यह परव्यपदेश नामका अतिचार है। क्योकि बिना आज्ञा दूसरा, दूसरे के पदार्थों को दे ही नही सकता और यह दे रहा है सो अतिचार है। ४. मत्सर—मुनियो के पडगाहने आदि मे क्रोध करना, आये हुवे मुनि को आहार नही देना या देते हुए भी यथा योग्य आदर सत्कार नही करना अथवा अन्य दातारो के गुणो का सहन नही करना। जैसे-इस श्रावक ने मुनिराज को दान दे दिया तो क्या मै इससे कुछ हीन हूँ, क्या मैं ऐसा नही कर सकता हूँ। इस प्रकार अन्य दातारो से ईर्ष्याभाव करने को मत्सर भाव कहते है। दूसरो से द्वेष भाव रखकर अन्य की उन्नति से द्वेष करके दान देना सो भी मत्सर भाव है। हां, जो दूसरो से बढकर दान देता है और सोचता है ऐसा अवसर मिलना कठिन है जो कुछ करना है करलू ऐसे भावो से महान् पुण्य होता है। मत्सर शब्द के कई अर्थ हुवा करते हैं, जो हारने योग्य है-मत्सर. परसपत्त्यक्षमायां तद्वति क्रोधः अर्थात् दूसरों की सम्पदा को देखकर सहन नही करना, तथा उस पर क्रोध करना इत्यादि मत्सर भाव है ५. कालातिक्रम—साधु के योग्य भिक्षा के समय को उल्लघन करना कालातिक्रम है। जो अनुचित समय मे मुनियो को भोजन देने खड़ा होता है। मुनियो के भोजन के समय के पहिले भोजन करने वाला श्रावक इस दोष का भागी है। ये पांचो ही अतिचार यदि अज्ञान से या प्रमाद से होवे तो अतिचार है। जान बूझकर करे तो अनाचार हो जाता है। इसलिये ऐसे भावो से सर्वथा बचना चाहिये। इस प्रकार अतिथि सविभाग के अतिचारो को टालकर दान देना गृहस्थो का कर्तव्य है। यहा तक दूसरी प्रतिमा अर्थात् बारह व्रतो का वर्णन हुवा। इन व्रतो के पालने वाले के और भी विशेष नियम होते है उनको बताते है—

—: व्रतो के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य :—

हिसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरभानारंभभेदतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो, द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥ १ ॥
गृहवाससेवनरतो, मदकषाय प्रवर्तितारभ.।
आरभजां स हिसां शक्नोति न रक्षितु नियतम् ॥ २ ॥

अर्थ—हिसा दो तरह की होती है, एक तो खेती आदि कार्यों से होने वाली हिसा जिसे आरम्भी कहते है। दूसरी वस्तुओं के रखने उठाने आदि मे होती है, उसे अनारंभी हिसा कहते है। जिस पुरुष की कषाय मन्द हो गई है वह संतोषी गृह त्यागी दोनो प्रकार की हिसा का त्यागी हो जाता है। पर घर मे रहने वाला श्रावक दोनो प्रकार की हिसा का

पूर्ण रूप से त्याग नही कर सकता। क्योकि उसकी कषाय मन्द नही हुई है। इसलिये व्रती दो तरह के हुए १ गृहवासी २ गृहत्यागी। उक्त द्वादश व्रतो को मनुष्य तथा तिर्यच, सब अपनी २ योग्यतानुसार पाल सकते है, इसमे किसी को कोई बाधा नही। निरतिचार, पचाणुव्रत, सातिचार सप्त शीलव्रत चाण्डाल भी पाल सकता है, ऐसे अनेक शास्त्रो मे दृष्टान्त मिलते है। गृहवासी तथा गृहत्यागी, ये भेद द्वितीय प्रतिमा से लेकर नवमी प्रतिमा तक माने गये है। इसके आगे गृहत्यागी ही होते है, इसका विशेष खुलासा अनुमती त्याग प्रतिमा मे करेगे, वहा से जानना। घर निवासी और त्यागी व्रतियो के बाह्याचरण और वेष मे फर्क रहता है। उनसे उनकी पहिचान हो सकती है। इन व्रतो के ग्रहण करने से मनुष्य पर्याय सफल और सुशोभित होती है। इन व्रतो को धारण करने से पहिले ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये।

जो बिनज्ञान क्रिया अवगाहे, जे बिन क्रिया मोक्ष पद चाहे।
जे विन मोक्ष कहे मै सुखिया, सो नर अजान मूढन मे मुखिया ।।

भावार्थ—जो भव्य पुरुष अपने आत्मा को इस ससार रूपी समुद्र से निकालना चाहते है, उनका कर्तव्य है कि भगवान् के उपदेशे हुए सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करे निजात्मा को ज्ञान सम्पन्न प्रौढ बनावे जिससे फिर पतित न होवे। धर्मात्मा को चाहिये कि उन्हे जो व्रत लेना हो उसे पहिले अच्छी तरह समझ ले। तथा देने वाले को भी चाहिये कि उनका स्वरूप पहिले ठीक २ समझा देवे। लेने वाले के चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उसकी सहनन शक्ति, कुल, योग्यता आदि सब की अच्छी तरह जाच कर फिर व्रत देवे, ताकि उसे दूषण लगाने का अवसर न आवे। उद्वेग मे व्रत नही देवे। क्योकि उद्वेग मे व्रत दे दिये जायगे, तो व्रत लेने वाला उनको छोड देगा। तब जिन मार्ग की हसी होगी, सो उचित नही। इसलिये पहिले ही खूब सोच समझ कर कर्तव्य करना योग्य है। गृहत्यागी ब्रह्मचारी है। कपडे कम कीमती शुद्ध सफेद और साधारण पहिने। शिर के केशो को बिलकुल घोट मोट करावे, मूछो के बाल मुखपर छोटे २ रखे, घुटवावे नही। आरम्भ परिग्रह की लालसा को बहुत कम कर देवे। बिछाने के वास्ते एक चटाई रक्खे। ओढने के वास्ते १ दोहरा। रुई के भरे बिस्तर ओढने या बिछाने के वास्ते बिलकुल न रक्खे। अपने पास इतना ही परिग्रह रक्खे जिसे स्वय उठाकर दूसरे गाव को विहार कर सके। उदासीन ब्रह्मचारियो को हमेशा ख्याल रखना चाहिये कि भूलकर भी, स्वप्न मे भी रुपया पैसा नही लेना न अपने पास रखना। हमेशा पैदल चलना। मोटर, रेल, तागा, बग्घी, ऊंट, घोडा, बैल आदि की सवारी मात्र पर नही बैठना, जिससे याचना न करनी पडे। जो याचना नही करता उसमे लोग प्रीति पूर्वक धर्म सेवन करते है। पैसा मागने वालो से यहा तक कहने लग जाते है कि—यह

महात्मा लोभीदास है हम इससे मिलना नही चाहते, क्योकि यह त्यागी नही है यह तो ठग है, पापी माया-चारी है, इत्यादि। कहा है—

अयाचीक जिनधर्म है, धर्मी जाचे नांहि। धर्मी बरण जाचणलगे, सो ठगिया जगमांहि ।।

यह भी ध्यान रहे कि शास्त्रो का लेख है कि व्रती अकेला विहारी न रहे। क्योकि अकेला रहने वाला अपनी मरजी आवे सो ही करे, साथी होवे तो उसके डर से, खोटा कार्य न करे तब पाप से बचे और पुण्य का सचय करे। इसलिये व्रती को कभी अकेला नही विहार करना। उदासीन त्यागियो को चाहिये कि हमेशा दिन मे एक बार भोजन करे, दुबारा भूल कर न करे। यदि एक बार के भोजन मे अन्तराय भी होगया हो तो भी दुबारा भोजन अथवा मेवा फलादि का साधन भी नही मिलाना चाहिये तथा न कोई अन्य सामान रखना चाहिये। क्योकि यह व्रत काय और कषाय को कृश करने के वास्ते लिया है न कि पेट भरने के लिये। ऐसा ध्यान रखना चाहिये। कहा है—

काय पायकर तप नही कीनों, आगम पढ नहीं मिटी कषाय।
धन को पाय दान नही दीनो, कीनो कहा जगत मे आय ।।
लीनो जन्म मरण के खातिर, रत्न हाथ से दियो गमाय ।।
चार बात यह मिलन कठिन है, शास्त्र, ज्ञान, धन, नरपर्याय ।। १ ।।

यह मनुष्य पर्याय महा दुर्लभ से भी दुर्लभ है। इसको पाकर जिनराज का मार्ग पाना और भी महा दुर्लभ है। कषायो को दमन कर इस मार्ग की प्रभावना करो, जिससे ससार भर के व्रती तुमको देखकर चारित्र की उन्नति मे प्रवृत्त हो जावे यदि आपको तीर्थ क्षेत्रो की वन्दना के लिये जाना है तो भी पैदल ही यात्रा करना चाहिये। पैदल चलने मे शरीर की तथा व्रत की स्वतन्त्रता व दृढता पूर्वक रक्षा होती है, परतन्त्रता छूट जाती है। पैदल यात्रा से इतना और लाभ होता है कि जगह२ के श्रावको को व्रतियो के आचरण और भोजन शुद्धि की विधि का परिज्ञान हो जाता है, जिससे जीवो की बडी दया पलती है। शास्त्रो की यही आज्ञा है कि व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीवो की दया पाले और अपनी आत्माका कल्याण करे। यही व्रतियों का लक्षण है। व्रतियो की, याचना का भाव समझकर गृहस्थ लोग उनका यथोचित आदर भाव करना भी छोड देते है। फिर भी कुछ लोग नही समझते। मानो मांगने के लिये ही उन्होने जन्म लिया है। उन लोगो से गृहस्थ लोग यहा तक भी कह डालते हैं कि महाराज हम हमारे गृह-कुटुम्ब का पालन पोषण करे, या तुम्हारा भार उठावे, कही और जगह अपना कार्य देखो। इस प्रकार तिरस्कृत होकर भी जो मागना नही छोड़ते या तीर्थ वन्दना के वहाने रुपया मागते हैं, इससे ज्यादा क्या पतन होगा, बडे खेद की बात है। इसलिये व्रती का वेष लेने वालो को आत्म सम्मान, और आत्म सुधार

का तथा धर्म और समाज की सेवा का निरन्तर ध्यान रखना चाहिये। यदि भोजन के समय अन्तराय हो गया हो, तथा शरीर में शक्ति कम होने से क्षुधा न सही जावे, तो दुबारा भोजन के वास्ते उसी गृहस्थ से कहकर पुनः भोजन करले। क्योकि उस गृहस्थ को मालुम है कि आज प्रातः अन्तराय होने से ये अभी तक बुभुक्षित है, इसलिए इनको भोजन करना उचित है। अगर दूसरे के यहां भोजन को जायगा तो गृहस्थ लोग समझेगे कि ये कैसे व्रती है, दिन भर भोजन ही करते फिरते है, इस तरह समझ कर व्रतियो पर से अपनी श्रद्धा उठा लेते है, जिससे धर्म का ह्रास होता है। इसलिये ब्रह्मचारी आदि व्रतियो को बहुत समझ कर अपनी चर्या करनी चाहिये। अपनी प्रवृत्ति अपने वश मे रखनी चाहिये, परतन्त्र न होने देवे। साथ ही द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देखकर अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार बाह्य तप भी करते रहना चाहिये, जिससे अपनी शक्ति की परीक्षा तथा वृद्धि होती रहे, संसार तथा शरीर से वैराग्य होता रहे। अनशन आदि तप तथा रस परित्याग का अभ्यास बढाते रहना चाहिये।

खीरदहिसप्पितेलगुडलवणाणं च ज परिच्चयणं।
त्त्क्तकटुकसायविमल, मधुररसाण च ज चयणं।। ३५२।। (मूलाचार)

अर्थ—खीर (दूध), दही, घी, तेल, गुड, लवण आदि लेकर इनको छह रसो मे एक दो या सबका यथाशक्ति प्रतिदिन त्याग करना चाहिये। यद्यपि तिक्त, कटु, कषाय, मधुर, विमल ये पाच ही रस होते है, किन्तु भोजन के स्वाद की अपेक्षा इन से ऊपर कहे छ रसो का ही यथाशक्ति नियम करना। जिस दिन जिस रस पर विशेष रुचि हो उसी रस को उस दिन छोडना चाहिये। ऐसा नही है कि शनिवार को ही तेल छोडना, दीतवार को नमक, सोमवार को हरी, इत्यादि क्रम तो भट्टारको का चलाया हुआ है, सिद्धान्त नही है। इसके पालन से कोई विशेष लाभ तो है नही फिर भी बिलकुल नही से तो कुछ भला ही है। मुनि को चाहे आर्यिका, ऐलक क्षुल्लक या ब्रह्मचारी हो, इनके खानपान की वस्तुओ की क्रिया पाक्षिक श्रावक की मर्यादा के अनुसार ही हुवा करती है, कोई अलग मर्यादा सिद्धान्त मे इनके लिये नही बताई गई है। क्योकि अगर अलग व्यवस्था हो तो उद्दिष्ट त्याग कैसे सधे। गृहस्थ लोग अपने लिये जो भोजन बनाते है उसी मे से अतिथिसविभाग करते है। यदि किसी पात्र का योग न मिले तो वे स्वय आप ही अपना भोजन जीमते है। गृहस्थ नीचे लिखे अनुसार भोजन के अन्तराय टाले—

"मासरक्तादिचर्मास्थ, पूयदर्शनतस्त्यजेत्। मृताङ्गी वीक्षणादन्नं प्रत्यक्षाननुसेवनात्।। १।।
मातंगश्वपचादीनाम् दर्शने तद्वच श्रुतौ। भोजन परिहर्तव्य, मलमूत्रादिदर्शने।। २।।"

अर्थ—नीचे लिखे अन्तराय टालकर गृहस्थो को भोजन करना। १. मांस का देखना

२. चार अगुल प्रमाण रक्त की धारा देखना ३. गीला चमडा देखना ४. गीली हड्डी को देखना ५ खराब लोहू (राध पीव) का देखना ६. भोजन मे या भोजन के बाहर मरे हुए त्रस जीवो का कलेवर देखना ७ अपनी त्यागी हुई वस्तु का भक्षण कर लेना ८. चाडाल आदि का देखना या उनका वचन सुन लेना अथवा मल मूत्रादि अयोग्य पदार्थों का दिख जाना, इतने कारणो से अन्तराय मानकर भोजन को छोड देना चाहिये । अब इनका पृथक् पृथक् खुलासा करते है–अन्तराय चार तरह मे होते है–१ कुछ पदार्थों के देखने से २ स्पर्श करने से ३ कुछ शब्द सुनने से ४ अपने मन मे विकल्प होने से । जैसे पहला भेद देखने से यथा मास मदिरा, गीला चमडा, हड्डी, चार अंगुल से ऊपर रक्त धारा जीवो की हिसा, गीला पीप (राध) पचेन्द्रिय का मृतक कलेवर टट्टी मल, मूत्रादि इन वस्तुओ के देखने मात्र से भोजन मे अन्तराय हो जाता है । २ स्पर्श करने से यथा गीला चमडा, विष्टा, मुर्दा, पंचेन्द्रिय मनुष्य या तिर्यंच अव्रती पुरुष, मद्य मास आदिका सेवन करने वाला, रजस्वला स्त्री, भोजन मे बाल रोमादि निकलना, पक्षियो के पख आदि का भोजन मे निकलना, नख आदि का निकलना नियम लेकर भङ्ग करने वाला, इत्यादि का स्पर्श हो जाने से भोजन मे अन्तराय हो जाता है । ३ सुनने से यथा-माँस मदिरा हड्डी आदि के, तथा मारो-मारो काटो-काटो इत्यादि कठोर शब्द, अग्नि लगने आदि उपद्रवो की आवाज, रोना आदि का कारुण्य जनक शब्द, स्वचक्र परचक्र के आक्रमण का शब्द, धर्मात्मा पुरुष या स्त्री पर उपसर्ग होने का शब्द, मनुष्यो के मरने के समाचार, जिन धर्म जिन बिम्ब, जिनवाणी जैन साधुओ पर उपसर्ग या इनका अविनय के शब्द सुनाई पडने पर, किसी अपराधी को फासी लगने का शब्द, तथा चाडाल आदि शब्द इत्यादि-बातो के सुनने मात्र से व्रती श्रावक के भोजन मे अन्तराय उपस्थित होता है । ४ मन मे विकल्प होने से यथा–भोजन करते समय ऐसा विचार आ जावे कि अमुक पदार्थ मास, विष्टा रुधिर या पीव के समान है, जिसमे ऐसी ग्लानि हो जावे, भोजन के समय मल मूत्र की बाधा हो जावे, भोजन मे त्यागी हुई वस्तु की मर्यादा भूलकर भक्षण कर लेना, भोज्य पदार्थ मे ऐसी शका हो जाना कि यह मेरे लेने योग्य है या नही, इत्यादि विकल्पो के मन मे आ जाने से भोजन मे अन्तराय होता है । इसी प्रकार के और भी सब अन्तराय टालने योग्य है । ये सब अन्तराय भोजन के प्रत्याख्यान किये पश्चात् माने गये है । सो ध्यान रहे । जितने भी व्रतो का यहाँ तक विधान किया गया है उन सबको पुरुषार्थ सहित दृढता से निर्वाह करना चाहिये । इनमे शिथिलता करने मे कर्माश्रव होता है जिससे नरक निगोद आदि मे जाना पड़ता है । पुण्य के उदय से यह जीव ससार में रहते हुए किंचित् सुख पाता है, सो ही दिखाते है । (इष्टोपदेश)

वरं व्रतै. पद दैवं नाव्रतै वत नारकं । छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतो महान् ।। ३ ।।

भावार्थ—अहिंसादिक महाव्रत तो साक्षात् मोक्ष के दाता हैं ही, किन्तु जबतक, ऐसी शक्ति न हो तबतक यथाशक्ति व्रतो को पालकर स्वर्गादि के सुखो की छाया मे बैठना और हिसादि पापों से जनित नरकादि गतियो के दुख रूपी आताप से बचकर समय निकालना चाहिये। क्योंकि वास्तविक सुख तो स्वर्ग मे भी नही किन्तु मोक्ष मे ही है। इसे दृष्टान्त द्वारा यों समझना चाहिये–तीन मित्र व्यापार के लिये विदेश को रवाना हुए। एक शहर की धर्मशाला मे जाकर ठहरे। वहा के कार्य से निवृत्त होकर आगे चले। तब एक को अपने चश्मा की याद आई। वह कहने लगा "मै धर्मशाला से चश्मा लेकर आऊं तबतक आप दोनो यही ठहरे" तब दोनो मित्रो मे से एक तो वृक्ष की शीतल छाया मे बैठ गया, दूसरा तप्तायमान धूप मे घूम कर समय बिताने लगा। अब विचारिये किसका समय बिताना सुख रूप है ? उत्तर मिलेगा छाया मे बैठने वाला का। इसी प्रकार इस ससार के परिभ्रमण मे भगवद्भाषित धर्म का आश्रय लेकर मोक्ष होने के पहिले स्वर्ग व उत्तम मनुष्य भव के सुखो की शीतल छाया मे रहना, तथा अव्रत पाप आदि के आचरण से होने वाले नरक तिर्यंच गति के दुख रूप भवाताप से इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग से बचने के लिये श्रावक के व्रतो का पालन करना चाहिये जिससे कम से कम आत्मा बलवान् बने। सम्यक्त्व व्रत के बिना ससार मे चक्रवर्त्ति की विभूति भी कुछ कार्यकारी नही है। देखो सुभूमि चक्रवर्ति क्षणभर मे नरक चल गया इसलिये दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है—

धन समाज गज वाज, राज तो काज न आवे। ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावे।
कोटि जन्म तप तपं, ज्ञान बिन कर्म झरेंजे। ज्ञानी के क्षण में त्रिगुप्तितें सहज टरेंते ।।

भावार्थ—हे भव्य पुरुषो–धन दौलत, स्त्री, पुत्र, मित्र कुटुम्ब, परिवार, राजपाट हाथी, घोडा ये जीव के साथी नही, किन्तु ससार की वृद्धि के कारण है, शत्रु के समान है। यदि कुछ इनसे भला होता, या सुख होता तो तीर्थकरादि महापुरुष अनुपम राज ऋद्धि को छोडकर महामुनि का आचरण क्यो करते ? इन पदार्थो से किसी का न भला हुवा है, न होगा। ज्ञान रूपी धन से ही सर्व जीवो का भला हुवा है, होता है, तथा होगा। इसलिये ज्ञानाराधन करना ही व्रतियो का कर्तव्य है, इससे ही व्रतादि की शुद्धि होगी, सो ही दृष्टान्त से बताते है—

"यदन्न भक्षयेन्नित्य, जायते तादृशी च धी.। दीपो भक्षयते ध्वान्त कज्जल च प्रसूयते ।।"

भावार्थ—यह प्राणी जैसा अन्न खायगा वैसी ही इसकी बुद्धि हो जायेगी। जैसे–दीपक अन्धकार को खाता है तो फिर अन्धकार (कज्जल) को ही उगलता है। लोक मे यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि—

जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वाणी ।।

अर्थात्—व्रतो का शुद्ध रूप से पालन होता रहेगा तो ज्ञान भी स्फुराय मान होगा, इसलिये अपनी शक्ति को न छिपाकर निरन्तर निज कर्तव्य का पालन करना चाहिये।

"अनतशास्त्र बहुलाश्च विद्या। अल्पश्च कालो बहु विघ्नता च ॥
यत्सारभूतं तदुपासनीयं। हंसो यथाक्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥"

अर्थ—हे भव्य पुरुषो! ज्ञान तो द्वादशाग रूप अपार, आयु थोडी है। उसमे भी अनेक विघ्न आते रहते है। इसलिये इस थोडे समय का भी सदुपयोग करके जो सारभूत है, आत्म के कल्याण का कारण है, उतना ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिये। जैसे—हस के सामने दो सेर दूध रक्खा जावे तो उसमे से अपने योग्य दूध दूध को ग्रहण कर लेता है, शेष को छोड देता है। इसी तरह व्रती अपने कल्याण के मार्ग को खोजकर ग्रहण करता है, पापरूप पथ का परिहार करता है। **व्रती को कब मौन रखना चाहिये—**

मौन भोजनवेलायां, ज्ञानस्य विनयो भवेत्। रक्षण चाभिमानस्य, सुदिशन्ति मुनीश्वरा ॥
दहन मूत्रणं स्नान, पूजन परमेष्ठिनाम्। भोजन सुरतं स्तोत्र, कुर्यान्मौनसमायुतम् ॥

अर्थ—भोजन करते समय मौन रखने से ज्ञान का विनय होता है, भोजन की लम्पटता रूप से अभिमान की रक्षा होती है, ऐसा मुनीश्वरो ने कहा है। अग्नि दहन, मल मूत्र क्षेपण, स्नान के समय तथा पच परमेष्ठियो की पूजन के समय, सामायिक स्तवन आदि आवश्यको के समय, भोजन के समय, भोग के समय गृहस्थो को मौन रखना चाहिये।

प्रश्न—ऊपर बताये कार्यों मे मौन रखना चाहिये सो ठीक है, किन्तु उस समय भगवत् का स्मरण करना चाहिये वा नही?

उत्तर पवित्र पवित्रो वा, सुस्थितो दुस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पञ्चनमस्कार, सर्वपापै प्रमुच्यते ॥

भावार्थ—पवित्र हो, या अपवित्र, स्वस्थ हो या अस्वस्थ, कोई भी कैसी अवस्था मे हो, यदि वह पञ्च नमस्कार रूप भगवान् के नाम मन्त्र का स्मरण करता है तो सर्व पापो से छूट जाता है। अनेक प्राणी इस मन्त्र के जाप से जन्म जन्मान्तरो के पापो से छूट गये, ऐसे अनेक दृष्टान्त है—जैसे—"**अंजन चोर पातकी ढोर, जप्यो मन्त्र मन्त्रन शिरमोर ॥**
महाकुष्ट दडक वहु जीव, जपत मन्त्र हूवे शिवपीव ॥"

पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप हर हालत मे किया जा सकता है विपरीत कार्यो के लिये मौन वतलाया है। धर्म कार्य के लिये नही। **व्रती के सामान्य कर्तव्य —**

वधादसत्याच्चौर्याच्च, कामादग्रन्थान्निवर्तनम्। पञ्चकाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिषष्ठमणुव्रतम् ॥

अर्थ—त्रस जीवों की हिंसा का त्याग सो स्थूल अहिंसाणुव्रत है। स्थूल झूठ वोलने का त्याग सो सत्याणुव्रत है। पर द्रव्यापहरण रूप चोरी का त्याग सो अचौर्याणुव्रत है।

पर स्त्री मात्र का त्याग तथा स्वदारा में सतोष सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। प्रमाण में रक्खे हुए परिग्रह के सिवाय अन्य समस्त पदार्थों का त्याग सो परिग्रह परिमाणुव्रत है। रात्रि मे खाद्य स्वाद्य लेह्य पेय रूप चारो प्रकार के आहार का त्याग सो रात्रि भोजन त्याग नाम छठा अणुव्रत है। इस तरह कई आचार्यो का छह अणुव्रत रूप भी अभिप्राय है, सो स्वीकार योग्य है। जो दूसरी प्रतिमा के बारह व्रत पालते है, वे स्वय ऐसा कारण नही मिलावे, जिसमें प्रत्यक्ष देखते त्रस जीवो की अन्याय पूर्वक हिसा करनी पडे। जैसे—राज करना, सेनापति, कोतवाल होना, हलवाईगीरी करना, वनकटी या कृषि करना, युद्ध करना, कराना इत्यादि कार्य छोड देने योग्य है। हा, जिनके पहिली दर्शन प्रतिमा ही है, वे लोग ऊपर लिखे कार्यो को यथा योग्य न्याय पूर्वक कर सकते हैं, ऐसा भगवत् गुणभद्र का कथन है।

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्य न्सर्वेषां परतो भवेत्। उदिताष्टकषायाणां, तीर्थेशां देशसयम ॥

अर्थ—अपनी आयु के आठ वर्ष बीतने के समय से भगवान् तीर्थङ्कर देव की गृहस्थ अवस्था मे आचरण व्यवस्था अणव्रती सरीखी होती है। परन्तु अणुव्रत नही लेते महाव्रत ही लेते है। क्योकि चारित्र मोहनीय की प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी की चार अप्रत्या-ख्यानावरण की चार इन आठ प्रकृतियो का अनुदय होने से भगवान् का आचरण देशव्रती सरीखा हो जाता है। परन्तु ये किसी के पास अणव्रत लेते नही। क्योकि ये महापुरुष जगत् गुरु अवसर आने पर महाव्रत ही लेते है। अन्यथा अणुव्रती की हालत मे राज-काज करते है, छह खण्डो को जीत कर कोई २ चक्रवर्ती पना भी स्थापित करते है, अन्य राजाओ को वशवर्ती कर शासन करते है, उस समय उनके अप्रत्याख्यानावरण कषाय की सर्वघाती प्रकृति का तो सर्वथा अनुदय तथा देशघाती प्रकृति का उदय होने से इस रूप प्रवृत्ति होती है। जैसे-मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्षका भक्षण का तो पूर्ण रीति से अभाव होता है तथा पञ्चाणव्रत रूप सातिचार प्रथम प्रतिमा की सी वृत्ति से न्याय रूप से जितने भी कार्य होते है उनको करते है, जैसे राजा होना सेनापति होना आदि।

ऊपर के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अणव्रती न्याय रूप से राजा महाराजा इत्यादि सासारिक पद व्यवहार कर सकता है राजा वही है जो न्याय पूर्वक स्वय चलता हुआ दूसरो को न्याय के पथ पर चलाता है। भगवज्जिनसेन स्वामी ने आदि पुराण मे कथन किया है कि-महाराज भरत पञ्चाणुव्रत धारी थे, तथा न्याय शासन की बागडोर भी अपने हाथ मे रखते थे। उन्होने छह खण्ड पृथ्वी को स्त्री की तरह पालन किया। छ्यानवे हजार महा बलवान राजा वश मे थे। जिनमे बत्तीस हजार भूमि गोचरी बत्तीस हजार म्लेच्छ और बत्तीस हजार विद्याधर थे। जिनके छहो खण्डो से आई हुई कन्याये चक्रवर्ती की राणिया छ्यानवे हजार थी। एक लक्ष कोटि हल थे। इतनी अपार सम्पदा होते हुए

भी अणुव्रती हो सकते है, ऐसा सिद्धान्त का कथन है। हां इतनी बात अवश्य है, कि सप्त शीलो को धारण करने के लिये पञ्चाणुव्रत निरतिचार होने चाहिये, सो राज्य करते समय ये बात संभव नही होती, इसलिये राज्य को छोडकर व्रतो का आदर करते हैं। ऐसे राज्य त्यागी भरत चक्रवर्ती तथा श्री शातिनाथ, कुंथुनाथ, अरहनाथ, ये तीन चक्रवर्ती पद को छोड़कर साधु हुए। इनका विशेष वर्णन प्रथमानुयोग से जानना चाहिए। दुनिया के अनेक विवाद और पथो की भरमार देखकर घबडाये हुए भव्य को किसका अनुकरण करना चाहिये इसका उत्तर देते है—

"श्रुति विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना, नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाण।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया, महाजनो येन गत स पन्था ॥"

भावार्थ—श्रुति, स्मृति आदि तथा ऋषियो के मन्तव्य परस्पर भिन्न २ है। धर्म का तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि मानो गुफा मे छिपा हुवा है। इसलिये महापुरुष, तीर्थंकर, गणधर आदि, जिस मार्ग पर चले है उसी मार्ग पर कटिवद्ध तथा दृढ होकर भव्य धर्मात्मा को चलना चाहिये। निरतिचार द्वादश व्रत पालने के इच्छुक को, राज्य आदि का त्याग करना ही चाहिये। क्योकि राग और वैराग्य ये दोनो कार्य एक साथ निभ नही सकते। सो ही कवि के वचन से भी स्पष्ट होता है —

दो मुख पंथी चले पंथा, दो मुख, सूई सिये न कन्था।
दोय काज नही होत सयाने, विषय भोग अरु मोक्ष हु जाने ॥

भावार्थ—एक ही पथिक जैसे पूर्व और पश्चिम दो मार्गो को तय नही कर सकता, अथवा सूई दो और कपड़े को सीने मे असमर्थ है, इसी प्रकार कोई पुरुष चाहे कि मैं भोग भी भोगता रहू और मोक्ष का भी साधन करलू तो ऐसे परस्पर विरुद्ध कार्य एक साथ नही हो सकते। हा समव्याप्ति मे दोनो कार्यो की सभावना रहती है किन्तु भोगने और मोक्ष की परस्पर मे विषम व्याप्ति है, शीत और उष्ण स्पर्श की तरह। रागद्वेष तो दोनो परस्पर मे एक दूसरे के आश्रित है, इसलिये एक साथ ही रहते है। जैसाकि इष्टोपदेश की टीका मे स्पष्ट किया।

यत्र राग पद धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः। उभावेतौ समालम्बय, विक्रमत्यधिकं मन ॥

अर्थात्—जहा राग है, वहा अवश्य द्वेष है इन दोनो के आधार से मन मे विकार होता है। जिन गृहस्थों के घर मे परम्परा से खेती का कार्य होता चला आया है, वे भी जब व्रत धारण करे तब उस कार्य को अपने अन्य कुटुम्बियो के सुपुर्द करके स्वय बारह व्रत धारण करे, तथा त्रस हिंसा प्रत्यक्ष होवे ऐसे कार्यो का सर्वथा त्याग करे। घर मे रहने वाला व्रती हो चाहे गृहत्यागी हो वह जाति की रसोई (जीमन वार) मे जीमने के वास्ते

न जावे, क्योंकि वडे भोज में शुद्धि अशुद्धि तथा मर्यादा अमर्यादा का विचार नही रहता, जैसे तैसे कार्य पूरा करने की धुन रहती है । इसलिये ऐसे भोज आदि मे शामिल होने की स्वभावत: अरुचि होवे तभी त्यागी पन शोभा देता है, नही तो वेष मात्र रहता है । हीन जातियो का सा बर्ताव या उनका ससर्ग नही करना चाहिये, किन्तु उदार और उत्तम आचार विचार रखना चाहिए । व्रती मनुष्य पशु आदि का युद्ध न देखे । बावडी तालाब या नदी मे कूदकर स्नान न करे । मेला नाटक तमाशा सगीत सम्मेलन आदि राग वर्द्धक कार्य मे शामिल न होवे । प्रतिष्ठा आदि धार्मिक समारोह मे जाने का निषेध नही । ऐसे शब्द मु ह से नही कहे जिनसे धर्म और अपनी हसी होवे । वचनो से ही मनुष्य की परीक्षा और प्रामाणिकता होती है । नीतिकारो का कहना है कि हीन जाति वालो, या उत्तम जाति वालो के कोई सिर या पैर मे मुद्रा नही लगी हुई हैं जिससे उनकी पहिचान हो जावे । किन्तु जैसे-जैसे वे उत्तम, या अधम शब्द बोलते है, उसी से उनके कुल का ऊ च नीच पना मालुम हो जाता है । इसी तरह व्रती को हमेशा हित, मित, मधुर और योग्य ही शब्द बोलने चाहिये अव्रती सरीखे शब्दो का उच्चारण भी नही करना चाहिये । यही कहा है—

"न जारजातस्य ललाटशृङ्ग , न कुल प्रसूतस्य न पादपद्म ।
यदा यदा मुञ्चति वाग्विलासं, तदा तदा तस्य कुलप्रमाणम् ।।"

शब्द वर्गणा मे इतनी प्रबल शक्ति है कि ससार के अन्दर जितने भी वशीकरणादि मत्र है वे सब इस शब्द से ही सिद्ध होते है । देखिये-जिनेन्द्र भगवान् का सम्पूर्ण ससार दास हो जाता है, वह इस शब्द का ही महात्म्य है । जिस पुरुष ने अपने वचन मे दूषण लगाया है उसने अपना सर्वस्व नाश किया है । अत प्राण जाने पर भी अपशब्द का उच्चारण नही करना चाहिये । ऐसे शब्द बोलने से मौन रखना ही अत्युत्तम है जिससे कि अकार्य नही होवे और निन्दा से बचे तथा धर्म की हसी नही होवे । व्रतियो को यह ध्यान रहे कि वह अपने पास चमडे का कोई भी सामान, जूता वगैरह साथ मे नही रक्खे । तथा ऊनी वस्त्र भी नही रक्खे । चटाई के ऊपर सोवे । दो घडी दिन चढने पश्चात् से दो घडी दिन रहे उसके मध्यम मे अपनी खान-पान क्रियाये एक बार कर लेनी चाहिये । समय पडे तो दूसरी बार जल-पान कर लेवे नही तो एक बार ही करे । सिद्धान्तो मे षट् कर्म बताये है उनको साधने के लिये व्रती को सदा तत्पर रहना चाहिये । उसमे शिथिलाचारी नही होना चाहिये । जिस देश मे व्रत भग हो जावे ऐसे देशो मे कभी नही जाना चाहिये । तथा एकल विहारी न होकर संग मे रहना ही अच्छा है । यह भी ध्यान मे रहे कि जब दीर्घ शंका व लघुशका जावे तब णमोकार मत्र नवबार सत्ताईस श्वासोच्छ्वास मे पढना चाहिये । आने मे, जाने मे, भोजन मे, सोने मे, लघुशका मे, दीर्घ शका मे यह मत्र जपना चाहिये, इनमे

भूल नही रक्खे । गृहवासी व्रतियो के तो व्रत छः कोटियो से पलते है और गृहत्यागी व्रती के व्रत नव कोटि से पलने चाहिये, ऐसा सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त की आज्ञा उल्लघन करने का साहस नही करना चाहिये । व्रती होकर प्रमाद करना–और अपनी जितनी ज्ञान व आचरण की शक्ति हो उतना ही व्रत लेना चाहिये, अधिक नही । क्योंकि व्रत संसार परिपाटी को दूर करने के लिये है न कि संसार परिपाटी को बढाने के लिए । सो ही स्व० प० दौलतरामजी छहढाला मे बताते है—

यह राग आग दहे सदा तातें समामृत सेईये ।
चिर भजे विषय कषाय अबतो त्याग नजपद लेईये ।

कहने का तात्पर्य यह है कि ससार रूपी राग को शात कर आत्म रूप भावो के समामृत का पान कर चिरकाल तक विषय सेवन किये अबतो त्याग करो और शाति को भजो, अन्यथा पत्थर की नाव की तरह डूब जावोगे । भगवन् नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती-गोमट सार कर्म काण्ड मे बताते हैं :—

चतारि विखेत्ताइं आउगवंबधेण होई सम्मत्त । अणुवदमहव्वदाई ण लहई देवा उगं मोत्त ॥

अर्थ—चारो ही गतियो मे किसी भी आयु के वध होने पर सम्यक्त्व हो जाता है । परन्तु देवायु के वंध के सिवाय अन्य तीन आयु के बधवाला जीव अणुव्रत तथा महाव्रत नही धारण कर सकता है । क्योकि महाव्रत के कारणभूत विशुद्ध भाव उत्पन्न नही होते । इन व्रतो का ऐसा महात्म्य है–जो अस्पर्श शूद्र है वे भी अणुव्रतों को पूर्ण रीति से पालन करते है किन्तु पूर्ण देश को पालन नही कर सकते । इसी प्रकार का कथन अन्य ग्रन्थो मे भी पाया जाता है । देश सयम स्पर्श शूद्र के तो होता है अन्यथा नही । अणुव्रतो को पालन कर छोड देने से क्या स्थिति होती है सो ही कहते है । (योगसार पाहुड)

भरये पचवकाले, जिनमुद्राधारग्रथसव्वस्से । साडेसात करोर जाइये निगोयमज्जिमि ॥१॥

अर्थ—इस भरत क्षेत्र मे इस पचम काल के निमित्त से परिग्रह लोभ को धारण कर दिगम्बर या दिगम्बर उपासक कहलाकर साड़े सात करोड़ जीव निगोद के पात्र होंगे । क्योकि परिग्रह के लोभी दिगम्बर मे इस पंचम काल के महात्मा से विषय कषाय के लोभ मे जीव फंसकर दुखी होंगे । इस भरत क्षेत्र मे ऐसे भी जीव उत्पन्न होगे जो कि सीधे विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर नव वर्ष बाद केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जायेंगे । इसी को बताते है—

"जीवासय तेइसा, पचम कालेय भद्दपरिणामा ।
उप्पाइदु विदेहे नवमइव रसे दु केवली होदी ॥ १ ॥

अर्थ—इस प्रकार के जीव इस पचम काल मे इस भरत क्षेत्र में भद्र परिणामी पुण्यात्मा यहाँ मे आकर उत्पन्न होगे और उनकी शक्ति के अनुसार धर्म साधन कर अपनी

आत्मा को स्वल्प कर्मी बनाकर मनुष्य आयु के निमित्त से एकसौ तेईस जीव महाविदेह क्षेत्र मे जाकर जन्म लेकर नव वर्ष के अन्दर केवल ज्ञान प्राप्त करेगे। उनका विशेष खुलासा इस प्रकार है। पचम काल २१००० वर्ष का है। इसके आचार्यो ने सप्त भेद किये है। पहला भाग–३००० का दूसरा भी ३००० का इस तरह प्रत्येक भाग तीन २ हजार का है, इस प्रकार सात भेद माने है। सो इन एक २ भेद के अन्दर भद्र परिणामी स्वल्प कर्मी विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर मोक्ष मे जावेगे। पहला भाग तीन हजार वर्ष का है उसमे ६२ भद्र परिणामी विदेह मे जाकर जन्म लेकर नववर्ष मे केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जायेगे। दूसरे भाग के तीन हजार वर्ष के काल मे ३१ भद्र परिणामी विदेह मे उत्पन्न होकर मोक्ष को जावेगे। तीसरा तीन हजार वर्ष का समय आवेगा जब उसमे १६ जीव विदेह मे उत्पन्न हो कर मोक्ष को जावेगे। चतुर्थ ३००० वर्ष का आवेगा उसमे ८ जीव विदेह मे उत्पन्न होकर मोक्ष को जावेगे। पाँचवा जब ३००० वर्ष का आवेगा तब ४ जीव विदेह मे जाकर मोक्ष को जावेगे। छटवा ३००० वर्ष का आवेगा तब २ जीव विदेह मे उत्पन्न होकर मोक्ष को जावेगे। सातवाँ ३००० वर्ष का जब समय आवेगा तब १ जीव विदेह मे उत्पन्न होकर मोक्ष को जायगा। इस तरह पचमकाल मे भी जीवो का भला होगा। इसलिये जितने भी साधन बनाये जाते है वे सब आत्महित के उपाय है। प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि वह आत्म हित मे लगे। जीवन का कोई भरोसा नही। यह मनुष्य पर्याय भी बार २ नही मिलती हम आगे मनुष्य होगे अथवा नही यह भी निश्चित नही। क्योकि—

"साधिकद्वयब्धिसहस्रं स्थिति जीवानां व्यवहारे, तस्मिन्नेव अट्ठचदु प्राप्नोति त्रिवेदे पर्याया।

अर्थ—यह जीव इस ससार सागर मे दो हजार सागर तक रहता है। विशेप नही रहता है। इसमे इसको ४८ मनुष्य की पर्याये प्राप्त होती है। उसमे १६ तो पुरुप वेद, १६ स्त्री वेद, १६ नपुंसक वेद–जिसमे यह मालुम नही कि तुम्हारी कौनसी पर्याय है। अगर आखिरी पर्याय होगे तो अब मनुष्य पर्याय मिल नही सकती और संसार मे डूब जावोगे इससे यह मनुष्य पर्याय प्राप्त करना महान् दुर्लभ है—अत श्री गुरुओ का सयम धारण करने का उपदेश धारण करो।

सामायिक प्रतिमा का स्वरूप

"जो कुणइ काउसग्गं, बारस आवत्त संजुदो धीरो।
णमुण दुगपि करतो चदुप्पणामो पसण्णप्पा ।।"
चितत्तो ससरूव जिणबिब अहव अक्खर परम।
झायदिकम्मविवाय, तस्य वय होदि सामइयं ।।

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि श्रावक बारह आर्वत सहित चार प्रणाम सहित दो नमस्कार

करता हुआ, प्रसन्न है आत्मा जिसका, धीर दृढ होता हुआ कायोत्सर्ग करता है, और वहां पर अपने चैतन्य मात्र शुद्ध स्वरूप को ध्याता हुआ चितवन करता रहता है एव श्री बिंबो का चिन्तवन करता है या पंच परमेष्ठि का वाचक णमोकार मंत्र का ध्यान करता है, तथा कर्मोदय से रस की जाति का चिन्तवन करता है उसके सामायिक प्रतिमा होती है।

— सामायिक भेद और उनका स्वरूप :—

द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक भेद से आचार्यो ने सामायिक के दो भेद बताये है। १. द्रव्य सामायिक—जो शरीर मात्र से कार्य रूप चेष्टा की जावे उसे द्रव्य सामायिक कहते हैं। २ भाव सामायिक–आत्मा का चितवन भावो द्वारा किया जाना। अब द्रव्य सामायिक का विशेष स्वरूप बतलाते है—सामायिक दिन रात्रि मे गृहस्थ-ब्रह्मचारी क्षुल्लक व ऐलको को तीन बार करनी पडती है और सयमी मुनियो को चार बार करनी पडती है। सामायिक प्रतिमा धारी को नियम से तीनो समय सामायिक करना आवश्यक है, अन्यथा उसकी प्रतिमा मे दूषण लगता। व्रत प्रतिमा तक सामायिक एक या दो बार अथवा तीन बार भी कर सकता है। **सामायिक के लिए योग्य स्थान :—**

गिरिकंदराविवरशिलालयेषु गृहमन्दिरेषु शून्येषु। निर्दंशमशकनिर्जनस्थानेषु ध्यानमभ्यसत॥

अर्थ—पर्वत को गुहा मे पर्वत पर, मठ एव मन्दिर तथा शून्य स्थलो मे जहा डास एवं मच्छर न हो तथा निर्जन स्थान हो वहा पर सामायिक एव ध्यान करना चाहिये।

"ए न्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च, चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्य प्रसन्नधिया।

अर्थ—परिषह उपद्रव आदि से रहित, स्त्री नपु सक पशु आदि के शब्द से रहित निर्जन स्थान मे, एव वन मे जहा पर चित्त मे व्याक्षेप अर्थात् व्याकुलता उत्पन्न न हो, ऐसे स्थल मे, चैत्यालय मे अथवा तालाब के तट पर सामायिक करनी चाहिये। परिषह आने पर चित्त मे क्षोभ नही करना चाहिये। धीरता पूर्वक सहन करना चाहिये। अर्थात् सामायिक समय दृढ़ता रखनी चाहिये।

द्रव्य सामायिक करने की विधि—सामायिक के लिये पूर्व और उत्तर ये दो दिशाये शुभ हैं। पूर्व दिशा की तरफ मु ह करके खडा होवे और दोनो हाथो को नीचे की तरफ लम्बा करके नव बार णमोकार मंत्र का जाप करे। तथा तीन बार हाथ जोड कर आवर्त करे पश्चात् अपने शरीर को नमावे अर्थात् शिरोन्नति करे। उसके बाद इस प्रकार का विचार करे कि पूर्व दिशा सम्वन्वी जो जिन भगवान् के कृत्रिम या अकृत्रिम चैत्यालय एव मुनि या आर्यिका हो उन को मेरा वारम्वार नमस्कार हो। इसी प्रकार चारो दिशा सम्बन्धी (पूर्व-पश्चिम-उत्तर दक्षिण) दिशाओ मे भी जाप्य आर्वत एव शिरोन्नति तथा विचार करे। बाद मे पाचवी वार मे पूर्व दिशा मे मुख हो तव नमस्कार करे। और अपने से जैसा वने वैसा

ही आसन लगाकर चित्त स्थिर रखे फिर पाताल लोक सम्बन्धी चैत्यालयो को नमस्कार करे। फिर यह विचार करे कि मै अज्ञानी हूँ जहा पर बैठा हू वहा पर जिन भवन हो उन को मैं मन वचन काय से नमस्कार करता हू–और क्षमाप्रार्थी हू मुझे यहा बैठने से चैत्यालय के अविनय का पापास्रव न हो। और जब सामायिक करने के लिये बैठे उस समय अपने शरीर पर से कपड़े तथा भूषण आदि सब जब तक सामायिक करे तब तक के लिये उतार देवे। कदाचित् मै उठू और मुझको भाग्यवश चक्र आ जावे तो साडे तीन हाथ पृथ्वी से अतिरिक्त मेरे सब परिग्रह का त्याग है ऐसा सकल्प करे। पश्चात् सामायिक के बाद यदि आयु कम रहे तो उसका त्याग नही है। इस प्रकार विचार कर सामायिक के लिये बैठना चाहिये और बैठकर अपने आत्म स्वरूप का विचार करना चाहिये। सामायिक के समय क्या विचार करे इस विषय पर कहा है—

"कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्य' किंप्राप्य' किंनिमित्तक'।
इत्यूह प्रत्यह नोचेद् अस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥ ७८ ॥ (क्षत्रचूडामणि)

अर्थ—मै कौन हूँ मुझ मे क्या २ गुण है और मै कहा से आया हूँ एव क्या प्राप्त कर सकता हू और मै किस निमित्त के लिये हूँ यदि इस प्रकार प्रतिदिन विचार करे या होता रहे तो निश्चय से मनुष्यो की बुद्धि अयोग्य स्थलो पर पहुच जाती है। हमे मालूम हो जाता है कि बुराई कौनसी है, जिसे छोडा जाय। तात्पर्य यह है कि अयोग्य कर्त्तव्यो से निवृत्ति करके और शुभ कर्मो मे प्रवर्त्तन करके मनुष्य पर्याय को सार्थक करे। आगे और भी इस विषय पर कहते है—

"रागद्वेषविनिर्मुक्त' ध्यायति यो निजात्मन.। गच्छति स्वस्वरूप स वदन्ति मुनिपुङ्गवा ॥

अर्थ—जो प्राणी रागद्वेष से रहित होकर अपनी आत्मा का ध्यान करता है वह आत्म स्वरूप को शीघ्र प्राप्त कर लेता है, ऐसा मुनीश्वरो ने कहा है। यदि उल्लिखित प्रकार से आत्म चिन्तवन करना न जाना हो तो जो पाठ कण्ठस्थ हो उसे स्वय अथवा पुस्तक से पढ़ लेवे। जितने समय तक उत्तम मध्यम एव जघन्य सामायिक के अनुकूल प्रत्याख्यान करे उतनी देर तक सामायिक करे। कुछ लोगो का ऐसा कहना है कि सामायिक मे चित्त नही लगता है इधर-उधर दौडता रहता है उसे रोकना कठिन है। उनके लिये कुछ थोडी सी निम्न प्रकार से विधि बताते है। इससे मन का वेग अवश्य रुक सकेगा। जब तक सामायिक करो चित्त को जप से अन्यत्र मत ले जाओ। जपन के साथ उपयोग बनाये रखो। स्थिर बुद्धि पराक्रम पूर्वक करो और उस समय कमल की रचना रूप प्रयोग अपने हृदय के ऊपर रखो और णमोकार मंत्र तथा चार आराधनाओ का स्मरण करना प्रारम्भ कर दो, जिससे चित्त को सतोष पहुचेगा और मनोवृत्ति इधर-उधर नही जावेगी। कमलाकार यत्र

की रचना अपने हृदय के बीचो बीच ध्यान या सामायिक करने के समय उपयोग में लाओ। इस यन्त्र मे नवकोष्ठक होते है। मध्य मे एक वर्तुल (गोल) कोष्ठक है उसमें १ न० रखे तब प्रथम नाम अरहंत–णमो अरहंताणं। शेष चारो दिशाओ में चार कोष्ठक करे ऊपर के कोष्ठक मे २ नं० रक्खे। और उस कोष्ठक को पूर्व दिशा मे चितवन करे उसमे णमो सिद्धाणं का ध्यान करे। तृतीय कोष्ठक दक्षिण विभाग मे करे। उसमें न० ३ रक्खें और णमो आइरियाण का ध्यान करे चतुर्थ कोष्ठक पश्चिम दिशा मे ध्यानस्थ करे और नं० ४ उसमे रक्खे और णमो उवज्झायाण का चिन्तवन करे। पंचम कोष्ठक उत्तर भाग मे चितारे और उसमे ५ न० रक्खे और णमो लोए सव्व साहूण का चिन्तवन करे षष्ठ कोष्ठक ईशान कोण मे विचारे और उसमें ६ न० रक्खे और उसमे सम्यग्दर्शनायनम. इस पद का चिंतवन करे। सप्तम कोष्ठक आग्नेय कोण में विचारे और सात अक का उसे विचार कर उसमे क्रमशः सम्यग्ज्ञानाय नम इस पद का चिन्तवन करे। अष्टम कोष्ठक नैऋत्य कोण मे करे और क्रमश. उसमे सम्यक्चारित्राय नम· इस पद का चितवन करे। अन्त का नवम कोष्ठक करे उसको वायव्य कोण मे करे और उसमे क्रमशः सम्यक्तपसे नम ऐसा विचारे इस प्रकार कमलाकार इस यन्त्र मे जप करना एव ध्यान लगाना चाहिये। इन कोष्ठको मे जपने का क्रम निरन्तर रक्खो तो ४८ मिनट मे १०८ नाम पूर्णरूप से जपे जावेगे। ऐसा क्रम रखने से चित्त स्थिर रह सकेगा।

यदि चित्त मे किसी प्रकार की गड़बडी हो तो बहुत शाति के साथ सभालते रहना चाहिये। जिससे चित्त शनै. शनैः प्राचीन अभ्यास को छोडकर स्थिरता धारण कर लेवे। आपको शाति के इस प्रयोग से चित्त में अवश्य कुछ स्वस्थता आवेगी और इस प्रकार के जाप से सामायिक भी होगी, जाप भी होगा तथा शाति भी मिलेगी एव अभ्यास से कुछ समय मे यह शाति दायक प्रयोग भी सम्पन्न हो जावेगा और ससार चक्र से हटकर चित्त आत्मिक सुख एव अनुभव का भी कुछ लाभ कर सकेगा। आगे सामायिक के समय क्या २ ध्यान करना चाहिये इसको सप्रमाण नीचे बतलाते है।

"योग्यकालाशनस्थानमुद्रावर्तशिरोन्नति.। विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥

अर्थ—सामायिक के लिये योग्य समय होना चाहिये। जैसे कि पूर्वाह्न काल अपरान्ह काल अथवा मध्यान्ह काल। चौरासी आसन बतलाये गये है उनमे से जो उचित हो अर्थात् जिससे ध्यान स्थिर रह सकता हो वही आसन उचित्त है। जैसे–पद्मासन खड्गासन और अर्धपर्यकासन इत्यादि। यहा पर सुखासन से तात्पर्य है। ध्यान योग्य स्थानो का निर्देश ऊपर कर चुके है। ध्यान की मुद्रा भी अनेक मानी गई है किन्तु विशेष उपयोगी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाने की ध्यान मुद्रा है। आवर्त तथा शिरोन्नति को भी

पीछे बता चुके है । विनय सहित जिस प्रकार नग्नरूप बालक कषायों से रहित होता है उस प्रकार होकर स्थिर मन से सावद्य क्रिया रहित स्थिरता से रहे ।

सामायिक के भेद— सामायिक के भी आचार्यो ने जो अनेक भेद किये है । मूलाचार ग्रन्थ के कर्ता श्री बट्टकेर कर स्वामी ने सामायिक षड् आवश्यको मे गिनाया है ।

"सामाइय च व बीसत्थ व वदणय पडिक्कमणम् ।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ।। ५१६ ।। (मू० ष०)

अर्थ—१ सामायिक २ चतुर्विशतिस्तव ३ बदना ४ प्रतिक्रमण ५ प्रत्याख्यान और ६ कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक है । आगे इनका स्वरूप कहते है । १ सामायिक—अपनी आत्मा अनादि काल से पर द्रव्यो के निमित्त से रागी द्वेषी होकर ससार मे भ्रमण करती फिर रही है उन राग द्वेष के भावो से दूर कर इसको आत्म स्वभाव मे रत करना ही सामायिक का सामान्य लक्षण है । २ चतुर्विशति स्तव – वर्तमान कालिक तीर्थङ्करो के नाम को निर्युक्ति रूप भूतकालिक एव वर्तमान कालिक गुणानुवाद करना स्तुति करना चतुर्विशति स्तव है । ३ बन्दना—तीर्थङ्करो मे से किसी तीर्थङ्कर नाम से या सब नाम से वन्दना नमस्कार करना वन्दना है । ४ प्रतिक्रमण—प्रथम सामायिक काल के पश्चात् जब तक दूसरा सामायिक समय आवे उसके बीच जो कुछ कार्य मे दूषण लगा हो उसका विचार करना प्रतिक्रमण है । ५. प्रत्याख्यान–प्रथम सामायिक के समय से दूसरे सामायिक के मध्य काल मे जो दूषण लगा हो उसको पश्चात्ताप पूर्वक चिन्तवन करना और कहना कि भविष्य में ऐसा नही करू गा तथा भविष्य मे वैसा न करना प्रत्याख्यान है । ६. कायोत्सर्ग—जो मन वचन काय के निमित्त से पूर्व प्रत्याख्यान मे दोष विदित हुआ है उसकी निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त रूप कायोत्सर्ग है सामायिक के अन्य प्रकार से भी ६ भेद माने गये है उनको सप्रमाण लिखते है—

"णामट्ठमणादव्वे खेत्तेकाले तहेव भावे य, सामाइ याह्मे एसो णिक्खेओ छव्वि ओणेओ ।

अर्थ—सामायिक मे भी निम्न प्रकार से छह प्रकार का निक्षेप होता है । १ नाम २ स्थापना ३ द्रव्य ४ क्षेत्र ५ काल और ६ भाव । आगे संक्षेप से इनकी व्याख्या बताते है । १. नाम सामायिक—शुभ और अशुभ रूप जो नामो की निर्युक्ति है उसमे रागद्वेष नही करना सामायिक है । २ स्थापना सामायिक—सामायिक मे स्थित होने के पश्चात् कोई दुष्ट जीव किसी जीव को वाण आदि के प्रयोग से मारे और वह जीव, मय शस्त्र एव अस्त्र के यदि अपने आसन के समीप भी आ पड़े तब भी सामायिक से विचलित नही होना स्थापना सामायिक है । ३ द्रव्य सामायिक—भले प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् तप सहित आत्मा को इन्ही मे रत रखना, आत्म परिणति से चलायमान नही होने देना, यदि

चलायमान हो जावे तो उसे पुरुषार्थ द्वारा रोकना, पुन आत्म परिणति में रत करना द्रव्य सामायिक है। ४ क्षेत्र सामायिक—ग्रीष्म या शीत सम्बन्धी कोई बाधा उत्पन्न हो जावे या मनुष्य एवं अथवा पशु के द्वारा कोई उपसर्ग की बाधा उपस्थित हो जावे तब यह विचारना चाहिये कि यह शरीर तो विनश्वर ही है, एक बार अवश्य विनाश होवेगा ही, फिर इस के विनाश के भय से मै जो सामायिक की प्रतिज्ञा ले चुका हूँ उससे क्यो चलायमान होऊं ? यदि मे चलायमान हो जाऊ गा तो अन्य धर्मात्मा मुझ को विचलित देखकर अस्थिर कहेगे एव हसेगे तथा धर्म मे भी क्षति होगी देखादेखी अन्य लोग भी सामायिक मे दृढ न रहेगे। ऐसा विचार करना और चलायमान न होना क्षेत्र सामायिक है। ५ काल सामायिक–यम नियमो से रहे, रचमात्र भी चलायमान नही होवे और जितने समय पर्यन्त सामायिक करने का नियम किया है उतने समय तक स्थिर रहे। सामायिक का उत्कृष्ट काल ६ घडी है, मध्यम काल ४ घडी है, और जघन्य काल २ घडी है। एक घडी २४ मिनिट की होती है। ६ भाव सामायिक—जब आत्म विचार करने लगे तब ऐसा विचार हो जावे कि जहा पर आत्मा है वहा पर पौद्गलिक राग द्वेषादिक नही है। मेरी आत्मा इन रागद्वेषादि मे पृथक् है। अभ्यास करते २ ऐसे भाव शीघ्रता से जमने लगे। आचार्यो ने इसे भाव सामायिक कहा है और इसे परमोच्च उपादेय कहा है। सामायिक के षट्कारक रूप— १ कर्त्ता सामायिक २ कर्म सामायिक ३ करण सामायिक ४ सम्प्रदान सामायिक ५ अपादान सामायिक और ६ अधिकरण सामायिक। इस प्रकार भी सामायिक के ६ भेद है। आगे प्रत्येक को विशुद्ध रूप से दिखाते है।

१ कर्त्ता सामायिक—मैं अपनी आत्मा को अपने द्वारा आत्म स्वरूप मे ही देखता हूँ इसको कर्त्ता सामायिक कहते है। २ कर्म सामायिक– मैं अपनी आत्मा को अपने द्वारा आत्म स्वभाव मे ही स्थापित करता हूँ ३. करण सामायिक—मै अपनी आत्मा को अपने द्वारा आत्मा के कर्त्तव्यो मे ही स्थापित करता हूँ। ४. सम्प्रदान सामायिक–मैं अपनी आत्मा के लिये अपनी आत्मा को आत्म-भावो मे ठहरा रहा हूँ। ५. अपादान सामायिक—मैं अपनी आत्मा को रागद्वेप से पृथक् आत्मा मे ही जानता हूँ। ६. अधिकरण सामायिक—मैं अपनी आत्मा के स्वभाव का ज्ञाता होकर अपनी आत्मा को अपनी आत्मा मे ही स्थापन कर आत्मा को आत्मा मे ही देखता हूँ। यहा तक जितने सामायिक करने के प्रकार एवं सामायिक क्रियाओ का वर्णन किया है वह सब भाव सामायिक है। आत्मा तथा मन को स्थिर रखने के लिये ये सब प्रयोग बताये गये है यह पूर्ण रूप मे ध्यान मे रखना चाहिये। आत्मोन्नति भाव सामायिक मे ही होगी। आत्मतत्त्व की गवेषणा का मुख्य साधन आचार्यों ने भाव सामायिक ही बताया है। संसार मे कल्याणकारक वस्तु भाव सामायिक है।

भाव यदि शुद्ध है तो श्रेयस्कर है। यदि मिथ्या है तो ससार के भ्रमण कराने वाले है। भाव सामायिक का भी मुख्य कारण ध्यान है। उस ध्यान के प्रकार सप्रमाण बताते है।

--: ध्यान के भेद :--

ध्यानं चतु: प्रकारं भणन्ति वरयोगिन जितकषाया: ।
आर्तं तथा च रौद्रं धर्म तथा शुक्लध्यान च ।। १० ।। (ज्ञानसार)

अर्थ—कषायो पर विजय करने वाले आचार्यों ने आर्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल इस प्रकार से चार प्रकार का ध्यान बताया अब क्रमश प्रत्येक ध्यान का कार्य एव स्वरूप बताते है।

तंबोलकुसमलेवणभूसणपियपुत्तचिंतण अट्ट ।
वंधणडहणवियारणमारण चिंता रउद्द काम ।। ११ ।।
सुत्तत्थमग्गणाणं महव्वयाण च भावणा धम्म ।
गयसकप्पवियप्प सुक्कज्झाणा मुणेयव्व ।। १२ ।। (ज्ञानसार पद्मनदी)
"ताम्बूलकुसुमलेपनभूषणप्रियपुत्रचिंतनं आर्तं ।
वन्धनदहनविदारण--मारणचिन्तारौद्रं ।। ११ ।।
सूत्रार्थमार्गणानां महाव्रतानां च भावना धर्मं ।
गतसंकल्पविकल्प शुक्लध्यान च मंतव्यम् ।। १२ ।।

अर्थ—ताबूल कुसुम, लेपन, भूषण और प्रिय पुत्र एव प्रियजन तथा पुत्र की चिन्ता करना आर्तध्यान है। रौद्रध्यान मे बाधने, जलाने, विदारण एव मारण करने की चिन्ता होती है। धर्मध्यान मे सूत्रार्थ---मार्गणाये तथा महाव्रतो की भावना की जाती है। सकल्प और विकल्पो से रहित शुक्ल ध्यान होता है। अब यह बताते है कि किस २ ध्यान से क्या-क्या गति प्राप्त होती है। **किस ध्यान से कौनसी गति प्राप्त होती है ?**

"तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्दज्झाणेण ।
देवगई धम्मेण सिवगइ तह सुक्कझाणेण ।। १३ ।।
तिर्यग्गति. आर्तेन नरकगति तथा रौद्रध्यानेन ।
देवगति धर्मेण शिवगति तथा शुक्लध्यानेन ।। १३ ।। (ज्ञानसार पद्मनंदी)

अर्थ---आर्तध्यान से प्राणी तिर्यञ्चगति मे जाता है, रौद्र ध्यान से नरक गति प्राप्त होती है, धर्म्य ध्यान से देवगति और शुक्ल ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। **आर्तध्यान के भेद**-- अब प्रत्येक ध्यान के चार २ भेद बताते है---उसमे प्रथम आर्त ध्यान के चार भेद बताते है।

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात् परम् ।
रुक् प्रकोपात्तृतीयं स्यात् निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ।।२४।। (ज्ञानार्णव अध्याय २६)

अर्थ-आर्तध्यान अनिष्टसयोगज १ इष्टवियोगज २ पीडाचिन्ताजात ३ और निदानज भेद से

चार प्रकार का है। प्रत्येक का विशदीकरण नीचे किया जाता है। १ अनिष्ट संयोगज— आर्तध्यान-दु खदायी, कुरूप, अनेक व्याधियो से युक्त शरीर को देखकर क्लेश युक्त परिणामो का होना अनिष्ट सयोगज आर्त्तध्यान है। यह अपने शरीर को देखकर भी होता है तथा स्त्री पुत्र, बाधव, मित्र, नौकर आदि के द्वारा भी हो सकता है— अनेक प्रकार के पापी जीवो के सयोग से जो कि अपने से प्रतिकूल है, उनसे जो संक्लेश परिणामो का होना है उसकानाम अनिष्टसयोगज आर्तध्यान है। २इष्टवियोगज-आर्तध्यान जो कोई अपना इष्ट अर्थात् प्रिय हो उसके वियोग से जो प्राणी के सक्लेश परिणाम हो जाते है उसे इष्ट वियोगजनामका दूसरा आर्तध्यान का भेद कहते है। यह अपनी इष्ट वस्त्र, जैसे सुन्दर शरीर, गंध पुष्प वस्त्राभूषण सुखदायिनी स्त्री पुत्र बांधव मित्र पडौसी नौकर पशु आदि के वियोग से होता है। ३-पीडाचिन्ताजन्य-आर्तध्यान-अनेक प्रकार के भयकर रोगो के प्रकोप से जो पीडा एव वेदना होती है और जब वह असह्य हो जाती है, चाहे वह अपने शरीर की हो, अथवा पर शरीर की हो, तो उन व्याधियो का प्रतीकार किया जाता है और वह सब विफल हो जाता है उस समय जो संकल्प विकल्प परिणामो से संक्लेश होता है, उसे पीड़ाचिन्ताजन्य आर्तध्यान का तीसरा भेद कहते है। ४ निदानबन्धज आर्तध्यान-संयम, तप, व्रत एवं चारित्र को शास्त्रानुकूल पालन करके आगामी काल के लिये जो विषय सेवन की सासारिक अभिलाषा करना या अन्य किसी जीव के प्रसन्न करने की अभिलाषा करना है वह निदान बन्धज का चतुर्थ आर्तध्यान का भेद है। यह आर्तध्यान तिर्यञ्चगति मे ले जाने वाला है, अत. योग्य व्यक्तियो को एवं बुद्धिमानो को नही करना चाहिये। **रौद्र ध्यान के भेद—**

"हिसानन्दान्मृषानदाच्चौर्यात् संरक्षणात् तथा।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्र चतुर्विधम्॥ २५॥ [ज्ञानार्णव अ० २६]

अर्थ—हिंसानन्द १ मृषानन्द २चौर्यानन्द ३ और परिग्रहानन्द ४ इस प्रकार रौद्रध्यान के चार भेद प्राणियो के होते रहते हैं। १ हिंसानन्द रौद्रध्यान—बहुत से त्रस या स्थावर जीवो का अपने से या अन्य से वध या बधन, मारण एवं ताडन करना या करवाना तथा देखकर प्रसन्न होना, एव ऐसा नियोग मिला देना जिससे अनेक जीवो का घात हो और देखकर फिर प्रसन्न होना, तात्पर्य यह कि हिसा मे ही आनन्द मानना हिंसानन्द रौद्रध्यान है। २ मृषानन्द रौद्रध्यान—स्वय असत्य कल्पना करना अथवा अन्य पुरुषो द्वारा कराना या असत्य बातो की सहायता देकर लोगो को झगड़े मे फसाकर प्रसन्न होना और यह कहना कि यह वड़ा चढ़ा था अब ठीक हो जावेगा, विना पूछे भी बीच में बोलकर झगडा बढा देना तथा प्रसन्न होना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान का भेद है।

३. चौर्यानन्द—स्वयं चौर्य में प्रवृत्त होना एव चौरी करवाना, यहा चौरी किस

प्रकार से हो सकती है—ऐसा चिंतवन करना एव दूसरों के द्वारा दूसरों की चोरी करवाना सदा चौर्य विचारों को तथा चोरी के उपायो को विचारते रहना किसी के चोरी होने पर प्रसन्न होना चौर्यानन्द नाम का तृतीय रौद्र ध्यान का भेद है। ४. परिग्रहानन्द-रौद्रध्यान—क्रूर चित्त होकर आरंभ परिग्रह रूप सामग्री का संग्रह करना अथवा अन्य के द्वारा सामग्री का सचय देखकर प्रसन्न होना भी परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है। यह रौद्रध्यान नरक गति का कारण है। आर्तध्यान और रौद्रध्यान को तिर्यंच तथा नरक गति का कारण एव अप्रशस्त जानकर छोड देना ही समुचित है। इन कुध्यानो के कारण जीव अनादि काल से ससार मे परिभ्रमण कर रहे हैं। बडी कठिनता से मनुष्य पर्याय और श्रावक कुल प्राप्त कर एव जिन वाणी का श्रवण कर भी आत्म कष्टदायी इन ध्यानो को जो प्राणी करते ही रहते है वे प्राणी मनुष्य पर्याय तथा श्रावक रूपी कुल रत्न को प्राप्त करके व्यर्थ ही खो देते है।

धर्म्यध्यान के भेद— **"एयेग्गेण मण णिरूंभिऊण धम्म चउव्विहं झाहि।**
आणापायविवायविचओ य सठाण विचय च ।। २०१ ।।

"एकाग्रेण मनो निरुध्य धर्मं चतुर्विध ध्याय।
आज्ञापायविपाकविचय सस्थानविचयञ्च ।। (मूलाचार पचाचाराधिकार)

अर्थ—हे भव्य जीव! तू एकाग्रता से इन्द्रियो के व्यापार तथा मनोव्यापार को रोककर एव वश मे करके धर्म्यध्यान का चितवन कर। उसके निम्नलिखित चार भेद है। १ आज्ञाविचय २ अपायविचय ३ विपाकविचय और सस्थानविचय। आज्ञाविचय का स्वरूप बतलाते है— **"पंचत्थिकायछज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य।**
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ।। (मू० प० अ०)

अर्थ—आज्ञाविचयनामक धर्मध्यान से पचास्तिकाय, छह द्रव्य, षड् जीवनिकाय और काल द्रव्य को सर्वज्ञानुकूल ध्यान मे लाया जाता है। अर्थात् इस प्रकार चितवन किया जाता है कि ये सब पदार्थ सर्वज्ञ वीतराग ने प्रत्यक्ष देखे हैं, कभी भी व्यभिचरित नही हो सकते है। क्योकि अरहन्तो का वचन अन्यथा नही है। अपायविचय धर्मध्यान का स्वरूप बतलाते है— **"कल्लाणपावगाओ पाएविचिणादि जिणमदमुविच्च।**
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहेव असुदेच ।। २०३ ।।

अर्थ—अपायविचय धर्म्यध्यान द्वारा ससार के दु ख, कर्मो की पृथक्त्व, और सदा के लिये शान्ति प्राप्ति का उपाय और जैन धर्म का आश्रय लेकर मोक्षमार्गरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा किन २ कारणो से आस्रव वध का सवर एवं निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्ति होती है ऐसा चितवन किया जाता है। आगे अपायविचय ध्यान के प्रकार तथा उनका स्वरूप बतलाते है। अपायविचय पिण्डस्थ १ पदस्थ २ रूपस्थ ३ और रूपा-

तीत ४ भेद से चार प्रकार का है। १ पिडस्थ—अपनी आत्मा का शुद्ध चेतनता सहित ध्यान करना एव अनुभव करना तथा पांच प्रकार के ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है। २. पदस्थ—पदस्थध्यान मन्त्र यन्त्रादि समुदाय रूप जपन किये जाते हैं। इसके अनेक भेद हैं। ३. रूपस्थ—इस ध्यान मे अपनी आत्मा को चार कर्मो रहित केवल ज्ञान सहित समवसरण सयुक्त अरहत रूप ध्याया जाता है। ४ रूपाती-तअष्ट कर्म रहित (द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित) शुद्ध द्रव्य क्षेत्र काल भाव मय भावात्मा का चितवन करना रूपातीत धर्मध्यान है। उल्लिखित अभ्यासो से ध्यान मे दृढता आती है। कहा भी है।

"पिण्डस्थे स्वात्मचिन्तनं पदस्थे मन्त्रवाक्यस्थ, रूपस्थे सर्वचिद्रूप रूपातीत निरञ्जनम् ॥१॥

अर्थ—पिण्डस्थ ध्यान मे स्वात्मचिन्तवन किया जाता है। पदस्थध्यान मे मन्त्र वाक्यो का चिन्तवन किया जाता है रूपस्थध्यान मे सर्व चिद्रूप अरहंत रूप का ध्यान किया जाता है और रूपातीत मे निरञ्जनसिद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है। **पिण्डस्थध्यान का विशेष स्वरूप**— **"पिण्डस्थे पच विज्ञेया· धारणा वीरवर्णिता ।**

संयमी वा स्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥ ३६ ॥

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसनावाथ वारुणी ।

तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता· यथाक्रमम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पिण्डस्थध्यान मे भगवान् महावीर स्वामी ने १ पार्थिवी २ आग्नेयी ३—वायुधारणा ४ वारुणी और ५ तत्त्वरूपवती ये पांच धारणायें कही हैं। इनके ध्यान करने से स्वात्मरत संयमी पुरुष अनादि कालीन कर्म बंधन को छिन्नकर के मुक्ति प्राप्त कर सकता है। **—पार्थिवी धारणा का स्वरूप—** आसन लगाने के बाद ध्यान मे निम्न रीति से चितवन करना चाहिये कि यह मध्यम लोक क्षीर समुद्र के समान निर्मलजल से परिपूर्ण है। उसके मध्य मे जबू द्वीप के समान गोलाकार, एक लाख योजन का, एक हजार पत्तो का धारण करने वाला, तपाये हुए सुवर्ण के समान चमकता हुआ एक कमल है। कमल के मध्य मे (कर्णिका स्थान मे) पीतवर्ण (सुवर्णाकार) एक सुमेरु पर्वत है उसके ऊपर पांडुकवन के बीच मे पाडुक शिला पर स्फटिक का एक सफेद सिहासन है उसे सिंहासन पर मैं आसन लगाकर वैठा हूँ और मेरा बैठने का उद्देश्य यह कि पूर्व सचित कर्मो को जलाकर अपनी आत्मा को निर्मल शुद्ध बना लूं। इस प्रकार के चिंतवन करने का नाम पृथ्वी धारणा है। **—आग्नेयीधारणा का स्वरूप—**

पूर्ववत् सुमेरु पर्वत के पांडुकवन की पांडुक शिला के ऊपर स्फटिक सिहासन पर वैठा हुआ ध्यानी आगे वढकर अपने नाभि के ऊपर हृदय की ओर उठा हुआ या फैला हुआ सोलह पत्र के सफेद कमल का चिन्तवन करे और उसके १६ पत्रो पर क्रम से

पीतवर्ण से लिखे निम्नाङ्कित १६ स्वर का चिन्तवन करे। **अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः।** इस कमल के मध्य, किरण के बीचो बीच, दूसरा कमल ठीक इस ही कमल के ऊपर ओंधा नीचे की तरफ मुख किये हुए पत्रो का फैला हुआ चिन्तवन करे। इसके एक २ पत्र मे क्रमशः काले वर्ण से लिखे ज्ञानावरण १ दर्शनावरण २ वेदनीय ३ मोहनीय ४ आयु ५ नाम ६ गोत्र ७ और अन्तराय ८ कर्मो का चिंतवन करे। अनन्तर नाभि के अन्दर १६ पत्र का जो सफेद कमल चितवन किया था उसकी किरण के बीच 'र्हं' रूप विचारना। र्हं का जो रेफ है उससे धूप निकलता विचारे। पुन अग्नि की शिखा का चितवन करे और यह विचारे कि यह अग्नि की शिखा अष्टकर्म लिखित कमल के आठो पत्तो को जला रही है। पुन ऐसा विचारे कि अग्नि की ज्वाला बढ गई है और सम्पूर्ण शरीर को जला रही है और वह अग्नि त्रिकोण रूप है और तीनो लकीरो मे र र र अग्नि बीज लिखा है और तीनो लकोरो से ही अर्थात् त्रिकोण रूप अग्नि मण्डल बना है ऐसा चितवन करे। पुन: त्रिकोण के बाहर तीनो कोनो पर स्वस्तिक (साथिया) अग्नि मय लिखा है एवं अन्दर तीनो कोनो पर ॐ ऐसा अग्नि मय लिखा हुआ विचारे। फिर विचारे कि भीतर तो अष्ट कर्मो को और बाहर इस शरीर को अग्नि मण्डल जला रहा है, अग्नि से जलते २ ये कर्म एव शरीर भस्म रूप हो गये है तब वह अग्नि धीरे २ शात हो गई है। ऐसा विचारना ही आग्नेयी धारणा है। —**वायुधारणा का स्वरूप**— ध्यानी आकाश मे विचरने वाले महावेग वाले और महा बलवान वायु मण्डल का चितवन करे और विचारे कि वायु देवसेनाओ को तथा सुमेरु पर्वत को भी चलायमान कर रही है, मेघो के समूह को नष्ट कर रही है और समुद्र को भी क्षुभित कर दिया है और समुद्र जगतीतल पर पृथ्वी को प्लावित कर रहा है और मेरे चारो तरफ एक गोल मण्डल बना लिया है। घेरे मे (मण्डल मे) आठ स्थान पर 'स्वाय स्वाय' वायु बीज लिखा है। और पूर्व ध्यानस्थ मे आया हुआ भस्म समूह (आग्नेयी धारणा मे चितवन किया गया भस्म समुदाय) प्रबल वायु मण्डल ने तुरन्त उडा दिया है। अनन्तर इस वायु का स्थिर रूप चिंतवन कर इसको श्वसना धारणा अथवा वायवी धारणा कहते है —**वारुणी धारणा का स्वरूप**—अनन्तर ध्यानी पुरुष इस प्रकार विचारे कि आकाश मे बडे २ मेघो के समूह आ गये है और बहुत जोर से उमड रहे है। बिजली चमक रही है। बादल गर्ज रहे हैं व मूसलाधार जल वर्षा रहे है। मै बीच मे बैठा हूँ और मेरे ऊपर अर्ध चन्द्राकार वरुण मडल (जल मण्डल) पप-पप जल के बीजाक्षरो से बरस रहा है, यह मेरी आत्मापर लगी हुई धूलि को धोकर साफ कर रहा है। आत्मा को अत्यन्त पवित्र कर रहा है। **तत्वरूपवती धारणा का स्वरूप**—अनन्तर ध्यानी सप्त धातुरहित पूर्ण चद्रमा के आभावाली सर्वज्ञ समान अपनी

आत्मा का चितवन करे। ऐसा चितवन करे कि मेरी आतमा अतिशय युक्त तथा सिहासन पर आरूढ कल्याणक की महिमा सहित है और देव दानव एवं धरणेन्द्र तथा नरेन्द्रो से चरण कमल पूजे जा रहे है। अनन्तर अपने शरीर मे आठ कर्म (द्रव्य कर्म और नौ कर्म रहित) स्फुरायमान प्रकट अतिशय युक्त निर्मल पुरुषाकार अपनी आत्मा का चितवन करे इसे तत्त्व रूपवती धारणा कहते है। **पदस्थ ध्यान का स्वरूप—**

"पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते। तत्पदस्थं मत ध्यानं विचित्रनयपारगं ।।

अर्थ—पवित्र अक्षर रूप पदो का आलम्बन करके धर्मात्मा योगियो द्वारा जो ध्यान किया जाता है उसको आचार्य पदस्थ ध्यान कहते है। अक्षर समुदाय रूप पदो के द्वारा शुद्ध स्वरूप अरहत या सिद्ध एव उनके गुण का चितवन किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते है। किसी उत्तम स्थान पर पदो के समुदाय को (रखकर) विराजित करके उनको देखकर चित्त को उनके ऊपर जमाना तथा उनके स्वरूप का ध्यान करना और श्रद्धान रखना कि हम शुद्ध होने के लिये इन पदों के द्वारा शुद्धात्माओ का ध्यान करते हैं। इस ध्यान की विशेष व्याख्या ज्ञानार्णव मे की है, वहा से जान लेना। **वर्ण (अक्षरो) के ध्यान की विधि**— ध्यान करने वाला अपनी नाभि के मध्य एक षोड़श पत्र कमल की रचना का ध्यान करे और क्रमश पत्रो पर निम्न षोडश वर्णो का ध्यान करे (**अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ**) अनन्तर इन पर घूम कर ऊपर फिर २४ पत्र व एक मध्य कर्णिका इस प्रकार पच्चीस पांखुरी का एक कमल हृदय पर विचारे। उन पर क्रमश· (**क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, और प फ ब भ म,**) ये पच्चीस वर्ण विचारे। अन्तर मुख पर अष्ट पत्रो के एक कमल की रचना का विचार करे। कमल का वर्णश्वेत चिन्तवन करे और और आठो पत्रो पर **य र ल व, श ष स ह** इन आठ अक्षर का ध्यान करे। किन्तु ये आठ अक्षर श्वेत कमल पर पीले वर्ण से लिखे विचारे यह मूल अक्षर असयोगी हैं। इस प्रकार का ध्यान श्रुत ज्ञान के सयोग का कारण है। ऐसा श्रद्धान रखे। यह ४६ अक्षरो का अनादि निधन अक्षर मन्त्र है। **र्हं बीजाक्षर का ध्यान—** [र्हं] यह अक्षर साक्षात् परमात्म पद व चौबीस तीर्थङ्करो का स्मरण कराने वाला है। इस को प्रथम दोनो भौंके बीच चमकता हुआ ध्यान करे। पीछे इस र्हं को मुख मे प्रवेश कराके अमृत झर रहा है ऐसा ध्यान करे। फिर नेत्रो के पलक को स्पर्श करता हुआ मस्तक के केशो पर चमकता हुआ विचारे। फिर ये आकाश के प्रदेश मे चन्द्रमा या सूर्य के विमान लघंन करके अथवा स्वर्गादि को लघन कर मोक्ष स्थान मे पहुंच जाता है ऐसा ध्यान करे।

—पंच परमेष्ठी के ध्यान की वर्णमाला एव विधि—

"पणतीस सोल छप्पण चदु दुग मेग च जवह झाएह।

परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ।। ४९ ।। [द्रव्य सग्रह]

अर्थ—पचपरमेष्ठी के वाचक ३५ अक्षर, छह, पाच, चार, दो और एक इस प्रकार भिन्न २ अक्षर है। इनका पृथक् २ विवरण नीचे निम्न प्रकार जानना चाहिए—

१. पैतीस अक्षरो का मन्त्र का ध्यान इस प्रकार किया जाता है—णमो अरहताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाण, णमो उज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण २ सोलह अक्षरो के मन्त्र का ध्यान–अरहत सिद्ध आयरिया उवज्झाया साहू ३ छह अक्षरो के मन्त्र पदो का ध्यान (१) अरहत सिद्ध—नामपद (२) अरहंत साहू—स्थापनापद (३) ॐ नम सिद्धेभ्य: –(भावपद) ४. पाच अक्षरो के पद का ध्यान—अ, सि, आ, उ, सा, ५ चार अक्षरो के पद का ध्यान—१ अरहत (नामपद) २ अ. सि. साहू ६ दो अक्षरो के पद का ध्यान—१ सिद्ध, २ अ. सि ३ ओ ह्री ७ एक अक्षर के पद का ध्यान—ॐ

"अरहत असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो ।
पढमक्खरणिप्पणो ओंकारो पचपरमेट्ठी ।।"

अर्थ—अरहत के आदि का अक्षर [अ], सिद्ध भगवान् अशरीरी है अत उनका प्रथम अक्षर (अ), आचार्यो का प्रथम अक्षर (आ), उपाध्यायो के प्रथम अक्षर (उ), साधुओ का (मुनियो का) प्रथम अक्षर (म्) इस प्रकार पाच परमेष्ठियो के आदि के अक्षर [अ अ आ उ और म्] है। इन सबकी सन्धि कर देने से 'ओम्' बनता है वह पच परमेष्ठी का वाचक है। यह महामत्र पचपरमेष्ठी वाचक अनन्त जन्मो के पाप का नाशक है। एव इन पचपरमेष्ठी वाचक मत्रो से ध्यानी अपनी आत्मा को शुद्ध कर लेता है। इस प्रकार पदस्थ ध्यान के करने से भी अभ्यास करते २ चित्त अन्य विचारो से हटकर धर्म्य ध्यान मे लीन हो जाता है। इस ध्यान को अभ्यास मे लाना अत्यन्त हितकारी है। और भी ध्यान के पदो का वर्णन ज्ञानार्णव मे मिलता है वहा से ज्ञात कर लेना चाहिये। इनका अभ्यास आत्महित मे अत्यन्त सहायक है। अत इनका अभ्यास प्रति दिन नियम पूर्वक करना चाहिये। **रूपस्थ ध्यान का स्वरूप**—

'आर्हंत्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वर । ध्यायेत् देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयंभुवम् ।। ३९ ।।

अर्थ—रूपस्थ ध्यान मे समवशरण की विभूति से युक्त देवेन्द्र और सूर्य आदि से शोभायमान सभा मे सिहासन पर विराजमान, सर्वज्ञ परमेश्वर का ध्यान किया जाता है। इसका विशेष विवरण इस प्रकार जानना चाहिए। अरहन भगवान् का महिमा अर्थात् समवशरणादि रूप रचना युक्त ध्यान कराना श्रीमण्डप जिसमे बारह सभाये तथा चतुरनिकाय के देव देवी मुनि आर्यिकाये तथा मनुष्य एवं श्रावक श्राविका तिर्यञ्च सब प्रकार के जीव शाति से बैठे हुए हो जिसमे उसके बीच तीन कटनी पर गधकुटी हो और उस पर सहस्र

दल का कमल और उसकी कर्णिका के ऊपर सिंहपीठ (सिंहासन) पर अन्तरीक्ष चार अंगुल ऊंचे श्री अरहन्त भगवान् पद्मासनरूप विराजमान है वे भगवन् सम्पूर्ण सभा के बीच मे है तथा वे अरहन्त भगवान् कैसे है-सम्पूर्ण अतिशयो से युक्त तथा सर्व दोषो से रहित करोड सूर्य की दीप्ति से भी अधिक प्रकाशमान, जग के जीवो के हितचिन्तक, परमशान्त है तथा सप्तधातुओ से रहित परम औदारिक शरीरयुक्त, अचिन्त्य चरित्र वाले, गणधर व मुनिगणो से सेवनीय, स्याद्वादवक्ता, अनेक नयो से निर्णय करने वाले घातिया कर्मों के नाश होने से अनन्त चतुष्टय अर्थात् (अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य और अनन्तसुख) प्राप्त करने वाले नव केवललब्धियो के धारक, चन्द्रमा के समान श्वेतछत्र से त्रैलोक्य का प्रभुत्व दर्शाने वाले, और जिनके ऊपर देवकृत ६४ चौंसठ चमर ढुल रहे है और भामण्डल की अतुलविभा युक्त, जो दर्शनमात्र से शोक को दूर कर देता है ऐसा अशोक वृक्ष जिनके सामने विद्यमान है, और साढ़े बारह करोड जाति के वादित्र जिनके सामने बज रहे हैं एवं मंद सुगंध पवन चल रही है तथा कल्पवृक्षो के पुष्पो की वर्षा हो रही है और जहा पर असख्यात जीव आकर अपना कल्याण कर रहे है और जिनकी दिव्य ध्वनि बिना ओष्ठ और तालु के निकल रही है और समस्त जीव अपनी २ भाषा मे समझ रहे हैं, सब जीव नि शंक एव जाति विरोध को छोडकर उपदेशामृत श्रवण कर रहे है और भगवान् निश्चय सम्यक्त्व और ज्ञानरूप होते हुए परम अद्वैतरूप आत्मस्वभाव मे लीन हैं, उनको कवि एव मुनि तथा भक्तजन सहस्र नाम से स्मरण कर रहे हैं—ऐसा चितवन करे।

सहस्रनामो मे से कुछ नाम यहां बताते है :—

१ अव्यक्त २ कामनाशक ३ अजन्मा ४ अनन्त ५ अतीन्द्रिय ६ जगद्बन्धु ७ योगिगम्य ८ महेश्वर ९ ज्योतिर्मय १० अनाद्यनत ११ सर्वरक्षक १२ योगीश्वर १३ जगद्गुरु १४ अच्युत १५ शान्त १६ तेजस्वी १७ सन्मति १८ सुगत १९ सिद्ध २० जगत्श्रेष्ठ २१ पितामह २२ परिपूर्ण २३ मुनिश्रेष्ठ २४ पवित्र २५ परमाश्रर २६ सर्वज्ञ २७ परम दाता २८ सर्व हितैषी २९ वर्धमान ३० निरामय ३१ नित्य ३२ अव्यय ३३ महावीर ३४ पुरातन ३५ स्वयंभू ३६ हितोपदेशी ३७ वीतराग ३८ निरञ्जन ३९ निर्मल ४० परमगभीर ४१ परमेश्वर ४२ परमतृप्त ४३ परमामृत पानी ४४ अव्याबाध ४५ निष्कलक ४६ निजानन्दी ४७ निराकुल ४८ निस्पृह ४९ देवाधिदेव ५० महाशंकर ५१ परब्रह्म ५२ परमातमा ५३ पुरुषोत्तम ५४ अमर ५५ परमबुद्ध ५६ अशरण शरण ५७ गुण समुद्र ५८ शिवनार समोही ५९ सकल तत्वज्ञानी ६० आतमज्ञ ६१ शुक्ल ध्यानी ६२ परम सम्यग्दृष्टि ६३ तीर्थ कर ६४ ६५ अनन्त लोकावलोकनधारी ६६ परम पुरुषार्थी ६७ कर्मपर्वतचकचूरकवज्र ६८ विश्वज्ञाता ६९ निरावरण ७० स्वरूपाशक्त ७१ शुक्लागमी ७२ कृतकृत्य ७३ परमयमी ७४ परमात्म

७५ स्नातकनिर्ग्रन्थ ७६ सयोगिजिन ७७ परमनिर्जरारूढ ७८ परमसंवर पति ७९ आस्रव-निर्वारक ८० शुद्ध जीव ८१ गणधर नायक ८२ मुनिगण श्रेष्ठ ८३ तत्ववेत्ता ८४ आत्मरमी ८५ मुक्तिनारी भर्ता ८६ परमवैरागी ८७ परमानन्दी ८८ परम तपस्वी ८९ परम क्षमावान् ९० परम सत्यधर्मारूढ ९१ परमशुचि ९२ परमत्यागी ९३ अद्भुत ब्रह्मचारी ९४ शुद्धोपयोगी ९५ निरालम्ब ९६ परमस्वतन्त्र ९७ निर्वैर ९८ निर्विकार ९९ आत्मदर्शी १०० महाऋषि १०१ परमाकिंचन १०२ जगदीश १०३ आदिनाथ १०४ विष्णु १०५ ब्रह्मा १०६ महेश १०७ ईश्वर १०८ जिनेन्द्र १०९ आप्त ११० परमब्रह्म १११ निष्कल इत्यादि अरहत के नाम है। इस प्रकार विचार कर परम वीतराग स्वरूप मे चित्त लगा देना एव बार २ देख कर उनमे परम लीन हो जाना एवं अपनी आत्मा का तद्रूप अर्थात् अरहत एव सर्वज्ञ सर्व-दर्शी मानना ही रूपस्थ ध्यान है। कहा भी है—

"एषो देव स सर्वज्ञ सोऽह तद्रूपता गत, तस्मात् स एव नान्योह विश्वदर्शीति मन्यते ।।"

अर्थ—जिस समय आत्मा अपने को सर्वज्ञ स्वरूप देखने लगता है उस समय वह ऐसा मानता है कि जो देव है वह मैं ही हूँ। जो सबका ज्ञाता सर्वज्ञ है वह मैं ही हू, और दूसरा नही है। इस प्रकार मैं ही साक्षात् अरहत स्वरूप वीतराग हूँ एव परमात्मा हूँ। इस प्रकार भावना करके उसमे स्थिर हो जाना ही रूपस्थ ध्यान है। इस प्रकार अरहत परमात्मा का ध्यान करने मे निज आत्मा का ध्यान होता है। **रूपातीत ध्यान का स्वरूप—**

"मा चिट्ठह मा जपह मा चितह कि वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मिरओ इणमेव परं हवे झाण ।।" (द्रव्य सग्रह)

"व्योमाकारमनाकार निष्पन्न शांतमच्युत। चरमाङ्गात्कियन्नून स्वप्रदेशधनै स्थितं ।।२२।।
लोकाग्रशिखरासीन शिवीभूतमनागमम्। पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तञ्च चिन्तयेत् ।। २३ ।।
निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरो। चिदानन्दमयस्योच्चै कथ स्यात्पुरुषाकृति ।।

पूर्वोक्त रूपस्थध्यान से जिस व्यक्ति का चित्त स्थिर हो गया वह प्राणी इस रूपा-तीत ध्यान को कर सकता है। ध्यानी अपने मन को निम्न प्रकार से समझावे कि तू कुछ भी चेष्टा मत कर, कुछ वचन मत बोल और न कुछ चितवन कर। आत्मा मे लीन होकर स्थिर हो जा। इस ध्यान के स्थिर करने के लिए निम्नलिखित प्रयोग करना चाहिये। आकाश के अर्थात् अमूर्त अनाकार अर्थात् पुद्गल के आकार से रहित जिसमे किसी प्रकार की हीनाधिकता न हो, क्षोभरहित एव जो अपने रूप से कभी च्युत न हो, चरम शरीर से किञ्चित् न्यून, नाशिकादि रध्रप्रदेशो से हीन, अपने घनीभूत प्रदेशो से स्थित शिवीभूत—अर्थात् अकल्याण से कल्याण रूप को प्राप्त हुई, रोगादि पीडा रहित, पुरुषा-कार होकर भी अमूर्त, गंधस्पर्श आदिक से रहित, सिद्ध का ध्यान रूपातीत ध्यान है। जो

परमात्मा निष्फल (देव रहित), विशुद्ध अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित है, जिसमे किसी प्रकार की हीनाधिकता भी नही है, जगद्गुरु, चैतन्यस्वरूप है, उसके ध्यान को रूपातीत ध्यान कहते है। और भी विशेष निम्न प्रकार का जानना चाहिये।

"विन्दुहीन कलाहीन रेफद्वितीयवर्जितम्। अनक्षरत्वमापन्नमनुचार्य विचिन्तयेत् ॥ १ ॥
चन्द्ररेखासम सूक्ष्मं स्फुरन्त भानुभास्कर। अनाहताभिध देव दिव्यरुपं विचिन्तयेत् ॥२॥

अर्थ—रूपातीत ध्यान मे बिदु (ँ) अर्थात् चन्द्र बिन्दु से रहित कला अर्थात् मात्रा से रहित तथा रेफ और हकार से भी वर्जित अनक्षर-रूप परम ब्रह्म का ध्यान किया जाता है। रूपस्थ ध्यान मे चन्द्र रेखा के समान बिन्दु (ँ) अर्थात् अर्ध बिन्दु सहित सूक्ष्म सूर्य के समान देदीप्यमान हँ का साक्षर ध्यान किया जाता है। जपातीत ध्यान, क्योकि जपस्थ के बाद की कोटि है, अत प्रथम जपस्थ मे (हँ) साक्षर ध्यान होता है फिर निरक्षर ध्यान रूपातीत मे किया जाता है। जो इस प्रकार ध्यान करने मे असमर्थ हो वह प्रथम सिद्ध स्वरूप का ध्यान करे जो कि अमूर्तिक चैतन्य पुरुषाकार कृतकृत्य है और अपनी आत्मा को सिद्ध मान कर ही ध्यावे। ऐसा ध्यान करे कि मैं ही परमात्मा हू, मैं ही सर्वज्ञ हूँ और मैं ही कृतकृत्य, विश्वविलोकी निरञ्जन, स्थिरस्वभाव, परमानन्द भोगी, कर्म रहित, वीतराग, परम शिव और परम ब्रह्म हूँ। इस प्रकार ध्यान करते २ द्वैत से अद्वैत होजावे, इसी को रूपातीत ध्यान कहते है। [ज्ञानार्णव]

—※ विपाक विचय धर्म्यध्यान का स्वरुप ※—

सविपाक इति ज्ञेयो य स्वकर्मफलोदय। प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररुप शरीरिणाम् ॥
प्रशमादिसमुद्भूतो भाव सौख्याय देहिमान्। कर्मगौरवज सोऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥६॥
स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्,कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान्।
मातङ्गाश्च विहङ्गचामरपुरीभक्षान्नपानानि वा।
छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान् सौख्य श्रयन्तेऽङ्गिनः ॥ ६ ॥
प्रासासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानलोग्रग्रहान्।
शीर्णाङ्गान्कृमिकीटकण्टकरज क्षारास्थिपङ्कोपलान् ॥
काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरांस्तथा।
द्रव्याण्यवाप्य भजन्ति दु खमखिल जीवा भवाध्वस्थिता ॥ ५ ॥
मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्टकीर्तिता. । ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेतव ॥ १० ॥

अर्थ—प्राणियो के अपने उपार्जन किये हुए कर्म के फल का जो उदय होता है वह विपाक नाम से कहा है, सो वह कर्मोदय क्षण क्षण उदय होना है और ज्ञानावरणादि भेद से अनेक रूप है जो कर्म के उपशमादिक से उत्पन्न हुआ भाव है वह जीवो के सुख

के लिये है और जो कर्म के तीव्र गुरुपना से उत्पन्न हुआ भाव है वह महान् कष्ट कारक है। जीवो के कर्मो का निश्चित द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप चतुष्टय को प्राप्तकर इस लोक मे अनेक प्रकार से अपने नामानुसार फल को देता है जैसे ज्ञानावरण ज्ञान को आच्छादित करता है इत्यादि अन्य कर्म का भी इसी प्रकार फल समझना चाहिये। जब जीव के किये हुए शुभ कर्म तीव्र रूप से उदय मे आते है तब जीव पुष्प माला, सुन्दर शय्या, आसन, पान, वस्त्र, स्त्री, बाजे, मित्र, पुत्रादिक तथा कर्पूर, अगरु, चन्द्रमा, चन्दन, वनक्रीडा पर्वत, महल ध्वजादिकों का तथा हस्ती, घोड़े, पक्षी, चमर, नगरी एव खाने योग्य अन्न पानादिको का तथा छत्र आदिक चिह्नो से राज्य अवस्था, श्रीमान्पना एव बुद्धिमत्ता आदि प्राप्त कर सुख प्राप्त करता हुआ आनन्द मानता है। जब असाता वेदनीय एव दु कर्मो का तीव्र उदय आता है, तब ससार रूप मार्ग मे रहते हुए यह जीव सेल, तलवार, छुरा, यन्त्र बन्दूक आदि शस्त्र और सर्प, विष, दुष्टहस्ती, अग्नि तीव्र खोटे ग्रहादिक को तथा दुर्गन्धित सडे हुए अग, काटे, रज, क्षार, अस्थि, कीच, पाषाणादिक को तथा बदी खाना (जेल खाना) साकल कीला, काड, बेडी, क्रूर (दुष्ट) बैरी बैर इत्यादि द्रव्यो को प्राप्त होकर दु ख को भोगता है कर्मो की मूल प्रकृति ज्ञानवरणादिक आठ है, वे जीवो के बन्धन की कारण है।

"मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिवलान्यपि।
अपक्कपाचनायोगात् फलानीव वनस्पते ॥ २६ ॥
विलीनाशेपकर्माणि स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।
स्वंतत पुरुषाकार स्वाङ्गगर्भगत स्मरेत् ॥ २८ ॥ (ज्ञानार्णव अध्याय ३५)

अर्थ--पूर्वोक्त आठ कर्म अतिशय बलिष्ठ है तथापि शांति भाव ध्यान ऐसी वस्तु है जिस प्रकार वनस्पति (वृक्ष) के बिना पके फल भी पवन के निमित्त से अथवा पाल के निमित्त से जिस प्रकार पका लिये जाते है, उसी प्रकार इन कर्मो की स्थिति पूरी होने से प्रथम ही इनको तपश्चरणादिको से मन्द वीर्य एव असमय पर पके हुए फल के समान पका लिया जाता है। उक्त विधान से, कर्मो की निर्जरा द्वारा विलय हुए है समस्त कर्म जिसके, ऐसा स्फुरायमान निर्मल पुरुषाकार स्वरूप अपने अंग मे ही प्राप्त हुए आत्मा को स्मरण करता रहे। इस प्रकार के कर्त्तव्यो से कर्मो के विपाक का अनुभव व रस कम हो जाता है। यह ही विपाक विचय धर्म्य ध्यान है। इस प्रकार विपाक विचय धर्म्य ध्यान का वर्णन किया। ज्ञानावरणादि कर्म जीवो के अपने तथा पर के उदय मे निरन्तर आते रहते हैं इसका नाम विपाक है। इसके चिन्तवन करने से परिणाम विशुद्ध हो जाने पर कर्मो के नाश करने का उपाय करे तव मोक्ष होती है, अन्यथा नही होती। —**सस्थान विचय धर्म्यध्यान का स्वरूप**-अब सस्थान विचय धर्म्य ध्यान का वर्णन करते हैं। जिसमे

लोक का स्वरूप तथा पर्यायो का स्वरूप विचारा जाता है ।   (ज्ञानार्णव अ ३६)

अनंतानतमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितं । तन्मध्येऽय स्थितो लोक. श्रीमत्सर्वज्ञवर्णित ।।१।।
ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो विभर्ति भुवनत्रयम् । अत स एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार इष्यते ।।३।।
अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभ. । सप्तैकपञ्चचैका च मूलमध्यान्तविस्तरे ।।६।।
मिथ्यात्वाविरतिक्रोधध्यानपरायणा । पतन्ति जन्तव श्वभ्रे कृष्णलेश्यावशगता ।।१५।।
अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना । चरस्थिरांगिसघातो निर्दोषोऽथ हतोमया ।।३५।।

अर्थ—ध्यानी आत्मा सस्थान विचय धर्म्म ध्यान मे यह विचारे कि यह आकाश स्वप्रतिष्ठित अर्थात् अपने ही आधार है क्योकि इससे बडा कोई दूसरा पदार्थ नही है, जो इसका भी आधार हो सके । उस आकाश के मध्य मे यह लोक स्थित है । वह ऊर्ध्व मध्य अध इस प्रकार तीन भुवन को धारण करता है । अधोलोक वेत्रासन के आकार है । मध्य लोक झालर के आकार है । उसके ऊपर ऊर्ध्व लोक मृदग के आकार है । इस प्रकार तीन लोक की रचना है । अधोभाग मे निगोद नारकी जीव, व्यन्तर तथा भवन वासी देवो के आवास है । मध्यलोक मे तिर्यक् लोग भी रहते है । इसमे मनुष्य तिर्यञ्च तथा ज्योतिषी देव रहते है । ऊर्ध्वलोक मे कल्पवासी तथा अहमिन्द्र देव रहते है । इसी के ऊपर के भाग मे सिद्ध लोक है । जहा पर सब कर्मो से मुक्त होकर मुक्त चैतन्य रूप निराकार सिद्ध भगवान विराजते है । अधोभाग मे जो नरक है उसमे मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध तथा रौद्र ध्यान मे तत्पर, कृष्ण लेश्या के वश मे होकर प्राणी नरक मे पडते है । वहा पर पलक लगने मात्र भी जीव को सुख नही मिलता । एक समय मे ५६८७७५८४ रोगो की उत्पत्ति के दुःख भोगने पडते है । बडे पुण्य के उदय से जब तीर्थङ्कर देव का जन्म होता है तब वह जीव अन्तर्मुहूर्त के लिये साता का अनभव करते है । बाकी मार काट के सिवा वहा दूसरा कार्य ही नही है । वहा का दु ख अकथनीय है । उस वेदना को या तो भोगने वाला अनुभवी ही जानता है या सर्वज्ञ देव ही जानता है । जब २ नारकी जीव विचारते है कि हमने अविद्या के आवेश में आक्रान्त चित्त होकर या विषयो मे अन्ध होकर निर्दोष धर्म को छोडकर कषाय के वशवर्ती होकर, दीन त्रस और स्थावरो की हिंसा की है उसका ये फल भोग रहे है । इत्यादि जब विचारते है तब धर्म्म ध्यान के प्रभाव से आत्मा को शान्ति लाभ होता है ।

इसी प्रकार मध्य लोक की सब दशा और उसमे रहने वाले मनुष्य तिर्यञ्च आदि जीवो का विचार किया जाता है तब उनकी वेदना के विचार करने से जो शरीर का रोम रोम थर-थर कांपने लगता है और कर्म के वशी जीवो के दु ख का अनुभव होने लगता है। एव विचार हो जाता है कि हमने भी जो कर्म हंस-हंस कर पैदा किये है उनका फल हमको

भी रो रो कर भोगना पडेगा । इसी प्रकार देव पर्याय में (भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिषी और कल्पवासी, भी जीव अनेक दु.खो से दु खी है उनके दु खो को भी विचारे तो शान्ति और स्थिरता नही मिलती । क्योकि जहा देखते है वहा पर ही रागद्वेष परिणति की बहुलता देखी जाती है । जब ऊर्ध्वलोक की यह दशा है तो संसार मे कही पर भी शान्ति नही मिल सकती । सुख केवल निराकुलता मे ही है, और निराकुलता मोक्ष मे है । अत. मोक्ष मे ही सुखोपलब्धि हो सकती है और मोक्ष ध्यान से मिलता है । इस प्रकार सस्थान विचय मे चिन्तवन करना एव आत्मा को शान्तिलाभ और निराकुल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये । अत. मोक्षाभिलाषियो को ध्यान करना आवश्यक है । कर्मों को काटने की सामर्थ्य ध्यान मे है । "ध्यानेन विना योगी, असमर्थो भवति कर्मनिर्दहने ।

दंष्ट्रानखरवहीनो यथासिहो वरगजेन्द्राणां ।। ७ ।। [ज्ञानार्णव]

अर्थ—योगीजन ध्यान विना अपने मनोवाञ्छित फल अर्थात् आत्म सिद्धि को कदापि नही प्राप्त कर सकते और अनादि कालिन कर्मो की सत्ता का एव उदय का ही अभाव कर सकते है । जैसे नख और दाढ रहित कैसा ही केशरीसिंह क्यो न हो वह गजेन्द्रो का मद नही उतार सकना, उसी प्रकार योगी भी ससार के चक्र मे अपनी आत्मा को कर्म के प्रभाव से नही बचा सकता । इसलिये ध्यान का अभ्यास करके अपनी आत्मा को बलिष्ठ बनाना सर्व प्रथम कर्तव्य है । ससार मे जितनी भी सिद्धिया प्राप्त होती है वे सब ध्यान के प्रभाव से ही होती है । ध्यान से कर्मो पर विजय करके अरहन्त एवं सिद्ध पद तथा निर्वाण की प्राप्ति की जाती है, अन्यथा नही ।

"प्रतिक्षण द्वन्द्वशतार्तचेतसा नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनां ।
नितम्बिनीलोचनचोरसकटे गृहाश्रमे स्वात्महित न सिद्धचति ।।
निरन्तरार्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने ।
अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां नृणां गृहे नात्महित प्रसिद्धचति ।।

अर्थ—सैकडो प्रकार के कलहो से दु खित, धनादिक की दुराशारूपी पिशाचिनी से पीडित मनुष्य को प्रतिक्षण स्त्रियो के नेत्र रूपी चोरो के उपद्रव सहित गृहस्थाश्रम मे आत्म हितकारक धर्म्यध्यान कैसे हो सकता है ? निरन्तर पीडारूप आर्तध्यानो की अग्नि के दाह से दुर्गम, बसने के अयोग्य कुवासनारूप अन्धकार से ज्ञान नेत्र को आच्छादित करने वाले, अनेक चिन्तारूपी ज्वर से पीडित आत्मा वाले मनुष्यो को घर मे आत्महित सिद्ध नही हो सकता । यद्यपि यह धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थानवर्ती महाव्रती तक होता है किन्तु यह बात अवश्य है कि यह गृहस्थावस्था मे पूर्ण रीति से नही बनता । क्योकि गृहस्थ मे आर्तध्यान की बहुलता रहती है । अत इसकी पूर्णता तो मुनिमार्ग मे ही

पाई जाती है। किन्तु इसकी पात्रता गृहस्थ मे भी है, इसका पूर्ण विकाश सप्तमगुणस्थान मे हो जाता है और उससे शुक्ल ध्यान की प्राप्ति भी हो जाती है और शुक्ल ध्यान का साक्षात् फलमोक्ष है, किन्तु कारण विशेष से कल्पवासी एवं कल्पातीत देवो मे होता है, इसका यह गौण फल है। यह शुक्ल ध्यान का माहात्म्य है। यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव हो और उपशम श्रेणी माड़े तो ग्यारहवे गुणस्थान में जाकर पीछा आजावे और फिर सभल कर यदि क्षायिकश्रेणी माड़े तो केवल ज्ञान उत्पन्न हो जावेगा। यदि उपशम सम्यग्दृष्टि श्रेणी माड़े तो नियम से ११ ग्यारहवे गुण स्थान मे ही जावे और वहा से गिरकर मरण करे तब जिस अवस्था मे आयुकर्म बाधा होवे उस ही गुणस्थान मे आकर मरण करे और कम से कम एक भव और ज्यादा से ज्यादा अर्ध पुद्गल परावर्तन वह जीव ससार मे भ्रमण करके नियम से मोक्ष चला ही जावेगा। मध्यस्थभावो के असख्यात भेद है।

❋ शुक्ल ध्यान का स्वरूप ❋

अब शुक्लध्यान का वर्णन करते है जिसके ध्याता मुनि ही होते है। कहा भी है—

"**आदिसंहननोपेत. पूर्वज्ञ. पुण्यचेष्टित.। चतुर्विधमपि ध्यान स शुक्ल ध्यातुमर्हति ॥ ५ ॥**

छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते। द्वे त्वन्येक्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥७॥

अर्थ—जिस मुनि को प्रथम वज्रवृषभनाराच सहनन हो, ग्यारह अग चौदह पूर्व का ज्ञाता हो और चारित्र की पूर्ण शुद्धता हो वह मुनि इस शुक्ल ध्यान के चारो भेदो को धारण करने मे समर्थ हो सकता है। शुक्लध्यान के १ पृथक्त्ववितर्कवीचार २ एकत्ववितर्कवीचार ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार भेद है। इनमे प्रथम के दो भेद अर्थात् पृथक्त्ववितर्क ये तो छद्मस्थ अर्थात् बारहवे गुणस्थानवर्ती प्राणी के पाये जाते है और अन्त के दो भेद रागादिक से रहित ज्ञानियो के ही पाये जाते है। (ज्ञानार्णव)

तत्र त्रियोगिनामाद्य द्वितीयं त्वेकयोगिना। तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीमयोगिनाम् ॥१२॥

अर्थ—चार प्रकार के शुक्ल ध्यान में प्रथम पृथक्त्व वितर्कविचार मन वचन और काय इन तीनो योगवाले मुनियो के होता है क्योकि इसमे योग पलटते रहते है २ द्वितीय एकत्ववितर्क वीचार किसी एक योग से ही होता है, क्योकि इसमे योग नही पलटते। योगी जिस योग मे लीन है वह ही योग वना रहता है। ३ तृतीय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती केवल काय योग वालो के ही होता है क्योकि केवली भगवान् के काय योग मात्र की ही सूक्ष्म क्रिया है शेष दो योगो की क्रिया नही है। ४ चतुर्थ—व्युपरत क्रिया निवृत्ति या समुच्छिन्न क्रिया नाम शुक्ल ध्यान अयोग केवली भगवान् के होता है क्योकि अयोग केवली के योगो की क्रिया का सर्वथा अभाव है। यह ध्यान का तीसरा और चौथा पाया निश्चय से भगवान् के उपचार से होता है। "**दृग्वोधरोधकद्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वा परम्।**

स क्षिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा ॥ २९ ॥ [ज्ञानार्णव]

अर्थ—शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद से मोहनीय का नाश या उपशम होता है तथा दूसरे ध्यान रूप अग्नि की ज्वाला से दर्शन और ज्ञान के आवरण करने वाले दर्शनावरण तथा मोहनीय और अन्तराय कर्म क्षण मात्र मे ही नष्ट हो जाते है और अत्यन्त उत्कृष्ट केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर जीव अर्हन्त हो जाता है। यह अलब्ध पूर्व अर्थात् जो कभी पहले प्राप्त नही किया वह भाव है। केवलज्ञान भावमुक्ति का स्वरूप है।

"इन्द्रचंद्रार्कयोगीन्द्रनरामरनतक्रमः। विहरत्यवनीपृष्ठं सशीलैश्वर्यलाञ्छित ॥
उन्मूलयति मिथ्यात्व द्रव्यभावमलं विभु। बोधयत्यपि नि: शेष भव्यराजीवमण्डलम् ॥"

अर्थ—इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, धरणेन्द्र, नरेन्द्र तथा तिर्यञ्चो द्वारा जिनके चरण कमल सेवनीय है ऐसे केवली भगवान् अठारह हजार १८००० शील के भेद तथा चौरासी लाख ८४००००० उत्तर गुण और समवशरण रूप आश्चर्य एव अतिशय से युक्त होकर पृथ्वी तल मे विहार करके जीवो के द्रव्यमल और भावमल रूप मिथ्यात्व कर्म को जड से नाश करते है समस्त भव्य जीव रूप कमलो के समूह को विकसित करते है और जीवो के मिथ्यात्व को दूर करके उनको मोक्ष मार्ग मे लगाते है। (ज्ञानार्णव)

"षण्मासायुषि शेषे सवृत्त ये जना. प्रकर्षेण।
ते यान्ति समुद्घात शेषा भाज्या समुद्घाते ॥ ४२ ॥
सूक्ष्मक्रिय ततो ध्यान स साक्षात् ध्यातुमर्हति।
सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीय यद्धि पठ्यते ॥ ५१ ॥
तस्मिन्नेवक्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मल।
समुच्छिन्नक्रिय ध्यानमयोगिपरमेष्ठिन ॥ ५३ ॥
अवरोधविनिर्मुक्त लोकाग्र समये प्रभुः।
धर्माभावे ततोऽप्यधगमन नानुमीयते ॥ ६० ॥

अर्थ—जो जिनदेव छह महिने की उत्कृष्टपने से आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए है वे अवश्य समुद्घात करते ही है और जो छह महिने से अधिक आयु रहते हुए केवली होते है उनके कोई नियम नही, समुद्घात करे भी या नही करे, वे समुद्घात विकल्पी है। केवली भगवान् के जो ध्यान माने है सो सब उपचार मात्र भूतपूर्वनय की अपेक्षा है। वे केवली भगवान त्रयोदश गुणस्थान वर्ती सूक्ष्मक्रियाध्यान को साक्षात् ध्याते है। सूक्ष्म एक काय योग मे स्थित हुए उसका ध्यान करते है। यही सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान है। जब सयोग केवली ध्यान से योगो का सर्वथा नाश करके अयोग हो जाते है तब अयोग गुणस्थान के उपान्त अर्थात् अन्त समय के पहले समय मे देवाधिदेव के मुक्ति रूपी लक्ष्मी के प्रति बन्धक

कर्मो की ७२ बहत्तर प्रकृतिया शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। तत् पश्चात् भगवान अयोग परमेष्ठी के उसी अयोग गुरणस्थान के उपान्त समय के मध्य साक्षात् निर्मल ऐसा समुच्छिन्न क्रिया नामक चौथा शुक्ल ध्यान प्रकट होता है। तत्पश्चात् वीतराग अयोग केवली भगवान् के उसी अयोगी गुरणस्थान के अन्त समय मे शेष रही हुई तेरह कर्म प्रकृति जो कि अब तक लगी हुई थी तत्काल ही नष्ट हो जाती है। अनतर भगवान् ऊर्ध्व गमन करके एक कर्म के अवरोध रहित लोक के अग्रभाग विषै विराजमान होते है। लोकाग्रभाग से आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिये उनका आगे गमन नही होता है। जो गमन करने मे सहकारी कारण है वह धर्मास्तिकाय है। जो पदार्थो की स्थिति में कारण है वह अधर्मास्तिकाय है। इन दोनो के निमित्त से पदार्थो की स्थिति व गति कही गई है। आगे दोनो का अभाव है, इसलिये आगे गमनशील एवं स्थितिशील पदार्थो का भी अभाव है। ये ससार अवस्था की बाते है। सिद्ध अवस्था मे तो आत्मा जैसा ही रहता है। आत्मा के स्वभाव मे किसी प्रकार परिवर्तन नही होता है। आत्मा जो है एव जैसा है वैसा ही रहता है। इस प्रकार संक्षेप से इन चारो प्रकार के ध्यान का वर्णन किया विशेष जिज्ञासुओ को ज्ञानार्णवजी तथा तत्त्वानुशासन से जान लेना चाहिये। **सामायिक के समय के आसन व कर्त्तव्य**— सामायिक के समय शरीर की आकृति बिलकुल सरल एव सीधी रखनी चाहिये, टेढी बाकी नही करनी चाहिये, और काय को स्थिर रखना चाहिये। सामायिक के समय इधर-उधर दृष्टि नही दौड़ानी चाहिये। अपनी दृष्टि को उस समय नासिका के अग्रभाग और दोनो भौंहो के बीचो बीच मे रक्खे, हलने चलने न देवे। जो भी आसन लगाया हो उसे दृढ रक्खे, हलचल न करे। प्रथम तो आसन विशेष करने की ही कोई आवश्यकता नही है क्योकि आचार्यो ने स्थिर परिणाम को ही सबसे उत्तम आसन माना है और समय पर जो मिल जावे उसका एव पृथ्वी का ही आसन समझ लिया जावे या पाषाण लकडी पाटा चटाई या घास आदि का जैसा भी हो उसी पर ध्यान करे। प्रथम वाम पाव को दाहिनी जघ के ऊपर रक्खे। फिर दाहिने पांव की वाम जघा पर रक्खें। पश्चात् अपने वाम हाथ को पैरो के ऊपर अपनी गोद मे रक्खे फिर उसके ऊपर दाहिने हाथ को रक्खे। अपनी दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर जमाकर, न तो पूर्ण खुली रक्खे और न बिल्कुल मीच ही ले अब खुली रक्खे और अपनी काय को स्थिर रखे इसको पद्मासन कहते हैं। खड्गासन करना होवे तो ऐसा करे कि दोनो पावो को चार अंगुल के अन्तर से रक्खे, बिल्कुल सीधा स्तम्भ (खभे) के समान खड़ा रहे। दृष्टि को नासाग्र पर ही रक्खे दोनो हाथ सीधे लटकते रहे। हाथो से मक्खी आदि भी न उड़ावे उसको खड्गासन कहते है। आचार्यो ने इन दोनो आसनो को सुखासन कहा है। फिर भी जिस आसन से अपना

ध्यान जमे, सकल्प विकल्प को प्राप्त न होवे वह ही सुखासन है । इसीको द्रव्य सामायिक मुद्रा विद्वानो एव आचार्यो ने कहा है। वास्तविक सामायिकके पात्र तो मुनि लोग ही होते है। परन्तु एक देश सामायिक के पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि से लगाकर क्षुल्लक ऐलक पद तक के श्रावक भी होते है । इसका प्रमाण भाव सामायिक के लिये मिलता है द्रव्य सामायिक के लिये नही मिलता । सामायिक के इच्छुक पुरुषो को चाहिए कि जितने भी सामायिक के बाधक कारण हो उनको दूर ही से त्याग देवे । परिषह एव उपसर्ग आवे तो उनको सहन करे। परिणामो की आकुलता से साम्य भाव नष्ट हो जाता है जैसे परतन्त्र सवारी आदि मे बैठना वह सवारी अपने समय पर ही ठहरेगी उसे दूसरे सामायिक वाले का ध्यान नही होगा । इसलिये स्वतन्त्र सवारी पर बैठे । जिससे यथा समय सामायिक कर सके । श्रावक लोगो से इसके लिये द्रव्य की याचना भी नही करनी चाहिये, क्योकि यदि उनसे द्रव्य की उपलब्धि नही हुई तो आर्त्तरौद्र परिणाम हो सकते है और भी जो सामायिक मे बाधक कारण हो उनको त्याग देवे । जैसे—जब सामायिक प्रारम्भ की जाती है तब नियम करना पडता है कि मै जब तक सामायिक करू गा तब तक मेरे शरीर पर इस प्रकार का दागीना या इतने वस्त्र अथवा साढे तीन या तीन हाथ चौतरफा जमीन के सिवाय नियमित समयतक सब का त्याग है।

प्रश्न—सामायिक मे अपने शरीर के वस्त्रादि का नियम बतलाया सो तो ठीक है, किन्तु इसमे साढे तीन हाथ जमीन का नियम क्यो किया जाता है ?

उत्तर—संसार मे रहते हुए प्राणियो के कर्म का उदय सब जगह मौजूद है । नही मालूम कौन कर्म की प्रकृति किस समय उदय मे आ जावे और उपसर्ग के उपद्रव को सहन करते गिर पड़े "तो उपसर्ग आने पर भी सामायिक से नही चिगू गा" इस प्रतिज्ञा मे दूषण आ सकता है । इसलिये सामायिक करते समय साढे तीन हाथ जमीन का परिग्रह और रक्खे शेष त्याग दे । गाडी मे चलते हुए सामायिक नही करनी चाहिये । क्योकि कहा तो सामायिक माडी जाती है और कहा पूरी होती है । न तो स्थान का ही नियम रहता है और न समय का नियम रहता है तथा अन्य भी अनेक दोष नही टलते एव मुसाफिर लोग लडते भी है, धक्का धुक्की भी होती है तो उस समय परिणामो मे किस प्रकार शान्ति रह सकती है? ऐसे अवसर पर सामायिक का मुख्य कारण जो साम्यभाव है वह नही रहता, लोगो को दिखाने मात्र का सामायिक मायाचार रूप है । अत गाडी मे सामायिक करना असगत है।

विशेष—यह जो ऊपर लिखित विचार धारा प्रकट की गई है तथा आगे भी जा सवारी आदि का निषेध किया गया है यह नियम अपनी आत्मा की रक्षा करने के लिये पालन करना ही चाहिये देखा भी गया है कि स्वर्गीय पूज्य १०८ श्री आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने तो दूसरी प्रतिमा वालो को ही मोटर आदि सवारियो का त्याग करवाया है

और इसका त्याग करने से एकदम गृहस्थ अवस्था के सैकडो विकल्पो से हटकर यह प्राणी वैराग्य के सन्मुख हो ही जाता है जैसा कि आदरणीय १०८ श्री विद्या सागर जी महाराज ने भी सबसे पहले सवारी मोटर आदि का त्याग किया है उसी बल से आज आचार्य पदवी तक पहुच कर स्व पर कल्याण कर रहे है । मैने भी गृहस्थाश्रम को छोड़कर श्री गुरुमहाराज के पास सबसे पहले रेल, मोटर आदि सवारियो का त्याग किया, उसी त्याग के प्रभाव से हजारों विकल्पो से रहित होकर आज महाव्रतो का पालन कर रहा हूँ । तथा स्वरूपानन्द ब्रह्मचारी भी इसी रेल, सवारी आदि का त्याग कर, गुरु के सान्निध्य मे रहकर आज क्षुल्लक बनकर अपना कल्याण कर रहे है । अधिक क्या लिखा जाय प महेन्द्रकुमार जी जो गृहस्थ अवस्था से एकदम क्षुल्लक पद का पालन कर रहे हैं उसका भी यही कारण है कि गृहस्थ अवस्था मे भी सवारी मोटर का त्याग कर वे इस योग्य बन गये है । अतः हर एक व्रती, उदासीन श्रावक आदि सभी का यह कर्त्तव्य है कि इस गुण को एक अत्यन्त आवश्यक समझ कर पालने का प्रयत्न करे । कम से कम गृहत्यागी को तो मोटर सवारी आदि का त्याग करना ही चाहिये तथा जो गृह वासी, त्यागी व्रती हैं उसके द्वारा यह नियम पालना कठिन है अत· वे अपनी शक्ति के अनुसार पालन करते रहे ।

यहां यह प्रश्न होता है कि दूसरी तीसरी प्रतिमा वाला आरभ त्यागी तो है नही फिर यह अक्रम रूप से कैसे त्यागी हो सकता है । सो ठीक है यद्यपि आगम के अनसार तो वह दूसरी तीसरी प्रतिमा वाला आरभ व परिग्रह का त्यागी नही होते अपने विशेष कार्य के लिये इन सवारी आदि का उपयोग कर सकता है किन्तु वह सवारी उपयोग को अधिक महत्त्व न देकर आवश्यकता की पूर्त्ति मात्र कर सकता है । जैसे आज चाय अत्यन्त निकर होने पर भी प्राय: व्रती एव अव्रती आदि सभी इसके आदी बन गये है उनको छोडना बडा भारी कठिन कार्य समझते है वैसे ही आज दुनियां के कार्यो मे अत्यन्त फंसे हुये प्राणी भी इन सवारियो से वहुत ज्यादा आरंभ और परिग्रह बढ़ाकर खुद ही फस रहे है और अहिसाव्रत को स्थूल रूप से भी पालन करने मे असमर्थ हैं ।

अधिक कहा तक कहा जाय आज वर्तमान युग मे दूसरी तीसरी प्रतिमा वाले जघन्य श्रावक ही क्या ? मध्यम व उत्कृष्ट श्रावक भी रेल, मोटर आदि सवारियों का मनमाना प्रयोग करते हैं । कमसे कम मध्यम और उत्कृष्ट श्रावको को तो आगम के अनुकूल ही चलना चाहिये इन सवारियो के प्रयोग को व्रतमे हानिकर समझ कर श्वेताम्बर साधु भी अब तक प्रयोग नही कर रहे है आशा है उत्कृष्ट श्रावक तो अपने दिगम्बर जैन धर्म की मर्यादाका पालन करने पर ध्यान देवेगे ही ।

यह भी विचारणीय बात है जो गृह त्यागी पुरुष होते है वे आदर्श पुरुष होते है। उनको चाहिये कि वे कभी भी सवारी मे न बैठे, पैदल ही चले, जिससे प्रथम तो दीन वृत्ति से बचे, दूसरे जिस ग्राम मे जावेगे वहा के श्रावको को शुद्ध भोजन की प्रवृत्ति तथा आत्म कल्याण का उपदेश मिले, जिससे अपना तथा अपनी समाज का भला होवे, और अपने निमित्त से जो द्रव्य गाडी मे दिया जाता है उस द्रव्य से वे लोग मास भक्षण आदि करते है उस पाप से बचे एवं उस पैसे से समाज का हित किया जावे। इस प्रकार का व्रतियो का आचरण होना चाहिये। यदि कही पर आवश्यक जाना हो और गृहस्थ लोग अपने साथ ले जावे तब साथ चला जावे, किन्तु द्रव्य की याचना कभी नही करनी चाहिये। क्योकि व्रती होकर याचना अयोग्य है। इस प्रकार व्रती तथा व्रत का अनादर होता है। अत शान्ति के साथ व्रत पालना चाहिये। याचना सर्वथा कदापि नही करनी चाहिये। व्रत प्रतिमा मे जो सामायिक कहा है सो वह अतिचार सहित है। उन अतिचार एव दोषो को दूर करने के लिये यह तृतीय प्रतिमा ग्रहण की जाती है। यदि तीसरी प्रतिमा ग्रहण करने पर भी वैसी ही प्रवृत्ति बनी रहेगी तो तीसरी प्रतिमा ग्रहण करना ही व्यर्थ है। और यदि तृतीय प्रतिमा ग्रहण की है तो उसके शास्त्रोक्त अतिचारो को अवश्य दूर करने चाहिये। ध्यान रखना चाहिए जैन व्रत किसी को रिझाने के लिये नही होते है। ये अनादिकाल से लगे हुए कर्म कलक दूर कर आत्मा को शुद्ध करने के लिये किये जाते है। इसमे सरल स्वभाव रखना चाहिए। मायाचारी का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। **सामायिक के ३२ दोष–**

अनादृतश्चतब्ध स्यात्प्रविष्ठ स्यात्परिपीडित, दोलायितोंकुशितोऽपि भवेत्कच्छपरिंगित ११०
मत्स्योद्वर्तो मनोदुष्टो वेदिकाबद्ध एव हि। भयोबिभ्यद्धुवेर्द्धिगौरवो गौरवस्तथा ॥१११॥
स्तनित प्रतिनीकश्च प्रदुष्टस्तर्जितस्तथा। शब्दश्च हेलितश्च त्रिवलितैश्चैवकु चित ॥११२॥
दृष्टोऽदृष्टो भवेत्सघकरमोचन एवहि। आलब्ध' स्यादनालब्धो हीन उत्तरचूलिक ॥११३॥
मूकश्च दुर्दरो दोषो भवेत्सुलंलित सुहृत्। द्वात्रिंशत्प्रपितान् दोषास्त्यक्त्वा सामायिक भज ॥

दोष रहित सामायिक करने से सामायिक प्रतिमा धारण होती है। अत सामायिक के निम्न लिखित ३२ दोष जानने चाहिए १. अनादर से सामायिक करना, २ गर्व करना, ३. मान बडाई के लिये सामायिक करना, ४ दूसरे जीवो को पीडा पहुचाना, ५ हिलते रहना, ६ शरीर को टेढा करना, ७. कछुवे की तरह शरीर को सकुचित करना, ८. मछली की तरह नीचा ऊ चा होना, ९ मन मे दुष्टता रखना, १०. जिन मत की आम्नाय से सामायिक न करना ११ भय करना, १२ ग्लानि करना, १३. ऋद्धि गौरव के गर्व सहित होना, १४. उच्च कुल का गर्व करना, १५ चोर की तरह सकुचाना, १६ समय टाल देना, दुष्टता रखना १८ दूसरे को भय उपजाना, १९ सावद्य (पाप सहित) वचन बोलना, २० पर की निन्दा

करना, २१, भौंह चढ़ाना, २२. मन मे सकोच रखना, २३ दशों दिशाओ का विलोकन करना, २४ स्थान का न शोधना, २५. किसी प्रकार समय पूर्ण करना, २६. लगोटी पीछी आदि की हानि मे खेद करना, २७ किसी प्रकार की वांछा करना, २८. सामायिक का पाठ ही न पढना, २९ खण्डित पाठ पढकर सामायिक करना, ३० सामायिक मे गू गे की तरह बोलना, ३१. मेडक के समान ऊंचे स्वर से टर्र २ करना, ३२ चित्तको चलायमान करना।

उल्लिखित ३२ दोष सामायिक मे बाधा के कारण है उनको टलना चाहिये ।

इसके अतिरिक्त सामायिक मे निम्नलिखित पाच अतिचार भी टालने चाहिये ।

वाक्कायमानसानां दुष्प्रणिधानान्यनादरास्मरणे, सामायिकस्यातिगमा. व्यज्यन्ते पचभावेन।

अर्थ—वचन को सामायिक पाठ से चलायमान करना १ काय को स्थिर न रखते हुए हिलना डुलना २ मन को आर्त रौद्रपरिणामो से चलायमान करना ३ सामायिक मे आदर भाव नही रखना ४ सामायिक के मूल पाठ पर ध्यान नही रखना, उसको भूल जाना ५ इस प्रकार ये सामायिक के पाच अतिचार है । इनसे सामायिक दूषित हो जाता है। इसलिये इनसे बचने का पूरा २ ध्यान रखना चाहिए । **※ ४ प्रोषध प्रतिमा का स्वरूप ※**

तृतीय, सामायिक प्रतिमा का पूर्ण रूप से पालन करके, आगे के व्रत बढाने के भाव होवे, तब प्रोषध प्रतिमा ग्रहण की जाती है । इसका स्वरूप और आचरण इस प्रकार है।

"अष्टम्यां चतुर्दश्यां, पर्वदिनेषु प्रणधिपा सन्नारूढ, ।
प्रोषधनियमस्वरूपैः, सह स्वशक्त्यनुसारेण ।।"

भावार्थ—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को, दोष और अतिचार रहित प्रोषधोपवास करना, गृह सम्बन्धी व्यापार आरभ भोगोपभोग की सकल सामग्री (वस्तु) का त्याग करके एकान्त स्थान मे, धर्म ध्यान मे सलग्न होना, सो प्रोषधोपवास प्रतिमा कहलाती है । १६ प्रहर का उत्तम, १४ प्रहर का मध्यम तथा १२ प्रहर का जघन्य प्रोषधोपवास होता है। इसका खुलासा व्रत प्रतिमा मे किया जा चुका है। **—※ उपवास का लक्षण ※—**

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते। उपहास. स विज्ञेय शेष लंघनक विदु ।।

भावार्थ—विषय, कषाय और आहार का त्याग करना उपवास कहलाता है। जहा विषय कहिये पाच इन्द्रियो के भोग; कषाय कहिये क्रोध मान माया व लोभ रूप प्रवृत्ति इसके अलावा अन्य भी आरभ परिग्रह न छूटे हो, धर्मध्यान रूप प्रवृत्ति न हुई हो, केवल भोजन छोड दिया हो तो वह उपवास नही, वह तो लंघन है । केवल उपवास का दिखावा है इसलिये पहिले रागद्वेप, पचेन्द्रियो के भोगो का स्वरूप विचार कर इनको त्याज्य समझ कर छोड़े । फिर आहार को भी छोड दे, तब उपवास होता है अन्यथा नही । धर्म ध्यान, स्वाध्याय, जिनपूजा, आदि पवित्र चर्या करते हुए उपवास का दिवस व्यतीत करना

चाहिये । जितना भी कार्य करे, वह निरतिचार और धर्म पोषक हो,इस प्रकार प्रमाद रहित हो कर करे, ऊपर की प्रतिमा मे ध्याननाभ्यास करना बता चुके है, सब से पहिले वह करें ऐसे स्थान में जहा किसी प्रकार का विघ्न न दीखे । फिर स्वाध्याय करे, सो शास्त्रजी के पन्ने इतनी सावधानी से पलटे कि उनमे कोई जीव दब या मर न जावे । तथा जैसा कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे बतलाया है उस प्रकार पूर्ण सावधानी से आचरण करना ।

सत्तमि तेरसि देवसे, अवरहणे जाइऊण जिणभवणे ।
किरिया कम्मं काउ, उपवासं च उव्विह गहिय ।। ३७३ ।।
गिहवावारं चत्तारत्ति, गामिऊण धम्मचिताए, पच्चूहे उट्ठित्ता, किरिया कुम्भ च कादूण ।।
सत्थब्भासेण पुणोदिवस, गमिऊण वदण किच्चा, रत्तिणट्ट्रेणतहा,पच्चूहे बदण किच्चा ।।
पूज्जाण विहिच किच्चा, पत्त ऊणणवरि ति विहपि ।
मुजाविऊणल, मूजतो पोसहो होदि ।। ३७६ ।। (स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा)

भावार्थ—सप्तमी तथा तेरस के दिन दो पहर दिन दो पहर दिन चढे पीछे श्री जिन चैत्यालय जावे व दिगम्बर गुरु होवे तो उनके पास जावे । अपराह्न (सायकाल) की क्रिया करके चार प्रकार के आहार (खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय)का त्याग करके, उपवास ग्रहण करे अर्थात्–कषाय क्रोध मान माया लोभ तथा पाच इन्द्रियो के विषय, स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण शब्द इनमे रागादि, तथा गृहकार्य छोडकर धर्म ध्यान सहित सप्तमी या त्रयोदशी की रात्रि को पूर्ण करे, पुन', अष्टमी तथा चतुर्दशी को प्रात सामायिक क्रिया कर्म को करके दिन शास्त्राभ्यास व धर्म ध्यान कर पूर्ण करे। अपराह्ण का सामायिकादि क्रिया कर्म करके उसी प्रकार धर्म ध्यान पूर्वक रात्रि पूर्ण करे । फिर नवमी पूर्णिमा के प्रभात सामायिक वदनादि करके जिनेश्वर देव का पूजन विधान करे । यथा–पात्रो को पडगाह करके भोजन देवे, पश्चात् आप भोजन करे । इस प्रकार चौथी प्रतिमा प्रोषधोपवास होती है। जो उपवास करे और चारो प्रकार के आहार का त्याग करे और फिर जिनेन्द्र देव की पूजन करे तब स्नान तो करे ही, तब मुख शुद्धि वास्ते कुर्ल्ला करे, या नही करे और पूजा सचित्त द्रव्य से करे या अचित्त द्रव्य से करे सो स्पष्टीकरण करते है । —**उपवास में दन्त धावन करें या नही—**

अन्याशक्तता नारीणा, वितथ भाषते मुखेन ।
यावज्जीव न शुद्धते कदा भाषते मुनिवरैर्सदा ।। १ ।।

अर्थ–यहा पर कहते है कि जो स्त्री पर पुरुष आसक्त हो वह कभी भी शुद्ध नही हो सकती। उसही प्रकार जिस मुख से श्लेष्म सदा पैदा होता रहे है उस मुख की कभी शुद्धि होती ही नही । क्योकि घडा भर पानी से मुख को खूब धोवे पश्चात् किसी के ऊपर जरा थूकारा लग जावे तो वह तुरत कहेगा कि मेरे झूठे छीटे क्यो लगा दिये । इससे जो कुरला भी करो

या नही करो मुख की शुद्धि तो होती ही नही, कारण मुख शुद्धि जब ही हो सकती है कि इस मुख से कदापि झूंठ अर्थात् विपरीत प्रलाप नही कहा जावे। वह ही मुख की शुद्धि है अन्यथा नही। उपवास के दिन, जिनेन्द्र की पूजा के लिये मुख शुद्धि व कुरला करे या न करे ? तथा पूजन सचित्त द्रव्य से करे या अचित्त द्रव्य से ? इसका उत्तर इस प्रकार है।

द्वितीया पचमी चैव ह्यष्टम्येकादशी तथा, चतुर्दशी तथैतासु दन्तधावं च नाचरेत् ॥ १ ॥

उत्तर—मुख हमेशा अशुद्ध ही रहता है, घडे भर पानी से मुंह धोकर भी किसी पर जरासा थूक देवे तो वह कहेगा, मुझे अशुद्ध क्यो कर दिया, इस प्रकार जब कुरला करने से भी अशुद्धि दूर नही होती तो, पेय रूप त्याग किये हुए पानी को ग्रहण करके अपना व्रत क्यो सदोष बनाया जावे। इसका कथन पीछे भी कर चुके है। तथा इन्द्रनन्दि सहिता में कहा है **पव्वदिणेसु बएसुवि, ण दन्तकठ्ठ ण आचमं तप्प।**
एदाण जणणस्साण परिहरण तत्थ सण्णेउ ॥

भावार्थ—पर्व के दिन अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका, दशलक्षण, आदि तथा व्रत के दिनो मे दन्तधावन नही करना चाहिये, क्योकि दन्त धावन से ही जो शुद्धि होती हो तो मुनियो को भी निषेध नही किया होता। इसलिये उपवास के दिन पूजा के लिये भी दन्त धावन की आवश्यकता नही। मुख की शुद्धि तो खोटी वाणी त्याग कर शुद्ध वाणी बोलने से ही होती है। पूजा कैसे द्रव्यो से करना चाहिये इसका उत्तर पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के अनुसार इस प्रकार है— **प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा, तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।**
निर्वर्तयद्यथोक्तं, जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥ १५५ ॥ (पुरुषार्थ सि)

अर्थ—प्रातः काल उठकर सामान्य प्रभात क्रिया करके प्रासुक अर्थात् अचित्त द्रव्यो से भगवान् जिनेन्द्र की पूजा करे, न कि सचित्त द्रव्यो से। क्योकि सचित्त मे महान् पापारभ होता है। और यहा प्रोषध प्रतिमा और पर्व है। इससे उस जनित आरभ का त्याग है। पर किंचित् आरभ और पुण्य विशेष वैसा कार्य निमित्त अचित्त पूजन बताई है। सो नवमी और पूर्णिमा के दिन, न कि अष्टमी और चतुर्दशी। यहा कहते है कि 'सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ' यहा ख्याल करने की बात है कि पाचवी प्रतिमाधारी श्रावक होता है वह सचित्त का त्यागी होता है सो वह भी श्रावक अवस्था मे भी सचित्त जल नही वापरे' किन्तु यहा तो प्रतिमा श्री जिनेन्द्र देव सकल सयमी की है और फिर भी कच्चे जल से प्रक्षाल करना ये भूल है। इसमे प्रक्षाल प्रासुक जल मे ही करना चाहिये। इसलिये, सचित्त सम्बन्धी महारभ को छोडकर अचित्त द्रव्यो मे पूजा करनी चाहिये, सो भी नवमी व पूर्णिमा के दिन। सचित्त त्यागी को तो हमेशा प्रासुक जल मे ही अभिषेक व पूजा करना चाहिये, क्योकि जिन प्रतिमा सकल सयमी की प्रतिमा है। देवेन्द्रादि क्षीरसागर के शुद्ध

जल से ही प्रतिमा का अभिषेक करते है, वे अव्रती है, इसी तरह अव्रती श्रावक भी सामान्य शुद्ध छने जल से भगवान् का अभिषेक करते है। इस प्रतिमाधारी को चाहिये कि वह जितनी भी प्रवृत्ति करे वह निष्प्रमाद होकर करे, तथा जिससे प्रतिमा धारण करने के फल की प्राप्ति होवे अन्यथा नही। शृंगार इत्र, तेल, फुलेल आदि न लगावे, तथा व्रत के दिन हजामन न करावे, राग वर्द्धक गीत गान, नाटक सिनेमा, आदि न देखे, दिखावे, उपन्यास किस्सा कहानी आदि की पुस्तक न पढे, पढावे, अगर जिनेन्द्र देव की उत्सव सम्बन्धी, या भक्ति के गीतादि हो तो उनका त्याग नही। व्रत प्रतिमा मे जो प्रोषधोपवास कहा है, वह सामान्य तथा सातिचार अभ्यास रूप है। अर्थात् अतिचारो सहित है, और यहां प्रतिमा रूप है, सो पूर्णतया निर्दोष, और अतिचार रहित पालन होना चाहिये। इसकी जितनी भी क्रिया है, सो सब प्रमाद रहित हो, तथा सोलह प्रहर तक सिवा धर्म ध्यान के अन्य के कर्तव्य नही करना। व्रतियो को यह समझना चाहिये कि पूर्ण तथा निर्दोष व्रत पालने से ही यथार्थ फल की प्राप्ति होती है। अन्यथा, विपरीतता करने से कर्म बन्ध होता है। अत व्रती को निज कर्तव्य मे सदैव सावधान सर्तक रहना योग्य है। **प्रश्न**—अष्टमी चतुर्दशी की पर्वणी जो मानी है उस का क्या स्वरूप है और क्यो मानी है सो कहिए। **उत्तर**–जैनधर्माचार्यो ने पर्वणी का अर्थ बहुत ही महत्व पूर्ण बतलाया है उसका कथन इस प्रकार है।

य पर्वण्युपवासं हि विधत्ते भावपूर्वकं। नाकराज्य च संप्राप्य मुक्तिनारी वरिष्यति ।।२७।।
'प्रोषध नियमेनैव, चतुर्दश्या करोति यः। चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमाप्नुयात् ।।२८।।'

अर्थ—जो व्यक्ति पर्व के दिनो मे भाव पूर्वक उपवास धारण करते है वे स्वर्ग के राज्य का उपभोग करके अन्त मे अवश्य मुक्ति रूपी स्त्री के स्वामी होते है। जो चतुर्दशी के दिन नियम पूर्वक प्रोषधोपवास करता है, वह चौदह गुण स्थानो को पार कर मोक्ष मे जा विराजमान होता है। (प्रश्नोत्तर श्रा.)

अष्टम्यामुपवास हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमा, हत्वा कर्माष्टक तेऽपि यान्ति मुक्ति सुदृष्टय।३३।
अष्टमे दिवसे सारे यः कुर्यात्प्रोषध वरम्। इन्द्रराज्यपद प्राप्य, क्रमाद्याति स निर्वृतिम्।३४।

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि उत्तम पुरुष अष्टमी के दिन उपवास करते हैं वे आठो कर्मो को नष्टकर मोक्ष मे जा विराजमान होते है। अष्टमी का दिन सब मे सारभूत है उस दिन जो उत्तम प्रोषधोपवास करता है वह इन्द्र का साम्राज्य पाकर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार अष्टमी और चतुर्दशीपर्वो का माहात्म्य शास्त्रकारो ने स्थान स्थान पर प्रकट किया है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके अनुसार चलकर जीवन को सार्थक बनावे।

* (५) सचित त्याग प्रतिमा *

मूलफलशाकशाखा करीरकदप्रसूनबीजानि। नामानि योत्ति सोऽय, सचित्तविरतो दयामूर्ति।

अर्थ—जो अपक्व वनस्पति, अर्थात् मूल, फल, शाक, शाखा (कोपल) कैर, कद, फूल बीज को नही खाता, वह दया की मूर्त्ति सचित्त त्याग प्रतिमा धारी श्रावक कहलाता है। इसीका धर्म सग्रह तथा सागार धर्मामृत मे इस प्रकार वर्णन किया है—

शाकबीजफलाम्बूनि, लवणाद्यप्रासुक त्यजन् जाग्रद्दयोऽङ्गिपञ्चत्वभीतः संयमवान् भवेत्।१५।

अर्थ – जिसके हृदय मे दया जागृत हो गई है ऐसा प्राणी, जीवबध से डरा हुवा, अप्रासुक शाक, बीज, फल, जल, लवण आदि को त्यागकर सयमवान होता है। (सागार धर्मामृत मे भी लवण को सदा सचित्त ही माना है।)

अनन्तकाया सर्वेऽपि, सदा हेया दयापरै। यदेकमपि त प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान्॥ १७॥

अर्थ–दयालु को सदा सर्व प्रकार की अनन्त काय वनस्पति का त्याग करना चाहिये। क्योंकि एक भी अनन्त काय वनस्पति की हिसा में प्रवृत्त हुवा अनन्त जीवो को मारता है। अनन्त काय, सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित का वर्णन पीछे किया जा चुका है। अब प्रासुक जलादि ग्रहण करने की विधि बताते है। —

''सूर्याग्नियन्त्रेण पक्व यत् फलबीजानि भक्षितुम्। वर्णगन्धरसस्पर्शव्यावृत्त जलमर्हति॥''

अर्थ—सूर्य से सूखे या सुखाये हुए तथा अग्नि से तपाये हुए, या यत्रो से पेले हुए, फल, बीज गन्ना आदि सचित्त वस्तुए तथा जल जिनका, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बदल गया है, वे वस्तुए खाने पीने वर्तने योग्य हो जाती है। हरित काय की रक्षा क्यो करनी चाहिये? इसका उत्तर यह है—

हरितेष्वकुराद्येषु सन्त्येवानन्तशोऽङ्गिन., निगोता: इति सार्वज्ञा वच प्रामाणयन् सुधी॥
पादापि सस्पृशंस्तानि, कदाचिदगाढतोऽर्थत.।
योती सक्लिश्यते प्राणनाशेप्येष किमत्स्यति॥१८॥ (ध स श्रा)

अर्थ—हरित अकुरादि मे अनन्त निगोद जीव है, इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् के वचनो को प्रमाण करता हुवा चरण मात्र से भी उन अकुरो को स्पर्श करता हुवा अत्यन्त दुखी होता है, वह पुण्य शाली भव्यात्मा उनको कैसे भक्षण करेगा? अर्थात् कभी नही करेगा।

ते तु स्वव्रतसिद्ध्यर्थमीहमाना महान्वया। नैषु प्रवेशन तावद्यावदार्द्रांकुरा पथि॥ १३॥
सधान्यै हरितै कीर्णमनाक्रम्य नृपांगणं। निश्चक्रमु कृपालुत्वात्केचित्सावद्यभीरव॥१४॥
प्रवालपत्रपुष्पादे पर्वणि व्यपरोपणं। न कल्पतेऽद्यतज्जानां जन्तूनानोऽनीमद्गृहाम्॥१५॥
सन्त्येवानन्तशो जीवा, हरितेष्वंकुरादिषु, निगोता इति सार्व देवास्माभि श्रुत वच.।१६।
तस्माद्न भिसंक्रान्तमद्यत्वो, त्वद् गृहाङ्गणं कृतोपहारमार्द्रार्द्रै, फलपुष्पाङ्कुरादिभिः।१७।

भावार्थ-भरत चक्रवर्ती ने जब अपनी सम्पत्ति सत्पात्रों को दान देनी चाही तो मुनि तो आहार सिवा कुछ लेते नही फिर दान किसको देना, ऐसा विचार कर उत्तमाचारी गृहस्थों

को देने के लिये अपने घर पर बुलाया, सो उनकी परीक्षा के लिये आगण मे हरित अकुरो, पर होकर आने का मार्ग दिखाया। जीव हिसा से भयभीत होकर जो भूमि पर होकर नही, आये उसको प्रासुक मार्ग से बुलाकर दान सन्मान दिया। इससे प्रमाणित होता है कि हरित को पैरो से कुचलना भी महापाप है तो खाना कैसे उचित हो सकता है? यह भी ध्यान रखने की बात है कि प्रतिमाये सचित्त के खाने का ही त्याग नही है किन्तु अन्य प्रकार से जैसे सचित्त से नहाना धोना, आदि रूप से उपयोग का भी त्याग है। हा, कुवे पर से जल ला सकता है, सचित्त शाक वगैरह छू सकता है, प्रासुक कर सकता है, प्रासुक करने आदि का भी त्याग अष्टम प्रतिमा मे हुवा करता है। गृहवासी सचित्त त्यागी का सर्व प्रबन्ध तो वह स्वय या उसके अन्य घर के लोग कर देते है, पर गृह त्यागी का तो सर्व प्रबध श्रावको द्वारा ही होना चाहिये, अर्थात् जब भोजन करने जावे तब वहा से ही पीतल का कमण्डलु प्रासुक जल से भरा लेना चाहिए तथा सायङ्काल के वास्ते भी एक कमण्डलु और जल के लिये कह आवे तथा दूसरे दिन जिस श्रावक के जीमने जाना हो, प्रभात ही वहा से एक कलशा प्रासुक जल का आजाना चाहिये, जिससे स्नान पूजनादि सब क्रिया करे। सिद्धान्त की आज्ञा भङ्ग करके इससे विपरीत कार्य नही करना चाहिये, नही तो नरक निगोद का पात्र होना पडेगा। सकलकीर्ति श्रावकाचार मे लिखा है कि भोगोपभोग परिमाण मे जिन सचित्त वनस्पतियो का त्याग कर दिया है ऐसे फल पुष्प, शाक पत्र कदादि को अचित्त होने पर भी श्रावक अवस्था मे भक्षण न करे। जिससे इन्द्रिय पर विजय होकर त्रस स्थावर जीवो की हिसा से बचे। व्रत का यही माहात्म्य है कि पाप से स्वयं बचे और दूसरो को बचावे। सचित्त त्यागी यत्नाचार पूर्वक अपने हाथ से रसोई बना सकता है, अन्य परिजन या व्रतियो को जिमा सकता है, क्योंकि अष्टम प्रतिमा से पहले आरभ का त्याग नही है। इस प्रतिमा मे तो सचित्त न स्वय भक्षण करे, न करावे, न ऐसा उपदेश दे कि सचित्त भक्षण करो। ज्ञानानन्द श्रावकाचार मे भी लिखा है कि पाचवी प्रतिमा धारी के सचित्त भक्षण का त्याग है न कि स्पर्श करने का भी। ऐसा त्याग तो सकल संयमी (मुनि) के होता है। सो भी उत्सर्ग पने मे, अपवाद अवस्था मे उनके भी नदी पार करना होवे, तो गोडे प्रमाण जल मे उतरते है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका मे लिखा है, कि पाचवी प्रतिमाधारी न तो सचित्त स्वयं भक्षण करे न दूसरे को भक्षण करावे। कदाचित् असाता कर्म के उदय से घर मे किसी कुटुम्बी के रोग जनित अवस्था हो जावे तो, सचित्त वस्तुओ को अचित्त बनाकर उनका उपकार कर सकता है। इस प्रकार का अन्य भी अनेक ग्रन्थो में उल्लेख है। भगवान् कु दकु द कृत अष्टम पाहुड के भावपाहुड मे लिखा है—

सच्चित्त भत्तपाणं गिद्धिदप्पेणऽधिप भुत्तुण, पत्तोऽसि तिव्व दुक्खं अणाइ कालेण त चित्तं।

कदमूलवीयपुष्पं, पत्तादि किंचि सच्चित्तं, असिऊणमाणगव्वं भमिश्रोसि णंत ससारे।१०३।

अर्थ—हे जीव, तूने दुर्बु द्धि, गृद्धि, अज्ञान, तथा अहंकार या उद्धत पने से, सचित्त भक्षण करके सजीव आहार पानी लेकर तीव्र दुख पाया है उसे चितवन कर। कंद कहिये जमीकदादि, मूल कहिये अदरख, गाजर, मूली, सकरकदी, घूइया, रतालु आदि, बीज कहिये गेहूं, चना, जुवार, बाजरा, मक्की, मू ग, मोठ, उडद, चावला, और भी कई प्रकार के पुष्प, फल, पत्र शाक, नागरबेल आदि जो कुछ सचित्त वस्तु गर्व करि भक्षण की, उससे हे जीव तू अनन्त ससार में भटका और बहुत दुख का भाजन हुवा है। उनको विचारो, कैसे २ दारुणदुख तूने भोगे है। सचित्त त्याग व्रत इस विचार से लिया जाता है कि "मै इन्द्रियो का सयम ठीक २ तरह से पालू गा, तब ही पूरी तरह से प्राणिसयम पल सकेगा अन्यथा नही। व्रती होकर भी जीवो को बाधा पहुंचाई, अहिसा का लक्ष्य नही रहा तो समझ लेना चाहिये कि आगामी हमारा अच्छा होनहार नही है क्योकि जिस व्रत से आत्मा का कल्याण होता है उस व्रत से आत्मा का घात होना या करना कितना बुरा काम है, इसलिये व्रती को सावधान होना होना सर्व प्रथम कर्तव्य है। ग्रन्थकारो ने सचित्त त्यागियो की कैसी प्रशसा की है सो बताते है—

अहो जिनोक्तनिर्णीति, रहो अक्षजिति सताम्।
नालक्ष्यजन्त्वपि हरित्, प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत्॥ १०॥ (सा. ध. अ. ७)

अर्थ—सज्जन पुरुषो का जिनागम सम्बन्धी निश्चय बहुत ही आश्चर्य करने वाला है, और उनका इन्द्रिय विजय भी आश्चर्य जनक है, कि ये जिसमें जन्तु दिखाई भी नही देते ऐसी हरित वस्तु को, प्राण जाने पर भी नही खाते। अपि शब्द से यह भावार्थ निकलता है कि जब वे आगम की श्रद्धा पूर्ण आज्ञा से ही सचित्त वनस्पति का भक्षण व त्याग करते है, तो जिन वस्तुओ मे अनुमान और प्रत्यक्ष से प्राणियो की सभावना है उनका कैसे भक्षण कर सकते हैं। अर्थात् कभी भी भक्षण नही कर सकते। —**नमक भी वनस्पति की तरह सचित्त है**— किन्तु इतना विशेष है कि और वस्तु तो सूर्य की धूप तथा अग्नि से पकाने पर प्रासुक हो जाती है, पर नमक को पीसने पर भी वायु के निमित्त से उसमे तुरन्त जल काय के जीव पैदा हो जाते हैं। इसलिये नमक को जब काम मे लेना हो **तब ही पीसकर** ताजा काम मे लेना चाहिये, पहिले का पिसा हुआ नही। व्रतियो को सेंधव नमक ही ग्राह्य है, सांभर आदि का नही। सो भी तुरत का पिसा हुवा हो।

❋ (६) रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा ❋

निशायां खाद्य पान स्वाद्य लेह्य दिवामैथुनानि च।
सविरतो रात्रिभुक्ति, अनुकम्पयेपु केपु रक्षण॥

अर्थ—कृत कारित अनुमोदना तथा मन वचन काय से रात्रि मात्र को हरेक प्रकार के आहार का त्याग करना अर्थात् सूर्य के छिपने के पहले दो घडी और सूर्य के निकलने के दो घडी पश्चात् तक आहार पानी खाद्य लेह्य और पेय ऐसे चारो प्रकार के भोजन का सर्वथा त्यागी और दिवा मैथुन अर्थात् दिन मे स्त्री ससर्ग का सर्वथा त्याग होता है। इसी को रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा कहते है। यहा पर यह नही समझना चाहिये कि पाचवी प्रतिमा जो सचित्त त्याग है उसके अन्दर या उसके पहले की प्रतिमाओ मे रात्रि भोजन या दिन मे स्त्री सेवन करते होगे और छटी प्रतिमा मे ही इसका त्याग होता होगा। सो बात नही है। यह त्याग तो व्रत प्रतिमा से पहले पाक्षिक अवस्था मे ही त्याग हो जाता है। परन्तु यहा तक उसमे कई दूषणो मे से उनमे दूषण लग जाया करते थे सो अब प्रतिमा रूप प्रण मे वे दूषण नही लगे। सब प्रकार से दोष बचाकर आचरण करे, तब ही जीवो की अनुकम्पा पल सकती है, तथा जीवो की दया पलती है, अन्यथा नही। (सा. ध. अ ७)

रात्रावपि ऋतावेव सन्तानार्थमृतावपि, भजन्ति वशिन कान्तां न तु पर्वदिनादिषु ।। १४ ।।

अर्थ—जितेन्द्री पुरुष (श्रावक) रात्रि मे ही, रात्रि मे भी ऋतुकाल मे ही, सन्तान प्राप्ति के लिये, न कि विषय भोग का आनन्द के लिये, स्वदारा का सेवन करते है, सो भी पर्व दिवस अष्टमी चतुर्दशी अष्टाह्निका, दशलक्षण आदि मे कदाचित् भी स्त्री सेवन नही करते, अर्थात् सर्वथा त्याग कर देते है।

एवं षट् प्रतिमा यावच्छ्रावका गृहिणोऽधमा ।
निरुच्यन्तेऽधुना मध्यास्त्रयोऽन्यवर्णिनोऽपि च ।। (धर्म स)

अर्थ—इस छट्ठी प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य कहलाते है। सातवी, आठवी नवमी इन तीन प्रतिमा के धारक मध्यम श्रावक होते है, इनकी वर्णी संज्ञा है। यह छट्ठी प्रतिमा प्राय कुलीन पुरुषो के ही ठीक ठीक रूप से पलती है। स्त्री तथा शूद्रो को इसका पालन कठिन है। क्योकि स्त्री के लिए तो सतान आदि को औषधि आदि देना तथा प्रसूति आदि अवस्था में लेना अनिवार्य हो जाता है, जिसमे रात्रि का बचाव नही रहता तथा शूद्रो का भी सम्पर्क रात्रि भोजियो से ही रहता है तथा अन्य उसकी जातिया कुटुम्ब वाले रात्रि भोजन करते है, इसलिये उससे निरतिचार इस प्रतिमा का पालन अशक्य है। यहा कोई प्रश्न करे ? कि फिर तो स्त्री या शूद्रो को इस प्रतिमा का व्रत नही देना चाहिये। उत्तर—शास्त्रो मे सत् शूद्र तथा स्त्री को एकादश प्रतिमा पालन तक का अधिकार बताया है, इसलिये उनकी पालना होने से प्रतिमा देने या पालन का सर्वथा निषेध नही किया जा सकता। यह जैन धर्म पतित पावन है, इसमे ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, सभी को यथा योग्य व्रत पालन का अधिकार होते हुए भी, अपने अपने व्रतो को निरतिचार पालन करने का आदेश है। शूद्रो

को ऐसी निर्दोष परिस्थिति मिलना आजकल अति कठिन है । इस प्रतिमा धारी को रात्रि मे गृह सबधी व्यापार लेन देन, वाणिज्य, चूल्हा आदि का कार्य, षट्कर्म का आरभ नही करना चाहिए । क्योकि यह सावद्य कर्म है, ऐसा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका मे लिखा है । दौलतरामजी कृत क्रिया कोष मे लिखा है कि—रात्रि को मौन रखना चाहिये, सो धर्मध्यान, स्वाध्याय, चर्चा के अतिरिक्त आरंभादि पाप क्रिया से बचने के लिये मौन रखना अतिश्रेष्ठ है । बडे समाधि तन्त्र में लिखा है कि इस प्रतिमा धारी को रात्रि मे गमनागमन नही करना चाहिये । सो धर्म कार्य के सिवा अन्य कार्यो के लिये, ऐसा मद कषायी प्रतिमाधारी क्यो करेगा ? मंद कषाय बिना इस प्रतिमा धारण करने की योग्यता ही कैसे हो सकती है । स्त्री और पुरुषो के प्रतिमा पालन के ढग मे द्रव्य रूप से तो भेद अवश्य होता है किन्तु भावों से नही । जैसे स्त्री अपने बच्चे को रात्रि मे स्तन पान कराती हुई भी छठी प्रतिमा धारक है । अपनी अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुकूल महर्षियो ने व्रतियो की शाखा बताई है । इसलिये पालन मे परस्पर भेद देखकर सदेह नही करना चाहिये । इसलिये ही स्त्रिया गृहस्थ अवस्था मे व्रत न ले ऐसा किसी शास्त्र मे नही लिखा है हा इतना अवश्य है कि अपनी अपनी शक्ति के अनुकूल ही पालन करे । जैसे—आर्यिका के, वस्त्र रखते हुए भी उपचार से महाव्रत माने जाते है, क्योकि उसके त्याग की हद हो चुकी । इसी तरह स्त्री व शूद्रो के दूषण लगे तो भी वे स्ववश न होने से उस प्रतिमा के धारी व्रती माने जावेगे । अथवा जैसे—सप्तम प्रतिमा मे पुरुष के स्त्री मात्र रूप विषय का त्याग होगा, और स्त्री के पुरुष रूप विषय का त्याग होगा, ऐसा पीयूष वर्ष श्रावकाचार मे लिखा है, सो यथायोग्य ही सब के व्रतो का पालन होता है ।

❋ (७) ब्रह्मचर्य नामा प्रतिमा ❋

सूक्ष्मजन्तुगणाकीर्ण, योनिरन्ध्रं मलाविलम् ।
पश्यन्य· सगतो नार्या , काष्ठादिमयतोऽपि च ।। २६–८ ।।
विरक्तो य भवेत्प्राज्ञस्त्रियोऽङ्गे स्त्रिकृतादिभि. ।
पूर्वषड्व्रतनिर्वाही ब्रह्मचार्यत्र स स्मृत· ।। (धर्म स.)

अर्थ—पहले की छह प्रतिमाओ का भले प्रकार निर्वाह करने वाला जो बुद्धिमान–स्त्रियों के योनिस्थान को छोटे२जीवो के समूह से पूर्ण तथा झरते हुए मल सहित देखकर, नाना प्रकार के दुखादिको को सहन करता हुवा भी, मन वचन काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से स्त्रियो से विरक्त होता है उस भव्यात्मा को नियम से ब्रह्मचारी समझना चाहिये

विषं भुक्त वरं लोके झपापातोऽग्नि कुण्डके ।
रमणी रमण स्पर्शो रमणीयो नहि कर्हिचित् ।। ३३ ।। (धर्म स श्रा)

अर्थ—हलाहल विष पीना, पहाड पर से गिर कर मरना, झपापात लेना या अग्नि में कूद जाना अच्छा, परन्तु स्त्रियो के साथ रमण करना, तथा स्पर्श करना कभी अच्छा नही होता।

"यो न ग याति विकार युवतिजनकटाक्षवाणविद्धोपि।
सत्वेक्शूरशूरो न च शूरो भवेच्छूर ॥ १ ॥
ससारबीजभूतं शरीर दृष्ट्वा बीभत्समनङ्गत्वेन।
पश्यन्नात्मान्यात्मान स ब्रह्मचारी नैष्ठिक ॥"

अर्थ— ससार का बीजभूत, मल का घट इस शरीर को देखकर, पुण्यात्मा पुरुष अन्य (स्पर्श)" के अङ्गो का स्पर्श या व्यसन विषय रूप वासना को घिनावना समझ कर ऐसे महा निद्य कार्य को मन वचन, काय से त्याग देते है वही पुरुष धन्य माने गये है। क्योकि अन्य के अग से अन्य के घर्षण मे अनत सम्मूर्च्छन जीवो की प्रत्यक्ष हिसा दिखती है यानी विषय सेवन से जीवो का विनाश होता है। (ज्ञानार्णव)

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटय । योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना, लिंगसघट्टपीडिता ॥२१-१३॥

अर्थात्—स्त्री रूप पदार्थ के गुप्त अङ्ग मे सदा ही असख्य सैनी सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते है, जो मैथुन सेवन से विनाश को प्राप्त होते है मूढ ऐसी हिसा से जीव सस.र मे महान् कष्ट शोक ताप आक्रदन दुख भोगता है, नरक निगोद का पात्र बन जाता है। ऐसा समझकर पुण्यशाली स्त्री या पुरुष न तो काम सेवन करते है न उसका स्मरण करते है। वे ही प्राणी संसार रूप सागर से पार होते है तथा धन्य माने गये है। (सा ध)

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे।
चत्वाऽङ्गे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमा ॥ २०—७ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुक।
इत्याश्रमास्तु जैनानां, सप्तमाङ्गाद्विनिसृता ॥ (चारित्रसार)

अर्थ—उपासकाध्ययन नामा सातवे अङ्ग मे वर्णो की तरह क्रिया के भेद से ये चार आश्रम कहे गये है। १ ब्रह्मचारी २ गृहस्थ ३ वानप्रस्थ ४ भिक्षु। मुनि धर्म के कथन में भिक्षु का तो वर्णन कर दिया, तथा गृहस्थाचार का भी कथन कर दिया, वानप्रस्थ का वर्णन ग्यारहवी प्रतिभा मे करेगे। यहा तो प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हैं।

—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन— "तत्र ब्रह्मचारिण. पचविधा, उपनयावलम्बदीक्षागूढनैष्ठि कमेदेन

अर्थात्—ब्रह्मचारियो के पाच भेद माने है यथा—१. उपनय २. अवलम्ब ३— अदीक्षित ४ गूढ ५ नैष्ठिक। इनका खुलासा इस प्रकार है— १. उपनय ब्रह्मचारी— यज्ञोपवीत लेकर ब्रह्मचर्य से युक्त होकर विद्याध्ययन करे, शास्त्रपाठी होकर पश्चात् गृहस्था-श्रम मे प्रवेश कर धर्मध्यान मे अपनी आयु पूर्ण करे। २. अवलम्ब ब्रह्मचारी—जो ब्रह्मचारी

क्षुल्लक सरीखा भेष धारण कर विद्याध्ययन करे, पश्चात् विद्या विशारद होकर गृहस्थावस्था ग्रहण करे। ३. अदीक्षित ब्रह्मचारी—जो किसी भेष को धारण किये विना ही ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याभ्यास करे। विद्या पढकर पश्चात् गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करे ४. गूढब्रह्मचारी-जो बाल्य अवस्था से ही मुनि समान भेष धारण कर, मुनियो के सघ मे रहकर, ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करता है, पश्चात् माता पिता या राजा आदि की प्रेरणा से, तथा क्षुधा आदि परीषह न सह सकने के कारण गृहस्थावस्था मे पुनः प्रवेश करता है, वह गूढ ब्रह्मचारी है। ५. नैष्ठिक ब्रह्मचारी—जिसने आजन्म निष्ठा पूर्वक व्रत ग्रहण कर लिया है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। यह ब्रह्मचारी पुन गृहस्थाश्रम मे प्रवेश नही कर सकता। यह सिरपर चोटी, और वदन में यज्ञोपवीत रखता है। सफेद कपड़े और कोपीन पहनता है। देव पूजा, गुरुओं की उपासना आदि धर्म साधन के कार्यो मे यह सदा लवलीन रह, घर मे से या भिक्षा वृत्ति से भोजन करता है। इस प्रकार यह गृहवासी और गृहत्यागी दोनो तरह के होते हैं। —*** ब्रह्मचारी के त्यागने योग्य कर्म ***— ब्रह्मचारी को विकार करने वाले अनेक दोषो से बचना चाहिये यह बताते है।

आद्यं शरीरसंस्कारो, द्वितीयंवृष्यसेवनम् । तौर्यत्रिक तृतीयं स्यात् संसर्गास्तुर्यमिष्यते ॥७॥
योषिद्विषयसंकल्प. पंचमं परिकीर्तितम् । तदङ्गवीक्षण षष्ठ संस्कार. सप्तम मतम् ॥ ८ ॥
पूर्वानुभोगसभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् । नवम भाविनी चिन्ता, दशम वस्तिमोक्षणम् ॥९॥

अर्थ–१ शरीर का विकाररूप सस्कार न करे २ स्त्रियो का सेवन न ही करे ३ गीत नृत्य वादित्र नाच आदि न देखे न सुने ४ स्त्रियो की सगति न करे ५ स्त्रियों के काम भोग की कल्पना न करे। ६ स्त्रियो के मनोहर अङ्गो को न देखे, ७ किसी स्त्री का अङ्ग दिख भी जावे तो चित्त में उसका विचार न करे। ८ भोगे हुए भोगो को याद न करे। ९ आगामी काल सबधी भोगो की इच्छा न करे। १० शरीर से खोटी क्रिया करके वीर्य पात नही करे, ऊपर लिखे विकार के कारणो को नही मिलाना। यदि मिले तो मन मे शान्ति धारण कर उनको जीतना चाहिये। चित्त में उद्वेग नही पैदा होना देना यही वीरो का कर्त्तव्य है। इस लिये पूर्ण सावधान रहकर विकार से बचना चाहिये।

देवदैत्योरगव्याल ग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम्, विदन्ति ये महाप्रज्ञास्तेऽपि वृत्तं न योषिताम् ।२४-१२।

अर्थ—जो महान् विद्वान् देव, दैत्य, नाग, हस्ती, ग्रह, चन्द्रमा और सूर्य, इन सबकी चेष्टाओं को जानते हैं, वे भी स्त्रियो के चारित्र को नही जान सकते, क्योंकि स्त्री चारित्र अगाध है।

कुष्ठव्रणमिवाजस्रं, वाति श्रवति पूतिकम् ।
यत्स्त्रीणां जघनद्वारं, रतये तद्विरागिणाम् ॥"

अर्थ—स्त्रियों का जघन द्वार जो कुष्ट (कोढ) के घाव समान निरन्तर झरता ही

रहता है और दुर्गंध से युक्त रहता है, तब भी कामी पुरुषों के लिये वह रतिकारी है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। **यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभाव. कलङ्क्यते।**
तस्याः किन कथालापैर्भ्रू भङ्गैश्चारुविभ्रमैः ॥ १४-१४ ॥

अर्थ—जिस स्त्री के ससर्ग मात्र से ही मुनिपना कलंकित हो जाता है, उसके साथ वार्तालाप करने, भोह के टेढे पन, और सुन्दर विभ्रम विलासो के देखने से क्या मुनिपन नष्ट नही हो सकता? **अनतशक्तिरात्मेति श्रुति वस्त्वेव न स्तुति.।**
वत्स्वद्रव्ययुगात्मैव, जगज्जेत्र जयत्स्मरम् ॥"

अर्थ—इस कामदेव को जीतने की शक्ति इस आत्म देव मे ही है, क्योंकि, आत्मा अनत शक्तिवाला है, यह श्रुति (सिद्धान्त) वास्तविक है, यथार्थ ही है, कोई स्तुति अर्थात् कोरी बडाई नही है। आत्म द्रव्य मे लीन रहने वाला आत्मा ही जगत विजयी कामदेव को जीत लेता है। अठारह हजार शील के भेदो को समझकर उनके भग को बचाने से पूर्ण शील पालन होता है। सो ही शील के १८००० भेदो का निरूपण करते है।

०—* शील के १८ हजार *—

स्त्री के मूल भेद दो – १ चेतन स्त्री २ अचेतन स्त्री। १ चेतन स्त्री तीन प्रकार की — १ मानुषी २ देवी, ३ तिर्यञ्चनी। २ अचेतन स्त्री भी तीन प्रकार की १ काष्ठकी २ पाषाण की (मिट्टी की) ३ चित्राम की (लेप की) इस प्रकार मिलाकर स्त्री छह प्रकार की होती है। शास्त्रो मे चेतन स्त्री सबधी १७२८० भेद होते है, वे ये है— सामान्य चेतन स्त्री तीन प्रकार की १ मनुष्यणी, २ देवी, ३ तिर्यञ्चणी। इन के साथ पाप मन से, वचन से, काय से, हुवा करता है, सो इन तीनो को गुणा करने से नव भेद हुए इनकी प्रवृत्ति कृत, कारित अनुमोदना से होती है इसलिये इनसे गुणा करने पर सत्ताईस भेद हुवे। यह पाप पाचो इन्द्रियो से होता है इनसे गुणित किया तो एक सौ पैतीस[१३५]हुए। फिर यह चारो सज्ञाओ मे विभक्त होते है, इनसे गुणित करने पर पाचसो चालीस (५४०) हुए। द्रव्य से तथा भाव से गुणा करने पर १०८० हुए। फिर इनको मूल कषाय चार के उत्तर भेद १६ सोलह से गुणा करने पर १७२८० भेद हुए। इस तरह स्त्री, ३ मन वचन काय ३, कृत कारित अनुमोदना ३, इन्द्रिय ५, सज्ञा ४, द्रव्य-भाव २, कषाय १६, इनको परस्पर गुणा करनेसे चेतन स्त्री संबधी१७२८०हुए। तथा (३×३×३×५×४×२×१६= १७२८०)। अचेतन स्त्री सम्बन्धी शील विराधना के ७२० भेद होते हैं, उनका खुलासा इस प्रकार है। १ काष्ठ २ पाषाण ३ चित्राम की, अचेतन स्त्री। इनको मन तथा काय से गुणा किया, क्योकि इन के वचन या कान तो है नही, जो इनसे कुछ कहकर समझावे, इसलिये ६ कोटि हुई, इनको कृत, कारित अनुमोदना की प्रवृत्ति से गुणा किया तब अठारह

भेद हुए। ये दोष पाचों इन्द्रियों से हुए इनको गुणा करने पर नव्वे भेद, उन को चार संज्ञाओ से गुणा किया तो तीन सौ साठ (३६०) भेद हुए। ये दोप द्रव्य और भाव से होते है उनके गुणा करने पर ७२० हो गये इस तरह स्त्री ३, मन और काय २, कृत कारित अनुमोदना३, इन्द्रिय५, सज्ञा४, द्रव्यभाव २ को परस्पर गुणा करने से(३×२×३×५×४×२= इस प्रकार अचेतन स्त्री सात सौ बीस (७२०) भग हुए। चेतन स्त्री सबधी (१७२८०)+ अचेतन स्त्री सबधी ७२० = १८००० मिलाकर अठारह हजार भेद हुए। इस प्रकार भगवत् कुदकुंद स्वामी ने अष्ट पाहुड के शील पाहुड मे अठारह हजार भेद करके समझाया है कि शील विना भव सागर पार नही होता। यहा कोई प्रश्न करे—देवी तथा मनुष्यो के परस्पर मे शील के सबध मे कैसे दोप लग सकता है, क्योकि देवी, तथा मनुष्य का सम्पर्क तो शास्त्रो मे कही नही बताया।

उत्तर– इस प्रकार शास्त्रो मे मिलता है — जैसे– जब रामचन्द्रजी मुनि अवस्था में ध्यानारूढ थे, तब सीता का जीव सोलहवे स्वर्ग मे देव हुवा था, उनके पास आकर स्त्री के राग रूप कटाक्ष आदि भाव बताकर उनको चलायमान करना चाहा, रामचन्द्रजी तो किंचित् भी विचलित नही हुए, किन्तु कदाचित् भी चलित होते तो उनको देवाङ्गना कृत शील मे दूषण लग जाता, इस प्रकार का दूषण सभव है। **प्रश्न**—क्या औदारिक वैक्रियिक शरीर का ससर्ग होता है। **उत्तर**–सामान्य रूप से सबंध तो नही होता, किन्तु आशाबानो को स्पर्शादि कृत इस प्रकार का दोष अवश्य लग जाता है जैसे-किसी पुरुष या स्त्री ने मन्त्र द्वारा किसी देव या देवी का साधन किया, वह आकर प्रगट होवे और उस व्यक्ति का चित्त चलायमान हो जावे, तो मन और काय सबधी दोष अवश्य लग जाता है, इसमे संदेह नही। अत शील समान इस ससार मे अन्य कोई पदार्थ नही। शीलवान् प्राणियो की देव भी सेवा करके अपने को धन्य समझते है।

शील बडो संसार में, सब रत्नो की खान। तीन लोक की संपदा रही शील मे आन ॥

शीलवान् दूसरी प्रतिमा मेनो अपने बच्चे बच्ची आदि का व्याह करा सकता है सप्तम प्रतिमा धारी नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने पर अपने बच्चो का विवाह आदि भी स्वय न करावे, अन्य कुटुम्बी ही करावे। **–※ ब्रह्मचर्य की महिमा ※–** (ज्ञानार्णव ११ अध्याय)

एकमेव व्रत श्लाघ्य, ब्रह्मचर्य जगत्त्रये। यद्विशुद्धि समापन्ना, पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य व्रत तीनो जगत मे प्रशंसा करने योग्य है, क्योकि जिन पुरुषो को इसकी निरतिचार विशुद्धि प्राप्त हुई है, वे पुरुष पूज्यो के द्वारा भी पूजे जाते है, जैसे— अरहत भगवान् ब्रह्मचर्य व्रत की पूर्णता को प्राप्त हुए है, अत उनकी पूजा मुनि और गणधरादि सभी पूज्य पुरुष करते हैं। (ज्ञानार्णव)

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैवं जीवियम्, स्यु सन्तोऽपि गुणा येन, विना क्लेशाय देहिनाम्।४।

अर्थ—आशीर्वाद पूर्वक मुनि लोग भी इस व्रत की महिमा गाते है कि–यह ब्रह्मचर्य व्रत जयवन्त हो क्योकि चारित्र का तो एक मात्र जीवन है, इसके विना अन्य कितने ही गुण होवे वे सब जीवो को क्लेश के ही कारण होते है, इसलिये उन प्राणियो का भी धन्य भाग्य है जो इस व्रत को धारण करते है । सप्तम प्रतिमा धारी दोनो तरह के होते है, गृहत्यागी और गृहवासी । गृहवासी ब्रह्मचारी, अष्टम तथा नवम प्रतिमा धारण के पहिले जब तक घर मे रहे तब तक साधारण गृहस्थी सरीखा भेष रक्खे, सादा कपड़े पहिने, उदासीन रूप से रहे । क्षुल्लक सरीखा भेष न बतावे, भिक्षा-वृत्ति करने वाला गृहत्यागी ब्रह्मचारी ही क्षुल्लक सरीखा भेष मे रह सकता है । इसलिये गृहवासियो को भेष रखने की कोई जरूरत नही । सिर्फ उनका तो यही कर्तव्य है कि उदासीनता पूर्वक गृह मे रहे किसी प्रकार ढोग नही करें । इस प्रतिमा धारी को चाहिये कि वह स्त्री वाची सवारी पर ही नही बैठे जैसे—हथिनी, ऊँटिनी, घोडी आदि चेतन सवारी । दिन मे एक वार ही भोजन करे, दूसरी वार जल पीना होवे तो पी लेवे, भोजन नही करे, ऐसी आदत डाल लेवे । कारण कि व्रतो को बढाने की अपेक्षा है । १ स्नान सादे तौर से करे २ साधारण वस्त्र पहिने, ३ जूते कपडे के ही पहिने, ४ छाता न लगावे ५ काम कथा, राग कथा, स्त्री कथा, देश कथा, चोर कथा, राजकथा न करे ६ भड वचन कभी न बोले ७ हसी दिल्लगी रूप वार्ता न करे ८ पलग पर कोमल वस्त्र बिछाकर न सोवे ९ अपने विस्तर पर अन्य को न सुलावे १० आप पहिनने के वस्त्र थोडे से प्रासुक जल से स्वयं धोवे, दूसरो से न धुलावे, ज्यादा खराब हो गये हो तो दूसरे बदल लेवे । ऊपर लिखे अनुसार स्त्रियो को भी सब विकार के साधनो से बचना चाहिये क्योकि उनको भी काम ज्वरादि होते है जैसा कि कहा भी है—

"मूर्च्छांगमर्दतृट्नेत्रचापल्यकुचवक्रता । स्वेदस्यादतिदाहश्च, स्त्रीणां कामज्वरो भवेत् ॥

अर्थात्—काम ज्वर से स्त्रियो के मूर्च्छा, अङ्गसादन, पिपासा, नेत्रो मे चपलता, कुचो में वक्रता, स्वेद, अतिदाह आदि होते है । इस प्रकार ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारी को चाहिये कि वह बाह्य मे तो विराग भेष रक्खे और अन्तरग से विकार भावो को छोडता रहे, तभी कल्याण हो सकता है अन्यथा नही ।

* (८) आरंभ त्याग प्रतिमा स्वरूप *

जो आरंभ ण कुणदि अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णो ।

हिंसासतठ्ठमणो, चत्तारभो हवे सोहि ॥ ३८६ ॥ (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ–जो श्रावक गृह कार्य सम्बन्धी कुछ भी आरभ न करे, अन्य से नही करावे । करे जाको भला नही जाने, सो हिसा से भय भीत आरभ त्याग प्रतिमा धारी है ।

सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारभतो व्युपारमति. ।
प्राणातिपातहेतो , यो सावारंभविनिवृत्तः ।। १४४ ।। (रत्न करण्ड)

अर्थ—जो श्रावक हिसा से भय भीत होकर आरभ कहिये-असि, मसि, कृपि, सेवा शिल्प, वाणिज्य इन ससार सबधी क्रियाओ को और सेवा को, सम्पदा को भी छोड देता है, संतोष धारण कर ममता घटाता है, अर्थात् ऐमा कोई भी कार्य नही करता जिससे किसी भी प्राणी को बाधा होवे, वह आरभ त्यागी प्रतिमा धारी है । विशेप—इसने सब ऐसे आरंभ का त्याग किया है जो ससार का वढाने वाला हो । जो मोक्ष मार्ग का साधन भूत हो सके, ऐसा आरंभ कर सकता है । जैसा—स्नान, दान, जिनेन्द्र पूजा । गृहत्यागी आरभ त्यागी के तो यह व्रत नव कोटि की विशुद्धि से पल सकता है, वह न स्वय आरंभ करता है, न कराता है, न करते हुए अन्य को अच्छा समझता है । परन्तु गृहवासी के तो यह छह कोटि से ही पलेगा । क्योकि उमे कुटुम्वियो के साथ रहते हुए अनुमति से बचना मुश्किल है । उसे तो हानि लाभ वताना ही पडता है । हा, यह नही कहता कि तुम इस प्रकार करो । फिर भी हानि लाभ की वार्ता से उसके अनुमोदन के अभिप्राय को कुटुम्वी समझ जाते हैं । इसलिये ही तीन कोटि घट जाती है । इसी से गृहस्थी को ६ कोटि व्रत की शक्ति कही है ।

यह व्रती ऐसा कभी नही कह सकता कि तुम यह कार्य ऐसा करो या कराओ परन्तु पूछने पर अपने भोजन की आखडी, त्याग व्रत आदि वता देगा । हानिकारक वस्तुओ को भी समझा देगा परन्तु यह नही कहेगा कि भोजन मे ऐसी २ वस्तुएँ बना लेना, इस प्रकार के कहने का यह त्यागी है । आरंभ त्यागी श्रावक के धार्मिक आरंभ मे जैसे देव पूजा के लिये जल भर कर लाना, द्रव्य को शोधना, फटकना, इनमें भी हिसा जरूर हुवा करती है । तथा गृहस्थ अवस्था मे रहता है, तव कुटुम्व के, कृषि, वाणिज्य आदि का वादर दोष तो आरभ त्याग छूट गया परन्तु सूक्ष्म दोष रहता है, जो कि ग्यारहवी प्रतिमा तक लग ही जाता है, यहा टलता नही । इस प्रकार पं० जयचन्दजी छाबडा सर्वार्थ सिद्धि की टीका मे लिखते है, ग्यारहवी प्रतिमा के अन्त मे जब ये दोष छूटते है, वहा ही व्रत महाव्रत रूप मे परिणत हो जाते हैं । आरभ त्यागी न तो स्वयं भोजन बनाता है न अन्य से बनाने को कहता हैं । अपने घर पर या पराये घर पर न्योता से या विना न्योते के ही जीम आता है । जिह्वा इन्द्रिय को जीतता हुवा, जिस गृहस्थी के भोजन को गया उसकी गृहस्थी के अनुसार जो भोजन बना है, उसमे रागद्वेष छोड़कर शान्ति के साथ अल्प भोजन कर लेता है खर्च के वास्ते प्रासुक जल से कमण्डल भर लाता है, पीवे या नही पीवे । इस प्रतिमा के धारण करने से पूर्व, जितना भी अपने पास धन या जायदाद होवे, उसका विभाग करे । अपने

पास रखना होवे सो तो, अपने पास रक्खे, जिसमें अपना अपवाद न होवे, पश्चात् बची हुई सम्पत्ति को कुटुम्बी जनों को विभाग करके बांट देवे, जिससे उनको सतोष रहे। जितनी अपने पास सपदा रक्खी है, उससे तीर्थ यात्रा करे, दूसरो से माग कर नही, नया धन बढाने की कौशिश न करे। कदाचित् किसी पाप कर्म के उदय से अपने पास के धन को कोई दायादार, राजा, चोर, हर ले जावे तो उसमे खेद माने नही, न आकुल व्याकुल होवे, कर्म का उदय जान सतोष धारण करे। उस धन मे से स्वयं या अन्य के लिये, भोजन में खर्च न करे, भोजन तो अपने या अन्य के घर पर करे, शेष दान तीर्थ आदि मे उस को लगावे, या जिसकी जैसी योग्यता हो वह उस समय वैसा नियम रक्खे।

प्रश्न— आरंभ त्यागी को कदाचित् कोई भोजन के लिये न बुलावे, तो स्वय बनाकर खावे या नही, उसमें निज द्रव्य लगावे या नही, या क्या करे? **उत्तर**— आरभ त्यागी को पहिले अपना द्रव्य क्षेत्र काल भाव देख लेना चाहिये, कि इस रूप मेरी कषाय शान्त हुई है या नही। प्रथम तो धर्मात्माओ को कभी ऐसा अवसर आता ही नही कि उसे धर्म के साधन न मिले या साधने कराने वाले न हो तथा ऐसे क्षेत्र में जावे ही नही जहा संयम का घात होता हो। कभी अकेला, विना लगाम घोड़े की तरह न रहे, हमेशा अपने सरीखे त्यागी व्रतियो के साथ ही रहे जिससे सर्वदा धर्म साधन बनता रहे। अकेला फिरने से व्रती भी स्वच्छन्द प्रमादी और दूषण युक्त हो जाता है, जैसा कि बहुधा आजकल देखा जाता है। अत· उस स्वच्छन्दता से सदा बचे। धर्मात्मा जब यह प्रतिमा ग्रहण करे तब देखे कि मेरी स्त्री या मेरा पति या पुत्र बाधवादि मुझे धर्म साधन करावेगे या नही, तब जैसा अवसर हो वैसा व्रत धारण करे तो ठीक अन्यथा व्रत लेकर छोडने से स्वय का पतन और धर्म की हसी होती है। इसलिये इतनी कषाय दब गई हो तभी ये व्रत ग्रहण करे। सागार धर्म मे कहा है–

यो मुमुक्षुरघाद्बिभ्यत्त्यक्तुं भक्तमपाच्छति, प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणी. क्रिया· ।।२२।।-७

अर्थ—जो (मुमुक्षु) मोक्ष की इच्छा करने वाला आरभ त्यागी पाप से डरता हुवा भोजन को भी छोड़ने की इच्छा करता है, वह जीवो को नाश करने वाली क्रिया कैसे करेगा तथा करावेगा? प्रतिमा धारण करने के पहिले, व्रत स्वरूप पूरी २ तरह समझ लेवे, बाद मे द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव देख, उचित होवे, और पल सके तो व्रत रूप प्रतिमा ग्रहण करे अन्यथा नही। केवल देखा देखी करने से तो व्रत भ्रष्ट और पापी होना पड़ता है, जिससे बडा अकल्याण होता है क्योकि स्वरूप समझे विना पालन कैसा? सप्तम प्रतिमा तक अपनी आजीविका सबंधी कुल काम अपने हाथ से कर सकता है जैसे भोजन बनाना, पानी लाना, स्वतन्त्र रूप से उधर इधर जाना आदि। सो इस प्रतिमा में नही कर सकता क्योंकि यह

पद ऊंचा है, अपने घर मे योग्य पुत्रादि होवे तो आरभ त्याग करे, नही तो सप्तम प्रतिमा मे ही बना रहना ठीक है। उच्च पदस्थ होकर नीचा आचरण करके 'ऊंची दुकान फीके पकवान' इस कहावत को चरितार्थ न करे। इस प्रतिमा धारी को सवारी मात्र का त्याग कर देना चाहिये, क्योकि—१ अमितगति श्रावकाचार २ गुरूपदेश श्रावकाचार ३ भगवती **आराधना आदि** शास्त्रों का कथन है कि सवारी चेतन हो या अचेतन उनमे जीव हिसा हुये बिना रह नही सकती। इसलिये इस का त्याग किये बिना आरंभ त्याग कैसा, ? सवारी मे बैठने से स्वाधीनता तथा विरक्ति का तो नाश ही हो जाता है हा नदी पार जाना आदि अनिवार्य होवे तो नाव मे बैठने का त्याग नही। क्योकि इसमे प्रमाद जनित दोष नही है, इसलिये इसका प्रायश्चित बताया है सामान्य सवारी मे हिसा और प्रमाद दोनो होते है, इसलिये सर्वथा हेय है। पुत्र पुत्री के विवाहादि का त्याग तो सप्तम प्रतिमा मे ही हो जाता है, कोई आशय लेकर कुटुम्बी जन राय पूछे तो सम्मति दे सकता है, वस्त्र मैले हो जावे तो अल्प जल से स्वयं धोले, घर वालो से न कहे, यदि वे बिना कहे ही धोवें तो सचित्त जल से न धोना ऐसा कह देवे। मकान आदि बनवाने का तो व्रत प्रतिमा में ही निषेध है। इस प्रतिमा मे अल्प भी जीव हिसा का आरभ न करे। रात्रि को दीपक न जलावे गमनागमन न करे मदिर मे स्वाध्याय को जा सकता है यदि दीपक लगा होवे तो अन्यथा नही जावे। पूजन, प्रक्षाल, सौर, सूतक या चाडालादि के स्पर्श की शुद्धि के लिये अल्ल जल से यत्न पूर्वक स्नान लेवे. वैद्य. ज्योतिष. मत्र यंत्र. तन्त्रादि न करे. पखा न करे इससे वायुकायिक जीवो की विराधना होती है। नदी कूप से पानी. तथा खानो से मिट्ठी खोदकर न लावे चातुर्मास मे ग्रामान्तर मे भ्रमण न करे एक ही स्थान पर रहे। त्यागियो को व्रत प्रतिमा से ही इन बातो का अभ्यास करना तथा पालन करना प्रथम कर्तव्य है।

* (९) परिग्रह त्याग प्रतिमा का स्वरूप *

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरत।
स्वस्थः सतोषपर परिचितपरिग्रहाद्विरत ॥ १४५ ॥ (रत्नकरण्ड श्रा०)

अर्थ—धन धान्य, आदि दस प्रकार के सम्पूर्ण परिग्रह से ममता छोडकर स्वस्थ तथा सतोष युक्त, निर्ममत्व मे जो लीन हो जाता है वह ली हुई आठ प्रतिमाओ को विधि पूर्वक **पालता हुआ धर्मात्मा** श्रावक रागद्वेषादिक अभ्यतर परिग्रह **और** क्षेत्र वास्तु **आदि** बाह्य परिग्रह मे से आवश्यकतानुसार वस्त्र पात्रो के सिवाय शेष परिग्रह को त्यागने योग्य जान, मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदना कर नव कोटि से त्यागता है और सतोष धारण करता है। तथा शीत उष्णता की वेदना दूर करने के वास्ते अल्प मूल्य के पात्र वस्त्र को छोड सर्व प्रकार से धन सपदा का त्याग करे। वही परिग्रह त्याग प्रतिमा धारी श्रावक

कहलाता है।

—* परिग्रह के दश भेद *—

क्षेत्र वास्तु. धनं. धान्यं. द्विपद च चतुष्पदम् ।
शयनासनं च यानं च. कुप्यं भाण्डमिति दश ।। १ ।।"

अर्थ—नवमी प्रतिमा का धारक उक्त दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्यागी तथा आभ्यतर परिग्रह का विचारक होता है. भगवन् उमास्वामी ने इस का ही नय भेद रूप खुलासा किया है । अब इस दश प्रकार के परिग्रह का खुलासा करते है । १ क्षेत्र– बाग बगीचा, अनाज पैदा होने के खेत आदि है । २वास्तु–घर हवेली महल मकान, किला आदि ३ धन-सोना, चादी गहने रुपया पैदा मुद्रा आदि । ४ धान्य-चावल, गेहूँ चना ज्वार, बाजरा आदि । ५ द्विपद–मुनीम, दीवान, नौकर टहलवे, पुरुष, स्त्री आदि, ६ चतुष्पद- गाय, भेस, घोडा, घोडी, ऊंट, हाथी आदि पशु । ७ शयनासन- तख्त, मेज, कुरसी, पाटा, आदि । ८ यान- पालकी नालकी, पिजस, बग्गी, मोटर, तागा, विभाग आदि । ९ वस्त्र—सूती, रेशमी. जरी आदि के बने ओढने बिछोने पहिनने आदि के कपड़े जैसे रजाई गद्दो तकिया कमीज कोट आदि । १० वर्तन— चादी सोने ताबा पीतल कनीर आदि के बने. खाने पीने आदि के भोजन के बर्तन है । इस प्रकार के दस बाह्य परिग्रह के भेद है । अब चौदह प्रकार के अन्तरग परिग्रह बताते है ।

"मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टय । रागद्वेषौ च सगास्युरत्तरंगाश्चतुर्दश ।। १ ।।"

अर्थ— १ मिथ्यात्व २ स्त्रीवेद ३ पुरुष वेद ४ नपु सक वेद ५ हास्य ६ रति ७ अरति, ८ शोक ९ भय १० जगुप्सा ११ क्रोध १२ यान १३ माया १४ लोभ, (रागद्वेष) ये अन्तरग परिग्रह है । इनका खुलासा इस प्रकार है — मिथ्यात्व— आत्मा को मदिरा पान की तरह उन्मत्त करने वाला, ससार के महान् कष्टो मे फिराने वाला, ग्यारहवे गुण-स्थान से भी गिराने वाला यह सबसे बडा पाप मिथ्यात्व है । वेद— स्त्री, पुरुष, नपुंसक के भेद से तीन होते है । ससार मे, महान् हिसक भाव, और कलह इसी से होता है । ससार मे अनेक दुखो का अनुभव इसी की आशा से होता है । हास्यादि— हास्य रति. अरति. शोक, भय, जुगुप्सा इन छह का जीव के अष्टम गुण स्थान तक उदय रहता है, जीव को क्षायिक श्रेणी माडने भी नही देता । आत्म हित मे पूरा २ बाधक तथा जीव इनके उदय से कभी संतोष धारण नही कर सकता । कषाय चार— क्रोध, मान, माया, लोभ इनके वश होकर जीव क्या अनर्थ नही करता । रागद्वेष—यह दोनो, अनादि से अनन्त काल तक आत्मा को संसार मे भटकाते है । कहा भी है – **संसार मूल सो राग है, मोक्षमूल वैराग** । इन चौदह प्रकार के परिग्रहो को छोडे विना आत्मा का कल्याण नही होता । इसलिये ज्ञानी इनका त्याग करे । स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे कहा है :—

जो परिवज्जइ गथं अब्भंतरबाहिर च साणदो ।
पावंति मण्णमाणो, णिग्गंथो, सो हवे णाणी ।। ३८६ ।।

अर्थ—जो प्राणी, बाह्य तथा अभ्यतर परिग्रह को पाप का कारण जानकर सानन्द छोड देता है, वह ज्ञानी नवमी प्रतिमाधारी परिग्रह त्यागी है । जिनको सच्चा वैराग्य है, वे इस आपदा तथा पाप रूप परिग्रह को त्यागते हुवे, बडा सुख मानते है ।

बाहिरगथविहीणा, दलिद्दमणुणासहावदो होंति ।
अब्भंतर गथ पुण, ण सक्कदे कोवि छडे दुं ।३८७। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

दरिद्र तो बाह्य परिग्रह से स्वभाव से ही रहित है । इसलिये इसके त्याग मे कोई अचभा नही किन्तु आभ्यतर परिग्रह को छोडने मे कोई भी समर्थ नही है । जो आभ्यतर परिग्रह छोडे उसी की बड़ाई है, सामान्य से ममत्व परिणाम ही अंतरग परिग्रह है, उसका त्यागी ही सच्चा परिग्रह त्यागी है । यह विचारणीय बात है कि— बाह्य परिग्रह का त्याग अन्तरग मूर्च्छा के घटाने के वास्ते किया जाता है, न कि सिर्फ लोगो को बताने के लिये । इसलिये इसको छोडते हुए भी मन मे आनन्द होता है किसी के पास बाह्य परिग्रह तो कुछ भी न हो पर अन्तरग में लालसा विशेष रूप से है तो वह पूरा परिग्रहधारी है ।

"बाह्यग्रंथविहीना, दरिद्रमनुजाश्च पापत सन्ति ।
पुनरभ्यन्तरसंगत्यागी, लोकेऽतिदुर्लभोजीव ।।"

आचार्यो ने इसकी व्याख्या इसही रूप में कही है । तो कहना होगा कि मूर्छा ही ममत्व का कारण और वही संसार रूप बध का कारण है । अतः इस प्रतिमा को धारण कर इस परिग्रह रूप वोझ को हटाने से ही मनुष्य की मनुष्यता है ।

अर्थात्—पाप के उदय से बाह्य परिग्रह रहित दरिद्री मनुष्य तो बहुत है, किन्तु अभ्यंतर परिग्रह का त्यागी जीव लोक मे अत्यन्त दुर्लभ है । इस ममत्व परिणाम रूप भूत को हटाना ही मनुष्यता है । जिस समय परिग्रह त्याग प्रतिमा धारण करने के भाव हो तव शीतोष्ण की वेदना निवारणार्थ अल्प मूल्य के सादे वस्त्र शौचादि के निमित्त जल पात्र, जीमने के लिये कुछ वर्तन रक्खे, वाकी, अन्य सब, धन धान्यादिक परिग्रह को मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदना से त्याग देवे । समाधि तन्त्र मे भी लिखा है कि पहिनने ओढने को दुपट्टा तथा एक छन्ना हाथ मे रक्खे, जिससे वैठे तव जीव जन्तु को वचाने के लिये भूमि को झाडदे, या अन्वाडी की पूंजणी राखे । विस्तर पर नही सोवे, चटाई रक्खे उन्ही पर सोवे । भोजन पात्र को जीमकर, माज कर हाथ का हाथ ही ले आवे, गृहस्थ के घर न छोडदे, जिसमे देरी से मजने मे असयम की सभावना रहे । विना दिया हुवा, जल व मिट्टी भी ग्रहण न करे । कपड़े मैले हो जावे, तो कुटुम्वी जन धो देवे

तो ठीक, नही तो उन पर किसी तरह का दबाव न डाले। ऐसे मकान मे न रहे जहा राग वर्द्धक कारण मिले। कुटुम्बी जन टहल न करे तो भी चित्त मे क्षोभ न करे। नोकर चाकर आदि का प्रयोग न रक्खे, स्वतन्त्र स्वय कार्य करे श्री जिनेन्द्र की भी भावो से ही पूजा करे द्रव्य पूजा न करे। क्योकि देव पूजा का मुख्य उद्देश्य त्याग रूप है, सो यहां पर सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर ही चुके। सिवा यज्ञोपवीत के शरीर पर किसी प्रकार का आवरण, दागीना आदि न रक्खे। मठ या मन्दिर में ठहरे। भोजन के समय, जब अपने घरके या अन्य साधर्मी गृहस्थ बुलावे, तब उनके घर पर शाति पूर्वक जीम आवे। घर को छोड देवे, तव से गृह संबधी शौर, सूतक आदि न माने, न पाले। **—गृहत्याग विधि—**

ताताद्ययावदस्माभि पालितोऽयगृहाश्रम:।

विरज्यैनं जिहासूना, त्वमद्यार्हसि न पदम् ।। २५ । ७ ।। (सा ध)

अर्थ—पुत्र बाधव आदि जो अपनी गृहस्थी को चलाने योग्य हो, उनको अपने परिग्रह रूप भार को सोपदे। देव शास्त्र गुरू या श्रावक पचो की साक्षी पूर्वक, जो कुछ भी दान पुण्यादि करना होवे सो करके उस उत्तराधिकारी से कहे-भाई इस परिग्रह रूपी गाडी के भार को आजतक हमने सभाला। अब इससे हमारी विरक्ति होगई है इसलिए हमारा स्थान तुम ग्रहण करो। गृहस्थ का कर्तव्य है कि जब वह प्रतिमा को धारण करे तब अपना सारा उत्तरदायित्व अपने किसी भी योग्य उत्तराधिकारी को सौपदे। गृह त्याग की परम्परा ऐसी ही है। पुराणो मे इस प्रकार के उपाख्यान मिलते है कि मुनि दीक्षा लेने वाले राजाओ ने अपने राज्य का उत्तरदायित्व दूसरो पर डाले बिना गृहत्याग नही किया है। एक राजा ने तब तक गृहत्याग नही किया था जब तक उसके सतान नही हुई थी। इसका अर्थ इतना ही है कि गृहत्यागी को यथासभव गृह प्रबध का उत्तरदायित्व दूसरो पर डालकर अपनी जिम्मेवारी से मुक्त होना चाहिए। इस तरह नवमी प्रतिमा का वर्णन किया। सातवी से इस प्रतिमा तक वर्णी सज्ञा होती है। **** साधक के तीन भेद ****

उत्तर—ऐलक, मध्यम—क्षुल्लकक्षुल्लिका और जघन्य दशम प्रतिमावाला पुरुष हो या स्त्री हो जिसने परिपूर्ण रीति से नैष्ठिक के व्रतो मे दोषों को बचाये हो वही साधक हो सकता है।

* दशम प्रतिमा का स्वरूप *

नवनिष्ठापर: सोऽनु मतिव्युपरत. त्रिधा।

योनानुमोदते ग्रंथमारंभं कर्म चैहिकम् ।। ५ । ३० ।। (सागारधर्मामृत)

अर्थ—जो पूर्वोक्त नव प्रतिमाओ के व्रत को पूर्ण रीति से पाल करके मन वचन काय से धन धान्यादिक परिग्रह की तथा कृषि आदिक आरंभ व पच सून्यादिक की, या

इस लोक सम्बन्धी विवाहादिक कार्यो की अनुमोदना नही करता है-अर्थात् उक्त कार्यों के विषयो मे अनुमति नही देता है, वह श्रावक अनुमति त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है। वह उदासीन होता हुआ घर में या मठ मे, मण्डप में अथवा चैत्यालय में भी रहे। भोजन के लिये घर पर अथवा अन्य श्रावक बुलावे उसके यहां भोजन कर आवे। मेरे लिये अमुक वस्तु बनाओ ऐसा नही कहे। जो कुछ गृहस्थ के यहा बना हो-उसी का भोजन कर आवे। यह ध्यान में रहे कि नवमी प्रतिमा तक स्त्री पुत्रादिक व मित्र बाधवादिको से गृह सम्बन्धी पच सून्य तथा षट् प्रकार आजीविका के कार्य-अथवा पुत्र वगैरह के विवाह आदि मे जो वे सम्मति मागते थे सो तब तो देता था-किन्तु अब कृत, कारित, अनुमोदना से आशय, सम्मति, मन्तव्य वगैरह कुछ भी नही दे सकता तथा वह इस प्रकार भी नही कहता कि यह कार्य तुमने अच्छा किया या बुरा। वह सदैव संतोष मे ही मग्न रहे। उदासीनता पूर्वक स्त्री पुत्र मित्रबाधवादिको से ममत्व घटाकर अलग रहता है और न उनका सौर सूतक मानता है और न उनके यहा विना जरूरत जाता है, धर्म कार्य मे रोक-टोक नही। भोजन समय में कुटम्बादिक या अन्य साधर्मी पहले कहलावे उनके जीम आवे। न्योता किसी का नही माने। अपने अतराय कर्म के क्षयोपशम के अनुकूल जो कुछ खट्टा मीठा, खारा, अलोना, चिकना, रूखा जैसा मिले वैसे भोजन से इस क्षुधारूप अग्नि को प्रशान्त करे। पर यह ध्यान रखे कि भोजन सिद्धान्तानुकूल शुद्ध हो। वह किसी के अच्छा या बुरे को अपने मन मे चिन्तवन नही करे तथा सदैव स्वाध्याय व धर्म चर्चा मे ही लगा रहे और धर्म ध्यान के अतिरिक्त अन्य कथा कभी नही करे। लौकिक— पापवर्धक आदि उपदेश कभी भी नही देवे—भूल कर नही देवे। इस प्रकार का हमेशा ध्यान रखना चाहिये। जो निर्ग्रंथता के ऊपर निर्भर है वह यह भी विचार करता है कि मैं— पूर्ण जितेन्द्रिय होकर अजर अमर पदका कारण भिक्षा भोजन रूपी अमृत का पान करूंगा।

इत्युक्तैस्तैरनुज्ञाते, गृहान्निर्गत्य सोत्कधीः।
वन गत्वा गुरोरन्ते, याचेतोत्कृष्टतत्पदम्॥ ८-५७॥ (धर्म संग्रह)

अर्थ—सर्व प्रकार से अपने कुटुम्बी जनो से क्षमा करा कर, उनकी आज्ञा लेकर घर से निकलकर वनमे जाकर और वहा गुरुओ के पास स्थित होकर उत्कृष्ट श्रावक पदकी याचना (प्रार्थना) करता है। इतिचर्या गृहत्याग, पर्यन्तानैष्ठिकाग्रणी.।

निष्ठाय साधकत्वाय, पौरस्त्यपदमाश्रयेत्॥ ७-३६॥ (सागार०)

अर्थ—नैष्ठिक श्रावको मे मुख्य अनुमति विरति प्रतिमा वाले श्रावक को, पूर्वोक्त कथनानुसार गृहत्याग है अन्त मे जिसके, ऐसे गृहस्थाचार को समाप्त करके आत्म शुद्धि के

लिये आगे के स्थान को अर्थात् उद्दिष्टत्याग प्रतिमा को ग्रहण करना चाहिये।

* (११) उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का स्वरूप *

जो नव कोडि विसुद्ध, भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जम्।
जायण रहिय जोग्गं, उद्दिट्ठाहार विरओस्सो ॥ ३६० ॥ (स्वामी कार्ति०)

अर्थ— जो श्रावक भोज्य जो आहार उसको नवकोटि विशुद्ध कहिये मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना का आपको दोष नही लगावे-ऐसा भिक्षाचरण कर लेवे वहा पर भी याचना रहित लेवे। मागकर नहीं लेवे तथा वह भी योग्य हो वह लेवे, सचित्त आदि अयोग्य होवे सो नही लेवे। घर छोड़कर मण्डप मे ही रहे। अपने निमित्त किये हुए आहार को नही लेवे। सो उद्दिष्ट विरति श्रावक होता है। इसही प्रकार सागार धर्मामृत मे व रत्न-करण्ड श्रावकाचार मे कहा है। इस ही प्रकार अनेक श्रावकाचारों मे बताया है सो ही बताते है।

गृहतोमुनिवनमित्वा, गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन् नुत,कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ १४७ ॥ (रत्नकरण्ड श्राव)

अर्थ—दशम प्रतिमाधारी श्रावक अपने कुटुम्बियो को सम्पूर्ण प्रकार से सतोष करा के गृहरूपी जजाल फासी को तोडकर-गृह से निकल कर वन में-जहा पर यति (मुनि) व रहते हैं, ऐसे वन मे गुरुओ के समीप व्रत (ग्यारहवी प्रतिमा) ग्रहणकर तप करता हुआ भिक्षावृत्ति से भोजन करता है। वह केवल लंगोटी के सिवाय एक खण्ड वस्त्र रखता है। जिससे सिर ढाके तो पाव खुले रहे और पाव ढाके तो सिर खुला रहे उसको खण्ड वस्त्र कहते है। उसको रखने वाला उद्दिष्ट त्याग ग्यारहवी प्रतिमा धारी कहलाता है। और भी कहा है **तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्न,श्वसन्मोहमहाभट।**
उद्दिष्ट पिंडमप्युज्झे, दुत्कृष्ट श्रावकोऽन्तिमः ॥ ३७७ ॥ (सागारधर्मामृत)

अर्थ—उन पूर्वोक्त व्रत रूपी शस्त्रो के प्रहार से अत्यन्त नष्ट होकर के भी-जीवित श्वास लेता हुआ है मोह रूपीभट जिसके ऐसा अन्तिम उत्कृष्ट ग्यारहवी प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अपने उद्देश्य से बनाये हुए भोजन को तथा उपार्धशयन और आसन आदिक को भी जो त्याग देता है वह उद्दिष्ट विरति श्रावक कहलाता है। पहले दशमी और ग्यारहवी प्रतिमा को उत्कृष्ट श्रावक और भिक्षुक विशेषण सागार धर्मामृत मे दिये है, इस श्लोक मे केवल ग्यारहवी प्रतिमा को ही उत्कृष्ट कहते है। चारित्र मोह रूपी महाभट के ऊपर पूर्वोक्त दश प्रतिमा रूपी तीक्ष्ण अस्त्रो का प्रहार जिसने किया है तथापि मुनि होने के लिये उस मोह का प्रतिबधक होने से वह दशमी प्रतिमाधारी के श्वास भर रहा है। अत उसके उन्मूलन करने के लिये जो उद्दिष्ट भोजन को तथा आसन आदि को भी ग्रहण नही करता है; तथा मुनियों के समान अनुद्दिष्ट ग्रहण करता है वही ग्यारहवी

प्रतिमाधारी श्रावक होता है। इस प्रकार के श्रावक जो उत्कृष्ट है उसके भी भेद होते हैं उसे बताते है। —उद्दिष्ट विरति श्रावक के भेद—

स द्वेधाप्रथमः श्मश्रु,मूर्धजानपनाययेत् ।

सितकौपीनसव्यान , कर्त्तर्यावा क्षुरेण वा ।। ३८-७ ।। (सागारधर्मामृत)

अर्थ—उद्दिष्ट विरति श्रावक दो प्रकार के होते है। क्षुल्लक और ऐलक। इनका पृथक् २ आचरण होता है, जैसे–प्रथम क्षुल्लक श्रावक सफेद लगोटी और चद्दर रक्खे तथा कैची अथवा छुरे से अपनी मूँछ दाढी और सिरके बालो को बनवावे। काख आदि मे बालो को बनवाने का इसके लिये विधान नही है। — क्षुल्लक के कर्त्तव्य —

स्थानादिषु प्रतिलेखेत्,मृदूपकरणेन स ।

कुर्यादेव चतुष्पर्व्या, मुपवास चतुर्विधम् ।। ३९७ ।। (सागारधर्मामृत)

अर्थ—वह प्रथम श्रावक (क्षुल्लक) कोमल प्राणियो को बाधा नही पहुचावे। इस प्रकार का कोमल उपकरण वस्त्रादि या पीछी आदि से प्रतिलेखन (मार्जन) करे और प्रत्येक मास की दोनो अष्टमी और दोनो चतुर्दशी को इस प्रकार चारो पर्व दिनो मे चार प्रकार के खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय पदार्थो का त्याग रूप उपवास करे। इस प्रकार के श्रावक क्षुल्लक भी दो प्रकार के होते है। — क्षुल्लक के दो भेद — जैसे प्रथम भेद त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,) दूसरा भेद स्पर्श शूद्र —प्रायश्चित्त चूलिका मे टीकाकार प० पन्नालालजी सोनी पृष्ट २१२ (मुद्रितप्रति) पर लिखते है–

कारिणो द्विविधा सिद्धा, भोज्याभोज्यप्रभेदत ।

भोज्येष्वेव प्रदातव्य, सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ।। १५४ ।।

अर्थ–शूद्र अभोज्य और अभोज्य के भेद से दो तरह के है। जिनके यहा का आहार पानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य खाते पीते है वे भोज्य कारु होते है., इनसे विपरीत अर्थात् जिन का आहार पानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नही खाते पीते वे अभोज्य कारु कहलाते है। इनमे से भोज्य कारुओ (भोज्य शूद्रों) को ही क्षुल्लक दीक्षा देनी चाहिये। अभोज्य शूद्रो को नही। और भी कहा है–

दुइयच वुत्तलिग, उक्किट्ठं अवर सावयाण च ।

भिक्खंभमेइ पत्तो, समिदि भासेण मोणेण ।।२१।। (षट्प्राभृत सूत्रपाहुड)

टीकया–– द्वितीयं चोक्तं लिग वेष उत्कृष्ट लिग अवरश्रावकाणा च गृहस्थश्रावकाणा सोऽवरश्रावक भिक्षा भ्रमति पात्रसहित करभोजी वा। ईर्यासमिति सहित मौनवाश्व उत्कृष्टश्रावको दशमैकादश प्रतिमाप्राप्त.। द्वितीय कहिये दूसरा लिंग भेष उत्कृष्ट श्रावक जो गृहस्थ नही ऐसा उत्कृष्ट श्रावक कहा गया है सो उत्कृष्ट ग्यारहवी प्रतिमा का

धारक है सो भ्रमण कर भिक्षा लेता है। वह पात्र मे भी करे या हाथ में भी करें। भाषा समिति रूप बचन बोले-तथा ईर्या समिति रूप प्रवृत्ति करे। *** दोनो क्षुल्लकों में भेद ***

इस प्रकार की प्रतिमा के धारी क्षुल्लक दो तरह के होते है। एक तो वर्ण क्षुल्लक दूसरा स्पर्श शूद्र। वर्ण क्षुल्लक तो वे होते है जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य। वे तो पीतल का पात्र रक्खे और अवर्ण कहिये स्पर्श शूद्र क्षुल्लक होवे वे लोहे का पात्र रक्खे। कारण कि भोजन समय पर जाति पूछना उचित नही है। अन महान् पुरुष आचार्यो ने इस रूप उनके चिह्न कायम कर दिये जिससे विना कहे ही उनकी पहिचान हो जावे। अविनय का कारण नही बने। इनमे वर्ण क्षुल्लक होवे उसको तो चोके में बिठा देवे और अवर्ण क्षुल्लक होवे उसको योग्यता के साथ ऐसे स्थान पर बिठावे जो चोके से बाहर हो पर अपमान जनक नही हो। दोनों तरह के क्षुल्लक वदनीय है सो इनका आगे खुलासा करते है।

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्, पाणिपात्रेऽथभाजने। स श्रावकगृहं गत्वा, पात्रपाणिस्तदङ्गणे॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं, भणित्वा प्रार्थयेत वा, मौनेन दर्शयित्वाऽङ्गं, लाभालाभे समोऽचिरात्।
निर्गत्याऽन्यद्‌गृह गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्, भोजनायार्थितोऽद्यात्तद् भुक्त्वा यद्भिक्षित मनाक्
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां, यावत्स्वोदरपूरणीम्। लभेत प्रासु यत्रारम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत्॥
यस्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमन्यसौ। भुक्त्यभावे पुन कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥४६-७॥

अर्थ—सामान्यतया क्षुल्लक विधि यह है–वह क्षुल्लक निश्चल बैठकर अपने हाथ रूपी पात्र मे या बर्त्तन मे अपने आप भोजन करे। वह भोजन किस विधि से करे–उसका उत्तर यह है कि भोजन लेने के लिये एक पात्र अपने हाथ मे लेकर श्रावक के घर पर जाकर उसके आगण मे जहा तक हरएक जा सकते है वहा पर खड़े होकर 'धर्म लाभ हो' ऐसा बचन दातार को सुनावे। ऐसा बचन बोलनेके बाद मौन भी रक्खे अपना शरीर मात्र दिखाकर भिक्षा की प्रार्थना करे वहां पर भिक्षा मिले,या न मिले दोनो दशाओमे अपना समभाव रखकर शीघ्र ही अर्थात् बहुत समय वहा खडा नही रह कर वहा से निकल कर किसी अन्य श्रावक के घर जावे। क्षुल्लको की विशेष विधि यह है कि जो अनेक घर भोजी वर्ण हो या शूद्र हो,—परन्तु पात्र बिना नही रहे। पात्र जरूर राखे। जब शूद्र क्षुल्लक भोजन के वास्ते जावे और दातार के आगण मे जाकर धर्म लाभ कहे, तब दातार आवाज को सुनकर उनको भोजन देवे। सो अपने पास जो पात्र है उसमे लेलेवे। फिर वहां से निकल कर अन्य घर मे जावे वहा भी 'धर्म लाभ' कह कर जो भोजन मिले सो लेलेवे। अगर वहा भोजन तो देवे नही और प्रार्थना करे कि महाराज अठे ही शान्ति पूर्वक विराज कर आप भोजन कर लेवो, तो शान्ति पूर्वक वहा से प्रासुक जल लेकर जो पहिले भिक्षा मे भोजन मिला है उसको जीमकर जितना चाहिए उतना और लेलेवे। यदि ऐसा न हुवा हो तो जब तक अपनी उदर पूर्त्ति के

योग्य भोजन न मिले, तब तक दातारो के घर से धर्म लाभ पूर्वक भोजन लावे, पश्चात् आखिरी घर पर प्रासुक जल लेकर शान्ति पूर्वक बैठ कर, मिले हुए भोजन को सोधकर जीम लेवे। सचित्त वस्तु व अभक्ष्य वस्तुओ को बचावे। कदाचित् अन्तराय का कारण मिल जावे तो जूठन मे अन्न छोड़े, नही तो इतना ही लेवे जिसे आप जीम ले। रूखा सूखा, खट्टा मीठा, चिकना कैसा ही भोजन हो उसमे किसी प्रकार का राग द्वेष नही करे, स्वाद की लालसा रहित जीमे। इस प्रकार स्पृश्य शूद्र अनेक घर भिक्षा भोजी का आचरण कहा।

एक घर पर ही भिक्षा भोजन करे ऐसा जो उत्तम वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) है क्षुल्लक, उनका आचरण इस प्रकार है, कि जो क्षुल्लक चौके के बाहर जीमने वाली जातियो मे से नही है, वह भी जब गोचरी पर भिक्षा के लिये जावे तब अपने चिह्न रूप पात्र जो उत्तम धातु पीतल का है उसको ले जावे और दातार के घर पर आगण मे जाकर 'धर्म लाभ हो' ऐसा कहे। तब दातार सत्कार सहित भोजन के लिये प्रार्थना करे तो वहा ठहरे नही तो तुरन्त अन्य घर पर चलाजावे। भोजन के लिये इशारा हु कार आदि किसी तरह की समस्या न करे, शान्ति पूर्वक प्रार्थना करने के पश्चात् पावो को प्रासुक जल से धुवाकर या धोकर, आसन के ऊपर बैठकर, पात्र मे या हाथ पर दिया हुवा भोजन को स्वाद रहित खट्टा, मीठा, रूखा, सूखा, खारा, कषायला कैसा ही हो, परन्तु हो शुद्ध, उसे शान्ति पूर्वक जब तक अन्तराय न होवे तब तक जीमे जू ठन मे न छोडे। किसी प्रकार की भोजन मे अप्रासुकता या अभक्ष्यता ग्रहण नही करनी। अन्तराय या दोष का कारण उत्पन्न हो जावे तो उसको तुरन्त पाले छिपावे नही। मुनियो के भोजन के पीछे भोजन करने जावे, पहिले नही जावे।

आकांक्षन् सयम भिक्षा, पात्रप्रक्षालनादिषु।
स्वयं यतेत चादर्प:, परथाऽसयमो महान् ॥४४-७॥ (सागारधर्मामृत)

अर्थ—वह क्षुल्लक अपने संयम के रक्षा करने की भावना करता हुवा, अपने जीमे हुए भोजन के पात्र को धोने मजाने आदि के कार्य में, अपने तप, विद्या आदि का गर्व नही करता हुवा, स्वय ही यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करे शिष्यादिको से नही करावे क्योंकि जीवो की अहिसा जैसी स्वय करता है वैसी दूसरा नही कर सकता। इसलिये जब तक वैसा त्याग नही है तब अपना काम आप सभाले, असयम से डरते रहना चाहिये। (सागारधर्मामृत)

ततो गत्वा गुरूपान्त, प्रत्याख्यान चतुर्विधम्, गृह्णीयाद्विधिवत्सर्व गुरोश्चालोचयेत्पुन ॥४५॥

अर्थ—आहार लेने के बाद गुरु के पास जाकर विधि पूर्वक चारो प्रकार के आहार का त्याग ग्रहण करे तथा अपने गुरु के सामने आहार के लिये जाने के समय से लेकर आने तक की सपूर्ण क्रियाओ और तत्सबंधी भूलो की विधिवत् आलोचना करे। सदा मुनियो के साथ उनके निवास भूत वन मे निवास करे, तथा गुरुओ की सेवा करे। अन्तरंग बहिरग

दोनो प्रकार का तप आचरण करे। दस प्रकार के वैयावृत्य का खास करके आचरण करे।

* उत्तम श्रावक का स्वरूप *

ग्यारहवी प्रतिमा मे प्रथम और द्वितीय ऐसे दो भेद है। उसमे प्रथम के दो भेद १ स्पृश्य शूद्र और वर्ण। इनका वर्णन करके अब ग्यारहवी प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक का वर्णन करते है।

*** ऐलक का स्वरूप *** [सागारधर्मामृत]

तद्वद् द्वितीय किन्त्वार्य.सज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान्। कौपीनमात्रयुग्धत्ते, यतिवत् प्रतिलेखनम्॥

अर्थ— क्षुल्लक के समान ही सर्व क्रियाओ का करने वाला दूसरा भेद ऐलक का है परन्तु इसमे विशेषता यह है कि ये अपने सिर व दाडी मूछो के बालो की लोच करता है, सिर्फ १ लगोटी मात्र के पराधीन है मुनियो के समान मोर की पिच्छी आदि सयमोपकरण रखता है और इसकी आर्य सज्ञा है। ऐलक—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य इन तीनो वर्णो मे सेही होते है। स्पर्श शूद्र कदापि नही होता अष्ट पाहुड मे कहा है **ऐलक भोजन कैसे करें**

सुत्तट्ठपयविणट्ठो, मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो। खेडेविण कायव्वा, पाणिप्पत्त सचेलस्स॥

अर्थ— सूत्र का अर्थ और पद जाके विनष्ट है, ऐसा जो प्रगट मिथ्यादृष्टि है, याही ते सचेल है (वस्त्र सहित है) ताकू 'खेडेवे' कहिये हास्य कुतूहल विषे भी पाणिपात्र कहिये हस्त रूप पात्र करि आहार नही करना। **प्रश्न**—यहा पर तो ऐसा कह दिया कि हास्य से भी पाणिपात्र आहार नही करे। और ऊपर श्लोको मे पाणिपात्र बतला दिया सो कैसे है? **उत्तर**—यहा पाणिपात्र का जो निषेध किया है सो मुनि तुल्य अजुलि बाधकर करने का किया है, बाकी हाथ पर रखकर जीमने का निषेध नही है। आगे इनको खडे रहकर भी भोजन करने की सिद्धान्त मे आज्ञा नही है-स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे एकादश प्रतिमा का स्वरूप निम्न प्रकार है।

गद्य स टी.-पात्रमुद्दिश्य निर्मापितमुद्दिष्ट स च असौ--आहार, तस्माद्विरत। स्वोद्दिष्टापिंडोपधिशयनवरासन बसत्यादे विरत य अन्नपानस्वाद्यखाद्यादिकं भक्षयतिभिक्षाचरणेन मनवचनकायकृतकारितानुमोदनारहित.। मह्य अन्न देहि-इति आहार प्रार्थनार्थे, द्वारोद्घाटन शब्दज्ञापनं इत्यादि प्रार्थनारहितं प्रकारभयरहित, चर्मजलघृततैलएवमादिभि, अस्पृष्ट रात्रावकृत, चांडालनीचलोकमार्जारशुनकादिस्पर्शरहित यतियोग्यं भोज्य। एकादशके स्थाने ह्युत्कृष्ट श्रावको भवेत् द्विविध वस्त्रैकधर प्रथम. कौपीनपरिग्रहोऽन्यस्तु। कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोग करोति, नियमेन लोच पिच्छं धृत्वा भुक्ते उपविश्य पाणिपुटे।

अर्थ — यह श्रावक खास उसी के लिये बनाया हुआ, शय्या-आसन, वसतिकादि से विरक्त रहता है। अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य चारो ही प्रकार का भोजन भिक्षा रूप से करता है। मन, वचन, काय से भोजन बनाता नही, बनवाता नही, बने **हुए की** अनुमोदना नहीं

करता है। जो श्रावक ने खास अपने लिये बनाया है, उसी में से विभाग रूप जो वह भक्ति से दे, उसे लेता है। मुझे अन्न दो ऐसी आहार के लिये प्रार्थना नही करता, न गृहस्थी के बन्द दरवाजे को खोलता है, न भोजन के लिये शब्द करके पुकारता है। मद्य. मास मधुरहित, चर्म मे रक्खा जल, घी, तैल, आदि से विना छुआ हुवा, रात्रि को न बनाया हुवा, चाडाल नीच आदमी बिल्ली, कुत्ता, आदि से नही स्पर्श किया हुवा, मुनियों के योग्य भोजन को ग्रहण करता है। यह उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का होता है, प्रथम एक वस्त्र और कौपीन मात्र धारी। द्वितीय केवल कौपीन धारी। कौपीन मात्र धारी रात्रि को मौन सहित प्रतिमा योग धारे, कायोत्सर्ग धरे, नियम से अपने केशो का लोच करे, मोर पिच्छी राखे, अपने हाथ रूप पात्र मे ही दातार से रखवा कर बैठकर भोजन करे। प्रथम को क्षुल्लक और दूसरे को ऐलक कहते है। **– ऐलक बैठकर भोजन करे –**

स्वपाणिपात्र एवात्ति, सशोध्यान्येन योजित।
इच्छाकार समाचार, मिथः सर्वेतु कुर्वते ।। ४९ ।। (सागारधर्मामृत)

अर्थ—दूसरा श्रावक अर्थात् ऐलक उपविश्य यानी बैठकर ही अपने हाथ रूपी पात्र मे, किसी दातार के द्वारा दिये हुवे भोजन को, भले प्रकार से सोध करके जीमता है। वे एकादश प्रतिमाधारी सब ही श्रावक परस्पर मे इच्छाकार करते है। और भी कहा है—

श्रावको वीरचर्याह. प्रतिमातापनादिषु स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।।५०।।

अर्थ— श्रावक अवस्था मे वीर चर्या अर्थात् स्वय भ्रामरी वृत्ति से भोजन करना, दिन में प्रतिमा योग धारण करना, इत्यादि मुनियो के करने योग्य कार्यो मे तथा सिद्धान्त शास्त्र और प्रायश्चित्त शास्त्रो के अध्ययन का अधिकारी नही है। श्री वामदेव विरचित्त भाव सग्रह नामा ग्रन्थ के मुद्रित पृष्ट २०४ मे इस प्रकार लेख है। (सागारधर्मामृत)

मुनिनामनुमार्गेण, चर्यायै सुप्रगच्छति। उपविश्य चरेद्भिक्षां, करपात्रेऽङ्गसवृतः ।। ५४६ ।।

अर्थ—यह ध्यान रखने की बात है कि खडे होकर भोजन लेने की सम्मति शास्त्रो में मुनियो के लिये ही है, अन्य के लिये नही। तब श्रावक अवस्था मे खडे होकर आहार लेना मुनिमार्ग का उपहास करना है। इसीलिये ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावको को चाहिये कि वह भोजन करे तव प्राण जाते हूँ खडे भोजन न करे, बैठकर ही करे। दातार के द्वारा हाथ मे दिये गये भोजन को शान्ति पूर्वक शोघ कर जीमे। पार्श्व पुराण मे इस प्रकार कहा है—

एक हाथपर ग्रास धर, एक हाथ से लेय। श्रावक के घर बैठकर, ऐलक असन करेय ।।

यह कथन भी हाथ के ऊपर धर कर एक हाथ से विना अ जुली लगाये बैठकर शान्ति से भोजन करना कहता है। क्षुल्लक चाहे वर्ण क्षुल्लक हो चाहे शूद्र क्षुल्लक हो, उसे पात्र विना नही रहना चाहिये। जितने भी श्रावकाचार है सबकी ऐसी ही सम्मति

है. जैसे–१ वसुनन्दि श्रावकाचार, २ ज्ञानानन्द श्रावकाचार ३ अमितगति श्रावकाचार ४–ज्ञानानन्द निजरसविजय श्रावकाचार ५ धर्म सग्रह श्रावकाचार ६ सागारधर्मामृत ७ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार ८ गुण भूषण श्रावकाचार ६ श्रावक धर्म प्रकाश १० श्रावक धर्म सग्रह ११–सार चतुर्विशति का १२ अष्टपाहुड की टीका मे सूत्र पाहुड तथा अन्य भी कई श्रावकाचारो मे क्षुल्लक को पात्र के सहित ही बताया है, विना पात्र के नही। आजकल जो पात्र नही रखते वे क्षुल्लक शास्त्रो की अवहेलना करते है, और अवहेलना करना महापाप है। इससे बचना व्रतियो का काम है। इसके सम्बन्ध मे अमितगति श्रावकाचार तथा धर्म सग्रह मे और भी लिखा है कि—

—* ऐलक केशलोच कैसे और कब करे *—

मस्तके मुण्डनं लोच , कर्तन वा समाचरेत् ।

द्वि: त्रिभिर्वा चतुर्मासै, व्रंती सद्व्रतसयुत ।।२५।। (प्रश्नोत्तर श्रा अ २४)

अर्थ—अपने व्रतों का पालन करने वाले श्रावक को (क्षुल्लक वा ऐलक) दो, तीन, अथवा चार महिने मे अपने मस्तक को मुडवा डालना चाहिये। वा कैंची से कतरवा डालना चाहिये अथवा लौच कर लेना चाहिये। श्रावको के लिये सज्जन चित्तवल्लभ नामक ग्रन्थ मे श्री स्वामी मल्लिषेण आचार्य कहते है—

*** ऐलक भोजन में लालसा न करें ***

यत्कालेलघुपात्रमडितकरो भूत्वा परेषां गृहे,भिक्षार्थं भ्रमसे तदाहि भवतोमानापमानेन किम् ।
भिक्षो तापसवृत्तित कदशनार्तिक तप्यसेऽहर्निश श्रेयार्थ किल सह्यते मुनिवरैर्बाधा क्षुधाद्युद्भवा ।

अर्थ--हे भिक्षुक, जिसकाल मे तू हाथ मे छोटा पात्र लेकर भिक्षा के लिये औरोके (श्रावको के) घर फिरता है उस काल मे तुझको मान और अपमान से क्या ? तू अपनी तापस वृत्ति में अरुचिकर भोजन से रातदिन क्यो दु.खी होता है। देख जो श्री महा मुनि है वे इन क्षुधापिपासादि जनित बाधाओ को अपने कल्याण के लिये बडे हर्ष पूर्वक सहन करलेते है। अत तू भी धैर्य धारण कर।

क्रितन्न भवता भवेत्कदशन रोषस्तदा श्लाघ्यते—
भिक्षायां यदवाप्यते यतिजनैस्तद्भुज्यते त्यादरात् ।
भिक्षो भाटकसद्मसन्निभतनोः पुष्टि वृथा मा कृथाः—
पूर्णे किं दिवसावधौ क्षणमपिस्थातुं यमोदास्यति ।। १६ ।।

अर्थ—हे भिक्षुक, जिस भोजन को तू कुभोजन समझ रहा है उस भोजन का तैंने मूल्य तो दिया ही नहीं है। यदि तू उस भोजन को मूल्य देकर खरीदता तो तेरा क्रोध करना भी ठीक था। ध्यान मे रख कि भिक्षामे तो रूखा सूखा जैसा मिलजाता है, साधुजन उसको ही बडे प्रेम से जीम लेते है क्योकि उनको तो अपने षट् आवश्यक रूपी कार्यो को यथोक्त रीति से करना है। खयाल कर तू इस किराये के घर समान शरीर को वृथा

पुष्टमत कर क्योंकि जब किराये की अवधि पूरी हो जायगी (आयु के दिन की अवधि पूरी हो जायगी) तब क्या इसमे काल रूपी यमराज तुझे एकक्षण भी ठहरने देगा? कदापि नहीं। फिर इस शरीर से प्रेम क्यों ? (सज्जन चित्त बल्लभ)

सौख्यं वाञ्छसि किन्त्वया गतभवे, दानं तपो वा कृत—
नोचेत्त्वं किमिहैवमेव लभसे, लब्धं तदत्रागतम् ।
धान्यं किं लभते विनापि वपनं, लोके कुटुम्बीजनो—
देहे कीटकभक्षितेक्षुसदृशे, मोहं वृथा मा कृथाः ।। १५ ।।

अर्थ—हे श्रावक, विचार, जो तू सुख की वांछा करता है सो क्या तूने पूर्व भव में दान दिया था व कोई तप किया था। यदि यह नही किया तो तुझे सुख कैसे मिल सकता है। जैसा पूर्व मे किया था वैसा ही यहां प्राप्त हुआ है। ससार मे किसान लोग क्या बिना बोये भी कही धान्य पाते है ? नही। तुझको तो फिर कैसे विना बोये सुख मिलेगा। ध्यान मे रखना चाहिये कि कीडो के खाऐ हुए ईख के समान अर्थात् काने गन्ने के समान इस ससार में वृथा मोह मतकर, ममत्व छोडने से ही कर्मबन्ध दूर होगे और नये बन्ध रुकेगे।

—* व्रती किनके यहाँ भोजन को न जावे *—

गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविन., मालिकस्य विलिंगस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ।।३७।।
दीनस्य सूतिकायाश्च छिम्पकस्य विशेषत , मद्यविक्रयिणो मद्यपानसंसर्गिणश्च न ।। ३९ ।।
क्रियते भोजनं गेहे, यतिना भोक्तुमिच्छुना, एवमादिकमप्यन्यत् चिंतनीय स्वचेतसा ।।४०।।

अर्थ—जो गाकर जीविका करने वाला हो जैसे गन्धर्व लोग, या तेल अर्क आदि बेचने वाले, या नीच कर्म से आजीविका करने वाला हो, माली अर्थात् पुष्प आदि बेचकर आजीविका करता हो, उत्तम कुल का हो तो भी नपुंसक हो, वेश्या हो, दीन हो, कृपण हो, सूतक वाला, स्त्री या पुरुष हो, छीपा का काम करने वाला, मद्य पीने या बेचने वाला हो मद्य बेचने वालो का ससर्गी हो। इतने प्रकार के स्थान या इनमें से कोई व्यक्ति हो, उनके सबध से, यति लोग या यति समान आचरण करने वाले सयमी लोग भोजन को न जावे। **भोजन के समय न करने योग्य कार्य**— भोजन के समय व्रती लोग नीचे लिखे कार्य न करे-

"हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्द्धचलनादिभि , मौनं विदधता संज्ञा विधातव्या न गृद्धये ।।
भ्रूनेत्रहुंकारकरांगुलीभिगृद्धिप्रवृत्यै परिवर्ज्य सज्ञाम् ।
करोति भुक्ति, विजिताक्षवृत्ति , सशुद्धमौनव्रतवृद्धिकारी ।।"

अर्थ— ये श्लोक इस प्रकार की शिक्षा देते है कि ख्याति, लाभ पूजा के वास्ते हुंकारा, समस्या तथा अंगुली फेरना, भृकुटि चढाना या और तरह से भी इशारा करना, मौन तोडना होता है। या यों समझिये कि कोई दातार भोजन परोसते समय कोई वस्तु

परोसना भूल जावे तो उसको इशारा से समझा देवे कि तुम अमुक वस्तु परोसना भूल गये सो परोस लो। इस प्रकार की समस्या में भोजन की लंपटता, और गृद्धता दिखती है । हा मार्ग से कोई कार्य विपरीत होता होवे उसको समझा देवे तो उसमे तो न गृद्धता नजर आवे, न लम्पटता ही दिखती है । यथा—दातार रसयुक्त और रस विहीन दोनो तरह के भोजन परोस गया है, सो नीरस भोजन देवे तब तो हाथों को खीचले और रसयुक्त भोजन देवे तब हाथ बढाले, ऐसा करना गृद्धता कहलाती है । रस सहित भोजन देवे तब तो हाथ को खीच लेवे, ओर नीरस लेता रहे, यह मार्ग तो शास्त्रोक्त है, इसके विपरीत कार्य छोडना चाहिये । इसीलिये भोजन के समय व्रतियों को मौन बताया है इसका कारण यही है कि गृहस्थ किसी प्रकार व्रती को नीची दृष्टि से न देखे । व्रतियो की वीरता, भोजन की नि स्पृहता तथा इन्द्रिय विजयता, स्वादकी लोलुपता रहितपना, ये बातें मौन से ही बनती है । इसमे व्रती जनता की निगाह में पूज्य बने रहे, तथा लालसा रूप कर्म बध भी न होवे । इससे साधु ही बना रहता है, स्वादु नही होता । यह भी इससे महान् गुण है । व्रती को अकेला विहारी नही होना सो ही कहते है । **–कौनसा साधु एकल विहारी हो सकता है ?–**

तवसुत्त सत्तएगत्त भाव सघडण धिदि समग्गो य ।
पविश्रा आगम बलिओ, एय विहारी अणुण्णादो ।।४६।। (मू०गा० १४६समार)

अर्थ—तप, आगम, शरीर, बल, अपने आत्मा में ही प्रेम, शुभ परिणाम उत्तम सहनन, और मनका बल, क्षुधा आदि का न होना, इन गुणो से युक्त हो तथा तप आचार और सिद्धान्त मे बलवान् हो अर्थात् चतुर हो, साधुओ में भी अग्रसर हो, परिषह आने पर हार न खावे, आर्त्त रौद्र परिणामो से बचा रहे, वैसा साधु एकल विहारी हो सकता है ।

सच्छंद गदागद सयण, णिसिय णादाण भिक्खवो सरणे ।
सच्छद ज परोचि य, मा मे सत्तू वि एगागी ।। १५० ।।

अर्थ—सोना, बैठना, ग्रहण करना, भोजन लेना, मल त्याग करना, इत्यादि कार्यों के समय जिसका स्वच्छंद गमनागमन है, तथा स्वेच्छा से ही विना अवसर बोलने मे प्रेम रखता हो, ऐसा पुरुष (अकेला) मेरा वैरी भी न हो, सो भी नही हो सकता । यहां पर व्रती पुरुषो को ही अकेला रहने की मनाई है, क्योकि व्रतो में स्वच्छंदता आ ही जाती है । दो पुरुष होवे तो परस्पर सापेक्षा से स्वच्छदता नही आवे । इससे व्रत दूषित नही होते, तो बताओ स्त्रियां अकेली कैसे रह सकती है । अकेला रहना महापाप है । **— क्षुल्लिका के लिए विधान—** यहा पर खयाल रखने की बात है कि जैसे क्षुल्लक दो वस्त्र रखते है, वैसे ही क्षुल्लिका भी दो साडी रख सकती है, क्षुल्लिका वर्ण जाति की हो या स्पृश्य शूद्र हो, वह भी क्षुल्लक के समान ही लोहे का और पीतल का पात्र रक्खे । भोजन के वास्ते

दातार के घर में जावे, तब धर्म लाभ कहकर भिक्षा की याचना करे। शूद्र तो मागकर जीम सकता है, परन्तु वर्णाक्षुल्लिका एक ही घर मे जो चौके मे बैठकर ही जीमे, मागकर बर्तन मे नही लावे, ऐसी क्रिया स्पृश्य शूद्र के वास्ते है। गृहस्थ अवस्था मे जो व्रत आखडी ली थी उसको जबतक श्रावक अवस्था है, तबतक उस ही रूप से पाले, छोड़े नही, कारण यह पर्याय श्रावक अवस्था की है, मुनि अवस्था की नही। जब पानी बरसने लग जावे, तब भोजन का समय होवे तो भी बरसते पानी मे भोजन को न जावे क्योकि भोजन मे गीला कपडा लेना नही। कारण शरीर के सबध से और हवा के सम्बंध से, गर्मी सर्दी के योग से सम्मूर्च्छन जीव उस कपडे मे पैदा हो जाते है वे मरते है, श्वास में अठारह बार मरने वाले समूर्च्छन पैदा होते है, याते गीला कपडा लेना नही। भोजन को चला जावे और कपडा भीग जावे तो बदलने के वास्ते दूसरा कपड़ा नही, इससे मार्ग विपरीतता और भोजन की गृद्धता दोनो नजर आती है, धर्म मे दूषण लगता है। इसलिये थोडी देर ठहर कर भोजन को जावे ताकि पानी बरसता बन्द हो जावे।

प्रश्न—पानी वर्षते समय में मुनि भोजन को जावे या नही ? **उत्तर**–जब ज्यादा पानी बरसे तब मुनि लोग भी भोजन को न जावे। रास्ते मे पानी भर जावे तब जीव जन्तु सूझे नही और ईर्या समिति पले नही अतः ऐसे समय पर भोजन को नही जावे। हा थोडा झरमरझरमर किंचित् बरसता होवे तब तो मुनि जा सकते है, कारण उनके पास कपडा नही। जो रास्ते मे पानी जोर से आजावे तो मुनि वही खडे रह जावेगे, फिर आगे पीछे हटेगे नही। कदाचित् दातार के घर गये और नवधा भक्ति में भूल होगई तथा पानी बरस रहा है तो भी वहा ठहरेगे नही, बाहर आकर चौगान मे खड़े हो जावेगे, आगे नही जावेगे पर भूल मे दातार के घर खडे नही रहेगे। विचार पूर्वक प्रवृत्ति करना ही शोभा पाता है अन्यथा नही। इसलिये कठगत प्राण होते भी व्रतो में दूषण मत लगावो। श्रावक अवस्था मे जब तक हो तब तक दिन मे किसी प्रकार भी नग्नता न करो, नग्न होना हंसी खेल नही है, महान् उत्कृष्ट धर्म है, नग्न होकर फिर कपड़े पहिनना नही। जो नग्न होकर कपड़े पहनते है उन्होने इस धर्म को हसी खेल समझ रखा है ऐसा वह धर्म नही है, यह तो धर्म महाशूरवीरो का है कायरो का नही। भोजन को जावे उस समय न तो शीघ्रता से गमन करे और न विलम्ब से गमन करे। जैसी स्वाभाविक सामान्यतया प्रवृत्ति है उसी रूप से चले। सौम्य रूप आकृति सहित, नीची दृष्टि रखकर, चार हाथ जमीन को नीरख परख कर चले जिससे प्रमाद जनित दोष न होवे, और न धर्म को अन्य कोई दूसरे लोग दूषण देवे। भोजन को जावे तब मौन सहित जावे, अगर रास्ता मे चलते समय पर कोई पुरुष प्रश्न करे, तब उत्तर देने योग्य होवे तो खडा रहकर शान्ति पूर्वक उत्तर देगे, चलते चलते

उत्तर नही देवे, जो कदाचित् उत्तर देने की आवश्यकता नही होवे तो मौन पूर्वक चला जावे कुछ उत्तर नही देवे । जरूरत समझकर बोलने वास्ते मनाई नही है, क्योकि मौन तो भोजन के वास्ते है, जिससे गृद्धता न बढे उत्तर देने के वास्ते मौन नही है । जो भी उत्तर दिया जावे सो सब हित, मित और प्रिय वचनों से हो जो किसी को बुरा न लगे । उद्दिष्ट त्यागी पुरुष हो, या स्त्री उनको चाहिये कि वह भोजन और पान एक ही समय लेवे न कि दूसरे समय मे भी चाहे साधारण अवस्था हो या बीमार अवस्था । भोजन एक ही आसन पर करे । यह नही कि भोजन दूसरे स्थान पर कर लिया और पानी वगैरह का कुरला दूसरे स्थान पर करे । यह इस प्रतिमा के धारक के लिये नही है कि वह दातुन कुरला करे भोजन के समय पर मुख शुद्धि कर लेवे, जिससे दातो में अन्न नही लगा रहे, भोजन में अन्तराय हो जावे तो पानी भी नही पी सकते । भोजन हुए पश्चात् तुरन्त गुरु-आश्रम मे पहुच जावे । यह खयाल रहे कि कोई कारण पायकर ग्राम में रहे, पर निवास जगल का ही सिद्धान्तो मे ठीक माना है । सो ही बताते है—*** व्रती का निवास वन में है ***

मुनि आर्यिका ऐलक क्षुल्लक, इन का वास अरण के मांहि ।
भोजन समय पर आवे ग्राम में इस विधि सिद्धान्तों में गांहि ।।
आतम ध्यान के ये है रसिया, ग्राम मांहि होने का नांहि ।
ताते रहो भूलि मत ग्राम में, नातर आतम ध्यान नशांहि ।। १ ।।

कहने का तात्पर्य यह है कि मुनि होवे या आर्यिका या ऐलक क्षुल्लक क्षुल्लिका कोई भी हो, वे सबही आत्म ध्यान के स्वादी हुवा करते हैं । सो वह आत्म ध्यान गाव मे नही होता क्योकि वहा पर गृहस्थ लोगों का रहन सहन, आना जाना, गीतनृत्य का होना, वादित्रो का बजना, उत्सव होना, रोना, पीटना, क्लेश करना, लडना, झगडना, हुवा ही करते है, इससे ध्यान मे चित्त स्थिर नही हो सकता, आदि । ध्यान स्वादी हो तो भूल कर भी ग्राम मे मत रहो, कदाचित् जरूरी हो तो थोड़े समय तक ग्राम में ठहरने का दोष नही है । सूना घर, मठ, मडप, वसतिका वगैरह एकान्त स्थान में रहे । साथरा जो चार प्रकार का माना है, जैसे—शुद्ध भूमि (प्रासुक भूमि) काष्ठ का पाटिया, पाषाण की शिला, तृण, घास का साथरा वा चटाई पर शयन करो, सो भी पहिली पिछली पहर छोडकर रात्रि के समय पर शयन करना चाहिये । बाकी की रात्रि को धर्म ध्यान पूर्वक बितावे, चारो प्रकार की विकथाओ का सयोग नही मिलावे, धर्म ध्यान सहित रहे ।

—* ऐलकादि के लिए विशेष विधान *—

ऐलक क्षुल्लक क्षुल्लिका ये श्रावक अवस्था के पद हैं । श्रावक जब इनको वन्दना या इच्छाकार कहे तो बदले मे ये उनको धर्म लाभ कहे । इन लोगो के पास वस्त्र हुवा करते

है सो श्रावको से कहकर नही धुलवावे क्योकि श्रावकों के यहां विशेष प्रमाद हुवा करता है, श्रावको से प्रासुक द्रव्य लेकर खुद धो लेवे तो असयम से बचे। इन लोगो के ग्यारह प्रतिमा रूप व्रत है सो ये अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व के दिन उपवास ही करे क्योकि उपवास चौथी प्रतिमा की क्रिया है सो नही छोडनी चाहिये, छोड़े तो प्रतिमा रूप व्रत नही रहेगा। हमने लगभग ३२ श्रावकाचार के ग्रन्थ देखे परन्तु किसी मे भी इनको पडगाहना के लिये नही लिखा, ऐलक तो श्रावक के घर भोजन के लिये जावे तब 'अक्षयदान' रूप शब्द कहे और क्षुल्लक क्षुल्लिका धर्मलाभ कहे। तब दातार आदर सहित इनको कहे "महाराज शुद्ध भोजन तैयार है सो पधारो" वर्णी क्षुल्लक क्षुल्लिका, या ऐलक को तो चौका मे बैठाकर आदर पूर्वक जिमा देवे, और स्पृश्य शूद्रको तो थोडा सा भोजन दे देवे या, कहदेवे कि अठै ही जीम लेवो, सो पहिले का लाया हुवा होवे तो पहिले उस भोजन को जीमले, यदि यह पहिला ही घर होवे तो, यही अपने लोहे के पात्र मे भोजन लेकर शोधकर शांति पूर्वक जीम लेवे, परन्तु पडगाहने के लोभ मे नही पड़े। हां रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका में पं० सदासुखजी ने आज कल की प्रवृत्ति की देखा देखी जरूर लिख दिया है बाकी किसी ग्रन्थ मे मुनि के सिवा पडगाहना और के लिये नही लिखा हुआ देखा। ढोंग करना ठीक नही। श्रावक आदर भक्ति पूर्वक आहार देवे फिर क्यो नही लेना ? यह नही समझना कि इन्होने पडगाहन ही उठा दिया है, दातार की पूरी पूरी भक्ति है, पर पडगाहना सयमो ही के वास्ते कहा है अन्य के वास्ते यथायोग्य सत्कार ही बताया है।

प्रश्न—आपने कहा सो सब समझा, परन्तु क्षुल्लक ज्ञानसागरजी कृत दान विचार मे तो क्षुल्लक के वास्ते अर्घ चढाना लिखा है फिर आप कैसे निषेध करते हो ? उत्तर—पद्मपुराण में लिखा है कि जब रावण जीतकर आया तब नगर मे प्रवेश किया तब शहर के लोगो ने रावण के चरणो मे अर्घ चढाया तथा जब नारदजी कृष्णजी की सभा मे गये तब कृष्ण जी ने नारदजी को अर्घ चढाया, ऐसा प्रद्युम्नकुमार चरित्र मे लिखा है (देखे अध्याय ३ श्लोक ११-१२ मे) इस तरह का कथन चन्द्रप्रभु चरित्र मे भी जरूर है कि क्षुल्लक के चरणों में अर्घ चढाया होगा; परन्तु यह सिद्धान्त सर्वथा भोजन के लिये जाते समय के वास्ते श्रावकाचारो मे कही भी नही है। कारण पाकर उन्होने लिखा है सो काष्ठासघ के मतानुकूल होता होगा मूलसघाम्नाय नही है। देखो गुण भूषण नामाश्रावकाचार टीका में उन्होने लिखा है कि क्षुल्लक की नवधा भक्ति नही होती। **प्रश्न**—इस के पीछे ज्ञानसागरजी क्षुल्लक से मुनि होगये तब उन्होने एक स्वधर्मनामा श्रावकाचार बनाया है उसमे लिखा है कि श्रावक ५ घरों से भोजन भिक्षा वृत्ति से लावे और मुनिकी समागम मिलजावे तो वह उस भोजन मे से मुनि को भोजन देदेवे और उनको दिये पश्चात् भोजन बचे तो क्षुल्लक जीम लेवे अगर

नही बचे तो क्षुल्लक उपवास करे। इस प्रकार का कथन है और वहां पर क्षुल्लक के पांच प्रकार माने है सो कैसे है ? **उत्तर**—ऐसा कथन लाटी सहिता नामा ग्रन्थ मे जरूर है परन्तु वह ग्रन्थ काष्ठासघियो का है सो मूलसंघियो को किसी प्रकार भी मान्य नही है। ऐसा उनके बडे भाई धर्मरत्न पडित लालारामजी है उन्होने लाटी संहिता ग्रन्थ की टीका करी है उसमे नोट दे दिया है कि यह कथन मूल सघियो को मान्य नही है। ऐसा काष्ठासघी मानते है सो नाजायज है। आगे जो पाच प्रकार के क्षुल्लक माने है सो पहले क्षुल्लक ज्ञानसागरजी यज्ञोपवीत संस्कार नामक पुस्तक बना चुके है उसमें ५ प्रकार के ब्रह्मचारी मान चुके है और फिर मुनि होकर स्वधर्मश्रावकाचार बनाया है उसमें ५ प्रकार के क्षुल्लक बताए है सो यह कथन भी काष्ठा सघियो का है सो लाटी सहिता मे माने है। सो यह कथन काष्ठासंघियो को जरूर मान्य है न कि मूल संघियो को। पुरातन ग्रन्थ जैसे चामु ड-राय चारित्रासार उसमे ५ भेद ब्रह्मचारियो के माने है न कि क्षुल्लकों के। अत यह सिद्ध होता है कि मुनि स्वधर्म सागरजी काष्ठासघ के पोषक थे न कि मूल संघ के। इस वास्ते ऐसा कथन लिखते थे। जब तक लगोटी है तबतक श्रावक ही है, इसलिये मुनि की तरह वह नमोऽस्तु नही कहलाता, जमीन पर घुटना टेककर नमस्कार नही करता क्योकि इसमे मान का आशय दिखता है और जहा मान का आशय है वहा पर कर्म बध है, सो कर्म बाधने के वास्ते प्रतिमा यानी व्रतीपना नही लिया है, व्रतीपना तो कर्म काटने के वास्ते लिया है। नमस्कार कैसा कराना सो ही कहते है— खडे खडे युग हस्त मिलाकर भायजी। शिर को नमन कराय चित्त हुलसायजी। इच्छाकार सुबोध विनय करवायजी, –**नमस्कार उत्तम श्रावक लिये थायजी**।– इस प्रकार खडे खडे हाथो को जोडकर, सिर को नमस्कार उत्तम श्रावक जो ऐलक क्षुल्लक क्षुल्लिकाओ के लिये नमस्कार (इच्छाकार) यानि इच्छामि कहना ही इनका सत्कार है, मुनियो की तरह जमीन पर बैठकर, श्रावक अवस्था में नमस्कार कराना अयोग्य है, कोई भूलकर वैसा नमस्कार करे, तो खुद व्रतियों को चाहिये कि वह उस गृहस्थ श्रावक को समझा देवे, जिससे कि मान के आशय से कर्म बन्ध नही होवे, यही व्रतियो का कर्तव्य है। **किस प्रतिमा में कौन २ से व्रत निर्दोष होते है ?**

पाक्षिक अवस्था से लगाकर उद्दिष्ट त्याग ग्यारहवी प्रतिमा तक कौन २ से व्रत किस किस स्थान पर निर्दोष होते है उनका खुलासा इस प्रकार है–अष्ट मूलगुण, पंचाणुव्रत सप्तशील, पाक्षिको मे से इस प्रकार व्रत लेते है श्रावक के तीन भेद-जघन्य, मध्यम, उत्तम १. जघन्य पाक्षिक के अष्ट मूल-गुण धारण, सामान्य से मिथ्यात्व त्याग २. मध्यम पाक्षिक, सप्त व्यसन का त्याग, मिथ्यात्व के अतिचार न लगाना ३ उत्तम पाक्षिक-अभक्ष्यो का त्याग सप्त व्यसनो के अतिचारो को बचाते है। १ पचाणुव्रत धारण रूप प्रथम प्रतिमा में

सातिचार पचाणुव्रत होते है, मिथ्यात्व, अन्याय रूप कार्यो का सर्वथा त्याग, इनके अतिचारो को भी पालता है, अणुव्रतो के तो अतिचार लगते है, सो बचा नही सकता। बारह व्रतो मे पाच अणुव्रत तो प्रथम प्रतिमा में ग्रहण कर लिये, रहे सप्तशील सो यहा ग्रहण कर व्रत प्रतिमा वाला बनता है। यहा पर यह नही देखा जाता कि कौन व्रत तो पहिले कहा है और कौन पीछे कहा है। पर इन व्रतो के अतिचार उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा तक छूटते है न कि दूसरी प्रतिमा मे ही। सो ही कहते है गुण व्रत तो अणुव्रतो को महाव्रत रूप होने के जितने भी गुण है सो बढाते है और शिक्षाव्रत अणुव्रतो को महाव्रत रूप होने की शिक्षा देते है। १ सामायिक व्रत के अतिचार, तीसरी सामायिक प्रतिमा मे छूटेगे। २ प्रोषधोपवास के अतिचार जब चौथी प्रतिमा होगी तब टलेगे पहिले नही। यह सामायिक के वास्ते शक्ति बढाता है। भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत के अतिचार कहां टलेगे सो कहते है। १ जो बार बार भोगने मे आवे उन पदार्थो को उपभोग कहते है, उनके अतिचार मोटे रूप से पाचवी प्रतिमा मे टलेगे, परन्तु सूक्ष्म रूप से दसवी प्रतिमा तक पहुचते है। जो एक ही बार भोग मे आवे उसे 'भोग' कहते है उसका अतिचार छठी रात्रि भुक्ति, तथा सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा मे तो मोटे रूप से बाकी सूक्ष्म दोष ग्यारहवी प्रतिमा और मुनि व्रत के चरम समय मे टलेगे। दिग्व्रत के अतिचार मोटे रूप से, सवारी कृषि आदि कर्म के त्याग रूप अष्टम प्रनिमा मे मोटे रूप से छूटते है. परन्तु जब तक अनुमति देता है तब तक सूक्ष्म अतिचार छूटते ही नही।

देशव्रत के अतिचार जब परिग्रह त्याग प्रतिमा धारण करेगा, तब मोटे रूप से छूटेगे, परन्तु सूक्ष्म अतिचार तो मुनिव्रत लिये विना टल नही सकते। अनर्थदण्ड व्रत के अतिचारो का जब अनुमति त्याग प्रतिमा ग्रहण करेगा, मठ मडप मे वसेगा कुटुम्बी जनो को किसी प्रकार की सलाह आदि नही देगा, तब मोटे रूप से त्याग होगा. परन्तु बारीक रूप से मुनिव्रतो को धारण कर विकथा रूप भावो का त्याग होगा, तव ही यह व्रत निरतिचार रूप होगा। अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार तव टलेंगे जव कि ग्यारहवी प्रतिमा धारण हो जावेगी। इसका खुलासा ऐसा है कि यह व्रत श्रावक और मुनि दोनो अवस्था में पाला जाता है, पर यहां श्रावक अवस्था का ही कथन है। जव उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा ग्रहण करली जाती है तब उनके पास स्वद्रव्य तो है नही जिसे अतिथि (मुनि) को देवे परन्तु अतिथि सविभाग जरूर करते है नही तो प्रतिमा पूर्ण न होवे। इसलिये वे ऐसा करते है कि मुनियो के भोजन का जो समय नियत है उस समय की इन्तजारी करके पश्चात् वे भोजन को जाते है क्योकि इनके यही अतिथि सविभाग है और यह भावना भाते हैं कि मुनिराजो का इस समय पर अतिथि

सविभाग व्रत किया जाता है सो भी ज्ञानी पुरुषों के लिये है न कि अज्ञानियों के लिये। बाकी सूक्ष्म रीत्या अर्थात् पूर्ण रूप से यह व्रत मुनियो के पलता है, क्योकि उन्होने संसार भर के सर्व त्रस स्थावर जीवो के लिये सर्व प्रकार से अभय दान दे दिया सो ही उनके पूर्णतया अतिथि सविभाग व्रत है क्योकि मुनि लोग कभी ऐसा उपदेश भी नही देते जिससे स्थावर जीव या त्रस जीव पीडित किये जावे, याते पूर्णरीति से यह व्रत उन्ही महात्माओ के है, और अनर्थदण्ड के त्यागी भी महाव्रती लोग ही हुवा करते है, और नही।

—* सल्लेखना *—

जिस समय अनिवार्य उपसर्ग आजावे, दुर्भिक्ष हो, या कोई महान् क्लिष्ट रोग हो जावे, या कोई प्रकार का उपसर्ग परिषह या शरीर के निपात करने वाला कारण मिले जैसे जगल मे आग लग जावे और निकलने का उपाय न हो, सिह व्याघ्रादि का सामने उपस्थित हो जाना, जहरीले सर्प, गोहरा आदि जीवो के द्वारा काटा जाना, जिसमे यह निश्चय हो जावे कि अब बचना कठिन है, ऐसे समय पर शान्ति धारण कर, धर्म की प्रभावना के भी निमित्त इस निर्जीर्ण शरीर को शान्ति पूर्वक त्याग देना इसी को समाधि या सल्लेखना कहते है। इस सल्लेखना के दो भेद है प्रथम तो प्रयोग सल्लेखना दूसरी शीघ्र सल्लेखना। इन दोनो का ही यहा खुलासा करेगे, सामान्य से सल्लेखना का वर्णन ऊपर कर भी चुके है। काय और कषाय का कृश करना ही वास्तविक सल्लेखना है। जितने भी व्रत लिये जाते है श्रावक अवस्था मे उनका निरतिचार पालन कर, उन व्रतो सहित शान्ति पूर्वक काय और कषाय को कृश करते हुए रागद्वेष नही होवे, कदाचित् वेदना बढ जावे उसमे भी शान्ति बनाये रहे धीरता के साथ समाधिमरण हो जावे इत्यादि सब उपरोक्त व्रतादिक या प्रतिमाओ के पालन रूप कारण मिलाये विना, समाधि मरण नही होता। यह समाधि मरण जीवका ऐसा उपकारी है कि अधिक से अधिक सात आठ भव मे सब कर्मो को खिपा करके मोक्ष करा ही देता है। यह समाधि मरण इस जीव को सुख का दाता महान् उपकारी है, अथवा यो कहिये, ससार रूप विपत्ति मे यह जीव का मित्र ही नही परम मित्र है।

जैसे कोई पथिक सागर के परले पार जाना चाहता है, परन्तु वह इन तीन वस्तुओ के विना परले पार पहुच नही सकता जैसे पहिले उसे श्रद्धा होवे कि मेरा उतरना अमुक घाट पर होना ठीक है दूसरे उसको यह ज्ञान होवे कि इस जलाशय मे यहा होकर जाने से ठीक ठीक जगह पर पहुच जाऊगा इसी रास्ते से और भी जो गये है, वे विना खेद के पहु च गये है, तीसरे उस के पास नैया (जहाज नाव) आदि हो जिसमे बैठकर चल सके और वहां पहुंच जावे। इन तीनो वस्तुओं के विना हमारा सागर पार हो नही सकता, इसी

तरह उस मोक्ष पुरी को जाने वाले पथिक के पास भी मोक्ष पुरी मे पहुचने के लिये ये तीन पदार्थ चाहिये, पहले तो उसको यह श्रद्धान होना कि निरतिचार व्रत पालू गा तव ही मेरा कल्याग्ण होगा अन्यथा नही, दूसरे वह उन व्रतो को शास्त्रोक्त रीति से पालन करे दूषरग नही लगावे सो हुवा ज्ञान, तीसरे उसके पास नैया रूप समाधिमरण सो शान्ति से कषाय और काय को कृश करे शास्त्रोक्त मरण करे सो हुवा चलना, तब ही वह पुरुप सात आठ भव मे मोक्ष पावे और हमेशा के लिये इस ससार रूप विषयो के प्रकोप से बचे और सदा के लिये सुखी हो जावे ।

यहा पर जो व्रत धारण किये है, जिसका फल यह समाधि मरण का लाभ है, सो यह इस शरीर से होता है, शरीर विना नही, इसलिये इस शरीर को ऊपर लिखे अनुसार कारण नही मिले और पूरी तरह धर्म ध्यान मे सावचेत रहे तवतक इसके वास्ते ठीक ठीक सूत्र के अनुकूल आहार, विहार और औपधि का निमित्त कारण मिलावे परन्तु उसमे भी पूरा २ खयाल रक्खे जैसे सेठ मुनीम को नौकरी देता है और काम लेता है वैसे ही शरीर को देना, इसका दास नही हो जाना । कदाचित् किसी कारण से कोई कर्म के निमित्त से असाता वेदनीय जनित रोग पीडा हो जावे तो योग्य प्रतिकार स्वरूप, दवा कर लेवे । ध्यान रहे कि रोग का तो तब ही उपशम होगा जब कि असाता वेदनीय जनित कर्म का उपशम होवेगा, विना असाता वेदनीय के हटे रोग परिषह उपसर्ग हरगिज भी नही टलेगे, इसलिये खयाल रहे कि जो धर्म घात के प्रयोग जैसे—अभक्ष्य दवाइया तथा असेव्य आदि का प्रयोग नही करना चाहिये । भगवन् शिव कोटी आचार्य ने मरण के सतरह भेद बताये है पर उनका कथन पहिले मुनि धर्म मे कर ही आये हैं, उन सतरह प्रकार के मरणो मे पाच प्रकार के मरण मुख्य माने है उनके नाम ये है।

"पंड़िद पड़िद मरणं, पडिदय बालपड़िदं चेव ।
बालमरणं चउत्थं, पंचमय बालबालं च ।। २६ ।।"

अर्थ—प्रथम मरण पडित पडित, दूसरा पडित मरण, तीसरा बाल पंडित, चौथा बालमरण, पांचवा बालबाल मरण । इनका खुलासा इस प्रकार है । १ पंडित पडित मरण यह मरण अर्थात् पर्याय बदलने रूप चौदहवे गुण स्थानवर्ती श्री जिनेन्द्र अयोग केवली भगवान् के होता है अर्थात् इस मरण के होने से जीव को सदा के लिये मरण करना फिर नही होता, इसका विशेष खुलासा मुनिधर्म मे हो गया है । २ पडित मरण—जो अठाईस मूल गुण धारी मुनियो के होता है, इसका भी कथन मुनि धर्म मे कर दिया । ३ बाल पंडित मरण—यह मरण देश व्रती श्रावको के होता है, इसका यहां कथन करेंगे । ४ बाल मरण—यह मरण अविरत सम्यग्दृष्टि के हुवा करता है, यह मरण शान्ति से हो जावे तो

कल्पवासी देव होवे नही तो भवनत्रिक में उपजे। ५. बाल बाल मरण— यह मरण मिथ्यादृष्टि जीवो के हुवा करता है, यह मरण चतुर्गति के भ्रमण का कारण है, इस मरण से शांति कभी भी नही मिल सकती। जो बारह व्रतो के धारक है ऐसे देशव्रती पाक्षिक से लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तक के पालक श्रावक इनके मरण को सिद्धान्त मे बाल पडित मरण कहते है। उस बाल पडित मरण का पात्र व्रती श्रावक ही होना है, इस लिये उनको चाहिये कि अपने आचरण को दृढ रखकर, प्रेम पूर्वक इसके साधन मिलाते हुए समाधिमरण के सम्मुख होवे। भगवान् उमास्वामी तत्वार्थ सूत्र मे कहते है—

मारणांतिकी सल्लेखनां जोषिता ।। २२-७ ।। (तत्त्वार्थ)

अर्थ— मृत्यु के समय पर होने वाली सल्लेखना को सेवन करे, मृत्यु के समय काय और कषाय को क्रम से कृश करते धर्म ध्यान मे सावधान रहकर प्राणो के त्याग करने को सल्लेखना कहते है। गृहस्थो को यह परमोपकारी शुभ गति का कारण रूप सर्वोत्तम व्रत भी प्रीति पूर्वक सेवन करना चाहिये। भगवान् समतभद्र स्वामी कहते है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च नि प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचन, माहु सल्लेखनामार्य्या ।। १२२ ।। (रत्न करण्ड श्रा.)

अर्थ - उपसर्ग कहिये अग्नि जल वायु आदि की आपत्ति आजाने पर, दुष्काल के पडने पर बुढापा होने पर या असाध्य रोग हो जाने पर यदि साधन न होवे तो अपने आत्मीक धर्म की रक्षा के लिये शरीर का त्याग करना सो सल्लेखना कही गई है।

—* सल्लेखना आत्मघात नही है *—

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे भगवान् अमृतचन्द्र सूरि कहते है—

नीयन्तेऽत्र कषाया, हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि तत , प्राहुरहिंसा प्रसिद्धयर्थम् ।। १७९ ।।

अर्थ—हिंसा के कारण कषाय भावो को जहा कम किया जाता है, वहां ही अहिंसा धर्म की वर्द्धक सल्लेखना होती है, इसमे आत्मघात का दोष नही है। आत्मघात का दोष वहा आता है कि जहां कषाय सहित मरण होवे। यह शरीर धर्म साधन का सहायक है, इसलिये जब तक आत्मिक धर्म सधे तबतक इसकी रक्षा करना योग्य है, और जब इसकी रक्षा में पडने से अपना धर्म डूबता है तब इसको तुरन्त ही छोड देना योग्य है।

श्री चामुन्डराय ने चारित्रसार मे कहा है (पृष्ठ २३ छाया)—बाह्यस्य कायस्याभ्यंतराणां कषायाणां तत्तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि नि.प्रतिक्रियाया धर्मार्थम् तनुस्त्यजन् सल्लेखना। ततो नित्यप्रार्थितमरणे यथाशक्तिप्रयत्न कृत्वा शीतोष्णादौ हर्षविषादम् न करोति, यथा सल्लेखना कुर्वाण.

शीतोष्णादौ हर्षविषादमकृत्वा स्नेह राग वैरादिक परिग्रह च परित्यज्य विशुद्धचित्तः स्वजन-परिजने क्षन्तव्य नि.शल्य च प्रियवचनैर्विधाय विगतमानकषायः कृतकारितानुमयमेन । सर्व समालोच्य गुरौ महाव्रतमामरणमारोप्य रतिदैन्यविषादयकालुष्यादिकमपहाय सत्त्वोत्साहमुदीर्य श्रुतामृतेन मन. प्रसाद्य क्रमेणाहारं परिहार्य तत· स्निग्धपान तदनन्तर खरपान तदनु,चोपवास कृत्वा गुरो पादमूले पञ्चनमस्कारमुच्चारयन् पञ्चपरमेष्ठिना गुणान् स्मरन् सर्वयत्नेन तनु त्यजेदिय सल्लेखना सयतस्यापि । अर्थ-बाह्य तो काय का और आभ्यतर कषायो के निमित्त कारणो का क्रम से कृश करना इसही का नाम सल्लेखना कहा है उपसर्ग परिषह आने पर या दुर्भिक्ष कहिये अकाल पडने पर, जीने मे सशय होने पर, धर्म रक्षार्थ शरीर को छोड देना ही सल्लेखना कहलाती है । व्रतियो के व्रत धारण करने का फल समाधि मरण होता है । व्रती पुरुष हमेशा यही भावना करता है कि मेरी समाधि सम्यक् प्रकार कब होजावे । हमेशा यथा शक्ति प्रयत्न करता ही रहे शीत उष्ण धूप वर्षा की परीषह सहता ही रहे, शीत उष्ण मे हर्ष विषाद नही करे । शाति पूर्वक सल्लेखना की तरफ ही जिसका ध्येय बना रहे किसी से हर्ष-विषाद, स्नेह-वैर, हो तो उसे छोड देता है, और परिग्रह का परित्याग कर देता है, अपने चित्त को शांति पूर्वक रखता है । स्वजनो और परिजनो की शाति भावना कर देता है, और सबको मधुर प्रिय बचनो से सबोधन करके, या किसी मे मान कषाय हो गई हो तो उसको कृत-कारित-अनुमोदना सहित छोड देता है, और गुरुओ के पास अणुव्रतों से महाव्रत धारण करता है । दैनिक विषाद भय कलुषपना जो पहले हुआ होवे, उनको आलोचना पूर्वक छोड देता है । उत्साह के साथ श्रुत (शास्त्र) के अनुसार अपने मन को साधता है, क्रम से चार प्रकार के आहार को जैसी शक्ति होवे वैसे ही क्रम छोडता रहे । उसमे भी पहिले स्निग्ध को छोडे पश्चात् खर (रूखे सूखे) नीरस को छोडे अर्थात् फिर उपवास धारण करे । गुरु के पादमूल मे पञ्च नमस्कार मन्त्र को तथा अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु के गुणानुवाद का स्मरण कर या धारण कर सर्व यत्न से अपने शरीर को कृश करके शरीर को सल्लेखना रूप के लिये छोड देता है। इसी को 'यति-सल्लेखना भी कहते हैं,

—※ सल्लेखना धारी के कर्त्तव्य ※—

रत्नकरड श्रावकाचार मे भगवान् समतभद्र कहते है .—

अन्त क्रियाधिकरणं, तपः फल सकलदर्शिन स्तुवते तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ।
स्नेहं वैरं सग, परिग्रहं चापहाय शुद्धमना, स्वजन परिजनमपि च, क्षान्त्वाक्षमयेत्प्रियैर्वचनै ।
आलोच्य सर्वमेन , कृतकारितमनुमत च निर्व्याजं ।
आरोपयेन्महाव्रत, मामरणस्थायि नि शेषम् ।। १२५ ।।
शोक भयमवसादं क्लेद कालुष्यमरतिमपि हित्वा, सर्वोत्साहमुदीर्य च मन प्रसाद्यं श्रुतैरमृतै ।

आहार परिहाप्य क्रमश. स्निग्ध विवर्द्धयेत्पानम्, स्निग्ध च हापयित्वा, खरपानं पूरयेत्क्रमश खरपानहापनामपि, कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या, पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ।

अर्थ—मृत्यु के समय की क्रिया का सुधरना, यानी काय और कषाय को कृश करके सन्यास धारण करना ही तप का फल है, ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है । सब से राग, द्वेष, वैर को छोड़े, यानी शान्ति के साथ इनसे संबध छोड देवे, और परिग्रह रूपी पिशाच को दूर कर देवे, स्वजन परजन सबसे मिष्ठ वचनो के साथ क्षमा करावे, और आप स्वय क्षमा कर देवे । मायाचार छल कपट रहित होकर कृत कारित अनुमोदना से किये हुए सर्व पापो की आलोचना करके मरण पर्यंत के लिये पाचों पापो (हिसा, भूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह) को सर्वथा त्याग देवे और महाव्रतो को धारण करे इसके अलावा शोक, भय, ग्लानि, चिन्ता कालुष्य, अरति जुगुप्सा का भी त्याग कर देवे, तथा अपने बल पूर्वक उत्साह को प्रगट कर शास्त्र रूपी अमृत से अपने मन को आनन्दित करे, यानी तत्त्वज्ञान के अनुभव मे लग जावे ।

कषायो को ज्ञान से कृश करते हुए शरीर को कृश करने के लिये क्रम से, पहिले भोजन को त्यागे, केवल दूध या मट्ठा (छाछ) को ही लेवे, बाद मे उसको भी छोडता हुवा, काजी या गर्म जल को ही पीते रहना, फिर शक्ति को सभाल कर उस गर्म जल को भी छोड दे, खूब प्रयत्न के साथ श्रीपचपरमेष्ठी के चरणो मे ध्यान को लगावे और पंच नमस्कार मत्र को जपता हुवा शरीर का त्याग करे, यानी शरीर को छोड़े । यह अनुभव योग्य बात है कि आहार पान को शनै. २ घटावे, एकदम नही, जिससे किसी प्रकार की कषाय या आकुलता पैदा न हो । इससे शान्त परिणामो को काफी मदद मिलती है जिससे मरण समय मे उत्साह रूप परिणाम बढता रहे, सो ही सल्लेखना है । अगर अपनी शक्ति होवे तो सर्व परिग्रह रूप फांसी को त्यागकर मुनियो के समान नग्न दिगम्बर होकर चटाई पर आसन लगाकर बैठे, या लेट जावे और आत्म स्वरूप मे अपने चित्त को लगाके शांति रक्खे, कदाचित् ऐसा नही कर सके तो, आवश्यक कपडे बर्तन रखकर शेष का त्याग करे। कहने का मतलब है कि जो शक्ति को न छिपावे, वह पुरुष समाधि को धारण कर सकता है । जघन्य रूप से इस प्रकार भी कर सकते है कि अपनी शक्ति के अनुकूल एक एक दो दो व चार चार दिन के प्रमाण से भोजन का त्याग व परिग्रह का त्याग करे, यदि इस प्रकार करते करते जीवित रह जावे तो फिर अपनी शक्ति अनुकूल त्याग व्रत को सभाल लेवे । ऐसे समाधिमरण के अधिकारी सामान्यतया गृहस्थ लोग भी हो जाया करते हैं, परन्तु गृहस्थपने के प्रपञ्चो से अलग यानी दूर रहे । जहा एकान्त स्थान होवे वहा चार साधर्मी भाइयो का सबंध रक्खे, सो वे साधर्मी भाई शास्त्रो को सुनावे और उपदेश भी देवे जिससे

परिणाम वैराग्य रूप परिणति में स्थिरीभूत रहे। स्वजन या परिजन तथा चेतन अचेतन पदार्थों का सबध हरगिज न मिलावे, जिससे मोह विकार से बचे। शक्ति को नही छिपाकर आचरण करे। यदि शक्ति ही वेदनायुक्त होवे तो लेटा लेटी करता रहे, परन्तु पंच नमस्कार मन्त्र के जाप्य को हरगिज भी न विसारे, स्वयं जपे या दूसरों से सुनता रहे, शक्ति अनुसार उस पर ध्यान देकर अर्थ विचारता रहे जिससे अशुभाश्रव रुके और धर्म भावना दृढ बनी रहे।

— पांच प्रकार का शुद्धि विवेक

सागार धर्मामृत के अष्टम अध्याय मे प० आशाधरजी कहते है कि सल्लेखना शुद्धि विवेक ये है —

शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्त्येषु पञ्चधा। शुद्धिस्यात्दृष्टिधीवृत्तविनयावश्यकेषु वा ॥ ४२ ॥
विवेकोऽक्षकषायाङ्गभक्तोपधिषु पञ्चधा। स्याच्छय्योपधिकायान्नवैयावृत्यकरेषु वा ॥ ४३ ॥

अर्थ—शय्या और सयम के साधन उपकरण, आलोचना, यथा अन्न और वैयावृत्ति मे तथा अन्तरग दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और छह (सामायिकादि) आवश्यको मे शुद्धि रखना चाहिये. इन पांचो बातो का पूरा विवेक रक्खे। इन्द्रिय विषय, कषाय, शरीर भोजन और सयम के उपकरण मे तथा. शय्या परिग्रह. शरीर अन्न और वैयावृत्ति में पूर्णरीति से विवेक रक्खे। इस प्रकार विधि पूर्वक समाधि मरण करने वाले क्षपक को चाहिये कि वह समाधि मरण के जो अतिचार होते है उनको बचावे। अब उन अतिचारो को कहते हैं—

*** समाधिमरण के अतिचार और उनका स्वरूप ***

जीवितमरणाशसे, सुहृदनुराग सुखानुबधमजन् ।
सनिदान संस्तरगश,चरेच्च सल्लेखना विधिना ॥ ४५–८ ॥ (सागार ध०)

अर्थ—साथरे पर आरूढ हुवा व्यक्ति—१ जीने की आशका २ मरने की आशका ३ मित्रानुराग ४ सुखानुबन्ध ५ निदान बद सामके अतिचारो को भी त्यागता हुवा, सल्लेखना की विधि प्रवृत्ति करे। आगे इनका पृथक् २ खुलासा करते है। १ जोविताशसा— यह शरीर अवश्य हेय है, जल के वुदबुद के समान अनित्य है, इत्यादि बातो को स्मरण नही करते हुए "इस शरीर की स्थिति कैसी कायम रहेगी" ऐसे शरीर के प्रति आदर भाव को जीविताशंसा कहते है अथवा पूजा विशेष देखकर व खूब वैया वृत्ति देखकर. सब से अपनी प्रशंसा सुनकर मन मे यह मानना कि चार प्रकार का आहार त्याग करके भी मेरा जीवन कायम रहे तो वहुत अच्छा है क्योकि यह सब उपरोक्त विभूति मेरे जीवन के ही निमित्त से हो रही है। इस प्रकार के जीवन की आकाक्षा को जीविताशसा नामका अतिचार कहते है।

२ मरणाशसा— रोगो के उपद्रव की आकुलता से प्राप्त जीवन मे सक्लेश वाले

के मरण के प्रति उपयोग को लगाना, यह मरणा–शसा नामा अतिचार है, अथवा जब मरण करने वाले पुरुष ने चार प्रकार के आहार का त्याग कर दिया है, और कोई उसकी पूजा पूर्वक आदर नही करता, किसी प्रकार की उस की श्लाघा नही करता है, उस समय उसके अन्त. करण मे ऐसे भावो का पैदा होना कि मेरा शीघ्र मरण हो जावे तो बहुत अच्छा है, ऐसे विविध प्रकार के परिणामों के होने को मरणाशसा नाम का अतिचार कहते है। ३ **सुहृदनुराग** बाल काल के अपने मित्रो के साथ हमने ऐसे ऐसे खेल खेले है, हमारे अमुक मित्र विपत्ति पडने पर सहायता करते थे, अमुक मित्र हमारे उत्सवो में तत्काल उपस्थित होते थे, इस प्रकार बाल मित्रो के प्रति अनुराग भावो का पुन पुन· स्मरण करना सुहृदनुराग नाम का अतिचार है। ४ **सुखानुबन्ध–**मैंने ऐसे भोग भोगे है, मै ऐसी शय्याओं पर सोता था, मै ऐसा खेल खेलता था इत्यादि प्रकार से प्रीति विशेष का पुन· पुन· स्मरण करना सुखानुबन्ध नामका अतिचार है। ५. **निदान**—इस सुदुश्चर तप के प्रभाव से मुझ को भावी जन्म मे इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्त्ती, नारायण, राजा, महाराजा, सेठ, श्रीमान्, धीमान् आदि पद की प्राप्ति होवे, ऐसे भविष्य मे अभ्युदय प्राप्ति की वाञ्छा को निदान नामा अतिचार कहते है।

इस प्रकार के समाधिमरण के अधिकारी, पुरुष और स्त्री दोनो हुवा करते है, जो कि देश व्रती होवे। मुनि आर्यिका के समाधि मरण का निरूपण प्रथम अध्याय के अनगार धर्म मे विस्तार से कह चुके हैं। यहा भी जो सामान्य वर्णन किया है वह सब आर्ष ग्रन्थो के आधार से किया है।

देश व्रती और श्राविकाएँ भी मुनिवत् समाधिमरण कर सकती है :—

देश व्रती श्रावक भी सर्व परिग्रह को छोडकर मुनि रूप नग्न दिगम्बर हो कर शरीर त्याग करे ऐसा सिद्धान्तो मे कथन मिलता है। श्राविकाओ के लिये भी साधन प्रौढ हो तो वे भी एकान्त स्थान मे समाधिमरण मुनि तुल्य होकर कर सकती है, रोक नही है, परन्तु एकान्त स्थान हो। जहां पर लोगो के आने जाने योग्य कार्य न हो। कारण–स्त्री जाति लज्जा परिषह सहने मे असमर्थ हुवा करती है। **—शव को कैसे लेजाया जाय—** मरण के पश्चात् जो शरीर रहता है उसको 'शव' कहते है। उसके लिये जैसा उस व्यक्ति ने नियम लिया हो वैसा ही उसके मरण मे उत्सव करना, न कि शोक करना। धन्य है उस पुरुष को जिसने दुर्लभ समाधि मरण किया। खयाल रहे जैसा अवसर प्राप्त हो वैसा विमान बनाकर शव को निकाले या चकढोल बनावे या सादा तौर उत्सव करे। किसी बात का सिद्धान्त हो सो तो है नही, परन्तु समाधि मरण का उत्सव और हर्ष जरूर होना चाहिये, जिससे दूसरे धर्मात्मा भी इस कार्य के लिये प्रयत्न करने को प्रस्तुत

होवे और धर्म की विशेष प्रभावना होवे । ऐसा अवसर प्राप्त नही होवे तो जिस देश में जैसा रिवाज है वैसा ही करे, परन्तु व्रतियो के लिये मरण समय की क्रिया यानी विधि दूसरे प्रकार की हुवा करती है सो भी यहा दिखाई जाती है ताकि ध्यान मे रहे ।

—* व्रतियों के मरण समय की क्रिया *—

मृतक शरीर को प्रेत भी कहते है । प्रेत को रखकर श्मसान मे लेजाने के वास्ते एक सुशोभित विमान यानी पालकी बनवावे । उसको घोकली भी कहा करते है, इसको नये वस्त्रो से सुशोभित कर देवे, और उसके ऊपर उस मुर्दे यानी प्रेत को ठीक तौर से रखे, जिससे वह गिरने नही पावे । मुर्दे के गिरने से बडी हानि मानी है, और हानिकारक बात है ही । फिर उस विमान को योग्य अपनी जाति के चार पुरुष अपने कंधे पर धर कर श्मसान भूमि की तरफ रवाना होवे । ध्यान रहे स्त्री हो या पुरुष हो उसका सिर ग्राम की तरफ रक्खे. पैर श्मसान की तरफ रखते हुए ले जावे उस शव (प्रेत) यानी मुर्दे को उस विमान में रस्सी से कस देवे जिससे गिरने का भय मिट जावे ।

—* अग्नि शुद्ध कैसे हो ? दाह क्रिया के मंत्र, *—

समाधि मरण करने वाला त्यागी होवे या गृहस्थ होवे उनको जलाने के वास्ते होम की हुई अग्नि होना चाहिये । एकसो आठ १०८ दफे मन्त्र पढने से अग्नि शुद्ध हो जाती है वह मन्त्र इस प्रकार है – ॐ ह्राँ ह्री ह्रूँ ह्रौ ह्र सर्व शान्ति कुरु-कुरु स्वाहा । सामान्य तीन वर्णवा शूद्र वर्ण के लिये वह अग्नि कार्य मे ले लेना योग्य है कि जिससे गृहस्थ लोगों के घर का कार्य होता होवे । कन्या या विधवा मरे तो उसके लिये ऐसी अग्नि काम में लाई जावे ज कि पाच दफे दर्भ को रखकर काष्ठ द्वारा अग्नि सुलगाई गई हो । श्मसान मे जिस समय उस मुर्दे को लेजाया करते है, तब आधी दूर पहुंचने पर मुर्दे को ठहरा देते है और वहा पर उस मुर्दे के मुख के ऊपर पानी छीट दिया करते है । काष्ठ से चिता रचते समय ऐसा मन्त्र पढना चाहिये ॐ ह्री ह्र काष्ठ सचय करोमि स्वाहा इस प्रकार पढते रहे, लकडी चुनते जावे और धरते जावे । पश्चात् मुर्दे को उस चिता पर सुला देवे, उसका मन्त्र ॐ ह्री ह्रौ क्ष्रौ असि आउसा काष्ठे शव स्थापयामि स्वाहा । फिर उस चिता मे अग्नि लगावे और चिता पर घृत डाले उसको ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ र र रं र अग्नि सन्धुक्षणं करोमि स्वाहा ।

फिर खूब घृत और चदनादिक द्रव्य डाल देवे, जिनसे वह अग्नि खूब जोर से लग कर उस मुर्दे को (शव को) शीघ्रता पूर्वक जला देवे, जब मुर्दा सर्व प्रकार से ठीक २ जल जावे, तब स्नान करने के लिये जाते वक्त, उस मुर्दे को जलाने वाला या उस मृतक के कुटुम्बी जन उस चिता की प्रदक्षिणा करके स्नान के लिये निर्वाण (कुआ आदि जलाशय)

पर चले जावें। ध्यान रहे वह रत्नत्रय धारक पुरुष वा स्त्री होवे तो उसका चिन्ह स्थापित करना चाहिये। दूसरे दिन जलाने वाला या मुर्दे के कुटुम्बीजन उस चिता पर दुग्ध डाल जावे तीसरे दिन चिता की अग्नि को शान्त करे और चिता की तमाम भस्मी को एक ऐसे स्थान पर क्षेपण करे कि वह बरसात में बह जावे।

卐 दाह क्रिया करने वाले का कर्त्तव्य 卐

मुर्दे को जलाने वाले पुरुष को चाहिये कि वह चौदह दिन तक और कुटुम्बी जन बारह दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत और शील संयम से रहे और बारह भावनाओ का चितवन करते रहे। उस मुर्दे के शरीर को जलाया है उसमे अनेक प्राणी मन सहित सैनी जीव जलाये गये, उनका पश्चात्ताप पूर्वक प्रतिक्रमण करता रहे, और ध्यान स्वाध्याय विचार आदि मे रहे। वह देव पूजन, शास्त्रो की स्वाध्याय, गुरुओं की उपासना नही करे, देशान्तर नही जावे, जमीन पर सोवे, दिन मे एक दफे ही भोजन करे, जितने दिन है सो सब धर्म ध्यान से व्यतीत करे। दाह क्रिया के अधिकारी कुटुम्बी जन हुवा करते हैं, अगर कुटुम्बी नही होवे तो कोई भी इस क्रिया को कर सकता है। तेरहवे दिन भक्ति पूर्वक पात्रो को दान देना योग्य है। अगर उत्तम पात्र प्राप्त नही होवे तो सामान्य साधर्मी भाइयो को भोजन करावे, ऐसा भी कई ग्रन्थो मे लिखा है।

इस प्रकार श्री १०८ मुनि विवेकसागरजी महाराज द्वारा संकलित 'शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश' के अन्तर्गत व्रतियों की सम्पूर्ण क्रिया समाप्त हुई।

।। श्री वीतरागाय नम. ।।

विशेष—प्रात. स्मरणीय आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र के सप्तम अध्याय मे जो 'नि शल्यो व्रती' सूत्र दिया है वह बहुत गभीर है अर्थात् बाहर से व्रत भी पालन करले किन्तु हृदय में मिथ्यात्व दूर नही हुआ हो तो उसके व्रत भी निष्फल हो जाते है, इसलिये इनका स्वरूप निम्न प्रकार जानना, इसके जाने बिना समीचीन रूप से कोई भी व्रत नही पल सकते ऐसा समझकर हमने यह अवतरण मोक्षमार्ग प्रकाश से उद्धृत किया है।

❋ मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का निरूपण ❋

इस भवके सब दु खनि के, कारण मिथ्याभाव।
तिनकी सत्ता नाश करि प्रगटै मोक्ष उपाव ।। १ ।।

अब यहां ससार दु खो के बीजभूत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र है उनके स्वरूप का विशेष निरूपण करते है, जैसे–वैद्य है सो रोग के कारणो को विशेष रूप से कहे तो रोगी कुपथ्य सेवन न करे तब रोग रहित हो। उसी प्रकार यहा ससार के कारणो का विशेष निरूपण करते है, जिससे संसारी मिथ्यात्वादिक का सेवन न करे, तब ससार रहित हो। इसलिये मिथ्यादर्शनादिक का विशेष निरूपण करते है :—

❋ मिथ्यादर्शन का स्वरूप ❋

यह जीव अनादि से कर्म सम्बन्ध सहित है। उसको दर्शन मोह के उदय से हुआ जो अतत्त्वश्रद्धान उसका नाम मिथ्यादर्शन है, क्योंकि तद्भाव से तत्त्व, अर्थात् जो श्रद्धान करने योग्य अर्थ है उसका जो भाव-स्वरूप उसका नाम तत्त्व है। तत्त्व नही उसका नाम अतत्व है। इसलिये अतत्व है वह असत्य है, अत इसी का नाम मिथ्या है तथा ऐसे ही यह है — ऐसा प्रतीतिभाव उसका नाम श्रद्धान है। यहां श्रद्धान ही का नाम दर्शन है। यद्यपि दर्शन का शब्दार्थ सामान्य अवलोकन है तथापि यहा प्रकरणवश इसी धातु का अर्थ श्रद्धान जानना। — ऐसा ही सर्वार्थसिद्धि नामक सूत्र की टीका मे कहा है। क्योकि सामान्य अवलोकन ससार मोक्ष का कारण नही होता, श्रद्धान ही ससार मोक्ष का कारण है, इसलिये संसार मोक्ष के कारण मे दर्शन का अर्थश्रद्धान ही जानना: तथा मिथ्यारूप जो दर्शन अर्थात् श्रद्धान, उसका नाम मिथ्यादर्शन है। जैसा वस्तुका स्वरूप नही है वैसा मानना, जैसा है वैसा नही मानना, ऐसा विपरीताभिनिवेश अर्थात् विपरीत अभिप्राय, उसको लिये हुये मिथ्यादर्शन होता है।

यहां प्रश्न है कि– केवलज्ञान के बिना सर्व पदार्थ यथार्थ भासित नही होते और यथार्थ भासित हुए बिना यथार्थ श्रद्धान नही होता तो फिर मिथ्या दर्शन का त्याग कैसे बने ? **समाधान** :— पदार्थो का जानना, न जानना, अन्यथा जानना तो ज्ञानावरण के अनुसार है, तथा जो प्रतीति होती है सो जानने पर ही होती है, बिना जाने प्रतीति कैसे आये ? यह तो सत्य है परन्तु जैसे (कोई) पुरुष है, वह जिनसे प्रयोजन नही है उन्हे अन्यथा जाने या यथार्थ जाने तथा जैसा जानता है वैसा ही माने तो उससे उसका कोई भी बिगाड सुधार नही है उससे वह पागल या चतुर नाम नही पाता, तथा जिनसे प्रयोजन पाया जाता है उन्हे यदि अन्यथा जाने और वैसा ही माने तो बिगाड होता है, इसलिये उसे पागल कहते है. तथा उनको यदि यथार्थ जाने और वैसा ही माने तो सुधार होता है इसलिये उसे चतुर कहते है; उसी प्रकार जीव है वह जिनसे प्रयोजन नही है उन्हे अन्यथा जाने या यथार्थ जाने, तथा जैसा जाने वैसा श्रद्धान करे तो इसका कुछ भी बिगाड–सुधार नही है, उससे मिथ्याहृष्टि या सम्यग्हृष्टि नाम प्राप्त नही करता, तथा जिनसे प्रयोजन पाया जाता है उन्हे यदि अन्यथा जाने और वैसा ही श्रद्धान करे तो बिगाड होता है, इसलिये उसे मिथ्याहृष्टि कहते है, तथा यदि उन्हे यथार्थ जाने और वैसा ही श्रद्धान करे तो सुधार होता है, इसलिये उसे सम्यग्हृष्टि कहते है । यहा इतना जानना कि– अप्रयोजनभूत अथवा प्रयोजन भूत पदार्थो का न जानना या यथार्थ – अयथार्थ जानना हो उसमे ज्ञान की हीनाधिकता होना इतना जीव का बिगाड सुधार है और उसका निमित्त तो ज्ञानावरण कर्म है । परन्तु वहा प्रयोजनभूत पदार्थो का अन्यथा या यथार्थ श्रद्धान करने से जीव का कुछ और भी बिगाड सुधार होता है, इसलिये उसका निमित्त दर्शन मोह नामक कर्म है ।

यहा कोई कहे कि जैसा जाने वैसा श्रद्धान करे इसीलिये ज्ञानावरण ही के अनुसार श्रद्धान भासित होता है, यहा दर्शनमोह का विशेष निमित्त कैसे भासित होता है ?

समाधान— प्रयोजनभूत जीवादि तत्वो का श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम तो सर्व सज्ञी पचेन्द्रियो के हुआ है । परन्तु द्रव्यलिगी मुनि ग्यारह अङ्ग तक पढते है तथा ग्रैवेयक के देव अवधिज्ञानादियुक्त है, उनके ज्ञानावरण का क्षयोपशम बहुत होने पर भी प्रयोजनभूत जीवादिक का श्रद्धान नही होता और तिर्यचादिक को ज्ञानावरण का क्षयोपशम थोड़ा होने पर भी प्रयोजनभूत जीवादिक का श्रद्धान होता है, इसलिये जाना जाता है कि ज्ञानावरण के ही अनुसार श्रद्धान नही होता । कोई अन्य कर्म है और वह दर्शन मोह है । उसके उदय से जीव के मिथ्यादर्शन होता है तब प्रयोजनभूत जीवादितत्वो का अन्यथा श्रद्धान करता है ।

—* प्रयोजन–अप्रयोजनभूत पदार्थ *—

यहा कोई पूछे कि—प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन है ?

समाधान— इस जीव को प्रयोजन तो एक यही है कि दु ख न हो और सुख हो । किसी जीव के अन्य कुछ भी प्रयोजन नही है., तथा दुःख का न होना, सुख का होना एक ही है, क्योकि दु ख का अभाव वही सुख है और इस प्रयोजन की सिद्धि जीवादिक का सत्य श्रद्धान करने से होती है कैसे ? सो कहते है —

प्रथम तो दु ख दूर करने मे अपना और पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिये । यदि अपना और पर का ज्ञान नही हो तो अपने को पहिचाने बिना अपना दु ख कैसे दूर करे ? अथवा अपने को और परको एक जानकर अपना दु ख दूर करने के अर्थ पर का उपचार करे तो अपना दु ख दूर कैसे हो ? अथवा आप (स्व) और पर भिन्न है, परन्तु यह पर मे अहकार ममकार करे तो उससे दु ख ही होता है., तथा अपना और पर का ज्ञान जीव अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है, क्योकि आप स्वय जीव हैं । शरीर आदिक अजीव है । यदि लक्षणो के द्वारा जोव की पहिचान हो तो अपनी और परकी भिन्नता भासित हो इसलिये जीव अजीव को जानना । अथवा जीव–अजीव का ज्ञान होने पर, जिन पदार्थो के अन्यथा श्रद्धान से दु ख होता था उनका यथार्थ ज्ञान होने से दु ख दूर होता है इसलिये जीव–अजीव को जानना । तथा दु ख का कारण तो कर्म बन्धन है और उसका कारण मिथ्यात्वादिक आस्रव हैं, यदि इनको न पहिचाने, इनको दु ख का मूल कारण न जाने तो इनका अभाव कैसे करे ? और इनका अभाव नही करे तो कर्म बन्धन कैसे नही हो ? इसलिये दु ख ही होता है , अथवा मिथ्यात्वादिक भाव है सो दु खमय है , यदि उन्हे ज्यो का त्यो नही जाने तो उनका अभाव नही करे, तब दु.खी ही रहे, इसलिये आश्रव को जान ना., तथा समस्त दुख का कारण कर्म बन्धन है, यदि उसे न जाने तो उससे मुक्त होने का उपाय नही करे, तब उसके निमित्त से दु ख हो, इसलिये बन्ध को जानना., तथा आस्रव का अभाव करना सो सवर है । उसका स्वरूप न जाने दो उसमे प्रवर्तन नही करे, तब आस्रव ही रहे, उससे वर्त्तमान तथा आगामी दु ख ही होता है, इसलिये सवर को जानना., तथा कथंचित् कर्म बन्ध का अभाव करना उसका नाम निर्जरा है , यदि उसे न जाने तो उसकी प्रवृत्ति का उद्यमी नही हो, तब सर्वथा बन्ध ही रहे जिससे दु.ख ही होता है, इसलिये निर्जरा को जानना , तथा सर्वथा सर्व कर्म बन्ध का अभाव होना उसका नाम मोक्ष है । यदि उसे नही पहिचाने तो उसका उपाय नही करे, तब संसार मे कर्म बध से उत्पन्न दु खों को ही सहे, इसलिये मोक्ष को जानना । — इस प्रकार जीवादि सात तत्त्व जानना., तथा शास्त्रादि द्वारा कदाचित् उन्हे जाने परन्तु ऐसे ही है ऐसे प्रतीत न आयी तो जानने से क्या लाभ हो ! इसलिये उनका श्रद्धान करना कार्यकारी है । ऐसे जीवादि तत्वो का सत्य श्रद्धान करने पर ही दु.ख होने का अभावरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है । इसलिये

जीवादिक पदार्थ है वे ही प्रयोजन भूत जानना तथा इनके विशेष भेद पुण्य पापादिरूप है उनका भी श्रद्धान प्रयोजनभूत है क्योकि सामान्य से विशेष बलवान् है। इस प्रकार यह पदार्थ तो प्रयोजनभूत है इसलिये इनका यथार्थ श्रद्धान करने पर तो दु ख नही होता है और इनका यथार्थ श्रद्धान किये बिना दु.ख होता है, सुख नही होता, तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ है वे अप्रयोजनभूत है, क्योकि उनका यथार्थ श्रद्धान करो या मत करो उनका श्रद्धान कुछ सुख-दु ख का कारण नही है।

यहा प्रश्न उठता है कि— पहले जीव अजीव पदार्थ कहे उनमे तो सभी पदार्थ आगये, उनके सिवा अन्य पदार्थ कौन रहे जिन्हे अप्रयोजन भूत कहा है !

समाधान— पदार्थ तो सब जीव अजीव मे गर्भित है परन्तु उन जीव अजीवो के विशेष बहुत है, उनमे से जिन विशेषो सहित जीव अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने मे स्व-पर का श्रद्धान हो, रागादिक दूर करने का श्रद्धान हो, उनसे सुख उत्पन्न हो तथा अयथार्थ श्रद्धान करने से स्व पर का श्रद्धान नही हो, रागादिक दूर करने का श्रद्धान नही हो इसलिये दु ख उत्पन्न होता है तथा जिन विशेषो सहित जीव अजीव का यथार्थ श्रद्धान करने या न करने से स्व पर का श्रद्धान हो या न हो तथा रागादि दूर करने का श्रद्धान हो या न हो कोई नियम नही है, उन विशेषो सहित जीव अजीव पदार्थ अप्रयोजन भूत जानना। जैसे–जीव और शरीर का चैतन्य, मूर्त्तत्वादि विशेषो से श्रद्धान करना तो प्रयोजन भूत है और मनुष्यादि पर्यायो का तथा घटपटादिक का अवस्था, आकारादि विशेषो से श्रद्धान करना अप्रयोजन भूत है। इसी प्रकार अन्य जानना। इस प्रकार कहे गये जो प्रयोजन भूत जीवादिक तत्त्व उनके अयथार्थ श्रद्धान का नाम मिथ्या दर्शन जानना।

अब, ससारी जीवो के मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति कैसे पायी जाती है सो कहते है। यहां वर्णन तो श्रद्धान का करना है, परन्तु जानेगा तो श्रद्धान करेगा, इसलिये जानने की मुख्यता से वर्णन करते है।

❊ मिथ्यादर्शन की प्रवृत्ति ❊

अनादि काल से जीव है वह कर्म के निमित्त से अनेक पर्याये धारण करता है। वहा पूर्व पर्यायो को छोडता है, नवीन पर्याय धारण करता है। तथा वह पर्याय एक तो स्वय आत्मा और अनन्त पुद्गल परमाणुमय शरीर उनके एक पिण्ड बन्धान रूप है; तथा जीव को उस पर्याय मे यह मै ही हूं – ऐसी अहबुद्धि होती है। तथा स्वय जीव है, उसका स्वभाव तो ज्ञानादिक है और विभाव क्रोधादिक है और पुद्गल परमाणुओं के वर्ण गध रस स्पर्शादि स्वभाव है। उन सबको अपना स्वरूप मानता है। ये मेरे है— इस प्रकार उनमे ममत्व बुद्धि होती है., तथा स्वय जीव है उसके ज्ञानादिक की तथा क्रोधादिक की अधिकता

हीनता रूप अवस्था होती है और पुद्गल परमाणुओ की वर्णादि पलटने रूप अवस्था होती है उन सबको अपनी अवस्था मानता है यह मेरी अवस्था है ऐसी ममत्व बुद्धि करता है, तथा जीव और शरीर के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है इसलिये जो क्रिया होती है उसे अपनी मानता है। अपना दर्शन ज्ञान स्वभाव है, उसकी प्रवृत्ति को निमित्त मात्र शरीर के अगरूप स्पर्शनादि द्रव्य इन्द्रिया है उन्हे एक मानकर ऐसा मानता है कि—हाथ आदि से मैंने स्पर्श किया जीभ से स्वाद लिया, नासिका से सू घा नेत्र से देखा, कानो से सुना। मनो वर्गणा रूप आठ पखुडियो के फूले कमल के आकार का हृदय स्थान मे द्रव्यमन है वह दृष्टि गम्य नही ऐसा है सो शरीर का अ ग है उसके निमित्त होने पर स्मरणादि रूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है यह द्रव्यमन को और ज्ञान को एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने मनसे जाना। तथा अपने को बोलने की इच्छा होती है तब अपने प्रदेशो को जिस प्रकार बोलना बने उस प्रकार हिलाता है तब एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध के कारण शरीर के अ ग भी हिलाते है। उनके निमित्त से भाषा वर्गणा रूप पुद्गल वचन रूप परिणमित होते है यह सबको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं बोलता हूँ तथा अपने को गमनादि क्रिया की या वस्तु ग्रहणादिक की इच्छा होती है तब अपने प्रदेशो को जैसे कार्य बने वैसे हिलाता है। वहा एक क्षेत्रावगाह के कारण शरीर के अग हिलते है तब वह कार्य बनता है, अथवा अपनी इच्छा के बिना शरीर हिलता है तब अपने प्रदेश भी हिलते है यह सबको एक मानकर ऐसा मानता है कि मैं गमनादि कार्य करता हूँ मैं वस्तु का ग्रहण करता हूँ अथवा मैंने किया है इत्यादि रूप मानता है, तथा जीव के कषायभाव हो तब शरीर की चेष्टा इनके अनुसार हो जाती है, जैसे—क्रोधादि होने पर लाल नेत्र हो जाते है हास्यादि होने पर मुखादि प्रफुल्लित हो जाते है, पुरुष वेदादि होने पर लिग काठिन्यादि हो जाते है यह सब एक मानकर ऐसा मानता है कि यह कार्य सब मैं करता हूं, तथा शरीर मे शीत उष्ण क्षुधा तृषा रोग इत्यादि अवस्थाये होती है उनके निमित्त से मोहभाव द्वारा स्वयं सुखदु ख मानता है इन सब को एक जानकर शीतादिक तथा सुखदु ख अपने को ही हुए मानता है तथा शरीर के परमाणुओ का मिलना बिछुडना आदि होने से अथवा इनकी अवस्था पलटने से या शरीर स्कन्धके खण्ड आदि होने से स्थूल कृशादिक बाल वृद्धादिक अथवा अ गहीनादिक होते है और उसके अनुसार अपने प्रदेशो का संकोच विस्तार होता है यह सबको एक मानकर मैं स्थूल हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरे इन अ गो का भंग हुआ है इत्यादि रूप मानता है., तथा शरीर की अपेक्षा जाति कुलादिक होते हैं उन्हे अपना मानकर मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, इत्यादि रूप मानता है तथा शरीर का सयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म मरण होता है उसे अपना जन्म मरण मानकर मैं उत्पन्न हुआ मैं मरूंगा ऐसा मानता है तथा शरीर

ही की अपेक्षा, अन्य वस्तुओ से नाता मानता है। जिनके द्वारा शरीर की उत्पत्ति हुई उन्हे अपना माता पिता मानता है जो शरीर को रमरग कराये उसे अपनी रमणी (स्त्री) मानता है, जो शरीर से उत्पन्न हुआ उसे अपना पुत्र मानता है जो शरीर के उपकारी हों उन्हे मित्र मानता है जो शरीर का बुरा करे उसे शत्रु मानता है., इत्यादि रूप मान्यता होती है। अधिक क्या कहे जिस तिस प्रकार से अपने को और शरीर को एक ही मानता है इन्द्रियादिक के नाम तो यहां कहे है, परन्तु इसे तो कुछ गम्य नही है। अचेत हुआ पर्याय मे अह बुद्धि धारण करता है। उसका कारण क्या है ? वह बतलाते है—

इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियज्ञान है उससे स्वय अमूर्त्तिक है वह तो भासित नही होता परन्तु शरीर मूर्त्तिक है वही भासित होता है और आत्मा किसी को आपरूप जानकर अहंबुद्धि धारण करे सो जब स्वय पृथक् भासित नहीं हुआ तब उनके समुदाय रूप पर्याय में ही अहबुद्धि धारण करता है., तथा अपने और शरीर के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बहुत है इसलिये भिन्नता भासित नही होती., और जिस विचार द्वारा भिन्नता भासित होती है वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नही सकती इसलिये पर्याय में ही अहबुद्धि पाई जाती है., तथा मिथ्या दर्शन से यह जीव कदाचित् बाह्य सामग्री का संयोग होने पर उसे भी अपनी मानता है। पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़े, महल, किंकर आदि प्रत्यक्ष अपने से भिन्न और सदाकाल अपने आधीन नही ऐसे स्वय को भासित होते है तथापि उनमे ममकार करता है। पुत्रादिक में ये है सो मै ही हूँ ऐसी भी कदाचित् भ्रमबुद्धि होती है., तथा मिथ्यादर्शन से शरीरादिक का स्वरूप अन्यथा ही भासित होता है। अनित्य को नित्य मानता है भिन्न को अभिन्न मानता है दु:ख के कारण को सुख का कारण मानता है दु:ख को सुख मानता है इत्यादि विपरीत भासित होता है। इस प्रकार जीव अजीव तत्वो का यथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है,

तथा इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व कषायादि भाव होते है उनको अपना स्वभाव मानता है कर्मोपाधि से हुए नही जानता। दर्शन ज्ञान उपयोग और ये आस्रव भाव उनको एक मानता है, क्योंकि इनका आधार भूत तो एक आत्मा है और इनका परिणमन एक ही काल मे होता है, इसलिये इसे भिन्नपना भासित नही होता और भिन्नपना भासित होने का कारण जो विचार है सो मिथ्यादर्शन के बल से हो नही सकता., तथा ये मिथ्यात्व कषाय भाव आकुलता सहित है इसलिये वर्त्तमान दु खमय है और कर्मबन्ध के कारण हैं इसलिये आगामी काल मे दु ख उत्पन्न करेंगे-ऐसा उन्हे नही मानता और भला जान इन भावो रूप होकर स्वय प्रवर्तता है., तथा वह दु खी तो अपने इन मिथ्यात्व कषाय भावों से होता है और वृथा ही औरो को दु.ख उत्पन्न करने वाले मानता है, जैसे-दु खी तो

मिथ्या श्रद्धान से होता है, परन्तु अपने श्रद्धान के अनुसार जो पदार्थ न प्रवर्ते उसे दु ख दायक मानता है., तथा दुःखी तो क्रोध से होता है परन्तु जिससे क्रोध किया हो उसको दु ख दायक मानता है। दु खी तो लोभ से होता है परन्तु इष्ट वस्तु की अप्राप्ति को दु ख दायक मानता है इसी प्रकार अन्यत्र जानना, तथा इन भावो का जैसा फल आता है वैसा भासित नही होता। इनकी तीव्रता से नरकादि होते है तथा मन्दता से स्वर्गादि होते है, वहा अधिक-कम आकुलता होती है। ऐसा भासित नही होता है इसलिये वे बुरे नही लगते। कारण यह है कि वे अपने किये भासित होते है इसलिये उनको बुरे कैसे माने? इस प्रकार आस्रवतत्व का अयथार्थज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है., तथा इन आस्रव भावो से ज्ञानदर्शन की हीनता होना, मिथ्यात्व कषायरूप परिणमन होना, चाहा हुआ न होना, सुख दु ख का कारण मिलना, शरीर संयोग रहना गति जाति शरीरादिक उत्पन्न होना, नीच उच्च कुलका पाना होता है। इनके होने में मूल कारण कर्म है उसे यह पहचानता नही है, क्योकि वह सूक्ष्म है, इसे दिखाई नही देता इसलिये इनके होने मे या तो अपने को कर्त्ता मानता है या किसी और को कर्त्ता मानता है तथा अपना या अन्य का कर्त्ता पना भासित न हो तो मूढ होकर भवितव्य को मानता है। इस प्रकार बन्धतत्व का अयथार्थज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है,

तथा आश्रव का अभाव होना सो संवर है। जो आश्रव को यथार्थ नही पहिचाने उसे सवर का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो! जैसे—किसी के अहित रूप आचरण है, उसे वह अहित रूप भासित न हो तो उनके अभाव को हितरूप कैसे माने! जैसे जीव की आस्रव की प्रवृत्ति है, इसे वह अहित रूप भासित न हो तो उसके अभाव रूप सवर को कैसे हित रूप माने? तथा अनादि से इस जीव को आस्रव भाव ही हुआ है, सवर कभी नही हुआ इसलिये सवर का होना भासित नही होता। संवर होने पर सुख होता है वह भासित नही होता। संवर से आगामी काल मे दुःख नही होगा वह भासित नही होगा वह भासित नही होता। इसलिये आस्रव को तो सवर करता नही है और उन अन्य पदार्थो को दु ख दायक मानता है, उन्ही के न होने का उपाय किया करता है, परन्तु वे अपने आधीन नही है। वृथा ही खेद खिन्न होता है। इस प्रकार सवर तत्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है,

तथा वन्ध का एक देश अभाव होना सो निर्जरा है। जो वन्ध को यथार्थ नही पहिचाने उसे निर्जरा का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो? जैसे— भक्षण किये हुए विष आदिक से दुःख का होना न जाने तो उसे नष्ट करने के उपाय को कैसे भला जाने! उसी प्रकार बन्धन रूप किये कर्मो से दुःख होना न जाने तो उनको निर्जरा के उपाय को

कैसे भला जाने? तथा इस जीव को इन्द्रियो द्वारा सूक्ष्मरूप जो कर्म उनका तो ज्ञान होता नही है और उनमे दु खो के कारणभूत शक्ति है उसका भी ज्ञान नही है, इसीलिये अन्य पदार्थो के ही निमित्त को दु ख दायक जानकर उनका ही अभाव करने का उपाय करता है परन्तु वे अपने आधीन नही हैं; तथा कदाचित् दु ख दूर करने के निमित्त कोई इष्ट संयोगादि कार्य बनता है तो वह भी कर्म के अनुसार बनता है इसलिये उनका उपाय करके वृथा ही खेद करता है। इस प्रकार निर्जरातत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है;

तथा सर्व कर्म बन्ध के अभाव का नाम मोक्ष है। जो बन्ध को तथा बन्धजनित सर्व दुःखों को नही पहिचाने उसको मोक्ष का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ? जैसे—किसी को रोग है वह उस रोग को तथा रोग जनित दुःख को न जाने तो सर्वथा रोग के अभाव को कैसे भला जाने? उसी प्रकार इसके कर्म बन्धन है यह उस कर्म बन्धन को तथा बन्धजनित दु ख को न जाने तो सर्वथा बन्ध के अभाव को कैसे भला जाने ? तथा इस जीव का कर्मों का और उनकी शक्ति का तो ज्ञान है नही इसीलिये बाह्य पदार्थो को दु ख का कारण जानकर उनका सर्वथा अभाव करने का उपाय करता है, तथा यह तो जानता है कि सर्वथा दु ख दूर होने का कारण इष्ट सामग्रियो को जुटाकर सर्वथा सुखी होना है, परन्तु ऐसा कदापि नही हो सकता। यह वृथा ही खेद करता है। — इस प्रकार मिथ्यादर्शन से मोक्ष तत्व का अयथार्थ ज्ञान होने से अयथार्थ श्रद्धान है। इस प्रकार यह जीव मिथ्यादर्शन के कारण जीवादि सात तत्वों का जो कि प्रयोजन भूत है इनका अयथार्थ श्रद्धान करता है., तथा पुण्य पाप है सो इन्ही के विशेष है और इन पुण्य पाप की एक जाति है, तथापि मिथ्यादर्शन से पुण्य को भला जानता है, पाप को बुरा जानता है। पुण्य से अपनी इच्छानुसार किंचित् कार्य बने, उसको भला जानता है और पाप से इच्छानुसार कार्य नही

❋ मिथ्याज्ञान का स्वरूप ❋

मिथ्याज्ञान का स्वरूप कहते है प्रयोजन भूत जीवादि तत्त्वो को अयथार्थ जानने का नाम मिथ्या ज्ञान है। उसके द्वारा उनको जानने मे सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय होता है। वहां, "ऐसे है कि ऐसे है"! —इस प्रकार परस्पर विरुद्धता सहित दो रूप ज्ञान उसका नाम संशय है। जैसे "मै आत्मा हू कि शरीर हूँ ?" ऐसा जानना। तथा "ऐसा ही है" इस प्रकार वस्तु स्वरूप से विरुद्धता सहित एक रूप ज्ञान उसका नाम विपर्यय है जैसे—"मै शरीर हूँ" ऐसा जानना तथा कुछ है" ऐसा निर्धार रहित विचार करना उसका नाम अनध्यवसाय है। जैसे— "मै कोई हू" —ऐसा जानना। इस प्रकार प्रयोजन भूत जीवादि तत्त्वो मे सशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप जो जानना हो उसका नाम मिथ्याज्ञान है, तथा अप्रयोजन भूत पदार्थों को यथार्थ जानें या अयथार्थ जाने उसकी अपेक्षा मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम नही हैं। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि रस्सी को रस्सी जाने तो सम्यग्ज्ञान नाम नही होता, और सम्यग्दृष्टि रस्सी को सांप जाने तो मिथ्याज्ञान नाम नही होता। यहा प्रश्न है कि –प्रत्यक्ष सच्चे झूठे–ज्ञान को सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान कैसे न कहे ?

समाधान—जहा जानने ही का सच और झूठ का निर्धार करने का – प्रयोजन हो वहां तो कोई पदार्थ है उसके सच–झूठ जानने की अपेक्षा ही सम्यग्ज्ञान – मिथ्याज्ञान नाम दिया जाता है। जैसे-प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण के वर्णन मे कोई पदार्थ होता है, उसके सच्चे जानने रूप सम्यग्ज्ञान का ग्रहण किया है और सशयादि रूप जानने को अप्रमाण रूप मिथ्याज्ञान कहा है, तथा यहा संसार मोक्ष के कारण भूत सच झूठ जानने का निर्धार करना है, वहां रस्सी सर्पादिक का यथार्थ या अन्यथा ज्ञान ससार मोक्ष का कारण नही है इसलिये उनकी अपेक्षा यहा सम्यग्ज्ञान – मिथ्याज्ञान नही कहे है। यहा तो प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वो के ही जानने की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान कहे है। इसी अभिप्राय से सिद्धान्त मे मिथ्यादृष्टि के तो सर्व जानने को मिथ्या ज्ञान ही कहा और सम्यग्दृष्टि के सर्व जानने को सम्यग्ज्ञान कहा।

यहा प्रश्न है कि—मिथ्यादृष्टि को जीवादि तत्वो का अयथार्थ जानना है, उसे मिथ्याज्ञान कहो, परन्तु रस्सी, सर्पादिक के यथार्थ जानने को तो सम्यग्ज्ञान कहो !

समाधान–मिथ्यादृष्टि जानता है, वहा उसको सत्ता असत्ता का विशेष नही है, इसलिये कारण विपर्यय व स्वरूप विपर्यय व भेदाभेद विपर्यय को उत्पन्न करता है। वहा जिसे जानता है उसके मूलकारण को नही पहिचानता अन्यथा कारण मानता है वह तो कारण विपर्यय है, तथा जिसे जानता है उसके मूलवस्तुत्व रूप स्वरूप को नही पहिचानता अन्यथा स्वरूप मानता है वह स्वरूप विपर्यय है., तथा जिसे जानता है उसे यह इनसे

भिन्न है या इनसे अभिन्न है – ऐसा नही पहिचानता अन्यथा भिन्न या अभिन्नपना मानता है सो भेदाभेद विपर्यय है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के जानने मे विपरीतता पायी जाती है., जैसे–मतवाला माता को पत्नी मानता है, पत्नी को माता मानता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के अन्यथा जानना होता है., तथा जैसे किसी काल में मतवाला माता को माता और पत्नी को पत्नी भी जाने तो भी उसके निश्चय रूप निर्धार से श्रद्धान सहित जानना नही होता इसलिये उसको यथार्थ ज्ञान नही कहा जाता । उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि किसी काल मे किसी पदार्थ को सत्य भी जाने तो भी उसके निश्चयरूप निर्धार से श्रद्धान सहित जानना नही होता., अथवा सत्य भी जाने परन्तु उनसे अपना प्रयोजन अयथार्थ ही साधता हैं इसलिये उसके सम्यग्ज्ञान नही कहा जाता । इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहते है ।

यहां प्रश्न है कि— इस मिथ्याज्ञान का कारण कौन है ?

समाधान — मोह के उदय से जो मिथ्यात्व भाव होता है सम्यकत्व नहीं होता वह इस मिथ्याज्ञान का कारण है । जैसे विष के सयोग से भोजन को भी विषरूप कहते है वैसे मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान है सो मिथ्याज्ञान का नाम पाता है ।

यहा कोई कहे कि — ज्ञानावरण का निमित्त क्यों नही कहते !

समाधान — ज्ञानावरण के उदय से तो ज्ञान के अभावरूप अज्ञानभाव होता है तथा उसमे क्षयोपशम से किंचित् ज्ञानरूप मति आदि ज्ञान होता है यदि इनमें से किसी को मिथ्याज्ञान किसी को सम्यग्ज्ञान कहे तो यह दोनों ही भाव मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्दृष्टि के पाये जाते है, इसलिये उन दोनो के मिथ्याज्ञान तथा सम्यग्ज्ञान का सद्भाव हो जायेगा और वह सिद्धान्त मे विरुद्ध होता है, इसलिये ज्ञानावरण का निमित्त नही बनता ।

यहा फिर पूछते है कि — रस्सी, सर्पादिक के अयथार्थ यथार्थ ज्ञान कारण कौन है ? उसही को जीवादि तत्वो के अयथार्थ यथार्थ ज्ञान का कारण कहो !

उत्तर — जानने में जितना अयथार्थपना होता है उतना तो ज्ञानावरण के उदय से होता है और जो यथार्थपना होता है उतना ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है । जैसे कि रस्सी को सर्प जाना वहा यथार्थ जानने की शक्ति का थानक (बाधक) उदय है इसलिये अयथार्थ जानता है, तथा रस्सी को जाना वहां यथार्थ जानने की शक्ति का कारण क्षयोपशम है इसलिये यथार्थ जानता है उसी प्रकार जीवादि तत्वों का यथार्थ जानने की शक्ति होने या न होने में तो ज्ञानावरण ही का निमित्त हैं, परन्तु जैसे किसी पुरुष को क्षयोपशम से दु ख के तथा सुख के कारण भूत पदार्थों को यथार्थ जानने की शक्ति हो वहा जिसको असाता-वेदनीयका उदय हो वह दु:ख के कारणभूत जो हो उन्ही का वेदन करता है, सुख के कारण-

भूत पदार्थों का वेदन नही करता। यदि सुख के कारण भूत पदार्थो का वेदन करे तो सुखी हो जाये। असाता का उदय होने से हो नही सकता। इसलिये यहां दु.ख के कारणभूत और सुख के कारणभूत पदार्थो के वेदन मे ज्ञानावरण का निमित्त नही है, असाता-साता का उदय ही कारण भूत है। उसी प्रकार जीव में प्रयोजन भूत जीवादिकतत्व तथा अप्रयोजनभूत अन्य को यथार्थ जानने की शक्ति होती है वहां जिसके मिथ्यात्व का उदय होता है वह तो अप्रयोजनभूत हो उन्ही का वेदन करता है, जानता हैं, प्रयोजनभूत को नही जानता यदि प्रयोजनभूत को जाने तो सम्यग्दर्शन होजाय परन्तु वह मिथ्यात्व का उदय होने पर हो नही सकता, इसलिये यहा प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थो को जानने मे ज्ञानावरण का निमित्त नही है, मिथ्यात्व का उदय अनुदय ही कारणभूत है। यहां ऐसा जानना कि जहाँ एकेन्द्रियादिक में जीवादि तत्त्वो को यथार्थ जानने की शक्ति ही न हो वहां तो ज्ञानावरण का उदय और मिथ्यात्व के उदय से हुआ मिथ्यादर्शन इन दोनो का निमित्त है। तथा जहाँ सज्ञी मनुष्यादिक मे क्षयोपशमादि लब्धि होने से शक्ति हो और न जाने वहा मिथ्यात्व के उदय का ही निमित्त जानना। इसलिये मिथ्याज्ञान का मुख्य कारण ज्ञानावरण को नही कहा, मोह के उदय से हुआ भाव वही कारण कहा है।

यहां फिर प्रश्न है कि—ज्ञान होने पर श्रद्धान होता है इसलिये पहले मिथ्याज्ञान कहो बादमे मिथ्यादर्शन कहो!

समाधान—है तो ऐसा ही जाने बिना श्रद्धन कैसे हो? परन्तु मिथ्या और सम्यक् ऐसी संज्ञा ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यक्दर्शन के निमित्त से होती है। जैसे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थो को जानते तो समान है [परन्तु] वही जानना मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसी प्रकार सर्व मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन कारण जानना। इसलिये जहां सामान्यतया ज्ञान श्रद्धान का निरूपण हो वहां तो ज्ञान कारण भूत है, उसे प्रथम कहना और श्रद्धान कार्यभूत है, उसे बाद मे कहना। तथा जहाँ मिथ्यासम्यक्ज्ञान श्रद्धान का निरूपण हो वहां श्रद्धान कारण भूत है, उसे पहले कहना और ज्ञान कार्यभूत है उसे बाद मे कहना।

फिर प्रश्न है कि-ज्ञान श्रद्धान तो युगपत् होते है अनमें कारण कार्यपना कैसे कहते हो?

समाधान—वह हो तो वह हो – इस अपेक्षा कारण कार्यपना होता है। जैसे-दीपक और प्रकाश युगपत् होते है, तथापि दीपक हो तो प्रकाश हो, इसलिये दीपक कारण है प्रकाश कार्य है उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान के है। अथवा मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान के व सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के कारण कार्यपना जानना।

फिर प्रश्न है कि— मिथ्यादर्शन के संयोग से ही मिथ्याज्ञान नाम पाता है, तो एक

मिथ्यादर्शन को ही ससार का कारण कहना था, मिथ्याज्ञान को अलग किस लिये कहा !

समाधान—ज्ञान ही की अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के क्षयोपशम से हुए यथार्थ ज्ञान में कुछ विशेष नही है, तथा वह ज्ञान केवल ज्ञान में भी जा मिलता है, जैसे नदी समुद्र मे मिलती है। इसलिये ज्ञान में कुछ दोष नहीं है, परन्तु क्षयोपशम ज्ञान जहां लगता है वहां एक ज्ञेय मे लगता है और इस मिथ्यादर्शन के निमित्त से वह ज्ञान अन्य ज्ञेयों में तो लगता है, परन्तु प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने में नही लगता, सो यह ज्ञान में दोष हुआ, इसे मिथ्या ज्ञान कहा। तथा जीवादि तत्त्वो का यथार्थ श्रद्धान नही होता सो यह श्रद्धान मे दोष हुआ। इसे मिथ्यादर्शन कहा। ऐसे लक्षणभेद से मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान को भिन्न कहा। इस प्रकार मिथ्याज्ञान का स्वरूप कहा। इसी को तत्व ज्ञान के अभाव में अज्ञान कहते है और अपना प्रयोजन नही साधता इसलिये इसी को कुज्ञान कहते है।

※ मिथ्या चारित्र का स्वरूप ※

अब मिथ्या चारित्र का स्वरूप कहते है—चारित्र मोह के उदय से जो कषायभाव होता है उसका नाम मिथ्याचारित्र है; यहा अपने स्वभाव रूप प्रवृत्ति नही है, झूंठी पर स्वभावरूप प्रवृत्ति करना चाहता है सो बनती नही है, इसलिये इसका नाम मिथ्याचारित्र है। वही बतलाते है :—अपना स्वभाव तो द्रष्टा ज्ञाता है, सो स्वय केवल देखने वाला जानने वाला तो रहता नही है, जिन पदार्थो को देखता जानता है उनमें इष्ट अनिष्टपना मानता है, इसलिये रागी द्वेषी होकर किसी का सद्भाव चाहता है, किसी का अभाव चाहता है., परन्तु उनका सद्भाव या अभाव इसका किया हुआ होता नही, क्योकि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कर्त्ता हर्त्ता है नही, सवद्रव्य अपने अपने स्वभाव रूप परिणमित होते है, यह वृथा ही कषाय भाव से आकुलित होता है, तथा कदाचित् जैसा यह चाहे वैसा ही पदार्थ परिणमित हो तो वह अपने परिणमाने से तो परिणमित हुआ नही है, जैसे-गाडी चलती है और बालक उसे धक्का देकर ऐसा माने कि मै इसे चला रहा हूँ तो वह असत्य मानता है, यदि उसके चलाने से चलती होतो जब वह नही चलती तब क्यो नही चलाता! उसी प्रकार पदार्थ परिण मित होते है और यह जीव उनका अनुसरण करके ऐसा मानता है कि इनको मैं ऐसा परि-णमित कर रहा हू, परन्तु वह असत्य मानता है यदि उसके परिणमाने से परिणमित होते है तो वे वैसे परिणमित नही होते तब क्यो नही परिणमाता ? सो जैसा स्वय चाहता है वैसा तो पदार्थ का परिणमन कदाचित् ऐसे ही बन जाय तब होता है। बहुत परिणमन तो जिन्हे स्वय नही चाहता वैसे होते देखे जाते है। इसलिये यह निश्चय है कि अपने करने से किसी का सद्भाव या अभाव होता नही., तथा यदि अपने करने से सद्भाव —

अभाव होते ही नही तो कषाय भाव करने से क्या हो ? केवल स्वय ही दुःखी होता है जैसे–किसी विवाहादि कार्य मे जिसका कुछ भी कहा नही होता, वह यदि स्वय कर्त्ता होकर कषाय करे तो स्वय ही दुःखी होता है उसी प्रकार जानना। इसलिये कषायभाव करना ऐसा है जैसे जल का बिनोला कुछ कार्यकारी नही है। इसलिये इन कषायो की प्रवृत्ति को मिथ्या चारित्र कहते है, तथा कषायभाव होते है सो पदार्थो को इष्ट अनिष्ट मानने पर होते है, सो इष्ट अनिष्ट मानना भी मिथ्या है, क्योकि कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है नही। कैसे? जो कहते है।

※ इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या कल्पना ※

जो अपने को सुखदायक-उपकारी हो उसे 'इष्ट' कहते है, अपने को दु खदायक-अनुपकारी हो उसे 'अनिष्ट' कहते है। लोक मे सर्व पदार्थ अपने अपने स्वभाव के ही कर्त्ता है, कोई किसी को सुख दु खदायक, उपकारी–अनुपकारी है नही। यह जीव ही अपने परिणामो मे उन्हे सुखदायक उपकारी मान कर इष्ट जानता है अथवा दु खदायक अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है, क्योकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है किसी को अनिष्ट लगता है। जैसे–जिसे वस्त्र न मिलता हो उसे मोटा भी वस्त्र इष्ट लगता है और जिसे पतला वस्त्र मिलता है उसे वह अनिष्ट लगता है। सूकरादिको को विष्टा इष्ट लगती है तथा देवादिको तथा(मनुष्यो)को अनिष्ट लगती है। किसी को मेघवर्षा इष्ट लगती है, किसी को अनिष्ट लगती है। इसी प्रकार अन्य जानना, तथा इसी प्रकार एक जीव को भी एक ही पदार्थ किसी काल मे इष्ट लगता है किसी काल मे अनिष्ट लगता है., तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है इत्यादिक जानना., जैसे–शरीर इष्ट है परन्तु रोगादि सहित हो तब अनिष्ट हो जाता है। पुत्रादिक इष्ट है परन्तु कारण मिलने पर अनिष्ट होते देखे जाते है—इत्यादि जानना, तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से अनिष्ट मानता है वह भी इष्ट होता देखते है, जैसे–गाली अनिष्ट लगती है, परन्तु ससुराल मे इष्ट लगती है इत्यादि जानना। इस प्रकार पदार्थ मे इष्ट अनिष्टपना है नही। यदि पदार्थ मे इष्ट अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता वह अनिष्ट ही होता परन्तु ऐसा है नही। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हे इष्ट अनिष्ट मानता है सो यह कल्पना झूठी है,

तथा पदार्थ सुखदायक उपकारी या दु खदायक अनुपकारी होता है सो अपने आप नही होता, परन्तु पुण्य पाप के उदयानुसार होता है जिसके पुण्य का उदय होता है उसे पदार्थो का सयोग सुखदायक उपकारी होता है और जिसके पाप का उदय होता है उसे पदार्थो का सयोग दु खदायक, अनुपकारी होता है ऐसा प्रत्यक्ष देखते है। किसी को स्त्री

पुत्रादिक सुखदायक है किसी को दुःखदायक है, किसी को व्यापार करने से लाभ है किसी को नुकसान है किसी के शत्रु भी दास हो जाते है किसी के पुत्र भी अहितकारी होता है। इसलिये जाना जाता है कि पदार्थ अपने आप इष्ट अनिष्ट नही होते परन्तु कर्मोदय के अनुसार प्रवर्तते है. जैसे-किसी के नौकर अपने स्वामी के कहे अनुसार किसी पुरुष को इष्ट अनिष्ट उत्पन्न करे तो वह कुछ नौकरो का कर्त्तव्य नही है उनके स्वामी का कर्तव्य है। कोई नौकरो को ही इष्ट अनिष्ट माने तो झूठ है। उसी प्रकार कर्म के उदय से प्राप्त हुए पदार्थ कर्म के अनुसार जीव को इष्ट अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कोई पदार्थो का कर्तव्य नही है, कर्म का कर्त्तव्य है। यदि पदार्थो को ही इष्ट अनिष्ट माने तो झूठ है इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि पदार्थों को इष्ट अनिष्ट मानकर उनमें राग द्वेष करना मिथ्या है।

यहा कोई कहे कि बाह्य वस्तुओं का सयोग कर्म निमित्त से बनता है, तब कर्मो में तो राग द्वेष करना ?

समाधान—कर्म तो जड है, उनके कुछ सुख दुःख देने की इच्छा नही है; तथा वे स्वयमेव तो कर्मरूप परिणमित होते नही है इस जीव के भावों के निमित्त से कर्मरूप होते है; जैसे-कोई अपने हाथ से पत्थर लेकर अपना सिर फोडले तो पत्थर का क्या दोष है ? उसी प्रकार जीव अपने रागादिक भावो से पुद्गल कर्म रूप परिणमित करके अपना बुरा करे तो कर्म का क्या दोष है ? इसीलिये कर्म से भी रागद्वेष करना मिथ्या है। इस प्रकार पर द्रव्यो को इष्ट अनिष्ट मानकर रागद्वेष करना मिथ्या है। यदि परद्रव्य इष्ट अनिष्ट होते और वहा राग द्वेष करता तो मिथ्या नाम न पाता वे तो इष्ट अनिष्ट है नही और यह इष्ट अनिष्ट मानकर राग द्वेष करता है इसलिये इस परिणमन को मिथ्या कहा है। मिथ्यारूप जो परिणमन उसका नाम मिथ्याचारित्र है। अब इस जीव के राग द्वेष होते है उनका विधान और विस्तार बतलाते है —

* रागद्वेष की प्रवृत्ति *

प्रथम तो इस जीव की पर्याय मे अहबुद्धि है सो अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है, तथा इस शरीर मे अपने को सुहाये ऐसी इष्ट अवस्था होती है उसमे राग करता है, अपने को न सुहाये ऐसी अनिष्ट अवस्था होती है उसमे द्वेष करता है., तथा शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थो मे तो राग करता है और उसके घातको मे द्वेष करता है., तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था के कारण भूत बाह्य पदार्थो मे तो द्वेष करत है और उसके घातको मे राग करता है तथा इनमे जिन बाह्य पदार्थो से राग करता है उनके कारण भूत अन्य पदार्थो मे राग करता है और उनके घातको मे द्वेष करता

है तथा जिन बाह्य पदार्थों से द्वेष करता है उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में द्वेष करता है और उनके घातको में राग करता है; तथा इनमें भी जिनसे राग करता है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों मे राग व द्वेष करता है; तथा जिनसे द्वेष है उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में द्वेष व राग करता है। इसी प्रकार राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्त्तती है, तथा कितने ही बाह्य पदार्थों को शरीर को जो अवस्था के कारण नही है उनमें भी रागद्वेष करता है; जैसे–गाय आदि को बच्चो से कुछ शरीर का इष्ट नही होता तथापि वहां राग करती है और कुत्ते आदि को बिल्ली आदि से कुछ शरीर का अनिष्ट नही होता तथापि वहा वे द्वेष करते है, तथा कितने ही वर्ण, गध शब्दादि के अवलोकनादिक से शरीर का इष्ट नही होता तथापि उनमे राग करता है। कितने ही वर्णादिक के अवलोकनादिक से शरीर को अनिष्ट नही होता तथापि उनमें द्वेष करता है। इस प्रकार भिन्न बाह्य पदार्थों मे राग द्वेष होता है, तथा इनमे भी जीव से राग करता है उनके कारण और घातक अन्य पदार्थों मे राग व द्वेप करता है और जिनसे द्वेष करता है उनके कारण और घातक अन्य पदार्थों मे द्वेष व राग करता है। इसी प्रकार यहा भी राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।

यहा प्रश्न है कि–अन्य पदार्थों मे राग द्वेष करने का प्रयोजन जाना परन्तु प्रथम ही मूलभूत शरीर की अवस्था मे तथा जो शरीर की अवस्था को कारण नही है उन पदार्थो मे इष्ट-अनिष्ट मानने का प्रयोजन क्या है ?

समाधान–जो प्रथम मूलभूत शरीर की अवस्था आदिक है उनमे भी प्रयोजन विचार कर राग-द्वेष करे तो मिथ्याचारित्र नाम क्यो पाये ? उनमे बिना ही प्रयोजन राग-द्वेष करता है और उन्ही के अर्थ अन्य से राग द्वेष करता है, इसलिये सर्व राग-द्वेष परिणति का नाम मिथ्याचारित्र कहा है।

यहा प्रश्न है कि–शरीर की अवस्था एव बाह्य पदार्थो मे इष्ट-अनिष्ट मानने का प्रयोजन तो भासित नही होता और इष्ट-अनिष्ट माने बिना रहा भी नही जाता, सो कारण क्या है ?

समाधान–इस जीव के चारित्र मोह के उदय से राग-द्वेष भाव होते है और वे भाव किसी पदार्थ के आश्रय विना हो नही सकते, जैसे-राग हो तो किसी पदार्थ मे होता है, द्वेप हो तो किसी पदार्थ मे होता है। इस प्रकार उन पदार्थो के और राग-द्वेष के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहा विशेष इतना है कि कितने ही पदार्थ तो मुख्यरूप से राग के कारण है और कितने ही पदार्थ मुख्यरूप से द्वेप के कारण है। कितने ही पदार्थ किसी को किसी काल मे राग के कारण होते है तथा किसी को किसी काल में द्वेप के कारण होते है। यहां इतना जानना एक कार्य होने मे अनेक कारण चाहिये सो रागादिक

होने में अन्तरंग कारण मोह का उदय है वह तो बलवान् है और बाह्य कारण पदार्थ है वह बलवान् नही है। महामुनियो को मोह मन्द होने से बाह्य पदार्थो का निमित्त होने पर भी राग द्वेष उत्पन्न नही होते। पापी जीवों को मोह तीव्र होने से बाह्य कारण न होने पर भी उनके सकल्प ही से राग द्वेष होते है। इसलिये मोह का उदय होने से रागादिक होते है वहां जिस बाह्य पदार्थ के आश्रय में रागभाव होना हो उसके बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजन सहित इष्ट बुद्धि होती है., तथा जिस पदार्थ के आश्रय से द्वेष भाव होता हो उसमे बिना ही प्रयोजन अथवा कुछ प्रयोजन सहित अनिष्ट बुद्धि होती है। इसलिये मोह के उदय से पदार्थो को इष्ट अनिष्ट माने बिना रहा नही जाता। इस प्रकार पदार्थो मे इष्ट अनिष्ट बुद्धि होने पर जो राग द्वेष रूप परिणमन होता हैं उसका नाम मिथ्याचारित्र जानना., तथा इन राग द्वेष ही के विशेष क्रोध, मान तथा लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेदरूप कषाय भाव है वे सब इस मिथ्याचारित्र ही के भेद जानना., तथा इस मिथ्याचारित्र मे स्वरूपाचरण चारित्र का अभाव है इसलिये इसका नाम अचारित्र भी कहा जाता है., तथा यहा वे परिणाम मिटते नही है अथवा विरक्त नही है इसलिये इसी का नाम असयम कहा जाता है या अविरति कहा जाता है क्योकि पाच इन्द्रिया और मन के विषयो मे तथा पचस्थावर और त्रस की हिसा मे स्वच्छन्दपना, हो तथा उनके त्याग रूप भाव नही हो, वही बारह प्रकार का असंयम या अविरति है। कषाय भाव होने पर ऐसे कार्य होते है इसलिये मिथ्या चारित्र का नाम असयम या अविरति जानना., तथा इसी का नाम अव्रत जानना क्योकि हिंसा, अनृत, अस्तेय, अब्रह्म, परिग्रह इन पाप कार्यो मे प्रवृत्ति का नाम अव्रत है। इनका मूलकारण प्रमत्तयोग कहा है। प्रमत्त योग है वह कषायमय है इसलिये मिथ्या चारित्र का नाम अव्रत भी कहा जाता है। ऐसे मिथ्या चारित्र का स्वरूप कहा। इस प्रकार इस ससारी जीव के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या चारित्ररूप परिणमन अनादि से पाया जाता है। ऐसा परिणमन एकन्द्रियादि असज्ञी पर्यंत तो सर्व जीवोके पाया जाता है., तथा सज्ञी पचेन्द्रियो मे सम्यग्दृष्टि को छोडकर अन्य सर्व जीवों के ऐसा ही परिणमन पाया जाता है। परिणमन मे जैसा जहा संभव हो वैसा वहा ही जानना। जैसे—एकेन्द्रियादिको को इन्द्रियादिक की हीनता, अधिकता पायी जाती है और है और धन पुत्रादिक का सम्बन्ध मनुष्यादिक को ही पाया जाता है। इन्हीं के निमित्त से मिथ्यादर्शनादिका वर्णन किया है। उसमे जैसे विशेष सभव हो वैसा जानना। तथा एकेन्द्रियादिक जीव इन्द्रिय, शरीरादिक का नाम नही जानते, परन्तु उस नाम के अर्थरूप जो भाव है उसमे पूर्वोक्त प्रकार से परिणमन पाया जाता है जैसे—मै स्पर्शन से स्पर्श करता हूँ। शरीर मेरा है ऐसा नाम नही जानता, तथापि उसके अर्थरूप जो भाव है उसरूप परिणमित

होता है., तथा मनुष्यादिक कितने ही नाम भी जानते है और उसमे भाव रूप परिणमन करते है—इत्यादि विशेष सभव है उन्हे जान लेना ।

ऐसे ये मिथ्यादर्शनादिकभाव जीव के अनादि से पाये जाते है, नवीन ग्रहण नही किये है देखो इसकी महिमा, कि जो पर्याय धारण करता है वहा बिना ही सिखाये मोह के उदय से स्वयमेव ऐसा ही परिणमन होता है, तथा मनुष्यादिक को सत्य विचार होने के कारण मिलने पर भी सम्यक् परिणमन नही होता, और श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, वे बारम्बार समझाये, परन्तु यह कुछ विचार नही करता । तथा स्वयं को भी प्रत्यक्ष भासित हो वह नही मानता और अन्यथा ही मानता है । किस प्रकार ? सो कहते है :—

मरण होने पर शरीर आत्मा प्रत्यक्ष भिन्न होते है । एक शरीर को छोडकर आत्मा अन्य शरीर धारण करता है, वहा व्यन्तरादिक अपने पूर्वभवका सम्बन्ध प्रगट करते देखे जाते है, परन्तु इसको शरीर से भिन्न बुद्धि नही हो सकती । स्त्री–पुत्रादिक अपने स्वार्थ के सगे प्रत्यक्ष देखे जाते है, उनका प्रयोजन सिद्ध न हो तभी विपरीत होते दिखाई देते है, यह उनमें ममत्व करता है और उनके अर्थ नरकादि मे गमन के कारण भूत नाना प्रकार के पाप उत्पन्न करता है । धनादिक सामग्री किसी की किसी के होती देखी जाती है, यह उन्हे अपनी मानता है, तथा शरीर की अवस्था और बाह्य सामग्री स्वयमेव उत्पन्न होती तथा विनष्ट होती दिखाई देती है, यह वृथा स्वय कर्त्ता होता है । वहां जो कार्य अपने मनोरथ के अनुसार होता है उसे तो कहता है मैंने किया और अन्यथा हो तो कहता है मैं क्या करूं ? ऐसा ही होना था अथवा ऐसा क्यो हुआ ? ऐसा मानता है., परन्तु या तो सर्व का कर्त्ता ही होना था या अकर्त्ता रहना था सो विचार नही है, तथा मरण अवश्य होगा ऐसा जानता है परन्तु मरण का निश्चय करके कुछ कर्त्तव्य नही करता इस पर्याय सम्बन्धी ही यत्न करता है, तथा मरण का निश्चय करके कभी तो कहता है कि–मैं मरूंगा और शरीर को जला देगे । कभी कहता है – मुझे जला देंगे । कभी कहता है – यश रहा तो हम जीवित ही है । कभी कहता है – पुत्रादिक रहेगे तो मैं ही जीउगा । इस प्रकार पागल की भाति बकता है, कुछ सावधानी नही है, तथा अपने को परलोक मे जाना है यह प्रत्यक्ष जानता है उसके तो इष्ट अनिष्ट का यह कुछ भी उपाय नही करता और यहा पुत्र पौत्र आदि मेरे संगति मे (सन्तति मे ?) बहुत काल तक इष्ट बना रहे – अनिष्ट न हो ऐसे अनेक उपाय करता है । किसी के परलोक जाने के बाद इस लोक की सामग्री द्वारा उपकार हुआ देखा नही है, परन्तु इसको परलोक होने का निश्चय होने पर भी इस लोक की सामग्री का ही पालन रहता है., तथा विषय कषायो की परिणति से तथा हिंसादि कार्यो द्वारा स्वय दुःखी होता है खेदखिन्न होता है, दूसरो का शत्रु होता है, इस लोक मे निंद्य

होता है, परलोक में बुरा होता है ऐसा स्वय प्रत्यक्ष जानता है तथापि उन्ही में प्रवर्तता है इत्यादि अनेक प्रकार से प्रत्यक्ष भाषित हो उसका भी अन्यथा श्रद्धान करता है जानता है आचरण करता है सो यह मोह का माहात्म्य है ।

—इस प्रकार यह जीव अनादि से मिथ्यादर्शन, ज्ञानचारित्ररूप परिणमित हो रहा है । इसी परिणमन से ससार मे अनेक प्रकार का दुःख उत्पन्न करने वाले कर्मों का सम्बन्ध पाया जाता है । येही भाव दुःखों के बीज है, अन्य कोई नही । **इसलिये हे भव्य! यदि दुःखों** से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभाव भावो का अभाव करना ही कार्य है, इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा ।

✻ अथ सम्यग्दर्शनाधिकार ✻

देशसंयमी व मिथ्यात्वी का स्वरूप– जो भव्यजीव मिथ्यात्व, सासादन, और सम्यग्-मिथ्यात्व नामक तीन गुणस्थानो का परित्याग कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति पूर्वक अविरत-सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान का धारक हो जाता है वही देशसयत (विरताविरत) नामक पाचवे गुणस्थान मे पूर्ण रूप से देशसयम को पालन करने का अधिकारी होता है । क्योकि सम्यग्दर्शन के बिना कोई भी चारित्र मिथ्याचारित्र ही कहलाता है । स्मरण रखने की बात है कि अनादिकाल से जीव के साथ कर्मो का सम्बन्ध लगा हुआ है । इन कर्मो मे सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है । इस मोहनीय कर्म के दो भेद है । दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय । इनमे से दर्शन मोहनीय कर्म आत्मा का जैसा शत्रु है वैसा चारित्र मोहनीय नही है । क्योकि जिस प्रकार मदिरा से उन्मत्त हुआ मनुष्य स्वपर को भूल जाता है उसी प्रकार इस दर्शन मोहनीय के उदय से यह जीव जड चेतन के स्वरूप को भूल कर स्त्री पुत्रादि और धन गृहादि पर पदार्थो को अपनाने लगता है और आत्म स्वरूप से विमुख हो जाता है। इस प्रकार आत्म स्वरूप को भूल जाना, उसमे रुचि का न होना, या उनमे सशय वा विपरीतता उत्पन्न हो जाना ही मिथ्यादर्शन है । इसी मिथ्यादर्शन को मिथ्यात्व भी कहते है । जो मिथ्यादर्शन का धारक जीव है वह मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाता है । कहा भी है

—✻ मिथ्यात्वी द्वारा विपरीत श्रद्धान ✻—

मिच्छत्तरसपउत्तो, जीवो विवरीयदंसणो होइ । [भावसग्रह देवसेन सूरि]
ण मुणइ हियच अहियं, पित्तज्जुरजुओ जहा पुरिसो ।। १३ ।।

अर्थ—जिस प्रकार पित्तज्वर वाला मधुर पदार्थ को भी अत्यन्त कटु अनुभव करता है उसी प्रकार मिथ्यात्व का धारक जीव भी हित और अहित को न जान कर पदार्थो में विपरीत श्रद्धान करता है ।

—: मिथ्यात्व के दो भेद :—

यह मिथ्यात्व अनुगृहित और गृहीत निसर्गज तथा अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। कहा भी है

—* किस जीव के कौनसा मिथ्यात्व होता है *—

एकेन्द्रियादिजीवानां, घोराज्ञानविर्वतिनाम्
तीव्रसंतमसाकारं, मिथ्यात्वमगृहीतकम्। अन. ध. टीका अ. २।१०

अर्थ—एकेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के द्रव्य-मन के अभाव से परोपदेश ग्रहण करने की योग्यता नही है अत इनके हेयोपादेय का विशेष ज्ञान न होने से घोर अन्धकार के समान अगृहीत मिथ्यात्व ही कहा गया है। संज्ञी जीवो के गृहीत और अगृहीत दोनो तरह के मिथ्यात्व हो सकते है, उनमे भी बहुत से तो अगृहीत मिथ्यात्वी ही होते हैं किन्तु जिनको परोपदेश आदि से वस्तु के यथार्थ स्वरूप मे विपरीत का दुराग्रह हो जाता है अर्थात् जो जीवादिक तत्त्वो के असली स्वरूप को न जान कर दूसरों के उपदेश से कुछ का कुछ स्वरूप जान लेते है वे गृहोत मिथ्यादृष्टि कहलाते है।

—मिथ्यादर्शन के पांच भेद और उनका स्वरूप—

अब राजवार्तिकादि ग्रथो के अनुसार मिथ्यादर्शन के पाच ५ भेद बताते है। '**पचविधंवा**' (अष्टमाध्याय प्रथमसूत्र वार्त्तिक २८)

एकान्त, 'विपरीत संशय, वैनयिक और अज्ञान के भेद से मिथ्यात्व पांच प्रकार का है।

(१) यह ऐसा ही है, किसी भी तरह अन्य रूप नही है। जैसे-यह सब ब्रह्म ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है, एक ही है, अनेक ही है, भिन्न ही है, अभिन्न ही है। इस प्रकार मानना **एकान्त मिथ्यात्व** है (२) जो पदार्थ जैसा है उससे उसे उल्टा मानना। जैसे–परिग्रह सहित भी मुनि होता है, तथा केवली भोजन करते है, स्त्री को भी मुक्ति हो सकती है। इत्यादि मानना **विपरीत मिथ्यात्व** है। (३) यह ऐसा है या ऐसा, अथवा यह है या नही। जैसे-सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र के समुदाय रूप मोक्ष मार्ग है या नही? इस प्रकार सशय करना **संशय-मिथ्यात्व** है। (४) सब देवताओ और सब मतो को किसी अपेक्षा के विना ही समान रूप से सच्चा समझना **वैनयिक-मिथ्यात्व** है। (५) अपने हिताहित को विलकुल न समझना **अज्ञान-मिथ्यात्व** है।

— १. एकांतमत की उत्पत्ति—

"सिरिपासणाह तित्थे, सरयूतीरे पलासणयरत्थो।—
पिहियासवस्ससिस्सो, महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ॥ ६ ॥ [दर्शनसार]

अर्थ—श्री पार्श्वनाथ स्वामी के धर्मोपदेश के पश्चात् और श्री वर्धमान स्वामी के धर्मोपदेश होने के पहिले २५० वर्ष श्री पार्श्वनाथ स्वामी का जो तीर्थकाल है इसमे सरयू नदी के किनारे पलाश नामक नगर मे 'श्री पिहितास्रव मुनि' का एक शिष्य बुद्धिकीर्ति नामक

मुनि था वह किसी कारण से मछलियों को खाने लगा और जिन दीक्षा से भ्रष्ट होगया, फिर लाल वस्त्र धारण करके उसने यह उपदेश दिया कि मास में जीव नही है। अतः जैसे फल घी, दूध, और दही, आदि खाने में कोई दोष नही है, उसी प्रकार मास-भक्षण करने में भी कोई दूषण नही है। एवं मदिरा भी जल पान के समान निर्दोष है। जीव क्षण मात्र ही ठहरता है फिर नष्ट हो जाता है। अत. पाप करने वाला दूसरा है और उसके फल को भोगने वाला दूसरा है। इत्यादि उपदेशो के द्वारा पाप कर्मों की प्रवृत्ति की एवं बौद्ध मत चलाया।

卐 संशय (श्वेताम्बर) मत की उत्पत्ति 卐

छत्तीसेवरिससए, विक्कमरायस्समरणपत्तस्स
सोरट्ठेवलहीए, उप्पण्णोसेवडोसघो ।। ११ ।। (दर्शनसार)

अर्थ—विक्रमादित्य राजा के मरण से १३६ वर्ष पश्चात् सोरठ देश के वल्लभीपुर मे अष्टाग निमित्त ज्ञानी श्री भद्रबाहु आचार्य के प्रशिष्य और शान्ति नाम आचार्य के शिष्य जिनचन्द्र ने श्वेताम्बर सम्प्रदाय चलाया। इस सम्प्रदाय में अनेक बाते सिद्धान्त से विरुद्ध चलाई जिनमे से कुछ बाते ये है।

(१) स्त्री पर्याय से भी मुक्ति हो जाती है। (२) केवली भगवान् भी मनुष्यों के समान कवलाहार करते है। (३) केवली भगवान् के भी रोग हो जाता है। (४) वस्त्र धारक मुनि व गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है। (५) महावीर स्वामी प्रथम ब्राह्मणी के गर्भ मे आये थे फिर देवो द्वारा क्षत्रियाणी के गर्भ मे लाये गये। (६) प्रासुक भोजन नीच शूद्र जाति वाले के घर से लेकर भी कर सकते है।

— विपरीत मत की उत्पत्ति —

सुव्वयतित्थे उज्झो, खीरकदंबुत्तिसुद्धसम्मत्तो।
सीसो तस्स य दुट्ठो, पुत्तोविय पव्वओ वक्को ।। १६ ।। (दर्शनसार)

अर्थ—श्री मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थ मे क्षीरकदम्बक आचार्य के शिष्य पर्वत ने अपने सहपाठी नारद से विवाद किया और अज शब्द का अर्थ बकरा बतलाया (जब कि उसका अर्थ तीन वर्ष का पुराना जौ है) तथा राजा वसु से भी इसीका समर्थन करवाया और इस प्रकार यज्ञ मे पशु हिसा का विधान सिद्ध कर कर, धर्म विपरीत हिसा मार्ग को चलाया। भाव सग्रह मे विपरीत मत के प्रवर्त्तक ब्राह्मण बतलाये है उसका कथन निम्न प्रकार है।

अर्थ—ब्राह्मण जल से (गङ्गादि तीर्थो मे स्नान से) आत्मा की शुद्धि, श्राद्ध में मांस भोजन करने से पितरो को तृप्ति, यज्ञ मे पशु हवन करने से स्वर्ग की प्राप्ति, और गाय की योनि स्पर्श करने से धर्म मानते है।

— वैनयिक-मत की उत्पत्ति —

सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाण समुब्भवो अत्थि।

सजडा मु डियसीसा, सिहिणीणगाय कोई य ।। १८ ।। [दर्शनसार]

अर्थ—सब ही तीर्थकरो के तीर्थो में वैनयिको का उद्भव होता रहा है । इनमे कोई जटाधारी, कोई मुण्डित, कोई शिखाधारी तथा कोई नग्न होते हैं ।

दुट्ठे गुणवंते वि य, समया भत्तीय सव्व देवाण ।

णमण दडुव्व जणे, परिकलिय तेहि मूढेहिं ।। १९ ।। (दर्शनसार)

अर्थ—वैनयिक मतवालो का कहना है कि चाहे दुष्ट हो या गुणवान् हो सभी देवो के प्रति समानरूप से नमस्कार भक्ति आदि करना चाहिये ।

卐 अज्ञानमत की उत्पत्ति 卐

सिरिवीरणाहतित्थे, बहुस्सुदो पास सघगणिसीसो ।

मक्कडि पूरणसाहू, अण्णाणं भासए लोए ।। २० ।। (दर्शनसार)

अर्थ—महावीर स्वामी के तीर्थ समय मे, श्री पार्श्वनाथ स्वामी के सघ का एक बहुश्रुत गणधर-शिष्य 'मस्करी पूर्ण' नामा मुनि था । महावीर स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर जब समवसरण की रचना हुई तब वह उस समवसरण मे जाकर बैठा । वह श्री वीर जिनेन्द्र का उपदेश सुनना चाहता था., परन्तु गौतम गणधर के विना महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि नही खिरी । जब गौतम स्वामी ने दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त किया तब महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि खिरी । तब इस मस्करीपूर्ण के चित्त मे यह स्पर्धा उत्पन्न हुई कि मैं भी तो ग्यारह अग का पाठी हूँ, क्यो मेरे लिए वीर स्वामी की दिव्यध्वनि नही खिरी ? मुझको इन्होने उपदेश क्यो नही दिया और क्यो अपने शिष्य गौतम के आते ही दिव्यध्वनि खिरने लगी ? इस कारण मस्करीपूर्ण को डाह पैदा होगया और वह समवसरण के बाहर आकर महावीर स्वामी की निन्दा करने लगा कि यह सर्वज्ञ नही है और अज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस प्रकार प्रचार करने लगा । भाव-सग्रह मे अज्ञान मत की उत्पत्ति के विषय मे लिखा है ।

अण्णाणा ओ मोक्ख एव लोयाण पयउ माणोहु ।

देवो ण अत्थि कोई, सुण्ण झाएह इच्छाए ।। १३४ ।। (भावसग्रह)

अर्थ—अज्ञान से ही मुक्ति होती है और कोई भी देव नही है अत. अपनी इच्छानुसार शून्य का ही ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार वह जनता को उपदेश देने लगा ।

एवं पंच पयार, मिच्छत्त सुरगईणिवारणय ।

दुक्खसहस्सावास, परिहरियव्व पयत्तेण ।। १६५ ।। (भावसग्रह)

अर्थ—पूर्वोक्त पाच प्रकार के मिथ्यात्वो को जान कर इनका परित्याग करना चाहिये, क्योकि इनको धारण करने से दुर्गति मे हजारो प्रकार के दु ख भोगने पडते है ।

पांच प्रकार तो मिथ्यात्व बता चुके .अब मिथ्यात्व के दो प्रकार और बतलाते हैं। इनके मिलाने से मिथ्यात्व के ७ (सात) भेद बताये है।

त पुरण सत्त पयार, विवरीयं एयन्तविरणय संजुत्तं।
सयमग्रण्णारणगय, चव्वक्क तहेव संख च ।। १ ।। (भावसग्रह पृ. ५)

अर्थ—उक्त पाच प्रकार के मिथ्यात्वो मे चार्वाक और साख्यमत को मिला कर ७ सात भेद हो जाते है।

—* चार्वाक–मत *—

कउला परिश्रो अक्खई, अत्थि रण जीवो हुकस्स त पाव।
पुण्ण वा कस्स भवे, को गच्छई रगरयसग्गं वा ।। १७२ ।। (भावसग्रह)

अर्थ— इस मत का प्रवर्त्तक कोलाचार्य है, वह कहता है कि न कोई जीव है और न पुण्य तथा पाप है; जैसे-गुड और धात की (धवई के फूल) के योग से मदिरा तैय्यार हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, अग्नि, जल, और वायु, इन ४ भूतों के मिलने से शरीर मे चेतना शक्ति उत्पन्न हो जाती है और जब इन चार भूतो का सयोग नष्ट होता है, तब चेतना भी नष्ट हो जाती है। न कोई परलोक से आकर जन्म लेता है और न मरकर किसी दुसरे शरीर को धारण करता है।

—* सांख्यमत *—

सखो पुरगु मरगइ इय, जीवो अत्थित्ति किरियपरिहीरगो।
देहम्मि रिगवसमारगो, रग लिप्पए पुण्णपावेहिं ।। १७७ ।। (भावसग्रह)

अर्थ–साख्य मत के प्रवर्त्तक कपिल मुनि का कहना है. कि जीव तो क्रिया रहित है। देह मे रहता हुआ भी पुण्य व पाप से लिप्त नही होता। प्रकृति ही कर्म करती हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व के अनेक भेद है। यह सब भेद विवक्षा के कारण से है। यह मिथ्यात्व जीव का परम शत्रु है। हालाहल विष है। इसके समान और कोई रोग नही है कहा भी है–

न मिथ्यात्वसम शत्रु, र्नमिथ्यात्वसम विषम्। —
न मिथ्यात्वसमोरोगो, न मिथ्यात्वसम तम ।। २८ ।। (अमितगति श्रा अ २)

जब तक मिथ्यात्व नही हटता तब तक ज्ञान और चारित्र मे समीचीनता नही आती और मिथ्यात्वी को मोक्ष तो दूर रहा, संसार मे भी कोई उत्तम पद नही मिलता। मिथ्यात्व जीव का सबसे बडा शत्रु है। यह असाधारण विष एव रोग है क्योकि पहिले तीन नरकों मे तो जाति स्मरण, धर्म श्रवण, और वेदनानुभव रूप तीन कारणो से और नीचे के शेप ४ नरको मे धर्म श्रवण के बिना दो कारणो से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। संज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच जीव के पर्याप्त होने के बाद पृथक्त्व (दिन के पश्चात् जाति स्मरण, धर्म श्रवण, और जिन बिम्ब दर्शन इन तीन कारणो से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मनुष्यो के पर्याप्त होने के बाद आठ वर्ष अवस्था के पश्चात् जाति स्मरण, धर्म श्रवण, और जिन

बिम्ब दर्शन से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । नवग्रैवेयक तक के देवों के पर्याप्त होने के एक मुहूर्त बाद सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । इन देवो मे १२वे स्वर्ग पर्यन्त तो जाति स्मरण, धर्म श्रवण, जिन बिम्ब दर्शन और देवर्द्धि निरीक्षण (देवों की संपदा को देखना) इन चार कारणो से, और आनतादि ४ स्वर्गो मे देवर्द्धि निरीक्षण बिना ३ कारणों से. ग्रैवेयको मे जाति स्मरण बिना २ कारणो से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है । ग्रैवेयको के आगे नव अनुदिशादि मे नियम से सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते है । अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन पाच प्रकृतियो के उपशम से यह सम्यक्त्व होता है ।

विष के भक्षण करने से तो एक ही भव मे मृत्यु होती है और शरीर का भयकर रोग भी अधिक से अधिक एक बार ही मृत्यु का कारण हो सकता है । किन्तु मिथ्यात्व रूपी विष भक्षण से अनन्त ससार मे जन्म मरण करने पड़ते हैं एवं मिथ्यात्व रोग से अनेक भवो मे दु.ख भोगने पड़ते है । इसलिये इस मिथ्यात्व के समान न कोई अन्धकार से ग्रसित पुरुष कभी भी निज शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव नही कर सकता, अत इसके बराबर कोई अन्धकार भी नही है । ऐसा विचार कर भव्य जीवो को सबसे प्रथम मिथ्या-दर्शन और मिथ्यात्व की पोषक प्रवृत्तियो को हटाने के लिए सावधान रहना चाहिये । क्योकि जब मिथ्यात्व हटेगा तभी सम्यग्दर्शन और उसके साथ ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी । अब आगे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की योग्यता वाले जीव का वर्णन करते है –

—* सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की योग्यता वाला जीव *—

चदुगदि मिच्छो सण्णी, पुण्णो गब्भजविसुद्धसागारे ।
पढ़ मुव सम स गिण्हदि, पंचमवरलद्धि चरिमह्मि ।। २ ।। (लब्धिसार)

चउगदि भव्वो सण्णी, सुविसुद्धो जग्गमाण पज्जत्तो ।
संसार तडे नियडो, णाणी पावेइ सम्मत्त ।। ३०७ ।। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—उक्त दोनो गाथाओ का भाव यह है कि कर्मवश चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण करते हुए अनादि-मिथ्यादृष्टि निकट भव्य जीव के जब ससार मे रहने की स्थिति अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरावर्त्तन काल की जितनी रह गई हो तब प्रथम उपशम सम्यक्त्व को धारण करने की योग्यता होती है, यह पहली काललब्धि है । इस प्रथम काल लब्धि की प्राप्ति होने के पश्चात् जब यह जीव पर्याप्त देव वा नारकी हो, अथवा संज्ञी पर्याप्त गर्भज मनुष्य वा तिर्यञ्च हो, एव साकार ज्ञानोपयोग सहित हो, तथा क्षयोपशम लब्धि के प्रथम समय से लेकर प्रति समय वढती हुई परिणामो की अनन्त गुणी विशुद्धता से पाचवी करण लब्धि के उत्कृष्ट भागरूप अनिवृत्तिकरण परिणामो के अन्तिम समय मे स्थित हो,

भावों में पीत पद्म वा शुक्ल लेश्या का धारक हो, जागृत अवस्था वाला हो, और जिसके न तो उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मो का बध हो और न जघन्य स्थिति वाले कर्मो का अर्थात् जो अत कोटा कोटी सागरोपम स्थिति वाले नवीन कर्मो का बन्ध करे । और पहले बंधे हुए कर्मों की स्थिति को परिणामों की निर्मलता से सख्येय हजार सागरोपम कम अन्त: कोटा कोटी सागर परिणाम रख ले । यह कर्म स्थिति नाम की दूसरी काललब्धि होती है ।

सम्यक्त्व के भेद–सम्यक्त्व तीन प्रकार का है उपशम, क्षायिक और क्षायोपशमिक । इनमें से पहिले उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप दिखलाते है ।

❋ उपशम सम्यक्त्व का लक्षण ❋

उपशम सम्यक्त्व वह कहलाता है जो पूर्वोक्त पांच प्रकृतियों के उपशम से हो, अर्थात् जैसे मैले जल मे कतक (निर्मली के बीज) आदि डालने से उस पानी का कीचड बैठ जाता है और ऊपर का पानी बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है. इसी प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये पाच प्रकृतियाँ सत्ता में विद्यमान रहने पर भी आत्मा परिणामो मे कुछ भी मलिनता उत्पन्न नही करती, क्योकि ये दबी रहती है ।

उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं १ प्रथमोपशम सम्यक्त्व २. दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है । यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टि के भी होता है और सादि मिथ्या-दृष्टि के भी । अनादि मिथ्यादृष्टि वह कहलाता है जिसके कभी पहिल सम्यक्त्व नही हुआ हो, इस अनादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ५ प्रकृतियो का उदय रहता है । इसलिये वह ऊपर कहे हुये काल लब्धि आदि निमित्तो की प्राप्ति होने पर पाचो प्रकृतियो का ही उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करता है ।

अनादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर सम्यक्त्व के प्रभाव से मिथ्यात्व के तीन भाग करता है, अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये ही दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतिया कहलाती है । ये तीनो और चारो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब मिलकर सात प्रकृतिया कहलाती है । सभी प्रकार के उपशम सम्यक्त्वो की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है । इसके पश्चात् ये नियम से छूट जाते है । इसलिये जो सम्यक्त्व के काल मे ही उक्त तीनों प्रकृतियो की उद्वेलना से तीनों को ही मिथ्यात्व रूप कर डालता है, उस उद्वेलना करने वाले जीव के तो ५ प्रकृतिया ही सत्ता मे रहती है जो उद्वेलना नही करता उसके सात प्रकृतियां सत्ता मे वनी रहती हैं । अन्तर्मुहूर्त मात्र काल के पूर्ण होने पर यह सम्यक्त्वी फिर मिथ्यात्वी बन जाता है; इसी भाव को आचार्य अमितगति ने इस प्रकार दर्शाया है ।

निशीथं वासरस्येव, निर्मलस्य मलीमसम् ।
पश्चादायाति मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वस्यास्यनिश्चितम् ।। ४२ ।। (अमित श्र.अ. २)

अर्थ—जैसे दिन के पीछे रात्रि होती है इसी तरह इस सम्यकत्व के पीछे मिथ्यात्व आ जाता है अर्थात् अन्तमुहूर्त काल के पश्चात् यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व का धारक जीव नियम से मिथ्यात्वी हो जाता है । इस श्लोक के अनुसार नियम से मिथ्यात्वी बनकर चतुर्थ गुण-स्थान से गिरकर प्रथम गुण स्थान मे चला जाता है और सादि मिथ्यादृष्टि कहलाने लगता है । इसके पश्चात् फिर जब कभी सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य परिणामादि हो जाते है तभी जो५प्रकृतियों को सत्ता में रखकर मिथ्यात्वी हो जाता है वह तो५के उपशम से और जो सात प्रकृतियो की सत्ता मे मिथ्यात्वी होता है वह सात के उपशम से सम्यक्त्वी वनता रहता है । यह क्रम जब तक यह जीव उपशमश्रेणी न माडे तब तक चलता रहता है और प्रथमोपशम सम्यक्त्वी ही कहलाता है । एक जीव इस उपशम सम्यक्त्व को असख्यात बार तक प्राप्त करके छोडता रहता है । **तस्य प्रपद्यते पश्चान्महात्मा कोऽपिवेदकम् ।**
तस्यापि क्षायिक कश्चि, दासन्नी भूतनिर्वृत्ति ।। ४३ ।। (अमित श्रा.अ २)

अर्थ—इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व के पश्चात् किसी भव्य जीव को वेदक सम्यक्त्व हो जाता है। इस वेदक सम्यक्त्व का धारक कोई निकट भव्य हो तो वह वेदक से क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाता है और जो क्षायिक सम्यक्त्वी होता है वह अनन्तानुबन्धी का विसयोजन कर ७वे गुणस्थान मे सातिशय अप्रमत्त होकर या तो वह चारित्र मोहनीय की शेष २१ प्रकृतियो का क्षय करने के लिये क्षपक श्रेणी मांडता है अथवा इतने तीव्र परिणाम न हो तो २१ प्रकृतियो को उपशम करने के लिए उपशम श्रेणी माड़ता है । जो क्षायिक सम्यक्त्वी न होकर वेदक सम्यक्त्व का धारक रहकर ही ७वे गुणस्थान मे जाता है वह अनन्तानुवन्धी का विसयोजन पूर्वक द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का धारक होकर २१ कषायों को उपशम करके श्रेणी माडता है । इस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के होने के पहिले सब उपशम सम्यक्त्व प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहलाते है । वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व वाला जीव भी क्रम से अथवा अक्रम मे पतन करता हुवा वापिस मिथ्यात्व गुणस्थानमे आ जा सकता है।

❊ क्षायिक सम्यक्त्व का लक्षण ❊

तत्कर्मसप्तके क्षिप्त, पङ्कवत् स्फटिकेऽम्बुवत् । (अनगार धर्मामृत पृ १२६)
शुद्धेऽति शुद्धं क्षेत्रज्ञे, भाति क्षायिकमक्षयम् ।। ५५ ।।

अर्थ—कर्म भूमिज मनुष्य के केवली वा श्रुतकेवली के निकट दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के क्षय और अनन्तानुबन्धी चारो कषायो का विसयोजन होने पर क्षायिक

सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, यह विशुद्ध उपशम सम्यक्त्व से भी अति विशुद्ध है।

भावार्थ—उपशम सम्यक्त्व में भी शङ्कादिक दोष न होने से विशुद्धता है परन्तु वह छूट भी जाता है और क्षायिक सम्यक्त्व छूटता नही मोक्ष तक बराबर बना रहता है और अचल है। कहा भी है— (अना. धर्मामृत टी.)

रूपैर्भयङ्करैर्वाक्यै हेतुदृष्टान्तदर्शिभि', जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः ।।१२६।।

अर्थ-क्षायिक सम्यक्त्व निश्चल होता है अर्थात् वह अनेक प्रकार के हेतु और दृष्टान्त वाले वचनों के जाल मे फंसकर अथवा भयकर रूपो से भयभीत होकर कभी भी क्षोभ को प्राप्त नही होता। यह सम्यक्त्व सादि अनन्त है अर्थात् होने के पीछे कभी नही छूटता इसकी उत्कृष्ट स्थिति संसारी जीव के एक अन्तर्मुहूर्त सहित ८ वर्ष कम दो कोटि पूर्व और तेतीस सागर की है। यह सम्यक्त्व मुक्त जीव के भी रहता है और उसके इसकी स्थिति अनन्त काल की है।

— क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का लक्षण —

पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये, शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिन चलम् ।। ५६ ।।

अर्थ—सम्यक्त्व की विरोधिनी जो सात प्रकृतिया है उनमे से मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और ४ अनन्तानुबन्धी कषाय ये ६ प्रकृतिया तो सर्वघाती है और एक सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व देशघाती है। वर्त्तमान सर्वघाती स्पर्द्धको का (कार्माण पुद्गलो का) तो उदय मे न माने रूप क्षय, अर्थात् बिना फल दिये ही खिर जाना, और आगामी काल मे उदय आने योग्य स्पर्द्धको का सत्ता रूप उपशम अर्थात् जहा के तहा ही ठहर जाना और देश घाती सम्यक् प्रकृति का उदय होना—इन तीनो बातो के होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इसको वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं। यह चल, मलिन और अगाढ रूप होता है।

—* अगाढ़तादि का स्वरूप *—

वृद्धयष्टिरिवात्यक्त स्थानाकरतले स्थिता, स्थान एव स्थित कम्प्र मगाढ वेदक यथा ।।५७।।
स्वकारितऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽय मेन्यकारिते,अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छाद्धोऽपि चेष्टते ५८।
तदप्यलब्धमाहात्म्य पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः, मलिन मलसङ्गेन शुद्धस्वर्णमिवोद्भवेत् ।।५९।।
लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिवस्थित, नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चल यथा ।। ६० ।।
समेऽप्यनन्त शक्तित्वे सर्वेषामर्हतामय, देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ।। ६१ ।।

तात्पर्य—जैसे वृद्ध पुरुष के हाथ की लकडी अपनी जगह से खिसकती तो नही है परन्तु डगमगाती रहती है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने द्रव्य से बनवा कर प्रतिष्ठित कराये हुये जिन बिम्ब मे समझना कि यह तो मेरा है, और जो दूसरे के द्वारा प्रतिष्ठित हो उसको कहना यह दूसरे का है, ऐसा समझना अगाढपना है। जैसे शुद्ध सुवर्ण भी चादी ताबा वगैरह के मेल से अशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह सम्यक्त्व भी शकादि दोषो से

मलिन हो जाता है। यही इसमे मलिनता है। जैसे एक ही जल अपनी अनेक लहरों में बट जाता है उसी तरह सर्व तीर्थङ्कर अनन्त शक्ति के धारक है तो भी अमुक उपसर्ग के निवारण करने के लिये श्री शान्तिनाथ स्वामी की ही पूजा करनी चाहिये श्री पार्श्वनाथ स्वामी ही विघ्न के हर्त्ता है इत्यादि रूप जो वेदक सम्यग्दृष्टि के हृदय मे विचार होता है यही चलपना है। अथवा यह वेदक सम्यक्त्व कुछ काल रहकर अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त से लगा कर ६६ सागर तक रहकर नियम से छूट जाता है इसलिये भी चल है। इन तीनो सम्यक्त्वो मे उपशम सम्यक्त्व (यह उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का होता है १ प्रथमोपशम २ द्वितीयोपशम। प्रथमोपशम सम्यक्त्व भी दो प्रकार का है–अनादि मिथ्यादृष्टि और सादि मिथ्यादृष्टि। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व–क्षपोपशम सम्यक्त्व से कषाय की २१ प्रकृतियो का उपशम करता है और ग्यारहवे गुणस्थान तक जाता है सो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम तक होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान से सिद्धावस्था तक रहता है। यह क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है और शेष दोनो सम्यक्त्व साधक है।

—सम्यक्त्व का विशेष विवेचन—

प्रथम नरक में तीनो सम्यक्त्व तथा शेष के छह नरको मे क्षायिक के बिना दोनो सम्यक्त्व होते है। शेष तीनो गतियो मे सम्यक्त्व होते है। स्त्री पर्याय मे तिर्यचणी तथा देवियो के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है। पण्डित दौलतरामजी ने 'छहढालो' मे भी कहा है।

प्रथम नरक विनषट् भू जोतिष, वान भवन षढनारी।
स्थावर विकलत्रय पशु में, नहीं उपजे सम्यक् धारी।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव मर कर पहिले नरक को छोडकर शेष ६ नरको मे, भवनवासी, व्यन्तर, और ज्योतिषियो मे इन तीनो प्रकार के देवनिकायो मे तथा सैनी पचेन्द्रिय को छोडकर अन्य १२ जीव समासो मे उत्पन्न नही होता। स्त्री वेद को तो चारो गतियो मे ही धारण नही करता।

उक्त प्रकार से मिथ्यात्व के दोष और सम्यक्त्व के गुण जानकर मिथ्यात्व के सहायक जनक अन्य मत के देवो की प्रतिमा आदि रूप द्रव्य, सक्रान्ति व ग्रहणादि रूप काल, गया प्रयाग, पुष्कर, गङ्गा, यमुनादि रूप क्षेत्र और श्री जिन कथित धर्म मे शङ्का करना आदि भावो का त्याग करके सम्यक्त्व के उत्पादक श्री जिनेन्द्र के साक्षात् शरीर व प्रतिमा रूप द्रव्य, अर्ध पुद्गल परावर्तन रूप अथवा श्री जिनेन्द्र के पच कल्याणक ही के होने के अवसर रूप काल, समवशरण, जिनमन्दिर, सम्मेदशिखरादि रूप क्षेत्र तथा अध· प्रवृत्तिकरणादि रूप भावो का निमित्त मिलाकर सम्यक्त्वी बनना चाहिये।

※ सम्यक्त्व के भेद ※

सम्यक्त्व निश्चय और व्यवहार भेद से दो प्रकार का है। इनमें आत्म विषयक रुचि का होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। (मोक्ष प्राभृत कुन्दकुन्दाचार्य)

हिंसारहिये धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिये देवे, णिग्गथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ।। ९० ।।

अर्थ—हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव और निर्ग्रन्थ गुरु में श्रद्धान करना व्यवहार सम्यक्त्व है। यह व्यवहार सम्यक्त्व ही निश्चय सम्यक्त्व का कारण है। इसलिये यहां देव शास्त्र गुरु का विशेष स्वरूप दिखलाते है। —देव का स्वरूप—

(अठारह दोषों के नाम और आप्त का लक्षण)

क्षुत्पिपासे भयद्वेषौ, मोहरागौ स्मृतिर्जरा। रुग्मृति स्वेदखेदौ च मदः स्वापो रतिर्जनि ।।
विषादविस्मयावेतौ दोषा अष्टादशेरिताः। एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदाश्रितः ।।८।।

अर्थ—क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मोह, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्वेद, खेद, निद्रा, मद, विस्मय(आश्चर्य), रति और चिन्ता ये अठारह दोष सब ससारी जीवो के समान रूप से रहते है। इन १८ दोषो से जो रहित हो वही आप्त (यथार्थ वक्ता) और कर्ममल रहित होने से सच्चा देव है। वर्त्तमान मे ब्रह्मा, विष्णु (श्री कृष्ण) महादेव, बुद्ध, गणेश, सूर्य, हनुमान, भैरू आदि देवो की; लक्ष्मी, सरस्वती, काली भवानी, शीतला आदि देवियो की; घोडा, बैल, आदि वाहनो की., बड, तुलसी, पीपल आदि वृक्षो की, तोप, तलवार, आदि शस्त्रो की, समुद्र, नदी, कूप, तालाब आदि जलाशयो की., अग्नि की, पर्वत, भूमि, देहली, दवात, कमल, हल, मूसलादि सैकडो वस्तुओं की उनमे देवपने की बुद्धि रखकर पूजा की जाती है। उनमे से देहली, हल, मूसलादि तो स्पष्ट अचेतन (जड) है। इनको छोडकर जो हरिहरादिक देव माने जाते है उनमे भी विचार कर देखा जाय तो उक्त अठारह दोषो मे से अनेक दोष उनके शरीर की आकृति व स्त्री, वस्त्र, शस्त्र आदि के धारकपने से ही सिद्ध हो जाते हैं; तथा और भी कितने ही दोषो का पता इतर शास्त्रो मे कहे हुए उनके चरित्रो से लग जाता है इन १८ दोषो मे से राग द्वेष और मोह ये तीन प्रधान दोष है जिनसे कि श्री जिनेन्द्र के सिवाय अन्य देव नही बचे है।

यद्यपि व्यवहार से जैन मत में भी इन्द्रादि स्वर्ग के देव, चन्द्र सूर्यादि ज्योतिषी देव असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनवासी, देव और यक्ष, राक्षस, भूत-पिशाचादि व्यन्तर देवो के प्रति भाव रूप से देव शब्द का व्यवहार किया जाता है। जो मनुष्य व तिर्यंच मर कर स्वर्गादि मे देव होने वाले है वे द्रव्य देव माने जाते है। निर्ग्रन्थ ऋषि, यति, अनगार, मुनि धर्मदेव कहलाते है। लौकिक मे राजा नरदेव, ब्राह्मण, भूदेव कहलाते है.. परन्तु

राग-द्वेष मोह की रहितता की अपेक्षा से यदि विचार किया जावे तो श्री अरहन्त देव ही सच्चे देव है। स्वर्ग के इन्द्रादि देव भी आत्म कल्याण के लिये भक्तिपूर्वक इनकी स्तुति, वन्दना व पूजा करते है। इसलिये ये अरहन्त सिद्ध परमेष्ठी ही देवाधिदेव कहलाते है। श्री अरहन्त परमेष्ठी अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप आत्मजन्य गुणो के धारक ही नही है, किन्तु उनके शरीर मे क्षीरवर्ण रुधिर का होना, उपदेश के समय समवशरण की रचना का होना, मस्तक पर तीन छत्रो का फिरना, और ६४ चमरो का ढुलना सिंहासन पर ४ अगुल ऊचे आकाश मे निराधार स्थित होना, विहार के समय धर्मचक्र का आगे चलना, जय जयकार शब्द का होना, इत्यादि स्वात्मोत्थ और देव कृत चौंतीस अतिशयो की धारकता, अष्ट महा प्रतिहार्यो से शोभित होना आदि रूप ४६ गुण भी देवाधिदेव पने के सूचक है। तीन जगत् के जीवो द्वारा वही देव पूज्य हो सकता है जो असाधारण गुणो का धारक है। कहा भी है—

श्रेष्ठो गुणैः गृहस्थ स्यात्तत श्रेष्ठतरो यति। यते श्रेष्ठतरो देवो, न देवादधिक परम् ।।
गेहिना समवृत्तस्य, यतेरप्यधरस्थिते। यदि देवस्य देवत्वं, न देवो दुर्लभो भवेत् ।।

अर्थ—अन्य जीवो की अपेक्षा गृहस्थ उत्तम है। गृहस्थो से उत्तम यति से उत्तम (अति उत्तम) देव होता है। यदि मुनि से बहुत नीचे गृहस्थो के समान आचरण करने वाले व्यक्ति को भी देव मान लिया जावे तो फिर भू मडल पर जगह २ और घर २ मे देव मिल जावे, फिर देव की दुर्लभता नही रहे। ऐसा विचार कर जो यथार्थ देव है उनमे ही श्रद्धान करना चाहिये।

— सच्चे शास्त्र का लक्षण —

"रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वचनमुच्यतेह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्त, स्यानृतकारण नास्ति ।।"

अर्थ—राग (प्रीति), द्वेष (वैर) और मोह (अज्ञान) इन तीन कारणो से असत्य कथन किया जाता है। अत. राग द्वेष और मोह रहित श्री जिनेन्द्र देव ही सच्चे आप्त है। उनकी दिव्य ध्वनि द्वारा जो प्रकट हुआ हो, जिसमे प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण द्वारा विरोध नही आता हो, जो तत्व (वस्तु के यथार्थ स्वरूप) का व्याख्यान करने वाला हो, मिथ्यात्व व अज्ञान ग्रसित कुमार्ग से बचाने वाला हो और ससार के सब प्राणियो का हित करने वाला हो वही सच्चा शास्त्र कहलाता है। इसके विपरीत जो रागी, द्वेषी व अज्ञानी जीवो के द्वारा रचे गये हो, जिनमे प्रत्यक्ष से भी असत्यता सिद्ध होती हो और जिनमे परस्पर पूर्वापर विरोध आता हो, जो राजा, राष्ट्र, देश, स्त्री और भोजन सम्बन्धी विकथाओ से भरे हुए हो, जिनमे विषय कषायो की वृद्धि और जीव हिंसा करने आदि का उपदेश हो, जिनसे वस्तु का यथार्थ स्वरूप का भान न हो जो जीवादि को क्षणिक

(क्षरण क्षरण में विनाशशील) तथा सर्वथा नित्य मानते हो, ऐसे सर्व शास्त्रों को कुशास्त्र जानना।

—* जैनेतर शास्त्रों में पूर्वापर विरोध *—

अब जैनेतर शास्त्रो के पूर्वापर विरोध को दिखाते है। इतर शास्त्रो में कही पर तो ऐसा वाक्य मिलता है कि "मा हिस्यात् सर्व भूतानि" अर्थात् किसी भी प्राणी को मत मारो। **और कही पर लिखा है– 'याज्ञिकी हिंसा हिसा न भवति" यज्ञ में जो पशुओं के** वध आदि से हिसा होती है वह हिसा नही। कही पर तिल सर्षप मात्र मांस भक्षरण का भी निषेध है और कही पर मास भक्षरण का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। लिखा है

"तिलसर्षपमात्रं तु मांसमश्नाति मानव., स श्वभ्रान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ।।"

अर्थात्— जो मनुष्य तिल वा सरसो के दाने के बराबर भी मास खाता है वह जब तक जगत् में चन्द्र एव सूर्य है तब तक नरक से नही निकलता है। दूसरा कथन देखिए—

क्रीत्वा स्वयं वा ह्यु्त्पाद्य, परोपहृतमेव च।
अर्चयित्वा पितृन् देवान्, वादन् मांस न दुष्यति।। ३२।।

अर्थ— जो प्राणी कही से मास खरीद कर, या स्वयं उत्पन्न कर या दूसरों के द्वारा लाये हुए मास से देव पूजा व पितृ तर्पण पूर्वक मास भक्षरण करता है उसको मास खाने में कोई दोष नही है। इसी प्रकार कही तो मधु (शहद) के चाटने और मदिरा पान करने का निषेध है और कही पर उनके खाने का विधान है। इस तरह जिन शास्त्रो मे धर्मात्मा और पापी अभक्ष भक्षणादि करने वाले सभी प्रकार के मनुष्यो को प्रसन्न रखने के लिये कही कुछ और कही कुछ उपदेश भरा है और जिनमे यह भी पता नही पडता कि इनमे हिंसा का उपदेश है अथवा अहिसा का, ऐसे पूर्वापर विरुद्ध सदिग्ध शास्त्रों के उपदेशानुसार प्रवृत्ति करने वाले जीव मिथ्यादृष्टि है।

— सच्चे गुरु का लक्षण —

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रह।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्,तपस्वी स प्रशस्यते।। १०।। (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

अर्थ—जिनके पाचो इन्द्रियो के विषयो को भोगने की इच्छा नही है, जो सर्व प्रकार के आरम्भो से रहित है और जो कोपीन मात्र (लगोटी तक) का भी परिग्रह न रख कर दिगम्बर (नग्न) मुद्रा के धारक हैं जो या तो धर्म शास्त्रो के पढने व वाचने मे अथवा पढ़ाने व उनके अनुसार धर्मोपदेश देने मे काल व्यतीत करते है अथवा जो त्रिकाल सामायिक के समय मे भी आत्मानुभव कराने वाले धर्मध्यान व शुक्लध्यान के करने मे मग्न हो जाते है, जो कर्मो की निर्जरा के लिये यथाशक्ति और निष्कपट उपवासादि रूप बाह्य तप और प्रायश्चित्तादि रूप अन्तरङ्ग तप को धारण करते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं। जैनेतर शास्त्रो मे भी अनेक जगह ऐसे ही गुरुओ को प्रशंसनीय माना गया है—

"निर्वैर. सदय· शान्तो दम्भाहङ्कारवर्जितः, निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते ।।"

अर्थ—जिसके किसी से वैर भाव न हो, जो दयाधारी हो, क्रोध-मान-माया लोभ रूप कषायों से रहित होने के कारण शान्ति का धारक हो, छल कपट व अभिमान [घमण्ड] से रहित हो, जिसके न किसी पर स्नेह हो और न किसी पर द्वेष, अर्थात् जो शत्रु मित्र दोनो को ही समानदृष्टि से देखने वाला हो किसी से भी किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा के अभाव से जो निरपेक्ष हो, ऐसा मुनि ही भू-मण्डल में सच्चा साधु कहा जाता है ।

निरपेक्षं मुनिं शान्त, निर्वैर समदर्शिनम्, अनुव्रजाम्यह पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि ।।

अर्थ—कोई व्यक्ति किसी के प्रति कहता है कि मैं इच्छारहित, शान्तमूर्त्ति, वैर रहित और सबको एक दृष्टि से देखने वाले मुनि के पीछे २ प्रतिदिन इसलिये जाता हूँ कि उनके चरण कमल की रज से पवित्र हो जाऊगा । और भी कहा है—

"स्नानोपभोगरहित , पूजालङ्कारवर्जित । मद्यमासमधुत्यागी, गुणवानतिथिर्भवेत् ।। १ ।।
सत्यार्जवदयायुक्त. पापारम्भवर्जितम् । उदग्रतपसायुक्त. जानीयादतिथिर्ध्रुवम् ।। २ ।।

अर्थ—जो स्नान नही करता, व तेल इत्र पुष्प माला आदि उपभोग सामग्री से रहित है, पूजा और आभूषणो से रहित है, मद्य, मास तथा मधु का भक्षक नही है। और गुणो का धारक है व अतिथि है । (महाभारत शान्ति पर्व) अथवा जो सत्य वक्ता, निष्कपट, दयाधारी पाप कर्मो का व आरम्भो का त्यागी है और घोर तपश्चरण करने वाला है उसी को वास्तव मे अतिथि समझना चाहिये । उपर्युक्त गुणो के धारक ही वास्तव मे सद्गुरु है । इनको छोडकर जो गृहस्थो से नीचे दर्जे की आरंभादिक क्रियाये करते है तथा अभक्ष्य का त्याग करके भी अभक्ष्य का सेवन करते हैं और ब्रह्मचर्यधारी कहला कर भी व्यभिचारी वन रहे है वे सद्गुर कदापि नही हो सकते । कहा भी है—

"मूंड मुंडाये तीन गुण, सिर की मिट गई खाज ।
खाने को लड्डू मिले, लोग कहे महाराज ।।"

जो लोग स्वार्थ की कुवुद्धि से मूड मुडा कर, कान फटाकर, मृग छाला दण्ड कमण्डलु धारण कर, तन पै भस्म लगा कर, जटा वढा कर, कहा तक कहे सैकडो प्रकार का स्वाग वनाकर, गाजा चरस सुलफे की दम लगाते हैं; यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, रसायन ज्योतिप व वैद्यक के झूठे ही जानकर वनकर भोले जीवो को ठगते फिरते है उनमे तो गुरुपने का लेश भी नही है कहा भी है—

लोभी गुरु लालची चेला । दोनों नरक मे ठेलमठेला ।।

इस कहावत के अनुसार ऐसे साधु स्वयं भी ससार समुद्र मे डूवते है और अपने भक्तो को भी डुवोते है । ऐसे ठगियो को देखकर एक कवि ने कहा है ।

"फूटी आंख विवेक की, सूझ पड़े नहीं पथ ।
ऊंट बलध लादे फिरें, तिनसो कहत महत ॥"

लीनो कहा जोग जोलौं भोग सो न मुख मोरचो, लोक के रिझायवे को धूम्रपान गटके
कोई शीस धारे जटा कोऊ तो उखारे लटा, कोऊ कनफटा कोऊ क्रिया में ही अटका ।
कोऊ मठ वासी कोऊ हायके संन्यासी, कोऊ होयके उदासी पर तीरथ में भटका ।
ब्रह्म कोऊ चीन्यो नांही मन वश कीनों नाही, एते पर होते कहा थोथे कान पटका ॥ १ ॥

इस प्रकार कुगुरु एव सुगुरु का लक्षरण जानकर आत्म-कल्याण के लिये सद्गुरुओं की ही सगति, दर्शन, भक्ति, आदि करना चाहिये । **सद्धर्म का स्वरूप--**

सुख दु खनिवृत्तिश्च पुरुषार्थावुभौ स्मृतौ । धर्मस्तत्कारण सम्यक् सर्वेषामविमानत ॥२२॥

अर्थ—दु ख का नाश करना और सुख को प्राप्त करना ये ही दो मुख्य पुरुषार्थ है ., क्योकि जगत् के सभी जीव दुःख से बचकर सुखी होना चाहते है और इसमे भी सभी का एक मत है कि धर्म के करने से ही दु खो का नाश और स्वर्ग मोक्ष का सुख मिलता है । परन्तु जैसे औषधि (दवा) के खाने से रोग मिटता है ऐसा समझ कर भी कोई पित्त का रोगी औषधि के स्वरूप व गुण के जाने बिना ही केशर व कस्तूरी खाले तो उसका पित्त और भी बढ जाता है । इसी प्रकार जो जीव सुखी होने के लिये धर्म के स्वरूप को जानें बिना ही यदि जीव हिसा आदि करने को धर्म मान कर विपरीत आचरण करने लग जाय तो वह भी सुखी न होकर महादु'खी ही बन जाता है । इसलिये असली धर्म की परीक्षा करने के पश्चात् उस धर्म का पालक बनना चाहिये। सच्चे धर्म का पालन करने से ही दु खों की निवृत्ति एव सुखो की प्राप्ति होती है । कहा भी है—

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसगपरिचित्ता ।
देवो ववगयमोहो, उदयकरो भव्वजीवाणं ॥ २५ ॥ (बोध प्राभृत)

अर्थ—१ राग द्वेष मोहादि रहित देव, २ सब परिग्रह का त्याग कराने वाली दीक्षा से दीक्षित निर्ग्रन्थ गुरु और ३ स्व-पर दया को पालन कराने वाला निर्मल धर्म, ये तीनो भव्य जीवो के सुख सपत्ति के कर्त्ता है । इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशानुसार दया प्रधान धर्म है । दया दो प्रकार की है –एक तो स्व--दया–निज आत्मा की दया. और दूसरी पर–दया–अन्य जीवों की दया । इनमे क्रोध, मान, माया व लोभ इन चारो कषायो के वशीभूत न होकर जो निज आत्मा के क्षमा, मार्दव (नरभिमानता) आर्जव (निष्कपटता) सत्य, शौच (तृष्णा रहित पना) आदि रूप स्वभावों की रक्षा करना है वह तो स्व--दया है, और षट्काय के जीवो की रक्षा करना, पर दया है । यदि समीचीन धर्म की खोज के लिये निष्पक्ष बुद्धि से सब मतो के शास्त्रो का अवलोकन किया

जावे तो प्रतीत होगा कि एक जैन धर्म ही ऐसा है जिसमे अहिसा धर्म की सूक्ष्मता विस्तार पूर्वक दिखाई गई है और निर्भयता पूर्वक स्वपर-दया पालन करने का उपदेश दिया गया है। यहां पर स्व-मत पक्ष से कुछ भी नही कहा गया है। राष्ट्रीय नेता, इतिहास के वेत्ता, सस्कृत के प्रौढ विद्वान् स्व पण्डित बालगङ्गाधर तिलक ने भी ३० नवम्बर सन् १९०४ के बडोदा मे अपने व्याख्यान मे कहा है कि 'महाराजा गायकवाड (बडौदा नरेश) ने पहले दिन काग्रेस मे जैसा कहा था वैसा मेरा भी कहना है जैनो के 'अहिसा परमोधर्म इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूर्वकाल मे यज्ञ के लिये असख्यात पशुओ की हिसा होती थी। इनके प्रमाण अनेक ग्रन्थो मे मिलते है। इस घोर हिसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय दिगम्बर जैन धर्म के ही हिस्से में है।

"सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा. विदु.।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धति. ।। ३ ।।" (रत्न० श्रावका०)

इस श्लोक के द्वारा श्री समन्तभद्र स्वामी ने सम्यक्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनो की एकता रूप रत्नत्रय को धर्म, और इन तीनो के विपरीत मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को ससार का वर्धक अधर्म बतलाया है। जो लोग धर्म को सुख देने वाला मान कर भी धर्म का पालन नही करते है वे या तो प्रमादी है या उनकी कुशिक्षा व कु सगति से किसी धर्म पर विश्वास ही नही है। जैसे रोगी कडवी दवा के पीने से डरता है उसी तरह से वे धर्म के पालन करने मे जो विषय कषायो आदि का त्याग कराया जाता है उससे डरते हैं। ऐसे ही व्यक्तियो के प्रति अब कुछ कहा जाता है–

जैसे कोई व्यक्ति मिश्री २ तो कहा करे किन्तु पास मे पडी हुई मिश्री की डली को न चक्खे तो उसका मुख मीठा नही हो सकता। उसी प्रकार जो धर्म का नाम रटते हुए भी उसके अनुसार नही चलते. प्रमादी (आलसी) है, वे कदापि सुखी नही हो सकते। अत ऐसे लोगों को सुख प्राप्ति के निमित्त धर्मानुकूल चलने के लिये सुदृढ प्रयत्न करना चाहिये। जो धर्म शून्य व्यक्ति शिक्षा व कुसगति के प्रभाव से धर्म को झगड़े टंटो की जड स्वतन्त्रता का बाधक, व्यर्थ का रगडा समझते हैं उनसे कहना है कि वे जिस प्रकार से उपन्यासो और समाचार पत्रो (अखबारो) को दिल चस्पी के साथ पढ़ते हैं, वैसे ही सबसे प्रथम धर्म शास्त्रों से अध्यात्म का स्वरूप भी जाने और अपने समयसारादि ग्रन्थो को देख कर फिर संशय हो तो अन्य धर्म के अध्यात्म सिद्धान्तों से मुकाबला कर उसकी उत्तमता का भी निश्चय करे। जो लोग इन्द्रियो के विषयो में कमी आने से व कषायो के छोडने से दु ख समझ रहे है उनको सोचना चाहिए कि–

धर्म सुखस्य हेतु, र्हेतुर्न विरोधक· स्वकार्यस्य।

तस्माद्विहाय पापं, चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ।। २० ।। (आत्मानुशासन)

अर्थ—जो धर्म सुख का करने वाला है, वह कभी दु:ख दायक नही हो सकता। इसलिये सुख चाहने वालो को उचित है कि वे पाप-प्रवृत्ति को छोडकर धर्माचरण करे; जैसे–कोई पुरुष अपनी छाया को पकडना चाहे तो वह दूर ही भागती है परन्तु यदि वह उसे पकडना छोडकर उससे पराङ्मुख (उल्टी तरफ) चले तो वही छाया उसके पीछे पीछे चली आती है। इसी तरह जो भोग सपदा की प्राप्ति के लिये उसके पीछे २ दौडता है उससे वह भोग सामग्री भी दूर २ भागती जाती है; और जो उसमें सतोष धारण करता है उसे बिना मागे वह मिलती है। अत: सुख जनक समझ कर धर्म साधन अवश्य करना चाहिये।

—※ व्यवहार सम्यग्दर्शन ※—

छद्दव्व णव पयत्था, पचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूव सो, सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ।। १९ ।।
जीवादि सद्दहणं, सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो, अप्पाण हवइ सम्मत्तं ।। २० ।।

व्यवहार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जीवादि सात तत्व, नो पदार्थ, छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय इन सबके सक्षिप्त वर्णन की इच्छा से "जीवाजीवास्रवबधसवरनिर्जरा–मोक्षास्तत्वम्" इस सूत्र के अनुसार जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वो मे से पहले जीव तत्व का वर्णन करते है। **१. जीव तत्व का वर्णन—**

कत्ता भोई अमुत्तो, सरीरमित्तो अणाइणिहणो य ।
दसणणाणुवओगो, णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि ।। १४६ ।। (भावप्राभृत)

अर्थ—श्री जिनेन्द्र देव ने जीव को कर्ता, अमूर्त्त, शरीर-प्रमाण, नित्य तथा दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग का धारक कहा है। जीव—जीव शब्द 'जीव प्राणधारणे' धातु से बना है। अत व्यवहार नय से एकेन्द्रिय जीव के ४ चार प्राण होते है। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। इन चार प्राणो से जीवता था, जीवता है और जीवेगा उसे जीव कहते है। यहा पर चार प्राण सामान्य रूप से कहे गये है। (१) इन्द्रिय प्राण—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन भेदो से ५ प्रकार के है। (२) **बल प्राण**—कायबल, वचनबल, और मनोबल के भेद से बल प्राण तीन प्रकार के है। अत विशेष रूप से ५ इन्द्रिय, ३ योग, १ आयु और १ श्वासोच्छ्वास, ऐसे कुल १० प्राण होते है।

इनमे से पर्याप्त अवस्था में तो सज्ञी पचेन्द्रिय जीव के दशो ही प्राण होते है किन्तु अपर्याप्त अवस्था मे पचेन्द्रिय के ७ सात ही प्राण होते है; क्योकि मनोबल, वचन बल और श्वासोच्छ्वास ये ३ तीन प्राण तो पर्याप्त अवस्था मे ही होते है। अपर्याप्त

अवस्था में ये तीन नही होते, ऐसा नियम है। असज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्त अवस्था में मन के बिना ९ प्राण और अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास, वचन बल के बिना ७ प्राण होते हैं। पर्याप्त चतुरिन्द्रिय जीवो के श्रोत्र और मन के बिना ८ प्राण और अपर्याप्तो के वचन बल और श्वासोच्छ्वास के बिना ६ प्राण होते हैं। त्रीन्द्रिय के पर्याप्त अवस्था में श्रोत्र, चक्षु और मन के बिना ७ प्राण और अपर्याप्त अवस्था मे वचन बल, श्वासोच्छ्वास बिना ५ प्राण होते है। पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवो के घ्राणेन्द्रिय के नही होने से ६ प्राण, और अपर्याप्त अवस्था मे वचन बल और श्वासोच्छ्वास के बिना ४ प्राण होते है। पर्याप्त एकेन्द्रिय जीवो के रसना इन्द्रिय और वचन बल के न होने से ४ प्राण और अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास के न होने से तीन प्राण होते है।

(जो जीव मरकर नवीन भव धारण करने जाता है उस समय विग्रह गति होती है। इस विग्रह गति मे अपर्याप्त अवस्था रहती है। विग्रह गति मे जीव १ समय से तीन समय तक रहता है।)

*** सिद्धों के प्राण ***

यह जो कथन किया गया है वह कर्म सहित संसारी जीवो के व्यवहार प्राणो का है। इनके सिवाय दूसरे मुक्त जीव है जो सिद्ध भी कहलाते है। वे अष्ट कर्म रूप बन्धन से रहित हो चुकने के कारण फिर कभी भी जन्म मरण रूप ससार मे नही आते। उनके निश्चय नय से सुख, सत्ता, चैतन्य, और बोध रूप ४ चार प्राण होते है। जिनका सूचक अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य है। इस प्रकार अनन्त चतुष्टय सिद्धो मे अनन्त काल तक रहता है। यद्यपि ये सब मुक्त आत्माओ में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से समान है, अर्थात् अनन्त सुखादि रूप आत्मीय गुणो की अपेक्षा एक सिद्ध दूसरे सिद्ध मे रच मात्र भी न्यूनता (कमी) नही है., तथापि जिस पूर्व क्षेत्र काल आदि को छोड कर वे मुक्तावस्था को प्राप्त हुए है उसके ग्राहक व्यवहारनय की अपेक्षा से "क्षेत्र-काल-गति लिङ्ग तीर्थ चारित्र प्रत्येक बुद्ध बोधित ज्ञानावगाहनानन्तरसख्याल्पबहुत्वतः साध्याः" इस सूत्रानुसार सिद्धो के १२ भेद है। सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक मे प्रत्युत्पन्ननय और भूतनय की अपेक्षा से इनका विवेचन किया गया है, यहां पर विस्तार के भय से थोड़ा कथन किया जाता है।

सिद्धो के क्षेत्रादि की अपेक्षा १२ भेद और उनका स्वरूप—

१. क्षेत्र—तद्भव मोक्षगामी (उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरम शरीरी) अढाई द्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रादि १५ कर्म भूमियो मे ही जन्म लेते है। अतः जन्म की अपेक्षा से १५ कर्मभूमियो से सिद्ध होते है और सहरण (उठा कर अन्यत्र कही ले जाने) से अढाई द्वीप से सिद्ध होते है। २. काल—अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमा दुःषमा काल के अन्तिम भाग मे और चतुर्थ काल मे जन्मे हुए जीव ही सिद्ध होते है। ३. गति—

मनुष्य गति से ही सिद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है। ये तीनो कथन भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षा से है। ४ लिङ्ग—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा अवेद से सिद्धि होती है। ५ तीर्थ—कोई तीर्थङ्कर अवस्था से, कोई इसके बिना ही, और कोई तीर्थङ्कर की विद्यमानता (मौजूदगी) में, और कोई इनकी अविद्यमानता मे सिद्ध होते है। ६ चारित्र—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा से यथाख्यात चारित्र से, और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा पाचो चारित्रो से सिद्ध होते है। ७ प्रत्येक बुद्ध-बोधित—जो अपने आपही ज्ञान के अतिशय को प्राप्त हुए वे प्रत्येक बुद्ध है और जिनको दूसरे के द्वारा ज्ञान की प्रकर्षता प्राप्त हुई हो वे बोधित कहलाते है। इन दोनो भेदो के धारक सिद्ध होते है। ८ ज्ञान—प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा केवलज्ञान से और भूतनय की अपेक्षा २, ३ वा ४ ज्ञान से सिद्ध होते है। ९ अवगाहना--कोई तो ५२५ धनुष के उत्सेध से और कोई कुछ कम साढे तीन अरत्नि के जघन्य उत्सेध से मुक्त होते हैं। मध्य के अनेक भेद है। १० अन्तर--अनन्तर (लगातार) जघन्य दो समय और उत्कृष्ट ८ समय का है और सान्तर (विरह काल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट ६ मास का है। ११ सख्या--जघन्य की अपेक्षा से एक समय मे एक, और उत्कृष्ट की अपेक्षा से एक समय मे १०८ जीव सिद्ध होते है।
१२ अल्पबहुत्व--कर्मभूमि; अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्व (ऊ चा), अधः नीचा और तिर्यक् तिरछा इन सात क्षेत्रो की अपेक्षा अल्पबहुत्व का कथन है।

ऊर्ध्वलोक से सिद्ध हुए सिद्ध कम है। उनमे सख्यात गुणे अधोलोक से सिद्ध हुए है। इनसे सख्यात गुणे तिर्यक् लोक से सिद्ध हुए है। सबसे कम समुद्र से सिद्ध हुए है। उनसे सख्यात गुणे द्वीप से सिद्ध हुए है। जिस प्रकार यहा क्षेत्र की अपेक्षा से अल्प बहुत्व दिखलाया गया हे उसी प्रकार कालादि की अपेक्षा से भी आगमानुसार अल्प बहुत्व जान लेना चाहिये। इस प्रकार मुक्त जीवो के नय की अपेक्षा से १२ भेद बतलाकर अब जो कर्म सहित होने के कारण जन्म रूप ससार मे परिभ्रमण करने वाले ससारी जीव है उनके भेद प्रभेदो का कथन करते है।

— ससारी जीवो के भेद —

हो। इन सबके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। ये सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, नित्य-निगोद, इतरनिगोद, साधारण सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक आदि भेद वाले होते है।

*** स्थावर कायिक जीवों के ४ भेद ***

१. **पृथ्वी**—यह आगे के तीनो भेदो में रहने वाला साधारण (सामान्य) भेद है, क्योकि सामान्य के बिना विशेष नही हो सकता। २ **पृथ्वीजीव**—जो जीव मरण कर (अपने पूर्व शरीर को छोडकर) पृथ्वी रूप शरीर को धारण करने के लिये विग्रह गति से आ रहा हो वह पृथ्वीजीव कहलाता है। ३ **पृथ्वीकायिक**–जिसने विग्रह गति मे से आकर पृथ्वी रूप शरीर धारण कर लिया है वह पृथ्वीकायिक है। ४ **पृथ्वीकाय**–पृथ्वी कायिक जीव से छोड़ा हुआ जो अचेतन शरीर है वह पृथ्वी काय है जैसे पकी हुई ईंट। इसी प्रकार जलकायिक, अग्निकायिक आदि के भी चार २ भेद समझ लेने चाहिये। **–त्रस जीवो के भेद**–त्रस नाम कर्म के उदय से जो त्रस पर्याय को प्राप्त होते है वे त्रस जीव कहलाते है। इनके द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये चार भेद हैं।

द्वीन्द्रियजीव–वे हैं जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया हो। जैसे शख, लट, केचुआँ (गिडोंआ) आदि। **त्रीन्द्रियजीव**—वे है जिनके स्पर्शन, रसना, और घ्राण ये तीन इन्द्रिया हो। जैसे चीटी, बिच्छू, खटमल, जू, ईली (नाज का कीडा), घुण आदि। **चतुरिन्द्रियजीव**–वे हैं जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु ये चार इन्द्रिया हो। जैसे भौंरा, वर्र (ततइया), मच्छर, मक्खी आदि। ये प्राय उडने वाले ही देखे जाते है और सदश (काटने वाले) भी होते है। **पचेन्द्रियजीव**–वे है जिनके स्पर्शन्, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रिया हो। इनके संज्ञी और असज्ञी दो भेद है। इनमें से जो जीव दूसरे के समझाने से अपने हित और अहित को समझ सकते है, उठना, बैठना, चलना, नाचना आदि सीख सकते है, जैसी बोली बुलवावे वैसी बोली बोल सकते है; वे देव, नारकी, मनुष्य, वानर, हाथी, गाय, घोडा, भैंस, रीछ, सिंह, कुत्ता, बिल्ली, कबूतर, सूआ (तोता), मैना, सर्प, नकुल (नौला), मगर मच्छ, आदि जीव मन सहित होने के कारण संज्ञी (सैनी पचेन्द्रिय) है।

जो अपने भले बुरे को विशेष न समझते हो और सिखाये से भी नही सीख सकते हो, वे मन रहित होने से असज्ञी (असैनी) पचेन्द्रिय कहलाते है। जैसे जल के साप, कोई कोई जगली चूहे, मेंढक आदि ऐसे जीव है जिनके कि मन नही होता। चक्रवर्ती की रानी आदि को छोडकर शेष आर्य खड की स्त्रियो की काख, स्तन, मल मूत्रादि में अत्यन्त सूक्ष्म शरीर के धारक संज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य भी उत्पन्न होते है, ऐसा गोम्मटसार जीवकाड मे जीव समास अधिकार मे बतलाया है। इनके सिवाय सभी स्थावर और विकलत्रय जीव

भी सर्वथा मनके न होने के कारण असंज्ञी ही है। —*जीव का विशेष स्वरूप*—

१ **कर्त्ता**—यह जीव शुद्ध निश्चयनय से मन, वचन और कार्य के व्यापार से रहित मुक्त अवस्था में तो ज्ञान दर्शनादि रूप शुद्ध भावो का ही कर्त्ता है और ससारावस्था मे व्यवहारनय से मन, वचन और काय रूप योगों के व्यापार द्वारा पुण्य, पाप का भी कर्त्ता है। अत' साख्यमत वालो का यह मानना कि आत्मा तो कुछ नही करता है, केवल प्रकृति ही करती है, मिथ्या है। २ **भोक्ता**—शुद्ध निश्चयनय से जीव स्वाभाविक अनन्त सुख, अनन्त वीर्यादिक का भोक्ता है और व्यवहारनय से पुण्य पाप के फलरूप साँसारिक सुख-दु खो का भोगने वाला है। ३ **अमूर्त्त**—यद्यपि मुक्त जीव कर्मो से अथवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पुद्गल के गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त्तिक है; तथापि ससारी जीव कर्म और कर्म जनित शरीरो का धारक होने से मूर्त्तिक अथवा आकार का धारक है। यहां पर यह कथन इसलिए किया गया है कि भट्ट (मीमांसक) और चार्वाक मत वाले जीव को अमूर्त्तिक नही मानते है। उस एकान्त सिद्धनत को सत्य नही समझना।

४ **शरीर परिमाण**—यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से जीव लोकाकाश जितना असख्यात प्रदेशी है और अपनी ज्ञान शक्ति से तीन लोक के चराचर प्रदार्थों को जानने वाला होनें से ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी भी है, तथापि जैसे दीपक को एक छोटे से घडे मे रख दिया जावे तो उसमे ही प्रकाश समा जाता है उसी प्रकार व्यवहार में आत्मा भी अपने सङ्कोच विस्तार रूप गुण से जैसा शरीर मिलता है उसी प्रकार जितना बन जाता है अर्थात् कीडी के शरीर मे प्रदेशों को सङ्कोच कर छोटा तथा हाथी के शरीर मे प्रदेशो को विस्तार कर बडा हो जाता है। समुद्घात अवस्था के बिना आत्मा के प्रवेश अपने शरीर से बाहर कभी नही निकलते है। अत. नैयायिक, मीमासक और साख्यमत वालो का जीव का शरीर रूप से सर्व व्यापक मानना है सो सर्वथा असत्य है।

५ **नित्य**—शुद्ध निश्चयनय से जीव अनादि निधन (आदि अन्त से रहित) होने के कारण नित्य है और सुख सत्ता चैतन्य आदि भाव प्राणो से सदा जीवित रहता है, तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से ससार मे इन्द्रिया, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप चार प्राणों से त्रिकाल में जीवित माना जाता है। **भावार्थ**—ससार मे जीव एक शरीर से मरण कर अधिक से अधिक ३ समय में दूसरा शरीर धारण कर लेता है। विग्रह गति की अपर्याप्त अवस्था मे भी उसके ३ प्राण रहते है, इसलिये कभी जीव का नाश नही होता। अत: जन्म मरण करने पर भी जीव अनित्य नही है। अत चार्वाकमत वाले जो जीव को अनित्य और बौद्ध मतावलम्बी जीव को क्षणमात्र मे नष्ट होने वाला मानते है वह अनुचित है।

६ **उपयोगवान्**—उपयोग दो प्रकार का है १ दर्शनोपयोग:-और २ ज्ञानोपयोग।

इनमे दर्शनोपयोग सामान्य (सत्तामात्र) को ग्रहण करने वाला निर्विकल्पक और निराकार है चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल के भेद से चार प्रकार का है । ज्ञानापयोग दो प्रकार का है सम्यग्ज्ञानरूप और मिथ्याज्ञानरूप सम्यग्ज्ञानरूप उपयोग-मति, श्रुत, अवधि, मन· पर्यय, और केवलज्ञान भेदों से पांच प्रकार का, और मिथ्याज्ञानरूप उपयोग कुमति, कुश्रुत और कुअवधि इन भेदो से तीन प्रकार का है । इनमे मति, श्रुत, कुमति और कुश्रुत ये चार ज्ञान तो परोक्ष हैं और अवधि, कुअवधि और मन· पर्यय ये तीन विकल प्रत्यक्ष, और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने के कारण केवल ज्ञान तो क्षायिक और शेष ज्ञान क्षायोपशमिक है । क्षायोपशमिक ज्ञान वाले छद्मस्थ कहलाते है। छद्मस्थो के जो ज्ञान होता है वह दर्शनोपयोग पूर्वक ही होता है । केवल दर्शन और केवल ज्ञान ये दोनो युगपत् (एकसाथ) ही होते है इन १२ प्रकार के उपयोगो मे से शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से तो पूर्ण और निर्मल केवल दर्शन, तथा केवल ज्ञान रूप दो उपयोगो का धारक है और व्यवहारनय से कर्मो के क्षयोपशम जनित शेष १० उपयोगो का धारक है ।

द्रव्य सग्रह मे तथा अन्य ग्रन्थो मे जीव के ससारीपना, मुक्तपना, और ऊर्ध्वगमनत्व भी दिखलाया गया है, उसको सक्षेप मे यहा भी बतलाते है—अनादिकाल से कर्मों से बधा हुआ आत्मा पहिले तो ससार मे रहता है, और फिर कर्मों के नाश होने पर मुक्त होकर लोकान्त मे जाकर निवास करता है एव जन्म मरण से रहित हो जाता है । कर्म सहित आत्मा मरण कर अधो, ऊर्ध्व और पूर्वादिचारो दिशाओ मे गमन करता है, किन्तु जब कर्म रहित हो जाता है तो जिस प्रकार जल मे मिट्टी सहित तूबी पहिले तो जल मे रहती है और मिट्टी छूटते ही जल के ऊपर आ जाती है अथवा जैसे हवा के झोके से अग्नि की ज्वाला इधर उधर जाती है किन्तु हवा के बिना ऊर्ध्व गमन ही करती है, उसी प्रकार कर्म रूप रज से व वायु के झोके से रहित होकर यह आत्मा भी अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोकान्त तक ऊर्ध्व गमन करता है ।

अजीव तत्व का वर्णन–जिसमे चेतना नही हो, अर्थात् जो सुख दु ख का अनुभव न करता हो; हित अहित को सर्वथा न समझता हो., बढता न हो, खाता पीता न हो., चलता, फिरता, उठता, बैठता, सोता, जागता, न हो, वह सब जड़ स्वभाव का धारक अजीव है । इसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाच भेद हैं । **पुद्गल-द्रव्य**–इनमे से जो पूरण गलन स्वभाव का धारक है, अर्थात् जिसमे परमाणुओ के सघटन (मिलने) और विघटन (अलग होने) मे स्थूलता, सूक्ष्मता भारीपन, हलकापन आदि होता है, वे पुद्गल कहलाते हैं। ये रूपी अर्थात् इनमे शीत(ठंडा), उष्ण(गर्म), स्निग्ध(चिकना), रूक्ष(रूखा), गुरु (भारी) लघु(हलका) मृदु(कोमल) और कर्कश (कठोर) ये ८ स्पर्श है । मधुर(मीठा) अम्ल

(खट्टा)तिक्त(चरपरा व तीखा)कटुक(कड़ुवा)और कषाय [कसायला] ये पांच रस है। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से २ गन्ध है। श्वेत[सफेद] रक्त[लाल] पीत[पीला] कृष्ण (काला) और नील (नीला) ये पांच प्रकार के वर्ण(रूप) है। इस प्रकार विशेष अपेक्षा से २० और सामान्य अपेक्षा से रूप रस गन्ध स्पर्श ये ४ गुण है।

पुद्गल दो प्रकार के है १ अणु और २ स्कन्ध। इनमें से एक शुद्ध अविभागी पुद्गल परमाणु में स्निग्ध रूक्ष में से कोई एक और शीत उष्ण में से कोई एक ऐसे दो स्पर्श; और ५ वर्णो मे कोई १ वर्ण दो गन्धो मे कोई एक गन्ध, और ५ रसो में से कोई एक रस इस प्रकार एक अविभागी पुद्गल परमाणु मे ५ गुण अवश्य रहते है। भेद से, सघात से और भेद संघात से स्कन्ध रूप पुद्गल होते हैं। (तत्वार्थसार)

अनन्तपरमाणूनां, संघातः स्कन्धइष्यते।
देशस्तस्याद्धं मर्द्धार्द्ध, प्रदेश परिकीर्त्तितः ॥ ५७३ ॥

अर्थ—अनन्त परमाणुओं के सघात अर्थात् सम्मेलन से स्कन्ध होता हैं। स्कन्ध के अर्द्धांश को देश और चतुर्थाश को प्रदेश कहते है। जैसे पुद्गल परमाणु मे रूप रस गन्ध स्पर्श रहते है। वैसे ही ये चारो गुण पुद्गल स्कन्धो मे भी रहते है। परन्तु २० भेदो मे से ५ से अधिक भेद रहते है। — *** पुद्गल स्कन्धों की पर्याये ***—

१ **शब्द**–पुद्गल से पुद्गल का सम्बन्ध होने पर आवाज होना। २ **बन्ध**–पुद्गलों का आपस मे मिल जाना। **३ सौक्ष्म्य**–पुद्गलों का भेद होने पर सूक्ष्मता का उत्पन्न होना। ४ **स्थौल्य**–पुद्गलो मे परस्पर मिलने की स्थूलता होना। ५ **सस्थान**–गोल, चौकोर, त्रिकोण आदि आकारो का होना। ६ **भेद**–ये छह प्रकार का है। १ उत्कर २ चूर्ण ३ खण्ड ४— चूर्णिका ५ प्रतर और ६ अनुचटन्। क. **उत्कर**—करोत आदि से चिरी हुई लकड़ी आदि का बूर। ख **चूर्ण**—गेहूँ आदि का चूर्ण। ग. **खण्ड**—मिट्टी के घड़े आदि के टुकड़े। घ **चूर्णिका**—उड़द मूंग आदि की चूरी अथवा दाल। ङ **प्रतर**—अभ्रक (भोडल) के पटलो की तरह किसी भी पदार्थ के पडत अथवा पटल। च **अनुचटन**—उडना। जैसे अग्नि से तपाये हुए लोहे के गोले मे से अग्नि कणो (स्फुलिगो) का निकलना।

७ **तम**—अन्धकार। ८ **छाल**—जो सूर्य चन्द्रादि के प्रकाश को ढकदे। ९ **आतप**–उष्णता लिये हुए सूर्य आदि का प्रकाश। १० **उद्योग**—चन्द्रमा आदि का प्रकाश जो ठडा हो। इनके सिवाय अन्य भी भेद है।

पुद्गलों की स्थूलता व सूक्ष्मता की अपेक्षा मे निम्न लिखित ६ भेद हैं। —

१ बादर-बादर—जिसका छेदन भेदन हो सके और जो दूसरी जगह ले जाया जा सके वह बादर है। जैसे काष्ठ पाषाणादि। २ बादर—जिसका छेदन भेदन न हो सके,

परन्तु जो दूसरी जगह ले जाया जा सके । जैसे जल, तेल, घी आदि । ३ बादर-सूक्ष्म—जिनका छेदन भेदन तथा अन्यत्र ले जाना कुछ भी न हो सके; परन्तु जो आखो से दिखलाई देवे । जैसे छाया, धूप, चांदनी आदि । ४ सूक्ष्म-बादर—जो नेत्रो से तो दिखलाई न देवे, किन्तु अन्य चारों इन्द्रियो का विषय हो । ऐसे शब्द, गंध, रस आदि । ५ सूक्ष्म—जो किसी भी इन्द्रिय के विषय न हो ऐसा पुद्गल स्कंध । जैसी कर्म वर्गणा । ६ सूक्ष्म-सूक्ष्म—जो स्कध रूप नही है ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं ।

❋ धर्म--द्रव्य का स्वरूप ❋

गइपरिणयाण धम्मो, पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोय जह मच्छाणं, अच्छंताणेव सो णेई ।। १७ ।। [द्रव्य सग्रह]

अर्थ—जैसे गमन मे परिणत मछलियो के लिये जल सहायक है उसी प्रकार गमन करने वाले जीवो और पुद्गलो के लिये धर्म द्रव्य सहायक है । यह किसी को प्रेरणा करके एवं धक्का देकर नही चलाता, किन्तु उदासीन रूप से कारण है । जैसे-स्वयं चलते हुए रेल के इन्जन को चलने मे लोहे की पटरी उदासीन रूप से सहायक है, उसी प्रकार स्वय गमन करते हुए जीव व पुद्गल को गमन करने मे धर्म द्रव्य सहायक है । यदि ऐसा नही माना जावे तो जो जीव अष्ट कर्मो का नाश करके शरीर को छोड़कर अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव से ऊर्ध्व गमन करते है वे अनन्त अलोकाकाश में अनन्तकाल तक ऊर्ध्व गमन ही करते रहेगे । उनका आकाश प्रदेशो मे कही भी ठहरना न होगा । इसलिये धर्म द्रव्य मानने की जरूरत है । धर्म द्रव्य जहा तक लोकाकाश है वही तक है । यही कारण है कि अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव होने से जीव का गमन रुक जाता है और उस मुक्त जीव के पूर्व शरीरवर्त्ती मस्तक के आत्म प्रदेश, लोक के अन्त मे जाकर ठहर जाते हैं । कोई जीव किसी भी छोटी बड़ी अवगाहना से मुक्त हुए हो परन्तु सब सिद्धों के मस्तक सम्बन्धी आत्म प्रदेश लोकान्त मे समतल मार्ग में ही विराजमान रहते है । यदि धर्म द्रव्य नही होता तो मुक्त जीवो का ठहरना नही होता । अतएव जैन शास्त्रो मे धर्म द्रव्य का अस्तित्व माना गया है । जैनेतर शास्त्रो में यह धर्म द्रव्य का वर्णन नही देखा जाता ।

— ❋ अधर्म-द्रव्य का स्वरूप ❋ —

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाण, गच्छता णेव सो धरई ।। १८ ।। (द्रव्य संग्रह)

अर्थ—जैसे वृक्ष की छाया पथिक के लिये ठहरने मे सहायक है उसी प्रकार जो ठहरते हुए जीव और पुद्गलो के ठहरने मे सहायक हो वह अधर्म द्रव्य है । यह भी धर्म

द्रव्य के समान उदासीन रूप से कारण है, प्रेरणा से नहीं। यह द्रव्य भी लोक के अन्त तक व्याप्त है। जब मुक्त जीवों का धर्म द्रव्य के अभाव से आगे अलोकाकाश मे गमन नही होता तब वे इसी की सहायता से लोकान्त में स्थित होते है। **आकाश द्रव्य का लक्षण—**

अवगासदाणजोग्ग, जीवादीण वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं, अल्लोगागासमिदि दुविह ॥ १९ ॥
धम्माऽधम्मा कालो, पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो, तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ २० ॥ (द्रव्य-सग्रह)

अर्थ—जो समस्त पदार्थों को अवकाश (स्थान) देने योग्य है, अर्थात् जिसमें समस्त द्रव्य एक साथ परस्पर एक दूसरे को बाधा नही पहुचा कर रहते है, वह आकाश द्रव्य है। यह लोकाकाश और अलोकाकाश भेद से दो प्रकार का है। जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाचों द्रव्य है वह लोकाकाश है और जहा पर आकाश के सिवाय कुछ नही उसका नाम अलोकाकाश है। आकाश के उक्त दो भेद उपाधि की अपेक्षा से ही है, नही तो आकाश द्रव्य अनन्त, अमूर्त्त, जड, सर्वव्यापी, नित्य, निष्क्रिय, और स्वप्रतिष्ठित (अपने आप मे ही) रहने वाला है। आकाश के प्रदेश अनन्त और लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात है।

* काल---द्रव्य *

दव्वपरिवट्टरूवो, जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥ २१ ॥ (द्रव्य–सग्रह)

अर्थ—काल द्रव्य दो प्रकार का है., एक निश्चय काल और दूसरा व्यवह.र काल। जो जीवादि द्रव्य अपने ३ उपादान रूप कारण से अपने आप ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होने रूप परिणमन कर रहे है उनके परिणमन मे जो सहायता देना है यही वर्तना कहलाती है। इस वर्त्तना रूप लक्षण का धारक निश्चय काल है।

यथा कुलालचक्रस्य, भ्रान्तेर्हेतुरध शिला, तद्वत् काल· पदार्थानां, वर्त्तनोपग्रहे मतः। आदिपुराण

अर्थ—जैसे भ्रमण करते [घूमते वा चक्कर देते हुए] कुम्भकार के चाक से घूमने में उसके नीचे की कीलीदार शिला सहायता देती है उसी प्रकार क्षण क्षण मे एक पर्याय से दूसरी पर्याय को धारण करने वाले जीवादि द्रव्यों के परिणमन में जो सहायक है वही निश्चय काल है। समय समय मे पूर्व पर्याय को छोड कर उत्तर पर्याय को धारण करना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। यदि ऐसा स्वभाव नही हो तो उसमे "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त सत्" इस सूत्र द्वारा जो सत् का लक्षण किया गया है उसके नही रहने से उस द्रव्य का अस्तित्व ही नही रहे। अत. निश्चय काल परिणमन मे सहायक होकर सब द्रव्यो का

उपकारक है, ऐसे, समझना चाहिए। शङ्का---द्रव्य मे एक समय के भीतर ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कैसे हो जाता है ? उत्तर—जैसे हाथ की सीधी अगुली को टेढी की जावे तो उसमे सरलता रूप पर्याय का नाश, तथा वक्रतारूप पर्याय की उत्पत्ति एक ही साथ होती है, और अंगुली का ध्रौव्य पना दोनो अवस्थाओ मे ही साथ रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है। जीव और पुद्गल की स्थूल पर्यायो मे जो समय, घडी, प्रहर आदि की स्थिति बतलाई है वह व्यवहारकाल कहलाता है। यह व्यवहार काल यद्यपि सूर्य चन्द्रादि के परिभ्रमण रूप निमित्तो से बनता है, अर्थात् दिन, रात्रि, मास, वर्ष आदि काल के भेद से तथा सूर्यादि के गमन से ही बने हे, परन्तु व्यवहार काल का मूल कारण तो निश्चय काल ही है।

भावार्थ—जो अनादि निधन अमूर्त्त, नित्य, और समय आदि का प्रधान कारण होकर भी समयादि के विकल्प से रहित कालाण द्रव्य रूप है वह तो निश्चय काल है और जो सादि सान्त है, समय, घटिका, प्रहर आदि शब्दो से कहा जाता है, वह व्यवहार काल है। जो चेतन वा अचेतन द्रव्य मे अपनी जाति को नही छोड कर पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से पूर्व पर्याय को छोड कर उत्तर पर्याय धारण करने रूप विकार होता है उसे परिणाम कहते है। यह परिणाम दो प्रकार का है—१ प्रयोगज और दूसरा वैस्रसिक। इनमे अचेतन मृत्तिका का जो कुम्भकार के प्रयोग से घट रूप हो जाना है वह प्रयोगज है और दूसरा पुरुष प्रयोग के बिना पुद्गलो का जो इन्द्र धनुष आदि रूप होना है वह वैस्र-सिक है। 'विस्रसा' नाम स्वभाव का है। और जो स्वभाव से हो उसको वैस्रसिक या नैसर्गिक कहते हैं। पुद्गल की तरह जीवादि मे भी दोनों ही परिणमन समझने चाहिये। हलन चलन का होना ही क्रिया है। यह भी दो प्रकार की होती है। पुरुष आदि के प्रयोग से जो गाड़ी आदि का हलन चलन होता है वह प्रायोगिकी क्रिया और मेघ (बादल) आदि में जो चलने रूप क्रिया है वह वैस्रसिकी क्रिया है। परत्व और अपरत्व यह परस्पर मे एक दूसरे की अपेक्षा रखते है और प्रशसा, क्षेत्र एव काल के भेद से ३ प्रकार के हैं।

१ **प्रशसाकृत**—जैसे अहिंसादि अच्छे गुणो का धारक धर्म तो पर कहलाता है और दोष रूप अधर्म अपर कहलाता है। २ **क्षेत्रकृत**—जैसे भूमि में दो पुरुष एक साथ चल रहे है, इनमे से जो ज्यादा दूर चला जाय वह तो पर और जो थोड़ी दूर गया वह अपर कहलाता है। ३. **कालकृत**—जैसे एक सौ वर्ष की आयु वाला जो वृद्ध है वह पर कहलाता है और १६वर्ष की उम्र वाला अपर कहलाता है। इतने विवेचन से यह बतलाया गया है कि किस द्रव्य का क्या अर्थ किया है। अर्थ-क्रिया-कारित्व पदार्थ का लक्षण है। प्रति समय प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थ-क्रिया करता रहता है। अर्थ-क्रिया में पदार्थ स्वय

उपादान कारण है और दूसरे पदार्थ निमित्त कारण। इस उपादान-निमित्त को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। जीवादिक द्रव्य परस्पर एक दूसरे की अर्थ क्रिया में निमित्त बनते रहते है।

*** द्रव्य सामान्य का लक्षण ***

"सद्द्रव्यलक्षणम्" इस ५वे अध्याय के २९वे सूत्र द्वारा मोक्ष शास्त्र मे, जो सत् है वही द्रव्य है ऐसा द्रव्य का लक्षण कहा गया है। उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्,, इस ५ वे अध्याय के ३० वे सूत्र के अनुसार जिस वस्तु में उत्पाद (नवीन पर्याय) की उत्पत्ति, व्यय (पहली पर्याय का नाश), और ध्रौव्य अर्थात् पूर्वोत्तर (पहली और अगली) पर्यायो में अनादि काल से चले आये हुए वस्तु के पारिणामिक (असली) स्वभाव का नाश न होना ये तीनो बाते पाई जावे उसे सत् कहते है। दोनो सूत्रो का भाव यह है कि जैसे कुम्भकार मृत्तिका (मिट्टी) का पहिले पिण्डा बनाता है और फिर उस पिण्डे का घट बनाता है तब उस पिण्ड–पर्याय का नाश होकर फिर घटरूप पर्याय की उत्पत्ति होती है, अतः पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से तो पिण्ड पर्याय का नाश और घट पर्याय की उत्पत्ति हुई; परन्तु इन दोनों के उपादान कारण रूप जो मृत्तिका है वह पिण्ड मे भी रही और घट मे भी। अर्थात् वह दोनो पर्यायो मे ही स्थिर रूप है, वैसे ही जीवादि द्रव्यो मे भी उत्पाद व्यय-ध्रौव्य है। एक जीव जब मनुष्य शरीर रूप पर्याय को छोड़ कर देव रूप पर्याय को ग्रहण करता है तब मनुष्य पर्याय का नाश होकर देव पर्याय की उत्पत्ति होने पर भी जो जीव मनुष्य मे था, वही देव मे भी है। यहाँ पर्यायार्थिक की अपेक्षा जीव का मरण और जन्म माना गया है। परन्तु द्रव्यार्थिक से दोनो पर्यायो मे ही जीव का नाश न होने से भी ध्रौव्य भी रह गया। इसी प्रकार अन्य सब द्रव्यों मे भी द्रव्य की अपेक्षा ध्रौव्य और पर्याय की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, समझना चाहिये।

"सद्रव्यलक्षणम्" द्रव्य के इस लक्षण के अतिरिक्त "गुणपर्ययवद्द्रव्य" गुण पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है, ऐसा जो द्रव्य का दूसरा लक्षण किया गया है उसका कुछ विशेष विवरण करते है। "द्रव्य द्रव्यान्तराद्येन विशिष्यते स गुण:। तेन हि तद् द्रव्य विधीयते। असति तस्मिन् द्रव्यसकरप्रसग स्यात् तद्यथा-जीव. पुद्गलादिभ्यो ज्ञानादिभिर्गुणैर्विशिष्यते, पुद्गलादयश्च रूपादिभि ततश्चविशेषे संकर. स्यात्। तत.सामान्यापेक्षया अन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्यगुणा। पुद्गलादीनां च रूपादय। तेषा विकारा विशेषात्मकाः भिद्यमाना. पर्याया। (सर्वार्थसिद्धि अ ५ सूत्र ३८) जिसके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से जुदा किया जावे वह गुण कहलाता है और वह द्रव्य से कभी जुदा नही होता अर्थात् वह द्रव्य के साथ ही रहता है। इस गुण के कारण ही वह द्रव्य कहलाता है। यदि द्रव्य मे गुण न हो तो फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे मिल जावे। उदाहरणार्थ पीलापना, भारीपना और कोमलपना

ये सुवर्ण के, और श्वेतपना, हलकापना और कठोरपना ये चादी के गुण है। अत: इन्हीं गुणो से सोना और चादी जुदे २ पहिचाने जाते हैं। इसी प्रकार जीव द्रव्य के साथ त्रिकाल मे रहने वाला जो चेतनत्व है वह उसका गुण कहलाता है। यह गुण दूसरे द्रव्यो में न होने से अन्य द्रव्यो से जीव द्रव्य को जुदामाना है। गुण अन्वयी और सहभावी होते है। किन्तु पर्याये क्रमभावी होती है एक दुसरे से नही मिलती। उनका धर्म व्यतिरेक है। कोई गुण पर्याय के बिना नही रहता और कोई पर्याय विना गुण के नही होती। और ये दोनो द्रव्य मे भिन्न भिन्न रूप से सदा विद्यमान रहते है। इसे उदाहरण देकर समझा रहे है—

जैसे सोने के कड़े का भुजवन्ध बन गया तव कटक पर्याय का नाश होकर दूसरी पर्याय उत्पन्न हो गई, जिससे सोने मे भी कुछ भेद बुद्धि पैदा होगई। इसी तरह जो जीव देव था वह मरकर मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होने से मनुष्य कहलाने लगा। इससे जीव द्रव्य मे भी भेद कल्पना होगई। यह उदाहरण स्थूल है। यहा पर यह समझ लेना आवश्यक है कि गुण तो सहभावी होने से अर्थात् हर दशा मे द्रव्य के साथ रहने से उसके स्वरूप की रक्षा करता हुआ द्रव्य मे ध्रौव्य (स्थिरत्व) रखता है, किन्तु पर्याये क्रमभावी है, अत पूर्व पर्याय के नष्ट होने पर जो दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती है वह, उसमे भेद प्रतीति की जनक होकर उत्पाद और व्यय करती है। अतएव पर्याय को क्रमभावी (क्रम२ से होने वाली) कहा गया है। आचार्यो ने "सद्द्रव्य लक्षणम्" और "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" ये दो लक्षण केवल मन्द बुद्धियो के लिये ही किये है। वास्तव मे विचार किया जावे तो दोनो का आशय एक है। द्रव्य के दोनो ही लक्षण जीव पुद्गल आदि मे मिलते हैं। अत: इन छहो को द्रव्य माना गया है।

* द्रव्य के गुण *

छहों द्रव्यो मे निम्नलिखित ६ गुण सदा समान रूप से रहते है। किसी भी द्रव्य मे किसी गुण का अभाव नही होता। १ **अस्तित्व**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश नही हो उसे अस्तित्व गुण कहते हैं। २ **वस्तुत्व**–जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य मे अर्थ क्रिया से अर्थात् वह कुछ न कुछ काम करता रहे। ३. **द्रव्यत्व**–जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य एक पर्याय को छोड़ कर दूसरो पर्याय (अवस्था) रूप परिणमन करता है, बदलता है, वह द्रव्यत्व गुण है। ४ **प्रमेयत्व**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी न किसी के ज्ञान का विषय हो। यदि वह और किसी के ज्ञान का विषय न हो तो सर्वज्ञ के ज्ञान का विषय तो जरूर ही हो, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। ५. **अगुरुलघुत्व**–जिस शक्ति के होने से द्रव्य को एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नही हो अथवा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नही हो,

अथवा एक द्रव्य के गुण बिखर कर जुदे २ न हो जावें वह अगुरुलघुत्व है। ६. **प्रदेशवत्त्व**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार हो वह प्रदेशत्व गुण है। इन सब गुणों को साधारण गुण कहते है क्योकि यह द्रव्यों में रहते है। इन सब गुणो के अतिरिक्त द्रव्यों मे और भी गुण है, परन्तु वे सब में नही रहते, इसलिये वे विशेष गुण कहलाते है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गध, वर्ण, गतिहेतुत्त्व, अवगाहनहेतुत्त्व, वर्तनाहेतुत्त्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्त्तत्व उन भेदो से ये १६ प्रकार के गुण है। आगे वह बताते है कि किस २ द्रव्य में कौन २ गुण है।

(क) **जीव में**—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये छह गुण होते है। (ख) **पुद्गल में**—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अचेतनत्व और मूर्तत्व ये छह गुण है। (ग) **धर्मद्रव्य में**—गतिहेतुत्व, अचेतनत्व, और अमूर्तत्व ये तीन गुण है। (घ) **अधर्मद्रव्य में** स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व, और अमूर्तत्व ये तीन गुण है। (ङ) **आकाशद्रव्य में**—अवगाहन हेतुत्व, अचेतनत्व, और अमूर्तत्व ये ३ गुण हैं। (च) **कालद्रव्य में**—वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्तत्व ये ३ गुण है।

*** द्रव्य की पर्याय ***

गुणो के विकार को पर्याय कहते है। उसके दो भेद है गुणपर्याय और व्यजनपर्याय। गुणपर्याय को अर्थपर्याय और व्यजनपर्याय को द्रव्यपर्याय भी कहते है। ज्ञानादि भाव वाली शक्ति के विकार को अर्थपर्याय अथवा गुणपर्याय कहते हैं और प्रदेशत्वत्व गुण रूप क्रियावती शक्ति के विकार को द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते है। पर्यायो के स्वभावपर्याय और विभावपर्याय इस तरह भी दो भेद है। जो किसी दूसरे निमित्त के बिना ही उसे स्वभाव कहते है और जो दूसरे के निमित्त से वह विभाव कहलाता है। उक्त दोनो पर्यायों के स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से निम्न लिखित ४ भेद हो जाते है।

जीव की चार प्रकार की पर्याये (१) कर्म रहित शुद्ध जीव में जो ज्ञान, दर्शन, सुख, और वीर्य है वे स्वभाव अर्थपर्याय है। (२) ससारी जीव में केवल ज्ञान के बिना मति श्रुत व कुमति कुश्रुत आदि जो कुज्ञान है वे विभाव अर्थपर्याय हैं। (३) ससारी जीव के शरीराकार परिणाम है वे जीव के विभाव व्यञ्जनपर्याय है। (४) मुक्त जीव के अन्तिम शरीर के आकार जो आत्म-प्रदेश है वह जीव की स्वभाव व्यञ्जनपर्याय है।

— * पुद्गल की चार प्रकार की पर्यायें — *

(१) परमाणु में जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण है, वे स्वभाव अर्थपर्याय हैं। (२) पुद्गल स्कन्धों में जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, है, वे विभाव अर्थपर्याय है। (३) जो अनादि निधन काय व कारण रूप पुद्गल परमाणु है वे पुद्गल की स्वभाव व्यञ्जनपर्याय है। (४) पृथ्वी जल आदि रूप स्कन्ध विभाव व्यञ्जनपर्याय है।

जीव और पुद्गलो में ही विभाव पर्याय होती हैं । इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चारो द्रव्यो मे स्वभाव जनित ही अर्थ व्यञ्जन पर्याये होती हैं । इसी तरह धर्म में गतिहेतुत्व, अधर्म मे स्थितिहेतुत्व, आकाश में अवगाहनहेतुत्व, और काल मे वर्तना रूप स्वभाव अर्थ पर्याय हैं । उक्त चारो ही द्रव्य जिस २ प्रकार से सस्थित है वे उनकी स्वभाव व्यञ्जन पर्याय हैं । (आलाप पद्धति)

अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्याया. प्रतिक्षणम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले ।।

अर्थ—जिस प्रकार जल मे लहरिया उठती तथा बैठती है उसी प्रकार जीवादि छहो द्रव्यो मे जो समय २ पर षडगुणी हानि और वृद्धि रूप अगुरुलघु गुण का परिणमन होता है, उससे अपनी २ पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती है। **पंचास्तिकाय**–उल्लिखित छहो द्रव्यो मे ही अस्तित्व सामान्य है किन्तु अस्तिकायत्व पाच ही द्रव्यो मे है अत: अस्तिकाय पाच ही हैं । **होंति असखा जीवे, धम्माधम्मे अणत आयासे ।**

मुत्ते तिविहपदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ ।।२६।। [द्रव्य सग्रह]

उक्त गाथा के अनुसार प्रत्येक जीव असख्यात प्रदेशो का धारक है, तथा धर्म और अधर्म द्रव्य भी असख्यात प्रदेशो वाले है । आकाश द्रव्य मे अलोकाकाश के प्रदेश अनन्त है और लोकाकाश के असख्यात प्रदेश है । मूर्त जो पुद्गल द्रव्य है वह सख्यात, असंख्यात, और अनन्त प्रदेशो का धारक है। लोकाकाश के एक २ प्रदेश पर एक २ कालाणु स्थित है, इसी कारण असख्यात प्रदेशो के धारक लोकाकाश मे असख्यात ही काल द्रव्य हैं और प्रत्येक काल द्रव्य एक २ प्रदेश का धारक है, इस कारण अविभागी पुद्गल परमाणु के समान इसे भी अप्रदेशी माना है । यहा पर यदि यह प्रश्न किया जावे कि लोकाकाश के बराबर ही असख्यात प्रदेश धर्म द्रव्य के भी है और कालाण भी असख्यात है, परन्तु धर्म द्रव्य को तो एक अखण्ड द्रव्य माना है और काल द्रव्य को पृथक् २ असख्यात कालाणु रूप कैसे ? इसका उत्तर यह है कि धर्म द्रव्य के प्रदेश तो आपस मे अखण्ड पिण्ड रूप होकर लोकाकाश मे फैले हुए है । इसलिये वह प्रदेशो के समुदाय रूप होने से काय (शरीर) की तरह एक है और कालाणु एक२आकाश के प्रदेश पर एक दूसरे से मिले हुए न होकर रत्नों के समूह के समान पृथक्२स्थित है । इसका दृष्टान्त यह है कि एक गज भर लम्बी चोडी भूमि पर एक गज लम्बा चौड़ा लठ्ठे का टुकड़ा रख कर उस पर एक २ पोस्त(खस खस) के दाने इस रीति से फैलाये जावे कि उस लठ्ठे का कोई स्थान पोस्त के दाने से खाली न रहे । अब ध्यान देते की बात यह है कि जितना स्थान लठ्ठे ने घेरा है उतना ही स्थान पोस्त के दानो ने भी घेरा है किन्तु लठ्ठे के अंश आपस मे मिले हुए होने से वह तो एक ही कहलावेगा किन्तु पोस्त के दाने पृथक् २ होने से हजारो लाखो कहलावेगे । इसी प्रकार धर्म अधर्म द्रव्य को

एक २ और काल द्रव्य को असख्यात माना है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश के प्रदेश शरीर के प्रदेशो के समान आपस में मिले हुए है, इसलिये वे कायवान् है, और उनका अस्तित्व है ही, इसलिये जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाचो अस्तिकाय कहलाते है।

— * आस्रव-तत्त्व * —

इस प्रकार जीव और अजीव तत्त्व का वर्णन करके अब आस्रव तत्त्व का कथन किया जाता है। जिस प्रकार तालाब में नदी व नालों से वर्षा का जल सचित होता है, उसी प्रकार आत्मा में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति द्वारा कर्म आते है। भाव यह है कि मन मे कुछ विचार करने, वचन से कुछ कहने तथा कायसे कुछ करने के लिये प्रयत्न होते ही शरीरस्थ आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है वह योग कहलाता है। यह योग ही आस्रव है क्योकि इन आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्दन होते ही आत्मा के चो तरफ स्थित जो कार्माण वर्गणारूप पुद्गल है उनका जीव के साथ सयोग हो जाता है। आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है :—

"कायवाङ्मन. कर्मयोग, स आस्रव." (सूत्र. १-२ अध्याय ६)

इन दो सूत्रो के द्वारा मन, वचन और काय के व्यापार रूप योग के कारण मे कार्य का उपचार करके आस्रव (कर्मागम कारण) बतलाया है। योग के अभाव से केवल पुद्गल एवं मुक्तजीव के आस्रव नही होता। क्योकि योग और कर्म विशिष्ट आत्मा दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध है योग के बिना कभी कर्म नही आते। इसलिए योग ही बन्धन अथवा दु ख का कारण है। जब आत्मा के साथ योग का योग (सम्बन्ध) रहता है, तब तक वह कर्म-बन्धन से मुक्त नही हो सकता। जितने भी जीव मुक्त हुये हैं, वे योग का अभाव कर १४वे गुणस्थान मे अयोगी बनकर ही मुक्त हुए है। अतएव मोक्षरूप उपादेयतत्त्व की प्राप्ति के लिए आचार्यों ने यह आस्रव तत्व हेय (त्यागने योग्य) बतलाया है।

—: * आस्रव के भेद और कारण * —

भाव तथा द्रव्य के भेद से आस्रव दो प्रकार का है। आत्मा के जिन भावो से कर्म आते है वे तो भावास्रव है और इस भावास्रव के द्वारा जो कर्म वर्गणा का आना है उसे द्रव्यास्रव कहते है। कहा भी है — (श्री श्रुतमुनि कृत आस्रव त्रिभंगी)

"मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य आसवा होंति।
पणवारस पणवीसा, पण्णरस होंति तब्भेया" ॥ २ ॥

मिथ्यात्व—विपरीत, एकान्त, विनय, सशय, और अज्ञान भेदों से ५ प्रकार, छह काय के जीवो की दया नही पालने से, और ५ इन्द्रिय तथा मन को वश में न करने से १२ प्रकार का अविरमण (असयम), अनन्तानुबन्धी क्रोधादि रूप १६ कषाय एव हास्यादि

रूप ९ कषाय (ईषत् कषाय) को मिलाकर २५ कषाय, तथा काय के ७, मन के ४, वचन के ४ भेद रूप १५ योग इस प्रकार सब मिलाकर भावास्रव के ५७ भेद बतलाये है।

किन्तु— **"मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादग्रोऽथ विण्णेया"** (द्रव्यसंग्रह ३०)

द्रव्य संग्रह की इस गाथा के अनुसार उक्त ५७ भेदों में १५ प्रमाद के भेद और बढा देने से भावास्रव के ७२ भेद भी हो जाते है। यह विवक्षा भेद है। मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषाय के समान प्रमाद भी कर्मास्रव का कारण है। ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय, १ निद्रा और १ प्रणय यह प्रमाद के १५ भेद है। इस आस्रव के मुख्य दो भेद है। **सम्पराय ससारस्तत्प्रयोजन कर्म साम्परायिकम्। ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः। तद् द्वारकं कर्म ईर्यापथम्। सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्टे साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति। अकषायस्योपशान्तकषायादेरीर्यापथस्य कर्मण आस्रवो भवति।** [सर्वार्थ.अ.६सू ४]

भावार्थ–मिथ्यादृष्टि कषाय सहित जीव के साम्परायिक [ससार को बढाने वाला] आस्रव होता है। जिस प्रकार गीले चमड़े पर उडकर आई हुई धूलि चिपट जाती है, उसी प्रकार १०वे गुणस्थान तक जीवो के कषाय के सचिक्कण हुए परिणामो द्वारा आये हुए कर्म दृढ बन्धन को प्राप्त होकर जीव को ससार मे परिभ्रमण कराते है। कषाय रहित ११वे १२वे, १३वे गुणस्थान वाले जीवो के जो केवल योगो के द्वारा (मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से कर्म आता है वह ईर्यापथिक है। ईर्यापथिक कर्म जैसे आता है वैसे ही चला जाता है, क्योकि ठहराने का कारण कषाय नही है। जैसे सूखे घड़े पर आई हुई मिट्टी यो ही उडकर वापिस चली जाती है अर्थात् घडे के नही चिपटती, उसी प्रकार कषाय रहित योग के द्वारा आया हुआ कर्म दूसरे समय मे ही आत्मा से अलग हो जाता है। कषाय के बिना बध को प्राप्त नही होता, अत. संसार–वर्द्धक भी नही है। इसी कारण—

"इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया. पच चतु पच पचविशतिसख्या पूर्वस्य भेदा" (तत्त्वार्थ सूत्र५अ ६)

इस सूत्र के द्वारा साम्परायिक आस्रव के ५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अव्रत और २५ क्रिया रूप ३९ भेद बतलाये है। इनमे १५ योगो को अलग नही लिया है। क्योकि वे कषाय सहित होकर ही साम्परायिक आस्रव के कारण है, बिना कषाय के नही; इसलिए इनको कषाय मे ही शामिल कर लिया है। यह विवक्षा का भेद है।

द्रव्यसग्रह, आस्रवत्रिभङ्गी और तत्वार्थ सूत्र में जो आस्रव के कारण बतलाये गये है उनमें अविरत और कषाय तो तीनो ही ग्रंथो में लिये गये है। अन्य में विवक्षा भेद से कुछ परस्पर भेद है., परन्तु सिद्धान्त से कोई विरोध नही., जैसे–तत्वार्थ सूत्र में मिथ्यात्व और प्रमाद को २५ क्रियाओ मे ले लिया गया है। आस्रव के सम्मिलित कारणों मे से मिथ्यात्व का वर्णन इस अध्याय मे किया जा चुका है। साम्परायिक आस्रव की कारण

भूत २५ क्रियाओ का वर्णन भी आवश्यक है। अतः श्री राजवार्तिक के अनुसार सक्षेप से इनका स्वरूप दिखलाया जाता है।

卐 साम्परायिक आस्रव की कारणभूत २५ क्रियाएं 卐

१. सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमादानेर्यापथक्रिया. पच ।। (राजवार्तिक ७)

क. देव, शास्त्र और गुरु की पूजा, स्तुति आदि सम्यग्दर्शन को बढाने वाली क्रियाओं का करना सम्यक्त्व क्रिया है। ख. कुगुरु, कुदेव आदि की स्तुति आदि करने रूप ऐसे कार्यो का करना जिनसे मिथ्यात्व की पुष्टि होती हो वह मिथ्यात्व क्रिया है। ग. शरीर व वचन आदि से जो गमनागमन (आना जाना) करना, कराना आदि है वह प्रायोगिकी क्रिया है। घ. सयमी का जो अविरति हिसा के प्रति सम्मुख होना है वह समादान क्रिया है। ड़— ईर्यापथ करने के लिये होनेवाली अर्थात् देख कर गमन करने रूप ईर्या समिति के लिये जो क्रिया की जाती है वह ईर्यापथ क्रिया है।

(२) प्रदोषकायाधिकरण परितापप्राणातिपातक्रियाः पंच (राजवार्तिक ८)

क क्रोध करने के निमित्त मिलने पर जो क्रोध का उत्पन्न होना है वह प्रादोषिकी क्रिया है। ख. किसी के मारण ताडनादि के लिये जो शरीर से प्रयत्न करना है वह कायिकी क्रिया है। ग. किसी के मारने के लिये जो हिसा के उपकरणभूत खड्ग आदि शस्त्रो का लेना है वह आधिकरणिकी क्रिया है। घ. जिससे किसी को दुख हो ऐसी क्रिया करना पारितापिकी क्रिया है। ड़. जिस क्रिया के करने से किसी के आयु इन्द्रिय और बल प्राणों का वियोग हो जावे अर्थात् मरण हो जावे, वह प्राणातिपात्तिकी क्रिया है।

(३) दर्शन–स्पर्शन–प्रत्यय–समन्तानुपातना भोगक्रिया पच (राजवार्तिक ९)

क राग भाव के उदय से प्रमादी पुरुष के द्वारा जो किसी स्त्री आदि के मनोहर रूप को देखने की इच्छा का होना है वह दर्शन क्रिया है। ख. प्रमादवश [राग के उदय से] स्त्री आदि के कोमल शरीर आदि को स्पर्श करने [छूने] के लिये जो विचार आदि का होना है वह स्पर्शन क्रिया है। ग हिसा करने के लिये अपूर्व [नये नये] शस्त्रादिको का बनाना प्रात्यायिकी क्रिया है। घ. जहां स्त्री पुरुष गाय, भैस आदि पशुओ का समूह रहता हो, ऐसे स्थानो में मल, मूत्र, विष्टा आदि का गिराना, समन्तानुपातिकी क्रिया है। ड़ बिना झाड़ी, बुहारी व बिना देखी, सोधी, जमीन पर शरीर आदि का क्षेपण करना (सोना बैठना) व किसी चीज का धारना आदि कार्य करना अनाभोग क्रिया है।

(४) स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनानाकांक्षाक्रिया पच ।। (राजवार्तिक १०)

क. दूसरे के द्वारा की जाने योग्य क्रिया को जो अपने हाथ से करना है वह स्वहस्त क्रिया है ख पाप का आस्रव करने वाली क्रियाओ के करने के लिये अपनी सम्मति देना

निसर्ग क्रिया है । ग. आलस्य के वशीभूत होकर शुभास्रव करने वाली अच्छी क्रियाओं का नही करना अथवा दूसरे के किये हुए हिंसादि रूप बुरे कामो को प्रकट करना विदारण क्रिया है । घ जो कोई चारित्र मोह के उदय से आगम मे कही हुई आज्ञा के अनुसार षड् आवश्यक आदि क्रियाये स्वय नही कर सकता हो तो उनको अपनी इच्छानुकूल दूसरा स्वरूप (उपाय) बता देना वह आज्ञाव्यापाद की क्रिया है । ङ. अपनी मूर्खता व आलस्य के कारण आगम मे कही हुई विधि के करने मे जो अनादर है वह अनाकाङ्क्षा क्रिया है ।

- **५. आरभपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाप्रत्याख्यानक्रिया पंच** ।। (राज वार्त्तिक ११)

(क) छेदन (काटना) भेदन (विदारण) आदि क्रियाओ में तत्पर रहना अथवा कोई दूसरा ऐसा काम करता हो तो उसमे प्रसन्न होना यह प्रारभ क्रिया है । (ख) परिग्रह की रक्षा करने वाले व परिग्रह को बढाने वाले कार्यों का करना परिग्राहिकी क्रिया है । (ग) ज्ञान दर्शन चारित्र आदि के विषय मे कपट करना व कपट रखना माया क्रिया है । (घ) कोई मिथ्यादर्शन व (मिथ्यात्व) रूप क्रियाओ के करने व कराने मे लगा हुआ उसको कहना, "तू बहुत अच्छा करता है" इत्यादि प्रशसा करके, उसको मिथ्यात्व मे दृढ (पक्का) बनाना, मिथ्यादर्शन क्रिया है । (ङ) संयम के घातक अप्रत्याख्यानादिरूप चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो हिसादि रूप पाप क्रियाओ का नही छोडना है, वह अप्रत्याख्यान क्रिया है । उक्त २५ क्रियाओ मे से मिथ्यात्व और मिथ्यादर्शन क्रिया मे तो मिथ्यात्व गर्भित है । आज्ञा-व्यापदनी तथा अनाकाक्षा क्रिया मे प्रमाद गर्भित है । उक्त क्रियाओ मे ईर्यापथिक तथा सम्यक्त्व क्रिया तो पुण्यवर्धक प्रतीत होती है, शेष पाप जनक है । ईर्यापथिक आस्रव मे कर्मो की एक समय मात्र स्थिति है । वहाँ अनुभाग बन्ध के न होने से वे पुण्य पाप रूप कोई भी फल नही देते । साम्परायिक आस्रव शुभ और अशुभ भेद से दो प्रकार का है । मन, वचन, काय की शुभ रूप प्रवृत्ति से शुभास्रव होता है, वह पुण्य बन्ध का कारण है, और अशुभ योग जनित अशुभ आस्रव है वह पापबध का कारण है, इस प्रकार भावास्रव के स्वरूप व कारणो की दिखला कर अब द्रव्यास्रव का स्वरूप दिखलाते है ।

— द्रव्यास्रव —

णाणावरणादीणं, जोग्ग ज पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ, अणेयभेओ जिणक्खादो ।। ३१ ।। [द्रव्य-सग्रह]

अर्थ—ज्ञानावरणादि कर्मो के योग्य पुद्गलो का—कार्माण वर्गणाका—आना हैं वह द्रव्यास्रव है । यह कर्मो की प्रवृत्तियो के भेद प्रभेदो से अनेक प्रकार का है ।

भावार्थ—आत्मा के प्रदेशो के हलन चलन होने पर जो कर्म-वर्गणा आती है, वह आते ही मन वचन और काय की जैसी प्रवृत्ति थी उसी के अनुकूल स्वभाव वाली हो जाती है., जैसे-किसी पण्डित से सशय निवारणार्थ किसी ने कुछ पूछा और पण्डितजी ने जानते

हुए भी उसका उत्तर नही दिया, तो इस क्रिया के द्वारा आई हुई कर्म वर्गणा ज्ञानावरण प्रकृतिरूप ज्ञान को ढकने के स्वभाव वाली होकर आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होगी। इसी प्रकार अन्य भी समझना। इस गाथा के प्रति कार्माणवर्गणा का आना ही द्रव्यास्रव है। वह आस्रव किन २ कारणो से किस २ प्रकार होता है यह बात तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि ग्रन्थो से जान लेना। विस्तार के भय से यहा नही लिखा है।

बन्ध तत्व—कर्मो का आस्रव के अनन्तर ही बन्ध होता है, अतः क्रम प्राप्त बन्ध तत्व का कथन किया जाता है।

"बज्जदि कम्म जेण दु, चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाण, अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥
पयडिट्ठिदिअणुभाग, प्पदेसभेदा दु चदुविधो बधो।
जोगा पयडिपदेसा, ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ ३३ ॥ द्रव्य-सग्रह

अर्थ—जीव के निज शुद्ध स्वभाव से विपरीत ऐसे मिथ्यात्व रागादि रूप अशुद्ध विभावों का होना हो वह भाव बन्ध है और आई हुई कर्मवर्गणा का उक्त भावबन्ध के निमित्त से ज्ञानावरणादि रूप होकर आत्मा के साथ सम्बन्ध होना द्रव्य बध है अर्थात् जैसे दूध, जल का आपस मे मेल होता है उसी प्रकार कर्म प्रदेशो और आत्म प्रदेशो का परस्पर एक दूसरे के साथ सम्बन्ध मेल हो जाता है, वह द्रव्य बन्ध कहलाता है।

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतव अ० ८ सूत्र २—तत्वार्थ सूत्र

अर्थ—इस सूत्र के द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग ये पांच भाव बन्ध के कारण बतलाये गये है। और द्रव्यसग्रह मे इन्ही को "मिच्छत्ताविरदिपमाद" इत्यादि ३० वी गाथा द्वारा भावाश्रव के कारण बताये है। इन दोनो कथनो मे इतना ही भेद प्रतीत होता है कि आस्रव तो मिथ्यात्वादिरूप परिणामो सहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति द्वारा आत्म प्रदेशों का परिस्पन्दन होते ही हो जाता है और बन्ध, बन्ध के समय मे जैसे कषायादिरूप परिणाम हो उसके अनुसार होता है।

कर्मो का बन्ध चार प्रकार का है, प्रकृति-बन्ध, स्थिति बन्ध और अनुभाग 'बन्ध' इनमे कर्मवर्गणा का ज्ञानावरण (ज्ञान को रोकना) इत्यादि स्वभाव रूप होना, जैसे-नीम का स्वभाव कड़ुवा वैसे ही ज्ञानावरण का स्वभाव ज्ञान को ढकना है। दर्शनावरण का स्वभाव आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण डालना है वेदनीय का स्वभाव आत्मा को सुख दुःख देना है इत्यादि सब प्रकृति-बन्ध कहलाता है। आत्मा के प्रदेशो के साथ जो बन्धे हुए कर्म परमाणुओ की सख्या का नियम होना है, वह प्रदेश—बन्ध है। एक २ आत्मा के प्रदेश पर

सिद्ध राशि के अनन्त भाग मे से एक भाग जितने और अभव्य राशि से अनन्त गुणे अनन्तानन्त परमाणु प्रति समय बन्ध को प्राप्त होते रहते है। ये दोनों प्रकृति और प्रदेश–बन्ध केवल योग के द्वारा होते है। इन कर्मो का आत्म--प्रदेशो के साथ ठहरे रहने के काल की मर्यादा को स्थिति–बन्ध और उनमें सुख दु ख आदि देने की तीव्र अधिक वा मन्द अल्प रस देने रूप शक्ति के होने को अनुभाग बन्ध कहते है। ये दोनो कषाय से होते है अर्थात् क्रोधादि कषायो की जैसी तीव्रता व मन्दता होते है उसी के अनुसार कर्मो के ठहरने का काल और फल देने की शक्ति नियम हो जाती है।

ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र ये आठो कर्म ही आत्मा को जन्म मरण रूप ससार में परिभ्रमण कराने वाले है। इस प्रकार के बन्ध का अनादिकाल से आत्मा के साथ सम्बन्ध है। बीच २ मे जिस पूर्वबद्ध कर्म की फल देने पूर्वक निर्जरा होती है, उसके स्थान मे अन्य कर्म बंधते है। आस्रव तत्व की तरह यह बधतत्त्व भी हेय है। बन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप जो पांच कारण बतलाये है। इनमे पहिले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे तो पाचो से ही बन्ध होता है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे इन तीनो गुणस्थानों मे मिथ्यादर्शन को छोड कर शेष चार कारणो से तथा पाचवे गुणस्थान मे अविरति और विरति दोनों से मिले हुए प्रमाद, कषाय और योगो से, छट्ठे गुणस्थान मे प्रमाद, कषाय और योगों से, सातवे, आठवे, नवमे और दसवें इन चार गुणस्थानों में कषाय और योगो से, ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवें इन तीनों गुणस्थानो में केवल योग के द्वारा ही बन्ध होता है। चोदहवे गुणस्थान मे न कर्म का आस्रव ही होता है और न बन्ध ही होता है। **सवर तत्त्व**—

आस्रव और बन्ध ये दोनो हेय तत्त्व है, इसलिये मोक्षाभिलाषी को उचित है कि इनको नष्ट करने के लिये प्रयत्न करे। आस्रव का नाश करने वाला संवर का वर्णन किया जाता है। **आस्रवनिरोध सवर.** ।। [अ ९ सू, १ तत्त्वार्थ सूत्र]

अर्थात्—आस्रव का रुकना ही सवर है। कर्मो मे आने के कारण योग है। मन-वचन-काय के व्यापार रूप योग का रुकना संवर कहलाता है., जैसे-तालाब मे जाने की नाली को डाट लगादी जावे, तो जल का आना रुक जाता है, उसी प्रकार यदि मन, वचन, काय को रोक कर आत्म–प्रदेशो का हलन चलन न होने दिया जावे, तो आत्मा के प्रति कर्मवर्गणा का आना रुक जाता है। यह कर्मागम का रुकना ही सवर है। यह सवर दो प्रकार का है एक भावसवर और दूसरा द्रव्यसंवर। इनमे **'संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसवरः'** आत्मा का एक पर्याय छोडकर पर्याय मे जाना ही ससार कहलाता है, अत. उसके निमित्त भूत मन, वचन, काय के व्यापार का जो रुकना है, वह तो भाव–सवर है और ससार

वर्द्धक योग प्रवृत्ति के रुकने से जो कार्माण वर्गणा रूप पुद्गलों का आत्मा के प्रति नही आना सो द्रव्यसंवर है। सवर भी शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार का है।

"वदसमिदीगुत्तीओ, धम्माणुपेहापरीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं, णायव्वा भावसवरविशेषा ॥ ३६ ॥ (द्रव्य-सग्रह)

अर्थ—अहिंसादि ५ व्रतों को धारण करना, ईर्या आदि ५ समितियों के अनुसार प्रवृत्ति करना, मन, वचन, काय रूप तीनो गुप्तियो का पालन करना, उत्तम क्षमादि १० धर्मो को धारण करना; अनित्य, अशरण आदि बारह भवनाओं का भावना तथा बाईस परिषहो का जीतना, और सामायिकादि पांच प्रकार के चारित्र को पालन करना, ये सब मिलकर ६२ भाव संवर के भेद (कारण) है।

"णट्ठेमणसकप्पे, इ दियवावारवज्जिए जीवे।
लद्धे सुद्धसहावे, उभयस्स य संवरो होई ॥ ३२३ ॥ (भाव सग्रह)

अर्थ—जब शुभ अशुभ संकल्प विकल्पो का होना नष्ट हो जाता है, और आत्म इन्द्रियो द्वारा कोई प्रवृत्ति नही करता है तब शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति हो जाती है और शुभ, अशुभ कर्मो का आना रुक कर पूर्ण सवर हो जाता है।

शङ्का—**"सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः"** (अ० ६ सूत्र २)

मोक्षशास्त्र के इस सूत्र मे पाच व्रतो को छोडकर सवर के ५७ 'कारण बतलाते गये है और यहा पर ६२ बतलाये है, यह क्यों?

समाधान — **"प्रतिज्ञामात्रमितिचेन्न धर्माभ्यन्तरत्वात्"** (अ० सू० १ वा० ११)

तत्वार्थराजवार्तिक के इस वार्तिक के द्वारा सयम धर्म मे जो (भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शायनाशयन, प्रतिष्ठापन, और वाक्य) आठ प्रकार की शुद्धिया बतलाई है उनमे ही पाँचो व्रतो को अन्तर्हित कर लिया गया है।

"न संवरो व्रतानि परिस्पन्ददर्शनात्" (७। १। १३ राज वा०)

इसके द्वारा कहा गया है कि असत्य तथा अदत्तादान का त्याग करने पर तथा सत्य वचन के कहने पर और दी हुई वस्तु के लेने रूप क्रियाओ मे आत्म-प्रदेशो का हलन चलन देखा जाता है और यह आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्दन ही आस्रव का कारण है, इसलिये व्रतो से सवर न होकर शुभास्रव होता है। द्रव्य-सग्रह की सस्कृत टीका मे 'निश्चयेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण तत्साधक हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविध व्रतम्"। अर्थात् निश्चयनय से तो शुभ अशुभ रागादि रूप समस्त विकल्पो से रहित होना व्रत है और व्यवहार मे निश्चय का साधक जो हिंसादि पांच पापो का त्याग है, वह व्रत कहलाता है। इस कथन से यह सिद्ध होता है

कि हिंसादि पांचो पापो का त्याग होने से अशुभ आस्रव का आना रुक जाता है इसलिये यह व्रत एक देश संवर का कारण है। दोनो ग्रन्थो का अभिप्राय यह है कि व्रतो से अशुभास्रव का निरोध होकर शुभास्रव होता है। इसलिये व्रत, आस्रव और सवर दोनो का ही कारण है। अत दोनो आचार्यो के कथन मे विवक्षा भेद है, सिद्धान्त एक ही है। सवर के जितने कारण है, उन सबका वर्णन पूर्वार्द्ध मे किया जा चुका है, इसलिये यहा पर नही किया है।

— * निर्जरा तत्व * —

जब सवर के द्वारा आस्रव निरोध हो जाता है अर्थात् नवीन कर्मो का आना रुक जाता है, तब आत्मा को पहिले बाधे हुए कर्म ही ससार मे परिभ्रमण कराते हैं। अत: उन कर्मो से शीघ्र ही मुक्त होने के लिये (छुटकारा पाने के लिये) उपाय किया जाता है। जैसे कि कोई कर्जदार पहिले नया कर्ज करना बन्द करके, पिछले कज के चुकाने की फिक्र करता है। **"पूर्वोपार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा सा द्विप्रकारा विपाकजेतरा च"**

अर्थात् पहिले बाधे हुए कर्मों का छूटना निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा दो प्रकार की है। एक तो सविपाकजा और दूसरी अविपाकजा। इनमे औदयिक भाव से प्रेरा हुआ तथा क्रमानुसार विपाक काल को प्राप्त हुआ जो शुभ अशुभ कर्म अपनी बधी हुई स्थिति के पूर्ण होने पर उदय मे आता है, उसके भोग चुकने पर जो कर्म की आत्म प्रदेशो से जुदाई होती है., वह सविपाक निर्जरा कहलाती है। यह द्रव्य रूप है और यह सभी गतियो मे अज्ञानी जीवो के भी होती है, परन्तु इस निर्जरा से आत्मा कभी भी कर्म से मुक्त नही होता., क्योकि जो कर्म छूटता है उससे अधिक उसी समय नया बंध जाता है।

भावार्थ—जैसे एक मनुष्य को चारित्र मोहनीय के उदय से क्रोध आया और क्रोध आने पर उसने क्रोधवश निज पर को मन, वचन, काय से अनेक कष्ट दिये और अनेको से वैर बाध लिया। ऐसी दशा मे पहिला कर्म तो क्रोध को उत्पन्न कर दूर हो गया, परन्तु क्रोधवश जो जो क्रियाये उस जीव ने की उनसे फिर अनेक प्रकार के नवीन कर्म बंध गये। अत. मोक्षार्थी के लिये सविपाक निर्जरा काम की नही है, जैसे—आम्रादि कितने ही जाति के फल अपने वृक्ष पर तो जब पकने का काल आता है तभी पकते है, परन्तु लोग उन कच्चे फलो को ही वृक्ष से तोडकर घासादि के पाल मे रख कर उन्हे घास की गर्मी से जल्दी पका लेते है, उसी प्रकार जिन कर्मो का उदय काल नही आया उनको सम्यग्दर्शनादि की सामर्थ्य से तथा बारह प्रकार के तपश्चरणो के द्वारा अथवा बाईस परिषहो के जीतने आदि मे कर्मो की उदीरणा करके (उदय मे लाकर उनका फल भोगे बिना) उनसे छुटकारा पा जाना यह अविपाक निर्जरा कहलाती है। ध्यान रहे कि सराग सम्यग्दृष्टियो की निर्जरा तो अशुभ कर्मो की निर्जरा करती है और ससार स्थिति को कम करती है तथा परम्परा

से मोक्ष को प्राप्त कराती है परन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि की निर्जरा शुभ और अशुभ दोनों ही कर्मो को निर्जीर्ण करके उसी भव मे भी मोक्ष तक प्राप्त करा सकती है; इसलिये यह भी सिद्ध हो गया कि सम्यग्दर्शन के होते ही जीव सम्यग्ज्ञानी भी बन जाता है और वही से द्रव्य एव भाव निर्जरा का प्रारम्भ हो जाता है, जो अगले गुणस्थानो मे पूर्व गुण स्थानों से असख्यात गुणी बढती जाती है।

भावार्थ— काललब्धि आने पर सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् अ तरग में समस्त पर द्रव्यो की इच्छा को रोकने रूप परिणामो का होना और बहिरग में निजात्मानुभूति के साधक तपश्चरणादि का करना भावनिर्जरा है., और इस भाव निर्जरा के द्वारा आत्मा से कर्मो का अलग होना द्रव्यनिर्जरा है । यह निर्जरा सवर पूर्वक होती है वही अत्यन्त उपादेय है । इसलिये इसको सवर के पश्चात् स्थान दिया गया है । भाव निर्जरा के कारणो का भी सविस्तार वर्णन पहले किया जा चुका है, इससे यहा नही किया गया है ।

० — * मोक्ष तत्व * — ०

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणोहि परिणामो ।
णेओ स भाव मुक्खो, दव्वविमोक्खोय कम्मपुधभावो ।। ३९ ।। (द्रव्य सग्रह)

अर्थ—आत्मा के जिन भावों से सब कर्मों का नाश होता है, वह भाव मोक्ष हैं और आत्मा के साथ जा कर्म बधे हुए है उन कर्मो का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना द्रव्य मोक्ष कहलाता है । 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः'' (तत्वा. सू. अ १०।१ जब ज्ञानी जीव के संवर के द्वारा कर्मो का आस्रव रुक जाता है, नवीन कर्म बध के कारणो का नाश हो जाता है और जो कर्म पहिले बधे हुए है उनका अविपाक निर्जरा द्वारा आत्मा से धीरे२ छुटकारा होता जाता है, तब आत्मा का सभी कर्मों का छुटकारा हो जाता है और यही मोक्ष है। यदि यहा यह प्रश्न किया जाय कि जैनमत मे अनादि काल से आत्मा के साथ कर्मो का सम्बन्ध माना गया है । जिसकी आदि नही होती उसका अन्त भी नही होता । इस लिए आत्मा को कर्म बन्धन से छुटकारा कैसे मिल सकता है ? तो इसका समाधान है कि— **दग्धे बीजे यथात्यन्त, प्रादुर्भवति नाङ्कुर ।**
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुर ।। ८७ ।।

अर्थ—जैसे बीज से उगने वाले आम्रादि वृक्षो मे पहिले बीज हुआ या वृक्ष ऐसा कोई निश्चय नही., क्योकि बीज के विना वृक्ष और वृक्ष के बिना बीज नही हो सकता । अतः बोज वृक्ष का सम्बन्ध अनादि से है तो भी यदि किसी वृक्ष का एक ही बीज वचा हुआ हो और उसे अग्नि से जला दिया जावे तो इस अनादि से आये हुए बीज का अन्त हो, जाता है । इसी प्रकार ससार परिभ्रमण का कारण कर्म रूपी बीज भी ध्यान रूपी

अग्नि से भस्म हो जाता है, जैसे-बीज का नाश होने पर वृक्ष की उत्पत्ति नही होती उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के नष्ट होने पर फिर आत्मा का ससार मे परिभ्रमण नही होता, वह मुक्त होकर जन्म मरण से रहित हो जाता है। *** मोक्ष की प्राप्ति का क्रम ***

मोक्षार्थी जीव, आत्म—ध्यान के बल से बारहवे गुण स्थान मे मोहनीय कर्म का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त तक क्षीणकषाय का धारक होता है। फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनो द्रव्य कर्मो का नाश करके केवल ज्ञान को प्राप्त करता है। फिर आयु आदि शेष ४ कर्मो का नाश नही हो तब तक शरीर मे ही निवास करता है। जब ये चार कर्म भी नष्ट हो जाते है तब असिद्धत्व के नाश होने से यह आत्मा सिद्ध बन जाता है। यह आठ गुण आठ कर्मो के नष्ट होने से होते है। १ ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से केवल ज्ञान २ दर्शनावरणीय के नष्ट होने से केवल दर्शन ३ वेदनीय के नष्ट होने से अव्याबाध सुख ४ मोहनीय के विकास से परम सम्यक्त्व ५ आयु के नाश से अवगाहना ६ नाम कर्म के विनाश से सम्यक्त्व ७ गोत्र के नष्ट हो जाने से अगुरुलघु और अन्तराय कर्म के नाश होने से अनन्त बल पैदा होता है। सिद्ध अन्तिम शरीर से किंचित् ऊन आकार वाले आत्म प्रदेशो के धारक है, परन्तु आयु कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व गुण की जो प्राप्ति हो गई है उसके कारण उनके आत्म प्रदेशो मे सकोच विस्तार नही होता। भावार्थ यह है कि जैसे दीपक के प्रकाश का सकोच विस्तार किसी मकान आदि बाह्य निमित्त के मिलने से होता है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो आयु कर्म लगा हुआ था उसके कारण आत्मा मे संकोच विस्तार होता था, अब उस आयु कर्म का अभाव होगया अत. सिद्धत्व को प्राप्त होने वाले जीव जिस आकार से स्थित होते है उसी आकार मे अनन्त काल तक स्थिर रहते है। सातावेदनीय कर्म के उदय से ससार मे इन्द्रिय जनित सुख की प्राप्ति होती थी, परन्तु वह सुख अविनाशी न होने के कारण बाधा सहित था; इसलिये वेदनीय कर्म का नाश हो जाने से-

ससारविषयातीत, सिद्धानामव्ययं सुखम्. अव्याबाधमिति प्रोक्त परम परमर्षिभि ।। ४५ ।।

अर्थ—इस कथन के अनुसार सिद्ध सासारिक विषयो से रहित अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त होते है। वह सुख अविनाशी एव चिन्ता रहित होने के कारण अव्याबाध कहलाता है। उसमे किसी प्रकार का सघर्ष नही है। शङ्का—शरीर रहित मुक्त जीव के सुख कैसा होता है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि— (तत्वार्थसार अ ८)

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु, सुखशब्द. प्रयुज्जते । विषये वेदनाभावे, विपाके मोक्ष एव च ।। ४७ ।।

अर्थ—लोक मे इन्द्रिय जनित विषयो के भोगने मे, पीडा के अभाव मे, पुण्य के उदय मे और मोक्ष मे इस प्रकार चार अर्थो मे सुख शब्द का प्रयोग किया जाता है (१) जैसे इन्द्रियों के विषयो मे, ग्रीष्म ऋतु मे हवा को सुख जनित, और शीत काल मे अग्नि

को सुख देने वाली मानी है। (२) वेदना के अभाव में जैसे किसी को कोई रोग हो और वह रोग मिट जावे तब वह कहता है कि अब तो मै सुखी हूँ। (३) पुण्य के विपाक से जो मनोवाछित इन्द्रिय जन्य विषयो की प्राप्ति होती है उसे भी सुख कहा जाता है; इसी प्रकार (४) क्लेश जनक कर्मों के नाश से भी मोक्ष मे अत्युत्तम सुख की प्राप्ति होती है। कितने ही तो निद्रा मे जैसा सुख होता है, वैसा सुख मोक्ष मे मानते है; परन्तु उनका यह मानना ठीक नही, क्योकि ससार मे ऐसी कोई भी वस्तु नही है कि जिसको मोक्ष के सुख के लिए उपमा दी जावे; अर्थात् यह कहा जावे कि मोक्ष का सुख ऐसा है., इसलिये मोक्ष में निरुपम, अनन्त और अतीन्द्रिय जो सुख है वह वचनातीत है। उस सुख के भोक्ता मुक्त जीव ही उसका अनुभव करते है। सम्यग्दर्शन की आवश्यकता इस मोक्ष प्राप्ति के लिये ही है और वह सम्यग्दर्शन जीवादि सात तत्वो के श्रद्धान से अर्थात् सात तत्वों का स्वरूप जानकर उनमे से हेय तत्वो को छोड़ने से तथा उपादेय तत्वो की प्राप्ति होने से होता है। अतएव यहा पर जीवादि सात तत्वो का सक्षेप से वर्णन किया है। उक्त सात तत्वो मे ही पुण्य और पाप को और मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते है। मोक्षशास्त्र मे पुण्य और पाप को आस्रव तत्व मे ही गर्भित कर लिया है., तथापि अन्य आचार्यो के अभिप्रायानुसार अब पुण्य व पाप पदार्थ का भी कुछ स्वरूप दिखलाया जाता है। — **पुण्य और पाप पदार्थ** —

"पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्" (राजवार्तिक अ. ६ वार्तिक ३-४)

अर्थ— जो आत्मा को पवित्र करे, अथवा जिससे आत्मा पवित्र बने उसे पुण्य कहते है। (मो. अ. ६-६-५ वार्तिक)

तत्प्रतिद्वन्द्विरूप पाप 'पाति रक्षत्यात्मान शुभपरिणामात्' इति पाप

उक्त पुण्य से जो प्रतिकूल है, अर्थात् आत्मा को शुभ परिणामो से बचाने वाला (दूर करने वाला) उसे पाप कहते है। कर्मो का आस्रव शुभ अशुभ भेद से दो प्रकार का है। **"शुभः पुण्यस्याशुभ पापस्य"** [६।३ तत्वार्थ सूत्र]

इस सूत्रानुसार जो शुभ योग है उससे तो पुण्य रूप कर्मो का आस्रव होता है, और अशुभ योग है उससे पाप कर्मो का आस्रव होता है। किसी जीव की हिंसा नही करना, बिना दी हुई वस्तु को न लेना, ब्रह्मचर्य–पालन करना इत्यादि कायजनित शुभ योग है। सत्य और हितकारी वचन कहना और मित भाषण अर्थात् बिना प्रयोजन की बाते नही करके थोडे शब्दो मे वक्तव्य कह देना शुभ वचन योग है। श्री अर्हतपरमेष्ठी आदि की भक्ति करने मे मन लगाना, तपश्चरण करने मे प्रीति रखना, शास्त्र का विनय आदर भाव आदि करना, इत्यादि जो मन का व्यापार है वह शुभ मनोयोग है। मन, वचन, काय के उक्त शुभ व्यापारों से आत्मा को सुख देने वाले पुण्य कर्म का आस्रव

और बन्ध होता है। ज्ञानावरणादि ८ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म तो घातिया है, अर्थात् आत्मस्वरूप को हानि पहुचाने वाले हैं। अतः कर्मो की १४८ उत्तर प्रकृतियो मे से इन चारो कर्मो की जो ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ६ मोहनीय की २८ और अन्तराय की ५ इस प्रकार कुल मिलाकर ४७ प्रकृतियां हैं सो तो पाप रूप ही है। शेष चार अघातिया कर्मों की जो १०१ प्रकृतियां है उनमे से वेदनीय कर्म की २ प्रकृतियो मे से १ सातावेदनीय, और गोत्र कर्म की दो मे से १ उच्च गोत्र, आयु कर्म की ४ मे से तिर्यच, मनुष्य, और देवायु- ये ३ प्रकृतियां, नाम कर्म की ६३ प्रकृतियो में से पचेन्द्रिय–जाति, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देव–गत्यानुपूर्वी, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसहनन, शरीर ५, अगोपाग ३, निर्माण, बंधन-संघात ५, अगुरुलघु परघात, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, तीर्थङ्कर, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध, और ५ वर्ण ये नाम कर्म की ६३ कुल मिलाकर ६८ प्रकृतिया पुण्य रूप मानी गई है। अत जिन२ कार्यो के करने से उक्त प्रकृतियों का आस्रव होता है उन २ रूप मन, वचन, काय से वृत्ति करके पाप जनक अशुभ क्रियाओं से बचना चाहिये।

शङ्का—मोक्षार्थी जीव के लिए सात तत्वो के वर्णन मे शुभ और अशुभ दोनो ही आस्रव हेय–त्यागने योग्य बतलाये है फिर यहां नव पदार्थो के वर्णन में पुण्य उपादेय और पाप को हेय कैसे बतलाया है ? **समाधान**—जैसे पाप नरकादि गतियो मे दु.ख देने वाला है, उसी प्रकार पुण्य भी स्वर्गादि मे सासारिक सुख सामग्री का भोग कराने वाला होने से आत्मा के मोक्ष मे बाधक है, अर्थात् जैसे लोह की और सुवर्ण की दोनो बेडिया ही मनुष्य को बन्धन मे डाल कर उसकी स्वतन्त्रता में बाधक होती है उसी प्रकार पुण्य और पाप ये दोनो ही आत्मा को संसार मे रखकर उसके मोक्ष मे बाधक हैं। कहा भी है **वर व्रतैः पद दैवं, नाव्रतैर्वतनारकम्। छायातपस्थयोर्भेद, प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥** इष्टोपदेश

अर्थात्—जैसे एक नगर से तीन पथिक किसी दूसरे ग्राम जाने के लिये निकले। उनमे से एक किसी आवश्यक कार्य से नगर मे वापिस चला गया, और शेप दोनो साथियों को आने तक ठहरने के लिये कह गया। उन दोनो साथियो में से एक वृक्षके नीचे छाया मे सुख से बैठ कर, और दूसरा बिना छाया के सूर्य की धूप मे खडा होकर उस नगर मे आये हुए साथी की बाट देखने लगा। यहा पर एक तो छाया मे बैठा रहा और दूसरा धूप मे दुख मे खडा रहा। इसी प्रकार जो जीव हिसा आदि पाप करके उनके फल से नरकादि गतियो मे दुःख भोगता है वह तो मोक्ष न होने तक ससार मे दु खी रहता है और जो जीव दया, परोपकार आदि शुभ काम करता है वह मोक्ष की प्राप्ति न होने तक स्वर्गादि गतियो मे

रहकर सुख से काल व्यतीत करता है । इस प्रकार श्री पूज्यपाद स्वामी के वचनानुसार जैसे उन पथिकों मे भेद है., उसी प्रकार पुण्य पाप के कर्त्ता जीवों में भी बडा भारी अन्तर है., यद्यपि जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धानी (सम्यग्दृष्टि) हैं वे निज आत्मा को ही उपादेय समझ कर उसकी प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना चाहते है., तथापि चारित्र मोह के उदय से शुद्धोपयोग की प्राप्ति मे असमर्थ होकर परमात्मपद की प्राप्ति के लिये और विषय कषायों से बचने के लिये परमात्म स्वरूप श्री अर्हंत वा सिद्ध परमेष्ठियो की और उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियो की व उनके गुणो की स्तुति तथा उनकी पूजा आदि करके परम भक्ति करता है, यह उसकी भक्ति मोक्ष प्राप्ति के निमित्त ही होती है । संसार सुख के लिये नही होती; परन्तु किसान जैसे खेती करता है उसको खेती का मुख्य फल अन्न तो प्राप्त होता ही है परन्तु साथ मे बिना चाहा चारा भी उसे मिल जाता है, इसी प्रकार भव्य जीव बिना इच्छा के विशिष्ट (सातिशय) पुण्य बन्ध करके स्वर्ग मे इन्द्रादि पद प्राप्त कर विदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होकर वहा श्री तीर्थकरादि के प्रत्यक्ष मे दर्शन करके तथा उनके द्वारा धर्मोपदेश सुनकर अत्यन्त दृढ होकर, या तो उसी भव मे मोक्ष चला जाता है, या अगले भव मे मोक्ष जाता है । इसलिये पाप की अपेक्षा पुण्य का संचय करना ही आत्मा के लिये विशेष हितकारक है । **अथवा–**जैसे एक ग्राम मे दो मनुष्यों के लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम है, उनमे से एक तो देशान्तर में चला गया । वहाँ उसे व्यापार आदि के ऐसे निमित्त मिले कि वह धनवान् हो गया., किन्तु दूसरा ग्राम मे ही व्यापार करता रहा और विशेष निमित्त नही मिलने से थोडे रुपये भी न कमा सका । इसी तरह जीवो के शुभ अशुभ दोनो ही कर्म सत्ता मे रहते है, परन्तु जो जीव शुभ कर्मोदय से अच्छे साधन पा जाता है वह आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है और अशुभ कर्मों के उदय से जिसको अच्छे साधन नही मिलते वह गिरता जाता है । पुण्य पाप के उदय से यह जीव सुख दुख पाता रहता है । पुण्य के उदय से सासारिक वैभव और पाप के उदय से रोग शोक दरिद्रता आदि को प्राप्त होता है । पर यह ऊपर लिखा हुआ सारा कथन व्यावहारिक है । निश्चय दृष्टि से तो पुण्य पाप दोनो ही पर है और आत्मस्वरूप प्राप्ति अथवा मोक्ष के बाधक है , फिर भी यह तो कहना ही होगा कि नीचे की अवस्था मे पाप से पुण्य अच्छा है । यह विचार कर भव्य जीवो को जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नही हो, तब तक शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग रूप पुण्य कर्मो मे लगना चाहिये, औरअशुभ प्रवृत्तियो से बचना चाहिये । इस प्रकार देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, षट्द्रव्य, और पचास्तिकाय इन सब के स्वरूप मे जो —

तत्वर्थाभिमुखीबुद्धिः श्रद्धासात्म्य रुचिस्तथा,प्रतीतिस्तु तथेतिस्यात्स्वीकारश्चरण क्रिया ।३-५

अर्थ— वस्तु स्वरूप का निश्चय करने के सम्मुख जो बुद्धि का होना है, वह तो श्रद्धा कहलाती है। निश्चय किये वस्तु स्वरूप में तन्मय हो जाना अर्थात् हृदय में धारण कर लेना रुचि है और जो वस्तु स्वरूप का निश्चय किया गया है वह ऐसा ही है, इस प्रकार की दृढ बुद्धि है, उसको प्रतीति कहते है। इस प्रतीति द्वारा जिसके हेयोपादेय तत्व का दृढ विश्वास हो गया है उसके अनुकूल प्रवृत्ति करना ही क्रिया है। इस श्लोक के अनुसार श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, और क्रिया का होना है वही सम्यग्दर्शन है।

❋ सम्यग्दर्शन के बाह्य चिन्ह ❋

ऐसे सम्यग्दर्शन के धारक सम्यग्दृष्टि का बाह्य मे कैसा आचरण होता है, जिससे कि उसमे सम्यक्त्व का सद्भाव माना जावे या कहा जावे, इसलिये बाह्य चिन्हो का कथन किया जाता है। (अमितगति श्रावकाचार)

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा, विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरं द्वयम् ।। ६५ ।।

संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तलक्षण, सराग पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ।। ३३ ।।

तात्पर्य—पूर्वोक्त सम्यक्त्व सराग वीतराग भेद से दो प्रकार का है, इनमे से वीतराग सम्यक्त्व क्षायिक सम्यग्दृष्टि के होता है। किसी भी पदार्थ मे राग व द्वेष न करके माध्यस्थ्य भाव से निज शुद्ध आत्म-स्वरूप का अनुभव करना ही वीतराग सम्यक्त्व है। औपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ये दोनो ही सराग (शुभ राग सहित) है। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य ये इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न है। इनका विवेचन इस प्रकार है कि सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न उपाधि रहित शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा की अनुभूति है यह अनुभूति ज्ञान का विषय है, क्योकि सम्यक्त्व होने पर इस अनुभूति का स्व-सवेदन, आस्वादन एव अनुभव ज्ञान द्वारा ही होता है अर्थात् यह जीव विचारता है कि यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हू, तथा जो विकार है सो कर्म जनित भाव है, मेरा रूप नही है। इस प्रकार भेद विज्ञान पूर्वक आत्मा का आस्वादन करना अनुभूति कहलाती है। यह शुद्ध नय का विषय स्वानुभवगोचर किन्तु वचन के अगोचर है। यही मुख्य सम्यक्त्व है। यह दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव अथवा अनुदय से उत्पन्न होता है, इसके होने पर सम्यग्दृष्टि के प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य गुण प्रगट होते है। इन गुणो द्वारा बाह्य मे ही सम्यक्त्व की प्रतीति हो सकती है, क्योकि अन्तरङ्ग की परीक्षा तो स्वसवेदन ज्ञान से होती है और बाह्य की परीक्षा मन वचन काय की चेष्टा एव क्रिया द्वारा होती है। ये प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, गुण शुभ राग सहित है, अत ये सराग सम्यक्त्वी के होते है। ये दसवे गुणस्थान तक मुनियो के भी होते है। यह (शुभ

राग) सांपरायिक आस्रव का कारण है । दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी के सर्वथा क्षय होने पर जो क्षायिक सम्यक्त्व होता है वह वीतराग सम्यक्त्व है । यह चौथे गुणस्थान से १४वे गुणस्थान तक होता है ।

सराग सम्यक्त्व के प्रशम, सवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य रूप जो बाह्य चिह्न है, इनमे से राग-द्वेष व क्रोधादि कषायों की तीव्रता लिये हुए परिणामो का नही होना सो प्रशम है । शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुखों से भरे हुए ससार से भयभीत रहना एव ससार को स्वप्न समझना सवेग कहलाता है । आत्मोत्थान के लिए यह सवेग बहुत आवश्यक है । इससे मनुष्य विपथ गामी नही होता । कर्मो के वश से ससार मे परिभ्रमण करने वाले दु खी, दयनीय प्राणियो पर सदा करुणामय (दयारूप) भाव रखना अनुकम्पा है । जीवादि सात तत्त्वो तथा पुण्य पाप और परलोकादि का स्वरूप जैसे श्री जिनेन्द्र ने कहा है वैसा ही है, इस प्रकार श्रद्धान का रखना आस्तिक्य है । उक्त कथन सवार्थसिद्धि राजवार्तिक के आधार से किया है। कितने ही आचार्य सम्यग्दृष्टि मे निम्नोक्त ८ गुणो का होना आवश्यक बताते है जैसे कहा भी है— (वसुनन्दि कृत उपासकाध्ययन)

सवेओ णिव्वेओ णिन्दा गर्हा उवसमो भत्ति, वच्छल्ली अणुकम्पा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि मे इस गाथा के अनुसार संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, और अनुकम्पा इन ८ गुणों का होना आवश्यक है । अमितगति श्रावकाचार मे भी इसी प्रकार कहा है ।

१ **सवेग**—राग द्वेषादि रहित सच्चे देव, निर्ग्रन्थ गुरु और हिंसा रहित धर्म मे अनुराग का होना । २ **निर्वेद**—ससार, शरीर व भोगो को दु खदायी, निन्दनीय तथा विनाशवान् समझकर उनसे वैराग्य उत्पन्न होता । ३ **निन्दा**—स्त्री पुत्र मित्रादि परपदार्थ के निमित्त से जो अपनी राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति हो जावे उसके लिये अपने मन मे स्वय ही निन्दा करना । ४ **गर्हा**—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग, द्वेप क्रोधादि के वशीभूत होने के कारण जो अपने द्वारा अपराध हो गये हो उनको पचाचार पालन कराने वाले गुरुओ के सामने भक्ति पूर्वक आलोचना ।

५ **उपशम**— राग, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि से होने वाले प्रपचो को अन्तरङ्ग मे ठहरने न देना । ६. **भक्ति**—श्री जिनेन्द्रदेव व निर्ग्रन्थ गुरु आदि के प्रति निष्कपट होकर उनकी पूजा, स्तुति, नति आदि करना । ७ **वात्सल्य**—रत्नत्रय व जैनधर्म के धारकों का धार्मिक अनुराग से प्रासुक औषधि आदि द्वारा वैय्यावृत्य करना अथवा उनमे निष्कपट प्रेम रखना । ८ **कारुण्य**—ससार मे परिभ्रमण करने वाले दु खी, दरिद्र एवं अशक्त जीवों के प्रति दया भाव का रखना, अर्थात् उन्हे दु खो से बचाने की भावना करना । इन आठों

गुणो के पालन करने मे प्रयत्नशील रहने से सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व रूप परिणामो की वृद्धि होती रहती है। अत.सराग सम्यक्त्व के धारकों को इनका पालन अवश्यमेव करना चाहिये।

卐 सम्यक्त्व के ८ अंगों का वर्णन 卐

णिस्संकिद णिक्कखिद, णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।

उवगूहण ठिदिकरण, वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ट।२०१। (पचाचाराधिकार)

अर्थ—नि शकित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सिता, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अग है। इन आठों के धारण करने से सम्यक्त्व परिपूर्ण कहलाता है। अब क्रम से प्रत्येक का लक्षण आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ के अनुसार कहते है।

* (१) नि शंकित अग *

इदमेवेदृशमेव, तत्वं नान्यन्न चान्यथा। इत्यकपायसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसंशयारुचि ॥११॥

अर्थ—वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है, इस प्रकार ही है अन्य नही है इत्यादि रूप से तलवार की धार के पानी के समान अचल एवं अटल दृढ श्रद्धान करना नि शंकित अ ग है।

०-* (२) नि कांक्षित अग *-०

कर्मपरवशेसान्ते दु खैरन्तरितोदये। पापबीजेसुखेऽनास्था, श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

अर्थ—भावार्थ जो कर्म के आधीन है अन्तकर सहित है, जिसका उदय दु खो से भरा हुआ है, आगामी पापो का बीज है, ऐसे चार महा दोषो से भरे हुए सांसारिक सुख मे अनित्यता रूप श्रद्धान करना, अर्थात् क्षणिक सासारिक सुख की जरा भी इच्छा नही करना नि.काक्षित अ ग है।

* (३) निर्विचिकित्सित अंग *

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते, निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता, निर्विचिकित्सिता।१३।

अर्थ—मल मूत्र रुधिर मांसादि से भरा हुआ भी जो मुनि आदि का शरीर रत्नत्रय को धारण करने से पवित्र हो गया है, उससे घृणा न करके रोगादि की अवस्था मे उन रत्नत्रय के पात्रो की प्रत्येक प्रकार से सेवा, टहल, चाकरी आदि करना निर्विचिकित्सित अ ग कहलाता है।

卐 (४) अमूढदृष्टि अग 卐

कापथे पथि दु खानां, कापथस्थेऽप्यसंमति। असंपृक्तिरनुत्कीर्ति, रमूढादृष्टिरुच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—दु खो के कारण स्वरूप कुमार्ग की एव कुमार्गगामी की मन, वचन और काय से प्रशसा एवं स्तुति न करना और उनसे सम्पर्क भी न रखना अमूढदृष्टि अ ंग कहलाता है।

—卐 (५) उपगूहन अग 卐—

स्वयशुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम्। वाच्यता यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥

अर्थ—स्वय शुद्ध श्री जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट जैनमार्ग की अज्ञानी और

सामर्थ्यहीन लोगों के कारण से उत्पन्न हुई निन्दा हो जैसे हो वैसे दूर करना उपगूहन अंग कहलाता है। इस अंग का नाम किन्ही आचार्यों ने उपबृहण (धर्म को बढाने वाला) भी वतलाया है। इसलिये आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू मे दोनों के नामों का उल्लेख कर उनका अर्थ किया है —

क्षान्त्या सत्येन शौचेन, मार्दवेनार्जवेन च । तपोभि. संयमैर्दानै., कुर्यात्समयबृंहणम् ॥
सवित्रीवतनूजाना, मपराधं सधर्मसु । दैवप्रमादसपन्नं, निगूहेद् गुणसम्पदा ॥

अर्थ—क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव तप, सयम और दान से जैन धर्म व जैन सिद्धान्त की उन्नति को करना। उपबृहण अंग है। जैसे माता अपने पुत्रों के दोपो को छिपाती है उसी तरह साधर्मियो के दोषो को छिपाना अर्थात् किसी सधर्मी से प्रमादवश कोई अपराध हो गया हो, तो उसको सर्व साधारण में प्रगट नही करना उपगूहन अग कहलाता है।

*** (६) स्थितिकरण अंग ***

दर्शनाच्चरणा द्वापि, चलतां धर्मवत्सलै । प्रत्यवस्थापन प्राज्ञै, स्थितिकरणमुच्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से गिर रहे हो उनको धर्म वत्सल-धर्मात्माओं का कर्त्तव्य है कि गिरने न दे; क्योंकि गिरते हुए को उठाना ही धर्मात्मा का कर्त्तव्य है।

*** [७] वात्सल्य अग ***

स्वयूथ्यान्प्रतिसद्भाव, सनाथापेतकैतवा । प्रतिपत्तिर्यथायोग्य वात्सल्यमभिलप्यते ॥ १७ ॥

अर्थ—अपने सधर्मी भाइयों के प्रति समीचीन भावो से छल कपट रहित यथायोग्य आदर सत्कार करना वात्सल्य अग है। उनसे नि:स्वार्थ निष्कपट प्रेम रखना ही धार्मिक वत्सलता है। अमितगति श्रावकाचार मे भी कहा है —

करोति सघे बहुधोपसर्गैरुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।
चतुर्विधे व्यापृति, मुज्जवलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टि. ॥७६॥ (अध्याय ३)

अर्थ—मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका ऐसे चार प्रकार के समुदाय रूप से व किसी भी प्रकार का उपसर्ग व कष्ट आगया हो या आरहा हो, तो अपने सासारिक स्वार्थ की वाछा न रखकर केवल धर्मबुद्धि से तन, मन और धन के द्वारा यथा शक्ति उस सङ्कट को दूर करना वात्सल्य अग है। **भावार्थ**–जैसे गाय अपने बछड़े पर नि स्वार्थ स्वाभाविक प्रीति रखती हुई रक्षा करती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को उचित है कि वह धर्मात्माओ के प्रति उसी तरह का अनुराग रखकर उनको जैसे भी बने सङ्कट से बचावे। कहा भी है-
"उपेक्षायां तु जायेत, तत्वात् दूरतरोनर. । ततस्तस्य भवोदीर्घ, विरुद्धसमयोऽपि च ॥"

अर्थ—जो सुदृष्टि धर्मात्माओ के सङ्कट मिटाने मे उपेक्षा करता है अर्थात् ध्यान नही देता है वह सम्यक्त्व की अपूर्णता से दीर्घ ससारी होता है। उसका ऐसा करना

सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

— * (८) प्रभावना अङ्ग * —

अज्ञानतिमिरव्याप्ति, मपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्य, प्रकाश स्यात् प्रभावना ।। १८ ।। [रत्नकरंड]

अर्थ—अज्ञान रूपी अन्धकार के समूह को हटाकर ठीक २ जिन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना है।

भावार्थ—ससार मे चारो तरफ अज्ञानान्धकार फैला हुआ है। लोग यह नही जानते कि सच्चा मुक्ति का मार्ग कौनसा है। वे वस्तु के स्वरूप से स्वय अनभिज्ञ है, इसलिये उनको उपदेश द्वारा विद्यादान व वास्तविक तत्वो के स्वरूप को समझा कर मिथ्या अन्धकार को मिटा कर ज्ञानी बनाने के लिये सम्पूर्ण शक्ति लगा देना सच्ची प्रभावना है., और भी प्रभावना का वर्णन करते है।

आत्मा प्रभावनीयो, रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपो जिनपूजा, विद्यातिशयैश्चजिनधर्म: ।। ३० ।। [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—रत्नत्रय के प्रकार से निज आत्मा को सदा प्रभावान्वित करते रहना अभ्यतर प्रभावना है और दानातिशय, तपोतिशय, जिनपूजातिशय तथा विद्यातिशय के द्वारा जगत् में जैनधर्म की प्रभावना करना बाह्य प्रभावना है। ये दोनो ही प्रभावना के अंग हैं। इन आठो अंगों में क्रमश. अ जन चोर, अनन्तमती, उदयन रेवती रानी जिनेन्द्र भक्त सेठ, वारिषेण, विष्णु कुमार और वज्रकुमार ये प्रसिद्ध हुए है। इनकी कथाये पुराणो में मौजूद है।

नाङ्गहीन मलं छेत्तुं, दर्शन जन्मसंततिम्।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम् ।। २१ ।। [रत्न करण्ड]

अर्थ-जैसे अक्षर रहित मन्त्र विष की वेदना को नष्ट नही कर सकता, उसी प्रकार अ ग रहित सम्यग्दर्शन भी ससार की सतति को छेदने मे समर्थ नही हो सकता। इसलिये ऊपर कहे हुए आठो अंगो को भले रूप मे पालन करना चाहिये। इन आठो अ गो का जो स्वरूप बतलाया गया है, उससे विपरीत प्रवृत्ति करने से सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले शंकादिक आठ दोष होते है उनका वर्णन २५दोषो मे किया जावेगा। आगे और भी सम्यग्दृष्टि की पहिचान बतलाते है। **वच्छल्ल विणएण, अणुकम्पाए सुदाणदच्छाए।**

मग्गगुणसंसणाए, अवगूहण रक्खणाए य ।। १० ।।
एएहिं लक्खणेहिं य, लक्खिज्जवेहिं अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आरहतो जिणसम्मत अमोहेण ।।११।। (चारित्रप्राभृत कुंदकु दस्वामी)

अर्थ— उक्त गाथाओ द्वारा यह दिखलाया गया है, कि सम्यक्त्व के परिणाम अत्यन्त सूक्ष्म हैं। फिर भी उन्हे धारण करने वाले महापुरुषो को निम्नलिखित गुणो से पहिचाना

जा सकता है। धर्मात्मा मनुष्यो के साथ स्नेह रूप वात्सल्य, धर्मगुरुओं के आते ही उठकर उनके सम्मुख जाना, हाथ जोडना, चरणों मे नमस्कार करना आदि रूप विनय, दुखित जन को देख कर उस पर करुणा भाव रूप अनुकम्पा, उत्तम दान देने की उत्सुकता के साथ अर्थात् कोई भूख आदि से पीडित हों तो उसकी परीक्षा करके उसको क्या और कितना कैसा देना चाहिये-ऐसे विवेक सहित दान देना, श्री जिनेन्द्र के कहे हुए मोक्ष मार्ग की प्रशंसा करने रूप मार्गगुणशसा, मूर्ख व अशक्त पुरुष द्वारा हुए दोष को छिपाने रूप उपगहन, धर्म से चिगते हुए को ठहराने रूप स्थितिकरण, और परिणामों की सरलता रूप आर्जव, इन आठो गुणों द्वारा सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्दृष्टि की पहिचान हो सकती है। अब व्यवहार सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व में जो दोष लगते हैं, उनका कथन करते है, क्योंकि दोषों के जाने बिना उनका त्याग नही हो सकता।

* सम्यक्त्व के २५ दोषों का वर्णन *

मूढत्रय मदाश्चाष्टौ, तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति, दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः।। (यशस्तिलकचम्पू पृ. ३२४)

अर्थ-शङ्कादिक ८ दोष ८ मद, ३ मूढता और ६ अनायतन इस प्रकार इस सम्यक्त्व के २५ दोष होते है। *** शकादि ८ दोष *** प्रथम ही ८ शङ्कादिक दोषो को बतलाते है। (१) **शङ्का**--चलित प्रतिपत्ति रूप अनिश्चित अनेक कोटचात्मक ज्ञान संशय कहलाता है; जैसे यह साप है या रस्सी, सीप है या चांदी. तत्व अनेकात्मक है या एकात्मक. जीव का लक्षण चेतना है या नही. जिनोक्ततत्त्व सच्चा है या मिथ्या, आदि। तत्वों के विषयों में ऐसी शङ्का दर्शन मोहनीय सहित ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती है। (२) **कांक्षा**-मै जैन धर्म प्रसाद से व सम्यग्दर्शन के माहात्मय से देव, यक्ष व राजा हो जावू? इस प्रकार पराधीन. विनश्वर और सताप तथा तृष्णा को बढाने वाले ससार की वांछा करना काक्षा दोष है। ३. **विचिकित्सा**--रत्नत्रय से पवित्र मुनियो, व्रतियो एव त्यागियों के मलिन शरीर से घृणा करना, अथवा कोई धर्मात्मा रोगादि से अशक्त हो जाय तो उसके वमन व मल मूत्रादि उठाने घृणा करना विचिकित्सा है। जुगुप्सा (ग्लानि) करना भी एक कषाय का भेद है। अत वस्तु स्वरूप का ज्ञाता सम्यग्दृष्टि मल मूत्रादि से तो घृणा नही करे, परन्तु आवश्यकता पडने पर मल मूत्रादि का स्पर्श कर उनसे उत्पन्न हुई अपवित्रता को मिटाने के लिये अपने पदानुसार स्नानादि अवश्य करे, क्योंकि मुनियो को भी इसलिये कमण्डलु रखना पडता है। ४ **मूढदृष्टि**— मूढता परम्परा का मोह और अज्ञानवश कुदेव व कुगुरुओ को सेवा पूजा करना, कुशास्त्रो को सुनना आदि ऐसे कार्य करना जिनसे धर्म

पर से श्रद्धान हट कर सम्यक्त्व में शिथिलता पैदा हो वह मूढदृष्टिहै। ५. **अनुपगूहन**-अशक्तता, अज्ञान व प्रमाद के वश किसी रत्नत्रय के धारक से अथवा अन्य सहधर्मी से उसके पद के विरुद्ध कोई दोष बन पड़ा हो तो उसे सर्व साधारण मे प्रकट करके धर्म व समाज की हसी कराना, तथा निन्दा द्वारा धर्मात्मा को निर्लज्ज व उच्छखल बना देना, अनुपगूहन है। ६. **अस्थितिकरण**—धर्मात्मा पुरुषों की हसी मजाक व निन्दा करना, उनको धर्म से विचलित करने का प्रयत्न करना, और उनकी धार्मिक क्रियाओं में शिथिलता कराना, अर्थात् धार्मिकों को जैसे तैसे धर्म से चिगा देना, या धर्म साधन में शिथिल कर देना, अस्थिति करण अंग है। ७. **अवात्सल्य**—धर्मस्थान तथा धर्मात्माओ से द्वेष रखना, उनके दोषो को खोजते रहना, उनकी निन्दा करना, और उनके दुःख मे सहायक न होना अवात्सल्य है। ८. **अप्रभावना**-कोई पुरुष धर्म प्रभावना का कार्य करना चाहता हो या कही पर धर्म कार्य होता हो तो उसको नही होने देना। जैसे विद्यालय, औषधालय, साहित्य-समिति, ग्रंथमाला मदिर-निर्माण आदि लोकोपयोगी कार्यो मे सहायता नही देना, वितण्डावाद खड़ा करना, स्वय रोक देना या अन्य से रुकवा देना। तात्पर्य यह है कि जिन कार्यों से धर्म प्रभावना होती हो उनको नही होने देना, या जिससे धर्म को लांछन लगे ऐसा कर बैठना। ये आठ दोष है। इनसे व्यवहार सम्यक्त्वी को बचना चाहिये। ये सम्यक्त्व को मलिन करने वाले हैं। इनसे बचने पर ही सम्यग्दर्शन के नि.शङ्कितादिक आठ अंग पलते हैं। *** अष्ट मद ***

संभावयन् जातिकुलाभिरूप्य, विभूतिधीशक्तितपोऽर्चनाभि ।
स्वोत्कर्षमन्यस्य सधर्मणो वा, कुर्वन् प्रधर्ष प्रदुनोति दृष्टिम् ॥८७॥ (अ. ध. अ २)

अर्थ—जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव-जाति, कुल, रूप, सपदा, बुद्धि, बल तप और पूजा इन आठों का घमड करता है अर्थात् इनके द्वारा अपने को तो ऊंचा चढाना चाहता है, और दूसरे सधर्मी पुरुषो को नीचे गिराना चाहता है, वह सम्यक्त्व की महिमा को घटाना है। अर्थात् सम्यक्त्व को मलिन करता है। इन मदों का क्रमश स्वरूप यह है.- १. **जातिमद**- मातृ पक्ष को जाति कहते हैं। मेरे नाना मामा आदि राजा है, लोक मान्य हैं, इत्यादि घमण्ड करना जातिमद कहलाता है। २. **कुलमद**—अपना जन्म उच्च कुल, राजा, सेठ एव लोक-मान्य वंश मे हो तो उसका बखान करना, इससे अपने आप को वड़ा मानना एव इसी दृष्टि से अपने वाप दादाओ की प्रशसा करना कुलमद कहलाता है।

३. **रूपमद**—अपने रूप तथा सौंदर्य का मद करना रूपमद है। ४. **धनमद**—अपने वैभव, सपत्ति एवं धनादिक ऐश्वर्य का घमण्ड करना धनमद है। ५ **विद्यामद**—मैं सर्व मान्य व सम्पूर्ण विपयो का ज्ञाता विद्वान् हूँ और मेरे ऐसे २ शिष्य हैं, मैं ऐसी शिल्पकलाओ एव विद्याओ का ज्ञाता हूँ, मेरे वरावर कोई नही है---ऐसा कहना विद्यामद

है। ६. **बलमद**—अपने शारीरिक बल का अभिमान करना, अपनी युद्धशक्ति के उत्कर्ष से यह खयाल करना कि मैं किसी को क्या समझता हूँ और निर्बलो को सताना, बलमद है। ७ **तपोमद** व्रत उपवासादि करने पर भी खेदित न होने को या उग्र तप करने आदि को कथन कर यह दिखलाना कि मेरे समान कोई तपस्वी नही है, तपोमद है। **पूजामद**—मैं जहां जाता हूँ वही आदर पाता हूं और सब मेरी आज्ञा मानते है, इत्यादि कहकर अपना बड़प्पन दिखलाना पूजामद है। ये आठों ही मद परित्याज्य है विवेकी पुरुषों को नही करने चाहिये।

❊ षट् अनायतन ❊

कुदेवलिङ्गशास्त्राणां, तच्छ्रितां च भयादितः।
षण्णां समाश्रयो यत्स्यात् तान्यनायतनानि षट् ॥४४॥ (धर्मसंग्रह श्रावकाचार अ.२)

अर्थ—कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र, कुदेवसेवक, कुगुरुभक्त, और कुशास्त्रो को मानने वाला, ये छह अनायतन है, अर्थात् ये आत्महित के लिये उपयोगी स्थान नही है। अत. भय लोभ आदि से इनकी सेवा प्रशसा सत्कारादि करने से सम्यग्दर्शन मलिन होता है। षट् प्राभृत की टीका मे इनके घर जाना अर्थात् कुदेवो के मदिर मे कुगुरुओ के मठो मे तथा कुशास्त्र भवनो मे (कुपुस्तकालयो) मे जाने या धार्मिक बुद्धि से इनके मानने वालो के घर जाना भी मना किया है। प्रायः देखा जाता है कि जो जैन केवल उत्सवादि देखने के लिये कुदेवादिको के स्थानो मे जाते है, वे भी बड़े भारी सङ्कोच मे फंस जाते है; और वह यह वहा जाकर कुदेवादिको का विनय न किया जावे तो उनकी भक्त जनता बुरा समझती है। और विनय करते है, तो सम्यक्त्व मे दोष लगता है। दूसरे ऐसे स्थानो मे जाने से भोले जीवो के श्रद्धान बिगडने की संभावना रहती है अतः जहा तक हो ऐसे स्थानो मे गमनागमन से बचते ही रहना चाहिये। कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्रो का स्वरूप पहले दिखलाया जा चुका, अत यहा पर नही लिखा गया।

❊ तीन मूढ़ता ❊

अदेवे देवबुद्धिः स्या,दधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या, ख्याता देवादिमूढ़ता ॥ ११७ ॥ (लाटी सहिता अ. ४)

अर्थ—हेयोपादेय का विचार किये बिना लोगो की देखा देखी करने लग जाना मूढता कहलाती है। अत. जो देव नही है उसमे देव पने की, जो अधर्म है उसमे धर्म की और अगुरु मे गुरुपने की जो बुद्धि का करना है वह क्रम से देवमूढता, लोकमूढता और गुरु-मूढता कहलाती है। आगे प्रत्येक का विशद स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। (१)**देवमूढता**

पुत्र की धन की व निरोगता आदि की प्राप्ति के लिये रागद्वेषादिक के धारक देवी

देवताओं की सेवा करना, उनका कहना करना, अथवा कोई मनुष्य ठग पने से झूंठ मूंठ ही घूम घाम कर कहता फिरे कि मैं तो अमुक देवता हूँ मेरी सवामणी करो, अमुक २ चीजे मेरी भेंट करो तुम्हारा काम सिद्ध होगा, इस तरह उसकी आज्ञा का पालन करना बोलारी बोलना आदि देवमूढता कहलाती है। विचारने की बात है कि पहिले तो धन सुख सतान आदि की प्राप्ति अपने कर्मानुसार है। दूसरे जब देव मे ऐसा सामर्थ्य है तो उसको सवामणी कराने व सेवा पूजा की सामग्री आदि मांगने की क्या आवश्यकता है? अतः देव मूढता के ऐसे प्रपचो मे न पडकर श्री जिनेन्द्र देव की ही भक्ति करनी चाहिये, क्योंकि जिससे विना मागे ही सब प्रकार के सुखो की प्राप्ति हो सकती है। (२) लोक मूढ़ता—

आपगासागरस्नान, मुच्चय: सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढ़ं निगद्यते ।। २२ ।। [रत्नकरड़]

लोगो की देखा देखी धर्म समझकर गङ्गा, यमुना, पुष्कर, समुद्रादि मे स्नान व दान करना; श्राद्ध करना, बड पीपल, खेजडा आदि वृक्षों को पूजना., गाय की पूंछ को नमस्कार करना, गो मूत्र पीना, हाथी, घोडा, बैल, तलवार दवात, कलम, घर की देहली रोडी, गणगोर, होली आदि को पूजना., दिवाली के दिन लक्ष्मी पूजा करना आदि सब लोकमूढता है। याद रहे कि तुलसी आदि वनस्पति और गो आदि पशु स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है अतः इस दृष्टि से इनका उपयोग करना हितकर ही है। यदि इन कार्यों के करने से ही धर्म, धन, व सुख की प्राप्ति होनी है तो फिर पूजा, भजन, तप, दया दान, परोपकार आदि अन्य धर्म के कार्यो का करना व्यर्थ ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त जैन समाज मे आजकल कितने ही लोग केशरियाजी, महावीरजी व पद्मपुरीजी आदि पर भी अपनी २ मनोकामना लेकर जाते है, और भगवान् से जाकर कहते है, कि हे महाराज! मेरे पुत्र हो जावेगा तो मैं छत्र चढाऊंगा, लाभ हो जायेगा तो चौथाई द्रव्य आपके भडार मे दे दूंगा इत्यादि। विचारना चाहिये कि क्या वीतराग भगवान् इन बातो के भूखे है जो उनको रिश्वत देकर अपना कार्य करना चापते हो? ये सब अज्ञानता से आप करते हो। ऐसी मूढ़ता की बातो से धर्म को, निज आत्मा को व सम्यग्दर्शन को कलक लगता है। यह करना., जैनागम विरुद्ध है। यह तो एक प्रकार का सौदा हुआ, भूल कर भी ऐसा नही करना चाहिए। इसमे मनुष्य की श्रद्धा नष्ट हो जाती है। इसलिए सवामणी मनौती आदि पाखण्ड किसी भी तरह उचित नही है। (३) गुरु मूढता—

सग्रन्थारम्भहिंसाना, संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाखण्डिना पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ।। २४ ।। [रत्नकरंड श्रा.]

जो आरम्भ परिग्रह के धारक, विषयासक्त, ससार चक्र मे भ्रमण करने वाले

पाखडी वेशधारी, मायाचारी, लोभी, क्रोधी, कामी होकर भी अपने गुरु कहलवाते है, वे वास्तव मे कुगुरु है। ऐसों को गुरु समझ कर भोजन कराना व उनका आदर-सत्कार-प्रशसा आदि करना गुरुमूढता है।

— * सम्यक्त्व के ५ अतिचार * —

शङ्काकांक्षा विचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ।। २३ ।। (मो० अ० ७)

अर्थ—श्री उमास्वामी ने शङ्का १ आकांक्षा २ विचिकित्सा ३ अन्यदृष्टि प्रशंसा ४ और अन्यदृष्टि संस्तव ५ ये सम्यक्त्व के पॉच अतिचार बतलाये है, **इनको सर्वथा त्यागना** चाहिये। **भावार्थ**—दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मुनि या श्रावक दोनों में किसी के भी कभी शकादिक की उत्पत्ति हो जावे तो उससे सम्यग्दर्शन का अपवाद होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन मे दोष लगता है। यदि यहां पर यह शङ्का की जावे कि सम्यग्दर्शन के नि·शंकितादि ८ गुणो के विरुद्ध शकादि ८ दोष रूप ८ अतिचार होने चाहिये, उनमें से यहां शंका आकांक्षा और विचिकित्सा इन तीनो को ही क्यो लिया ? तो इसका समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टि के ज्ञान चारित्र आदि को अपने मन में उत्तम समझना तो अन्यदृष्टि प्रशसा है, और उस मिथ्यादृष्टि के विद्यमान व अविद्यमान गुणों की अपने वचनों में स्तुति करना संस्तव है। इन दोनो मे ही मूढदृष्टि आदि दोष पचक गर्भित हो जाते हैं। यदि सम्यग्दृष्टि की प्रशसा व स्तुति करेगा तो सबसे पहिले मूढ मति (हेयोपादेय विचार रहित) बनेगा, ऐसी दशा में न तो वह किसी धर्मात्मा के प्रमाद व अज्ञानादि से लगे हुए दोषो का उपगूहन कर सकेगा, और न किसी धर्म व प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होते हुए का स्थितिकरण कर सकेगा। फिर रत्नत्रय के पात्रो व सधर्मियों के साथ सच्चा अनुराग रखने रूप व जैन धर्म और जैन–सङ्घ का महत्व बढने रूप प्रभावना ये दो गुण तो उसमें हो ही नही सकते हैं।

उक्त पांचों अतिचारो मे से शङ्का, आकाक्षा, विचिकित्सा का स्वरूप ८ दोषो मे कह दिया है और प्रशसा तथा सस्तव का स्वरूप भी बताया जा चुका है। अब जो श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने शंका के विषय मे कहा है उसे बताते है।

सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्सका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभय विप्पमुक्का, जह्मा तह्मा दुणिस्सका ।। २२ ।। (समयसार)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव नि शक होते है अतः निर्भय रहते है। एव सप्त भय से रहित होने के कारण कदाचित् भी सम्यग्दर्शन से किसी के चिगाने से नही चिगते।

– * सात भयों के नाम व स्वरूप कविवर बनारसीदासजी ने इस प्रकार गिनाये हैं। * –

इस भव भय परलोक भय मरण वेदना जास, अनरक्षा अनगुप्तिभय अकस्मात् भय सात।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि इन सात भयो से रहित होता है। वह निर्भय होकर जगत् मे विचरण करता है। मिथ्यादृष्टि इन सातो भयो से सदा आक्रान्त रहता है। उसकी आकु-

लता कभी नष्ट नही होती वह इस लोक परलोक आदि की चिन्ता से सदा चिंतित रहता है। इन सात भयो का सक्षिप्त स्वरूप यह है :—१. **इहलोकभय**—इस भव मे मेरे इष्ट का वियोग व अनिष्ट का सयोग न हो, मै सदा धनवान् बना रहूं, कभी दरिद्री नही होऊँ, इत्यादि चिन्ताओ से ग्रसित रहना, अथवा यदि मेरा वैभव नष्ट हो जावेगा तो मैं कैसे जीऊंगा इत्यादि विचारो का भय सम्यग्दृष्टि को नही होता, क्योकि वह वस्तु रूप का ज्ञात होने से शुभाशुभ कर्मो का फल अवश्य भोगना पड़ता है, उससे मेरे आत्मा की कोई भी हानि नही ऐसा-दृढ श्रद्धान रखता है। २. **परलोकभय**—मिथ्यादृष्टि ही कर्म जनित दु खो से घबराता है, सम्यग्दृष्टि तो सासारिक सुख दुखो मे राग द्वेष करने से अपना अहित समझ ऐसा भय नही रखता कि मेरा परलोक मे क्या हाल होगा मे कहां जाकर जन्म लूंगा और किस प्रकार के सुख दुःख भोगने पडेगे, न मालूम मुझे कैसे सम्बन्धी किस रूप से मिलेगे। यही परलोक भय है। ३. **वेदनाभय**—शरीर में वात पित्तादिक के प्रकोप से ज्वारादि रोगो की उत्पत्ति का होना वेदना कहलाती है। रोग होने से पहिले से ही चिन्ता करना कि मे बीमार न होजाऊं, या बीमार होने पर यह चिन्ता करना कि मे कब नीरोग होऊंगा ? इत्यादि वेदना भय कहलाता है। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारक होने से मैं तो निज स्वरूप वेदना का ही अनुभव करने वाला हूं। अत. परकर्म जनित रोगादि से क्यो घबराऊं। रोग तो शरीर मे होता है किन्तु शरीर मेरा कहा है ? वह तो पर है, जड़ है। मैं तो चेतन स्वरूप हूं रोगादिक तो मेरे स्वरूप से भिन्न ही है, अतः उनका विचार क्यों करूं ? मैं तो सच्चिदानन्द रूप हू। ऐसा विचार कर वेदनाभय को जीतता है। ४ **मरणभय**—जिसका जन्म हुआ है उसका मरण अवश्यभावी है, तो भी मरण का नाम लेने से ही मिथ्यादृष्टि जीव डरते है न सम्यग्दृष्टि यह शरीर जीर्ण एवं शीर्ण व त्र के समान है, जीव इसको बदल कर दूसरे शरीर मे जाता है, इससे आत्मा का कुछ नही बिगड़ता, और संसार मे प्राणो के नाश का ही नाम मरण है और मेरे तो एक चेतना ही प्राण है, उसका कभी विनाश नही होता फिर मे मरणभय क्यो करूं ? ऐसा विचारवान् सम्यग्दृष्टि जीव ही इस भय पर विजय प्राप्त करता है। ५. **अरक्षाभय**—यिथ्यादृष्टि सोचता है कि मेरा कोई रक्षक नही है। हाय मुझे कोई दुःख से बचाने वाला नही है। मे किसके शरण जाऊं ? परन्तु सम्यग्दृष्टि विचारता है कि पदार्थ की सत्ता का कभी नाश नही होता, अत किसी के द्वारा मेरे शरीर की रक्षा न होने पर भी निज आत्मा ना नाश नही होता, फिर हाय मेरी रक्षा करने वाला नही है ऐसा भय क्यों करू ? शरीर का नाश होना तो अवश्यंभावी है। उसकी रक्षा करने वाला कोई नही है। यह विचार कर वह इस भय से विजय प्राप्त करता है। ६. **अगुप्तिभय**—जिस भूमिपति(राजा)आदि के

पास दृढ किला आदि न हो तो वह डरता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है कि मेरे कोट; किला खाई आदि नही है, तो इससे मेरी कोई भी हानि नही। क्योंकि में सत् स्वरूप, आदि अन्त रहित. चैतन्य रूप हूं और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित होने से संसारी जीवों की दृष्टि गत होने वाला हूँ। मुझे तो केवल ज्ञानी ही देख सकते है। फिर मै ऐसा द्रव्य हूँ कि मेरा कभी भी नाश नही हो सकता। मै अगुप्ति का भय क्यों करूं ? यदि भय करूंगा तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में अन्तर ही क्या रहेगा ! ऐसा भय करने से तो सम्यक्त्व को दूषण लगता है। अत. अगुप्ति भय करना मुझको अयोग्य है। मुझे मेरा स्वरूप समझना चाहिए। मेरे स्वरूप की गुप्ति तो स्वय ही हो रही है इसके लिए डरने की जरूरत नही है। ऐसे विचार से इस भय को जीतना चाहिये।

(७) **अकस्मात्भय**—आकस्मिक घटनाओ से डरना, उनका खयाल कर भयभीत रहना। जैसे बिजली गिरने, भूकम्प होने, अग्नि लगने, बाढ आने आदि से डरते रहना। सम्यग्दृष्टि ऐसे भयो के विषयो में विचारता है कि ये मेरा क्या कर सकते है ? क्योकि सिद्धान्त मे ऐसा कहा है कि किसी वस्तु का अन्य कोई वस्तु कुछ भी नही बिगाड सकती सम्पूर्ण द्रव्य अपने २ गुण पर्यायो मे स्वतन्त्र रूप से बने रहते है फिर अकस्मात् भय आकर मेरा क्या बिगाड सकता है। श्री जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान मे जो कुछ भी झलका है उसको मेटने के लिये इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि का भी सामर्थ्य नही है। फिर सामान्य मनुष्य की तो क्या बात है ! इसलिए आकस्मिक-भय से कभी चलायमान नही होना चाहिए। आचार्यों ने सिद्धान्त में कहा है कि तीन लोक की सम्पूर्ण वस्तुये मिलकर सम्यग्दृष्टि को चलायमान करे तब भी वह अपने दृढ श्रद्धान से चलायमान नही हो सकता। फिर मैं कैसे डर सकता हूं, इस तरह डरना मेरा कर्त्तव्य नही है। वीतराग निर्ग्रन्थ श्री जिनेन्द्र भगवान् का मार्ग महान् उत्कृष्ट है। सो उसके उपासक को कभी डरना नही चाहिए। यह भी मै जानता हू कि ससार मे कोई भी वस्तु पर्याय रूप से स्थिर नही, सबकी मर्यादा है, तो इस उपसर्ग की भी तो मर्यादा है, इसलिये समय पूर्ण होने पर यह भी दूर हो जायगा। अगर यह मनुष्य पर्याय भी इसी उपसर्ग से जानी होगी तो अवश्य जायगी, किसी के रोकने से रुक नही सकती। अत इस अकस्मात् भय से डरना उचित नही है। इस प्रकार आकस्मिक भय से नही डरने वाला विचारता है।

❋ क्षायिक सम्यग्दृष्टि के विषय में कहा है ❋

वयणेहिं वि हेदूहिं वि, इंदियभयआएहिं रूवेहि।
बीभच्छजुगुच्छाहिं य, तेलोक्केण वि ण चालेज्जो ॥ ३४३ ॥ [गोमट्टसार]

अर्थ—श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियो को भय उत्पन्न

करने वाले भूत पिशाच या सिह व्याघ्रादि के रुपो से, अथवा घृणा उत्पन्न करने वाले पदार्थों के देखनेसे, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव चलायमान नही होता है। यदि तीन लोक के जीवभी उपस्थित होकर उसके सम्यक्त्व को बिगाडना चाहे तो भी वह चलायमान नही होता है । ऐसा इसका दृढ श्रद्धान प्रशसनीय है । यहा प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति तो चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती गृहस्थ के भी हो जाती है । तो क्या वह गृहस्थ शरीर में वेदना(रोग)होने पर उसको दूर करने के लिये औषधिका सेवन नही करे ? यदि कोई शत्रु उसे मारना चाहे तो उससे बचने का उपाय न करे ! किसी जगह प्लेग, हैजा आदि सक्रामक रोग फैल रहे हो तो उन स्थानो को नही छोडे ! वन मे अचानक सिह, सर्प आदि मिल जावे तो उनसे न बचे ! यदि किसी घर मे अग्नि लग जावे तो वहा से नही भागे ! इत्यादि ।

इसका समाधान यह कि–स्वात्म स्वरूप मे रुचि न पैदा होने देने वाले, तथा पर पदार्थो मे ममत्व कराने वाले, दर्शन मोहनीय के क्षय वा उपशम से अथवा क्षयोपशम से जो सम्यग्दर्शन हुआ है, उसके कारण वह सम्यग्दृष्टि निज आत्मतत्त्व को उपादेय और अन्य सबको हेय समझता है । दूसरे अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षयादि से उसके स्वरूपाचरणरूप चारित्र भी होगया है, अतः वह निजात्मा से पृथक् जो शरीर है, उसके लिये तथा पुद्गल जनित दु खो से बचने के लिये सात भय कारणो से निजात्मा से विचलित नही होता, परन्तु भय के कारणो को स्वय नही मिलाता है; और भय आ ही जावे तो उससे बचने का प्रयत्न भी करता है; क्योकि भय प्रकृति का उदय ७वे गुणस्थान तक है । हा, यदि वह सामायिकादिक समय मे कायोत्सर्ग कर चुका हो, अर्थात् शरीर से ममत्व छोड चुका हो तो ऐसी अवस्था मे कोई आकस्मिक-भय आजाय तो भी विचलित न होकर वह सामायिकादि मे ही मग्न रहता है । स्वर्गीय कवि बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के अन्त में १४ गुणस्थानो का वर्णन करते हुए ३ दोहो द्वारा निम्न लिखित सम्यक्त्व के भूषण तथा दूषण, व अतिचार दिखलाये है ।

卐 सम्यग्दर्शन के ५ दूषण 卐

ज्ञानगर्व मतिमन्दता, निष्ठुरवचन उद्‌गार ।
रुद्रभाव आलसदशा, नार्शहि पंच प्रकार ।। ३७ ।। [नाटकसमयसार]

(१) **ज्ञान का गर्व करना**—सिद्धान्त पढ, विद्वान् होकर अपने से अन्य को तुच्छ समझना अर्थात् ज्ञान का घमण्ड करना । (२) **बुद्धि की मन्दता**—अपनी अल्प बुद्धि के कारण धर्म विरुद्ध कार्य करना । (३) **निष्ठुर वचन वोलना**—असभ्य, कटुक, कठोर और दु:ख दायक वचनो का कहना । (४) **रौद्रभाव करना**—कर्मोदय वश हिंसा मे आनन्द मानना अथवा क्रोध रूप परिणाम रखना । (५) **आलस्य करना**—धार्मिक कार्यो के

करने में आलस्य वा प्रमाद करना, या मानवश उनमें दूषण लगाना । इन पांच कारणों से सम्यग्दर्शन का नाश होता है । अतः ये त्यागने योग्य है ।

卐 सम्यक्त्व के ५ भूषण 卐

"चित्त प्रभावना भावयुत, हेय उपादेय वाणि, धीरज हर्ष प्रवीणता, भूषण पंच बखाणि ।"

१. चित्त प्रभावना—मन में सम्यग्दर्शन की या जिनेन्द्र मार्ग की प्रभावना करने की भावना रखना । २. **हेयोपादेय**—क्या हेय है, क्या उपादेय है, इत्यादि विषय का ज्ञान करते रहना । ३. **धैर्य**—रोग, शोक, भय, आदि के उपस्थित होने पर धैर्य रखना, अधीर नही होना । ४ **हर्ष**—धर्मात्मा सधर्मी का प्रसन्नता पूर्वक आदर व सत्कार करना तथा धर्म कार्य करने मे आनन्द मानना । ५ **प्रवीणता**—जैन धर्म के सिद्धान्तो को समझकर धर्माचरण करने मे चातुरता का होना । इन पाचो से सम्यक्त्व की शोभा बढ़ती है, जैसे--किसी पुरुष की शोभा भूषणो से बढती है। अत ये भूषण है ।

卐 सम्यक्त्व के ५ अतिचार 卐

"लोकहास्य भय भोगरुचि अग्रसोच थितिमेव, मिथ्या आगम की भगति, मृषादर्शनो सेव" ।

ऊपर लिखे हुये५अतिचार सम्यक्त्वी को त्यागना आवश्यक है; क्योकि इन अतिचारों के टाले बिना सम्यक्त्व का निर्दोष पालन नही हो सकता । १. **लोक हास्य**—अन्य लोग हंसी करे तो उस हसी से डरना । २. **भोगरुचि**—विषयो के भोगने की लालसा रखना ।

३ **अग्रसोचतिथि**—सुख दायक उत्तम वस्तु छोड़ कर आगे के भव मे भी मुझे इस प्रकार की सामग्री एव वैभव प्राप्त हो, ऐसा निदान करना । ४ **मिथ्या आगमप्रशसा**—हिसा आदि के पोषक मतों की वा कुशास्त्रो को प्रशसा करना, तथा मिथ्यादृष्टियो को देख कर उनकी भक्ति करना, और अपने को धन्य मानना । ५. **मिथ्यादृष्टि सेवा**--जो मिथ्यादृष्टि हो अथवा बाह्य आचरण से मिथ्यादृष्टि प्रतीत हो उसकी भक्ति आदि करना । आगे जाकर यह दूषण अनाचार रूप हो जाता है, अत इसको दूर करना आवश्यक है।

卐 सम्यक्त्व की प्रशंसा 卐

" सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च" (चामुण्डराय कृत चारित्रसार)

अर्थ–यदि सम्यग्दर्शन युक्त अणुव्रती होवे तो वह स्वर्ग पाता है और वही सम्यग्दर्शन महाव्रत सहित हो तो मोक्ष का दाता है । और भी कहा है—

पचाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोक ।
यत्रावधिरष्टगुणा , दिव्यशरीर च लभ्यन्ते ।। ६३ ।। (रत्नकरड)

अर्थ—ये पॉच अणुव्रत रूपी निधिया यदि अतिचार रहित पालन की जावे तो

जहां पर अवधि ज्ञान, अणिमा, महिमा आदिक आठ ऋद्धिया तथा दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है, ऐसे स्वर्ग लोक की दाता होती है।

❋ सम्यक्त्व की महिमा ❋

जीवादीसद्दहरण, सम्मत्त लेसिमधिगमो रणारणं ।
रायादिपरिहरण, चरण एसीदु मोहपथो ।। [अध्याय ३ लाटी संहिता]

जीवादि सात तत्वो वा नव पदार्थो का यथार्थ (ठीक २) श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, जीवादि का यथार्थ स्वरूप जानना ज्ञान और राग द्वेषादि परिणामो का परित्याग करना चारित्र है। ये तीनो रत्न है और तीनों का समुदाय रत्नत्रय कहलाता है। यह रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए इसी को पाने का प्रयत्न करना चाहिए इसी को पाने के लिये भावना भाना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं:—

दर्शनमात्मविनिश्चिति, रात्मपरिज्ञानमिष्यते बोध. ।
स्थितिरात्मनि चारित्र, कुत एतेभ्यो भवति बन्ध, ।। (अ. ३ लाटी संहिता)

अर्थ—आत्मतत्त्व का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा के स्वरूप का जानना सम्यग्ज्ञान है। निज आत्म तत्व मे लीन होना सम्यक्चारित्र है।

भावार्थ—यह निश्चय रत्नत्रय का लक्षण है, न तो इसमे पर पदार्थ का अवलम्बन है और न शुभ राग की ही उपादेयता है। राग द्वेष रहित जो निज शुद्ध आत्मा का अनुभव है, वह शुद्धोपयोग रूप है। अत. इसके द्वारा कर्म का बन्ध ही नही होता, मुख्य उपादेय तो निश्चय रत्नत्रय ही है; परन्तु ससारी जीवों को सहसा उनकी प्राप्ति नही होती, अत उसका साधक व्यवहार रत्नत्रय ही माना गया है। "रत्नत्रय मोक्षपन्था" अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र, इन तीनो की जब आत्मा मे एक साथ विद्यमानता हो जाती है, तभी इनके द्वारा आत्मा कर्म-बन्ध से मुक्त हो मोक्ष की प्राप्ति करता है। कहा भी है— (यशस्तिलक पृष्ठ २७१ आश्वास ६)

ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे, नि श्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् । ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणं।२७१।

अर्थ—जैसे एक जङ्गल मे आग लग गई। वहा तीन पुरुष थे-एक तो अन्धा था, एक पंगला तथा एक अविश्वासी था। ये तीनो ही जुदे २ रहकर भस्म हो गये। अन्धा तो चल सकता था किन्तु उसको सूझता नही था, कि किधर जाऊं ! इसलिये वह तो ऐसा भस्म हो गया। पगले को सूझता था, किन्तु वह चल नही सकता था अतः वह भी जल गया। तीसरे के पग और आख दोनो चीजे थी, परन्तु उसमे विश्वास न था कि यह दावानल (वन की आग) फैलकर मुझे भी भस्म कर डालेगी अत. वह भी जल गया।

यहां अन्धे में क्रिया थी, पांगले में ज्ञान था, और अविश्वासी मे ज्ञान चारित्र तो था, परन्तु विश्वास अर्थात् श्रद्धान नही था; अत. ज्ञान चारित्र के होने पर भी ससार रूपी वन से नही निकल सका। इस दृष्टान्त से यह समझ में आगया होगा कि सिर्फ ज्ञान और चारित्र से ही मोक्ष नही हो सकता जब तक कि श्रद्धान न हो। अतएव रत्नत्रय में सम्यग्-दर्शन की प्रधानता है., क्योंकि इसके बिना ज्ञान और चारित्र भी कुज्ञान और कुचारित्र ही कहलाते है। इसके होने पर ही उनको सम्यक्त्व की पदवी मिलती है। कहा भी है—

शमबोधवृत्ततपसां, पाषाणस्येव गौरवं पुंस·।
पूज्यं महामणेरिव तदेवसम्यक्त्वसयुक्तम् ॥ १५ ॥ (आत्मानुशासन)

अर्थ—इन्द्रिय निरोध, ज्ञान, आचरण और तप यदि सम्यक्त्व रहित हो तो ये पत्थर की तरह भारी है किन्तु यही यदि सम्यक्त्व सहित हों तो महामणि की तरह पूजनीय है। आशय यह है कि ज्ञान, सयम और तप सम्यक्त्व के बिना निरर्थक है और भी कहा है—

सम्यक्त्वात्सुगति· प्रोक्ता, ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति, त्रयाच्चलभते शिवम् ॥ (यशस्ति.,आश्वास,७पृ.३२७)

अर्थ—केवल सम्यग्दर्शन से सुगति की प्राप्ति होती है, जो जीव सम्यक्त्व का धारक है, वह सुगति मे ही जाता है। प दौलतरामजी ने छहढाले में कहा है —

प्रथम नरक बिनषट् भूज्योतिष, वान भवन षंढ नारो।
थावर विकलत्रय पशु मे नहिं, उपजत सम्यक्धारी ॥

अर्थ—इस छद के अनुसार सम्यग्दृष्टि, कल्पवासी देव, उत्तम क्षेत्र मे उच्च कुली मनुष्य ही होता है। यदि सम्यक्त्व होने के पहिले नरकायु का बन्ध होगया हो, तो पहिले नरक से आगे नही जाता है, केवल सम्यग्दर्शन का ही यह फल है। सम्यग्दर्शन के बिना जो मिथ्याज्ञान है, उससे कुछ कीर्त्ति हो जाती है, और मिथ्या चारित्र से कुछ आद सत्कार की प्राप्ति हो जाती है। कहा भी है—

सम्यक्त्व दुर्लभं लोके, सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम्।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं, मूल धर्मतरोरिव ॥ (धर्मसग्रह श्रावकाचार)

अर्थ—इस ससार मे सम्यग्दर्शन का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है, यही मोक्ष क मुख्य साधन है। और ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति के लिये बीज के सदृश धर्म रूपी वृक्ष कं स्थिरता के लिये मूल के समान है।

दसणमोहे खविदे, सिज्झदि एक्के व तदियतुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभव, ण विणस्सदि सेससम्मं च ॥६४६॥ (गोमट्टसार)

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उसी भव मे

या तीसरे चौथे भव में अवश्य ही सिद्ध पद को प्राप्त कर लेता है क्योकि यह सम्यक्त्व होने के पश्चात् उपशम या वेदक की तरह नही छूटता है । **भावार्थ**—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त्त सहित ८ वर्ष कम दो कोटि पूर्व अधिक तेतीस सागर से ज्यादा ससार मे नही रहता । यदि क्षायिक सम्यक्त्वी के होने के पहिले देवायु या नरकायु का बन्ध हो गया हो तो वह तीसरे भव मे, और मनुष्य या तिर्यचायु का बन्ध हो गया हो तो वह चौथे भव में अवश्य ही मुक्त हो जाता है ।

卐 सम्यक्त्वी जीव कर्त्ता भोक्ता नहीं है । 卐

अर्थ—सारे जैन शास्त्र सम्यग्दर्शन की महिमा से भरे पड़े है । इसकी महिमा की चर्चा स्वर्गवासी इन्द्र और देवो की सभा मे भी होती रहती है । सर्वार्थसिद्धि के देव अपना प्राय: सारा समय इसकी चर्चा मे व्यतीत करते है । जब जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तब अनादि काल से बन्धे हुए भी उसके कर्म निर्जरित होने लगते है और आगे भी जो कर्मों का बन्ध होता है वह पहिले जैसा नही होता है । जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब उस जीव को आत्म द्रव्य का इतना भेद विज्ञान हो जाता है कि वह आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य मे, अपना स्वामित्व भाव नही समझता, अत: वह ससार में पर द्रव्यो का कर्त्ता व भोक्ता अपने को नही मानता, इसी अवस्था मे उस जीव के कर्म बन्ध कैसे हो सकता है ? जब जीव मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो ही भाव नही रहते है तो उसके कर्म बन्ध भी नही होता है । सम्दग्दृष्टि अपने को कर्त्ता एव भोक्ता नही मानता जहा तक जीव के यह बुद्धि रहती है कि मै रागद्वेषादि भावों का कर्त्ता हूँ और रागद्वेषादिक भाव मेरे है एव मै पुण्य पाप कर्मो का कर्त्ता हूँ, और पुण्य पाप कर्म मेरे कर्म है वहा तक उसके सम्यक्त्व भाव की प्राप्ति नही समझना चाहिए ।

सम्यग्दृष्टि जीव को यह दृढ श्रद्धान होता है कि जिस द्रव्य का जो गुण एव स्वभाव है वह उसका उसमे ही रहता है । द्रव्य परिणमनशील है अत प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति पर्याय या अवस्था का ही कर्त्ता और भोक्ता है । कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय का कर्त्ता एवं भोक्ता नही है । यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा भाव रूप है । अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य जो चेतन, अचेतन अनन्त पदार्थ है उनके द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अभाव स्वरूप है., इसलिये वह ज्ञानी अपने आपको ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागद्वेषादि भाव कर्म तथा शरीरादि तो कर्म से नितान्त भिन्न अनुभव करता है., तव वह इनका स्वामी कर्त्ता भोक्ता कैसे हो सकता है ? जो अपने को कर्त्ता भोक्ता अनुभव नही करता उसका ज्ञान आनन्दमय स्वभाव वाला है, वह आनन्द की परिणति का कर्त्ता है । चारित्र शाली भी उसका स्वभाव है इसलिये ही वह वीतराग

परिणति का कर्त्ता होता है। इसी प्रकार वह अपने ज्ञानामृत का ही भोक्ता होता है। इस प्रकार जिसके सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है, वह जीव यह समझता है कि अपनी स्वाभाविक पर्याय है वह ही भोगने योग्य है। वही अपना आनन्दामृत है, वह निज गुण सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य किसी को अपना नही मानता। (समय प्राभृत कुंदकुंदस्वामी)

णत्थि मम कोवि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया बिंति ।। ४१ ।।
णत्थि मम धम्म आदि, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्मत्तं, समयस्स वियाणया विंति ।। ४२ ।।
अहमिक्को खलु सुद्धो, दसणणाणमइओसयारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तं वि ।। ४३ ।।

अर्थ – जो ऐसा मानता है कि मोह कर्म मेरा सजातीय नही है मैं तो ज्ञान दर्शन और उपयोगमय हू। दीप की ज्योति के समान ज्ञाता और द्रष्टा हूं। रागी द्वेषी नही हूँ। उसी को निर्मल आगम ज्ञाताओ ने सम्यग्दृष्टि कहा है। जो ऐसा मानता है कि धर्म अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल और अन्य अक्षय अनन्त जीव ये सब मेरी सत्ता से नितान्त भिन्न पदार्थ है, मैं तो उनका ज्ञाता द्रष्टा एक उपयोगमय द्रव्य हूं, उसी को आगम ज्ञानाओ ने ज्ञेय पदार्थो से निर्ममत्व कहा है। ज्ञानी ऐसा अनुभव कर बिना शङ्का के ठीक २ मानता है कि मैं तो एक एकाकी ही अपनी सत्ता को रखने वाला हूं। मै परमशुद्ध, निर्विकार, वीतरागी, अमूर्त्तिक, स्वसत्ता वाला, परसत्ता से भिन्न, अनन्त प्रदेशी, स्वसहाय, चैतन्य लक्षणवाला, द्रव्यकर्म–भावकर्म–नोकर्म से रहित द्रव्य हूं, मेरा इन कर्म विकारो से कोई सम्बन्ध नही है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुत परम वीतरागी है। श्रद्धान वैराग्य उसका परम धन है। कहा भी है— (अमृतचन्द्रसूरि समयसार कलशा)

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियत ज्ञानवैराग्यशक्ति ,
स्व वस्तुत्व कलयितुमय स्वान्यरूपामुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिद तत्वत स्व पर च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात्" ।। ४ ।।

भावार्थ—नियम से सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्य की शक्ति उत्पन्न हो गई है, जिससे अपने स्वरूप का लाभ, अर परस्वरूप का त्याग, बिना किये ही हो जाता है। उमने अपने आपको पर से भिन्न जान लिया है। वह सम्यग्दृष्टि ऐसा अनुभव करता है कि मेरा तो स्वभाव ही ज्ञानावरणादि कर्म बाधने का तथा घट पटादि पदार्थ उत्पन्न करने का नही है, मै एकाकार सदैव ही अकर्ता एवं अभोक्ता हूं। और भी कहा है—

कर्तृत्वं स्वभावोऽस्य चितोवेदयितृत्ववत् ।

अज्ञानादेव कर्ताऽयं, तयभावादकारक ।। २ ।। (अमृ. स कलाश)

भावार्थ—जैसे इस परमात्म स्वरूप आत्मा का स्वभाव पर द्रव्य के भोगने का नही है, उसी प्रकार इसका स्वभाव परके कर्तापने का भी नही है । अज्ञान के कारण यह जीव अपने को पर भावो का कर्त्ता व भोक्ता मान लेता है । जब अज्ञान चला जाता है तब यह अपने को उनका कर्ता व भोक्ता नही मानता है। यही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है । ज्ञानी किसी भी द्रव्यकर्म और भाव कर्म व नोकर्म का कर्त्ता नहीं है और न उनका भोक्ता ही है । वह तो उनके स्वभावो का देखने व जानने वाला ही है । वह ज्ञानी अपने को जीवन्मुक्त समझता है। सम्यक्त्वी जीव अपकी शुद्ध परिणति के अतिरिक्त किसी भी भाव को नही करना चाहता है । परन्तु पूर्व बद्ध कर्मो के निमित्त से (उदय से) उसके भावो मे विभाव परिणमन होतर है । जब आत्मा विभाव रूप परिणति करता है, तब रागद्वेष मोह भाव होता है और इन भावों का निमित्त पाकर कर्म वर्गणाये स्वय खिचकर आजाती है तथा बन्ध को प्राप्त हो जाती है । जैसे अग्नि की उष्णता का निमित्त मिलने पर जल वाष्प (भाप) रूप बन जाता है।

वास्तव में जीव न तो स्वय रागद्वेष विभाव भावो का कर्त्ता है और न ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म बन्ध का कर्त्ता है । पूर्वबद्ध मोह के उदय से जीव मे रागद्वेप होते है । उस रागद्वेष के निमित्त से स्वय द्रव्यकर्म का बन्ध हो जाता है । सिद्धान्त मे निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा से कथन हैं । "**स्वाश्रयो निश्चयनय**" जो अपने आश्रय रहे उसे निश्चयनय कहते हैं "**पराश्रयो व्यवहारनय.**" और अन्य वस्तु की अपेक्षा जो कथन करे वह व्यवहारनय है । निश्चयनय के भी दो भेद हैं—एक शुद्ध निश्चयनय और दूसरा अशुद्ध निश्चयनय । जो किसी एक द्रव्य के शुद्ध स्वभाव पर लक्ष्य देवे वह शुद्ध निश्चयनय है । जो द्रव्य के वैभाविक भावो पर लक्ष्य देवे वह अशुद्ध निश्चयनय है । जब जीव के कर्तापने व भोक्तापने का विचार इन तीनो नयो से किया जाता है तब उसके तीन विभाग निम्न लिखित श्री नेमीचन्द्र आचार्य की द्रव्य संग्रह की गाथाओ के अनुसार हो जाते है ।

पुग्गलकम्मारणं कत्ता, ववहारदो दु णिच्चयदो ।

चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावणं ।। ८ ।।

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि ।

आदा णिच्चयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स ।। ९ ।। (द्रव्य-संग्रह)

अर्थ—यह आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्म ज्ञानावरणादि व घटपटादिक का कर्त्ता कहलाता है । अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक भाव कर्मो का कर्त्ता कहा जाता है ।

परन्तु शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्ध वीतराग भावो का ही कर्त्ता है। यही जीव व्यवहार-नय से पुद्गल कर्मो के फल सुख दु ख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागद्वेष भावों का कर्त्ता भोक्ता है; परन्तु शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञानानन्द रूप निज भावो का ही कर्त्ता भोक्ता है। व्यवहारनय अभूतार्थ होता है। वह अन्य के कार्य का अन्य में आरोह करता है। कर्मवर्गणा स्वय कर्मरूप हो जाती है। यद्यपि यह कार्य पुद्गल का किया हुआ है, तो भी इस कार्य का कर्त्ता जीव को कहना व्यवहारनय है।

घटना कुम्भकार, कटक का सुवर्णकार, और रोटी का पाचक, जो कर्त्ता कहा जाता है वह व्यवहारनय से है। वस्तुत घड़े की बनाने वाली मिट्टी, कड़े का बनाने वाला सोना, और रोटी का बनाने वाला आटा है मिट्टी की पर्याय घट मे, सुवर्ण को पर्याय कडे मे और आटे की पर्याय रोटी की सूरत में बदली हुई है। यहा जीव के भावो का तथा हाथ पैरो का बाह्य निमित्त मात्र अवश्य आया है, इसलिये जीव को उनका कर्त्ता कहा जाता है। इसी प्रकार जीव का योग और उपयोग तो निमित्त मात्र है। वस्तुत. उपादान या मूलकर्त्ता तो वही है जो द्रव्य अवस्था मे अवस्थान्तर हुआ। कहा भी है—

जीवो ण करेदि घड, णेव पडं णेव्व सेसगे दव्वे ॥
जो उवओगा उप्पादगा य, सो तेसिं हवदि कत्ता ॥ १८७ ॥ [सयम०कु०]

अर्थ—जीव घट पट तथा अन्य द्रव्य को नही बनाता है। उसका योग ओर उपयोग ही निमित्त मात्र से कर्त्ता है। यहा पर अभिप्राय है कि ससारी जीवो के कर्मो का अनादि-कालीन सम्बन्ध है। नाम कर्म के उदय से मन, वचन और काय योग के होने से आत्मा का प्रकम्पपना होता है यदि जीव के कर्मो का उदय न हो तो ये मन, वचन और काय योग कार्यो के उत्पन्न होने मे निमित्त भो न हों। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से ही राग द्वेष, इच्छा प्रयत्न ज्ञानोपयोग होता है। यह अशुद्धोपयोग ही कार्योके करने में या होने मे निमित्त मात्र है। यदि जीव के कर्म का उदय हीन हो तो यह अशुद्ध उपयोग ही न हो। जीव और कर्मो के सयोग से क्या २ विभावभाव और क्या २ बाहरी कार्य होते है इन्ही को बतलाने के वास्ते अशुद्ध निश्चयनय से तथा व्यवहारनय से कथन किया गया है।

卐 शुद्ध निश्चय से आत्मा का स्वरूप 卐

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णं णियद। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणय वियाणीहि ॥

जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, तथा असयुक्त झलकाता है उसे शुद्धनय जानो अर्थात् शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखते हुए यह आत्मा कर्म व नोकर्म से न तो बधा है और न स्पृष्ट है; जैसे-कमल जल मे रहता हुआ भी जल के स्वभाव मे

अज्ञानी मे देहासक्ति है, अर्थात् वह शरीरादि बाह्य पदार्थो मे लवलीन है। ज्ञानी कर्म काट रहा है, अज्ञानी कर्म बन्ध बढ रहा है। कहा भी है— (समाधिशतक)

"**देहान्तरगतेर्बीज, देहेऽभिन्नात्मभावना। बीज विदेहनिष्पत्ते, रात्मन्येवात्मभावना ॥१४॥**

अर्थ—इस शरीर में व शरीर की क्रिया मे आत्मपना मानना बार२ अन्य२ शरीरों में भटकने का बीज (मूल कारण) है। शरीर मे आत्म-बुद्धि छोडकर अपने ही आत्मा में आत्मपना मानना शरीर रहित होने व मुक्ति प्राप्त करने का वीज (मूलकारण) है। ज्ञानी जीव अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी है तो अज्ञानी विषय सुख का प्रेमी है। इसीलिये सम्यक्त्वी को उपदेश है कि वह अपने शुद्ध निश्चयनय का आलम्वन लेता हुआ परिणामो को शुद्ध रखे। कहा भी है — (समयसार कलशा अमृतचन्द्रकृत)

"**इदमेवात्रतात्पर्यं, हेय शुद्धनयो न हि। नास्तिबन्धस्तदत्यागा, त्तत्त्यागाद्बन्ध एवहि ॥**

अर्थ—यहा पर इस उपदेश का यही प्रयोजन है कि शुद्ध निश्श्रयनय को कभी न छोड़ो। इसके ग्रहण करने से कर्म बन्ध नही होता है और इसके त्यागने से कर्मबन्ध ही होता है। इसलिये आचार्यो ने इसी को सम्यग्दर्शन कहा है। आगे भी कहते है—

"**भूदत्थेणाभिगदा, जीवाजीवाय पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जर, बधो मोक्खो य सम्मत्त।**

अर्थ—निश्चयनय से जाने हुए जीवादिक नौ पदार्थ ही सम्यक्त्व है इसका भाव यह है कि इन पदार्थो का निर्माण जीव और अजीव दो द्रव्यो के निमित्त से होता है। उनमे यह जानना चाहिये कि अजीव द्रव्य तो सर्वथा त्यागने योग्य है और एकजीवद्रव्य उपादेयग्रहण करने योग्य है। वह कर्मो से सर्वथा पृथक् है। इसी का नाम सम्यक्त्व है। यहा पर यह बात स्पष्ट हो गई कि सम्यग्दृष्टि अपना स्वामित्वपना अपने ही शुद्ध आत्मस्वरूप पर रखता है। तभी वह अपनी शुद्ध परिणति का कर्त्ता व भोक्ता होता है। ज्ञानी सम्यक्त्वी मोहजनित भावो का कर्त्ता व भोक्ता नही है। आगे इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रमाण से करते हैं।

"**परिणममाणस्यचितश्चिदात्मकै स्वयमपिस्वकैर्भावै**
भवति हि निमित्तमात्र, पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥
जीवकृतपरिणामं, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र, पुद्गलो कर्मभावेन ॥ १२ ॥
एवमय कर्मकृतैर्भावै, रसामाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति वालिशानां, प्रतिभास सखलु भवबीजम् ॥ १४ ॥ [समयसार]

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा अपने चैतन्यमय रागादिक भावों से आपही परिणमन करता है तथापि उन भावो मे पुद्गल कर्मो का वलवान् उदय निमित्त है। इसी प्रकार जीव के अशुद्ध भावो का निमित्त पाकर नवीन पुद्गल कर्म स्वय ही सप्त कर्म रूप व अष्ट

कर्म रूप परिणमन कर जाते है । इस प्रकार निश्चय से यह आत्मा कर्मो के द्वारा होने वाले भावो का धारण करने वाला नही है; तथापि जो मिथ्याज्ञानी जीव है उनको ऐसा ही झलकता है कि यह जीव स्वभाव से रागादि भावों का धारण करने वाला है यही मिथ्या प्रतीति ससार का बीज है । इसी को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र रूप भाव कहते है । ये ही ससार मे भ्रमण कराने वाले है; जैसे-रोगाक्रान्त होकर रोग को जो परकृत विकार जानेगा वही रोग से मुक्त होने का उद्यम कर सकेगा परन्तु जो रोग को अपना स्वभाव मान लेवेगा वह रोग से कैसे छूट सकेगा ? सम्यग्ज्ञानी इसको रोग मानता है, तभी इनसे छूटने का उपाय करता है और मिथ्याज्ञानी इनको अपना स्वभाव जानता है, इसी कारण इन से छूटने का उपाय नही करता । यही बन्धका और निर्जरा का लक्षण है, इसी प्रकार के अनुभव का करना सम्यग्ज्ञानी का परम कर्तव्य है, वही मोक्ष का कारण है ।

❋ सम्यक्त्वी के बन्ध नहीं होने का कथन ❋

जिस समय आत्मा का निज स्वभाव सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उस समय उसका अज्ञान अन्धकार मूल से नष्ट हो जाता है । उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है । उस सम्यग्दृष्टि का वह श्रुतज्ञान चाहे थोडा हो या बहुत, वह पदार्थों के सच्चे स्वभाव को जैसा का तैसा जानता है । यदि सम्यग्दृष्टि पूर्ण श्रुतज्ञानी हो तो वह केवल ज्ञानी के बराबर है । अन्तर यह है कि केवलज्ञानी तो पदार्थो को व उनकी त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायो को प्रत्यक्ष देखता है और श्रुतज्ञानी पदार्थो के स्वभाव को तथा उनकी जो कुछ पर्याये होती है उनमे से कुछ को परोक्षरूप से जानता है । स्पष्टपने तथा अल्पपने की अपेक्षा कमी अवश्य रहती है., परन्तु विपरीताभिनिवेश व सशयरहित होने की अपेक्षा श्रुतज्ञानी का ज्ञान व केवली का ज्ञान समान है । केवली और श्रुत केवली दोनो का ही ज्ञान विश्वतत्त्व प्रकाशित करने वाला है । —

सस्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्वप्रकाशने । भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ।१०५।

अर्थ—सर्व तत्वो को स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान दोनो प्रकाशित करते है । भेद इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है । इन दोनो के विरूद्ध जो कोई वस्तु का स्वरूप है वह यथार्थ नही है । श्रुतज्ञान का जो इतना महत्व प्रकट किया है इसका कारण सम्यग्दर्शन ही है., क्योकि उसके बिना चाहे कितना भी ज्ञान हो वह सब झूंठा है, चाहे ग्यारह अङ्ग और नो पूर्व तक का ही ज्ञान क्यो न हो ।

सम्यग्दृष्टि के गाढ रुचि स्वाधीनता प्राप्त करने की हो जाती है । वह आत्मिक सुख में परम रुचिवान् हो जाता है । वह अपने को निरन्तर शुद्ध अनुभव करता है । चतुर्थ गुणस्थान अविरत से लेकर ऊपर के गुणस्थानवर्ती सब जीव सम्यग्दृष्टि होते हें ।

आत्मिक बल की न्यूनता से जब अप्रत्याख्यान कषाय का मन्द या तीव्र उदय होता है तब वह उसको रोक नही सकता इसलिये उदय के अनुकूल अपने उपयोग को आत्मानुभव से अतिरिक्त कार्य मे लगाना पडता है। जहां तक उसका वश चलता है, वह सम्यग्ज्ञान व आत्मवीर्य से कषाय के उदय को रोकने की पूरी २ चेष्टा करता है; परन्तु बाहिरी निमित्तों के होने पर अन्तरङ्ग कषाय के उदय को न मिटा सकने के कारण लाचार होकर कषाय के उदय से मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करने लग जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति को वह हेय बुद्धि से करता है। उपादेयपना एक स्वात्मानुभव मे ही समझता है; जैसे— सेठ की दुकान पर एक मुनीम मालिक की प्रेरणा से व्यापार करता है; और व्यापार मे स्वय मन, वचन और काय को लगाता है जिसके द्वारा हानि और लाभ को भी प्राप्त होता है., परन्तु उस हानि और लाभ को वह अपना लाभ एवं हानि रूप नही मानता सब मालिक को ही मानता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण अर्थ और पौरुष को कर्म के स्वामित्व पर छोड़ देता है। वह धन, कुटुम्ब, मित्रादि को अपना न मानकर कर्मकृत मानता है। इसीलिए न विपत्ति मे उसे विषाद होता है और न सम्पत्ति मे हर्ष। वह सुख दु.ख में समान, बुद्धि रखता है। वह अनासक्त योगी है, और स्थितप्रज्ञ है., उसका आत्मिक धन ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यमय है। ध्यान मे रखने की बात है कि कभी २ सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय आ जाता है तब क्रोध, मान, माया व लोभ रूप परिणति भी हो जाती है., जिससे वह किसी के द्वारा होते हुए अपने अपमान को नही सह सकता। वह अपने प्रतिपक्षी के दमनार्थ क्रोध करके युद्धादिक भी करता है अथवा उसके जब किसी विषय की गाढ चाहना हो जाती है तब उसके लिये उपाय भी करता है उस उपाय मे वह मायाचारको भी काम मे लाता है., जैसे–प्रद्युम्नजी ने कनकमाला से गौरी और प्रज्ञप्ति विद्या लेने के लिये किया था तथापि इन सब कृत्यो को कर्मकृत रोग समझता है., परन्तु आत्मिक बल की कमी से वह कषाय के उदय के अनुकूल प्रवर्तन करने लग जाता है। वह सोचता है कि कब वह दिन आवेगा जो मैं इन बन्धन रूप कृत्यों से अलग होकर आत्मानन्द मे मग्न हो जाऊ ?

यहां यह भी देखना जरूरी है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषाय के बिना अप्रत्याख्यान के उदय मे सभावित कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल इस तरह छह लेश्याये होती है। निमित्त मिलने पर कभी २ परिणाम अत्यन्त कठोर हो जाते है अन्याय करने वाले के प्रति दमनार्थ वह प्रचण्ड हो जाता है, तथा इष्ट वियोग मे परिणाम अति शोक मग्न हो जाता है। अशुभ परिणाम कृष्णादि तीन लेश्या के सम्बन्ध से कहे जाते है और शुभ परिणाम पीतादि तीन लेश्याओ के द्वारा होते है। इन परिणामो मे भी कषाय

की अनुमान शक्ति के अनुसार अनेकानेक भेद सिद्धान्तों में गणधर देव ने बतलाये है., परन्तु हेय बुद्धि रहने पर भी कषाय के उदयवश सम्यक्त्वी को बड़े २ कषाय जनित कार्य करने पड़ते है । तो भी इसका उनपर स्वामित्व नही रहने से वे सब कार्य इसकी आत्मा के श्रद्धान तथा ज्ञान को बिगाड़ नही सकते। सम्यग्दृष्टि को इन सब कार्यों को उसी तरह उदासीनता है., जैसे-एक वैश्या को भोग करते हुए भी पुरुष के साथ अप्रीति होती है। वह जो कुछ करती है द्रव्य के लोभ के कारण करती है., पुरुष से वास्तव मे उसका प्रेम नही है, वह तो केवल द्रव्य के लोभ से प्रीति दिखलाती है., इसी तरह सम्यग्दृष्टि अन्तरङ्ग में भोग से उदासीन है। वह जब उपयोगमस्त आत्माभिमुख हो जाता है तब आत्मा के अनुभव के आगे अपने कृत्य की घोर निन्दा करता है और भावना भाता है कि "यह कषाय का उदय कब मिटे और मैं अपने लक्ष्यरूप आत्मिक स्वभाव में ही तल्लीन हो जाऊ ।"

श्रद्धान की अपेक्षा इस ज्ञानी सम्यक्त्वी की ज्ञान चेतना ही होती है। । यह आत्मज्ञान का ही अनुभव करता है या करने की भावना रखता है। चारित्र की अपेक्षा जब कषाय के उदय से आत्मा सन्मुख नही हो सकता तब इसके कर्म चेतना था कर्मफल चेतना होती है। कहा भी है —

❋ सम्यक्त्वी के कर्म बन्ध नहीं होता ❋

तज्ज्ञानस्यैवसामर्थ्य, विरागस्येव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभि कर्म, भु जानोऽपि न बध्यते ।। ७१२ ।।
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि, यत्स्व फल विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबला, त्सेवकोऽपि तदसावसेवक. ।। ७१३ ।।

अर्थ—यह सम्यक्त्व के ज्ञान का ही बल है या उसके विराग की शक्ति है कि वह कर्म करते हुए भी या कर्म फल भोगते हुए भी कर्मो से बन्ध को नही प्राप्त होता। वह पाचो इन्द्रियो के विषय को सेवते हुए भी विषय सेवन का फल जो कर्म बन्ध है उसे नही पाता वह ज्ञान और वैराग्य की विभूति के बल से विषयो को सेवन करने वाला नही कहलाता। धन्य है ऐसे सम्यग्दर्शन को जिससे आत्मा कर्मो का कर्त्ता व भोक्ता नही बनता है। सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोह की चिकनाई नही है, जैसी मिथ्यादृष्टि जीव के हुआ करती है। सम्यक्त्वी विषयो को सेवन करता हुआ भी निर्ममत्व भाव के कारण कर्म के बन्धन को प्राप्त नही होता., परन्तु मिथ्यादृष्टिजीव उन्ही सासारिक विषयो के सेवन से बन्धन को प्राप्त करता हुआ भी है — [समयसार कलशा]

जानाति य स न करोति यस्तु । जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मराग ।।
राग त्वबोधमतमध्यवसायमाहु , मिथ्यादृश. सनियत स च बन्धहेतु ।। ५ ।।

अर्थ—जो जानता है वह कर्त्ता नही है, और जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नही है, जो कर्त्ता है उसके उस क्रिया मे राग है। इसी राग को अज्ञानमय अभिप्राय कहते है। यह भाव मिथ्यादृष्टि के होता है। इसलिये यह भाव नियम से कर्मो के बन्ध का कारण होता है। ज्ञानी आत्मीय भावों का कर्त्ता होता है। अन्य जितने भी कार्य है सबका ज्ञाता ही रहता है। कहा भी है—

卐 सम्यक्त्वी कार्यों में आसक्त नहीं होता 卐

आत्मज्ञानात्पर कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।

कुर्यादर्थवशात् किंचि, द्वाक्कायाभ्यामतत्परः ।। ५० ।। (समाधिशतक)

अर्थ—सम्यक्त्वी जीव आत्मज्ञान के अतिरिक्त अन्य कार्यो को अपनी बुद्धि मे नही रखता, कषाय के उदय से प्रयोजनवश कुछ करना पड़े तो उसे करता अवश्य है किन्तु उस कार्य मे आसक्त बुद्धि नही रखता; जैसे-कोई मनुष्य किसी स्त्री पर आसक्त हो जावे और उसका जब वियोग हो तो भी उसका ध्यान उसकी ओर ही रहता है तथा अन्य कार्यो मे उसका उपयोग उन्हे करते हुए भी नही रहता है, इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव जब शिव सुन्दरी पर आसक्त हो जाता है तब उसकी वियोगावस्था मे अन्य कार्यो को करते हुए भी उसका ध्यान एव उपयोग आत्मानुभव एव आत्मानन्द के भोगने की ओर ही रहता है। वह उसका ही प्रेमी है। कषाय के उदय से जो कुछ उसे मन, वचन और काय के द्वारा कार्य करने पडते हैं उनको करता हुआ भी उनसे उदासीन रहता है और उन पर उसकी आसक्ति नही रहती है। इसी कारण ज्ञानी सम्यग्दृष्टि बन्ध को प्राप्त नही होता है।

❋ सम्यक्त्वी की अनासक्ति का दृष्टान्त ❋

आगे इस विषय को दृष्टान्त द्वारा विशद करते हैं। जैन पुराणो मे भरत चक्रवर्ती को बडा तत्वज्ञानी वर्णन किया है। उनमे ऐसी क्या विशेषता थी जिससे उनका इतना महत्व है–यह तथ्य नीचे के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। यद्यपि ३२००० बड़े २ राजा उनके सेवक थे; ९६००० देवागना समान रुपवती, गुणवती, शीलवती आज्ञावर्तिनी, युवतिया, स्त्रिया थी; उनसे उनका भोग विलासादि होता था। उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न भी उत्पन्न हुआ था, जिसके कारण उन्हे दिग्विजयार्थ ६०००० (साठ हजार) वर्ष तक भ्रमणादिक भी करना पड़ा था। एक २ हजार देव उनकी रक्षा करते थे। चौदह रत्न तथा नवनिधिया भी थी। बडी भारी सेना भी थी, इस प्रकार के अपार वैभव होते हुए भी वे उनसे उदासीन थे। सम्यग्दृष्टि होने के कारण उनमे आसक्त न थे। अतएव जिस केवलज्ञान को आदीश्वर महाराज ने एक हजार वर्ष कठिन तपस्या

करके प्राप्त किया था। उसको घर में ही वैरागी रहने वाले चक्रवर्ती भरत ने अन्तर्मुहूर्त में ही प्राप्त कर लिया था। एक समय इन भरत चक्रवर्ती से किसी ने आकर प्रश्न किया था कि हे राजन् ! आपको लोग बह्वरंभी और बहुपरिग्रही होते हुए भी वैरागी कैसे कहते है ? तब उन्होने अपने सेवक के द्वारा एक तेल भरा कटोरा उनके हाथ पर रखवा दिया और अत्यन्त सावधान पहरेदार उसके पीछे लगा दिये तथा आज्ञा करदी कि इसको हमारी सब सम्पत्ति एवं रणवास आदि दिखलादो; किन्तु ध्यान रखना कि जहां पर इस तेल से भरे कटोरे मे से एक बुन्द भी गिर जावे वहा पर ही इसका सिर काट लिया जावे। अनन्तर उनकी आज्ञानुसार वह आदमी उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति के आस पास चक्कर लगा कर वहा पर ही आगया जहा पर श्री भरत चक्रवर्ती महाराज बिराजे हुए थे। सम्राट् ने पूछा कि तुमने हमारी सब सम्पत्ति देखली ? उसने उत्तर दिया कि महाराज ! मेरा अपने सिर कटने की चिन्ता के कारण तेल के कटोरे पर ही ध्यान था अत आपकी सम्पत्ति देखता हुआ भी नही देख पाया। भरतजी ने तब उसे समझाया कि इसी प्रकार मेरा भी ध्यान अपने आत्मा की ओर है। आत्मा पतित न हो जावे इस कारण मै इधर ध्यान नही देता हूं। आत्मोद्धार के लिए ही ध्यान लगाये हुए हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भरतजी का ध्यान इतनी सम्पत्ति होने पर भी आत्मानुभव पर था उसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टियो का ध्यान भी आत्मा की ओर होता है। यही बात निम्नलिखित दूसरे दृष्टान्त द्वारा भी समझ सकते हैं।

दो पनिहारी अपने २ सिर पर पानी का घट लिये जा रही है। घडो को वे हाथो से नही थामे हुए है। घडे माथे पर बिलकुल अधर है। वे बाते चीते करती हुई, हसती हुई जा रही है, किन्तु वे घडे उनके सिर से नही गिरते है। इसका कारण यह है कि उनका ध्यान उन घडो पर ही है अत वे अपनी गर्दन को समतोल रखती हुई सब बाते चीते तथा हसना आदि क्रियाये करती है। यदि उनसे जरा भी ध्यान हटा लेवे तो उनके घडे उनके सिर से गिर जावें। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष भी सासारिक विषय भोगो को कर्मो के उदय से भोगता है एवं सासारिक कार्य सम्बन्धी भी क्रिया करता है, परन्तु अपनी शुद्ध परिणति को अपने आत्मिक भावो से च्युत नही करता है। अतः सासारिक भोगो को भोगते हुए भी कर्म बन्धन को प्राप्त नही होता है। जीवन का सार सम्यग्दर्शन है। आत्मानन्द को पाने के लिए सबसे पहले इसी को प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिए। सम्यक्त्व सहित नारकी भी सुखी है और सम्यक्त्व रहित देव भी दुखी है। सच पूछो तो सम्यक्त्व ही सुख है। धन्य है वे जो सम्यग्दृष्टि हैं। मिथ्यादृष्टि ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व तक का ज्ञान रखने पर भी अज्ञानी है और सम्यक्त्वी 'तुम मास घोसतो

रागी द्वेषी हूं या मै मनुष्य देव नारकी एवं तिर्यंच हूं। अहबुद्धि मिथ्यात्व कर्म के निमित्त से जड़ में चैतन्यपने की जड पकड़े हुए है। इस प्रकार की बुद्धि मिथ्यादृष्टि के ही हुआ करती है। इसलिये यह बन्ध रूप ही है। सम्यग्दृष्टि पुरुष की अहं बुद्धि सब द्रव्यो से विलक्षण परम शुद्ध आत्म द्रव्य पर होती है। अतः वह अपने को बन्ध रहित ही समझता है, एवं अनुभव करता है। वास्तविक द्रव्यो का स्वरूप ही सिद्धान्तो में ऐसा बतलाया है। जैसे एक गाय अपने खूंटे पर रस्सी से बधी है। वस्तुतः विचार किया जावे तो क्या वह गाय बधी है ? नही, कदापि नही, वह गाय रस्सी से नही बंधी है। गाय तो खुली हुई है, रस्सी बधी हुई है। रस्सी और गाय के गले के बीच मे अंगुली फिरा कर भी देखलो गाय का गला अलग है और रस्सी अलग है। गाय के मिथ्यात्व कर्म का उदय है, अत' वह समझती है कि मै बंधी हुई खूंटें पर खडी हू। वास्तव मे वह यदि यह समझने लगे कि मै बंधी हुई नही हूँ तो गाय मे ऐसी शक्ति है कि वह उस खूटें को तोड कर अपने आपको स्वतन्त्र बना सकती है। यह काम भेद विज्ञान शक्ति का है। मिथ्यादृष्टि भी गाय की तरह खूंटे से अपने को बद्ध समझता है और सम्यग्दृष्टि गाग की तरह बद्ध न समझ कर खूटे को तोड कर भेद विज्ञान द्वारा अपने को स्वतन्त्र बना सकता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि मे ज्ञान के अभाव एव सद्भाव का अन्तर है और कुछ अन्तर नही है। वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ससार परिभ्रमण करता है और सम्यग्दृष्टि उस ससार को छेद कर अपने आत्मा को सदा के लिये सुखी बना लेता है। कहा भी है— (प दौलतरामजी)

अपनी सुध भूल आप, दु ख उठायो। ज्यों शुक नभ चाल, विसर नलिनी लटकायो।।

अर्थ—जिस प्रकार कोई तोता अपनी चाल को भूल कर कमललता को स्वयं अपने पजो से पकडे हुए है तो भी यह समझता है कि मुझको इस नलिनी ने पकड लिया है। अगर वह इस भ्रम को छोड देवे और अपनी आकाश गामिनी शक्ति का अनुभव करके उड़े तो उसका वह नलिनी क्या कर सकती है, परन्तु वह तोता यह नही समझता कि मैं स्वय अपनी भूल से कमलिनी को पकडे हुए हूँ। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि एव मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति होती है। मिथ्यादृष्टि तो भ्रम मे उलझा हुआ है., किन्तु सम्यग्दृष्टि समझता है मैं निर्बन्ध हूं। बन्ध रूप पुद्गल परमाणु का स्वरूप स्पर्श, गन्ध, वर्ण और रस को लिये हुए है, और मेरा स्वरूप ज्ञाता द्रष्टा है। मेरे और इनके लक्षणो मे भेद है। अतः यह मेरा अच्छा और बुरा करने को कदापि समर्थ नही है। मैं ही अपना बुरा या भला कर सकता हूँ। अत. मुझको इन संसार रूपी भावो का ज्ञाता और द्रष्टा ही रहना योग्य है। ऐसा विचारने से सम्यग्दृष्टि सदा ही निर्बन्ध रहता है। ऐसी श्रद्धा ही उसकी अबन्धता का अनुभव कराती है। वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कर्मो के बध से व उदय से अपने को भिन्न ही अनुभव करता है और

विचारता है कि मै सम्यक्त्वी हूँ, मुझे तो विवेक से व्यवहार कार्य करना चाहिये । क्योकि मुझे प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव का पूर्णत: पालन करना है । अत: मुझे इस चतुर्थ गुणस्थान से आगे चलना है और अपने चारित्र को उज्ज्वल व वर्द्धमान बनाना है । इस प्रकार की भावना रखता हुआ वह अपने भावों को सदा ही उच्च, उच्चतर और उच्चतम बनाने की भावना मे प्रयत्नशील बना रहता है। भूलकर कभी भी उन्मत्त, आलसी व निश्चयाभासी या कुतर्की नही होता । कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि. स्वयमयमहं बन्धो न मे स्या- दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु-
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोद्यापि पापा, आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता
तथापि न निरर्गल चरितुमिष्यये ज्ञानिनं तदायतनमेव सा किल निर्गला व्यावृति. ।
अकामकृत् कर्म्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां द्वय नहि विरुद्धचते विमुकरोति जानाति च ।४।८

अर्थ—मै स्वय सम्यग्दृष्टि हूँ । मुझे कभी कर्म बन्ध नही हो सकता, (ऐसे निश्चय के भाषी एकान्त को पकड कर) अनेक प्रकार के रागी जीव सम्यक्त्व न होते हुए भी सम्यक्त्व होने के घमंड से अपना मु ह फुलाये रहते है । इस प्रकार के मिथ्यात्वी जीव चाहे जैसा आचरण पाले । पाच महाव्रत व पाच समिति एवं तीन गुप्ति इस तरह तेरह प्रकार का चारित्र पाले तथापि वे अभी तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, पापी, एव बहिरात्मा है । क्योकि उनको अभी तक आत्मा एव अनात्मा का यथार्थ ज्ञान नही हुआ है । सम्यक्त्वी के अनतानुबन्धी कषाय सम्बन्धी रागद्वेष तथा मोह नही होता, वह कभी स्वच्छन्द व्यवहार नही करता । वह जानता है कि स्वच्छन्द वर्तन ही रागद्वेष और मोह का कार्य है सो अवश्य कर्मबन्ध का कारण है । वह जगत् के कार्यो को करता अवश्य है किन्तु अनासक्त होकर । उस सम्यक्त्वी की दृष्टि आत्मा के निज पर जम जाती है । वह बन्ध व मोक्ष की कल्पना से भी रहित है । वह तो वीतरागता का पूर्ण उपासक हो जाता है । वह अपने को सदा बध से मुक्त समझता है । वह भले प्रकार जानता है कि सूक्ष्मलोभ का अंश भी जो सूक्ष्मसापराय गुणस्थानवर्ती साधु महात्मा के होता है, कर्म बन्ध का कारण है, कर्म बन्ध का कारण है बन्ध का न होना ही आत्मा के लिए हितकर होता है ।

❋ सम्यक्त्वी आत्मा को बंध रहित मानता है। ❋

सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं राग समग्र स्वय,
वार वारमबुद्धिपूर्वमपि त जेतु स्वशक्ति स्पृशन् ।।
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकला ज्ञानस्य पूर्णोभव
न्नात्मानित्यनिरास्त्रवो, भवति हि ज्ञानी यदास्यात्तदा।४।५ (समयसारकलश)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि ने अपनी बुद्धि पूर्वक या रुचि पूर्वक होने वाले सर्व राग को तो स्वयं छोड दिया है परन्तु जो रागादिक भाव अबुद्धिपूर्वक पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से होजाते है उनको जीतने के लिए अपने आत्मबल का वह उपयोग करता है । वह सब प्रकार पर द्रव्य से प्रवृत्ति को हठाता हुआ अपने में स्थिर रहने का प्रयत्न करता है । सम्यक्त्वी इस प्रकार के तत्वज्ञान को भले प्रकार से जानकर आत्मा को बंध रहित मानता है । कहा भी है—

"येनांशेन तु ज्ञान, तेनाशेनास्यबधनं नास्ति ।

येनांशेन पु राग, स्तेनांशेनास्य बधन भवति ।। २१ ।। [पुरुषार्थ सिद्धयुपाय]

अर्थ—जितने अ श मे ज्ञान है उतने अ श मे उस महात्मा पुरुष के कर्मबन्ध नही है और जितने अ श मे रागवर्तता है उतने ही अ शो मे उसके कर्मबन्ध होता है । सम्यग्दृष्टि का ज्ञान स्वय ज्ञान रूप है । इसलिये वह बन्ध का कारण नही हैं । सम्यग्दृष्टि अपने आप मे लवलीन होता है । जड की ओर वह कभी नही झुकता । सम्यग्दृष्टि को अपने आत्मा का अटल श्रद्धान है वह कदापि उस आत्मश्रद्धान से विचलित नही होता । उसका यहा एक दृष्टान्त बतलाया जाता है । जैसे एक पुरुष का एक स्त्री से गाढ प्रेम था । एक समय राजा ने किसी अपराध मे उसे जेल खाने मे बन्द कर दिया और ऐसी कोठरी में डाल दिया जिसमे घोरान्धकार था, कुछ भी दिखाई नही देता, फिर उस कोठरी का द्वार बन्द कर दिया गया । ऐसी अ धेरी कोठरी मे नेत्र बद कर लेने पर भी उस पुरुष को उस स्त्री का मुख साक्षात् व्यक्त दिखाई देता था कारण कि उसका हृदय स्त्री प्रेम से ओतप्रोत था । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को अपने आत्मा का पूर्ण रूप से श्रद्धान होने से व्यक्त अनुभव होता है; उसका सासारिक आवरण कुछ नही कर पाते एव तीन लोक के जीव देव, विद्याधर जी सम्यक्त्व से विचलित नही कर सकते । ऐसा ही सम्यग्दर्शन अबन्ध का कारण है ।

❋ सम्यग्दृष्टि के किस प्रकार की निर्जरा होती है ❋

यद्यपि कर्म बन्ध होने के बाद आबाधा काल को छोड़कर शेष अपनी बधी हुई स्थिति में समय २ कर्म पु ंज बटवारे के अनुसार उदय मे आकर झड जाते हैं; और यदि कुछ कर्मों की दशा मे परिवर्तन होता हो तो, उसके अनुसार समय २ पर झडते जाते है । इस प्रकार की निर्जरा को सविपाक निर्जरा कहते है । ऐसी निर्जरा सर्व ससारी जीवो के हुआ करती है । किन्तु इस प्रकार की निर्जरा से आत्म-शुद्धि नही हो सकती । क्योकि बहुधा सविपाक निर्जरा के होते हुए भाव रागद्वेष और मोह रूप हो जाते हैं । उन भावो से नवीन कर्मो का बन्ध जरुर होता है । अतः उस निर्जरा को गजस्नान की उपमा दी गई है । आत्म शुद्धि का उपाय तो अविपाक निर्जरा है ।

जब कर्म अपनी स्थिति को घटा कर शीघ्र ही आत्मा के संसर्ग को छोड दे और जब कर्म–निर्जरा के साथ सवर भी होता हो अर्थात् नवीन कर्म नही बधते है तभी निर्जरा का वास्तविक उपयोग है, क्योकि यह सवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का साक्षात् उपाय है। जब तालाब मे नया पानी आना बन्द हो जाता है या कम आता है और पहले का भरा पानी बाहर निकाल दिया जाता है तब वह तालाब पानी से शीघ्र ही खाली हो जाता है। ऐसे ही नये कर्मो का आना बन्द हो जावे और सचित कर्मो की निर्जरा हो जावे तब आत्मा को मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि के ही होती है, मिथ्यादृष्टि के नही। गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे यह कहा है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के उन ४१ प्रकृतियो का सवर हो जाता है जो दुर्गति प्राप्ति की कारण भूत है और अनन्त ससार में भ्रमण कराने वाली हैं। साधारण रीति से विचार किया जावे तो सम्यक्त्व होने के पहले आयु कर्म को छोड कर शेष कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति २०–३०–४० या ७० कोड़ाकोडी सागर की होती है। उसको घटा कर कर्मो को शीघ्र ही उदय मे लाकर खिरा देना सम्यक्त्वी के ही हुआ करता है। सम्यक्त्वी के कर्मो के उदय से जो सुख व दु ख की अवस्था हुआ करती है उनमे वह हर्ष विषाद नही करता। इसलिये कर्मो की निर्जरा अधिक होती है और बध कम। बंध अल्पस्थिति एव अनुभाग को लिये उन्ही प्रकृतियो का होता है जो उस गुणस्थान मे सम्भव है जिसमे वह सम्यग्दृष्टि विद्यमान रहता है। यह सम्यग्दृष्टि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ के उदय से लाचार होकर सासारिक कार्य मे वर्त्तता है, परन्तु मन मे यह ही समझता है कि मैं इनका कर्त्ता भोक्ता नही हूँ, मुझ को यह कर्म रोग लगा है, परन्तु मैं इस रोग से और इसके इलाज से दोनो से पृथक् हूँ। सम्यक्त्वी सदा यह भावना भाता रहता है, क्योकि उसका कोई नही है वह तो अकेला है। कहा भी है– (समय कु दकु दस्वामी)

अहमिक्को खलु शुद्धो, दसणणाणमग ओसयारूपी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्ण परमाणुमित्त वि ॥ ३८ ॥

अर्थ—मैं निश्चय से सदा ही एक अकेला हूँ, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय अमूर्तिक हूं, मेरा ससार मे परमाणु मात्र भी सम्बन्ध नही है।

भावार्थ–जैसे पक्षी पीजरे मे पराधीन होकर बधा है, चाहे वह पीजरा कितना ही सुन्दर हो, पक्षी उसको नही चाहता, वह तो स्वतत्रता का प्रेमी है, पीजरा उसके लिए कैद खाना है। वह प्रतिक्षण उससे छूटना चाहता है। वैसे ही सम्यक्त्वी पुरुष आत्म रस के पान के अनुभव का प्रेमी होता है। आत्म कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य मे रुचिवान् नही होता। तथापि कर्मो के उदय से जो मन, वचन, काय की क्रिया करता है उसको अरुचि पूर्वक

लाचारी से करता है। ज्यों ही उससे छुट्टी पाता है, त्यों ही आत्म–ध्यान में रमण करने लग जाता है। अपनी बुद्धि में जैसे आत्म ज्ञान को चिर काल धारण करता है वैसे अन्य कार्य को नही धारण करता है, सो ही कहा भी हैं। (समाधिशतक पूज्यपादकृत)

"आत्मज्ञानात्परं कार्य, न बुद्धौ धारयेच्चिरम् कुर्यादर्थवशात्किंचि,द्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञान के अतिरिक्त बुद्धि मे बहुत समय तक किसी अन्य चीज को धारण नही करता। लौकिक प्रयोजन वश जो कुछ करता हैं वह अनासक्त होकर शरीर और वाणी से करता है। समयसार के निर्जराधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते है कि **उवभोगमिंदियेहिं, दव्वाण चेदणाणमिदराणं।**

ज कुणदि सम्मदिट्ठि, तं सव्व णिज्जरणिमित्तं ॥ १६३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि उदास भाव से इन्द्रियो के द्वारा चेतन व अचेतन द्रव्यों का भोग करता है, वह सब कर्म निर्जरा के वास्ते है। इसका भाव यह है कि निर्जरा जितनी होती है। उसकी अपेक्षा बन्ध बहुत कम होता है अर्थात् उस बंध मे कर्मो की स्थिति और अनुभाग बहुत कम पडता है; क्योकि सम्यग्दृष्टि तो ज्ञाता दृष्टा है। कहा भी है —

दव्वे उवभुज्जते, णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।

त सुह दुक्ख मुहिण्ण वेददि अहणिज्जरं जादिह २०३ (समयसार)

अर्थ—द्रव्य को भोगते हुए नियम से सुख या दु ख होता है। उसके उदय मे आये हुए सुख दु ख मे वह सम्यक्त्वी ज्ञाता द्रष्टा होता हुआ हेय बुद्धि से भोग लेता है। इसलिये उन उदय प्राप्त कर्मो की निर्जरा अधिक होती है। **— सम्यग्दृष्टि के विचार —**

पुग्गलकम्मं कोहो, तस्सविवागोद ओहवदि एसो।

णहु एस मज्ज भावो, जागण भावोदु अहमिक्को। २०७।

उदयविवागो विविहो, कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।

णदु ते मज्झ सहवो, जागण भावोदु अहमिक्क। २१०।

एवं सम्माइट्ठी, अप्पाण मुणदि जाणगसहाव।

उदय कम्मविवागं, च मुआदितज्ञ वियाण तो २०६ [समयसार]

अर्थ—सम्यक्त्वी ऐसा समझना है कि जब उसके क्रोध का उदय आता है तब वह जानता है कि यह पुद्गल रूप कर्म द्रव्य क्रोध का उदय रूप विपाक भाव है। यह मेरा आत्मीय भाव नही है। मैं तो निश्चय से इस भाव को जानने वाला हू। जो भावो में कलुषता हुई है वह कर्म का रस है। मेरा ज्ञान स्वभाव इस रूप नही है। यह भाव पर है सो त्यागने योग्य है॥ २०७॥ जिनेन्द्र ने यह बताया है कि कर्मो के उदय होते हुए उनका फल अनेक प्रकार का हुआ करता है। इन आठो ही कर्मो का उदय मेरी आत्मा का

उदय मेरी आत्मा का स्वभाव नही है। मै तो एक ज्ञायक मात्र स्वभाव वाला हूँ। इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, रोग, शोक, योग, भोग, शङ्का आदि अनेक अवस्थाये इस जीव के ससार मे हुआ करती है। ऐसा विचार कर उनमे रक्त नही होता है। इस प्रकार सम्यक्त्वी अपने आपको ज्ञायक (ज्ञाता द्रष्टा) स्वमात्र वाला ही अनुभव करता रहता है, और कर्मो के उदय को अपने से भिन्न जानकर एवं अपने आत्म तत्व को ही निज स्वभाव मानकर उसमे ही सतोष करता है। सम्यक्त्व सहित आत्मा सुख दुख का भोग अनासक्त होकर करता है इससे उसके असख्य गुणित निर्जरा होती है। इसका कारण यह है कि वह प्राप्त भोगो से सदा वियोग बुद्धि रखता है। उन्हे हेय समझता है। कहा भी है—

卐 भोगों में सम्यक्त्वी की विरक्ति 卐

उप्पण्णोदय भोगे, वियोगबुद्धि य तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्सय, उदयस्स ण कुव्वदे णाणी २१५ (समय निर्जरा अधि)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव को जो वर्तमान काल मे कर्मो के उदय से भोग प्राप्त होते है, उनमे ही नित्य वियोग बुद्धि रखता है, वह ज्ञानी पुरुष वर्त्तमान भोगो मे जब हेय बुद्धि रखता है, तो भावो मे भोगों की इच्छा कैसे रखेगा? क्योकि सम्यक्त्वी पुरुष के गाढ़ रुचि अपने आत्मीय आनन्द भोगने की ही होती है, उसके सामने वह ससार भोगो को कटुक व विष तुल्य समझता है।

卐 सम्यक्त्वी निर्लिप्त होता है 卐

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वे सुकम्ममज्झ गदो।
णो लिप्पदि रएणदु कद्दममज्झे जह कणयं। २१८।
अण्णाणी पुणरत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो
लिप्पदि कम्मरण्णदु, कद्दममज्झे जह लोहं। २१६। (समय. निर्जरा अधि.)

अर्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्मो के मध्य पड़ा हुआ भी सब पर द्रव्य (चेतना वा अचेतन) से राग भाव को त्यागता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त नही होता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव कर्मो को अपना स्वभाव समझता है। अत उसके मध्य पड़ा हुआ सब पर द्रव्यो से रागी होता हुआ कम रूपी रज से लिप्त हो जाता है., जैसे-लोहा कीचड मे फसा जग खा जाता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि की अवस्था होती है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि के भीतर सम्यग्ज्ञान का प्रकाश है जिसके कारण कर्मं से नही बधता हैं और मिथ्यादृष्टि के अन्दर मिथ्याज्ञान है अत कर्मो से बध जाता है। ज्ञानी आत्म रसिक है एवं अज्ञानी विपय भोग रसिक है। अज्ञानी का अभ्यंतर कर्मो से लिप्त है। कहा भी है—

ज्ञानिनो नहि परिग्रहभावं, कर्मरागसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे, स्वीकृतेव बहिर्लुठतीह । १६ । (समयसार कलशा)

अर्थ—ज्ञानी के भीतर राग रस की शून्यता होती है। इसलिये उसके कर्मों का उदय ममता भाव को प्राप्त नही करता है., जैसे-जिस वस्त्र को कषायित न किया गया हो उसके ऊपर रग का सयोग होते हुए भी वह रग बाहर ही बाहर रहता है, वस्त्र के भीतर प्रवेश नही करता। चौथे गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थान सम्यग्दृष्टियों के ही होते है। इन सब सम्यग्दृष्टियो के कर्मों की निर्जरा बराबर नही होती। इसका कारण यह है कि चौथे से ऊपर के गुणस्थानो मे चारित्र की वृद्धि होती रहती है इसलिये निर्जरा की वृद्धि भी होती है। बात यह है कि कर्म निर्जरा का कारण आत्म-रमण है। आत्म-रमण का क्रम जैसे २ बढता जाता है वैसे २ निर्जरा भी बढती जाती है। आगे बतलाये हुए स्थानो में असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है यह बतलाते है :—

卐 असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा 卐

मिच्छादो सद्दिट्ठी, असखगुणि कम्मणिञ्जरा होदि ।
तत्तो अणुवयधारी, तत्तो य महव्वईणाणी । १०६ ।
पढमकसाय चउण्ह, विजोजओतहयखवयसीलोय ।
दसणमोहतियस्सय, तत्तो उवसमगचत्तारि । १०७ ।
खवगोयखीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया ।
एदे उवरिं उवरिं, असखगुणकम्मणिज्जरया । १०८ । (स्वामिकार्त्तिक)

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणाम युक्त मिथ्यादृष्टि जीव के जो निर्जरा होती है उससे असख्यात गुणी असंयत सम्यग्दृष्टि के होती है। इससे देशव्रती श्रावक के असंख्यात गुणी, इससे असख्यात गुणी छठे गुणस्थान वर्ती विरत के, इससे असख्यात गुणी अनन्तानुबन्धी कषाय का विसयोजन करने वाले अर्थात् अप्रत्याख्यानादि रूप परिणाम के होती है इससे असंख्यात गूणी निर्जरा दर्शन मोह को क्षय करने वाले के होती है, इससे असंख्यात गुणी उपशम श्रेणी के तीनो गुणस्थानो मे होती है, इससे असख्यात गुणी उपशान्त मोह ग्यारहवे गुण स्थान वालो के होती है। इससे असाख्यात गुणी क्षपक श्रेणी के तीनो गुण स्थानो में होती है इससे असख्यात गुणी क्षीण मोह बारहवे गुणस्थान मे होती हैं इससे असख्यात गुणी संयोग केवली के होती है, इससे असख्यात गुणी अयोग केवली के होती है; इस प्रकार ऊपर २ असंख्यात गुण कार निर्जरा है, इस कारण इसको गुण श्रेणी निर्जरा कहते है। सवार्थसिद्धि के मन्तव्य से ये सर्व स्थान एक २ अन्तर्मुहूर्त्त तक के है। जब परिणाम समय २ अनन्त गुणे विशुद्ध होते जाते है, हर

एक अन्तर्मुहूर्त्त मे भी समय २ असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। अवस्था से अवस्थान्तर होने से असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। सम्यक्त्व के सम्मुख अपूर्वकरण लब्धि से यह निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। कहा भी है—

उवसमभावतवाणं, जहजह बढ्ढी हवेइ साहूणं।

तह तह णिज्जर बड्ढी, विसेसदो धम्मसुक्कादो।१०५। [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—साधुओं के जैसे २ शान्त भावो की वृद्धि होती जाती है वैसे २ निर्जरा बढती जाती है धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान से विशेष निर्जरा होती है।

卐 अधिक निर्जरा होने के कारण 卐

ऊपर जो गुण श्रेणी निर्जरा के स्थान बताये है इससे अधिक गुणाकार रहित निर्जरा नीचे लिखे कारण से होती है। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

जो विसहदि दुव्वयणं, साहम्मिय हीलणं च उवसग्गं।

जिण ऊण कषायरिउ, तस्स हवे णिज्जरा विउला। १०९।

अर्थ—जो मुनि दुर्वचन सहे, साधर्मी मुनि अथवा गृहस्थी के द्वारा अनादर को सहन करे और मानुषिक अथवा देवादिकृत उपसर्ग को सहन करे तथा कषाय रूपी शत्रुओ के चंगुल मे न फस कर एवं उनके वशीभूत न होकर शान्त परिणाम रखे—उसके बहुत अधिक गुणी कर्मो की निर्जरा होती है। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

रिणमोयणुव्व मण्णइ, जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं।

पावफल मे एदे, मयाविय संचिदं पुव्वं। ११०।

अर्थ—जो मुनि उपसर्ग और तीव्र परिषह को ऐसा माने कि मैंने जो पूर्व जन्म में पाप का सचय किया है उसका यह फल है, ये मेरे किये हुए कर्म छूट रहे है। ऐसा समझ कर आकुलता न करने से बहुत निर्जरा होती है।

जो चिंतेइ सरीरं, ममत्तजणयं विणस्सरं असुहं।

दंसणणाणचरित्त, सुहजणय णिम्मल णिच्चं। १११। (स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा)

अर्थ—जो मुनि इस शरीर को ममता जनक विनाशी और अशुचि मानता है तथा जिसके दर्शन ज्ञान और चारित्र नित्य निर्मल वने रहते है अर्थात् निज स्वरूप मे सदा रमण करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

अप्पाणं जो णिंदइ, गुणवंताण करेदि बहुमाणं।

मणइंदियाण विजई, ससरूवपरायणो होदि। ११२ [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

अर्थ—जो साधु अपने विचारो से अपने दुष्कृत की निन्दा करे और गुणवानों का बहुत मान करे, तथा मन और इन्द्रियो का विजयी हो और आत्म- स्वरूप में लवलीन हो,

उसके बहुत निर्जरा होती है । [स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा]

तस्स य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि ।

तस्स पुण्ण वड्ढइ, तस्स य सोक्ख परोहोदि ।११३।

अर्थ—उस साधु का (ऊपर के श्लोक में वर्णन किये गये का) जन्म सफल है, उसके पुण्य की पापो की निर्जरा होती है, उसके वृद्धि होती है, उसे उत्कृष्ट सुख अर्थात् मुक्ति के सुख की प्राप्ति होती है । उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है । (समयसार अधि. ३)

रत्तो बधदि कम्म, मुंचदि जीवो विरायसपण्णो ।

एसो जिणोव एसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज । १५० ।

अर्थ—रागी जीव कर्मों को बाधता है और विरागी जीव कर्मों से छूटता है । इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है इसलिये हे भव्य ! तू इन कर्मों में रजायमान मत हो—

卐 कर्मों की दश अवस्थाएं 卐

वधुकट्टणकरण, सकममोकद्दुदोरणासत्तं ।

उदपुवसामणिधत्ती, णिकाचणा होदि पडिपपड़ी । ४३९ ।

अर्थ—१ बध २ उत्कर्षण ३ सक्रमण ४ अपकर्षण ५ उदीरणा ६ सत्व ७ उदय ८ उपशम ९ निधत्ति १० निकाचना इस प्रकार ये दश करण हरेक प्रकृति मे हुआ करते है । कषाय और योग ही इस बध मे कारण है । कषाय रहित योग से जो कार्माण वर्गणाये आती है वे सातावेदनीय रूप परिणमन योग्य आती है और एक समय मात्र स्थिति रूप रहती है । दूसरे समय मे वे झड जाती है । कषाय की विचित्रता ही कर्म बन्ध मे अनेक प्रकार कारण हो जाती है । ठीक २ विचारा जावे तब तो यही बात निश्चित होती है कि कर्म बन्ध में वस्तुत मोहनीय कर्म का उदय ही कारण है अन्य किसी कर्म का उदय बन्ध का कारण नही है । उसके दो भेद हैं १ दर्शन मोह २ और चारित्र मोह । इनके अभाव मे बन्ध होना रुक जाता है । और जब मोह कर्म का क्षय कर दिया जाता है तब शेष कर्म बहुत ही शीघ्र छूट जाते है । ऊपर जो कर्मो की दश अवस्थाये बताई है उनके स्वरूप का सक्षिप्त दिग्दर्शन कराते है । **१. बन्ध करण**—कार्माण वर्गणायें अपने पुद्गल नाम को छोड कर ज्ञानावरणादि नाम को प्राप्त कर जीव के योग और मोह भाव के कारण आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही (एक क्षेत्र मे ठहरने पने को) प्राप्त हो जाती है, अर्थात् उनमे जीव के गुणो के घातने की व साता तथा असाता कारी सम्बन्ध को मिलाने की शक्ति हो जाती है । इस कार्य को बन्धकरण कहते है । जिस समय कर्मो का आस्रव होता है उसी समय उनका बन्ध होता है । बंध होते समय प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग ये चारों बाते एक साथ पैदा हो जानी है । जिस जाति के कर्म बधते हैं उसे ही प्रकृति बन्ध कहते

है। जितनी सख्या मे परमाणु बन्धे वह प्रदेश बन्ध कहलाता है। कितने काल की मर्यादा पड़ी, वह स्थिति बन्ध कहलाता है। कैसी तीव्र या मद फल देने रूप शक्ति पडी उसे अनुभाग कहते है।

२. **उत्कर्षरण करण**--किसी एक समय मे बांधे हुए कर्मो मे जीव के परिणामो के निमित्त से स्थिति और अनुभाग का बढ जाना सो उत्कर्षण करण है। **भावार्थ**–जिस समय किसी पाप कर्म को किया था उससे पाप कर्मो को बांधा था, पीछे यदि वह अपने किये हुए पाप कर्मो की बड़ी आत्म–प्रशसा करता है और अपनी कषाय को बढा लेता है, तो उस समय मे बांधे हुए पाप कर्मो की स्थिति बढ जायगी और अनुभाग भी तीव्र हो जायगा अर्थात् वह "उत्कर्षण" करण है। ३ **सक्रमण करण**—एक कर्म की प्रकृति को बदल कर दूसरे कर्म रूप हो जाना संक्रमण करण है। **भावार्थ**–मूल आठ कर्मो मे परस्पर तो सक्रमण नही होता। हर एक मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियो मे सक्रमण हो सकता है, जैसे—मिथ्यात्व कर्म का मिश्र में, व मिश्र का सम्यक्त्व मे, व साता वेदनीय का असाता वेदनीय व असाता का सातावेदनीय मे, उच्च गोत्र का नीच गोत्र मे व नीच गोत्र का उच्च गोत्र मे, क्रोध का मान मे, मान का माया मे माया का लोभ मे इत्यादि परस्पर मे सक्रमण हो जाता है; परन्तु मोहनीय कर्म के भेद दर्शन मोहनीय का चारित्र मोहनीय रूप नही होता और न चारों आयु कर्म का सक्रमण होता है। जीवो के परिणामो के निमित्त से किसी कर्म की वर्गणाओं की प्रकृति अन्य प्रकृति रूप पलट जाती है। इस प्रकार मूल प्रकृति में संक्रमण कदापि नही होता। ४. **अपकर्षण करण**—किसी समय में बाधे हुए कर्मो की स्थिति एव अनुभाग को अपने परिणामो के द्वारा घटा लेना अपकर्षण है। **भावार्थ**—जैसे किसी ने मनुष्यायु १००० वर्ष की स्थिति तीव्र अनुभाग सहित बाधी थी; पीछे आयु बन्ध के दूसरे अपकर्षण काल के समय कुछ उसके परिणामो में मलिनता आगई; वैसी अल्प ममता नही रही या वैसा मार्दव भाव नही रहा जैसा पहिले आयु बन्ध के समय मे था। तव वह जीव मनुष्य की स्थिति घटा कर १०० वर्ष की या इससे कम ज्यादा कर सकता है; और अनुभाग भी उसका कमती कर सकता है., जैसे–राजा श्रेणिक ने सप्तम नरक की आयु तेतीस सागर की बाधी थी, पीछे क्षायिक सम्यक्त्वी हो जाने पर आयु कर्म का अपकर्षण कर डाला अर्थात् उसकी ८४००० वर्ष की स्थिति रह गई।

५. **उदीरणा करण**— जो कर्म बाधे थे उनकी आवाधा अभी पकने वाली नही है अर्थात् उनकी अवधि अधिक है। उनकी अबंध (स्थिति) घटा कर उन कर्मो को अपने ----धा काल के पहले ही उदय की आवलीकाल के भीतर रख देना जिससे वे कर्म जो

पीछे फल देते शीघ्र ही फल देने लग जावें, इस अवस्था को उदीरणा कहते है। **भावार्थ**– जैसे किसी को अन्नादिक नही मिलने से तीव्र क्षुधा की बाधा सता रही है, उस समय पर असातावेदनीय कर्म की कुछ वर्गणाओं की उदीरणा होने लगती है अर्थात् वे अपने उदय के समय से पहले ही उदय होकर फल प्रकट करने लगती है अथवा भोगी जाने वाली आयु कर्म की उदीरणा उस समय किसी जीव के हो जाती है जब वह विष खाकर या अग्नि में जल कर वा श्वासोच्छ्वास का निरोध कर या ऐसे ही और भी कई कारण है जिनको मिलाकर मरण कर जावे, तब आयु कर्म की सब वर्गणाए एकदम उदय में आकर खिर जावे और उस प्राणी को यह शरीर छोडना ही पड़े। ६. **सत्व करण**–कर्मो का बंध हो जाने पर जब तक वे कर्म उदय, उदीरणा, या निर्जरा को नपाकर आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रूप बैठे रहे, उनकी इस मौजूदगी को सत्व या सत्ता कहते है।

७. **उदयकरण**—कर्मो का अपनी स्थिति पूरी होते हुए उदय आना या फल दिखाकर झड जाना। बहुधा जो कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर उदय आते है, बाहरी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का निमित्त न पाकर बिना फल दिखाये झड जाते है। यदि निमित्त अनुकूल होता है तो फल दिखाकर झडते है। यह बात ऊपर दिखा चुके है कि कर्म बन्धन के पीछे अबाधा काल छोड कर शेष अपनी सर्व स्थिति में बट जाते है और फिर इसी बटवारे के अनुसार समय २ पर झडते रहते है। क्रोध, मान, माया और लोभ, चारों कषायो का बन्ध तो एक साथ (एक समय) हो सकता है; परन्तु उदय एक समय मे एक का हो होता है इसका भाव यह है कि चारों कषायो की वर्गणाए हर समय अपने बटवारे के अनुसार झडती हैं, परन्तु जिसका बाहरी निमित्त होता है, उसका उदय कहलाता है, यद्यपि उनकी वर्गणाये भी, अवश्य झडती है। इस प्रकार और कर्मो मे भी अवस्था होती रहती है। इसलिये जो कर्म फल प्रगट कर खिरते है उनके उदय को 'रसोदय' कहते हैं और जो बिना फल किये ही झड जाते है उनके उदय को 'प्रदेशोदय' कहते है। इस प्रकार के शब्द व्यवहार मे प्रचलित है।

८ **उपशम करण**—कर्म वर्गणाओ को उदय काल मे आने को अशक्य कर देना उपशम कहलाता है। **भावार्थ**—जैसे मिथ्यात्व कर्म का उदय बराबर जारी है उस कर्म के उदय को कुछ काल के लिये रोक देना या उसको दबा देना उपशम कहलाता है। ९— **निधत्ति करण**—जिन कर्मो का ऐसा बन्ध हुआ हो कि उनका न तो सक्रमण किया जा सके और न उनको शीघ्र उदय मे लाया जा सके, यद्यपि उनमे स्थिति व अनुभाग का उत्कर्षण तथा अपकर्षण हो सकता है, उन कर्मो की ऐसी स्थिति को (अवस्था को) निधत्ति कहते है। १० **निकांचित करण**—जिन कर्मो का ऐसा बन्ध को कि न तो उनका

सक्रमण किया जा सके, न शीघ्र उदय में लाया जा सके, न उनमें स्थिति या अनुभाग का उत्कर्षण या अपकर्षण किया जा सके, अर्थात् वे जैसे बन्धे थे वैसे ही फल देखकर झडे, उन कर्मो की ऐसी दशा को निकांचित कहते है इस तरह कर्मो की दश अवस्थाओं का वर्णन किया। ऐसे कर्मो की निर्जरा करने वाला जीव जो है उसको सिद्धान्त दृष्टि से सम्यक्त्वी कहते है। ऐसे सम्यग्दृष्टि के सामान्यतया स्वरूप का दिग्दर्शन कराते है।

卐 सम्यक्त्वी का सामान्य स्वरूप का उपसंहार 卐

सम्यक्त्वी का जीवन बडा पवित्र होता है वह अपने आप को कर्त्ता भोक्ता नही मानता। वह बन्धन मुक्ति का स्वरूप अच्छी तरह समझता है। ससार, शरीर और भोगो की हेयता और आत्मतत्व की उपादेयता का उसके निश्चल श्रद्धान रहता है। वह सुमेरु की तरह दृढ होता है। जगत् के बाह्य पदार्थो का ससर्ग उसके लिए एक प्रकार का रोग है, उससे वह मुक्त होना चाहता है। ज्ञान ही उसका धन है क्योकि यही अजर अमर है। इसमे उसे जो आनन्द आता है उसकी विशेषता आत्मानुभूति के बिना नही जानी जा सकती। यह स्वय ही अपना साध्य और साधक है। यथा --- (समयसार कलशा)

एष ज्ञानधनो नित्य, मात्मसिद्धिमभीप्सुभिः साध्यसाधकभावेन, द्विधैक समुपास्यताम् ॥

अर्थ—यह आत्मा सदा ही ज्ञान का समुदाय रूप है। यह ही साध्य है, और यह ही साधक है। इस प्रकार दो रूप होकर भी एक है। ऐसा समझकर जो सिद्धि चाहते है उनको ऐसी उपासना करना योग्य है। और भी कहा है— (तत्वसार)

स्यात्सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूप ,पर्यायार्थदिशतो मुक्तिमार्ग ।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीय , स्याद् द्रव्यार्थदिशतो मुक्तिमार्ग ॥ १६३ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिकनय या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनो रूप मोक्ष मार्ग है., परन्तु द्रव्यार्थिकनय या निश्चयनय से सर्वदा ही अद्वितीय एक ज्ञाता आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। और भी कहा है— (तत्वानुशासन)

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन्पश्यन्नुदासिता । चित्सामान्यविशेषात्मा, स्वात्मनैवानुभूयता ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मय होने से सामान्यतया विशेष स्वरूप आत्मा को अपने ही आत्मा के द्वारा श्रद्धान करते हुए जानते हुए व उदासीन होते हुए, अनुभव करो, यही सम्यग्दर्शन है। और भी है। — [देवसेनाचार्यकृत तत्वसार]

झाणेण कुणउ भेय, पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं ।
घेतव्वो णिय अप्पा, सिद्धसरूवो परो बम्भो ॥ २५ ॥
मलरहिओणाणमओ, णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिस ओदेहत्थो, परमो बभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

अर्थ— ध्यान के बल से जीव का तथा पुद्गल कर्मों का भेद करके अपने आत्मा को सिद्ध रूप व परम ब्रह्म स्वरूप निश्चय से समझ कर ग्रहण करना चाहिये। जैसे सिद्ध भगवान् सर्व मल रहित तथा ज्ञानमय विराजते है। उसी प्रकार (ख) अपने शरीर के भीतर परम ब्रह्म स्वरूप आत्मा विराजता है। सम्यग्दृष्टि ऐसा अनुभव करता है। जो ऐसा करता है, वही निश्चय सम्यग्दृष्टि है। यह आत्मा निश्चय से या अपने स्वरूप से सर्व आत्मा व अनात्माओ से रहित है। आप आप रूप ही है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व चरित्र रूप है। अमूर्तिक है, परम निर्मल आकाश के समान निर्लेप है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशो होकर भी शरीर प्रमाण अपने आकार को रखने वाला है। द्रव्य अपेक्षा नित्य है। पर्याय की अपेक्षा परिणामनशील या अनित्य है अपने गुणो से व पर्यायो से सदा तन्मय है। और भी कहा—

"स्वसवेदनसुव्यक्तस्, तनुमात्रोनिरत्ययः। अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः।२१"

अर्थ—यह आत्मा लोक व अलोक का ज्ञाता द्रष्टा (जानने वाला) है, अत्यन्त सुख स्वरूप है, अविनाशी है, शरीर मात्र आकार धारी है, स्वसवेदन या स्वानुभव से ही अनुभव मे आकर प्रकाशित होता है। निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति उस समय तक नही होती, जिस समय तक सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश एव विकास अपने आत्मा में न हो। इस सम्यग्दर्शन गुण का विपरीत परिणमन अर्थात् मिथ्यात्व भाव मिथ्यात्व कर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषायों के कारण अनादिकाल से इस ससारी जीव के हो रहा है। जब तक यह उदय न हटे तब तक सम्यक्त्व गुण प्रगट नही होता है। इससे मुमुक्षु भव्य जीवो का यह परम पुरुषार्थ होना चाहिये कि वह उस उदय को उपशमन करके सम्यक्त्व गुण का लाभ करे। कहा भी है—

विपरीताभिनिवेश, निरस्य सम्यग्व्यपस्य निजतत्व।
यत्तस्मादविचलन स एव पुरुषार्थ सिद्धयुपायोऽयम्।२५।(अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थ सि.)

अर्थ—विपरीत अभिप्राय (मिथ्यात्व श्रद्धान) को दूर करके और भले प्रकार अपने आत्म रूपी तत्व को निश्चयकर के उस तत्व से चलायमान न होना अर्थात् उसमें दृढता रखना ये ही पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है। यही परम पुरुषार्थ हैं। इस प्रकार शुद्ध आत्मा का श्रद्धान कर अपनी आत्मा को पूर्ण रीति से अनुभव कर उसी मे स्थिर रहना अर्थात् स्वरूपाचरण चारित्र मे स्थिर रहने, कर्म बन्धन को काटने का मुख्य कारण है। ऐसे आत्मस्थित आत्मा को ही सम्यग्दृष्टि कहते है और उसी आत्मा को सिद्धान्त शास्त्रों में निर्बन्ध द्योतित कहा है। अन्यथा नही। ऐसे आत्मा के जो आगामी बन्ध का अभाव माना है, सो दर्शन मोह जनित बन्ध का अभाव है, न कि चारित्र मोह जनित बन्ध का। सम्यक्त्वी के भी जो कर्म बन्ध हो चुके है वे सत्ता में मौजूद रहते है। बिना

आबाधा काल के उदय आये वे कर्म निर्जरित नही होते है। इस प्रकार के बन्ध को निर्बन्ध करने के वास्ते उस आत्मा के निज स्वभाव चारित्र में स्थिर होना एवं उसका अवलम्बन लेना बताया है, कि निज स्वभाव में स्थिर हुए बिना पूर्व या आगामी बन्ध का विध्वंस नही होता है। इसलिये उसमे चारित्र की आवश्यकता पडती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी जब तक चारित्र नही होता है तब तक आत्मा, कर्म बन्धन से मुक्त नही हो सकता और उसकी कभी मुक्ति नही हो सकती चारित्र ही मुक्तिका साक्षात् कारण है। वह निश्चय चारित्र है। उस निश्चय चारित्र का साधक व्यवहार चारित्र है वह सम्यक्त्वी को धारण करना पडता है। उस चारित्र (सयम) के दो भेद है एक सकल संयम दूसरा देश सयम। इस ग्रन्थ में दूसरे देश संयम का वर्णन विशद रूप से किया गया है। भव्यजन मुनि बनने की भावना रखते हुये अपने कर्त्तव्य को समझकर श्रावक धर्म का पालन करे, यही मंगल कामना है।

卐 卐 卐

इस प्रकार दिवंगत आचार्य ज्ञानमूर्ति ज्ञानसागरजी महाराज के द्वितीय दीक्षित मुनिराज श्री १०८ विवेकसागरजी महाराज द्वारा संकलित शुद्ध श्रावक धर्म प्रकाश नामक ग्रंथ समाप्त हुआ।

卐

।। ॐ सिद्धाय नमः ।।

श्री १०८ श्री चारित्र विभूषण विवेकसागरजी महाराज का

उपसंहारात्मक सदुपदेश

मंगलं भगवान् वीरो, मंगल गौतमो गणी ।
मंगल कुन्दकुन्दाद्यो, जैन–धर्मोऽस्तु मंगल ।।

भावार्थ—(१) भगवान् महावीर, अन्तिम तीर्थङ्कर मंगलकारी हों (२) श्रुत केवली, सर्व लब्धि सम्पन्न गौतम गणधर मंगलकारी हो । (३) दयामय, सर्वज्ञ प्रणीत (कथित) जैनधर्म मंगलकारी हो । (४) कुन्दकुन्द भगवान् वर्त्तमान के मूल सघ के मुख्य आचार्य हुये हैं । इन आचार्य को सर्व दिगम्बर समाज पूर्ण मान्यता देता है, उन्ही के कथनानुसार इस ग्रन्थ की रचना की गई है, ऐसे महान् आचार्य महाराज को मेरा सिद्ध भक्ति पूर्वक त्रिधा नमोऽस्तु ।

पहिला विषय

वर्त्तमान युग में हमारे दिगम्बर जैन समाज मे विशेष रूप से वादविवाद चल रहा है । यह वाद विवाद क्या है ? १३ पथ और २० पथ का है । सो इसी विषय पर बैठकर विचार विमर्श करना है कि क्या तेरह पथी हैं और क्या बीस पथी ? इस विषय मे मेरा अपना स्वतंत्र विचार क्या है ? उसे नम्र शब्दो मे निम्न रूपमें प्रस्तुत कर रहा हू —

यह कथित १३ और १० पथ का झगडा पहिले नही था । हा, शास्त्रो मे श्वेताम्बर, स्थानकवासी (२२ टोला) आजीवक आदि का उल्लेख तो है पर १३ एव २० का कही नामोल्लेख नही है । यह तो मुगलकाल मे भट्टारकों के कारण विकृति आयी है । इस झगडे की जड कब से राजस्थान मे पैदा हुई, निम्न पक्तियो मे प्रस्तुत है ।

राजस्थान में ४०–५० वर्ष पहिले कोई मत भेद नही था । साथ २ समन्वय की गाडी चलती थी । सिर्फ इतना ही भेद था कि २० पथी, जो भट्टारक की मान्यता रखते थे, वे सिर्फ आसोज वदी १ को दूध का अभिषेक करते थे, इसके अलावा कोई भेद नही था । न फूल चढाते थे, न पचामृत अभिषेक करते थे, न आम आदि फलों का अभिषेक करते थे । पूजा भी प्रासुक द्रव्य से करते थे और भगवान् पर फूल नही चढाते थे, न ही केशर चर्चते थे । स्त्रियाँ प्रक्षाल नही करती थी । यह प्रथा बहुत वर्षों से चली आ रही थी, बाद मे दक्षिण भारत से श्री १०८ चा० च० श्री शांतिसागरजी महाराज का पदार्पण हुआ । फिर भी उन्होने समन्वयवाद करके किसी पर ज्यादा जोर नही दिया; पर बाद मे उन्ही के शिष्य श्री १०८ आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागरजी महाराज राजस्थान आये, जो प्रकाण्ड विद्वान थे; उन्होने धर्मका प्रचार अच्छा किया, साथ २ इस प्रथा को भी जोर देकर चालू करवाया । जब यह प्रथा बढते २ यहाँ तक होगयी कि मंदिरो में भी भेद पड गया कि यह मंदिर २० पंथी है और

यह १३ पथी है आदि २। पश्चात् इसी के अनुसार हमारे परम पूज्य आचार्यों व मुनिराजो में भी भेद पनपते आ रहे हैं। यहा तक कि कानूनी कार्यवाही चलीं, फौजदारी भी होने लगी। इसी विषय मे मारा मारी भी हुई और अब इतना जोर बढ गया है कि मुनिराजो के बृहत् सघकी भी अवहेलना हुई। यह सब अज्ञानता का ही कारण है। अब आज वर्त्तमान मे केशर, फूल, फल चढावे वह २० पथी, और जो न चढावे, शुद्ध प्रासुक जल से अभिषेक व प्रासुक अष्ट द्रव्य से पूजा करे वह तेरह पथी कहलाता है। २० प्रकार के चारित्र पालन पर ध्यान न देकर, विपरीत बुद्धि धर उक्त वातावरण का हठ पकड, गभडा करने को कुछ लोग तैयार हो जाते हैं। कषाय वृत्तिकी पुष्टि दिनों दिन बढती जा रही है। इससे हमारी समाज का कभी कल्याण होने वाला नही। आप हमारे समन्वय भाव को समझकर दोनो पथी श्रावक समन्वय कर अपनी २ त्रुटियो को दूर कर अपना २ कल्याण करें। यथा संभव सक्षेप मे दोनों की त्रुटियाँ यह हैं—

तेरह पंथ बीस पथ यह नाम क्यो पडा ? श्री १००८ भगवान् महावी स्वामी ने श्रावक धर्म एवं मुनि धर्म इन दो प्रकार के धर्म का पालन करने हेतु उपदेश किया है। जो गणधर देव द्वारा तथा बाद मे परम्परा रूप में अक्षुण्ण धारा से आज तक आचार्यों ने बताया है। और शास्त्र रचकर शुद्ध मार्ग का निर्देश दिया है। वैसा ही मैं आपको सुनाता हू। पहिला मुनि धर्म-दूसरा श्रावक धर्म है। पहिले मुनि धर्म में १३ प्रकार का चारित्र (पच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति) पालन करते हैं। यह मुनिधर्म तेरह पथी मार्ग है। अर्थात् जिस प्रकार १३ विधि चारित्र को पाल कर मुनि क्रमश गुण वृद्धि पूर्वक १३वाँ गुणस्थान पाकर अर्हंत बन उपदेश देकर अपना कल्याण कर सिद्ध पद प्राप्त करते हैं, वह तेरह पथ हम मुनियो का है, और मुनियो के लिये है।

२० पथ—यह श्रावको का पथ (मार्ग) है। यह भी क्रमश मुनि धर्म की ओर ले जाता है। मुनि धर्म में राग रखने वाले गृहस्थ ही श्रावक धर्मी अर्थात् २० पथी कहलाते हैं। श्रावक के आठ मूलगुण व १२ श्रावक के व्रत यो २० व्रतो को जो पालता है वह श्रावक २० पथी कहलाने का हकदार है।

अष्ट मूलगुण—१ मद्य त्याग, २ मास त्याग, ३ मधु त्याग, बड, पीपल, गूलर, पाकर, अजीर ये (बिना फूल से आने वाले फल) पच फल हैं। इनका त्याग, यो ८ वस्तु का त्याग मूलगुण कहलाता है।

अष्ट मूलगुण मध्यम—१ मद्य त्याग, २ मास त्याग, ३ मधु त्याग, ४ हिंसा, ५ झूठ, ६ चोरी ७ कुशील, ८ परिग्रह का त्याग (अणुव्रत रूप) ये ८ मूलगुण हैं।

उत्तम अष्ट मूलगुण—१ मद्य त्याग, २ मास त्याग, ३ मधु त्याग, ४ पच फल त्याग, ५ पच परमेष्ठियो का नित्य दर्शन ६ जीवों पर दयाभाव, ७ पानी छानकर पीना, ८ रात्रि भोजन का त्याग। ये अष्ट मूलगुण हैं। इनमे से अपनी शक्ति अनुसार मूलगुण पालों।

१२ व्रत—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ये १२ व्रत हैं। श्रावक इस प्रकार २० व्रतों को पालन करता है। इन २० व्रतो को जो पालता है वह २० पथी है। इस प्रकार आप अर्थ लगावें और व्रत पालन में तत्पर रहें।

१३ पथ २० पथ की वर्त्तमान मान्यताएँ हठका परिणाम है। तेरह पथियो की पहली भूल—मदिरमें पखा लगाना है। शास्त्र सभा में पूजा के स्थान में पखा लगाने से बडी हिंसा होती है। यह अज्ञानता का कारण

है। निरंतर घात प्रतिघात से त्रस स्थावर जीवो की घोर हिंसा होती रहती है। कभी २ तो चिडिया कबूतर तक भी कट कर मर जाते हैं।

दूसरी भूल—भगवान् के अभिषेक पूजा के वास्ते कच्चा (सचित्त) जल काम मे लेते हैं। यह आगम के अनुकूल नही है। आगम मे ।।। पौन घटे की मर्यादा बतायी है। बाद छनापानी भी अनछना बन जाता है। एव इसी प्रकार पुजारियो के स्नान का जल भी पौन घटे बाद छानकर उपयोग मे लाना चाहिये। कुए पर तो जिवानी यथा स्थान पहुचाना एव बाद की जिवानी भी एकत्र कर यथास्थान पहुचाना कर्त्तव्य है। पर देखा जाता है कि अभिषेक का जल या स्नान का जल दोनो ही मध्याह्न तक यो रखे रहते हैं। उसी से कार्य करते रहते हैं। यह कैसा १३ पथी आगम है। अभिषेक जल को तो प्रासुक (गर्म) कर ही लेना चाहिये। मर्यादा का ज्ञान श्रावक श्राविकाओ को रखना ही चाहिये, तभी दया रूप धर्म (अहिंसा धर्म) का पालन बन सकेगा। श्रावक की क्रियायें सभी जीवरक्षा के आधार पर कही गयी हैं। कपडा धोने के लिये भी छना जल, मर्यादा के अन्दर ही लेवें, बाद मे पुन. छानकर काम में लेना चाहिये।

तीसरी भूल—सुगधदशमी के दिन मदिर मे धूप घट लगाते है। अग्नि जला रात को धूप खेते हैं। सारा मदिर धूएँ से भर जाता है। जिससे सभी क्षुद्र उडनेवाले जीव मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उन असख्यात जीवो का बध होजाता है। कितने ही प्राणी तो धूएँ के उठते हुये—भँवर मे ही फस सीधे गिरते पडते धूएँ के सहारे ही धूप घट मे ही गिर कर प्राण गँवाते हैं। और धूप भी बाजार की कुटी काम मे लेना असख्य सम्मूर्च्छन जीवों के पिंड का ही अग्नि क्षेपण करना है। बाजार की कुटी धूप दशागी नही होती, व्यापारी सस्ती सडी वस्तुएँ डालकर अधिकाधिक लाभ कमाने के दृष्टिकोण से गलत सलत पदार्थों का भी सम्मिश्रण करता है। एव कूटनेवाले कर्मचारी गण भी बिना शोधे सडे घुसे अल्पमूल्य वाले सभी पदार्थों को एव गिरे पडे शेष किराने की वस्तुओं का भी मिश्रण करते हैं।

चौथी भूल—अष्टद्रव्य जैसा मदिर का व्यास (माली)—निकाल देता है वैसे ही धोलेते हैं। उसे शोधकर काममे लेना चाहिये। वरना उसमे पडे जीव घुलकर हाथ की रगड से बेमौत मारे जाते है। अत स्वय ही शोधकर देख भालकर द्रव्य लेना और धोना चाहिये।

पाचवी भूल—भाद्रपद मे लाइट ज्यादा जलाते हैं जिससे त्रस जीवो का नाश होता है, यह तो पाप प्रभावना हुयी नकि धर्म प्रभावना। अत. सामान्य लाइट ही लगानी चाहिये। पहिले बतायी गयी बातो का ध्यान रखें।

वर्त्तमान में जो अपने को बीस पथी कहते हैं उनकी कुछ बातें ये हैं जो नही करनी चाहिये, २० पथी आम्नायवालो की निम्नाकित भूले हैं।

पहली भूल—भगवान् के चरणो पर फूल क्यो चढाते हैं। फूलों मे असख्य जीव समूह होते हैं। ऐसे फूलों का (जीव समूह सह) श्रीजी के चरणो पर रखने मे धर्म नही है। और न फूल चढाने मे बडा पुण्य ही है। रूढि मत से अकार्य न करें। यदि आप अधिक जानकार हैं तो हमे समझा देवें। शास्त्रानुसार फूल सचित्त हैं पर सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के फूल चरणों पर चढाना या पूजा मे (सचित्त) चढाना धर्म नही हैं। आप विचार करें। फूल अर्चन—फूलों से भगवान् को ढक देते है यह ठीक नही। फूल तोड़ना, फूलो को धोना फूलों को चढाना, यह त्रस जीवो के नाश का कारण है। आप ही सोचें कि दर्शनार्थी भगवान की वीतराग छवि का दर्शन कैसे करें? क्या फूलो का दर्शन करें?

दूसरी भूल—पचामृत अभिषेक है, पचामृत अभिषेक के बारे मे इस ग्रथ मे ग्रागमानुकूल बहुत प्रकार से बताया समझाया गया है। इस विषय पर पेज न० २४२ पर वर्त्तमान की अभिषेक क्रिया मे (पचामृतभिषेक, व्यतरार्चन देवार्चन) जो जो दोष बताये गये हैं वे आपने पढे ही होंगे। वर्त्तमान युग मे दूध दही शक्कर ग्रादि वस्तुएँ शुद्ध मिलती ही नहीं, बाजार से खरीदा हुआ दूध ला करके जो महानुभाव अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये अभिषेक करते हैं, उनका यह करना मर्यादा का उलघन है। बाजार के दूध का क्या ठिकाना है किस जाति का दूध ग्राता है, पानी कैसा २ मिलाया जाता है। कोई ठिकाना नही है। इस पर आप लोग गम्भीरता से विचार करेंगे और शुद्धता का ध्यान रखेगे। सिर्फ जलाभिषेक ही करेंगे तो पुण्य प्राप्ति होगी। वरना पाप ही होगा।

तीसरी भूल—रात्रि पूजा एव रात्रि अभिषेक करना कराना अति अनुचित है। जब ग्राप यानी प्रत्येक जैन रात्रिको भोजन ग्रहण नही करता आरम्भ भी नही करता या अत्यावश्यक होने पर अल्पाल्प करता है। तब पूजा कैसे कर सकते हैं और न पूजा अभिषेक का महान आरम्भ। गृहस्थी को रात्रि भोजन पान के त्याग करने का उपदेश ग्रादेश दिया है। तो आप लोगोका रात्रि पूजन करना हठवादिता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। रातको पानी लाना, सामग्री धोना ग्रादि अनेक आरम्भ क्रियायें करनी पडेंगी। सो सब पाप बधको ही कराती हैं। इसमे हिंसा के सिवाय पुण्य कुछ भी नही है। इसीलिये विचार कर रात्रि पूजा व अभिषेक का त्याग करें, तो आपका भला होगा। ये सब पूजा अभिषेक दिन मे ही करनी चाहिये। ३ या ४ साल पहिले कुचामन सिटी मे मेरे ग्रादेशानुसार चतुर्मास के अवसर पर रात्रि पूजन अभिषेक न करने का निश्चय किया था। दिन को ही अभिषेक पूजन कर पुण्य लाभ लिया। पर खेद है कि मेरे विहार करने के बाद अपने हठ की पूर्त्ति हेतु पुन रात्रि पूजन अभिषेक करना शुरू कर दिया। इस प्रकार समाज मे हठवादिता से रूढ कार्यों मे अधर्म जानकर मान कर भी पुन. २ करने मे कोई लाभ नही है। अब ग्राइन्दा न करें तो आपका भला होगा।

चौथी भूल—भगवान के चरणों पर क्या समझकर केशर चर्चन करते हैं। सामने चढावें तो भी कुछ बात है। पर चरणो पर केशर लगाकर दर्शनार्थी के भावो को बिगाड कर कौनसा पुण्य कमाते है। जरा शात परिणामो से विचारें—वीतराग मुद्रा मे दोष ग्राता है।

आशा है इस पर विचार कर हठ का त्याग कर देंगे।

पाँचवी भूल—शासन देवो की मान्यता पूजा विधान ग्रादि सम्यग्दृष्टि को करना उचित नही है। सम्यग्दृष्टि तो सच्चेदेव शास्त्र के अतिरिक्त किसी की पूजा नमस्कार नही करता, सो गम्भीरता से विचार करो, और कम से कम वीतराग प्रभु के बराबर वेदी मे इनकी मूर्त्तियाँ विराजमान नहीं करें तो ये भी ग्रापकी धर्म मे ग्रपूर्व उपलब्धि होगी। ये व्यतरादिक देव वीतराग देवके सामान्य भक्त एव सेवक मात्र होते हैं, और सोभी अधिकतर नियोगज। उनको ग्रर्हत भगवान् के समान ही स्थान देना, अष्ट द्रव्य से पूजा करना, बराबर विराजमान करना यह तो मिथ्यात्व क्रिया है। ऐसा ग्राप सब समझकर हठ छोडें। यह सम्यग्दृष्टि का लक्षण नही है कि वह कुदेवोंको पूजे। सो गम्भीरता से विचार करें एव अनन्त ससार के उच्छेद हेतु वीतराग पूजन मे ही श्रद्धा करें और अपना कर्त्तव्य पालन करें।

छठी भूल-गदोधक – गधोदक जल सिर्फ मस्तक पर धारण करने योग्य होता है। पर आप भक्ति के ग्रावेश में कर्त्तव्य को भूल जाते है। गधोदक पीना पिलाना महान अन्याय है अनीति है। वैष्णवजन के चरणामृत

के समान आपने गधोदक को बना लिया है । किस शास्त्र से आपने पीने की विधि निकाली है, भगवान ही जाने! किस महान् अनत ससारी ने आपको ऐसी सीखदी सो गधोदक पीने लगे । बन्धुओ ! यह पीने की चीज नही मस्तक नेत्रादि उत्तमागो पर लगाने की चीज है । आशा है इस कुप्रथा को छोडकर सन्माग रूप ग्रहण करेंगे । गधोदक नही पीयेंगे नही पिलायेंगे तो आपको आपकी भक्ति का उत्कृष्ट फल मिलेगा । यह गधोदक पवित्र वस्तु है । इसे झूठा करना विष्टा मे डालना कहाँ तक उपयुक्त है । सो समझकर न पीवे न पिलावें तो आपको लाभ होगा । अत इस खोटी प्रथा को तोड दें । तांकि आगे की सतान इस अनर्थ से बचे ।

सातवीं भूल—स्त्री प्रक्षाल–प्रक्षाल भगवान की किस अवस्था में होती है इस विषय पर विचार करें । भगवान का अभिषेक जन्म कल्याणक के समय इन्द्र ही करता है । तप कल्याणक के बाद तो स्त्री स्पर्श ही वर्ज्य होता है । अत फिर स्नान प्रक्षाल की तो बात ही क्या है । हा जिन प्रतिमा जिन देव से भिन्न नव देवो मे गणना की गई है । अत वह प्रतिमा जिसमें पचकल्याणको की समस्त क्रियायें सूरि मत्र सहित की गयी है । जो अर्हंत के समान ही पूज्य है । तब स्त्री का स्पर्श अभिषेक तो बडी दूर की चीज है । अत समझ सोच, विचार कर कार्य करें या करवावें । ताकि व्यर्थ पाप बध से बचा जा सके । स्त्री प्रक्षाल का त्याग करें । वर्त्तमान मे स्त्रियो की स्थिति प्रायः रोग ग्रस्त ही रहती हैं । प्रतिक्षण स्रावादि से पर्याय अशुद्ध रहती है स्त्री मोक्ष जा नही सकती । इन्हे ५ वा गुणस्थान मात्र ही होता है सो स्वभावत पर्याय ही अशुद्ध एव शक्ति हीन है । इसे समझकर धर्ममार्ग का अनुसरण करें । महिला समाज से भी हमारा अनुरोध है कि वे भी अपनी स्थिति को समझें, अपावन शरीर रोग (स्रावादि) आदि से अयोग्य समझ प्रक्षाल व जिन प्रतिमा स्पर्शादि न करें । किसी के कहने मे नही आवें । प्रक्षाल न करे । पूजा कर सकती हैं । मार्ग भ्रष्ट करने वाले अनेक लोगो के कहने से भी इस अधर्म कार्य को न करें । आप सब का कल्याण होगा । आगामी सतान को इस परिपाटी मे नही चलायें तभी आपका व आपकी सन्तान का भला होगा । इस प्रकार अहिंसा मार्ग पर अपने व्रतो का सरक्षण करते हुये मुक्ति पथ का अनुसरण करें ।

अब मुझे उन नोनिहालो से भी कुछ कहना है । न मालूम इन बच्चो मे कौन अकलक, विद्यानद बनारसीदास, आशाधर एव कौन राष्ट्र का, देश का या जाति का नेता बनने वाला हो, अत मैं इन सब का धार्मिक सस्कार प्रधान जीवन बने ऐसी इनकी प्रवृत्ति हो एव इनके धार्मिक परिणाम हो, अष्टमूल गुणधारी हो, देवदर्शन, जल छानकर पीना, एव रात्रि भोजन नही करना ये आवश्यक जैन के चिह्न स्वरूप आप सब पालन करो । मुझे आपसे कहना है—

वृद्ध महानुभावो की आदत है कि जो रूढि उनके दिमाग में जच गई है इसका विरोध या उसमे किसी भी प्रकार के सशोधन को वे स्वीकार करना नही चाहते हैं और न दूसरो को वैसा करने ही देते हैं । नवयुवक आज कल के विद्यालयो मे शिक्षित होते हैं उनमे कई प्रकार का जोश भी होता है, दुराग्रह व आपस के वैर व कषाय के बदले लेने की दुर्भावना भी नही होती, वे सरलता पूर्वक हर एक बात को समझ भी लेते है । किन्तु सबसे बडे दु ख की बात यह है कि वे शास्त्र–स्वाध्याय, मुनि सगम, तत्व गोष्ठी आदि मे ही घृणा करते है जब इन मूल प्रेरक, होश को देने वाले निमित्तो से ही, उन्हे घृणा है तब उनका पालन भी वे कैसे कर सकते हैं । इसके विरुद्ध वे स्वय जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्तो का पालन करने मे ही हिचकते है तब आगे बढकर समाज की रूढियो मे सुधार कैसे किया जा सकता है ? सबसे पहले वे रात्रि–भोजन का त्याग करें, जिन दर्शन करें, पानी को छान-कर पियें । अपने कालेज के व अन्य अनुभवो को जैन शास्त्र से मिलाकर समाज की त्रुटियो को नही देखकर आगम का गुरु साक्षी पूर्वक अभ्यास करें तो हमारी समाज का बहुत कल्याण हो सकता है । इन्हे समझते नही, देख

कूद मे ही सारे समय को नष्ट कर देते हैं–वूढो में कार्य करने की क्षमता ही नहीं रहती है। अब दोनों के कार्यों की क्षमता की जिम्मेदारी युवकों या नवयुवकों पर ही है। बडनगर कुकणवाली आदि स्थानों पर हमारे सामने युवकों ने बडे २ जिम्मेदारी के कार्यों को निभा कर बतलाया है। पहले उन्हे चाय छोडना भी बहुत बडा कार्य नजर आता था किन्तु कुछ मनोबल को बढाकर उन्होने कई प्रकार के विशेष नियम लेकर अपने जन्म को सुधारा है। इनको हमारा शुभाशीर्वाद है। वे सब युवक एवं किशोर छात्र छात्राएँ धर्म ज्ञान सीखें, जैन कुल में उत्पन्न होकर जैनाचार का पालन करें। यह मनुष्य भव तथा उच्च कुल का मिलना दुर्लभ है, उससे भी युवावस्था उसका सार भाग है। अत. उसमें प्रमाद को छोडकर, आपत्तियों का सामना करके भी धर्म साधन करना अत्यन्त आवश्यक है।

बहुत से नवयुवक रात्रि–भोजन करने मे अपनी विवशता बताते हैं सो यह भी मन की कमजोरी मात्र ही है। पूछने पर ये लोग कहते हैं कि हम लोग बाहर रहते हैं इसलिये हमसे यह नियम पूर्वक सध नही सकता। इसका उत्तर यही है कि यह सब प्रमाद के कारण बहाना मात्र है। आजीविका की सुविधायें तो पुण्य से मिलती हैं और वे पुण्य के कार्यों को रोक कर पाप वर्धक क्रियायें करके अपने पैरो में अपने हाथ से ही कुल्हाडी मारते हैं। श्रावक के मूलगुण तथा सप्त व्यसन का त्याग, जिन मूर्ति का दर्शन व अभक्ष्य वस्तु का भक्षण जैसे होटल की चाय तथा होटल में भोजनादि करना भी निंदा के काय हैं, तथा वर्तमान के छोटे व्यसन जो बुरी सगति से आप लोगों में लग गये हैं जैसे–बजार का पान, बीडी, सिगरेट, तमाखू, जरदा आदि को भी अभक्ष्य समझ कर छोड दें, ये तो छोटे व्यसन हैं, इन्हे छोडकर उत्तम एवं आदर्श श्रावक का गौरव धारण करें, इससे आपका आत्मबल भी बढ़ेगा। अधिक क्या कहे, आप रूढिपालक वृद्धों के व्यर्थ झगडो मे न पडें, समाज में एका रखने का पूर्ण प्रयत्न करें, यह समाज की बागडोर आप लोगो के हाथ मे है। आशा है आप सब धर्म मे दृढ आस्था रखेंगे, धर्मानुकूल आचरण अपनावेंगे, आप सब देव शास्त्र गुरु के भक्त बनेंगे तथा धर्म पर न्योछावर होजाने की आन बान शान वाले बनेंगे।

सभी तेरहपथी, बीसपथी, नवयुवक भाई हमारे व्यक्तिगत विचारो का ध्यान से मनन करके उचित जान पडे और इन्हे अपनावें, हमने केवल शुद्ध भावो का सहारा लेकर ही आप लोगो को सचेत किया है मेरा व्यक्तिगत न तेरापथ से सम्बन्ध है और न बीसपथ से। मैं न समष्टिगत और न व्यक्तिगत विरोध ही करता हू न किसी पक्ष को लेकर आक्षेप ही करता हूं। सब से यही कहना है कि आप सब मेरे विचारो को ध्यान से मनन कर अपनी त्रुटियो का सशोधन करें, यदि अनुचित जान पडे तो मुझे क्षमा करें।

चातुर्मास कुकणवाली
वीर निर्वाण स० २५०५
शुभ मिती भाद्रपद सुदी १५

शुभेच्छु :—
(मुनिराज) विवेकसागर